शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

७—१० अध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्

कलकत्ता * वृन्दावनम्

शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[७–१० अध्यायात्मको भागः]

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

सम्पादको भाष्यनिष्कर्षलेखकश्च

पं० व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

राष्ट्रपतिपुरस्कृतो राष्ट्रियपण्डितः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचर आचार्यश्च

भाष्यसार-निबन्धकः

श्री श्रीकिशोरमिश्रो वेदाचार्यः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालये संस्कृतविभागे उपाचार्यः

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्

कलकत्ता ० वृन्दावन

श्रीवृन्दावनम् प्रथमसंस्करणम् संवत् २०४१

प्रकाशक :—
श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्
कलकत्ता ● वृन्दावन

●

मूल्य : १३०.०० रूप्यकाणि
एक सौ तीस रुपया

●

●

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

१. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन सस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
११३ पार्क स्ट्रीट, पोद्दार पोइन्ट, कलकत्ता—७०००१६

२. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

५. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई० ४/२४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली—८1/1008

मुद्रक—
केशव मुद्रणालय
खजुरी, वाराणसी

परब्रह्मस्वरूप
धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

॥ श्री हरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित यजुर्वेदसंहिता के ७–१० अध्यायों के भाष्य को मन्त्रार्थ, मन्त्रसार और भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व सबसे पहले पहिले और चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) को भाषानुवाद के साथ हमने प्रकाशित कराया है, यह आप लोगों को विदित ही है।

प्रकाशन कार्य विस्तृत है। कई कठिनाइयों के कारण प्रकाशन का कार्य त्वरित गति से नहीं हो पा रहा था। भगवत्कृपा से अब द्वितीय-तृतीय और चतुर्थ-षष्ठ अध्याय वाले भाग भाष्यसार के साथ तथा ११–१५ अध्याय, १६–२० अध्याय और २१–३० एवं ३१–३९ अध्याय वाले भाग भी भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकार आठ जिल्दों में प्रकाशित हुए इस पूरे भाष्य को विज्ञ पाठकों के शुभ करकमलों में समर्पित कर रहे हैं। सौभाग्य से पूर्व पुरीपीठाधीश्वर अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी निरंजनदेव तीर्थजी महाराज ने भाष्य के इस भाग पर सिंहावलोकन लिख कर प्रस्तुत भाष्य के गरिमामय अंशों की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

विदित हो, पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज की अद्वितीय कृति देश के जिन सन्तों, विद्वानों उच्च शिक्षाविदों और अधिकारियों के पास पहुँचती है, वे अत्यन्त प्रभावित होकर हम लोगों को शेष भाग शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा सदा देते रहे हैं, आज हम इस पुण्यपावन कार्य को पूरा कर अपने आपको कृतकृत्य समझ रहे हैं। यह सब अनन्तश्री परमश्रद्धास्पद स्वामी जी महाराज के शुभाशीर्वादों का फल है।

भाष्यभूमिका के लेखक, अनुवादक, समय-समय पर उचित परामर्शदाता, प्रूफ पुनरीक्षक, प्रेसकापी साधक, अनुच्छेद (पैराग्राफ) के निर्धारक के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जा को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने वालों के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, उन सभी परम सम्माननीय, आत्मीय, पूज्य आचार्य, विद्वन्मूर्धन्यों के चरणकमलों में धन्यवाद और अभिनन्दनस्वरूप नतमस्तक होकर हम सदा ही कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वे हैं —

(१) अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य पूर्व पुरीपीठाधीश्वर स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज
(२) स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज वर्तमान जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरी पीठाधीश्वर
(३) पण्डित श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारीजी
(४) पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी
(५) पण्डित श्री जनार्दन चतुर्वेदीजी
(६) पण्डित श्री राजवंशीजी
(७) पण्डित श्री श्रीकिशोर मिश्रजी

केशव मुद्रणालय के सुयोग्य प्रबन्धक श्री मोहनलाल जी के तथा सहृदयकर्मचारियों के स्नेहपूर्ण सौजन्यभरे मुद्रणादि कार्यों के सम्पादन को स्मरण कर इन्हें बहुत धन्यवाद देते हैं।

निवेदक
हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष

वृन्दावन धाम
शिवरात्रि
२०४९ वि० सं०

सिंहावलोकन

अनन्तश्रीविभूषित-जगद्गुरुशङ्कराचार्य-पूर्वाम्नायश्रीगोवर्धनमठपुरी-पूर्वपीठाधीश्वर

स्वामी श्री निरञ्जन देवजी तीर्थ महाराज

अनन्तश्री परमश्रद्धास्पद स्वामी करपात्रीजी महाराज ने संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रन्थ-रत्नों की रचना की है। उनमें अतिविस्तृत भूमिका के साथ अब सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा की संहिता के वेदार्थपारिजात नामक भाष्य का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका भूमिका भाग दो जिल्दों (लगभग २३०० पृष्ठों) में हिन्दी भाषान्तर के साथ संवत् २०३६ और २०३७ में वाराणसी से मुद्रित हो प्रकाशित हुआ था। बाद में पहला और ४० वाँ अध्याय भी भाषान्तर के साथ संवत् २०४३ में वृन्दावन से मुद्रित और प्रकाशित हुआ। पुनः इस कार्य को मुद्रण की सुविधा की दृष्टि से वाराणसी ले आया गया और सर्वप्रथम द्वितीय-तृतीय अध्याय वाला भाग हिन्दी भाष्यसार के साथ प्रकाशित हुआ। भाष्य के इन तीनों खण्डों पर हमारी संक्षिप्त भूमिका प्रकाशित हो चुकी है।

इस महनीय और विशाल ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये कटिबद्ध दानवीर सेठ श्रीमान् हनुमानप्रसाद जी धानुका का विचार इस पूरे भाष्य को भाषान्तर अथवा भाष्यसार के साथ प्रकाशित कराने का था, किन्तु ऐसा प्रतीत हुआ कि इस तरह से तो इस विशाल ग्रन्थ के प्रकाशन में अत्यधिक विलम्ब हो जायगा। भाष्य-सार लिखवाने का उपक्रम भी किया गया, किन्तु वह १० अध्याय से आगे न बढ़ सका। अन्ततः भगवान् काल की गति का स्मरण करते हुए, कालघुण से ग्रन्थ को बचाने के लिये, आगे के ११ से ३९ अध्याय तक के भाष्य को, हिन्दी पाठकों को भी भाष्य का किंचित् रसास्वादन कराने के लिये, भाष्यनिष्कर्ष के साथ निकालने का निर्णय लिया गया। इसको भी काल की महिमा ही कहा जायगा कि भाष्यनिष्कर्ष के साथ ये अध्याय (११-३९) पहले मुद्रित हो गये और ४ से १० अध्याय तक का भाष्य भाष्यसार के साथ सबके अन्त में प्रकाशित हो रहा है। ७ से १० अध्याय तक के इस अन्तिम खण्ड में संक्षेप में हम पूरे भाष्य का सामान्य परिचय देते हुए इसके महत्त्वपूर्ण अंशों पर प्रकाश डालना चाहते हैं।

आजकल शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता को वाजसनेय संहिता का नाम दे दिया जाता है, किन्तु यह नाम अतिव्याप्त है। यहीं प्रथम अध्याय के भाष्य (पृ० ४-५) में वाजसनेय याज्ञवल्क्य के द्वारा अपने शिष्यों को उपदिष्ट १५ संहिताओं की नामावली मिलती है। इनमें से महर्षि मध्यन्दिन को उपदिष्ट शाखा उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध होकर माध्यन्दिन कहलाती है। कण्व आदि की संहिताएँ इससे भिन्न हैं। इस प्रकार भगवान् वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा उपदिष्ट सारी संहिताएँ वाजसनेय कहलाती हैं, किन्तु माध्यन्दिन संहिता तो इस नाम के महर्षि के द्वारा अधिगत संहिता ही मानी जायगी। वेदार्थपारिजातभाष्य इसी संहिता पर किया गया है। उव्वट और महीधर का भाष्य भी इसी संहिता पर है, जब कि सायण का भाष्य काण्व संहिता पर किया गया है।

भाष्यरचना की सामान्य पद्धति पर भाष्यनिष्कर्ष के लेखक ने ११-१५ अध्याय के प्रारम्भ में पर्याप्त प्रकाश डाल दिया है। पूरी संहिता के प्रतिपाद्य विषयों की सूचना भाष्यकार ने स्वयं प्रारम्भ में दे दी है (पृ० १२-१३)। दर्शपूर्णमास आदि सभी प्रकृति और विकृति यागों के अनुष्ठान का मुख्य आधार यजुर्वेद को ही माना जाता है। इसी लिये स्वामी जी ने भाष्यरचना के लिये सर्वप्रथम इसी संहिता को चुना

और इन सब यागों का विस्तृत और प्रामाणिक स्वरूप दिखाने के लिये कात्यायन श्रौतसूत्र और शतपथ ब्राह्मण के सभी सम्बद्ध प्रकरणों को उद्धृत कर उनकी भी स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की। अभी ऊपर उव्वट, महीधर और सायण के भाष्यों की चर्चा की गई है, किन्तु उनमें इतने विस्तार से ये सब विषय निर्दिष्ट नहीं हो पाये हैं।

प्रस्तुत भाष्य में उक्त तीनों भाष्यों के पर्यवेक्षण के साथ यथास्थान तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, सत्याषाढ श्रौतसूत्र, निरुक्त-निघण्टु एवं उनके भाष्यों और हरिस्वामी, स्कन्दस्वामी, दुर्गाचार्य, भट्ट भास्कर आदि प्राचीन भाष्यकारों को अपने मत के समर्थन में उद्धृत किया है। आवश्यकता के अनुसार इनकी समालोचना करने में भी हमारे भाष्यकार ने कोई संकोच नहीं किया है, जो कि भारतीय भाष्यकारों की परम्परा के अनुकूल ही है।

वेदार्थपारिजातभाष्य केवल मन्त्रों की व्याख्या ही नहीं है, किन्तु एक विस्तृत प्रयोग-पद्धति भी है, जिसमें कि विस्तार से संहिता में प्रतिपादित सभी प्रकार के अनुष्ठानों का क्रम भी निर्दिष्ट है। भाष्यनिष्कर्ष में इन सब विषयों पर यथास्थान प्रकाश डाल दिया गया है।

वैदिक मन्त्रों के विनियोग के लिये ऋषि, देवता और छन्द का ज्ञान आवश्यक है। यहाँ कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के आधार पर प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग का भी उल्लेख किया गया है और उसके लिये आवश्यकता के अनुसार षड्गुरुशिष्य आदि के व्याख्यानों का भी सहारा लिया गया है। छन्दों के लक्षणों के प्रसंग में पिंगलाचार्य के छन्दःशास्त्र के अतिरिक्त प्रातिशाख्य ग्रन्थों में निर्दिष्ट लक्षणों को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। महीधर द्वारा प्रदत्त लक्षणों की कहीं-कहीं स्वामी दयानन्द ने आलोचना की है। प्रस्तुत भाष्य में ऐसे सभी स्थलों पर शास्त्रीय प्रमाणों की झड़ी लगा कर प्रौढ युक्तियों के सहारे महीधर के पक्ष को प्रबल समर्थन दिया गया है।

प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ देना, इस भाष्य की अपनी विशेषता है। इस आध्यात्मिक अर्थ में मन्त्रगत पदों की संगति के अनुसार साकार अथवा निराकार रूप में उपास्य देवता को संबोधित कर मन्त्र की संगति बैठाई गई है, जिससे कि मन्त्र के पदों के साथ पूरा सामंजस्य बैठाया जा सके। अन्य कुछ आधुनिक आचार्यों ने भी इस तरह के प्रयत्न किये हैं, किन्तु वे इस कार्य में सफल नहीं हो पाये हैं, यह बात इस भाष्य के तृतीय अध्याय में उद्धृत मत-मतान्तरों से स्पष्ट हो जाती है। इन सबकी एक बड़ी कमी यह भी है कि ये सारे प्रयत्न पूरी संहिता पर न होकर उसके कुछ अंशों तक ही सीमित रह गये हैं।

आध्यात्मिक अर्थ के प्रसंग में उपनिषदों, भगवद्गीता, बादरायण ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भागवत की प्रस्थानचतुष्ट्यी के अतिरिक्त श्रौत, स्मार्त और आगम साहित्य के महनीय ग्रन्थों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ को यहाँ (१७।४४) आदर के साथ याद किया गया है और इस सम्प्रदाय में प्रचलित छप्पन भोग की भी चर्चा भाष्यकार ने की है (११।७५)। आचार्य नरहरि के अनेक वचन यहाँ उद्धृत हैं। इनकी रामणीयकता अतीव मनोहारिणी है। उनके इस श्लोक को देखा जाय—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राग् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादतिसुन्दरम्॥

इसका अभिप्राय यह है कि द्वैत दृष्टि तभी तक मोह को पैदा करती है, जब तक कि मनुष्य को अद्वैत ब्रह्म का बोध नहीं होता। एक बार अद्वैत का बोध हो जाने पर तो द्वैत दृष्टि के भी भक्ति में पर्यवसित हो

जाने के कारण वह अद्वैत दृष्टि से भी बढ़ कर फलदायिनी हो उठती है। इस प्रकार यहाँ भक्तियोग की सविशेष महिमा वर्णित है। इस भक्तियोग के महत्त्व को काश्मीर के आचार्य उत्पलदेव ने अपनी शिव-स्तोत्रावली में अनोखी भंगिमा से इस प्रकार दर्शाया है—

निजनिजेषु पदेषु पतन्त्विमाः करणवृत्तय उल्लसिता मम।
क्षणमपीश मनागपि मैव भूत् त्वदविभेदरसक्षतिसाहसम्॥

अर्थात् हे भगवन्! ये मेरी उल्लास और आनन्द से भरी हुई इन्द्रियों की सारी वृत्तियाँ अपने-अपने विषयों में भले ही लगी रहें, किन्तु मुझे आपके अद्वयानन्द रस से वंचित होने का साहस क्षण भर के लिये भी और जरा सा भी न हो। इसका अभिप्राय यह है कि भक्त द्वैत दशा में भी भगवान् से कभी अलग होना नहीं चाहता, वह उनके वियोग को कभी सहन नहीं कर सकता।

इस भाष्य की दूसरी बड़ी विशेषता स्वामी दयानन्द के प्रत्येक मन्त्र के भाष्य को उद्धृत कर उसका तिलशः खण्डन करना है। विदेशी एकेश्वरवाद और उनकी सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित स्वामी दयानन्द ने बहुदेववाद को अस्वीकार करते हुए और लोकायत (चार्वाक) दृष्टि का अनुसरण करते हुए इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की, पितृगणों की तथा स्वर्ग आदि की सत्ता को ही नकार दिया है। श्रौत-सूत्रों को वे प्रमाण नहीं मानते, तब स्मृति, पुराण और आगम वाङ्मय की कथा ही कैसे की जा सकती है। शतपथ ब्राह्मण, मनुस्मृति आदि को प्रमाण मानते हुए भी वे या तो अपने मत के विरोधी अंशों की विचित्र व्याख्या करते हैं अथवा उन्हें प्रक्षिप्त मान लेते हैं। इस प्रकार वे भारतीय साहित्य और संस्कृति की एक लम्बी परम्परा को आँखों से ओझल कर डालना चाहते हैं। इसीलिये इनके भाष्य में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ आ गई हैं। ऊपर से तुर्रा यह है कि वे वायुयान की निर्माणविधि से लेकर दुनिया के सारे ज्ञान-विज्ञान को वेदों से निकालने का हास्यास्पद प्रयत्न करने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करते।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने विकल्प के सहारे एक लम्बी भारतीय परम्परा के प्रति उपेक्षा भाव को जगा कर भारतीय समाज में नास्तिकता के ही नहीं, विभेद के बीज भी बोये हैं। हमें बताया गया है कि पंजाब में दो सम्प्रदायों में अलगाव को बढाने के लिये सर्वप्रथम सत्यार्थप्रकाश के उस अंश की लाखों प्रतियाँ वितरित की गईं, जिसमें सिख सम्प्रदाय की अनावश्यक आलोचना की गई थी।

स्वामी करपात्री जी महाराज ने भाष्य में दयानन्दीय भाष्य की अनेक त्रुटियों का उल्लेख किया हैं। बिना प्रयोजन के मुख्यार्थ का [1]बाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध और रूढि अथवा प्रयोजन के न होते हुए भी गौणार्थ का आश्रयण घोर अन्याय और समस्त दार्शनिक एवं साहित्यिक आचार्यों की परम्परा के विरुद्ध है। मुख्यार्थ का बाध होने पर ही लक्षणा वृत्ति का सहारा लिया जा सकता है, इस विषय पर भाष्यकार ने आगे (१५।४२) सप्रमाण विचार प्रस्तुत किया है। वहाँ बताया गया है कि शाब्दनय में मुख्यार्थ और गौणार्थ का विचार अतीव महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उत्तरमीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के आनन्दमयाधिकरण के पूर्व पक्ष और सिद्धान्त पक्ष को दिखाते हुए वहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि यहाँ किस प्रकार मुख्यार्थ का बाध होने पर ही गौणार्थ का ग्रहण किया गया है। मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ का ग्रहण किन-किन परिस्थितियों

---

१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपितक्रिया॥

में किया जाता है, इस विषय का विशद विवेचन भाष्यकार ने आगे भी ३१-३९ अध्याय वाले भाग में अनेक स्थलों पर (पृ० १३४, १८७-१८८, १९१-१९२, १९३) किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दयानन्दीय अर्थ का खण्डन करते समय भाष्यकार ने स्थान-स्थान पर मुख्यार्थ और गौणार्थ की समस्या पर बड़ा गम्भीर दार्शनिक विचार प्रस्तुत किया है।

विभक्ति-वचन आदि का व्यत्यय, निष्प्रयोजन अध्याहार जैसे दोष यहाँ प्रायः दिखाई पड़ते हैं। वेद का लोकायतीकरण, लोक का प्रतारण, आत्मप्रवंचना, 'दशहस्ता हरीतकी' जैसे आभाणकों को चरितार्थ करने वाले बढ-चढ कर कहे गये वायुयान-निर्माण आदि के प्रतिपादक व्याख्यान, अपनी पूरी परम्परा को छोड़ कर देवलोक, पितृलोक, देवगण, पितृगण आदि की अस्वीकृति इनकी प्रमुख विसंगतियाँ हैं। परम्परा से च्युत होने के कारण ही साम, स्तोम, न्यूंख, निधन, प्रगाथ जैसे वैदिक पदों का अर्थ इनकी समझ में नहीं आया है और बिना प्रमाण के ऐसे पदों का इन्होंने मनमाना अर्थ किया है। त्वष्टा, सविता, अर्यमा, भग आदि शब्द वैदिक देवताओं के बोधक हैं। एकेश्वरवाद के व्यामोह ने इनको इन सब शब्दों का अर्थ मनुष्य-परक करने के लिये बाध्य कर दिया है। देवतापरक मित्र शब्द का पुल्लिग में और सुहृत् के वाचक मित्र शब्द का नपुंसक लिंग में प्रयोग किया जाता है। इस परम्परा को तिलांजलि देकर इन्होंने पुल्लिग में प्रयुक्त मित्र शब्द को भी सुहृत् अर्थ में प्रयुक्त माना है। अग्नि, वायु, सूर्य, वरुण, रुद्र, विष्णु आदि प्रसिद्ध देवताओं के बोधक पदों का भी इन्होंने सेनापति, सभाध्यक्ष आदि के रूप में मनुष्यपरक अर्थ किया है। ऐसे सब प्रसंगों में वे "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" (१।१६४।४६) इस प्रसिद्ध ऋग्वेदीय मन्त्र को भी भुला बैठे हैं। व्याकरण, काव्य, कोश, आप्तवाक्य आदि के द्वारा निश्चित अर्थ में ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस विषय की स्वामी दयानन्द ने पूरी तरह से उपेक्षा कर दी है। अनेक स्थानों पर तो इन्होंने मन्त्र के पदों को ही बदल दिया है।

नवें अध्याय के ३४ वें मन्त्र की व्याख्या में ये सप्तदश स्तोम के विवरण में चार वर्ण, चार आश्रम, श्रवण आदि कर्म, चार पुरुषार्थ और मोक्ष की गणना करते हैं। चार पुरुषार्थों में ये अलब्ध की लिप्सा, लब्ध की रक्षा, रक्षित की वृद्धि और रक्षित द्रव्य का सत्कर्म में व्यय—इनकी गणना करते हैं। शास्त्रों में योगक्षेम के अन्तर्गत इनका अन्तर्भाव कर लिया गया है। चार पुरुषार्थ के रूप में तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की ही सर्वत्र गणना की जाती है।

स्वामी दयानन्द ने बिना प्रसंग के अलंकारों की चर्चा की है। छन्दःशास्त्र, निरुक्त, व्याकरण और वैदिक स्वरप्रक्रिया के प्रसंग में अपने को अति विशेषज्ञ मानते हुए इन्होंने और इनके अनुयायियों ने सायण, महीधर आदि के भाष्यों के अनेक स्थलों पर व्यर्थ के आक्षेप किये हैं। वेदार्थपारिजातकार ने इनकी सारी युक्तियों का खण्डन करते हुए सायण और महीधर की प्रक्रिया का जिस प्रकार समर्थन किया है, उससे उनको इन सब विषयों का कितना ज्ञान है, इसकी कलई खुल जाती है। पूरे भाष्य में इस तरह के अनेक प्रसंग देखे जा सकते हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि मन्त्रगत पदों से कोई समझदार व्यक्ति भी वायुयान का निर्माण नहीं कर सकता और न बिजली ही पैदा कर सकता है।

भाष्य के पहले अध्याय (पहली जिल्द) में दर्शपूर्णमास की पूरी पद्धति को समझाने के अतिरिक्त अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण विषय प्रतिपादित हैं। इनको प्रबुद्ध पाठक विस्तृत भाषानुवाद की सहायता से जान सकते हैं।

द्वितीय-तृतीय अध्याय वाले भाग (जिल्द) में (पृ० १३३-१३४) विधानपारिजात के प्रमाण से अग्नि के पावक, मारुत (मरुत्त), चमस, शोभन, अनल आदि २७ नाम बताये गये हैं। यहाँ ये पर्यायवाची शब्द नहीं हैं, किन्तु विभिन्न कर्मों के सम्पादक होने से इसके ये नाम शास्त्रों में विहित हैं। जैसे कि लौकिक कार्यों का सम्पादन पावक नाम के अग्नि में करना चाहिये। गर्भाधान संस्कार के लिये मारुत (मरुत्त) अग्नि का आवाहन करना चाहिये। पुंसवन के लिये चमस तथा शुभ कर्म में शोभन अग्नि का आवाहन किया जाता है। यहाँ इस तरह से सत्ताईस अग्नियों के नाम बता कर कहा गया है कि जिस कर्म के लिये जिस अग्नि का विधान है, उसी का आवाहन कर अग्नि में आहुति देनी चाहिये। इसके बाद यहाँ आदित्य आदि नवग्रहों की अग्नियों के भी नाम गिनाये गये हैं। त्रिवेन्द्रं संस्कृत सिरीज से ईशानशिवगुरुदेवपद्धति ४ भागों में प्रकाशित हुई है। अग्नि के बत्तीस नाम कुछ पाठभेदों के साथ वहाँ (१।१४।६-१४) उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ की रचना में भगवान् आद्य शंकराचार्य के स्मार्त धर्म के प्रतिष्ठापक ग्रन्थ प्रपंचसार से भी सहायता ली गई है। यह एक प्राचीन ग्रन्थ है।

इसी भाग (पृ० २०४-२०६) में वैश्वदेवाख्य चातुर्मास्य के चार मासों में सम्पन्न होने वाले वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय नामक चार पर्वों के अनुष्ठान की विधि भी विस्तार से वर्णित है। अन्त में (पृ० २४०-२४२) मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के आधार पर कालविभाग की गणनापद्धति पर प्रकाश डाला गया है। महाभारत के प्रमाण से १४।२३ में तथा वाल्मीकि रामायण के आधार पर १७।२ के भाष्य में भी यह विषय संक्षेप में चर्चित है।

४–६ अध्याय वाले भाष्य के तीसरे भाग (जिल्द) में सर्वप्रथम सोम याग की पद्धति पर प्रकाश डाला गया है (पृ० १-३)। वैदिक अनुष्ठान में, विशेष कर सोम याग और उसके विकृति यागों में सोलह प्रकार के ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती है। इन सबका परिचय देने के बाद यहाँ बताया गया है कि किसको कितनी दक्षिणा दी जाय। तदनुसार ही इनकी संज्ञा अर्धिनः, तृतीयिनः और पादिनः होती है (पृ० १)। सोम याग के अनुष्ठान के लिये सर्वप्रथम सोमलता को खरीदना पड़ता है। गाय के रूप में उसका मूल्य चुकाया जाता है। गाय के महत्त्व को दिखाते हुए यहाँ कहा गया है कि गाय से हमें प्रतिधुक्, शृत, शर, दधि, मस्तु, आतंचन, नवनीत, घृत, आमिक्षा और वाजिन की प्राप्ति होती है (पृ० ७९)। ये सब दूध की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं। भाष्यकार ने इन सब शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया है।

पाँचवें अध्याय में ज्योतिष्टोम की पद्धति को बताते हुए सोम राजा के अग्नि, सोम, अतिथि, श्येन और रायस्पोषद अग्नि नाम के पाँच अनुचरों का वर्णन किया गया है। अग्नि और रायस्पोषद अग्नि में क्या अन्तर है? इसको भी भाष्यकार ने स्पष्ट किया है (पृ० १११)। वैदिक यज्ञ के लिये अरणि का मन्थन कर अग्नि प्राप्त की जाती है। अग्निमन्थन के समय अनुष्ठेय षट्कर्मों का निरूपण यहाँ पृ० ११५ पर किया गया है।

७–१० अध्याय वाले भाष्य के चौथे भाग (जिल्द) में धाराग्रह और अधाराग्रह का उल्लेख कर बताया गया है कि ग्रह उस दारुमय पात्र को कहते हैं, जिसमें कि सोम रस का ग्रहण किया जाता है (पृ० १-२)। षोडशी ग्रह की व्याख्या करते समय प्रश्नोपनिषत् के प्रमाण पर षोडशकल पुरुष की १६ कलाओं को गिनाया गया है (पृ० १८४)। आठवें अध्याय के ५४-५९ मन्त्रों में सोम रस की विभिन्न ३४ अवस्थाओं के अनुसार उसके ३४ नाम देकर उनके लिये आहुतियों का विधान है। घर्मभेदजन्य प्रायश्चित्ताहुतियों का विधान आगे ३९ वें अध्याय में भी है।

नवें अध्याय की ३४ वीं कण्डिका तक वाजपेय याग का विधान है। अन्न की समृद्धि के लिये इसका अनुष्ठान किया जाता है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र और व्याकरण महाभाष्य को उद्धृत कर यहाँ (पृ० २६५) भाष्यकार ने सत्रह प्रकार के अन्नों के नाम गिनाये हैं।

इस अध्याय की ३५ वीं कण्डिका से राजसूय का प्रकरण प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में भाष्यकार ने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, मीमांसा सूत्र, पाणिनि स्मृति (अष्टाध्यायी), भामती, कल्पतरु आदि ग्रन्थों के आधार पर 'राजन्' शब्द के अर्थ पर विस्तार से शास्त्रीय पद्धति से प्रकाश डाला है (पृ० २८३-२८४)। यह प्रकरण और आगे के भी कुछ प्रकरण विद्वानों के लिये एक मननीय ज्ञानवर्धक सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

राजसूय याग की सारी प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए और इष्टि, पशु, सोम, दर्वीहोम आदि पदों का अर्थ स्पष्ट करते हुए यहाँ पंचवातीय होम और प्रतिसर, अर्थात् शत्रुओं के द्वारा प्रयुक्त आभिचारिक क्रियाओं से अपनी रक्षा के लिये अपामार्ग होम का विधान है। प्रतिसर मन्त्रों का आगे (१३।९) भी विधान है। वहाँ भाष्य में बताया गया है कि अग्नि देवता वाले रक्षोघ्न मन्त्र प्रतिसर के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस शब्द का प्रयोग आत्मरक्षा के लिये बाँधे जाने वाले ताबीज, रक्षासूत्र, कंकण और औषधियों के लिये भी होता है। अश्व की रक्षा के लिये भी प्रतिसर कर्म का विधान शास्त्रों में बताया गया है।

राजसूय प्रकरण दसवें अध्याय में भी चलता है। यहाँ प्रारम्भ की चार कण्डिकाओं में राजा के अभिषेक के लिये सत्रह प्रकार के जलों के पालाश, औदुम्बर, नैयग्रोध (वाट) और आश्वत्थ पात्रों में संभरण की प्रक्रिया वर्णित है। इनमें से एक जल का नाम आतपवर्ष्य है, अर्थात् आतप (धूप) के रहते वर्षा हुआ पानी। आज भी यह जल अतिपवित्र माना जाता है। अभिषेक के समय तत्काल इस जल की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः यहाँ बताया गया है कि जब भी ऐसी वृष्टि हो, उसके जल को लेकर भविष्य में होने वाले अभिषेक के लिये इसे सुरक्षित कर लेना चाहिये।

अभिषेक के समय राजा की प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची और ऊर्ध्वा दिशाओं से रक्षा की जाती है। इस कार्य के लिये यहाँ क्रमशः रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज और शाक्वर-रैवत सामों का तथा त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश, एकविंश और त्रिणव-त्रयस्त्रिंश स्तोमों का पाठ किया जाता है। यहाँ (पृ० ३२२-३२५) भाष्यकार ने इन सामों और स्तोमों का विशद स्वरूप शतपथ ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण और साम ब्राह्मण के वचनों को उद्धृत करते हुए प्रस्तुत किया है। जिज्ञासुजन इस विषय को वहीं देख सकते हैं। स्तोमों की चर्चा आगे (१४।२३; पृ० ३८०) भी आई है। वहाँ एकादशाध्याय के स्थान पर दशमाध्याय पढा जाना चाहिये। सृष्टिप्रक्रिया के प्रसंग में पुराणों में भी यह विषय वर्णित है, जैसा कि इस भाष्य में आये (३१।८) विष्णु पुराण के प्रमाण से दिखाया गया है, किन्तु आधुनिक समाज में यह एक दम से उपेक्षित होता जा रहा है। हमारा अज्ञान कहाँ तक बढ गया है, इसको स्वामी दयानन्द के भाष्य में देखा जा सकता है। इस तरह के अनेक अपरिचित विषयों पर स्पष्ट प्रकाश डाल कर भाष्यकार ने आधुनिक विद्वत्समाज का बड़ा उपकार किया है।

राजसूय याग के अन्त में सम्पन्न होने वाले सौत्रामणी कर्म को चरक सौत्रामणी कहते हैं। दसवें अध्याय के अन्तिम चार मन्त्रों में इसका संक्षिप्त स्वरूप दिया गया है। सौत्रामणी याग का विस्तार आगे १९-२१ अध्यायों में देखा जा सकता है।

संहिता के ११ से १८ तक के अध्यायों में अग्निचयन के मन्त्र वर्णित हैं। ११ वें अध्याय के प्रारम्भ में भाष्य में शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के तीन अध्यायों में निर्दिष्ट सारे विषयों का संक्षेप में परिचय दिया

गया है, जिससे कि इस पूरे प्रकरण की पृष्ठभूमि समझ में आ सके। इष्टकाओं के विषय में अक्ताक्ष्य और ताण्ड्य नामक आचार्यों का मत भी यहाँ उद्धृत है।

यज्ञीय समिधाओं का वर्णन करते समय संहिता (११।७०-७६) और भाष्य (पृ० ९५-१०३) में क्रमुक (धमन), विकंकत (कठेर), उदुम्बर (गूलर) और पलाश की समिधा के अतिरिक्त उपजिह्विका (दीमक) और वम्र (चींटी) के द्वारा भक्षित निःसत्त्व वृक्ष की समिधा के साथ अपरशुवृक्ण समिधा की भी गणना है। अपरशुवृक्ण का अर्थ है, जो कुल्हाड़ी से नहीं काटी गई है। इस प्रकार यहाँ स्पष्ट निर्दिष्ट है कि हरे-भरे वृक्ष की और कुल्हाड़ी से काटे गये वृक्ष की लकड़ी का समिधा के लिये उपयोग नहीं किया जा सकता। यह है हमारी समृद्ध वैदिक यज्ञीय संस्कृति। इसके सामने आज की अर्थप्रधान (अर्थदास) संस्कृति कितनी बौनी लगती है।

अग्निचयन के लिये बनाई जाने वाली विविध इष्टकाओं की स्पष्ट जानकारी के लिये महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर के प्रिंसिपल के रूप में पूर्वाश्रम के अपने कार्यकाल में हमने इष्टकाओं के पीतल के साँचे बना कर रखवाये थे, जिनकी सहायता से आवश्यकता के अनुसार कोई भी इष्टका बनाई जा सकती है। श्रौत-स्मार्त यज्ञशाला भी वहाँ बनवाई गई थी।

वेदों में अनेक प्रकार की इष्टकाओं से बनाई जाने वाली विविध चितियों की निर्माणविधि प्रदर्शित है। इनमें रेखागणित के अतिसूक्ष्म सूत्रों का हमें दर्शन होता है। शुल्बसूत्रों में इस विद्या का विश्लेषण आश्चर्यचकित करने वाला है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय विद्वान् किसी भी विषय का कितना समृद्ध अध्ययन कर उसकी तह तक पहुँचने का प्रयत्न करते थे। शुक्ल यजुर्वेद की प्रस्तुत माध्यन्दिन संहिता के ११-१८ अध्यायों में अग्निचयन के प्रसंग में मुख्य रूप से सुपर्ण चिति का विस्तार मिलता है। 'सुपर्णोऽसि गरुत्मान्' मन्त्र के भाष्य में रूपकालंकार के माध्यम से अग्नि की सुपर्ण (गरुड़) से समानता दिखाई गई है। अभी-अभी हरिद्वार-देहरादून के बीच के जंगल में प्राचीन काल की सुपर्ण चिति उसी रूप में प्राप्त हुई है।

११।२५ पर उद्धृत शतपथ ब्राह्मण में अभ्रि द्वारा परिलिखित तीन रेखाओं की त्रिपुर से तुलना की गई है और ५।८ पर उद्धृत शतपथ में स्पष्ट रूप से लोह, रजत और सुवर्ण से निर्मित पुरियों का वर्णन मिलता है। पुराणों में असुरों द्वारा निर्मित इन तीन पुरियों की और भगवान् शिव के द्वारा इनके विध्वंस की कथा विस्तार से मिलती है। यहाँ अतिसंक्षेप में उसी का उल्लेख है। अभ्रि द्वारा उल्लिखित इन तीन रेखाओं का प्रयोजन यह है कि इन तीन रेखाओं के रूप में त्रिपुरसंहार की घटना का स्मरण कर भयभीत असुरगण इस चितिस्थान में आने का दुःसाहस नहीं करेंगे। इसी तरह से यहाँ १२।५ पर विष्णु के तीन क्रमों का वर्णन है और कूर्म पुरुष (१२।३०-३३) का भी। इन मन्त्रों में हमें भगवान् विष्णु के त्रिविक्रम (वामन) और कूर्म अवतारों की सूचना मिलती है।

यहीं १२ वें अध्याय के २७ मन्त्रों (१२।७५-१०१) में औषधियों की स्तुति की गई है। यह प्रकरण ओषधिविज्ञान से परिपूर्ण है। १२।६५ के भाष्य में शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रयुक्त 'इण्ड्वे' पद की व्याख्या दी गई। 'इण्ड्वा' पद का यहाँ द्विवचन में प्रयोग हुआ है। इसका यहाँ जो अर्थ दिया गया है, तदनुसार यह इण्ड्वा पद ही विकृत होकर राजस्थानी भाषा में 'ईडूंणी' हो गया है।

१६ से २० अध्याय तक के छठे भाग (जिल्द) में १६ वाँ अध्याय शतरुद्रियाध्याय के नाम से प्रसिद्ध है। इस अध्याय के भाष्य का भाषानुवाद भी साथ में दिया गया है, जिससे कि हिन्दीभाषाभाषी जिज्ञासु भी भगवान् रुद्र की महिमा से परिचित हो सकें। यहाँ प्रारम्भ के दो मन्त्रों में अनेक ग्रन्थों की सहायता से भगवान् के निर्गुण और निराकार स्वरूप के साथ सगुण और साकार स्वरूप का भी संक्षेप में विवेचन किया है और बताया है कि इस विषय के जिज्ञासुओं को हमारी 'रामायण मीमांसा' देखनी चाहिये।

इसी अध्याय के १७ वें मन्त्र में अर्चिरादि और धूमादि मार्ग की तथा सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति की चर्चा कर बृहदारण्यक के प्रमाण से तृतीय गति का भी उल्लेख किया है। इसी भाष्य में अन्यत्र दयानन्दीय मत की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि मुक्ति के दो ही मार्ग हैं। इन दोनों उक्तियों में परस्पर कोई विरोध इस लिये नहीं है कि बृहदारण्यक में जिस तृतीय गति का उल्लेख है, वह निरय गति है। मुक्ति मार्ग से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। १७ वें अध्याय के १७ वें मन्त्र में भी धूमादि मार्ग और अर्चिरादि मार्ग की चर्चा है। यहाँ (पृ० २६७-२६९) ब्रह्मसूत्र और उसके शांकर भाष्य के आधार पर इस विषय पर विस्तार से चर्चा की गई है। साथ ही आतिवाहिक मार्ग का भी उल्लेख है। भाष्य में विवेचित प्रमुख दार्शनिक प्रसंगों में इस प्रकरण का भी अत्यन्त महत्त्व है।

१७ वें अध्याय के अनेक मन्त्रों का उनमें ब्रह्मविषयक प्रश्न-प्रतिवचनों के कारण दार्शनिक महत्त्व है। १७।१७ की व्याख्या में उव्वट इस मन्त्र से ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को समर्थन देते हैं। पुराणों में ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद अति विस्तार से प्रतिपादित है। अनेक प्राचीन आचार्य भी इस वाद के समर्थक रहे हैं। ७० वें मन्त्र में सात छन्दों, सात धामों (अग्नियों), सात होताओं और सात संस्थाओं का विवेचन अतीव ज्ञानवर्धक है। 'य इमा विश्वा' (१७।१७), 'किं स्विद्वनम्' (१७।२०), 'चत्वारि शृङ्गा' (१७।९१) जैसे मन्त्र भारतीय दर्शन के मौलिक स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। इनमें से अन्तिम मन्त्र (१७।९१) में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियों की विवेचना निरुक्त और महाभाष्य की सहायता से की गई है। हम जानते हैं कि इन चार वाणियों का तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में सविशेष वर्णन मिलता है। १७।६८ में आहुति, दक्षिणा और अन्न को यज्ञ की धारा बताया गया है। मतान्तर से वैश्वानर, मारुत, पूर्णाहुति, वसोर्धारा और वाजप्रसवीय आहुतियों को यज्ञ की धारा कहा जाता है।

१८ वें अध्याय के ३९ वें मन्त्र में स्वामी करपात्री जी महाराज ने निरुक्त के प्राचीन व्याख्याकार स्कन्द-स्वामी के मत की समालोचना की है। इस प्रसंग में निरुक्त और व्याकरण की अलग-अलग भूमिकाओं का उल्लेख करते हुए स्वामी जी ने शाकटायन व्याकरण के दृष्टिकोण को रखा है। यह प्रसंग भी विद्वानों के लिये विशेष रूप से अवधेय है।

"प्रत्यक्षमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" यहाँ कहा गया है कि तार्किक जन प्रत्यक्ष अर्थ को भी अनुमान से सिद्ध करने में विशेष रुचि रखते हैं। यहाँ तार्किक दृष्टि से प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान को वरीयता दी गई है। हमारे भाष्यकार ने १७।९५ में इसके विपरीत एक दूसरा न्याय उद्धृत किया है—"नहि प्रत्यक्षे करिणि चीत्कारेण हस्तिनमनुमिमतेऽनुमातारः"। अर्थात् हाथी को सामने खड़ा देख लेने के बाद कोई चीत्कार से उसका अनुमान नहीं करता।

१९ वें अध्याय के २५ वें मन्त्र में न्यूंख पद पर विचार किया गया है और उसके उच्चारण के क्रम की शास्त्रीय पद्धति दिखाई गई है। पाणिनि सूत्र (१।२।३४), काशिका, पदमंजरी, सायण आदि के मत को भी यहाँ दिखाया गया है।

हम पहले बता चुके हैं कि १९–२१ अध्यायों में **सौत्रामणी याग** का विशेष रूप से वर्णन है। यहाँ प्रारम्भ (१९।१) में ही इसकी पूरी प्रक्रिया पर शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर विस्तार (पृ० २२१–२३१) से प्रकाश डाला गया है।

सातवें भाग (जिल्द) में २१ से ३० और ३१ से ३९ अध्यायों का भाष्य संमिलित है। इनकी पृष्ठसंख्या अलग-अलग है। यहाँ के कुछ विशेष अंशों की ओर हम विज्ञ पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। २१।१७ के भाष्य में यह्व शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया है। निघण्टु में यह्व और यह्वा दोनों ही शब्द मिलते हैं। निरुक्तकार यास्क यह्व शब्द की व्युत्पत्ति देते हैं, जब कि दशपादी उणादि-वृत्ति में स्त्रीलिंग यह्वा शब्द निष्पादित है। भट्टोजी दीक्षित पुंल्लिग यह्व शब्द को मान्यता देते हैं। २२।५ के भाष्य में चतुरक्ष शब्द पर विचार किया गया है। पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में यमराज के दो श्वानों का वर्णन मिलता है। "द्वौ श्वानौ श्यावशबलौ" यह श्लोक पितृक्रिया की पद्धतियों में प्रसिद्ध है। चतुरक्ष शब्द से हम इनका भी ग्रहण कर सकते हैं। इनसे प्राण और अपान का भी अर्थ गृहीत होता है। इसी अध्याय की ७–८ कण्डिकाओं में अश्व के निमित्त दक्षिणाग्नि में दी जाने वाली प्रक्रम संज्ञक ४९ आहुतियों का विधान है। यहाँ अश्व की ४९ प्रकार की चेष्टाओं का नामोल्लेख किया है और प्रत्येक चेष्टा के लिये आहुति दी जाती है। यह प्रकरण अपने आप में इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि अश्व की चेष्टाओं का यहाँ अतिसूक्ष्म विश्लेषण मिलता है।

स्वामी दयानन्द ने तथा अन्य कुछ विद्वानों ने भी "गणानां त्वा" से लेकर "यद्धरिणो यवमत्ति" पर्यन्त अभिमेथन मन्त्रों की उव्वट, सायण और महीधर द्वारा की गई व्याख्या में अश्लीलता का आरोप लगाया है। इस पूरे प्रसंग पर पारिजातकार ने यहाँ (पृ० १०१-१०३) अच्छा विचार किया है। "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" इस बृहदारण्यक वाक्य की भी यहाँ चर्चा है और आगे (पृ० १८१-१८२) इस वचन की विशद दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। रूपकालंकार की पद्धति से यहाँ बताया गया है कि कैसे यह अश्व सर्वत्र व्याप्त है, उसके अंग-प्रत्यंग में यह पूरा विश्व कैसे समाया हुआ है। यह प्रकरण भी विद्वानों के लिये गम्भीर अध्ययन-मनन की सामग्री प्रस्तुत करता है। छान्दोग्य में वर्णित 'पञ्चाहुति' पद की व्याख्या (पृ० १९७) भी हमारे लिये अवलोकनीय है कि ये पाँच आहुतियाँ किस प्रकार सम्पादित होती हैं। पृ० २४९ पर 'त्र्यवि' शब्द का प्रयोग डेढ़ वर्ष की गाय के लिये किया गया है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि अजा (बकरी) और अवि (भेड़) छः महीने में बच्चा जनती है, अतः लक्षणा वृत्ति के सहारे इस शब्द से छः मास का काल लक्षित होता है। इस तरह से त्र्यवि का अर्थ तीन छः महीने, अर्थात् डेढ वर्ष हुआ। संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर नामक पाँच संवत्सरों का स्वरूप यहाँ (पृ० ३१३) वराहमिहिर की बृहत्संहिता और उसकी भट्टोत्पल की व्याख्या के आधार पर दिया गया है। चरकाचार्यों के विषय में पाश्चात्त्य विद्वानों के द्वारा व्यक्त किये गये अप्रामाणिक विचारों की समालोचना भी यहाँ (पृ० ३१६) दी गई है। एक स्थान पर (पृ० ३१७) मण्डल आयोग की भी चर्चा आई है। आज यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो गई है कि इस आयोग की संस्तुति इस राष्ट्र के विघटन में कितना योगदान कर रही है।

उव्वट के भाष्य से ज्ञात होता है कि इस संहिता के ३१ वें अध्याय (पुरुष सूक्त) का शौनक ऋषि ने भाष्य किया था। इस पूरे भाष्य को उव्वट ने उद्धृत किया है। उव्वट की पद्धति से ही उसे यहाँ भी दे दिया गया है। सात छन्दों, सात धामों (अग्नियों), सात होताओं, सात संस्थाओं और सात परिधियों की

चर्चा पहले की जा चुकी है। सात परिधियों और २१ समिधाओं का स्वरूप ३१।१५ में भी देखा जा सकता है। ३१।२२ के भाष्य में "न मे भक्तः प्रणश्यति" इस गीतावाक्य की हृदयाभिराम व्याख्या की गई है। "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" (३२।८) यह इस संहिता का विश्वजनीन संदेश है। कवीन्द्र रवीन्द्र इससे इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपनी संस्था विश्वभारती का आदर्शवाक्य इसे ही बनाया था। "ईशावास्यमिदं सर्वम्" का उपदेश भी यही संहिता देनी है। ऐसे ही स्थलों से इस संहिता की दार्शनिक गरिमा का भी पता चलता है। इस तरह के विश्वजनीन उपदेशों से भरे वाक्यों से प्रेरणा लेकर हम द्वेष और कलह से ग्रस्त पूरे आधुनिक विश्व को मानव जाति का एक पवित्र मन्दिर बना सकते हैं।

नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१२९।५) के प्रसिद्ध "तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्" (३३।७४) की प्रस्तुत भाष्य में की गई अधियज्ञ व्याख्या अतीव महत्त्वपूर्ण है। यहाँ बताया गया है कि अध्वर्यु उत्तर हविर्धान के नीड पर एक अंभ्रण की स्थापना करता है। उसे आधवनीय कहा जाता है। प्रउग स्थान पर द्वितीय अंभ्रण की स्थापना की जाती है। उसे पूतभृत् कहते हैं। हविर्धान शकट का नाम है। बड़े मुँह वाले मिट्टी के घड़े को अंभ्रण कहा जाता है। शकट पर बैठने की जगह नीड कहलाती है। इस नीड के बाहर के भाग को प्रउग कहते हैं। मन्त्र से संस्कृत प्रादेशप्रमाण के नीचे से ऊपर तक बिना टूटे हुए दो दर्भों को मिलाकर प्रोक्षण के निमित्त पवित्र बनाया जाता है। उद्गाता (सामगान करने वाला) आदि के द्वारा सोम के ऋजीष, कल्क आदि को छानने के उपयोग में आने वाला वस्त्र दशापवित्र कहलाता है। ग्रह, चमस, आधवनीय आदि पात्रों में छने हुए सोम रस को स्थापित किया जाता है। कितनी मार्मिक व्याख्या है ? याज्ञिक पारिभाषिक शब्दावली को समझाने की मानों झड़ी लगा दी है। हम पूरे भाष्य में इस तरह के पारिभाषिक शब्दों की व्युत्पत्तियों, प्रयोगों और उनके अर्थों को देख सकते हैं। पाणिनि के धातुपाठ में लगभग दो हजार धातुओं का निर्देश है। इन सबका प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं मिलता। प्रस्तुत महनीय भाष्य के सहारे हम इन धातुओं के प्रयोग-स्थलों और उनके अर्थों पर गहन विचार कर सकते हैं। इस भाष्य के व्याकरण-प्रधान अंश इस कार्य में हमारे सहायक हो सकते हैं।

'पङ्क्तिराधसम्' पद यहाँ अनेक स्थानों पर (३३।८९; ३७।७, ९) आया है। हविष्पंक्ति, नाराशंस पंक्ति और सवन पंक्ति का स्वरूप एवं व्याख्या इन स्थलों पर देखी जा सकती है। यहाँ एक स्थान पर बताया गया है कि इन पंक्तियों का निरूपण ऐतरेय ब्राह्मण में विस्तार से किया गया है। ३३।९१ के आध्यात्मिक अर्थ में "देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान् वेद" (२।४।६) इस बृहदारण्यक श्रुति को उद्धृत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि देवता उसकी सहायता नहीं करते, जो व्यक्ति देवताओं को अपने से भिन्न मानता है। भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा के आधार पर आराधक स्वयं देवस्वरूप बनकर आराध्य देवता की उपासना करता है। "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्", "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" जैसे वाक्य इसी सिद्धान्त को उजागर करते हैं। यहीं (५।६) के भाष्य में उद्धृत—"त्वं वै भगवो देवते ! अहमस्मि, अहं वै भगवो देवते ! त्वमसि" इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है।

३३।९३ के भाष्य में प्रदर्शित है कि मूलाधार से उठ कर वाणी तीस अंगुल का मार्ग पूरा कर मुख तक पहुँचती है। त्रिंशत्पदा शब्द के यहाँ अन्य भी अर्थ किये गये हैं। पहले १३।३९ के भाष्य में भी शतपथ का यह वचन उद्धृत है—"तस्यैष घोषो भवति यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति" (१४।८।१०।१)। स्पष्ट है कि योगशास्त्र में वर्णित नादानुसन्धान की प्रक्रिया का यहाँ स्मरण कराया गया है।

३४ वें अध्याय के छः शिवसंकल्प मन्त्रों की व्याख्या करते समय पृ० ९५ पर प्रथम मन्त्र में मन की अतीत, अनागत, वर्तमान, संनिकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यवहित पदार्थों को भी देख सकने की शक्ति की औपचारिकता का उपनिषदों के प्रमाण से वर्णन किया है। यहाँ बताया गया है कि गान्धर्व शास्त्र के अभ्यास से उत्पन्न षड्ज आदि स्वरों की पहचान की तरह प्रत्यगभिन्न ब्रह्मरूप का महावाक्यजन्य प्रमात्मक मानस साक्षात्कार हो सकता है। महावाक्यजन्य प्रमा और सांख्य, वेदान्त, न्यायशास्त्र आदि दर्शनों एवं विभिन्न ग्रन्थों के प्रमाण से मन की शक्ति एवं जागरण, स्वप्न, प्रस्वाप आदि दशाओं का यहाँ सप्रमाण विवरण दिया गया है। दार्शनिकों को इस प्रसंग का अवलोकन अवश्य करना चाहिये। पृ० ९८-९९ पर इस मत का उल्लेख किया गया है कि मस्तक में मस्तिष्क का जो स्थान है, वहीं मन का भी निवास है। बाद में इस मत का यहाँ खण्डन कर दिया गया है और हृदय-पुण्डरीक में ही मन की स्थिति मानी गई है।

पितृमेध की प्रक्रिया का यहाँ (पृ० १३०-१३१) विस्तार से वर्णन है। इसी तरह से महावीर के संभरण की प्रक्रिया को भी यहाँ (पृ० १५६-१६१) विशद रूप से देखा जा सकता है।

भाष्य की महत्ता को दिखलाने के लिये उदाहरण के रूप में ये कुछ प्रसंग हमने यहाँ प्रस्तुत किये हैं। यह पूरा भाष्य इस तरह के प्रसंगों से भरा हुआ है। मनु आदि स्मृतिकारों के अनुसार लौकिक और आध्यात्मिक सर्वविध ज्ञान वेद से ही प्राप्त होता है। ऊपर वर्णित सारे प्रकरण स्मृतिकारों की और हमारी इस आस्था को दृढ करने वाले हैं।

संवत् २०३० तक स्वामी करपात्री जी महाराज की भाष्यभूमिका का दार्शनिक भाग पूरा हो चुका था। इसको भाषानुवाद के साथ प्रकाशित कराने का जब विचार हुआ, उस समय इस कार्य के लिये हमने पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी का नाम प्रस्तुत किया था। स्वामी जी ने एक प्रतिबन्ध के साथ इस प्रस्ताव को स्वीकार किया कि इस दार्शनिक भाग के पूरे अनुवाद को सुनकर आवश्यकता के अनुसार उसमें संशोधन करना होगा। हमने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और संवत् २०३२ में पटना में आपातकाल के एकान्तवास के दो मासों में इस कार्य को सम्पन्न कर ग्रन्थ के मुद्रण की अनुमति दे दी। एक लम्बी अवधि के बाद ही सही, आज इस पूरे भाष्य को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत होते देख हमें एक अलौकिक सन्तोष की अनुभूति हो रही है।

इस बृहत् कार्य को पूरा करने के लिये स्वामी जी ने चार विद्वानों को नियुक्त किया था और उनके नामों का उल्लेख भी अपनी भाष्यभूमिका के प्रारम्भ में कर दिया था। पद्मभूषण पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री जी ने भाषानुवाद करना प्रारम्भ किया, किन्तु बाद में वे इस कार्य से विरत हो गये। भूमिका भाग के प्रथम खण्ड की उन्होंने हिन्दी और अंग्रेजी में विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखी। पं० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर ने भूमिका भाग के द्वितीय खण्ड के पृ० १९७६-२०९४ तक का भाषानुवाद किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने पहले, सोलहवें और चालीसवें अध्याय का भाषानुवाद और २-३ अध्यायों का भाष्यसार भी लिखा। भाष्यभूमिका और पूरे भाष्य की शुद्ध और स्वच्छ प्रेस कापी तैयार करने में तथा उद्धरणों के स्थान-निर्देश में भी यथाशक्ति पं० मार्कण्डेय ब्रह्मचारी जी का सराहनीय सहयोग रहा है। अन्तिम कुछ अध्यायों की प्रेस कापी तैयार करने में एक अन्य व्यक्ति को लगाया गया था, किन्तु वे सज्जन इस कार्य को सही ढंग से कर न सके और अन्ततः उन अध्यायों की भी प्रेस कापी पं० मार्कण्डेय ब्रह्मचारी जी से ही करवानी पड़ी। भाष्य के भाषानुवाद में होते विलम्ब को देखकर अन्ततः भाष्यसार के साथ पूरी संहिता को छपाने का

संकल्प लिया गया और इसके लिये काशीस्थ वैदिक विद्वानों से प्रार्थना की गई। डॉ० श्रीकिशोर मिश्र वेदाचार्य के अतिरिक्त किसी अन्य वैदिक विद्वान् ने इसमें विशेष रुचि नहीं दिखाई। श्री मिश्र ने ४-१० अध्यायों का भाष्यसार लिखा है। आगे के ११ से ३९ अध्यायों को केवल भाष्यनिष्कर्ष के साथ निकालना पड़ा है, ताकि भाष्य के प्रकाशन में अनपेक्षित विलम्ब न हो। ऊपर निर्दिष्ट कार्यों के अतिरिक्त भाष्य-निष्कर्ष के लेखन के साथ अन्य सारा कार्य पं० श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी ने किया है। हमें सन्तोष है कि हमारे द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति ने इस विशाल कार्य को पूरा कर दिखाया है। हम इनके सर्वविध कल्याण की कामना करते हैं। हमारे लिये यह सन्तोष का विषय है कि इनको इस वर्ष राष्ट्रपति पुरस्कार से संमानित किया गया है।

इस प्रसंग में हमें एक विसंगति देखने को मिली कि स्वामी करपात्री जी महाराज के यहाँ धर्म की रक्षा के नाम पर आने वाले अनेक व्यक्तियों की दृष्टि अर्थ के प्रति अधिक सजग रही है। पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी स्वामी जी के निकट अर्थ के लिये आये थे, जिसकी कि उन दिनों अपना परिवार चलाने के लिये उनको आवश्यकता थी, किन्तु इन्होंने उस समय भी धार्मिक दृष्टि को प्रधान रखा। यही कारण है कि इस कार्य से जुड़े अनेक व्यक्ति धीरे-धीरे हटते गये और इनको जब भी इस कार्य की जिम्मेदारी सौंपी गई, उससे कभी पीछे नहीं हटे। आज भारत को चरित्रसम्पन्न अर्थनिरपेक्ष व्यक्तियों की आवश्यकता है। तभी यह राष्ट्र प्रगतिपथ पर आरूढ होगा और स्वामी करपात्री जी महाराज की कल्पना साकार हो सकेगी।

इस महान् कार्य में आर्थिक सहयोग देने वाले श्री हनुमानप्रसाद धानुका का उल्लेख किये बिना यह वक्तव्य अधूरा रहेगा। "सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूलाः" इस सुभाषित से हम सब कोई परिचित हैं। स्वामी करपात्री जी महाराज के परम श्रद्धालु भक्त वृन्दावनवासी अपने पिता श्री राधाकृष्ण धानुका की स्मृति में श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान की स्थापना कर इन्होंने सर्वात्मना आर्थिक सहयोग न दिया होता, इस कार्य में लगे हुए विद्वानों के योगक्षेम का यथाशक्ति प्रबन्ध न किया होता, तो इस महान् प्रकाशन कार्य के सम्पन्न होने में अभी और भी विलम्ब होता। श्रेष्ठिजनों की रुचियाँ आजकल बदल रही हैं। पारिवारिक विग्रह, पत्नीवियोग जैसी आपदाओं को सहते हुए भी इन्होंने अपने दृढ संकल्प को नहीं छोड़ा और इस पावन कार्य को पूरा करा कर के ही रहे। हम इनके परिवार के सर्वविध कल्याण की कामना करते हैं। इधर इन्होंने मुद्रण कार्य की देख-रेख के लिये वृन्दावन के अपने मुनीम श्री गिरिराज प्रसाद अग्रवाल को नियुक्त किया था। उनके उचित सहयोग से ही यह कार्य अनेकविध विघ्नबाधाओं को पार कर आज पूरा हो रहा है। हम इनके लिये भी अपनी शुभ कामना व्यक्त करते हैं।

॥ शम् ॥

शिवरात्रि, संवत् २०४९   **श्री निरंजनदेव तीर्थ**
वाराणसी।

दशाध्यायी (१-१०) -भाष्यनिष्कर्ष

करपात्रमहाभागान् पुरीपीठाधिपांस्तथा ।
नमस्कृत्य विचारोऽयं प्रस्तुतो भाष्यसंश्रयः ॥

यह संयोग की ही बात है कि शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता के स्वामी करपात्री जी महाराज के द्वारा विरचित वेदार्थपारिजातभाष्य के प्रथम दस अध्यायों का भाष्यनिष्कर्ष लिखने से पहले अगले अध्यायों का भाष्यनिष्कर्ष लिखना पड़ा है। अब तक ११ से १५ अध्याय तक का, १६ से २० अ० तक का, २१ से ३० अ० तक का और ३१ से ३९ अध्याय तक का भाष्यनिष्कर्ष तीन जिल्दों में प्रस्तुत किया जा चुका है। भाष्य के प्रकाशन में कालातिपात से बचने के लिये ११ से ३९ अध्याय तक के भाष्य पर हिन्दी में भाष्यसार नहीं लिखवाया जा सका और उसकी पूर्ति के लिये भाष्यनिष्कर्ष में अतिसंक्षेप से भाष्य की विशिष्ट सामग्री का परिचय दे दिया है, जिससे कि हिन्दी भाषा के अभिज्ञ जिज्ञासु भी इस भाष्य से कतिपय विशेष अंशों से लाभान्वित हो सकें।

इसके लिये पूरे भाष्य के प्रतिपाद्य विषयों को हमने चार विभागों में बाँट दिया था। अ० ११-१५ के भाष्य-निष्कर्ष के प्रारम्भ में "भाष्यरचना की सामान्य पद्धति" शीर्षक से इसका परिचय दिया जा चुका है। श्रद्धेय स्वामीजी महाराज ने पूरे भाष्य में सामान्यतः इसी पद्धति का अनुसरण किया है, किन्तु प्रथम अध्याय में तथा अन्यत्र भी कहीं-कहीं याज्ञिक पद्धतिपरक मन्त्रार्थ को बताने के बाद स्वामी दयानन्द जी के मत के खण्डन में प्रवृत्ति देखी गई है। ऐसा प्रायः उन स्थलों पर हुआ है, जहाँ स्वामी दयानन्द जी अपने भाष्य को शतपथब्राह्मण-संमत बताने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे स्थलों पर उनके भाष्य को पहले उद्धृत कर बाद में उन शतपथ वचनों की समीक्षा की गई है, जिनको कि वे अपने भाष्य के अनुकूल मानते हैं। पहले यहाँ शतपथ श्रुति की शास्त्रसंमत व्याख्या प्रस्तुत कर, तब दयानन्दीय भाष्य की निःसारता प्रदर्शित कर दी गई है। स्वामी जी का अभिमत है कि मन्त्रों के श्रुति-सूत्र अविरोधी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं (८९, १२९)। इसके उदाहरण के रूप में प्रथम अध्याय के ९-११, १३-१४, १७ संख्या के मन्त्र देखे जा सकते हैं, जहाँ इस तरह के अर्थ दिये गये हैं। स्वामी जी ने एक स्थान पर (१ अध्याय, पृ० ४४) लिखा है कि इसी पद्धति से किसी विद्वान् ने श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक के १०८ अर्थ किये हैं। कहीं-कहीं अन्यत्र भी इस क्रम में विपर्यय देखा गया है। लेखक अपने लेखन-व्यापार में स्वयं वेधा (ब्रह्मा) है। अतः जो विषय भाष्य में जिस तरह से भाष्यकार द्वारा उपस्थापित किया गया है, उस क्रम को बिना बदले उसी तरह से बनाये रखा गया है। किन्तु ऐसा बहुत कम स्थलों पर हुआ है। प्रायः सर्वत्र पूर्वनिर्दिष्ट क्रम ही पूरे भाष्य में स्वीकृत है।

१-१० अध्यायों का विस्तृत भाषानुवाद अथवा भाष्यसार प्रस्तुत है, अतः भाष्यनिष्कर्ष की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु पाठकों को भाष्य के विशिष्ट स्थलों की जानकारी देने के लिये अतिसंक्षेप में उसे यहाँ भी दिया जा रहा है। इसके लिये भाष्यनिष्कर्ष को लिखने की पद्धति में थोड़ा परिवर्तन करना पड़ा है। यहाँ पहले अध्याय के भाष्य का विस्तृत भाषानुवाद प्रकाशित है और आगे २-१० अध्यायों का भाष्यसार। विस्तृत भाषानुवाद में तो भाष्य की सारी बातें आ ही गई हैं और भाष्यसार में भी मन्त्रों के विनियोग के साथ दयानन्दीय भाष्य के खण्डनपरक अंश का अर्थ और मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है। अतः भाष्यनिष्कर्ष में इन पर पुनः विचार कर द्विरुक्ति करने का कोई लाभ नहीं है। इसीलिये प्रस्तुत भाष्यनिष्कर्ष में भाष्य के उन विशेष प्रतिपाद्य विषयों पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है, जिनका परिचय प्राप्त करने से भाष्यसार के अतिसंक्षिप्त होने के कारण सुबुद्ध हिन्दी पाठक वंचित रह जाते।

शुक्ल यजुर्वेद के ११ से ३९ वें अध्याय तक के प्रतिपाद्य विषयों की सूचना तत्तत् खण्ड के भाष्यनिष्कर्ष में दी गई है। हम यह जानते ही हैं कि इस संहिता का ४० वाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम अध्याय के भाष्य (पृ० १२-१३) में अतिसंक्षेप में पूरी संहिता के प्रतिपाद्य विषयों को सूचित कर दिया गया है। अन्यत्र भी भाष्य में इन विषयों की सूचना दी गई है।

तदनुसार परिशोधित क्रम से प्रथम और द्वितीय अध्याय में दर्शपूर्णमास याग की पद्धति वर्णित है। यह प्रकरण दूसरे अध्याय के २८ वें मन्त्र में पूरा हो जाता है। इसके बाद २९-३४ मन्त्रों में पिण्डपितृयज्ञ[1] का अनुष्ठान निर्दिष्ट है। तृतीय अध्याय में अन्वाधान, अग्निहोत्रीय अग्नि का उपस्थापन तथा चातुर्मास्य याग का वर्णन है। चौथे अध्याय से लेकर आठवें अध्याय की ३२ वीं कण्डिका तक के मन्त्रों में अग्निष्टोम याग का विधान है। प्रथमतः चौथे अध्याय में सोम का क्रय करने के मन्त्र हैं। पाँचवें अध्याय में ज्योतिष्टोम का प्रतिपादन है। यहाँ सोमप्रधान आतिथ्येष्टि से लेकर यूपनिर्माण तक के मन्त्र हैं। छठे अध्याय में पशुप्रधान अग्नीषोमीय यूप के संस्कार से लेकर सोमाभिषव विधि तक के मन्त्र हैं। सातवें अध्याय में ग्रहग्रहण निर्दिष्ट है। यहाँ उपांशुग्रह से लेकर प्रातःसवन और माध्यन्दिनसवन तक की पद्धति को सम्पन्न कराने वाले एवं दक्षिणादान की विधि को बताने वाले मन्त्र हैं। आठवें अध्याय में तृतीय सायंसवनगत आदित्य ग्रहों के ग्रहण की विधि निर्दिष्ट है। इस अध्याय के ३२ वें मन्त्र तक यह प्रकरण चलता है। इसके आगे के मन्त्रों में षोडशी ग्रह, द्वादशाह विधि, अतिग्राह्य ग्रह, गवामयन, महाव्रत, विश्वकर्म, अदाभ्य ग्रह, सोमांशुहवन, [2]घर्मभेद प्रायश्चित्त आदि का प्रतिपादन है। ये सब विषय भी एक प्रकार से अग्निष्टोम याग से ही संबद्ध हैं। नवें अध्याय की ३४ वीं कण्डिका तक वाजपेय याग का वर्णन है। इस अध्याय के ३५ वें मन्त्र से राजसूय याग का प्रकरण प्रारम्भ होता है और दसवें अध्याय में भी ३० वीं कण्डिका तक राजसूय याग से सम्बद्ध अभिषेक आदि के मन्त्र हैं। इस अध्याय के आगे के चार मन्त्रों (३१-३४) में [3]चरक सौत्रामणी प्रतिपादित है।

ये दस अध्याय अलग-अलग चार भागों में प्रकाशित हुए हैं। पहले भाग में पहला, दूसरे में दूसरा और तीसरा, तीसरे में ४-६ अध्याय और चौथे में शेष चार अध्याय प्रकाशित हुए हैं। इन सबकी पृष्ठसंख्या भिन्न-भिन्न है। यहाँ हम क्रमशः इनका विवरण दे रहे हैं। आवश्यकता के अनुसार दी गई पृष्ठसंख्या उसी भाग की समझनी चाहिये।

प्रथम अध्याय

यहाँ प्रारम्भ में ही बताया गया है कि उव्वट, सायण, महीधर आदि आचार्यों ने ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों के प्रमाण से तथा परम्परा से प्राप्त अर्थज्ञान की पद्धति से मन्त्रों की व्याख्या की है, किन्तु नास्तिक अथवा अर्धनास्तिक भारतीय तथा पाश्चात्त्य विद्वानों ने अनेक दुस्तर्कों की उद्भावना कर वेदार्थ को व्याकुल कर दिया है। उसका अपाकरण कर वेदार्थ की निर्मलता के लिये हमारा यह प्रयत्न है। भूमिका भाग में इस विषय को विस्तार से देखा जा सकता है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद की नित्यता भी वहाँ सिद्ध कर दी गई है। यहाँ भाष्यकार ने बताया है कि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस श्रुति-वाक्य में ऋषि, छन्द, देवता तथा विनियोग के साथ अर्थज्ञानपूर्वक अपनी शाखा का अध्ययन विहित है। चारों वेदों की सहस्राधिक शाखाएँ हैं। इन सबका अध्ययन एक व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं है। अतः कुलपरम्परा से प्राप्त अपनी शाखा का अध्ययन प्रथमतः अपेक्षित है।

---

१. साकमेध पर्व के अन्तर्गत भी पितृयज्ञ से संबद्ध मन्त्र (३।५१-५४) उपदिष्ट हैं और ३५ वें अध्याय में पितृमेध याग वर्णित है।

२. घर्मभेद प्रयुक्त प्रायश्चित्ताहुतियों का विधान ३९ अध्याय में अधिक विस्तार से मिलता है।

३. सौत्रामणी याग का विस्तार १९-२१ अध्यायों में है।

यजुर्वेद के शुक्ल और कृष्ण विभाग कैसे हो गये, इसका विवेचन करते हुए यहाँ बताया गया है कि वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने सूर्य की उपासना के उपरान्त प्राप्त शुक्ल यजुर्वेद को जिन १५ ऋषियों को पढ़ाया, उनके नाम इस प्रकार हैं –कण्व, मध्यन्दिन, शापेय, स्वापायनीय, कापाल, पौण्ड्रवत्स, आवटिक, परमावटिक, पाराशर्य, वैधेय, वैनेय, औधेय, गालव, वैजव और कात्यायनीय (पृ० ४)। मध्यन्दिन नाम के महर्षि के द्वारा प्राप्त यजुर्वेद ही माध्यन्दिन शाखा के नाम से प्रसिद्ध है। इस शाखा के अध्येता माध्यन्दिन कहलाते हैं। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत संहिता, जिस पर वेदार्थपारिजातभाष्य लिखा गया है, माध्यन्दिन संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। वाजसनेय पद से तो सभी पन्द्रह शाखाओं की संहिताएँ अभिहित होंगी। आज इन पन्द्रह शाखाओं में से माध्यन्दिन के अतिरिक्त काण्व शाखा की संहिता ही मिलती है। शेष शाखाओं की संहिताएँ कालप्रभाव से विलीन हो गईं। इस प्रकार माध्यन्दिन शाखा के अनुयायियों के लिये 'स्वाध्याय' पद से यही संहिता प्रथमतः गृहीत होगी। शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन सूत्र इस शाखा के अन्य प्रधान ग्रन्थ हैं। प्रस्तुत भाष्य में प्रधानतः इन्हीं की सहायता से मन्त्रार्थ की व्याख्या और विनियोग प्रदर्शित हैं।

अध्ययन विधि की सविस्तर व्याख्या करने के बाद यहाँ वेद के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की अपरा और परा विद्या के रूप में व्याख्या की गई है तथा बताया गया है कि अन्ततः सारे वेद का महातात्पर्य ब्रह्म के प्रतिपादन में ही है। इस दृष्टि से संहिता में ब्रह्म का प्रतिपादन ही पहले होना चाहिये था, किन्तु बुद्धि की शुद्धि के बिना ब्रह्मज्ञान असम्भव है, अतः तदर्थ पहले यहाँ कर्मकाण्ड का ही उपदेश किया गया है। विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध नामक चार अनुबन्धों का निरूपण करने के उपरान्त यहाँ कर्मकाण्ड की व्याख्या के प्रसंग में नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रतिषिद्ध के भेद से चतुर्विध कर्मों का तथा प्रत्यवाय का स्वरूप प्रदर्शित है।

इतना विवेचन कर लेने के उपरान्त इस संहिता में दर्शपूर्णमास याग का ही प्रथमतः विधान क्यों किया गया, इस विषय को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि सारे वैदिक अनुष्ठान अग्निहोत्र से, इष्टि से अथवा सोम से संबद्ध हैं। अतः इनको सारे वैदिक अनुष्ठानों की प्रकृति कहा गया है, क्योंकि यहाँ इन यागों की पूरी विधि वर्णित है। विकृति यागों के अनुष्ठान में यहाँ वर्णित विधि की सहायता लेनी पड़ती है। इन तीन प्रकृति यागों में भी सर्वतो निरपेक्ष दर्शपूर्णमास याग है। अतः प्रस्तुत संहिता में सर्वप्रथम इसी का विवेचन है। कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में यजुर्वेद की ही प्रधानता मानी गई है, मन्त्र आदि का सामान्य लक्षण जैमिनीय मीमांसा सूत्र में प्रतिपादित है, इत्यादि विषयों के विवेचन के बाद मन्त्रों की दृष्टार्थकता को बताते हुए यहाँ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक माध्यन्दिन शाखा की वंशब्राह्मणोक्त परम्परा का स्मरण कराया गया है।

छन्दों के ज्ञान के प्रसंग में यहाँ सायण का और कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी का मत प्रदर्शित है और तब विस्तार से इस संहिता की प्रथम कण्डिका के छन्दों का तथा पूरे विनियोग का स्वरूप निर्दिष्ट है। विनियोग में पलाश की शाखा को देवता बताया गया है। स्थावर शाखा में यह कैसे सम्भव होगा ? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि शाखा की अधिष्ठात्री देवता परमेश्वर का ही अंश है, अतः उसमें यजमान की कामना की पूर्ति करने की सामर्थ्य विद्यमान है।

इस संक्षिप्त विचार के साथ यहाँ मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है। इस पूरे अध्याय के मन्त्रों से दर्शपूर्णमास के अनुष्ठान का जो स्वरूप बनता है, उसकी प्रक्रिया यहाँ तीन स्थलों पर (पृ० १७-१९, १५५-१६०, २८५-२९४) दी गई है, जिसको हिन्दी भाषानुवाद की सहायता से समझा जा सकता है। प्रथम मन्त्र का अर्थ बताने के बाद यहाँ स्वामी दयानन्द तथा उनके अनुयायी पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के मत का विस्तार से खण्डन किया गया है (पृ० २५-५४)।

इस प्रसंग में [4]याग और होम की कात्यायन-संमत परिभाषा दी गई है, यास्कीय निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग, स्कन्द आदि के मत प्रदर्शित हैं और सर्वानुक्रमणीकार द्वारा प्रदर्शित देवतावाद के समर्थन के प्रसंग में बताया गया है कि निरुक्त, बृहद्देवता एवं सर्वानुक्रमणी के आधार पर ही वैदिक देवतावाद प्रतिष्ठित है।

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने [5]स्वामी दयानन्द के भाष्य का विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों के साथ सम्पादन किया है। उक्त संस्करण को पृ० २३ तक की टिप्पणियों में अनेक विषयों की चर्चा उन्होंने की है। यहाँ निरुक्त, निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग और स्कन्द, सर्वानुक्रमणी, तैत्तिरीय संहिता, बृहद्देवता, गोपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य मन्त्रभाष्य, महाभारत, वायुपुराण भट्ट भास्कर भाष्य आदि ग्रन्थों को उद्धृत करते हुए स्वामी दयानन्द के विचारों का समर्थन किया गया है और व्याकरण-प्रक्रिया के अन्तर्गत प्राचीन भाष्यकारों की व्युत्पत्ति को गलत बताने की चेष्टा की गई है। वाक्यार्थबोध का प्रकार, सभी मन्त्रों के त्रिविध अर्थ, स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदर्शित आध्यात्मिक, अधियज्ञ और अधिदैव अर्थ भी प्रस्तुत किये गये हैं। इन सब विचारों का यहाँ (पृ० ३५-५४) सप्रमाण खण्डन कर दिया गया है। इनकी व्याकरण-प्रक्रिया का खण्डन आगे भी (पृ० १०८-१०९) मिलता है।

प्रसंगवश यहाँ (पृ० ४१) बताया गया है कि निरुक्तकार ने भी आध्यात्मिक, याज्ञिक और ऐतिहासिक पक्ष को लेकर कुछ मन्त्रों की व्याख्या की है, किन्तु पूर्व और उत्तर मीमांसा को दृष्टि से पूरे वेद में धर्म और ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। धर्म मनुष्य के अभ्युदय का साधन है। निष्काम भावना से किया गया धर्म बुद्धि को शुद्ध करता है और इसका भी पर्यवसान अन्ततः ब्रह्मसाक्षात्कार में होता है। यहाँ मन्त्रार्थ की प्रक्रिया पर भी विचार किया गया है और बताया गया है कि स्वामी दयानन्द की व्याख्या इन सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं करती, अतः वह अप्रमाण है। उनके द्वारा प्रदर्शित स्वरप्रक्रिया की भी यहाँ (पृ० ४४-४८) समीक्षा दी गई है। अन्त में (पृ० ५५-६०) दिया गया प्रथम मन्त्र के भाष्य का हिन्दी सारांश उनके लिये बहुत उपयोगी है, जिनका संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार नहीं है।

पृ० ६१ पर पवित्र[6] पद का अर्थ बताया गया है और पृ० ७१ पर कर्तव्य के निर्धारण में सहायक स्वामी दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट—१. वेदविद्या, २. प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, ३. सृष्टिक्रम, ४. विद्वानों की संगति, ५. सुविचार और ६. आत्मशुद्धि नामक छः साधनों की समीक्षा की गई है। नवें मन्त्र को व्याख्या करते समय (पृ० ८९) पुनः स्मरण कराया गया है कि सायण का अर्थ श्रुति-सूत्रसंमत होने से वह हमारे लिये प्रामाणिक है। इसके विपरीत दयानन्दीय अर्थ श्रुति-सूत्रविरोधी होने से अप्रामाणिक है। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि मन्त्रों के श्रुति-सूत्र अविरोधी अनेक अर्थ किये जा सकते हैं। उदाहरण स्वरूप यहाँ कुछ मन्त्रों के इस प्रकार के अर्थ भाष्यकार द्वारा किये भी गये हैं।

नवें मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने अपने अर्थ के समर्थन में शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत किया है, किन्तु यहाँ (पृ० ९४) और अन्यत्र (पृ० १६५, १७४, १७६, १७९, २०७-२०८, २२२, २२६, २३२, २३७, २६५) भी आगे अनेक स्थलों पर शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर यह स्पष्ट कर दिया है कि इन शतपथ बचनों में स्वामी दयानन्द

---

४. "तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रदाना याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः, उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः" (पृ० ३०)। सात्वतसंहिता के भाष्यकार ने याग और होम का अन्तर इस प्रकार बताया है—"यागो बिम्बादिषु भगवदर्चनम्, होमो वह्निसन्तर्पणम्" (पृ० १९-२०)। इस प्रकार निगम और आगम की परिभाषा स्पष्ट ही भिन्न है।

५. रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रकाशन, प्रथम भाग, संवत् २०४१ वि०। यहाँ पृ० १-२० तक पहले संस्कृत में तथा बाद में २४ से ३५ पृष्ठ तक हिन्दी में इन सब विषयों पर विचार किया गया है।

६. "द्वौ कुशौ कुशत्रयं वा पवित्रमुच्यते" (पृ० ६१)।

द्वारा दिये गये अर्थ की गन्ध भी नहीं मिलती। स्वामी दयानन्द प्रभुसंमित ब्राह्मण भाग को न तो वेद मानते हैं और न उसकी अपौरुषेयता को ही स्वीकार करते हैं। ब्राह्मण भाग को वे मात्र मन्त्र भाग का व्याख्यान मानते हैं। वे यह नहीं मानते कि ब्राह्मण भाग में मन्त्रों का विनियोग भी प्रदर्शित है। इसीलिये उनके द्वारा किये गये अर्थ में नाना प्रकार की विसंगतियों ने घर कर किया है।

दसवें मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में अन्तर्याग की, मानस पूजा की विधि को बताते हुए भूशुद्धि, भूतशुद्धि आदि का स्वरूप निर्दशित है और कहा गया है कि इस मानस पूजा से साधक ब्राह्मी तनू को प्राप्त करता है, जिसका कि उल्लेख मनुस्मृति (२।२८) आदि में किया गया है। आगम-तन्त्रशास्त्र में "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" इस वाक्य से इसकी प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है और "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" (१।५) [७]प्रस्तुत संहिता के इस मन्त्र में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित है।

१८ वें मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने वायुविद्या, शिल्पविद्या आदि का उल्लेख कर वेद में विमानविद्या के होने का उल्लेख किया है। यह सब शब्दों की कल्पनामात्र, शब्दजालमात्र है। योगसूत्रकार भगवान् पतंजलि ने इसको विकल्प की संज्ञा दी है—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (१।९)। पूरे वेदभाष्य में इस तरह के आधुनिक विज्ञान द्वारा आविर्भूत विद्युत् आदि की खोज इस विकल्प का अच्छा उदाहरण है। पाश्चात्य जगत् के आविष्कारों को तथा अपने यहाँ पुराण, इतिहास, समरांगणसूत्रधार आदि में वर्णित नाना प्रकार के यानों के वर्णन को देख कर वेदों में इसको खोज लेने की ललक कोरा एक नाटक है, हास्यास्पद प्रयत्न है।

पात्रीनिर्णेजन, निनयन आदि विशिष्ट वैदिक पारिभाषिक शब्द हैं। इनका स्वरूप यहाँ पृ० २०९-२१० पर प्रदर्शित है। प्रसंगवश इसी तरह से यहाँ पूरे भाष्य में अन्य भी अनेक विशिष्ट पदों का स्वरूप प्रदर्शित है, जिनका कि उल्लेख भाष्यनिष्कर्ष की टिप्पणियों में भी कर दिया गया है।

स्वामी दयानन्द के मत का खण्डन करते समय यहाँ (पृ० २३७) एक विशेष बात यह बताई गई है कि उन्होंने भूमिका में मन्त्रों के पाठ के विषय में कहा है कि ये केवल अभ्यास के लिये हैं, किन्तु उसके विपरीत यहाँ वे कहते हैं कि मन्त्रों के पाठ के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती। लोक-व्यवहार में तो इसके विपरीत ही देखने को मिलता है कि बिना ही वेदपाठ के अनेक लोग सुखसमृद्धि से सम्पन्न देखे गये हैं। वायु, जल आदि की शुद्धि भी वे मन्त्रपाठ और हवन आदि के बिना ही कर लेते हैं।

२८ वें मन्त्र के भाष्य में बताया गया है कि कुछ मन्त्र निदान वाले होते हैं। अर्थात् उनके साथ कोई कथा जुड़ी हुई रहती है। ऐसे मन्त्रों की व्याख्या करने से पहले उससे संबद्ध कथानक को उपस्थापित करना आवश्यक रहता है और इसका ज्ञान ब्राह्मण ग्रन्थों से ही संभव हो सकता है। इस तरह की निदान कथाओं का उल्लेख यहाँ तथा अन्य स्थलों पर भी पूरे भाष्य में शतपथ ब्राह्मण आदि की सहायता से यथास्थान किया गया है। यहीं (पृ० २४८) स्वामी दयानन्द के इस अनोखेपन का उल्लेख किया गया है कि वे शतपथ ब्राह्मण का उल्लेख तो प्रायः प्रत्येक मन्त्र में करते हैं, किन्तु मन्त्र की व्याख्या उसके विपरीत ही रहती है। यह एक आश्चर्य की ही बात है। स्वामी दयानन्द के मत के खण्डन के प्रसंग में भाष्यकार ने कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्त्तिक—"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥" (पृ० २५६) इस श्लोक को अनेक स्थलों पर स्मरण किया है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से भी जिसका ज्ञान नहीं होता, ऐसे अत्यन्त परोक्ष पदार्थ का भी

---

७. "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" शीर्षक निबन्ध में हमने बृहदारण्यक उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण को मात्र उद्धृत किया है, किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि यह सिद्धान्त संहिता में ही प्रतिपादित हो चुका था।

ज्ञान वेद की सहायता से किया जाता है। यही वेद की वेदता है। अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान से अज्ञात धर्म-ब्रह्म, स्वर्ग-नरक आदि का ज्ञान वेद से ही हो सकता है। स्वामी दयानन्द ने तो वेद-मन्त्रों के ऐसे ही अर्थ किये हैं, जिनका कि ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के द्वारा भी हो सकता है।

द्वितीय-तृतीय अध्याय

जैसा कि पहले अध्याय के प्रारम्भ में बताया गया है, इस दूसरे अध्याय के प्रारम्भ के २८ मन्त्रों में भी दर्शपूर्णमास का प्रतिपादन है। २८ वें मन्त्र में यजमान "य एवास्मि सोऽस्मि" कहता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसा मैं पहले था, वैसा ही पुनः बन जाता हूँ, अर्थात् अनुष्ठान करते समय मैंने अनृत से सत्य भाव को प्राप्त किया था, मनुष्य भाव को छोड़कर देव भाव को स्वीकार किया था, अब अनुष्ठान की समाप्ति पर मैं पुनः पुराने मनुष्य भाव को ही प्राप्त कर रहा हूँ। "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" इस आगमिक सिद्धान्त का प्रस्तुत वैदिक प्रकरण ही प्रेरणा-स्रोत है।

भाष्यकार ने प्रसंगवश यहाँ अनेक उत्तम मनोहारी श्लोकों को उद्धृत किया है। उनका रसास्वादन भाष्यसार की सहायता से किया जा सकता है, क्योंकि इस खण्ड के भाष्यसार में ऐसे सभी श्लोकों का स्पष्ट भाषान्तर कर दिया गया है (पृ० १२ आदि पर देखिये)। पृ० ३ पर 'कश्चित्तु' पद से ब्रह्मदत्त जिज्ञासु अभिप्रेत हैं। 'केचिन्मन्यन्ते' (पृ० १०) यह मत शतपथ ब्राह्मण के भाष्य में देखा जा सकता है। वेदभाष्यकार और शतपथ ब्राह्मण के भी व्याख्याता आचार्य सायण का मत उनके नाम का उल्लेख करते हुए दिया गया है (पृ० १४, १६ आदि देखिये)। सायण के काण्व संहिता के भाष्य का भी यत्र तत्र उल्लेख मिलता है।

द्वितीय अध्याय के अनेक मन्त्रों का व्याख्यान स्वामी दयानन्द की व्याख्या से प्रारम्भ होता है। ऐसा उन मन्त्रों के प्रसंग में किया गया है, जिनकी व्याख्या स्वामी दयानन्द शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से करने का उल्लेख करते हैं। ऐसे स्थलों पर शतपथ ब्राह्मण के उस प्रसंग को विस्तार से उद्धृत कर यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि शतपथ ब्राह्मण के इन वचनों में स्वामी दयानन्द के व्याख्यान की गन्ध भी नहीं है। अनेक मन्त्रों की व्याख्या में स्वामी दयानन्द शतपथ के स्थलों का मात्र उल्लेख करते हैं, किन्तु उन स्थलों पर निर्दिष्ट मन्त्र का व्याख्यान मिलता ही नहीं। इस तरह के मन्त्रों के भाष्य में दयानन्दीय मत और शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर इनके मत का खण्डन करने के उपरान्त ही श्रुतिसूत्रसंमत सिद्धान्त पक्ष का प्रदर्शन करते हुए मन्त्रार्थ दिया गया है और अन्त में आध्यात्मिक अर्थ बताया गया है। ऐसा पृ० १८, २२, २७, ३०, ३४, ३८, ४५, ५४, ६०, ६६, ७०, ७५, ७८, ८२, ८६, १०२, १०५ पर देखा जा सकता है। ऐसे स्थलों पर विस्तार से सप्रमाण यह बता दिया गया है कि दयानन्दीय अर्थ शतपथ ब्राह्मण संमत है ही नहीं। यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि कात्यायन श्रौतसूत्र और उव्वट, सायण, महीधर आदि के भाष्य शतपथ ब्राह्मण का ही अनुसरण करते हैं और प्रस्तुत भाष्य का सिद्धान्तपक्षीय व्याख्यान भी इन सबके साथ विभिन्न आचार्यों के द्वारा निर्मित याज्ञिक पद्धतियों का भी अनुवर्तन करता है (पृ० ७६, ८८, ९३)। स्वामी दयानन्द ने २७ वें मन्त्र का दो तरह का व्याख्यान किया है। ये दोनों ही व्याख्यान शतपथ श्रुति और कात्यायन श्रौतसूत्र के विपरीत हैं, अत एव उपेक्षणीय हैं (पृ० ९४)।

कश्चित्तु (पृ० २५-२६), अपरस्तु (पृ० ३३), आधुनिकस्तु (पृ० ४२, ४८, ५१, ५४, ५८), अन्ये तु (पृ० ८५) इत्यादि शब्दों से संभवत यहाँ स्वामी गंगेशानन्द जी के द्वारा विरचित विज्ञानभाष्य गृहीत है। यहाँ के कुछ अंशों के साथ अपनी संमति जताने पर भी भाष्यकार ने अनपेक्षित स्थलों का खण्डन किया है।

पृ० ७२ पर नामसंकीर्तन का महत्त्व बताने वाले तीन श्लोक उद्धृत हैं। नामजप करने वाले भक्तों के लिये ये अतीव उपयोगी हैं। इसी तरह से पृ० ९२ पर "ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती" इत्यादि श्लोक में भगवान्

सूर्यनारायण का ध्यान अतीव मनोहारी है। स्वामी जी ने ही इसे अन्यत्र स्कन्दपुराण का श्लोक बता कर उद्धृत किया है। इसी तरह के नारायण स्तुति के अन्य श्लोक पांचरात्र वैष्णवागम की सात्वत संहिता (२५।११९-१२२) में मिलते हैं।

यहाँ २८ वें मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ नहीं दिया गया है। ऐसा अन्यत्र भी पूरे भाष्य के कुछ स्थलों पर हुआ है। ऐसे स्थलों पर कहीं-कहीं तो मन्त्रार्थ मात्र से ही आध्यात्मिक अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है, अर्थात् इस तरह के कुछ मन्त्र कर्मकाण्डपरक न होकर आध्यात्मिक अर्थ का ही व्याख्यान करते हैं। अन्य स्थलों पर ऐसा कैसे हो गया, इसके कारण की खोज हमें करनी होगी।

आगे के छः मन्त्रों में पितृयज्ञ की विधि वर्णित है। पितृयज्ञ मे पितरों के निमित्त दी गई हवि का वाहक अग्नि कव्यवाहन कहलाता है। यहाँ (पृ० १०८) स्पष्ट कर दिया गया है कि पिण्डदान आदि मृत पितरों के निमित्त ही किये जाते हैं, जीवित माता-पिता आदि के लिये नहीं। आगे ३५ वें अध्याय में पितृमेध का विधान है। उसका विवरण ३१-३९ अध्यायों के भाष्यनिष्कर्ष (पृ० ७-८) में दिया जा चुका है। यह अनुष्ठान क्रव्याद[८] नामक अग्नि में किया जाता है।

पिण्डपितृयज्ञ, कव्यवाहन, मेक्षण आदि शब्दों का प्रयोग यहाँ हुआ है। कव्यवाहन शब्द का अर्थ भाष्य में ही दिया गया है कि कवि, अर्थात् क्रान्तदर्शी पितरों के निमित्त दी जाने वाली हवि कव्य कहलाती है। इस कव्य नामक हवि को पितरों के पास पहुँचाने वाला पावक (अग्नि) कव्यवाहन कहलाता है। पिण्डपितृयज्ञ का परिचय डॉ० मनोहर लाल द्विवेदी के ग्रन्थ से (पृ० १२६-१३०) प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ (पृ० १०४) भी शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से इसको स्पष्ट किया गया है। मेक्षण पद का अर्थ भी वहीं देखा जा सकता है।

तृतीय अध्याय में अग्न्याधान, अग्निहोत्र होम एवं उपस्थान और लघूपस्थान संबन्धी मन्त्र उपदिष्ट हैं। वैश्वदेवाख्य चातुर्मास्य कर्म के वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय नामक चार पर्वों का विधान भी यहाँ मिलता है। साकमेध पर्व के अन्तर्गत पितृयज्ञ से संबद्ध मन्त्र (३।५१-५४) भी यहाँ उपदिष्ट हैं। यहाँ अन्तिम मन्त्र का स्वामी करपात्री जी महाराज द्वारा रचित भाष्य उपलब्ध न हो सका, अतः उसके स्थान पर पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री जी के परामर्श के अनुसार उव्वट-महीधर का भाष्य हमें देना पड़ा है।

हमने अभी बताया है कि द्वितीय अध्याय में कश्चित्तु, अपरस्तु, आधुनिकस्तु, अन्ये तु कह कर संभवतः स्वामी गंगेशानन्द जी के विज्ञानभाष्य का स्मरण किया गया है। इस अध्याय में प्रायः प्रत्येक मन्त्र में स्वामी दयानन्द जी के मत के साथ इनके मत का भी खण्डन किया गया है। इसके लिये उक्त शब्दों के अतिरिक्त केचित्तु, यत्तु, यदपि, यदपि च, अन्यस्तु, विज्ञानभाष्याभिमानिनस्तु (पृ० १४०), अपर आह, यत्तु कश्चित्, यत्तु केनचित्, यत्तु केनचिदुच्यते, यच्च, यत्त्वत्र कश्चित्—इत्यादि पदों का भी प्रयोग किया गया है। तृतीय अध्याय के भाष्य की यह एक विशेषता मानी जा सकती है। स्वामी गंगेशानन्द जी का विज्ञानभाष्य छप चुका है, बहुत प्रयत्न करने पर भी वह हमें उपलब्ध न हो सका, अतः उस भाष्य का परिचय देने में अभी हम असमर्थ हैं। तृतीय अध्याय के भाष्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ अन्य आचार्यों के व्याख्यानों का भी उल्लेख कर खण्डन किया गया है। विज्ञानभाष्य को देखे बिना इस सम्बन्ध में अभी कुछ कहा नहीं जा सकता।

---

८. विधानपारिजात के प्रमाण से दिये गये २७ प्रकार की अग्नि के नामों और उनके स्थानों की तथा नवग्रहों की नौ प्रकार की अग्नियों की जानकारी इसी खण्ड के पृ० १३३-१३४ से प्राप्त की जा सकती है।

प्रथम मन्त्र (पृ० ११०-११४) में ही इस भाष्य के सिद्धान्त पक्ष को उद्धृत कर उसकी विस्तृत समीक्षा की गई है कि कुछ विद्वान् आत्मयाजी की दृष्टि से इस मन्त्र में ब्रह्म का उपदेश मानते हैं, किन्तु स्वामी करपात्री जी महाराज का कहना है कि आत्मयाजी ब्रह्मात्मदर्शी विद्वान् मन्त्र और ब्राह्मणों की अन्यथा व्याख्या नहीं करते। जिन मन्त्रों और ब्राह्मणों का कर्मकाण्डपरक विनियोग स्पष्ट है, उनमें हम निर्गुण, निर्विशेष, अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं मान सकते। ब्राह्मण ग्रन्थों के द्वारा, मीमांसा शास्त्र में उपदिष्ट लिंग आदि षड्विध प्रमाणों के द्वारा और कात्यायन आदि के श्रौतसूत्रों के द्वारा जिन मन्त्रों का विनियोग जहाँ किया गया है, वही मुख्यार्थ माना जाता है। इसके विपरीत यदि कोई अर्थ किया जाता है, तो उसे गौणार्थ ही माना जायगा।

स्वामी गंगेशानन्द पूरे अध्याय के मन्त्रों की कृष्णपरक व्याख्या करते हैं। प्रथम मन्त्र की व्याख्या में ही वे कहते हैं कि इस मन्त्र में कृष्ण और अर्जुन का संवाद है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना है कि बिना किसी प्रसंग के गौणार्थ करने में अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं और बिना प्रमाण के विभक्ति इत्यादि का विपर्यास भी करना पड़ता है, जो कि यथाश्रुत अर्थ की उपपत्ति हो जाने पर कभी मान्य नहीं हो सकता। मन्त्रार्थ के उपबृंहण के लिये रामायण, महाभारत, पुराण आदि की रचना हुई है। इसके विपरीत श्रीमद्भागवत के उपबृंहण के लिये मन्त्रों की व्याख्या करना कथमपि उचित नहीं माना जा सकता।

पाँचवें मन्त्र की इन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अपने विद्यागुरु सन्दीपनि को गुरुदक्षिणा में उनके मृत पुत्र को ले आने की कथा के रूप में व्याख्या की है। इस पर प्रस्तुत भाष्यकार का कहना है कि यद्यपि यह अर्थ दयानन्द की व्याख्या की तरह से ही नानाविध कल्पनाओं से भरा हुआ है, तो भी भक्तिभाव से परिपूर्ण सगुणोपासना का प्रतिपादक है। यहाँ भगवत्कथा का उल्लेख होने से यह हमारे लिये सह्य हो सकता है। इस तरह की जबर्दस्ती से मन्त्रों के अनेक अर्थ किये भी जा सकते हैं, किन्तु इस प्रकार के अर्थों को यहाँ अविचारित रमणीय तथा वागाडम्बर मात्र (पृ० १२०) और कल्पनामात्र (पृ० २०१) बताया गया है।

स्वामी गंगेशानन्द जी के अर्थ का यत्किंचित् समर्थन पृ० १३१ पर भी मिलता है। पृ० १४७ पर बताया गया है कि यह व्याख्यान स्वामी दयानन्द जी की व्याख्या की अपेक्षा अतीव सुन्दर है, किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करने पर यह गौणार्थ ही माना जायगा। आगे (पृ० १६८) इस तरह के अर्थ की उपपत्ति बन जाने पर भी उसे क्लिष्टकल्पनाबहुल, अर्थात् क्लिष्ट कल्पनाओं से भरा हुआ बताया गया है। ३४ वें मन्त्र की व्याख्या (पृ० १८९) में कहा गया है कि कृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत को उठा लेने पर उनकी सामर्थ्य को जान कर क्षमा प्रार्थना के लिये आये इन्द्र को वे उपदेश कर रहे है। इस प्रसंग में (पृ० १९०) भाष्यकार का कहना है कि प्राचीन आचार्य श्रुति, सूत्र आदि का अनुसरण करते हुए ही कहीं-कहीं विभक्ति-व्यत्यय आदि का सहारा लेते हैं। उन्हीं की पद्धति को यथेच्छ स्वीकार कर स्वामी दयानन्द मन्त्रों का मनमाना अर्थ करने लगे। कुछ आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार मन्त्रों की व्याख्या की है। यह उच्छृङ्खलता यहाँ तक पहुँच गई कि 'अहमन्नादः' इत्यादि श्रुतिवचनों से अहमद के नाद की, अर्थात् कुरान की आयतों की भी प्रामाणिकता सिद्ध की जाने लगी।

५० वें मन्त्र की व्याख्या (पृ० २२०) में पुनः बताया गया है कि यहाँ किया गया अर्थ यद्यपि सुन्दर है, तथापि यज्ञ आदि कर्मों में विनियुक्त मन्त्रों की अन्यशेषता के कारण वे प्रमाणान्तर से असिद्ध अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसे स्थलों पर उनका अपना अर्थ प्रधान नहीं रह जाता। यही अर्थ होगा, इसका निर्धारण हम नहीं कर सकते, क्योंकि किसी नियामक के अभाव में उसका दूसरा अर्थ भी दिया जा सकता है। यहाँ भाष्यकार ने अपने आध्यात्मिक अर्थ के ऊपर भी आक्षेप किया है और फिर उसका समाधान भी दिया है कि 'सर्वे वेदाः' इत्यादि

श्रुतियाँ सभी वैदिक मन्त्रों का अध्यात्म के प्रतिपादन में विनियोग निश्चित करती हैं। इस स्थिति में विनियोग के अविरुद्ध आध्यात्मिक अर्थ किया ही जा सकता है।

स्वामी करपात्री जी महाराज ने द्वितीय और तृतीय अध्याय के भाष्य में स्वामी दयानन्द तथा उनके अनुयायियों के द्वारा उद्भावित व्याकरणविषयक आपत्तियों पर अनेक स्थलों पर विचार किया है। पृ० ३ पर 'कृष्ण' पद पर, पृ० ११० पर 'अतिथि' और 'इन्द्रिय' शब्द पर, पृ० १३१ पर 'व्यख्यन्' शब्द पर, पृ० १५२ पर 'आहुवध्यै' शब्द पर, पृ० १५८ पर 'अह्रयः' पद पर, पृ० १६९-१७० पर 'दिवे दिवे' आदि पदों पर, पृ० १७६ पर 'अन्तम' शब्द पर, पृ० १८१ पर 'सोमानम्' शब्द पर, पृ० १८३-१८४ पर 'अररुषः' शब्द पर, पृ० १८६ पर 'अघशंसः' पद पर, पृ० १९२ पर 'दूडभ, रथ' आदि शब्दों पर, पृ० २०३-२०४ पर 'शंयु' शब्द पर और पृ० २०७-२०८ पर 'करम्भ' आदि शब्दों पर निघण्टु, निरुक्त, प्रातिशाख्य इत्यादि आर्ष ग्रन्थों के, पदमंजरी, न्यास, ऋक्संहिता-सायणभाष्य आदि के तथा निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य, वेदभाष्यकार भट्ट भास्कर, उव्वट, सायण-माधव, महीधर आदि के प्रमाण से विस्तार से विद्वन्मनोरंजक पद्धति से अच्छा विचार किया है। यहाँ अनेक स्थलों पर अनेक अन्य वैदिक पदों की स्वतन्त्र व्युत्पत्तियाँ भी दी गई हैं। इससे भाष्यकार के व्याकरण और स्वरप्रक्रिया विषयक गम्भीर ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है।

तृतीय अध्याय के भाष्य में अन्य भी अनेक विषयों पर शास्त्रीय विचार प्रस्तुत किये गये हैं। छठे मन्त्र के भाष्य (पृ० १२४-१२९) में पृथ्वीभ्रमण विषयक दयानन्दीय सिद्धान्त की समीक्षा की गई है। इस विषय में भूमिका, भाग दो में भी पर्याप्त विचार किया गया है (पृ० १२८७-१३००)। पृ० १३३-१३४ पर [९]आगमों एवं पुराणों में वर्णित विविध अग्नियों के नामों और स्थानों का विधानपारिजात नामक ग्रन्थ के आधार पर परिचय दिया गया है। वैदिक वाङ्मय में तीन अथवा पाँच अग्नियाँ विशेष रूप से वर्णित हैं, किन्तु यहाँ २७ प्रकार की अग्नियों के नाम और धाम (कार्य) दिखाये गये हैं। नवें मन्त्र के भाष्य (पृ० १३७-१४४) में अग्निहोत्र के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि इस विषय पर शतपथ ब्राह्मण (२।३।१।१-३३) में विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रसंग में पृ० १४२ पर याज्ञवल्क्य-संमत पाकयज्ञ की प्रक्रिया भी व्याख्यात है। १३ वें मन्त्र की व्याख्या में काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण का पक्ष प्रस्तुत किया गया है।

मन्त्रों की व्याख्या करते हुए यहाँ अनेक स्थलों पर (पृ० १३७, १५५, १६९, १८३) सायण का और उव्वट-महीधर (पृ० १५७) का पक्ष भी प्रस्तुत किया गया है। पृ० १६१ पर चित्रावसु शब्द का व्याख्यान 'अन्यस्तु' कह कर दिया गया है। पृ० १७५ पर मीमांसा शास्त्र के पदविषयक सिद्धान्त की समीक्षा की गई है। २८ वें मन्त्र में (पृ० १८०) प्रसंगवश निरुक्त (६।१०) में की गई इस मन्त्र की व्याख्या पर विचार किया गया है और पृ० २३० पर भी निरुक्त में दी गई रुद्र पद की निरुक्ति को उद्धृत किया गया है। ३५ वें मन्त्र में गायत्री मन्त्र के काण्व और माध्यन्दिन संहिताओं के पाठ की समीक्षा की गई है और यहीं (पृ० १९१) भण्डासुर को भूंज डालने वाली भगवती त्रिपुरा की वन्दना की गई है।

४३ वें मन्त्र के भाष्य (पृ० २०४-२०५) में चातुर्मास्य कर्म के वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय नामक चार पर्वों का तथा दक्षिणा और उत्तरा नामक वेदियों का परिचय दिया गया है। पृ० २०७-२०८ पर प्रघास, करम्भ, मद आदि शब्दों की अशुद्ध व्युत्पत्तियों का उल्लेख कर इन पदों के सही अर्थों का बोध कराया गया है। पृ० २२७ पर 'अम्बिका' पद के और पृ० २३८-२३९ पर 'जमदग्नि' पद के अर्थ पर विचार किया गया है।

---

९. ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, त्रिवेन्द्रम् संस्करण (१।१४।६-१४) देखिये।

अम्बिका के विशेषण के रूप में प्रयुक्त स्वसृ पद का अर्थ पत्नी है, भगिनी नहीं, इसको भी यहाँ स्पष्ट किया गया है। पृ० २४०-२४२ पर कालविभाग की विस्तार से चर्चा है और बताया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु आदि की आयु के विषय में [10]आनन्दकन्द आदि आयुर्वेद और तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में विचार अवश्य किया गया है, किन्तु प्रस्तुत मन्त्र में उनकी चर्चा कथमपि नहीं मानी जा सकती।

इस अध्याय के प्रथम मन्त्र में तथा अन्यत्र (पृ० १३१, १५२, १५८, १७६, १८१, १८३-१८४, १९८, २०३, २३०) भी दयानन्दीय मत की समक्षा में उनके व्याकरण-विषयक निष्कर्षों की ओर उनके समर्थन में दी गई पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु की टिप्पणियों की समीक्षा की गई है। स्वामी दयानन्द का भाष्य शतपथ ब्राह्मण के विपरीत ही अर्थ प्रस्तुत करता है, इसकी भी अनेक स्थलों पर चर्चा है। आठवें मन्त्र में त्रिंशद्धाम पद के अर्थ की समीक्षा है। नवें मन्त्र में दयानन्दीय अर्थ की समीक्षा कर शतपथ के प्रमाण से वस्तुस्थिति को स्पष्ट किया गया है।

१५ वें मन्त्र में अध्वर और यज्ञ शब्द के इनके द्वारा किये गये अर्थ की समीक्षा की गई है। ४७ वें मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द इस मन्त्र में उत्क्षेपण आदि कर्मों का वर्णन बताते हैं, किन्तु उनका यह कथन सही नहीं है, क्योंकि यह तो वरुणप्रघास नामक अनुष्ठान का मन्त्र है। इसी तरह से ६२ वें मन्त्र में स्वामी दयानन्द के द्वारा 'जमदग्नि' पद की व्याख्या के प्रसंग में उपस्थापित प्रमाणों की विस्तार से सप्रमाण समीक्षा की गई है।

चतुर्थ व पंचम अध्याय

चतुर्थ अध्याय से प्रारम्भ कर [11]अष्टम अध्याय की ३२ वीं कण्डिका तक अग्निष्टोम याग के मन्त्र हैं। इनमें से चतुर्थ अध्याय में यजमान के संस्कार के साथ सोम के क्रय करने तक के मन्त्र हैं। भाष्यकार ने प्रथम मन्त्र के प्रारम्भ में सोम याग की प्रक्रिया को दिखाया है। इस याग को सम्पन्न करने की दो पद्धतियाँ हैं। एक तो यह कि जो सोम याग करना चाहता है, वह वसन्त ऋतु में अग्न्याधान के बाद पहले सोम याग करे और तब दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान करे। दूसरा पक्ष यह है कि अग्न्याधान के बाद पहले दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान करे, तदुपरान्त सोम याग सम्पन्न करे। आजकल सोमलता उपलब्ध नहीं होती, अतः उसके स्थान पर पूतीका लता में ही सोमलता के सारे संस्कार किये जाते हैं। यद्यपि यह यज्ञ एक दिन में ही पूरा हो जाता है, तो भी अपने अंगभूत अनुष्ठानों के साथ इसके पूरा होने में पाँच दिन लगते हैं। सोलह ऋत्विजों के द्वारा यह अनुष्ठान सम्पन्न किया जाता है।

अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता नामक चार ऋत्विक् अध्वर्युगण के अन्तर्गत आते हैं। ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र और पोता का ब्रह्मगण में; होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक और ग्रावस्तुत् का होतृगण में और उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य का उद्गातृगण में समावेश माना जाता है। गाय के रूप में जितनी दक्षिणा दी जाती है, उनका समान रूप से चार भाग कर दिया जाता है और एक-एक गण को एक-एक भाग दिया जाता है। इस एक भाग को पुनः विभक्त कर दिया जाता है। इनमें से अध्वर्यु का आधा भाग प्रतिप्रस्थाता, का तीसरा भाग नेष्टा का और चतुर्थ भाग

---

१०. आयुर्वेद और तन्त्रशास्त्र से संबद्ध 'आनन्दकन्द' नामक ग्रन्थ तंजोर सरस्वती महल सिरीज संख्या १५ में सन् १९५२ में प्रकाशित हुआ है। इसी नाम का एक चम्पू ग्रन्थ भी सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, वाराणसी संख्या ३६ में सन् १९३१ में प्रकाशित है।

११. यहाँ मन्त्रार्थ में गलती से "चौथे अध्याय में ३२ वीं कण्डिका तक" लिख दिया गया है।

उन्नेता का होता है। अन्य तीनों गणों में भी यही क्रम लागू होता है। इसीलिये इनको क्रमशः अर्धिनः, तृतीयिनः और पादिनः कहते हैं। कात्यायनयज्ञपद्धति विमर्श (पृ० १२-१३) में इस विषय को उदाहरण के साथ समझाया गया है।

इस यज्ञ के अनुष्ठान में तीनों वेदों का सहयोग रहता है। अग्निहोत्र का अनुष्ठान केवल यजुर्वेद से किया जाता है। दर्शपूर्णमास आदि इष्टियों का अनुष्ठान कुछ लोग ऋग्वेद और यजुर्वेद से तथा अन्य केवल यजुर्वेद से करते हैं। पशुयाग का अनुष्ठान सभी कोई ऋग्वेद और यजुर्वेद से करते हैं। सोम याग तथा अन्य इसी तरह के अनुष्ठान वेदत्रय-साध्य हैं। याजुष कर्म के अनुष्ठान के लिये अध्वर्युगण, हौत्र के अनुष्ठान में होतृगण, साम के अनुष्ठान में उद्गातृगण और तीनों गणों के द्वारा अनुष्ठीयमान कर्मों का पर्यवेक्षण करने के लिये ब्रह्मगण का नियोजन किया जाता है।

इतना सब बता देने के बाद अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र और ज्योतिष्टोम का स्वरूप बता कर प्रस्तुत भाष्य में कहा गया है कि त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश और एकविंश नामक चार स्तोम 'ज्योतिः' पद से अभिहित होते हैं। आगे बताया गया है कि सोम याग अन्य सभी यागों की प्रकृति है। इसकी प्रक्रिया का निरूपण करते हुए यहाँ (पृ० २) महावीरसंभरण, व्रतभक्षण, प्रवर्ग्यानुष्ठान, सुत्यादिवसीय अनुष्ठान, महाभिषव आदि का निरूपण कर बताया गया है कि यज्ञशालानिर्माण आदि की प्रक्रिया शतपथ ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के प्रथम अध्याय में विस्तार से कही गई है।

शतपथ ब्राह्मण में निर्दिष्ट विनियोग ही कात्यायन श्रौतसूत्र में निर्दिष्ट है। माध्यन्दिन संहिता के चतुर्थ अध्याय से षष्ठ अध्याय तक के मन्त्रों का विनियोग शतपथ ब्राह्मण के तृतीय काण्ड में तथा कात्यायन श्रौतसूत्र के ७-९ अध्यायों में वर्णित है। चतुर्थ अध्याय के भाष्य में मन्त्रार्थ, आध्यात्मिक अर्थ, दयानन्दमतखण्डन और अन्त में शतपथ ब्राह्मण को प्रायः उद्धृत किया गया है। पंचम अध्याय में मन्त्रार्थ के साथ शतपथ अथवा शतपथ के बाद मन्त्रार्थ को देकर आध्यात्मिक अर्थ के बाद ही दयानन्दीय मत की समीक्षा की गई है। शतपथ को प्रारम्भ में प्रायः वहीं उद्धृत किया गया है, जहाँ कि कात्यायनीय विनियोग नहीं मिलता। छठे अध्याय का भी प्रायः यही क्रम है। दयानन्दीय मत का उल्लेख प्रायः यहाँ अन्त में ही किया गया है। कहीं कहीं शतपथ श्रुति की व्याख्या अन्त में दी गई है (पृ० १०, १९)।

इस प्रसंग में हमें यह ध्यान रखना है कि ४-६ अध्यायों वाले इस भाग में ४-५ अध्यायों की पृष्ठसंख्या (१-२१५) और छठे अध्याय की पृष्ठसंख्या (१-८२) अलग-अलग है। इसी प्रकार चौथे अध्याय के १६ वें मन्त्र के भाष्य का क्रम विपर्यस्त हो गया है। यहाँ ४५ वें पृष्ठ का दूसरा अनुच्छेद पहले अनुच्छेद के रूप में पढा जाना चाहिये।

सोमक्रय की प्रक्रिया पर यहाँ (पृ० ४८-४९, ७८-८०) विशेष प्रकाश डाला गया है। अनेक मन्त्रों की व्याख्या के प्रसंग में (पृ० १६-१७, ६४, ७२, ९३, १५२, १७१) सायण और उव्वट-महीधर के भाष्य को उद्धृत किया गया है और 'अवैयाकरणेन महीधरेण' कह कर उस पर किये गये आक्षेपों का परिहार किया गया है (पृ० ६५)। यहीं (पृ० ६७) माध्यन्दिन संहिता (४।२४) के 'छन्दोनामानाम्' पाठ के स्थान पर काण्वसंहिता में दिये गये 'छन्दोमानानाम्' पाठ की भी व्याख्या की गई है। यहाँ अनेक स्थलों पर (पृ० ११, ३९, ४२, ६७, ८८, ९०) दिखाया गया है कि शतपथ ब्राह्मण में भी हमारे सिद्धान्त-संमत अर्थ को ही समर्थन दिया गया है, दयानन्दीय अर्थ को नहीं।

स्वामी दयानन्द के मत की यहाँ विशेष समीक्षा की गई है। पृ० ५८ के (पूर्वोक्तानां चतुर्णां) प्रारम्भ से ६० वें पृष्ठ के (शतपथादिविरुद्धश्चायमर्थः) अन्त तक की यह पूरी सामग्री २२ वें मन्त्र की व्याख्या के अन्त में पृ० ६३ पर होनी चाहिये थी, क्योंकि तभी 'चतुर्णां मन्त्राणां' (४।१९-२२) पदों की सार्थकता होगी। यहाँ एक साथ चार मन्त्रों के दयानन्दीय अर्थ की आलोचना की गई है। पृ० १०५ पर कहा गया है कि पद और पदार्थ का जिसको बोध

नहीं है, वही इस तरह का अर्थ कर सकता है। अर्थ करते समय स्थान-स्थान पर लड़खड़ाते हुए भी ये महानुभाव उव्वट, सायण, महीधर जैसे प्राचीन आचार्यों की गलत समीक्षा करने में लज्जा का अनुभव नहीं करते। पृ० १२१-१२२ पर भी इसी तरह महीधर पर किये गये इनके गलत आक्षेप का समाधान किया गया है। वहाँ स्पष्ट किया गया है कि वैदिक छन्दों के निर्णय में प्रातिशाख्य अथवा पिंगल के छन्दःशास्त्र को कोई भी सहृदय विद्वान् अप्रमाण नहीं मान सकता। पृ० १२५ पर महीधर को पुनः अवैयाकरण कह कर किये गये आक्षेप का समाधान दिया गया है।

पृ० १२७ पर बताया गया है कि स्वामी दयानन्द श्रौत प्रक्रिया से पूरी तरह से अनभिज्ञ हैं। पृ० १२७-१२८ पर स्वामी दयानन्द और पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के अलंकार संबन्धी आक्षेपों का समाधान करते हुए कहा गया है कि अलंकार शब्द का नाम सुनकर पामर जन ही आकृष्ट हो सकते हैं, विद्वज्जन नहीं। स्वामी दयानन्द और पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का यह सारा आडम्बर केवल सामान्य लोगों को बहकाने के लिये है।

पृ० १३१ पर स्वामी दयानन्द ने पदकार के प्रमाण से महीधर के मत का खण्डन किया है। इस आक्षेप का यहाँ समाधान किया गया है और बताया गया है कि शतपथ ब्राह्मण के विपरीत होने से दयानन्दीय अर्थ ही अशुद्ध है। पृ० १४३ पर दिखाया गया है कि स्वामी दयानन्द की व्याख्या चार्वाक मत के बहुत पास है और स्वर्ग आदि लोकों के प्रसग में दिव्य भोगों की प्राप्ति के विज्ञान की बात करना व्यर्थ का घटाटोप मात्र है। 'न विधौ परः शब्दार्थः' शाबर-भाष्य के इस वचन का भी यहाँ पदे-पदे विरोध दिखाई पड़ता है।

पृ० १४९ पर इनके मत की समीक्षा करते हुये 'पठकाः पाठकाश्चैव' यह नीति श्लोक उद्धृत किया गया है और बताया गया है कि दयानन्दीय व्याख्यान में इस नीति वाक्य का ही नहीं, शतपथ वचन का भी विरोध स्पष्ट है। श्लोक का अभिप्राय यह है कि पढ़ने वाले, पढ़ाने वाले और शास्त्र-चिन्ता में लगे हुए सभी व्यक्ति मूर्ख हैं, केवल क्रियावान्, अर्थात् अभ्यास में लगा हुआ व्यक्ति ही पण्डित है, वह किसी भी बात के रहस्य को जान सकता है। इसका आशय यह है कि स्वामी दयानन्द की व्याख्या ऐसे स्थलों पर केवल वाग्जाल को फैलाने वाली है। वे उसके वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं।

पृ० १५५ पर महीधर के लिये 'प्रबुक्कति' क्रिया का प्रयोग किया गया है। इसके उत्तर में उनके इस आक्षेप को घट आदि कार्य के पूर्ववर्ती पंचम अन्यथासिद्ध का रेंगना मात्र कहा गया है। पृ० १६५ पर दयानन्दीय अर्थ के विषय में कहा गया है कि यहाँ का अर्थ हमारे सिद्धान्त के बहुत विपरीत नहीं है, किन्तु इसका वास्तविक अभिप्राय त्रिविक्रमा-वतार के निरूपण में ही है। पृ० १७२-१७३ में स्वामी दयानन्द २३वें मन्त्र की व्याख्या करते हुए यहाँ भू-गर्भ विद्या का उल्लेख मानते हैं, किन्तु मन्त्रगत एक वाक्य से ही जब उनका अभीष्ट सिद्ध हो सकता है, तब यहाँ चार वाक्य क्यों दिये गये, इस प्रश्न का उनके पास कोई समाधान नहीं है। सिद्धान्त पक्ष में तो यहाँ चार उपरव (गर्त) बनाये जाते हैं, अतः प्रत्येक गर्त के लिये एक-एक मन्त्र को सार्थकता सिद्ध होती है।

चौथे अध्याय में सोम संबन्धी सारी प्रक्रिया को बताने के बाद पाँचवें अध्याय में ज्योतिष्टोम का प्रकरण प्रारंभ होता है। इस अध्याय के भाष्य में पहले मन्त्रार्थ, तब शतपथ वचनों की व्याख्या एवं आध्यात्मिक अर्थ और अन्त में दयानन्दीय अर्थ दिया गया है। कहीं-कहीं शतपथ वचन को उद्धृत करने के बाद मन्त्रार्थ निर्दिष्ट है।

यहाँ प्रारंभ में महीधर भाष्य के आधार पर बताया गया है कि सोम राजा के पाँच अनुचर माने जाते हैं— १. अग्नि, २. सोम, ३. अतिथि, ४. श्येन और ५. रायस्पोषद अग्नि। इनमें से प्रथम चार क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और गायत्री छन्दों के अधिष्ठातृ देवता हैं। अन्तिम रायस्पोषद अग्नि सभी छन्दों के अधिष्ठाता माने जाते हैं। इस प्रकार प्रथम और अन्तिम अग्नि का भेद स्पष्ट है। इसी पृष्ठभूमि में यहाँ प्रस्तुत मन्त्र की और पूरे प्रकरण की व्याख्या की गई है।

दूसरे मन्त्र की व्याख्या के प्रसंग में (पृ० ११५) अग्नि-मन्थन संबन्धी छः कर्मों का निरूपण इस प्रकार किया गया है—१. शकल का वेदि पर निधान, २. उसके ऊपर दो कुशों का निधान, ३. उनके ऊपर अधरारणि का निधान, ४. उत्तरारणि में घृत का लेपन, ५. उसको अधरारणि के ऊपर रखना और तब ६. अग्नि-मन्थन। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इसकी पूरी प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र में भी प्रदर्शित है।

पृ० १४९ पर पीतदारु और गुग्गुलु शब्दों के, पृ० १६६ पर लस्पूजनी शब्द के, पृ० १६८ पर उपरव शब्द के, पृ० १९१ पर तुथ शब्द के और पृ० २१२ पर वनस्पति पद के अर्थ पर विशेष विचार किया गया है। पृ० १६४ पर शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से विष्णु पद का अर्थ हविर्धान नाम का शकट किया गया है।

यहाँ १४ वें मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य के काण्वसंहिता-भाष्य को उद्धृत कर बताया गया है कि प्राचीनवंश नाम की शाला में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नामक तीन अग्नियों के साथ ऐष्टिक वेदि स्थित रहती है। इस शाला के आगे ३६ पद की सौमिक वेदि का निर्माण किया जाता है। उस वेदि के अग्र भाग में उत्तर वेदि स्थित है। इसके मध्य भाग में हविर्धान नामक मण्डप का निर्माण किया जाता है। इसके बाद सद नाम वाली शाला निर्मित होती है। यहीं प्राचीन शाला के आगे दक्षिण और उत्तर भाग में हविर्धान नाम के दो शकट रखे जाते हैं। इन दोनों शकटों को पूर्वाभिमुख कर इनके छाजन के रूप में हविर्धान नाम का मण्डप बनाया जाता है। सावित्र होम के अनन्तर इन दोनों शकटों को गति दी जाती है। इसी पृष्ठभूमि में यहाँ काण्वशाखीय सायण भाष्य की पद्धति से और उव्वट की रीति से मन्त्र की अलग-अलग व्याख्या की गई है।

आगे (पृ० १५९) बताया गया है कि कुछ आचार्यों के मत के अनुसार उत्तरवेदि के पीछे संचरण करते समय तीन डगों को छोड़कर जिस देश में शकटों को लाया जाता है, वही हविर्धानों की मात्रा, अर्थात् रखने की जगह मानी जाती है। सिद्धान्त पक्ष में यह नियम स्वीकार नहीं है, किन्तु अपनी इच्छा के अनुसार इन्हें कहीं भी रखा जा सकता है। यह बात अवश्य है कि उन्हें बहुत दूर नहीं ले जाना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण (३।५।३।१९) में और कात्यायन श्रौतसूत्र (८।४।५) में इसी मत को स्वीकार किया गया है।

कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रदर्शित सारे विनियोग शतपथ ब्राह्मण का ही अनुसरण करते हैं, यह बात अनेक स्थलों पर स्पष्ट कर दी गयी है। यहाँ पृ० १८१ पर इसी विषय का स्मरण कराया गया है।

षष्ठ अध्याय

षष्ठ अध्याय की पृष्ठसंख्या अलग है, यह ऊपर बताया जा चुका है। यहाँ आरम्भ में ही बताया गया है कि सौमिक वेदिप्रधान पंचम अध्याय में आतिथ्येष्टि से लेकर यूपनिर्माण तक के मन्त्र प्रदर्शित हैं। अग्नीषोमीय पशुप्रधान षष्ठ अध्याय में यूप के संस्कार से लेकर सोमाभिषव के लिये उद्योग करने तक के मन्त्र दिये जाते हैं। इस प्रकरण के मन्त्रों की व्याख्या पहले जैसी औदुम्बर पात्र के संस्कार के प्रसंग में की गई है, वैसी ही यहाँ यूपसंस्कार के प्रकरण की भी की जाती है।

इस अध्याय में पहले कात्यायनीय विनियोग को देकर मन्त्रों की व्याख्या की गई है और दयानन्दीय मत की समीक्षा प्रायः अन्त में दी गई है। कुछ स्थलों पर कात्यायनीय विनियोग स्पष्ट उपलब्ध नहीं है। ऐसे स्थलों पर पहले शतपथ श्रुति को उद्धृत किया गया है (पृ० ३८, ६६, ६८, ७९, ८१)। शातपथी श्रुति कहीं-कहीं (पृ० १०, १९) दयानन्द के मत के बाद भी उद्धृत है।

कुछ स्थलों पर दयानन्दीय मत की विशेष समीक्षा की गई है। जैसे कि पृ० २ पर बताया गया है कि ऐसी व्याख्या किसी भी प्राचीन आचार्य ने नहीं की है। सायण आदि के व्याख्यान स्वयं अपने में स्वतन्त्र न होकर श्रुति-सूत्र मूलक हैं। इसी लिये वे उपादेय और विश्वसनीय हैं। पृ० ७ पर दयानन्दीय व्याख्या को मनोराज्यमात्र, अर्थात् मन-गढन्त माना है, क्योंकि यह पूरी तरह से केवल स्वामी दयानन्द की स्वच्छन्द कल्पनाशक्ति पर आधृत है, उसको कहीं से भी किसी शास्त्र का समर्थन नहीं मिलता। पृ० ११ पर सायण प्रोक्त पदव्युत्पत्ति का ये खण्डन करते हैं। भाष्यकार ने यहाँ संक्षेप में इसका समाधान दिया है। ७ वें मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने त्वष्टा शब्द का 'दुःख का नाश करने वाला सभापति' अर्थ किया है। यहाँ (पृ० १७-१८) शतपथ का विस्तृत उद्धरण देकर इस मत का निराकरण किया गया है। भारतीय वाङ्मय में त्वष्टा एक देवताविशेष के रूप में प्रसिद्ध हैं। पृ० ४१ पर कहा गया है कि सायण आदि के व्याख्यान श्रुतियों और सूत्र ग्रन्थों से प्रमाणित हैं। ऐसा किसी शास्त्र का समर्थन दयानन्दीय व्याख्यान को नहीं मिलता। पृ० ६० पर भी दयानन्दीय व्याख्यान के लिये पुनः कहा गया है कि इस तरह के व्याख्यान को यास्क, जैमिनि, व्यास, कात्यायन आदि आचार्यों का समर्थन नहीं मिला है।

पृ० २ पर यूप के प्रथम शकल, स्वरु और चषाल नामक तीन नेताओं का उल्लेख कर इसका अलग-अलग विनियोग दिखाया गया है। पृ० १२ पर सूचित किया गया है कि देवता मनुष्यों के मित्र हैं, इस बात को भूमिका भाग में ही सिद्ध कर दिया गया है। पृ० १४ पर अग्नीषोमीय यूप के प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से यूपैकादशिनी पक्ष का निरूपण किया गया है। पृ० २२ पर जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य की रचना दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के प्रथम श्लोक का स्मरण किया गया है। पृ० २४ पर एकादश प्राणों का और पाँच स्मार्त भूसंस्कारों का उल्लेख है। पृ० ४६ पर काण्वसंहिता के भाष्य में सायण द्वारा प्रदर्शित विधि से गुदकाण्ड की एकादश आहुतियों का और उनके मन्त्रों का निरूपण कर कहा गया है कि ये आहुतियाँ प्रतिप्रस्थाता द्वारा दी जाती हैं। पृ० ५१-५५, ६४-६५ और ६८ पर वसतीवरी, पृ० ६४, ६८ पर एकधन, पृ० ६४ पर पान्नेजन और पृ० ६५, ६९, ७६ पर निग्राभ्या नामक जलों का उल्लेख कर इनकी व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं और इनका स्वरूप एवं प्रयोजन भी निर्दिष्ट है। पृ० ६१ पर आख्यायिका के रूप में गन्धर्वों की विशेष प्रकृति का प्रदर्शन किया गया है।

यहाँ पहले उल्लेख किया जा चुका है कि कुछ मन्त्र निदानवान् होते हैं, अर्थात् उनमें निदान का, किसी आख्यायिका का प्रतीक रूप में उल्लेख मिलता है। ऐसे निदानवान् मन्त्रों की व्याख्या, बिना उस प्रासंगिक आख्यायिका को उद्धृत किये, संभव नहीं हो पाती। इन निदान कथाओं का उल्लेख हमें शतपथ ब्राह्मण आदि में मिलता है। ऐसा ही एक प्रसंग यहाँ ३३ वें मन्त्र में आया है और भाष्यकार ने शतपथ में वर्णित आख्यायिका का स्वरूप बताने के उपरान्त ही इस मन्त्र की व्याख्या की है।

भाष्यकार ने अनेक स्थलों पर (पृ० ३, १२, १६, २०, ४०, ४१, ५६) सायण के और उव्वट-महीधर (पृ० ३१, ३५) के भाष्यों को उद्धृत कर अपने व्याख्यान को पुष्ट किया है, उनके व्याख्यान के अनुसार अर्थान्तर को दिखाया है अथवा उनकी सहायता से दयानन्दीय अर्थ का खण्डन किया है। पृ० ३१ पर शतपथीय सायणभाष्य, काण्वसंहिता सायणभाष्य और उव्वट-महीधर के भाष्यों की समीक्षा कर बताया गया है कि शतपथ व्याख्यान में शोधक के प्रमाद से त्रुटि आ गई है। कुछ इसी तरह का प्रसंग पृ० ४० पर भी मिलता है। यहाँ सूत्रभाष्यकार आदि के द्वारा की गई विभिन्न व्याख्याओं का उल्लेख किया गया है।

आध्यात्मिक अर्थ का निरूपण करते समय ८ वें मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है कि जैसे शेषनाग भगवान् के लिये स्वयं अपने को शय्या, सिंहासन, छत्र, पादुका आदि के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं, उसी तरह से भक्तगण भी

अपने को सर्वतोभावेन भगवान् के प्रति समर्पित करते हैं। नवें और दसवें मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ एक साथ दिया गया है। अन्य कई जगहों पर भी ऐसा हुआ है कि दो या दो से अधिक मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ एक साथ दे दिया गया हो। दयानन्दीय मत को उपस्थापित करते हुए भी कहीं कहीं इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है। जैसा कि यहीं दयानन्दीय अर्थ भी दो मन्त्रों का एक साथ दिया गया है। इसी तरह से २० वें मन्त्र में भी आध्यात्मिक और दयानन्दीय अर्थ दो मन्त्रों का एक साथ दिया गया है। चतुर्थ अध्याय में तो चार मन्त्रों का (४।१९-२२) दयानन्दीय अर्थ एक साथ दिया हुआ है। २० वें मन्त्र में पुराणों और उपनिषदों का उल्लेख कर साधक के देवयान मार्ग से दिव्य लोकों में जाने की बात कही गई है। २६ वें मन्त्र में विज्ञानाधिष्ठात्री दस महाविद्याओं की और द्वादश ज्योतिर्लिंगों की भक्तों के द्वारा की जाने वाली आराधना का वर्णन है। ऊपर यह बताया ही जा चुका है कि आध्यात्मिक अर्थ और दयानन्दीय अर्थ को भाष्यसार की सहायता से जाना जा सकता है। अतः यहाँ कुछ विशेष विषयों की ही चर्चा की गई है।

छठे अध्याय में अनेक पारिभाषिक अथवा वैदिक शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। यहाँ हम उनका पृष्ठानुक्रम से संकलन कर रहे हैं और इनका भाष्य प्रदर्शित अर्थ टिप्पणी में संगृहीत किया जा रहा है। वे शब्द ये हैं—[१२]मधु, रज्जु, व्याम, स्वरु, उपशय, पान्नेजन, चरित्र, वपा, स्तोक, ऊष्म, उपवसथ, पुरोरुच, उपांशुसवन और पवि। अन्य शब्दों के अर्थों की भी यथास्थान चर्चा आ चुकी है।

सप्तम से दशम अध्याय

सात से दस अध्याय तक के इस चौथे भाग में प्रायः सर्वत्र सर्वप्रथम मन्त्रार्थ, मन्त्रार्थ के समर्थन में शतपथ ब्राह्मण का उद्धरण और व्याख्यान, तब आध्यात्मिक अर्थ और अन्त में स्वामी दयानन्द के अर्थ की समीक्षा की गई है। इस पूरे भाष्य का प्रधान क्रम भी यही है। जहाँ कहीं इस क्रम में व्यत्यास हुआ है, उसका यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है। सातवें अध्याय के ३४ वें मन्त्र तक प्रातःसवन के, ३५ वें मन्त्र से अध्याय की समाप्ति तक माध्यन्दिनसवन के और आठवें अध्याय में सायंसवन के मन्त्र हैं। चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में ही यह बताया जा चुका है कि अष्टम अध्याय की ३२ वीं कण्डिका तक अग्निष्टोम याग का विधान है। इसी प्रसंग में छठे अध्याय में यूप-

१२. "सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्चेति सर्वस्य मधुरूपत्वमुच्यते। 'इयं वै पृथिवी सर्वेषां मधु' (श० १४।५।५।१) इति मधुब्राह्मणेन सर्वं सर्वस्योपकारकत्वेन मोदकत्वान्मधूयते' (पृ० ४), 'त्रिगुणिता व्यामत्रयप्रमाणा कौशी रशना रज्जुः' (पृ० ११), 'प्रसारितभुजयोरन्तरालं व्यामः' (पृ० ११), 'यूपनिर्माणोपक्रमे कुठाराघातेन प्रथमच्छिन्नकाष्ठशकलं स्वरुपदवाच्यं भवति' (पृ० १२), 'त्रितष्टो यूप उपशय इत्युच्यते' (पृ० १२), 'पादौ निज्येते अनेनेति पान्नेजनो मुखाद्यवयवशोधनार्थो जलकलशः' (पृ० २७), 'चरित्रान् चरण-(गमन)साधन-भूतान् पादान्' (पृ० ३०), 'उदरदेशेऽवस्थितो वपाख्यो मांसविशेषः' (पृ० ३४), 'वपाया उपरि आज्याभि-घारणकाले पतिता बिन्दवः स्तोकाः' (पृ० ३५), 'ऊष्मशब्दोऽप्यन्तरिक्षपरः' (पृ० ४०), 'उपवसन्त्यासु वसतीवरीषु देवा अस्मिन् काले इत्युपवसथः, उपवासकाल इत्यर्थः' (पृ० ५२), 'पुरो याज्यानुवाक्याभ्यां पुरस्ताद् रुचिमिच्छां जनयन्ति देवताया इति पुरोरुचः' (पृ० ६५), 'यो ग्रावाऽध्वर्युणा गृहीतः स उपांशुसवनसंज्ञको भवति' (पृ० ६८), 'उपांशुग्रहार्थं सोमोऽभिषूयते येन स उपांशुसवनः पाषाणो निदानेन विवस्वत्संज्ञक आदित्य एव' (पृ० ७२), 'पविशब्दस्य वज्रेऽर्थे प्रसिद्धत्वात्''' अथवा पविवद् बलवत्त्वात् पविः सोमः' (पृ० ६९), 'स सोमस्तायमानः संजायते यत्परम्परया आहुतिभावं गच्छन् जायते पुनः पुनः संभवति, अतो यन् जायत इति यञ्जः। अतो वस्तुतो यञ्ज इति तस्य नाम, तद् यज्ञ इति परोक्षेण व्यवहरन्ति' (पृ० ८१)।

संस्कार से लेकर सोमाभिषव पर्यन्त कार्यकलाप के सम्पादक मन्त्रों का विधान किया गया है। अब सातवें अध्याय में ग्रहों के ग्रहण में विनियुक्त मन्त्रों का वर्णन है।

सोम याग में दो प्रकार के ग्रह होते हैं—धाराग्रह और अधाराग्रह। इनका लक्षण भाष्य (पृ० १) में दिया गया है। ग्रह का अर्थ यहाँ दारुमय पात्र है, जिसमें [13]सोमरस का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर यहाँ (पृ० ३) बताया गया है कि प्रातःसवन में ही माध्यन्दिनसवन और सायंसवन का भी समावेश हो सकता है, अर्थात् जैसा त्रिकाल सन्ध्या का अनुष्ठान वैकल्पिक रूप से प्रातःसन्ध्या के साथ किया जा सकता है, उसी तरह से इन तीनों सवनों का अनुष्ठान भी प्रातःसवन के साथ ही सम्पन्न हो सकता है। यह गौण पक्ष है। मुख्य पक्ष में तो काल को ही प्रधानता दी जाती है। यह सवनत्रयात्मक कर्म ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के, अर्थात् तीनों वेदों के मन्त्रों से सम्पन्न होता है।

सोम याग सोमलता के रस से सम्पन्न होता है और सोमलता के उपलब्ध न होने से उसके स्थान पर आजकल पूतीका लता का ग्रहण किया जाता है। यह बात चतुर्थ अध्याय में ही बताई जा चुकी है। सुश्रुत आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों के आधार पर यहाँ बताया गया है कि शुक्ल प्रतिपत् से लेकर पूर्णिमा पर्यन्त चन्द्रकला की वृद्धि के साथ इस लता के भी पत्रों की वृद्धि होती है और कृष्ण प्रतिपद् से लेकर अमावस्या पर्यन्त सोमकला के ह्रास के साथ इसके पत्ते भी एक-एक कर झड़ जाते हैं।

यहाँ स्थान-स्थान पर मन्त्रार्थ के प्रसंग में उव्वट, महीधर, सायण, भट्ट भास्कर आदि आचार्यों का, यास्क के निरुक्त का तथा अनुष्ठान की पद्धति के प्रसंग में कर्क, देवयाज्ञिक, अनन्त आदि कात्यायन श्रौतसूत्र के व्याख्याकारों का, तथा वृत्तिकार का भी मत दिया गया है। तैत्तिरीय संहिता और आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का भी यथास्थान उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या करते समय प्राचीन भाष्यकार हरिस्वामी का और सायण के द्वारा निर्दिशित अन्य मतों का भी उल्लेख करने से भाष्यकार कहीं चूके नहीं हैं। ऋजीष शब्द का यहाँ अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। सोमलता से रस निकाल लेने के बाद जो सिट्ठी बची रहती है, उसे ही 'ऋजीष' कहते हैं (पृ० १६८)। महार्थ-मंजरी की परिमल व्याख्या (पृ० १२३) में एक श्लोक मिलता है—

पुण्ड्रेक्षोरिव मन्त्रस्य माधुर्ये हृदयस्पृशि।
ऋजीषमानने तिष्ठत्यक्षरोच्चारलक्षणम्॥

यहाँ गन्ने के रस को चूस लेने के बाद मुँह में बची उसकी सिट्ठी के लिये यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। हम कह सकते हैं कि किसी भी रसदार वस्तु के रस को निकाल लेने के बाद बची हुई सिट्ठी के लिये इस शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। ऋजीष शब्द का अर्थ भस्म करना हमारी समझ में उचित नहीं है। यह लिपिकार का प्रमाद लगता है (पृ० १६५)।

छठे मन्त्र के भाष्य में उद्धृत शतपथ वचन में चरकशाखीय मत की निन्दा की गई है। इस प्रसंग में भाष्यकार ने बताया है कि मीमांसा के एक न्याय के अनुसार ऐसे वाक्यों का किसी पक्ष की निन्दा करने में तात्पर्य न होकर अपने पक्ष की प्रशंसा में उनका विनियोग किया जाता है। यहाँ के कुछ मन्त्रों का अर्थ शतपथ ब्राह्मण के विस्तृत उद्धरणों के आधार पर किया गया है। इस बात को भी यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि इस प्रकरण में ग्रह शब्द से सर्वत्र सोमरस से भरे हुए पात्र गृहीत होते हैं। यहीं प्रसंगवश वाणी की परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक चार अवस्थाओं की भी चर्चा है।

---

१३. "गृह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या ग्रहो दारुमयं पात्रमंशुनामकम्" (पृ० २)।

नवें मन्त्र के भाष्य में तैत्तिरीय संहिता को उद्धृत करते हुए आध्यात्मिक और आधिभौतिक के भेद से मैत्रावरुण देवता की द्विविध सत्ता की व्याख्या की गई है। १० वें मन्त्र में [१४]श्रपण शब्द का अर्थ बताया गया है। ११ वें मन्त्र में शतपथ के प्रमाण से आश्विन पात्र को यज्ञ का श्रोत्र कहा गया है। अगले मन्त्र में महीधर के पक्ष को उद्धृत कर कहा गया है कि यहाँ उन्होंने उव्वट और सायण के अर्थ को भी प्रस्तुत किया है।

इस अध्याय के १४ वें मन्त्र में संस्कृति शब्द प्रयुक्त है। आजकल यह फैशन चल पड़ा है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में संस्कृति शब्द कहीं प्रयुक्त ही नहीं हुआ है। ऐसे महानुभावों को प्रस्तुत मन्त्र का अध्ययन करना चाहिये। १५ वें मन्त्र में शतपथीय सायण भाष्य और उव्वट भाष्य के अनुसार [१५]होत्रा शब्द का अर्थ बताया गया है। १८ वें मन्त्र में शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता और सूर्यसिद्धान्त के प्रमाण से ग्रहों की गति पर संक्षिप्त विचार किया गया है। १९-२० मन्त्रों की व्याख्या एक साथ की गई है। यहाँ सोमरस की दो धाराएँ दी जाती हैं। इसकी पद्धति यहाँ कात्यायन श्रौतसूत्र के कर्क भाष्य की पद्धति से बताई गई है। इन्हीं मन्त्रों के भाष्य में 'अन्ये' पद से किसी आचार्य के मत का उल्लेख कर उसकी समीक्षा की गई है और प्रमाणस्वरूप सायणाचार्य का मत भी प्रस्तुत किया गया है। २१ वें मन्त्र में भी शतपथ के आधार पर अन्य शाखाकारों के मत का उल्लेख है। यहीं [१६]ब्रह्मवर्चस् पद का अर्थ भी दिया गया है।

२२ वें मन्त्र में शतपथ ब्राह्मण, ताण्ड्य महाब्राह्मण और जैमिनि सूत्र के प्रमाण से ऋक्, प्रगीत आदि पदों का विश्लेषण किया गया है। २३ वें मन्त्र में शतपथ के प्रमाण से चरकाध्वर्यु शाखा का मत उद्धृत है। पृ० ७० पर विश्वानर पद की व्युत्पत्ति वैयाकरणों के लिये अवलोकनार्ह है। ३५ वें मन्त्र के भाष्य में बताया गया है कि शतपथ में बड़े समारोह के साथ इस मन्त्र का विस्तृत व्याख्यान किया गया है। कात्यायन के अनुसार ३७ से ४० संख्या तक के चार मन्त्रों की संज्ञा वाचस्तोम है। ४१ वें मन्त्र में [१७]दक्षिणाहोम पद का अर्थ दिया गया है और ४९ वें मन्त्र में शतपथ की व्याख्या के प्रसंग में हिरण्य को आयु तथा जल को [१८]वज्र बताया गया है।

शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से इस अध्याय में पाँच आख्यायिकाओं का उल्लेख है। पहली आख्यायिका (पृ० ३-४) में उपांशुग्रह की सवनत्रयात्मकता के प्रसंग में असुरों और राक्षसों की कथा बताई गई है कि उन्होंने तीनों सवनों के स्थान पर केवल प्रातःसवन को ही क्यों मान्यता दी। दूसरी आख्यायिका मित्र देवता से संबद्ध है (पृ० २९)। वृत्रासुर के वध के प्रसंग में मित्र देवता सबका मित्र होते हुए भी यज्ञ में अपना भाग पाने के लिये इस अमित्र कार्य में देवताओं का साथ देते हैं। तीसरी आख्यायिका (पृ० ३१-३२) अश्विनीकुमारों से संबद्ध है। कुरुक्षेत्र में यज्ञ करते समय देवगण मनुष्य लोक से संबद्ध होने और वैद्य होने के कारण भी अश्विनीकुमारों को हवि का अधिकारी नहीं मानते। अश्विनी-कुमारों ने देवताओं के यज्ञ को शिरोविहीन कर दिया और बाद में देवताओं के आग्रह पर यज्ञ के शिर का पुनः सन्धान किया। यहाँ बताया गया है कि प्रवर्ग्य ब्राह्मण में इस कथा को विस्तार से बताया गया है। इस कथा की चर्चा नवाध्यायी(३१-३९)भाष्यनिष्कर्ष (पृ० १३-१४) में विस्तार से की जा चुकी है। इसी प्रसंग में यहाँ

---

१४. "श्रपणं च द्रव्यान्तरसंसर्गः" (पृ० २८)।

१५. "उव्वटादिरीत्या होत्राशब्देन होत्रिकयाज्याच्छन्दोऽभिमानिन्यो देवता विवक्षिताः। शतपथीयसायणभाष्यरीत्या तु मैत्रावरुणो ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा आग्नीध्रश्च होत्रापदव्यपदेश्याः" (पृ० ४५)।

१६. "वृत्तस्याध्ययनस्य समृद्धिर्ब्रह्मवर्चसं भवति" (पृ० ६०)।

१७. 'दक्षिणाप्रयोजको होमो दक्षिणाहोम" (पृ० १०५)।

१८. "आयुर्हि हिरण्यमिति प्रसिद्धम्।....वज्रो वा आपः" (पृ० ११५)।

(पृ० ३२) यह भी बताया गया है कि अथर्ववेदीय दध्यङ् ऋषि ने इनको मधुविद्या का उपदेश किया था। पृ० ३४-३५ पर शण्डामर्क की आख्यायिका दी गई है। ये दोनों असुरगुरु शुक्राचार्य के शिष्य और पुत्र थे। ये असुरों और राक्षसों की सहायता किया करते थे। देवताओं ने इनको कैसे फंसाया, यही यहाँ वर्णित है। प्रसंगवश यहाँ (पृ० ३६) मन्त्र-शास्त्र की चर्चा आई है। शण्ड नामक असुरपुरोहित के प्रति प्रयुक्त आभिचारिक यजुर्मन्त्र का उल्लेख पृ० ३४ पर भी मिलता है। आगे पृ० ९४ पर सुकन्या के पिता शर्याति की आख्यायिका दी गई है।

दयानन्दीय अर्थ की प्रायः सभी बातें भाष्यसार में आ गई हैं। शतपथ ब्राह्मण का संकेत करते हुए भी ये उसके विपरीत ही अर्थ करते हैं (पृ० ११), यह बात भी अनेकों स्थलों पर कही जा चुकी है। श्रुति-स्मृति-पद्धति का विरोध भी इनके लिये कोई विशेष बात नहीं है। यहाँ कुछ विशेष बातें इस प्रकार हैं कि १६ वें मन्त्र की व्याख्या में ये निरुक्त के दो उद्धरणों को अपने अर्थ के समर्थन में प्रस्तुत करते हैं, किन्तु भाष्यकार ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि ये वचन उनके अर्थ का समर्थन किसी प्रकार भी नहीं करते। २५ वें मन्त्र में यम और नियम को अभिन्न मान लिया गया है। योगशास्त्र और संक्षेपशारीरक को उद्धृत करते हुए यहाँ उनके अर्थ की असत्यता सिद्ध कर दी गई है। ४३ वें मन्त्र में 'सुपथा' पद का अर्थ 'योग मार्ग' किया गया है, जो कि उचित नहीं है। शास्त्रों में दक्षिणायन और उत्तरायण, इन दो मार्गों का ही उल्लेख मिलता है। योगशास्त्र का अनुयायी भी इन्हीं मार्गों का अनुसरण करता है। अतः योगशास्त्र का योगमार्ग के रूप में अलग से उल्लेख शास्त्रसंमत नहीं माना जा सकता। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द मनुस्मृति का सहारा लेते हैं। इस पर भाष्यकार का कहना है कि यह बाढ में बहते हुए आदमी के लिये कुशा अथवा काश का सहारा लेने के समान है, अर्थात् यह वचन भी उनके मत को सिद्ध नहीं कर सकता। उव्वट, सायण, महीधर आदि के व्याख्यान तो श्रुति, सूत्र, पद्धति और परम्परा के भी अनुकूल हैं।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि २-३ अध्यायों के भाष्यसार में तो उद्धृत सुभाषित वचनों का भी भाषानुवाद कर दिया गया था, किन्तु आगे ऐसा नहीं किया गया। प्रस्तुत भाग की भी यही स्थिति है।

अष्टम अध्याय

सातवें अध्याय में उपांशु ग्रह आदि से संबद्ध प्रातःसवन और माध्यन्दिनसवन के दक्षिणादान पर्यन्त मन्त्र उपदिष्ट हुए हैं। अब आठवें अध्याय में आदित्य आदि देवताओं के ग्रहों का निरूपण किया जा रहा है। ये ग्रह तृतीय सवन से संबद्ध हैं।

द्वितीय मन्त्र के भाष्य में बृहती छन्द का लक्षण दिया गया है। यहाँ शतपथ ब्राह्मण और काण्व संहिता के सायण कृत भाष्यों की व्याख्यान-पद्धति प्रदर्शित है और शतपथ के प्रमाण से बताया गया है कि प्रातःसवन के वसुगण, माध्यन्दिनसवन के रुद्रगण और सायंसवन के देवता आदित्यगण हैं। यहीं प्रातःसवन और माध्यन्दिनसवन को अमिश्र तथा सायंसवन को मिश्र बता कर उसका कारण दिया गया है। तृतीय मन्त्र की व्याख्या में भगवान् सूर्य के लिये कहा गया है कि ये उदय, ताप, पाक और प्रकाश के द्वारा प्राणियों पर सदा अनुग्रह करते रहते हैं। काण्व संहिता के सायण भाष्य में तुरीय पद का तृतीय अर्थ किया गया है। तदनुसार भी मन्त्र की व्याख्या की गई है। चतुर्थ मन्त्र की शतपथीय सायण भाष्य के अनुसार व्याख्या की गई है और बताया गया है कि शतपथ ब्राह्मण में 'केचित्' पद से तैत्तिरीय शाखा का ग्रहण किया गया है। यह बता कर प्रसंगवश यहाँ मीमांसा शास्त्र के 'नहि निन्दा' न्याय को स्मरण किया गया है। पाँचवें मन्त्र में [१९]दशापवित्र शब्द का अर्थ दिया गया है।

---

१९. "दशाभिः स्वाञ्चलैः, पवित्रेण पावनार्थेन वस्त्रेण" (पृ० १३१)। अर्थात् सोमरस को छानने का वस्त्र।

छठे मन्त्र में बताया गया है कि मनस् शब्द से इस मन्त्र में अध्यवसायात्मिका बुद्धि गृहीत है। नवें मन्त्र के भाष्य में शतपथ ब्राह्मण (४।४।२।८-९) का व्याख्यान करते समय प्रसंगवश बताया गया है कि [२०]पित्र्य धन में स्त्रियों का तथा षड्विध स्त्रीधन में दायादों का अधिकार नहीं है। ११ वें मन्त्र में वृत्तिकार के मत से [२१]हारियोजन पद का अर्थ दिया गया है। १२ वें मन्त्र में अवघ्राण (सूंघना) को ही भक्षण बताया गया है। अगले मन्त्र में शाकल शब्द का अर्थ आजकल प्रचलित अर्थ शाकला दिया गया है। १७ वें मन्त्र में नौ निधियों का उल्लेख है। इनके नाम अमरकोश के क्षेपक में इस प्रकार मिलते हैं—

महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ।
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥ (१।१।७१)

२५ वें मन्त्र में शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत करते हुए अवभृथ से संबद्ध दो पक्षों का उल्लेख किया गया है। एक पक्ष में छः तथा दूसरे में दस आहुतियाँ विहित हैं। [२२]अवभृथ शब्द का इस प्रकरण में निर्दिष्ट अर्थ सायण के प्रमाण से २७ वें मन्त्र में देखा जा सकता है।

यह बताया जा चुका है कि आठवें अध्याय की ३२ वीं कण्डिका तक अग्निष्टोम याग का विधान है। इस तरह यहाँ अग्निष्टोम का प्रकरण समाप्त हो जाता है और आगे ३३ वें मन्त्र से षोडशी ग्रह का विधान चलता है। इसका ग्रहण १६ स्तोत्रों के पाठ के साथ किया जाता है, इसलिये इसे षोडशी कहते हैं। पृष्ठ्य याग के चौथे दिन षोडशी ग्रह का ग्रहण किया जाता है। प्रातःसवन में आग्रयण ग्रह के ग्रहण के बाद आग्नेय अतिग्राह्य को लेकर खादिर काष्ठ के चतुष्कोण उलूखल में इस ग्रह का ग्रहण किया जाता है। ग्रहण करते समय यहाँ ३३ वीं और ३४ वीं कण्डिका के मन्त्रों का पाठ किया जाता है। अतिग्राह्य ग्रह तो एक ही है, तो भी श्रौतसूत्र में इसके लिये बहुवचन का प्रयोग इसलिये किया गया है कि विश्वजित् याग से यह संबद्ध है और विश्वजित् याग में तीन अतिग्राह्य ग्रहों का ग्रहण विहित है। ३४ वीं और ३५ वीं कण्डिका के मन्त्रों से षोडशी ग्रह का भी ग्रहण किया जाता है। ३६ वें मन्त्र में षोडशी ग्रह की पर ब्रह्म के रूप में स्तुति की जाती है। यह षोडशी षोडशकलात्मक लिंगशरीर से उपहित है। इन १६ कलाओं के नाम प्रश्नोपनिषद् (६।४) में इस प्रकार दिये गये हैं—१. प्राण, २. श्रद्धा, ३. आकाश, ४, वायु, ५. ज्योति, ६. आपः, ७. पृथिवी, ८. इन्द्रियम्, ९. मनः, १०. अन्नम्, ११. वीर्यम्, १२. तपः, १३. मन्त्राः, १४. कर्म, १५. लोकाः, १६. नाम। ३७ वीं कण्डिका के मन्त्रों से षोडशी ग्रहगत सोम का भक्षण किया जाता है और इसके साथ ही षोडशी ग्रह का प्रकरण पूरा हो जाता है।

३८ वीं कण्डिका से द्वादशाह के मन्त्र विहित हैं। अतिरात्र के बाद छः दिन तक पृष्ठ्य संज्ञक क्रतु चलता है। इनमें प्रथम क्रतु अग्निष्टोमसंस्थ और चतुर्थ षोडशीसंस्थ है। द्वितीय, तृतीय, पंचम और षष्ठ दिनों में सम्पन्न होने वाले अनुष्ठान उक्थसंस्थ कहलाते हैं। छः दिन तक चलने वाले पृष्ठ्य सत्र में प्रथम दिन वैकंकत पात्रों में अतिग्राह्य संज्ञक ग्रहों का ग्रहण ३८-४० कण्डिकागत मन्त्रों के उच्चारण के साथ किया जाता है। [२३]अतिग्राह्य पद की व्युत्पत्ति भी

---

२०. "प्रसङ्गात् स्त्रीणां पित्र्यस्य धनस्य वा षड्विधस्य स्त्रीधनस्य दायस्यानीश्वरत्वोपवर्णनम्" (पृ० १४०)।

२१. "द्रोणकलशे आग्रयणाद् यो रसो गृहीतः, स एव हारियोजनसंज्ञको भवतीति वृत्तिकारः" (पृ० १४४)। "छन्दांसि वै हारियोजनः" (पृ० १४५)।

२२. अवाचीनानि पात्राणि जलमध्ये भ्रियन्ते यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽवभृथ इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः" (पृ० १७१)।

२३. "इतरग्रहानतिक्रम्य दुष्प्रापं फलं गृह्यत एभिरित्यतिग्राह्याः" (पृ० १८६)।

यहाँ दी गई है। कण्डिकाओं के उत्तर शेष भाग से उन ग्रहों का भक्षण किया जाता है। इसी के साथ द्वादशाह का विधान पूरा हो जाता है।

गवामयन, गर्गत्रिराज, महाव्रत आदि से संबद्ध आगे के मन्त्रों का विनियोग भाष्यसार में बता दिया गया है। ५० वें मन्त्र की व्याख्या में प्रातःसवन के अग्नि, माध्यन्दिनसवन के इन्द्र और सायंसवन के देवता विश्वेदेव बताये गये हैं। ५२ वें मन्त्र के भाष्य में [२४]कूबरी और [२५]सत्र पद का अर्थ दिया गया है। अगले मन्त्र का अर्थ निरुक्त की पद्धति के अतिरिक्त सायण और महीधर की पद्धति से भी किया गया है। आगे के ५४-५९ मन्त्रों में मिट्टी के बने घर्मपात्र के सोमाभिषव की विभिन्न अवस्थाओं में टूट जाने पर उसके प्रायश्चित्त के निमित्त सोम की विभिन्न स्थितियों को नामित किया गया है और उन्हीं नामों से प्रायश्चित्ताहुति देने का विधान निर्दिष्ट है। इस विषय की चर्चा [२६]आगे भी मिलती है। घर्मभेद की स्थिति में प्रायश्चित्त के निमित्त आहुतियों का विधान होने से शतपथ के इस प्रकरण को प्रायश्चित्त ब्राह्मण नाम दिया गया है। सोमयागीय कर्मों की त्रुटियों का इससे परिमार्जन किया जाता है।

६० वें मन्त्र में कात्यायन श्रौतसूत्र के व्याख्याकार देवयाज्ञिक का मत उद्धृत है। ६२ वें मन्त्र में बताया गया है कि यह प्रायश्चित्त ब्रह्मा के द्वारा किया जाता है। मन्त्रों का वाचन और आज्य का संस्कार भी वही करता है। यज्ञीय यूप पर काक के बैठ जाने पर भी प्रायश्चित्त प्रयुक्त आहुति देनी पड़ती है। इस अध्याय में अन्तिम ६३ वीं कण्डिका में इसके लिये मन्त्र पठित है। यहाँ विशेष बात यह बताई गई है कि सोमयाग में उद्गाता और पशुयाग में ब्रह्मा के द्वारा यह आहुति दी जानी चाहिये।

इस अध्याय के मन्त्रभाष्य में तैत्तिरीय संहिता, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त सत्याषाढ श्रौतसूत्र और कात्यायन श्रौतसूत्र के देवयाज्ञिक कृत भाष्य का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है।

शतपथ ब्राह्मण (पृ० १२३) में आदित्यों के द्वारा उपदिष्ट दो देवताओं वाले मन्त्रों का प्रयोजन क्या है, इससे संबद्ध आख्यायिका वर्णित है। पृ० १३१ पर सवनत्रय से संबद्ध तथा पृ० १३८ पर वायु और प्राण सम्बन्धी आख्यायिका मिलती है। पृ० १४५ पर देवताओं के द्वारा सन्तर्पित छन्दों का इतिहास दिया गया है। पृ० १७३-१७४ में अनुबन्ध्या गौ से सम्बन्ध रखने वाली तथा प्रजापति और सन्ध्या से सम्बन्ध रखने वाली आख्यायिका देखी जा सकती है। पृ० १८० पर षोडशी ग्रह सम्बन्धी इतिहास वर्णित है। आध्यात्मिक अर्थ के प्रसंग में यहाँ (पृ० १३३) पुरंजनोपाख्यान निर्दिष्ट है। यह कथा श्रीमद्भागवत (४।२५–२९ अ०) में देखी जा सकती है। प्रसंगवश उद्धत सुभाषितों का भाष्यसार में अर्थ नहीं दिया गया। इस कमी की ओर हम पहले भी इंगित कर चुके हैं, जब कि २–३ अध्यायों के भाष्यसार में यह त्रुटि नहीं थी।

दयानन्दीय अर्थ के प्रसंग में विशेष बात इतनी ही है कि उनके सम्प्रदाय के अनुयायी पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने भी इनकी त्रुटियों का यत्र तत्र उल्लेख किया है (पृ० १२९, २२०)। पृ० १४९ में बताया गया है कि मनुष्य की शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त के बिना अपने पापों को भी दूर करने की सामर्थ्य नहीं है, तो वह दूसरे के पापों को कैसे दूर करेगा। पृ० १५३ पर स्वामी दयानन्द के साथ किसी अन्य विद्वान् के मत को भी उद्धृत कर उसका खण्डन किया गया है। पृ० १७३

---

२४. "कूबरी ईषाधारिणी विष्कम्भिका" (पृ० २०७)।

२५. "ब्राह्मणेषु सूत्रेषु च प्रसिद्धं सत्रमनेकयजमानकर्तृकम्" (पृ० २०८)।

२६. आगे ३९ वें अध्याय के १-६ मन्त्रों में घर्मभेद प्रयुक्त प्रायश्चित्ताहुतियों का विधान है।

पर अवभृथ शब्द के अर्थ की आलोचना करते हुए बताया गया है कि यज्ञीय पदों का जो अर्थ श्रौतसूत्र और ब्राह्मण ग्रन्थों में दिया गया है, वही हमारे लिये मान्य हो सकता है। पृ० १८३ पर दिखाया गया है कि वेद में व्यक्ति-विशेष की चर्चा नहीं मानी जा सकती। ऐसा मानने पर वेदों पर अनित्यता की आपत्ति आ जायगी। पृ० १८५ पर दिखाया गया है कि श्रुति के अनुसार वाजपेय और राजसूय यज्ञों का अनुष्ठाता ही सम्राट् अथवा राजा माना जा सकता है। पृ० १८७ पर स्वामी दयानन्द ने सर्वत्र देव शब्द का प्रयोग मनुष्य के लिये किया है, जो कि उचित नहीं है, इस बात का उल्लेख करते हुए यहाँ स्मरण दिलाया गया है कि देव एक अलग योनि है, इस बात को प्रबल प्रमाणों के आधार पर भूमिका भाग में (पृ० ६२६-६७५) स्थापित किया जा चुका है। पृ० १९४ पर बड़े आश्चर्य के साथ इस बात का उल्लेख किया गया है कि स्वामी दयानन्द श्रुति और सूत्रों को ही नहीं, लोकप्रसिद्धि को भी लांघ कर मन्त्रार्थ करते हैं, जो कि सर्वथा अनुचित है। पृ० २१५ और २२० पर इनके द्वारा महीधर पर आरोपित भ्रान्ति का निराकरण कर दिया गया है। पृ० २१६ पर क्षीरश्री और सक्तुश्री शब्दों के अशुद्ध अर्थ को सूचित किया गया है। पृ० २२२ पर 'घर्म' शब्द के सम्बन्ध में और ३४ आहुतियों के सम्बन्ध में इनकी भ्रान्तियों को शतपथ के प्रमाण से दिखाया गया है।

नवम अध्याय

नवें अध्याय की ३४ वीं कण्डिका तक वाजपेय याग से संबद्ध मन्त्र उपदिष्ट हैं। इनका विनियोग भाष्यसार में दिया तो गया है, किन्तु अनेक स्थलों पर आवश्यक पदों का अर्थ छोड़ दिया गया है। इसके कारण विनियोजक वाक्य अधूरे रह जाते हैं। इस कमी की पूर्ति हमने विषयानुक्रमणी बनाते समय की है। अन्य कुछ विनियोगों का खुलासा यहाँ किया जा रहा है। द्वितीय कण्डिका के भाष्य में बताया गया है कि प्रातःसवन में आग्रयण ग्रह के ग्रहण के बाद तीन अतिग्राह्य ग्रहों को पूर्ववत् ग्रहण कर उसी पद्धति से षोडशी ग्रह का भी ग्रहण करे। इस कण्डिका के तीन मन्त्रों से और ३-४ कण्डिकाओं के दो मन्त्रों से पाँच वाजपेयिक ग्रहों का यहाँ ग्रहण किया जाता है। चौथे मन्त्र के उव्वट, सायण और महीधर कृत अर्थों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। पंचम मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है कि वज्र ही स्फ्य, रथ और यूप का स्वरूप धारण कर त्रिधा विभक्त हो जाता है। छठे मन्त्र में [27]कल्लोल और ककुद्मान् शब्दों का तथा नवें मन्त्र में [28]प्रष्टि शब्द का अर्थ दर्शनीय है। इसी तरह पृ० २४५ पर [29]स्कम्भन और पृ० २४६ पर [30]क्षिपणि शब्द का अर्थ दिया गया है।

१५ वें मन्त्र की व्याख्या में सायण और उव्वट की व्याख्या उद्धृत है। २० वीं कण्डिका के भाष्य में पृ० २५५ की पहली पंक्ति में 'आयुर्यज्ञेन' के स्थान पर 'आपये स्वाहा' यह पढा जाना चाहिये। २१ वें मन्त्र की व्याख्या में [31]प्राण, अरत्नि, कौश और अर्धोरुक शब्दों का अर्थ अवलोकनीय है। अजा के विषय में भाष्य में अनेक स्थलों पर इस विषय का उल्लेख किया गया है कि वह वर्ष में दो-तीन बार दो या तीन बच्चे देती है। यहाँ

---

२७. "ककुदिति वृषभस्योन्नतः स्कन्धप्रदेशः, तत्सामान्यादुदकसंघातोऽप्युन्नततमः ककुच्छब्देनोच्यते। बहुभिरुदकनिचयैः संयुक्तो महाप्राग्भार उदकसंघातवानूर्मिः कल्लोलः ककुद्मान्" (पृ० २३४)।

२८. "प्रष्टिर्नाम पादत्रयोपेतो भोजनपात्रादेराधारः" (पृ० २३८)।

२९. "स्कम्भनं नाम वेगेनाक्रमणं मार्गान् पृष्ठतः कृत्वा पुरो धावनम्" (पृ० २४५)।

३०. "क्षिप्यते प्रेर्यतेऽनयेति क्षिपणिः कशा" (पृ० २४६-२४७)।

३१. "प्राणो मुखनासिकाप्रभवो वायुः पञ्चवृत्तिकः" (पृ० २५७), "चतुर्विंशत्यङ्गुलोऽरत्निः" (पृ० २५८), "कृमिकोशविकारभूतं वासः कौशम्,...यद्वा कौशं कुशमयं चण्डातकमर्धोरुकं नृत्तोपयिकत्वेनाच्छादनीयमुरु-कञ्चुकमर्धोरुकं वासः" (पृ० २५९)।

(पृ० २६३) भी यह बात उल्लिखित है। २३ वें मन्त्र के भाष्य में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र वर्णित अन्नों का तथा महाभाष्य वर्णित सप्तदशविध अन्नों का उल्लेख किया गया है। भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से १७ प्रकार के अन्नों के नाम भी दे दिये हैं (पृ० २६५)। चार (३१-३४) उज्जिति संज्ञक मन्त्रों के साथ यह वाजपेय प्रकरण समाप्त होता है।

३५ वीं कण्डिका से राजसूय यज्ञ का प्रकरण चलता है। यहाँ (पृ० २८१-२८४) भाष्यकार ने मन्त्रों की व्याख्या करने से पहले आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के 'स्वाराज्यकाम' और 'राजा' पदों पर अनेक ग्रन्थों की सहायता से विचार प्रस्तुत किया है। ग्रन्थों के नाम भाष्यसार में गिना दिये गये हैं। पूरा विचार कर लेने के उपरान्त भाष्य में स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रस्तुत प्रकरण का राजपद केवल क्षत्रिय राजा के लिये ही प्रयुक्त होता है। मीमांसा शास्त्र में रुचि रखने वाले जिज्ञासुओं के लिये यह प्रसंग विशेष रूप से अवधेय है।

राजसूय यज्ञ की प्रक्रिया को बताते हुए यहाँ कहा गया है कि फाल्गुन की पहली दशमी के दिन अनुमति के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश देनी चाहिये। अनुमति पौर्णमासी की अधिष्ठात्री देवता मानी जाती है। तण्डुल अथवा अन्य हविष्य द्रव्यों को पीसते समय शिला के नीचे कृष्णाजिन पर जो उसका अंश गिर गया है, उसे खादिर स्रुव में रख कर दक्षिणाग्नि से जलती लकड़ी लेकर दक्षिण दिशा में जाकर अपने आप फटी हुई जमीन पर अथवा ऊषर भूमि पर उल्मुक को रख कर उस अंश की आहुति देनी चाहिये। इस प्रसंग में दो प्रकार की भूमि वर्णित है—एक तो व्रीहि, गोधूम आदि सस्यों से सम्पन्न और दूसरी ऊषर। इसमें पहली भूमि अनुमति और दूसरी निर्ऋति कहलाती है। निर्ऋति अनिष्टकारिणी मानी जाती है। यह दरिद्रता का ही दूसरा नाम है। इस लिये इसकी शान्ति के लिये सबसे पहले आहुति दी जाती है। बाद में किसी दिन ३६ वीं कण्डिका में प्रदर्शित विधि से पंचवातीय होम किया जाता है।

यहाँ शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर बताया गया है कि राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान क्षत्रिय ही करता है। जिसने वाजपेय याग नहीं किया, ऐसा राजन्य ही इसका अधिकारी माना गया है। सामान्य राज्य की अपेक्षा साम्राज्य अधिक वरेण्य है, अतः साम्राज्य को देने वाले राजसूय यज्ञ का अनुष्ठाता वाजपेय याग का अनुष्ठान नहीं करता। इस राजसूय यज्ञ में इष्टि, पशु, सोम, दर्वीहोम जैसे शताधिक कर्म संयुक्त हैं। प्रस्तुत स्थल पर (पृ० २८५) इष्टियों और पशुओं के विधायक वाक्यों का उल्लेख कर सात सोम यागों का एवं पंचवातीय आदि दर्वीहोमों का उल्लेख किया गया है और [३२]पूर्णाहुति शब्द का अर्थ निर्दिष्ट है।

३६ वीं कण्डिका में बताया गया है कि इस कण्डिका के पाँच मन्त्रों से पंचधा विभक्त आहवनीय अग्नि को एकत्र कर उसमें पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं। ३७ वीं कण्डिका बताती है कि इससे दक्षिणाग्नि से उल्मुक लेकर उसमें अपामार्ग के तण्डुल की आहुति दी जाती है। ३८ वीं कण्डिका में भी स्रुवा में स्थित अपामार्ग तण्डुलों की आहुति का मन्त्र है। यह आहुति भी उल्मुक में ही दी जाती है। इसके लिये उल्मुक को लेकर पहले पूर्व अथवा उत्तर दिशा में जाना पड़ता है।

यहाँ शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि केवल पंचवातीय होम का ही नहीं, इस अपामार्ग तण्डुल के होम का भी विनियोग दूसरों के द्वारा प्रयुक्त अभिचार कर्म से अपनी रक्षा के लिये किया जाता है। इस रक्षाकर्म के लिये यहाँ [३३]प्रतिसर शब्द प्रयुक्त है। पूरे भारतीय वाङ्मय में, बौद्ध तन्त्र और काव्य ग्रन्थों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त मिलता है और आज भी विवाह आदि शुभ अवसरों पर बाँधा जाने वाला कंगन इसी का प्रतीक है। इस प्रतिसर

---

३२. "आज्यपूर्णया जुह्वा हूयत इति पूर्णाहुतिः" (पृ० २८५)।

३३. आगे ३७ संख्या की टिप्पणी देखिये।

कर्म का प्रयोग अश्वों की रक्षा के लिये भी किया जाता है। अपामार्ग की मंजरियों के लिये शतपथ में सूचना दी गई है कि इसकी मंजरियों का मुख नीचे की ओर रहता है। इस लिये ये यजमान के प्रति अभिचार करने वाले व्यक्ति को उलट कर उसे शीघ्र नष्ट कर देती हैं।

३९ वीं कण्डिका में बताया गया है कि सविता आदि देवसू हवियों में अन्तिम 'वरुणाय धर्मपतये' मन्त्र से वरुण को चरु समर्पित कर स्रुवा को सव्य पाणि में रख कर दक्षिण हस्त से यजमान के दक्षिण बाहु को पकड़ कर 'सविता त्वा' इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु यथास्थान यजमान का और उसके माता-पिता का नाम उच्चारित करता है। इसकी विधि भी यहाँ बताई गई है। प्रस्तुत मन्त्र में 'वाक्' शब्द प्रयुक्त है। भाष्यकार ने परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप अथवा नाम, उपसर्ग, निपात और आख्यात रूप वाणी का उल्लेख कर बताया है कि इस चतुर्विध वाणी का, जो कि वेद आदि विविध वाङ्मय के रूप में सर्वत्र व्याप्त है, आधिपत्य उस यजमान को प्राप्त हो जाय, इसके लिये यहाँ प्रार्थना की गई है। सविता आदि आठ देवताओं के निमित्त अर्पित किये जाने वाले विविध चरुओं की सूचना शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत कर यहाँ दी गई है। प्रसंगवश इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि श्रौतसूत्र सर्वत्र शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों का अनुसरण करते हैं। ४० वें मन्त्र के भाष्य में कुरु-पंचालों के राजा खदिरवर्मा के नाम का उल्लेख है।

२२ वें मन्त्र में उद्धृत शतपथ में बृहस्पति की आख्यायिका दी गई है। वाजपेय याग में बृहस्पतिसदृश यजमान भी अभिषिक्त होने पर भूमि का अवदारण न करने लगे, इस लिये दीक्षित यजमान को पृथ्वी के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करने को कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण के वचनों की व्याख्या करते समय यहाँ अनेक स्थलों पर सायण का उल्लेख किया गया है।

दूसरे मन्त्र के आध्यात्मिक अर्थ के प्रसंग में आन्तर वरिवस्या का प्रतिपादक एक सुन्दर श्लोक उद्धृत है। यहाँ सत्सौख्य को ही अनेक प्रकार के विषयोपभोगों के साथ चित्पात्र में रख कर अपने परिवार देवताओं के साथ उपस्थित देवी को समर्पित किया गया है। २३ वें मन्त्र में 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस श्रुति को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि यहाँ कठोर और तीक्ष्ण पदार्थों में अग्नि का और कोमल पदार्थों में सोम का निवास माना गया है।

दयानन्दीय अर्थ में अनेक बार निर्दिष्ट सामान्य आक्षेपों के अतिरिक्त यहाँ के पाँचवें मन्त्र में भट्टपाद कुमारिल के उस प्रसिद्ध श्लोक को उद्धृत किया गया है, जो कि वेद के वेदत्व को उजागर करता है। नवें मन्त्र में बताया गया है कि वाजिन् शब्द का इनके द्वारा किया गया अर्थ श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में कहीं भी नहीं मिलता। १९ वें मन्त्र में भी वाजिन् पद के अर्थ पर ही आक्षेप किया गया है। २१ वें मन्त्र में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द का भावार्थ कहीं भी मन्त्रार्थ से संबद्ध नहीं है। इसी लिये हमने उसके खण्डन में कभी रुचि नहीं दिखाई है। २३ वें मन्त्र में व्याकरण प्रक्रिया संबन्धी पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के मत का खण्डन किया गया है। २९ वें मन्त्र में उनकी उक्ति को 'पूतिकूष्माण्डायित' गया कहा है। ३४ वें मन्त्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने चार पुरुषार्थों की अनोखी व्याख्या की है। इसको यहाँ बालजनप्रतारण कहा गया है। ३६ वें मन्त्र में पुनः याद दिलाई गई है कि शब्दों के श्रुतिसूत्रसंमत अर्थ ही हमें ग्राह्य हो सकते हैं। आर्ष ग्रन्थों में अप्रयुक्त अर्थों में शब्द का प्रयोग कैसे मान्य हो सकता है? अन्तिम ४० वें मन्त्र में बताया गया है कि सविता, अग्नि, सोम, रुद्र, मित्र, वरुण आदि विभिन्न देवताओं के नाम हैं। इनकी मनुष्यपरक व्याख्या नास्तिकता का ही प्रचार कर सकती है।

दशम अध्याय

ऊपर नवें अध्याय में वाजपेय और राजसूय संबन्धी विधियों को दिखाया गया है। अब दसवें अध्याय में राजसूय यज्ञ में अभिषेक के लिये जलादान आदि कर्मों का तथा सौत्रामणी याग संबन्धी कुछ पद्धतियों का विधान बताया जा रहा है। सबसे पहले यहाँ राजा के अभिषेक के लिये विविध जलों का उपादान वर्णित है। आतप वर्षा (धूप के रहते पानी का बरसना) कभी-कभी ही होती है। अतः ऐसे जल का संग्रह पहले से कर लेना चाहिये, जिससे कि भविष्य में होने वाले अभिषेक के अवसर पर उनका उपयोग हो सके। अन्य जलों को उसी समय जाकर लाया जाता है। उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी से बने पात्रों में इनको रखा जाता है। सर्वप्रथम सरस्वती नदी के जल को लाया जाता है।

शतपथ ब्राह्मण के पंचम काण्ड के तृतीय प्रपाठक के चतुर्थ ब्राह्मण में अभिषेक के लिये १७ प्रकार के जलों के संभरण का विधान वर्णित है। आतपवर्ष्य जल का ग्रहण यूप की उत्तर दिशा से किया जाता है। अन्य जलों का ग्रहण, जहाँ वे उपलब्ध हों, वहाँ से किया जाता है। १७ प्रकार के जलों को ग्रहण करसे के लिये सभी पात्र औदुम्बर काष्ठ के बने हुए ही होने चाहिये।

इस अध्याय की प्रथम चार कण्डिकाओं में सत्रह मन्त्र हैं। 'वृष्ण ऊर्मिरसि' इत्यादि तीन कण्डिकाओं के प्रथम स्वाहान्त मन्त्र से चतुर्गृहीत घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं तथा अन्तिम स्वाहारहित मन्त्रों से जलों का संभरण किया जाता है। मन्त्रगत 'अमुष्मै' पद के स्थान पर यजमान के चतुर्थ्यन्त नाम का उच्चारण किया जाता है।

प्रथम कण्डिका से **१. सरस्वती** नदी के जल का संभरण किया जाता है। कल्लोल जल के ग्रहण की विधि को बताते हुए यहाँ कहा गया है कि अध्वर्यु स्वयं जल में प्रविष्ट होकर किसी पशु या पुरुष को अपने साथ ले जाय। जल में प्रविष्ट पशु या पुरुष के दोनों तरफ उठती हुई लहरों के जल को अलग-अलग लिया जाता है। इसको **२ कल्लोल** जल कहते हैं। नदी के बहते हुए जल को **३. स्यन्दमान** कहा जाता है। काण्वसंहिता के भाष्य में सायण का कहना है कि कुल्या (नहरों) आदि के रूप में बहता हुआ जल राष्ट्र को नाना प्रकार से समृद्ध बनाता है। नदी आदि का बहता हुआ जल कभी किनारे पर उलटा बहने लगता है। इसको **४. प्रतिलोम** जल कहा जाता है। नदी का ही जल कभी-कभी मुख्य धारा को छोड़ कर अलग से बहने लगता है। इसको **५. अपसली** जल कहा जाता है। समुद्र में ऊँची उठती हुई लहरों के जल को **६. सूद्य** कहते हैं। नदी आदि के जल में कभी-कभी भँवर पड़ जाती है। इस जल को **७. निवेष्य** कहते हैं। बहता हुआ नदी का जल किसी ह्रद में पड़ कर स्थिर हो जाता है। सूर्य की किरणों से यह गरम भी हो जाता है। इसे **८. प्रत्यातप** जल कहते हैं। **९. आतपवर्ष्य** जल का लक्षण ऊपर बताया जा चुका है। इसी तरह से तालाब के जल को **१०. सरस्य** और कूप के जल को **११. कूप्य** कहा जाता है। **१२. प्रुष्व** जल ओस की बूँदों से बनता है। यहाँ **१३. मधु** (शहद) और गाय के **१४. उल्व्य** (गर्भवेष्टन) जल का भी ग्रहण किया जाता है तथा **१५. दुग्ध** और **१६. घृत** का भी। अन्तिम जल के रूप में **१७. मरीचियों** का ग्रहण किया जाता है।

सूर्य की किरणों से गरम हुए इस मरीचि जल को पूर्वगृहीत सभी प्रकार के जलों में मिला दिया जाता है। इनमें से प्रथम सारस्वत जल और अन्तिम मरीचि जल के निमित्त आहुति नहीं दी जाती। इस प्रकार अलग अलग पात्रों में संगृहीत इन सभी जलों को किसी औदुम्बर पात्र में इकट्ठा कर लिया जाता है।

शतपथ ब्राह्मण में इन सत्रह प्रकार के जलों के निमित्त दी गई आहुति की प्रजापति से तुलना की गई है। उसका क्रम इस प्रकार है—इनमें से प्रथम सारस्वत जल के और अन्तिम मरीचितप्त जल के निमित्त आहुति का विधान नहीं है। ऊर्मि जल के पूर्व और अपर दो विभाग किये जाते हैं। इन दोनों के निमित्त अलग-अलग आहुति

विहित है। इस तरह से आहुतियों की संख्या १६ हो जाती है। दो बिना आहुति के जल, सोलह आहुतियाँ और सोलह जल मिल कर ३४ होते हैं। इस प्रकार ३४ देवतात्मक प्रजापति से इनकी तुलना संभव हो जाती है। सारस्वत जल और मरीचि जल के निमित्त आहुतियाँ क्यों नहीं दी जाती, इसका स्पष्टीकरण भी यहाँ (पृ० ३०६-३०७) शतपथ के प्रमाण से दिया गया है। यहाँ संभृत १७ प्रकार के जलों से यजमान का अभिषेक किया जाता है। इसकी प्रक्रिया आगे बताई गई है।

१-४ मन्त्रों में १७ प्रकार के जलों का तथा तन्निमित्तक आहुतियों का विधान कर अब पाँचवें मन्त्र में बताया जा रहा है कि मरुत्वतीय ग्रहों के ग्रहण के बाद और माहेन्द्र ग्रह के ग्रहण के पूर्व मैत्रावरुण धिष्ण्य के आगे [३४]पालाश, औदुम्बर, नैयग्रोध (वाट) और आश्वत्थ पात्रों को तूष्णीं (चुपचाप) रखा जाता है। इनके आगे व्याघ्रचर्म बिछाया जाता है और इसी कण्डिका के आगे के छः मन्त्रों से सकृद्गृहीत आज्य की पार्थसंज्ञक छः आहुतियाँ दी जाती हैं। यहाँ शतपथ ब्राह्मण में इन आहुतियों के लिये कहा गया है कि पहले के अग्निवाचक नामों से हवन करने से राजा की भूलोक में प्रतिष्ठा बढ़ती है तथा आगे के आदित्यवाचक नामों से उसके लिये स्वर्ग की प्राप्ति भी सुनिश्चित हो जाती है। राजा पृथु से ये आहुतियाँ संबद्ध हैं, इस बात का भी उल्लेख शतपथ में ही है। छठे मन्त्र से दो कुशपवित्रों का निर्माण कर उनमें हिरण्य (सुवर्ण) बाँधा जाता है। सातवें मन्त्र से कुशापवित्र द्वारा अभिषेकार्थ लाये गये जलों को पवित्र कर पूर्व में रखे गये चतुर्विध पात्रों में भर दिया जाता है।

इतना कर लेने के बाद यजमान को ताप्यं वस्त्र पहनाया जाता है। ताप्यं पद का अर्थ आचार्यों ने क्षौम, वल्कल अथवा घृताक्त वस्त्र किया है। भाष्य में कहा गया है कि इस ताप्यं वस्त्र पर सुई से यज्ञीय पात्र स्रुक्, स्रुवा आदि को काढा जाता है। ताप्यं वस्त्र के ऊपर [३५]पाण्ड्व, अर्थात् रक्तश्वेत कम्बल यजमान को ओढाया जाता है। गले में महाकंचुक पहिना कर उष्णीष धारण कराया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में बड़े विस्तार से इन सारी विधियों का वर्णन किया गया है और कात्यायन श्रौतसूत्र में भी उसी के अनुसार सारी पद्धति निर्दिष्ट है। अतः शतपथ को तो प्रमाण मानना और कात्यायन श्रौतसूत्र की उपेक्षा करना कथमपि न्यायसंगत नहीं माना जा सकता, जैसा कि स्वामी दयानन्द ने किया है।

वस्त्र आदि धारण कराने के बाद यजमान के हाथ में तीन बाण दिये जाते हैं। यह विधि ८ वें मन्त्र के वाचन के साथ सम्पन्न होती है। तब नवीं कण्डिका के सात आविद् मन्त्रों का यजमान से पाठ कराया जाता है। इस मन्त्र में पृथिवी को ही देवमाता अदिति बताया गया है। उव्वट की व्याख्या का यहाँ अलग से उल्लेख किया गया है। १० वें मन्त्र से केशव (नपुंसक) के मुँह में लोहायस का निधान किया जाता है। यहाँ सायण की व्याख्या का उल्लेख किया गया है और शतपथ के प्रमाण से केशव, लोहायस और दन्दशूक की तुलना की गई है। आगे की १०-१४ कण्डिकाओं में रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज और शाक्वर-रैवत सामों का एवं त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश, एकविंश और त्रयस्त्रिंश स्तोमों का स्वरूप काण्वसंहिता के सायण-भाष्य में उद्धृत साम ब्राह्मण के प्रमाण से बताया गया है।

१५ वीं कण्डिका से यजमान व्याघ्रचर्म पर आरोहण तथा यजमान के पैरों के नीचे और सिर पर सौवर्ण परिमण्डल निधान किया जाता है। सायण का मत भी यहाँ प्रदर्शित है। शतपथ के वचन की व्याख्या करते हुए यहाँ [३६]नौ प्राणों के

---

३४. पृ० ३१२ और ३१४ पर पालाश, औदुम्बर, नैयग्रोध (वाट) और आश्वत्थ पात्रों की चर्चा है, अतः पृ० ३०८ पर भी चार ही पात्रों का उल्लेख माना जायगा। नैयग्रोध और वाट पर्यायवाची शब्द हैं।

३५. पृ० ३१६ पर 'पाण्ड्व' पद के स्थान पर 'पाण्डव' पद छप गया है।

३६. "श्रोत्र-त्वक्-चक्षू-रसन-घ्राणा मनोबुद्धी प्राणापानौ चेतीमे नव प्राणाः" (पृ० ३२८)।

नाम गिनाये गये हैं और ओज का अर्थ मनोबल दिया गया है। १६ वें मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान अपनी भुजाओं को ऊपर उठाता है। पक्षान्तर में अध्वर्यु उसकी भुजाओं को अपने हाथ से उठाता है। इस कण्डिका के यहाँ द्विविध अर्थ किये गये हैं। १७-१८ मन्त्रों से यजमान के सामने खड़ा पुरोहित अथवा अध्वर्यु पूर्वाभिमुख ऊर्ध्व बाहु सरुक्म व्याघ्रचर्म पर खड़े यजमान का पूर्वस्थापित चतुर्विध पात्रों में से पालाश पात्र के जल से अभिषेक करता है।

१९ वें मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान कृष्णमृग के विषाण (सींग) की कण्डूयनी से शरीर पर डाले गये अभिषेक के जल को अपने सारे शरीर पर फैलाता है। इस मन्त्र के भी द्विविध अर्थ प्रदर्शित हैं। सायण और उव्वट की व्याख्याएँ भी प्रदर्शित हैं। अग्नि के लिये यहाँ बताया गया है कि वह पौर्णमास्य, आमावास्य, चातुर्मास्य आदि पर्वों के कारण वह पर्ववान् कहलाता है। २० वें मन्त्र में बताया गया है कि यजमान राजा के पिता-पुत्र के संबन्धों का अन्वाख्यान करते समय अध्वर्यु शालाद्वार्य अग्नि में सकृद्गृहीत आज्य की आहुति देता है। शतपथ ब्राह्मण में इसका यह विधान बताया है कि अवशिष्ट पात्रों का जल पालाश पात्र में भर दिया जाता है और उस पालाश पात्र को राजा अपने प्रियतम पुत्र को दे देता है। उसी समय इस मन्त्र का उच्चारण किया जाता है।

इसके बाद वाजपेय याग के सारे विधानों का अनुष्ठान यहाँ भी किया जाता है। जैसे कि रथग्राहण स्थान से 'इन्द्रस्य वज्रोऽसि' मन्त्र से शाला के दक्षिण भाग में शकट के ऊपर स्थापित रथ को भूमि पर उतार कर दक्षिण वेदि के मध्य भाग में लाकर 'मित्रावरुणयोः' मन्त्र से रथ में चार घोड़ों को जोता जाता है। 'अव्यथायै त्वा' मन्त्र से यजमान चात्वाल देश में स्थित रथ पर चढ़ता है। वह उस रथ की स्तुति करता है। अब सारथि उस रथ को आहवनीय के उत्तर में स्थापित गायों के बीच ले जाकर खड़ा कर देता है। वहाँ यजमान एक गाय का धनुष्कोटि से स्पर्श करता है। यह सारा विधान २१ वें मन्त्र की सहायता से किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में इसकी विस्तार से व्याख्या की गई है। यहाँ बताया गया है कि 'अर्जुन' इन्द्र का गुह्य नाम है। यहाँ इस पद से यजमान का ग्रहण किया जाता है। इस मन्त्र में उपदिष्ट विधि का अनुष्ठान करने से यजमान इन्द्र के समान पराक्रम और ऐश्वर्य से सम्पन्न हो जाता है।

इसके बाद रथारूढ यजमान वहाँ खड़ी सैकड़ों-हजारों गायों को अपनी जाति के बन्धु-बान्धवों, भाइयों और गोस्वामी को समर्पित कर यूप को पूर्व दिशा से प्रदक्षिणा कर अन्तःपात्य स्थान में रथ को खड़ा कर देता है। ऐसा करते समय वह २२ वें मन्त्र से इन्द्र की स्तुति करता है। तब २३ वीं कण्डिका के चार मन्त्रों से अध्वर्यु सकृद्गृहीत आज्य की रथविमोचयीया नाम की चार आहुतियाँ देता है और इसी कण्डिका के उत्तरार्ध से रथारूढ यजमान पृथिवी का दर्शन कर उससे पादप्रक्षेप के लिये क्षमाप्रार्थना करता है। तब सोपानत्क यजमान २४ वें मन्त्र का पाठ करता हुआ रथ से उतरता है। यह 'हंसः शुचिषद्' मन्त्र वैदिक वाङ्मय में अति प्रसिद्ध है। ऋग्वेद में ही नहीं, उपनिषदों में भी यह मन्त्र मिलता है। यहाँ परमात्मा की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। २५ वें मन्त्र से रथवाहण स्थान पर दाहिने पहिये के रास्ते पर शतमान सौवर्ण वर्तुल मणि बाँधी जाती है। शतमान मणि सौ रत्ती की बनती है। इसके बाद उदुम्बर (गूलर) वृक्ष की टहनी गाड़ी जाती है। अध्वर्यु व्याघ्रचर्म पर पूर्व स्थापित मैत्रावरुणी पयस्या के पास आकर यजमान के ऊर्ध्व बाहुओं को यथास्थान कर देता है और २६ वें मन्त्र से वाजपेय याग की पद्धति से व्याघ्र-चर्म के पास खादिर आसन्दी रखी जाती है। आसन्दी के निर्माण की विधि वाजपेय प्रकरण में बता दी गई है। अब आसन्दी पर बहुमूल्य वस्त्र बिछा कर उस पर यजमान को बैठाया जाता है। २७ वें मन्त्र का पाठ करते हुए अध्वर्यु यजमान के हृदय का स्पर्श करता है।

२८ वें मन्त्र का वाचन करते हुए यजमान के हाथ में द्यूत के साधन सौवर्ण पाँच पासों को दिया जाता है और अध्वर्यु आदि ऋत्विक्गण यज्ञीय वृक्ष की छड़ी से यजमान की पीठ पर धीरे-धीरे आघात करते हैं। यह द्यूत

कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नाम का होता है। विशौजा शब्द में छान्दस समास होने से इसे एक ही पद माना गया है। इसी लिये पदकार यहाँ अवग्रह नहीं करते, इसको एक ही पद जानते हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र में इसका दूसरा विनियोग भी बताया गया है। तदनुसार आसन्दो पर बैठा हुआ यजमान उसके कल्याण के लिये भूमि पर बैठे हुए अध्वर्यु आदि चार ऋत्विजों को 'ब्रह्मन्' पद से संबोधित करते हुए आह्वान करता है। आह्वान का क्रम भाष्य में बताया गया है। इसके बाद वे सब मिल कर राजा के हाथ में स्फ्य प्रदान करते हैं। शतपथ की व्याख्या करते हुए यहाँ बताया गया है कि सुवर्ण निर्मित कपर्दक (कौड़ी) अथवा विभीतक (बहेड़ा) को अक्ष कहा जाता है। इनमें से चार अक्ष (पासे) कृत संज्ञा वाले और पाँचवाँ कलि कहलाता है।

इतना सब कर लेने के बाद २९ वें मन्त्र से द्यूत खेलने की जगह पर सुवर्ण खण्ड को रख कर उसके ऊपर चतुर्गृहीत आज्य (घृत की आहुति दी जाती है और तब राजा द्यूतभूमि पर अपने हाथ में दिये पासों को फेंकता हैं। शतपथ वाक्य की व्याख्या करते हुए आपस्तम्ब के प्रमाण से इस द्यूत कर्म को इष्टि-पशु-सोमयागात्मक राजसूय याग का अंग माना गया है। राजसूय प्रकरण के अन्तिम ३० वें मन्त्र का विनियोग बताते समय कात्यायन श्रौतसूत्र को उद्धृत कर कहा गया है कि पितामह शब्द का प्रयोग पिता आदि अपने दस पूर्वपुरुषों के लिये किया गया है। यजमान के सोमपा पितरों की दस पीढियों को कालक्रम से गणना कर उनके निमित्त ऋत्विक्‌गण तथा अन्य ब्राह्मण मिल कर वाजपेय याग के सौत्य दिवस में 'विभुरसि' इत्यादि मन्त्रों से प्रसर्पण, अर्थात् धिष्ण्योपस्थान करते हैं अथवा 'सवित्रा प्रसवित्रा' अनुवाक का पाठ करते हुए सौ ब्राह्मण प्रसर्पण करते हैं। इस पक्ष में पितरों की गणना नहीं की जाती, क्योंकि भक्षण काल में दस सोमयाजियों के रूप में इन पूर्वपुरुषों के नामों की स्मृति के अभाव में उनकी उपस्थिति असंभव है। इस द्वितीय पक्ष को ही यहाँ वरीयता दी गई है और शतपथ ब्राह्मण में भी इसी पक्ष को श्रेष्ठ माना गया है। त्वष्टा देव को यहाँ रूप का अधिष्ठाता बताया गया है और प्रसगवश काण्व शाखा के मन्त्र का प्रमाण दिया गया है। इस मन्त्र में दस देवताओं के निमित्त दस आहुतियाँ दी जाती हैं। इन आहुतियों का नाम संसृप है। भाष्य (पृ० ३६२) में इन आहुतियों के क्रम को स्पष्ट रूप से समझाया गया है। इन आहुतियों को देने के बाद यजमान को दस वास्तविक कमलों की अथवा सौवर्ण पुण्डरीकों को माला बना कर पहनाई जाती है। इस मालाधारण को ही यहाँ दीक्षा कहा गया है। इसके लिये अन्य किसी विधिविधान की अपेक्षा नहीं है। शतपथ ब्राह्मण के भाष्य में सायण ने भी यही कहा है। इसके साथ ही राजसूय याग का यह प्रकरण पूरा हो जाता है।

चरक सौत्रामणी

१०वें अध्याय की ३१-३४ कण्डिकाओं में राजसूय याग से संबद्ध चरक सौत्रामणी के मन्त्र उपदिष्ट हैं। राजसूय के अन्त में की जाने वाली सौत्रामणी चरक सौत्रामणी कहलाती है। क्षौम वस्त्र में भिगोये व्रीहियों को बाँध कर रख देने पर कुछ में अंकुर निकल आते हैं और कुछ में अभी अंकुर नहीं निकले रहते। जिनमें अंकुर न निकले हों, ऐसे व्रीहियों की चार मुट्ठी लेकर उनका भात पकाया जाता है और उसमें अंकुरित व्रीहियों को पीस कर मिला दिया जाता है। इस कार्य को करते समय ही 'अश्विभ्यां पच्यस्व' मन्त्र का पाठ किया जाता है। साथ ही मन्त्र के उत्तरार्ध से वपामार्जनान्त कर्म कर लेने के बाद दर्भ की सहायता से किसी पात्र में सुरा को छाना जाता है। इसो को परिस्रुत् कहा जाता है। यहाँ बहुत संक्षेप में इस विषय का निरूपण हुआ है। इसका विस्तार आगे किया गया है। अगले मन्त्र से उस परिस्रुत् सुरा में बदरी फल के चूर्ण को मिला कर उसे प्रत्येक देवता के लिये वैकंकत पात्र में भरा जाता है। आगे के दो मन्त्र (३३-३४) सुराग्रहों के ग्रहण के याज्या और अनुवाक्या में विनियुक्त हैं। इनमें प्रथम अनुयाज्या और द्वितीय याज्या मन्त्र है।

पृ० ३०९ पर शतपथ के प्रमाण से पार्थ हवियों का विश्लेषण करते समय मनुष्यों के प्रथम अभिषिक्त राजा वैन्यपुत्र पृथु की कथा वर्णित है। पृ० ३२६ पर नमुचि का आख्यान दिया गया है। इन्द्र ने सीसे की सहायता से नमुचि पर प्रहार किया था। इसी प्रहार के कारण सीसा नरम पड़ गया और सार भाग के निकल जाने के कारण उसकी कीमत घट गई। यहाँ भाष्यकार ने दूरबीक्षण आदि में प्रयुक्त होने पर यह बहुमूल्य कैसे हो जाता है? इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि यह उसके परिष्कार को पद्धति का माहात्म्य है। पृ० ३३९-३४० में राजसूय यज्ञ में अभिषिच्यमान वरुण का बल कैसे नष्ट हो गया और इन्द्र की सहायता से वह उसे किस प्रकार पुनः प्राप्त कर सका, इसका आख्यान वर्णित है। यहाँ शतपथ में बताया गया है कि 'अर्जुन' इन्द्र का अतिप्रिय नाम है। यह प्रसंग हमें महाभारत की कथा की याद दिलाता है। पृ० ३४६ पर बताया गया है कि अभिषिक्त राजा को देख कर पृथिवी डरने लगती है। उसे भयमुक्त करने के लिये राजा को प्रस्तुत मन्त्र की सहायता से पृथिवी की माता के रूप में स्तुति करनी चाहिये। पृ० ३६२ पर वरुण की कथा का पुनः उल्लेख है और पृ० ३६९ पर नमुचि का उपाख्यान वर्णित है कि उसने कैसे इन्द्र के बल का अपहरण कर लिया और अश्विनीकुमारों ने उसकी किस प्रकार रक्षा की।

स्वामी दयानन्द १० वें अध्याय के पहले मन्त्र में स्थित मित्रावरुण शब्द का अर्थ प्राण और अपान करते हैं। स्पष्ट है कि वे यहाँ मित्रावरुण को देवता न मानने के उद्देश्य से ऐसा कर रहे हैं, किन्तु भाष्यकार ने उनके अर्थ की असंगति पर यहाँ हृद्य प्रकाश डाला है। वेद का लोकायतीकरण, श्रुतिसूत्रविरोध जैसे दयानन्द भाष्य पर किये जाने वाले आक्षेपों का यहाँ (पृ० ३१८-३१९) पुनः स्मरण कराया गया है और वेद की अनधिगतार्थ-बोधकता का भी उल्लेख किया गया है। कात्यायन श्रौतसूत्र की रचना शतपथ ब्राह्मण के आधार पर ही हुई है। तब भी स्वामी दयानन्द शतपथ के समर्थन और कात्यायन श्रौतसूत्र के खण्डन में लगे रहते हैं। १० वें मन्त्र के उनके भाष्य को केवल प्रलापमात्र ही नहीं, केवल मूर्खजनप्रतारक ही नहीं, किन्तु अपने आपको भी धोखे में रखने जैसा बताया है। पृ० ३२६-३२७ पर बताया गया है कि रथन्तर, बृहत् आदि सामों का और त्रिवृत्, पंचदश आदि स्तोमों का लक्षण ताण्ड्य महाब्राह्मण में निर्दिष्ट है। इनका स्वामी दयानन्द को ज्ञान ही नहीं है। चार्वाक जैसा दृष्टिकोण होने से इनके यहाँ ऊर्ध्वलोक की भी कोई स्थिति नहीं है। 'दशहस्ता हरीतकी' न्याय इन पर पूरी तरह से लागू होता है। १९ वें मन्त्र में ये विमान, नौका आदि के निर्माण की विधि बताते हैं, किन्तु मन्त्र में अथवा उनके भाष्य में भी कहे शब्दों के आधार पर कोई भी इनके निर्माण में समर्थ नहीं हो सकता। २३ वें मन्त्र में आये स्वाहा पदों का ये अलग-अलग अर्थ करते हैं, किन्तु ऐसा करते समय वे कोई प्रमाण नहीं देते। २६ वें मन्त्र में भी शतपथ के अनुसार आसन्दी को संबोधित किया गया है। ये आसन्दी का अर्थ रानी करते हैं, किन्तु इसमें कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते। ३२ वें मन्त्र की व्याख्या में इन पर कल्पनाबाहुल्य का आक्षेप किया गया है। ३३ वें मन्त्र में इन पर वेद के लोकायतीकरण का आक्षेप पुनः दोहराया गया है और कहा गया है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से असिद्ध अर्थ को बताने में ही वेद की सार्थकता है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र की व्याख्या में इन पर पूर्वापरविरोध का आक्षेप किया गया है और कहा गया है कि बिना प्रयोजन के मुख्यार्थ के त्याग में कोई प्रमाण नहीं है। फिर स्वामी दयानन्द वेद से जिस अर्थ का प्रतिपादन करना चाहते हैं, वह तो लौकिक नीतिशास्त्र आदि से ही ज्ञात हो जाता है, तब इन विषयों के प्रतिपादन में वेद की प्रवृत्ति कैसे मानी जा सकती है।

आध्यात्मिक अर्थ करते समय सर्वत्र उपनिषद्, भगवद्गीता, ब्रह्मसूत्र, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पातंजल योगसूत्र, विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, शिवपुराण, दुर्गासप्तशती आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त धर्मशास्त्र के अनेक ग्रन्थों को और कोश ग्रन्थों को भी उद्धृत किया गया है। निघण्टु-निरुक्त और व्याकरण प्रक्रिया का भी इसमें सहारा

लिया गया है। इस विषय की चर्चा ११-१५ अध्यायों के भाष्यनिष्कर्ष में भी की जा चुकी है। यहाँ बार-बार (पृ० २६०, २९६, ३१५) भक्त के लिये "अमृतस्य पुत्राः" (१०।१३।१) इस ऋग्वेदीय मन्त्र को उद्धृत किया गया है, आचार्य की महिमा गाई गई है (पृ० ३२८) और सारे शिवभक्तों को बान्धव और तीनों भुवनों को स्वदेश बताया गया है (पृ० ३६१)। जीव और परमेश्वर का साजात्य, सरूप, सादेश्य, सायुज्य संबन्ध भी दर्शाया गया है (पृ० ३६६)।

विकंकत वृक्ष की व्युत्पत्ति बताते समय अमरकोश की रामाश्रमी टीका में 'कठेर इति भाषायाम्' दिया गया है। मध्यप्रदेश के एक विद्वान् ने बताया है कि वहाँ कठेर नाम का वृक्ष आज भी उपलब्ध है। 'शब्दकल्पद्रुम' में मिलता है कि यह बदरीसदृश सूक्ष्म फल वाला वृक्ष है। भाषा में यह 'बंइच' के नाम से जाना जाता है। बंगला विश्वकोश के हिन्दी संस्करण में इसका परिचय इस प्रकार दिया गया है—बदरीसदृश सूक्ष्म फल वाला वृक्ष, एक प्रकार का जंगली पेड़। इसे कंटाई, किंकिणी और कंज भी कहते हैं। इस वृक्ष के पत्ते छोटे-छोटे और डालियों में कांटे होते हैं। इसके फल पकने पर मीठे और अधपके खट-मीठे होते हैं। यज्ञ के लिये स्रुवा इसकी लकड़ी से ही बनाया जाता है। अमरकोश में इसके पर्यायवाची शब्दों में 'स्रुवावृक्षः' भी दिया गया है।

७.३ के भाष्य में "वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु" मन्त्र उद्धृत है। इसका स्थाननिर्देश यहाँ सही नहीं है। वस्तुतः यह वचन आठवें अध्याय के ३७ वें मन्त्र का अंश है।

इस प्रकार प्रस्तुत भाष्यनिष्कर्ष में हमने प्रथम अध्याय से लेकर ३९ वें अध्याय तक के भाष्य में निर्दिष्ट अनेक विशेष विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। कुछ छूटे हुए विषयों को हम यहाँ एक साथ प्रस्तुत करना चाहते हैं। चतुर्थ अध्याय के पयोव्रतग्रहण के प्रकरण में (११-१६) हमें आत्मयजन की छवि देखने को मिलती है। प्रथम और द्वितीय अध्याय के वचनों को उद्धृत कर ऊपर हमने बताया है कि यजमान अनुष्ठान के प्रारम्भ में कैसे मनुष्यभाव से देवभाव को तथा अनुष्ठान की समाप्ति पर पुनः मनुष्य भाव को प्राप्त कर लेता है। ठीक उसी तरह की प्रक्रिया पयोव्रत ग्रहण की भी प्रतीत होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी बताया गया है कि देवगण उससे दूर हो जाते हैं, जो देवताओं को अपने से भिन्न मानता है। इसका अभिप्राय यही है कि आत्मयाजी को सर्वप्रथम अपने संकल्प को दृढ़ करना चाहिये कि मैं स्वयं देवभाव से सम्पन्न हूँ। ऋग्वेद (१०।१३।१) में मानव को अमृत का पुत्र बताया है। इस विषय की चर्चा अभी हमने ऊपर की है।

सातवें अध्याय के ४५ वें मन्त्र के 'चन्द्रदक्षिणा' पद की व्याख्या करते समय शतपथ ब्राह्मण के "आत्रेयाय हिरण्यं ददाति" वाक्य को उद्धृत कर अत्रि ऋषि की चर्चा की गई है। यहाँ बताया गया है कि अत्रि गोत्र के ब्राह्मण को चन्द्र (सुवर्ण) की दक्षिणा दी जानी चाहिये। इस प्रसंग में हमें रघुवंश का यह श्लोक याद आता है—"अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः" (२।७५)। यहाँ चन्द्र को अत्रि ऋषि के नयनों की ज्योति से उत्पन्न बताया गया है। टीकाकार मल्लिनाथ ने इस प्रसंग में हरिवंश को उद्धृत किया है। निघण्टु में हिरण्य के पर्यायों में चन्द्र का भी उल्लेख है। नायन (नेत्रगत) रश्मियों की और हिरण्य की तैजसता प्रसिद्ध ही है। हमें ऐसा लगता है कि चन्द्र, आत्रेय इत्यादि पद यहाँ इस पौराणिक कथा का संकेत दे रहे हैं।

दसवें अध्याय के पचीसवें मन्त्र के भाष्य (पृ० ३४८) में शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से बताया गया है कि रथ से उतरते समय यजमान के साथ सारथि को नहीं उतरना चाहिये, क्योंकि अनुष्ठान का फल यजमान को ही मिलेगा, सारथि को नहीं। पंचचितिक चयन याग की प्रक्रिया ११-१८ अध्यायों में वर्णित है। यहाँ अनेक स्थानों पर (११।१, १३।४१

इत्यादि) पाँच पशुओं का विधान है। इस विधान की प्रक्रिया बंगाल की काली उपासना में प्रचलित पंचमुण्डी आसन की प्रक्रिया से मिलती-जुलती है। इस प्रकरण की तुलनात्मक समीक्षा अपेक्षित है।

११ वें अध्याय के ही ६६ वें मन्त्र (पृ० ८९) के भाष्य में तथा अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर मन्त्र और तन्त्र शब्दों का एक साथ प्रयोग मिलता है। ऐसा लगता है कि ऐसे स्थलों पर मन्त्र में संक्षेप में कर्मकाण्डपरक पद्धति की मात्र सूचना रहती है और उसकी विस्तार से व्याख्या करना ही, उसकी प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से समझाना ही तन्त्र की विषयवस्तु है।

१२ वें अध्याय के तीसरे मन्त्र के भाष्य (पृ० ११८) में षडुद्याम शिक्य की छः दिशाओं से तुलना की गई है। बौद्ध विद्वान् वसुबन्धु के—"षट्केन युगपद् योगात् परमाणोः षडंशता" (विंशिका १२) इस वाक्य में भी छः दिशाओं के रूप में इन्हीं का उल्लेख है।

१३ वें अध्याय के नवें मन्त्र के भाष्य (पृ० २६०) में प्रतिसर शब्द का अर्थ "राक्षसों का नाश करने वाले अग्निदेवताक मन्त्र" किया गया है। यह शब्द अतिव्यापक है और इसके अर्थ में भी परिवर्तन हो गया है। बौद्ध तन्त्रों में भी इसका विधान मिलता है। वहाँ प्रतिसरा[३७] को रक्षा की देवी मान कर उसकी स्तुति की गई है। प्रतिसरा-स्तोत्र, प्रतिसराकल्पधारिणी, प्रतिसरास्तुति, महाप्रतिसरास्तोत्र, महाप्रतिसराधारिणी आदि स्तोत्र और धारणियाँ बौद्ध साहित्य में उपलब्ध हैं। इसी प्रसंग में यह भी अवधेय है कि वैदिक वसोर्धारा को भी वसुधारा देवी का रूप यहाँ दे दिया गया है। ईशानशिवगुरुदेवपद्धति (भा० २, पृ० ११३-११९) में भी इसका विधान देखा जा सकता है।

२८ वें अध्याय के १६ वें मन्त्र का अंश है—"सग्धि सपीतिमन्या"। यहाँ सग्धि और सपीति शब्द प्रयुक्त हैं। भाष्यकारों ने इन शब्दों का जो अर्थ दिया है, प्रायः उसी अर्थ में विज्ञानभैरव के एक श्लोक में जग्धि और पान शब्द प्रयुक्त हुए हैं (श्लो० ७१)। इतना अवश्य हुआ है कि इनके साथ वहाँ कौलिक प्रक्रिया भी जुड़ गई है। इसी श्लोक में उल्लास और रस शब्द भी प्रयुक्त हैं और विष्णुपुराण (१।६।१६) में रसोल्लास आदि आठ सिद्धियों का उल्लेख है। सहजसिद्धि के रूप में इनका यहाँ वर्णन है और टिप्पणीकार ने स्कन्दपुराण के प्रमाण से इन आठ सिद्धियों का लक्षण बताया है। परस्पर अनुस्यूत न होते हुए भी इनमें हमें एक अनोखी क्रमबद्धता दिखाई पड़ती है।

---

३७. प्रतिसर शब्द की चर्चा पहले (पृ० ३८) आ चुकी है। प्रतिसरा अथवा प्रतिसर शब्द का प्रयोग काव्य, नाटक आदि में भी मिलता है। भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण में यौगन्धरायण प्रतिहारी से कहता है—"त्वर्यतां लेखः **प्रतिसरा** च" (पृ० ८, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण)। भाषान्तरकार डॉ० सुषमा पाण्डेय ने यहाँ टिप्पणी की है कि कुछ विशिष्ट पदार्थों को अभिमन्त्रित कर उनसे युक्त रक्षासूत्र को प्रतिसरा कहते हैं। युद्ध या यात्रा के समय सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा या उनका स्पर्श करा कर ब्राह्मणों द्वारा यह पहनाया जाता था। यह घोड़े, हाथी या पैदल सेना के लिये पृथक्-पृथक् होता था। इस संबन्ध में बृहत्संहिता का ४३ वाँ अध्याय देखना चाहिये। घोड़ों की प्रतिसरा के लिये वहाँ कहा है—

प्रतिसरया तुरगाणां भल्लातकशालिकुष्ठसिद्धार्थाः।
कण्ठेषु निबध्नीयाः .... ॥

विवाह के अवसर पर बाँधे जाने वाले कौतुकसूत्र के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य में मिलता है—"विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः स्रस्तोरग**प्रतिसरेण** करेण पाणिः" (५।३३)।

इस प्रकार यथामति हमने इस महान् भाष्य के निष्कर्षों को अतिसंक्षेप में प्रस्तुत करने का यह लघु प्रयास किया है। यह प्रयास उसी प्रकार का है, जिसकी कि चर्चा रघुवंश के प्रारम्भ में महाकवि कालिदास ने की है, क्योंकि इस प्रस्तुति का प्रमुख आधार यह महनीय भाष्य ही रहा है। इस गरिमामय भाष्य की अतिविस्तृत भूमिका का भाषानुवाद करने तथा प्रथम और अन्तिम अध्यायों को छोड़ शेष पूरे भाष्य का सविधि सम्पादन करने में स्वामी करपात्री जी महाराज और इस कार्य के लिये प्रेरित करने वाले पुरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्री निरंजनदेव तीर्थ जी महाराज के प्रति श्रद्धा और श्रेष्ठिप्रवर श्री हनुमानप्रसाद जी धानुका की इस ग्रन्थ को शीघ्र प्रकाशित करा देने की आतुरता ने हमें प्रवृत्त किया था। इस कार्य को पूरा होते देख आज हमें परम सन्तोष की अनुभूति हो रही है। हमारी इस अनुभूति में श्रेष्ठिप्रवर श्री धानुका जी का भी समान भाग है। काल की विकरालता से ये चिन्तित अवश्य रहे हैं, किन्तु विपरीत परिस्थितियों में भी पूरे धैर्य और दृढ निश्चय के साथ इस शुभ कार्य को शीघ्र पूरा करा देने का इनका अध्यवसाय सराहनीय रहा है।

भाष्य का सम्पादन करते समय हमने प्रेस की सुविधा की दृष्टि से पूरी प्रेसकापी में यथास्थान अनुच्छेदों और पदच्छेदों का संयोजन तथा अन्य आवश्यक संशोधन किये हैं। श्रुति, स्मृति, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, शिवपुराण आदि के उद्धरणों का स्थलनिर्देश अनेक स्थानों पर नहीं हो पाया था। इस कार्य को पूरा करने का भरसक प्रयत्न किया गया है, तो भी कुछ वचनों का स्थलनिर्देश हम नहीं कर पाये हैं। इसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र के वचनों का स्थलनिर्देश पद्मभूषण पं० पट्टाभिराम शास्त्री जी के दिल्ली से प्रकाशित संस्करण के अनुसार हुआ है। शतपथ ब्राह्मण और सायण भाष्य, पाणिनि अष्टाध्यायी, भगवद्गीता, मनुस्मृति और उपनिषदों के सभी निर्दिष्ट स्थलों का एक बार पुनः परीक्षण कर उनमें भी यथास्थान संशोधन किया गया है। पूरे प्रयत्न के बाद भी संस्करण में कुछ त्रुटियाँ रह ही गई हैं। भाष्यनिष्कर्ष में इनमें से कुछ के परिमार्जन का प्रयत्न किया गया है। स्वाभाविक रूप से अभी अन्य त्रुटियाँ भी बची रह गई होंगी। विद्वानों से निवेदन है कि वे इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करायेंगे, जिससे कि भविष्य में उनका परिशोधन किया जा सके।

स्वामी करपात्री जी महाराज ने अपने सहायक विद्वानों की सूचना स्वयं भाष्य के प्रारम्भ में दे दी है। अन्यविध सहायकों की नामावली प्रकाशकीय वक्तव्य में दी गई है। इस भाष्य के परिशुद्ध संस्करण के लिये हमारे ज्येष्ठभ्रातृकल्प पं० श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय जी ने पूरा सहयोग दिया है। इनके प्रति हम अपना आभार प्रकट करते हैं। हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रवाचक और वेदविद्या की सेवा के लिये काशी में ही नहीं, पूरे देश में प्रख्यात विद्वत्कुल के सदस्य डॉ० श्रीकिशोर मिश्र जी ने हमारे विशेष आग्रह पर ४-१० अध्यायों का भाष्यसार लिखा। इसके लिये हम उनकी सर्वविध उन्नति की कामना करते हैं। भगवान् ज्ञानगुरु विश्वेश्वर से प्रार्थना है कि वे इसी प्रकार दत्तचित्त हो वेदविद्या की रक्षा और उन्नति के लिये निरन्तर क्रियाशील रहें। मुद्रण कार्य में सर्वविध सुविधा प्रदान कराने और इस बीच आये विघ्नों को दूर करने में श्री धानुका जी के सुयोग्य मुनीम श्री गिरिराजप्रसाद जी अग्रवाल का अपूर्व सहयोग रहा है। केशव मुद्रणालय के मालिक श्री मोहनलाल जी ने पूरे मनोयोग से इस कार्य को पूरा करने का संकल्प न लिया होता, तो अभी इस महनीय भाष्य के प्रकाशन में और भी विलम्ब होता। भाष्य के मुद्रण का कार्य तारा प्रेस, रत्ना प्रेस और आनन्द मुद्रणालय में भी थोड़ा-बहुत हुआ था। हम इन सबके प्रति अपनी शुभ कामना प्रकट करते हैं॥

फाल्गुन पूर्णिमा, संवत् २०४९ वाराणसी।

विद्वद्वशंवद
व्रजवल्लभ द्विवेदी

विषय-सूची

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

कण्डिका संख्या — पृष्ठ संख्या

कण्डिका संख्या | पृष्ठ संख्या

राजसूय याग

दशम अध्याय

कण्डिका संख्या | पृष्ठ संख्या

राजसूयगत चरक सौत्रामणी के मन्त्र

●

सप्तमोऽध्यायः

पूर्वोक्ते षष्ठेऽध्याये यूपसंस्कारादिसोमाभिषवपर्यन्ता मन्त्रा व्याख्याताः। अथ सप्तमेऽध्याये ग्रहग्रहणमन्त्रा व्याख्यायन्ते। 'उपा७शुं च गृह्णाति वाचस्पतये देवो देवेभ्यो मधुमतीरिति' (का० श्रौ० ९।४।२०)। सूत्रेऽत्र मन्त्रत्रयस्य प्रतीकोपादानात् निग्राभवाचनानन्तरं त्रिभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमेकैकेन मन्त्रेणोपांशुसंज्ञकं ग्रहं गृह्णीयाद् एकैकेन मन्त्रेण प्रतिवर्गं तृतीयांशं गृह्णीयात्। अष्टकृत्वः प्रहृत्य वाचस्पतय इति, एकादशकृत्वः प्रहृत्य देव इति, द्वादशकृत्वः प्रहृत्य मध्विति। अयमुपांशुग्रहोऽन्तर्यामग्रहश्चाग्रे वक्ष्यमाणोऽधाराग्रहः। ऐन्द्रवायवग्रहस्तु धाराग्रहः। सोमयागे हि द्विप्रकारो ग्रहः—अधाराग्रहः, धाराग्रहश्च। तत्र दशापवित्रेऽभिषुतान् सोमान्निक्षिप्य तत्र जले प्रक्षिप्ते ततो या धारा सोमरसस्य प्रवहति, तया धारया येषां ग्रहणं ते धाराग्रहाः, यस्य तु धारामन्तरा अंशून्निक्षिप्य तत्रैव जलक्षेपणं सोऽधाराग्रहः। इमौ चोपांश्वन्तर्यामग्रहौ अधाराग्रहौ। अतोऽत्रांशूनामेव ग्रहणं न रसस्य। प्राणदैवत्या विराट्। नववैराजत्रयोदशैर्नष्टरूपस्येतिलक्षणान्नष्टरूपा विराट्। प्रथमोऽष्टार्णस्तेनैकोना। पूर्वोत्तरार्धयोरुपांशुग्रहस्य प्रथमद्वितीयग्रहयोः क्रमेण विनियोगः।

वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अ७शुभ्यां गभस्तिपूतः।
देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि ॥ १ ॥

मन्त्रार्थस्तु—हे सोम, पतये पालकदेवार्थं वाचो वाचा, विभक्तिव्यत्ययः, मन्त्रेण वाचःसम्बन्धिना मन्त्रेण वा, पवस्व शुद्धो भव। कीदृशस्त्वम्? वृष्णो वर्षितुस्तव सम्बन्धिभ्यामंशुभ्यां पूतः। तौ हि तत्र क्षिप्येते। तथा गभस्तिपूतः 'पाणी वै गभस्ती' (श० ४।१।१।९)। अध्वर्योर्गभस्तिभ्यां पाणिभ्यां च पूतः। समासगतः पूतशब्दो विच्छिद्यांशुभ्यामित्यनेनापि योज्यः। उव्वटाचार्यस्तु 'प्राणो वै वाचस्पतिः' (श० ४।१।१।९) इति श्रुत्यनुसारेण हे सोम, वाचस्पतये प्राणाय त्वं पवस्व। पवनं देवतार्था प्रवृत्तिरित्याह। 'पव गतौ' इति धातोः। यस्त्वं वृष्णोऽभीष्टवर्षणशीलस्य सोमस्यांशुभ्यामध्वर्योश्च गभस्तिभ्यां पूत इत्याह। द्वितीयं गृह्णाति हे सोम, देवः सन् देवेभ्योऽर्थाय पवस्व प्रवृत्तिं कुरु। नह्यदेवो देवांस्तर्पयितुमलम्। केषां देवानाम्? येषां त्वं भागोऽसि, तेभ्यो देवेभ्यो दीप्यमानः सन् पवस्वेत्यर्थः। शतपथे 'प्राणो ह वा अस्योपा७शुर्व्यान उपा७शुसवन उदान एवान्तर्यामः' (श० ४।१।१।१)। तत्रादौ प्रातःसवनीयाः षोडश ग्रहाः। तत्रायमुपांशुग्रहः। अस्य सोमयागस्य सकलस्य

मन्त्रार्थ— हे सोम! सम्पूर्ण कामनाओं को पूरा करने वाले तुम हमारे हाथों से पवित्र हुए प्राणों की प्रीति के लिये इस पात्र में बैठो। हे सोमदेवता स्वरूप! तुम देवताओं की प्रीति के निमित्त इस पात्र में बैठो और देवताओं के भाग बनो ॥ १ ॥

भाष्यसार—पूर्वोक्त छठे अध्याय में यूपसंस्कार से प्रारम्भ करके सोमाभिषव तक के मन्त्रों की व्याख्या की गई है। सातवें अध्याय में ग्रह-ग्रहण के मन्त्रों की व्याख्या की जा रही है। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।२१-२५) में वर्णित याज्ञिक

वा लोकस्यादौ गृह्यमाण उपांशुग्रहः प्राणः प्राणत्वेन प्रसिद्धः, 'प्राणो वा एष यदुपांशुः' (तै० सं० ६।४।५) इति श्रुतेः । उपांशुसहचारिण उपांशुसवनस्याऽन्तर्यामस्य च व्यानोदानतामाह—'व्यान उपांशुसवन उदानोऽन्तर्यामः' इति । कात्यायनोऽपि—'उपांशुसवनं पाणिना प्रमृज्योदञ्चं व्यानाय त्वेति संस्पृष्टमुपविष्टयोरभिषुण्वन्ति चत्वारः पर्युपवेशनसामर्थ्यात्' (का० श्रौ० ९।४।३७), तथा (का० श्रौ० ९।५।१) । उपांशुसवनाख्ये पाषाणे लग्नमृजीषादिकं हस्तेनाधः पातयित्वा उदङ्मुखमुपांशुपात्रलग्नमेव तं सादयेत्, व्यानाय त्वेति मुखं चास्य येनाभिषवः कृतः, उपांशुग्रहं हुत्वाऽधिषवणफलकसमीपेऽध्वर्युयजमानयोरुपवेशनानन्तरमध्वर्युप्रतिप्रस्थातृनेष्टृन्नेतारः सोमाभिषवं कुर्वन्ति, 'अधिषवणे पर्युपविशन्ति' (का० श्रौ० ९।४।१) इत्यत्र परित उपविशन्तीति चतसृषु दिक्षूपवेशनविधानसामर्थ्यात् ।

'अथ यस्मादुपाꣳशुर्नाम । अꣳशुर्वै नाम ग्रहः स प्रजापतिस्तस्यैष प्राणस्तद्यदस्यैष प्राणस्तस्मादुपाꣳशुर्नाम' (श० ४।१।१।२) उपांशोः प्राणत्वं प्रश्नपूर्वकमुपांशुव्युत्पत्त्यापि समर्थयते—अथ यस्मादिति । गृह्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या ग्रहो दारुमयं पात्रमंशुनामकम् । तस्य यज्ञसाधनत्वेन तस्मिन् यज्ञत्वोपचाराद् यज्ञस्य च 'यज्ञो वै प्रजापतिः' (तै० ब्रा० १।३।१०) इति श्रुत्या प्रजापतित्वात् स ग्रहः प्रजापतिः । तस्य प्रजापतिरूपस्य ग्रहस्य प्राणवतश्चरति तेनैष सोमरसः प्राणः । तत्सोमरसात्मकं द्रव्यं यस्मादस्यांशुग्रहात्मकप्रजापतेरेष उक्तोपपादनः प्राणस्तस्मादुपगतोऽशुमिति विगृह्य (पा० सू० १।४।७९) इति स्थलीयेन 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति वार्त्तिकेन द्वितीयासमासः । यद्वा अंशुं गृह्णातीति विहितः सोमग्रहोंऽशुः । स चानिरुक्तया प्राजापत्यया गृह्यत इति प्रजापत्यात्मकः । तं प्राणरूपेणोपगतो ग्रह उपांशुग्रहः । 'तं बहिष्पवित्राद् गृह्णाति पराञ्चमेवास्मिन्नेतत् प्राणं दधाति सोऽस्यायं पराङेव प्राणो निरर्दति तमꣳशुभिः पावयति पूतो सदिति षड्भिः पावयति षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवैनमेतत् पावयति' (श० ४।१।१।३) । सोमात्मकस्य प्राणस्य गुणविशिष्टं ग्रहणं विधत्ते—तं बहिष्पवित्राद् गृह्णातीति । तं प्रकृतं प्राणात्मकं सोमरसं पवित्राद् दशापवित्राद् बहिः पृथक् पवित्रमन्तरेण गृह्णाति । अविधानादर्थसिद्धः पवित्रविरहो नान्तरिक्षे चिनोतीतिवन्नित्यप्राप्तोऽनूद्यते । पवित्रविरहस्य प्रयोजनमाह पराञ्चमेवास्मिन्नेतत् प्राणं दधातीति । एतदिति निधानक्रियाया विशेषणम् । तस्याश्चाख्याताभिधेयां भावनां प्रति कर्मत्वादेतदिति तद्विशेषणे द्वितीया । अस्मिन् ग्रहाख्ये प्रजापतौ बहिः सुखसञ्चारक्षमप्राणकर्मकमेतन्निधानं करोति । एवं चास्य प्रजापतेरेतत्सृष्टतया वा तदात्मकस्य सकललोकस्य सोऽयं परिदृश्यमानः प्राणो बहिरपि निरर्दति निर्गच्छत्येव । 'अर्द गतौ याचने च' । ततश्च श्वासप्रश्वासप्रतिबन्धो न कदाचिद् भवति । पवनसाधनदशापवित्राद् बहिस्त्वे विहितं ग्रहणमपूतस्यैव स्यात्, तथा मा भूदिति पावनमंशुकरणकं विधत्ते—तमंशुभिः पावयतीति । पूतोऽसदिति । इकारलोपः (पा० सू० ३।४।९७), 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमः । पूतो भवतीत्यर्थः । बिलस्योपरि अंशुं निधाय तत्र रसावनयनेन तं रसं शोधयेदित्यर्थः । अतीतानामंशूनां विनियोगासम्भवादर्थसिद्धमादानमिति ब्राह्मणे न पृथग्विहितम् । विस्पष्टीकरणार्थं तु सूत्रकारेण 'प्रतिप्रस्थाताꣳशून् षडादत्ते' इत्युक्तम् 'षडार्द्रानंशून् संश्लिष्टानादाय चर्मणि निधाय' इत्यापस्तम्बश्रौतसूत्रात् । अंशुभिरित्युक्तस्य बहुत्वसामान्यस्य तद्विशेषे पर्यवसानमाह—षड्भिः पावयतीति । अंशूनां विहिता षट्त्वसंख्या स्तूयत ऋतुत्वसम्पादनेन—षड्वा ऋतव इति । सोमरसकर्मकमेतत् पावनमृतुरूपैरेवांशुभिः कृतवान् भवेदित्यर्थः । आत्तानां षण्णामंशूनां मध्ये वक्ष्यमाणेषूपांशुग्रहणपर्यायेषु त्रिष्वप्येकैकस्मिन् पर्याये द्वौ द्वावंशून् ग्रहबिले निदध्यात् । तदाह कात्यायनः—'आत्तानां च द्वौ

प्रक्रिया के अनुसार 'वाचस्पतये पवस्व' इत्यादि तीन मन्त्रों के द्वारा उपांशु नामक ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह उपांशु

द्वावन्तर्दधाति ग्रहणभेदात्' (का० श्रौ० ९।४।२२)। 'मन्त्रलिङ्गाच्च' (का० श्रौ० ९।५।२३)। ग्रहणपर्यायाणां त्रित्वाद् वृष्णो अंशुभ्यामिति (वा० सं० ७।१) ग्रहणमन्त्रगतद्विवचनलिङ्गाच्च। अस्मिन् पक्षे पर्यायत्रयसंख्यां संकलय्य षड्भिरिति ब्राह्मणे षट्त्वं द्रष्टव्यम्। 'अंशुभ्या७ ह्येनं पावयति' इति मन्त्रव्याख्यानब्राह्मणगतां-शुद्वित्वपरामर्शादपि षड्भिरिति बहुवचनं सङ्कलनाभिप्रायमेवेति निगम्यते। एकैकस्मिन् ग्रहणपर्यायेंऽशुषट्क-विधिपरं षड्भिः पावयतीति ब्राह्मणवाक्यमिति मत्वा कात्यायनेनोक्तम्—'षड्वा श्रुतिसामर्थ्यात्' (का० श्रौ० ९।४।२४)। 'अंशुभ्याम्' (वा० सं० ७।१) इति हि मन्त्रे द्विवचने लिङ्गम्, अंशुभ्यां ह्येनं पावयतीति तद् व्याख्यानं ब्राह्मणवाक्यं च मन्त्रार्थाविष्करणमात्रपरम्, न तु द्वित्वविधिपरम्! हीति प्रसिद्धिर्मन्त्राभिप्राय-विवक्षयैव। इत्थं मन्त्रलिङ्गाद् द्वित्वम्, षड्भिरिति विधिश्रुत्या तु बहुत्वम्। श्रुतिश्च लिङ्गाद्बलीयसी। यथा 'कदाचन स्तरीरसि' (वा० सं० ३।३४) इति ऐन्द्री ऋक् 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति कात्यायनस्याभिप्रायः।

'तदाहुः। यद७शुभिरुपा७शुं पुनाति सर्वे सोमाः पवित्रपूता अथ केनास्या७शवः पूता भवन्तीति (श० ४।१।१।४)। आत्तानामंशूनां पुनरपि सोमे योजनविधानाय याज्ञिकानां जिज्ञासामवतारयति - तदाहुरिति। तत् तस्मिन्नंशुविषये आहुर्जिज्ञासन्ते यद् यस्मात् कारणादुपांशुसोमरसः षड्भिरंशुभिः पूयते, अन्यतर्यामादिसोमास्तु दशापवित्रेण पूयन्ते, न तृतीयं पावनसाधनमस्ति। अत एतेंऽशवः केन पूयन्ते? उक्तप्रश्नस्योत्तरत्वेन समन्त्र-कमुपनिवापं विदधाति—'तानुपनिवपति यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहेति तदस्य स्वाहाकारेणैवा७शवः पूता भवन्ति सर्वं वा एष ग्रहः सर्वेषा७ हि सवनाना७ रूपम्' (श० ४।१।१।५)। षडंशूनन्तर्यामाद्यर्थे सन्निहिते सोमे यत्त इति मन्त्रेण क्षिपतीत्यर्थः। हे सोम, त्वदीयं यन्नाम शत्रुभिरदाभ्य-मतिरस्कार्यम्, जागृवि जागरूकम्, हे सोम! तस्मै सोमाय ते तादृक् सोमनामधारिणे तुभ्यमिदं सोमांशुद्रव्यं स्वाहा स्वाहुतमस्त्विति। क्षेपे च सति तैरेवान्तर्यामादिसोमैः सह प्रक्षिप्तानामंशूनामपि वसतीवरीसंसर्गोऽभिषवणे दशापवित्रेण पवनमिति संस्कारा भविष्यन्ति। तदेवाह—तदस्य स्वाहाकारेणैवांशवः पूता भवन्तीति। तत् तथा सत्यस्योपांशोरन्तर्धानार्था अंशवोऽपि स्वाहेति क्रियते यस्मिन् प्रक्षेपे तेन प्रक्षेपेण पूता भवन्तीति योजना। उपांशोरन्तर्धानाय पृथगात्तानामंशूनां सवनत्रयसम्बन्धिनि सोमे पुनः प्रक्षेपे हेतुमाह—सर्वं वा। अयं ग्रहः सकल-सोमयागात्मकः, यतः सवनत्रयरूपमिह दृश्यते। अतः सवनत्रयात्मकैतद्ग्रहसम्बन्धिनामंशूनां सवनत्रयसम्बन्धिनि सोमे योजनमुचितमिति भावः। अस्य ग्रहस्य सवनत्रयात्मकत्वमभिषवविधिब्राह्मणे स्पष्टम्। 'देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। ते असुरराक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्ते होचुः स७स्थापयाम यज्ञं यदि नोऽसुरराक्षसान्यासजेयुः स७स्थित एव नो यज्ञः स्यादिति' (श० ४।१।१।६)। उपांशुग्रहस्य सवनत्रयात्मकत्वं प्रातःसवनस्य सवन-त्रयात्मकत्वनिदर्शनेन द्रढयितुमाख्यायिकामाह - देवा इति। 'आ सायमनुष्ठीयमाने यज्ञे असुरा राक्षसा ज्ञात्वा आसक्ताः सन्तो जघ्नुः। 'ते प्रातःसवन एव सर्वं यज्ञ७ समस्थापयन्नेतस्मिन्नेव ग्रहे यजुष्टः प्रथमे शस्त्र ऋक्तस्तेन स७स्थितेनैवात ऊर्ध्वं यज्ञेनाचरन् स एषोऽप्येतर्हि यज्ञः सन्तिष्ठत एतस्मिन्नेव ग्रहे यजुष्टः प्रथमे स्तोत्रे सामतः प्रथमे शस्त्रे ऋक्तस्तेन स७स्थितेनैवात ऊर्ध्वं यज्ञेन चरति' (श० ४।१।१।७)। प्रातःसवनत्रयात्मकं यज्ञं समस्थापयन्। ऋग्यजुःसाममन्त्रैर्हि सवनत्रयात्मकं कर्म सम्पद्यते। अतः प्रातःसवने उपांशुग्रहगतयजुर्मन्त्रैरेव

ग्रह तथा आगे उल्लिखित किया जाने वाला अन्तर्याम ग्रह ये दोनों अधाराग्रह हैं। ऐन्द्रवायव ग्रह तो धाराग्रह है। सोमयाग में दो प्रकार के ग्रह होते हैं—अधाराग्रह तथा धाराग्रह। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

यजुष्ट्वाविशेषात् सवनान्तरवर्तियजुःसाध्यमपि कर्म सम्पन्नम् । एवं प्रथमस्तोत्रशस्त्रगताभ्यामृक्सामाभ्यामिति संग्रहेण संस्थिते एव तु द्वितीयतृतीयसवने पुर्नविस्तारेणान्वतिष्ठन्निति । अत इदानीमपि तथा, अतो यथा प्रातः-सवनस्य सवनत्रयात्मकत्वमेवमुपांशुग्रहस्यापि । 'स वा अष्टौ कृत्वोऽभिपुणोति । अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रं प्रातः-सवनं प्रातःसवनमेवैतत् क्रियते' (श० ४।१।१।८) । स प्रहरति त्रिभिरभिषुणोतीति विहिताभिषवपर्यायत्रयमध्ये प्रथमपर्याये प्रहारसंख्याविशेषं विधत्ते—स वा अष्टौ कृत्वोऽभिषुणोतीति । सोमे गाव्णा अष्टकृत्वः प्रहारं करोतीत्यर्थः । संख्यासामान्येन प्रहारस्य गायत्र्यात्मकत्वात् तदात्मप्रातःसवनरूपमेतत्कर्म सम्पन्नमित्यर्थः ।

'स गृह्णाति । वाचस्पतये पवस्वेति प्राणो वै वाचस्पतिः प्राण एष ग्रहस्तस्मादाह वाचस्पतये पवस्वेति वृष्णो अꣳशुभ्यां गभस्तिपूत इति····पाणी वै गभस्ती पाणिभ्याꣳ ह्येनं पावयति' (श० ४।१।१।९) । बर्हिष्पवित्राद् गृह्णातीति विहितं ग्रहणं स गृह्णातीत्यनूद्य मन्त्रं विनियुज्य व्याचष्टे—स गृह्णातीत्यादिना गभस्तिपूत इत्यन्तेन मन्त्रेण । वैशब्दः प्रसिद्धौ । 'एष एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिः' (बृ० उ० १।३।२०) इति बृहस्पति-निर्वचने वागात्मिकां बृहतीं प्रति प्राणस्य पतित्वाभिधानाद् वाचस्पतित्वं प्राणस्य प्रसिद्धम् । उपांशुपात्रे गतस्य सोमरसस्य च प्राणत्वं प्रागुक्तमेव—'प्राणो ह वास्य' (४।१।१।१) इति । हे सोमरस, त्वं वाचस्पतित्वाय प्राणत्वाय पूतो भवेत्यर्थ इति सायणाचार्यः । वर्षति सोममिति वृषा सोमः, तस्यांशुभ्याम् । अत्र पात्रधारणे पाण्योः करणत्वम्, तद्द्वारान्तर्धानेन तु सोमांशोरिति द्वारभेदेनैकस्मिन्नपि पात्रे पाण्योरंशोश्च न विकल्पः । 'अथैकादश-कृत्वोऽभिषुणोति । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं माध्यन्दिनमेवैतत्सवनं क्रियते' (श० ४।१।१।१०) । 'स गृह्णाति । देवो देवेभ्यः पवस्वेति देवो ह्येष देवेभ्यः पवते येषां भागोऽसीति तेषामु ह्येष भागः' (श० ४।१।१।११) । द्वितीयग्रहणपर्याये प्रहारसंख्याविशेषं विधत्ते—अथैकादशेति । संख्यासामान्येन प्रहारं त्रिष्टुबात्मकं माध्यन्दिनसवनमेवैतत्कर्म क्रियते । द्वितीयग्रहणपर्याये मन्त्रं विनियुञ्जानः क्रमेण तद्भागौ व्याचष्टे—स गृह्णातीति । शुक्लप्रतिपदादितिथिषु चन्द्रस्यैकैककलावृद्धौ सोमलतायाः एकैकं पत्रमुत्पद्यते । कृष्णप्रतिपदादिषु चन्द्रस्यैकैककलाह्रासे सोमलताया एकैकं पत्रं निपततीति सुश्रुतादौ प्रसिद्धम् । अतोऽयं सोमश्चन्द्रात्मकतया देवः । सा प्रसिद्धिर्हिशब्देनोच्यते—देवो हि येषां भागोऽसि तेषामु ह्येष भागः ।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, वाचस्पतये वेदलक्षणाया वाचोऽधीश्वराय पवस्व शुद्धो भव । शुद्धो भूत्वा तमनुसर । वृष्णोऽभीष्टवर्षणशीलस्य परमात्मनोंऽशुभ्यां बाह्यान्तराभ्यामनुग्रहलक्षणाभ्यां किरणाभ्यामनुगृहीतः, तस्यैव गभस्तिभ्यां पाणिभ्यां पूतः सन् येषां देवानामर्चनेऽधिकृतोऽसि, तेभ्यो देवेभ्यो देवो भूत्वा पवस्व तानर्चयितुमनुसर । ननु परमेश्वरस्य निराकारत्वात् कुतस्तस्य पाणिसम्बन्ध इति चेन्न, 'नमो हिरण्यबाहवे' (वा० सं० १६।१७) इति परमेश्वरस्य हिरण्यबाहुत्वश्रवणात् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, त्वं वाचस्पतये वाण्याःपालकायेश्वराय पवस्व पवित्रो भव, वृष्णो वीर्यवतोऽ-शुभ्यां बाहुभ्यामिव बाह्याभ्यन्तरव्यवहाराय गभस्तिपूत इव गभस्तिभिः किरणैः पूत इव देवो विद्वान् देवेभ्यो

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की अर्थयोजना इस प्रकार है—हे साधक, वेद-रूपिणी वाणी के अधिष्ठाता के लिये शुद्ध बनो। शुद्ध होकर उसका अनुसरण करो । अभीष्ट की वर्षा करने वाले परमात्मा की बाह्य और आन्तरिक अनुग्रहरूपी किरणों से अनुगृहीत होकर उसीके करस्पर्श से पवित्र होकर जिन देवताओं की अर्चना के लिये तुम अधिकृत हो, उन देवों के लिये देवतारूप होकर अर्चना करने हेतु अनुसरण करो । परमेश्वर के निराकार होने के कारण उनके हाथों का सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है ? यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'नमो हिरण्यबाहवे' इत्यादि मन्त्रों में परमेश्वर की स्वर्णमय भुजाओं का वर्णन है ।

विद्वद्भ्यः पवस्व शुद्धो भव । तेषां भागोऽसि भजनीयोऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तश्रुतिसूत्रविरोधात् । मनुष्यस्य सम्बोध्यत्वेऽपि मूलं चिन्त्यम् । मनुष्यः कथं गभस्तिभिः पूयते ? यो देवो भवति स शुद्ध एव भवति, पुनर्देवो देवेभ्यो विद्वद्भ्यः कथं शुद्धः स्यात् ? वाचकोपमालङ्काराश्रयणमपि निर्मूलमेव ॥ १ ॥

मधु॑मतीर्न॒ इष॑स्कृधि॒ यत्ते॑ सो॒मादा॑भ्यं॒ नाम॒ जागृ॑वि॒ तस्मै॑ ते सोम॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॒ स्वाहो॒र्व॑न्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि ॥ २ ॥

तृतीयं गृह्णाति । लिङ्गोक्तदैवतम् । हे सोम, त्वं नोऽस्माकमिषोऽन्नानि मधुमतीर्मधुररसोपेतानि कृधि कुरु । 'यत्त इत्याप्तान् सोमे निदधाति' (का० श्रौ० ९।४।२५) । पावनार्थं पूर्वं गृहीतान् षडंशून् प्रतिप्रस्थाता सोमे निदध्यात् । सोमे लतासोम इति कर्कः । ऋजीषरूप इति प्राचीनसम्प्रदायः । यतो गृहीतास्तत्र प्रतिक्षेप इति युक्तम् । सौम्यम् । हे सोम, तव अदाभ्यमहिंस्यं दभ्नोतिर्हिंसार्थः, जागृवि जागरणशीलं यन्नामास्ति सोमेति, हे सोम, तस्मै तन्नामवते तुभ्यं सोमाय स्वाहा सुहुतमस्तु । 'स्वाहेत्यक्षरद्वयमुक्त्वा निष्क्रमणम्' (का० श्रौ० ९।४।२९) । परिमृज्यानासाद्यैव स्वाहेति मन्त्रमुक्त्वा हविर्धानान्निष्क्रमणमध्वर्युर्ग्रहहस्तः कुर्यात् । उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमन्वेम्यनुगच्छामि ।

शतपथे विवृतोऽयं मन्त्रः—'अथ द्वादशकृत्वोऽभिषुणोति । द्वादशाक्षरा वै जगती जागतं तृतीयसवनं तृतीयसवनमेवैतत् क्रियते' (श० ४।१।१।१२) । तृतीयग्रहणपर्याये प्रहारसंख्याविशेषं विधत्ते—द्वादशकृत्व इति । अत्रापि पूर्ववत् संख्यासामान्यात्मकत्वेन तृतीयसवनात्मकत्वम् । 'स गृह्णाति । मधुमतीर्न इषस्कृधीति रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति स्वदयत्येवैनमेतद्देवेभ्यस्तस्मादेषु हतो न पूयत्यथ यज्जुहोति सꣳस्थापयत्येवैनमेतत्' (श० ४।१।१।१३) । ग्रहमनूद्य मन्त्रं विनियुङ्क्ते—स गृह्णातीति । हे सोम, त्वं नोऽस्माकमिषोऽन्नानि मधुमतीमधुर्योपेतानि कुर्वित्यर्थः । अर्थात् त्वमपि देवानामन्नात्मकः, स्वादुर्भवेति यावत् । तदाह रसमेवास्मिन्नेतद्दधाति स्वदयत्येवैनमेतद् देवेभ्यस्तस्मादेष हतो न पूयति, एतन्मन्त्रवाक्यम् । तस्मात् स्वादूकरणाद् हतोऽभिषुतो न पूयति रसान्तरं नापद्यते । गृहीतस्य सोमरसस्य होमं विधत्ते—अथ यज्जुहोति । यत्रैतत् होमाख्यं कर्म एतदुपांशुग्रहव्यापारं परिपूरयत्येव, अर्थाद् जुहुयादिति गम्यते । 'अष्टावष्टौ कृत्वो ब्रह्मवर्चसकामस्याभिषुणुयादित्याहुरष्टाक्षरा वै गायत्री ब्रह्म गायत्री ब्रह्मवर्चसी हैव भवति' (श० ४।१।१।१४) । अभिषवे काम्यं संख्याविशेषं विधत्ते – ब्रह्मवर्चसकामस्येति । सगुणब्रह्मणः प्रजापतेर्मुखादुत्पन्नत्वाद् ब्रह्म गायत्री । 'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तमग्निर्देवताऽन्वसृज्यत गायत्रीच्छन्दः' (तै० सं० ७।१।१) । 'तच्चतुर्विंशतिं कृत्वाऽभिषुतं भवति । चतुर्विंशतिर्वै संवत्सरस्यार्धमासाः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः स यावानेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावन्तमेवैतत् सꣳस्था-

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ श्रुति तथा सूत्र के वचनों से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है । मनुष्य को सम्बोधित करने में भी प्रमाण अपेक्षित है । जो देवता है, वह तो शुद्ध ही होता है । फिर देवता विद्वानों के द्वारा कैसे शुद्ध होगा ? वाचकोपमा अलंकार का आश्रय लेना भी अप्रामाणिक है ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम ! हमारे अन्न को मधुर रसयुक्त सुस्वादु बनाओ । तुम हिंसाशून्य तथा जागरणशील बनो । हे सोम ! तुम्हारे निमित्त यह अंशुद्रव्य प्रदत्त है । देवता की प्रीति के लिये ये भली प्रकार आहुत हैं । मैं विस्तीर्ण अन्तरिक्ष में विचरण करता हूँ ॥ २ ॥

भाष्यसार—'मधुमतीर्न' इस कण्डिका के मन्त्रों से ग्रह-ग्रहण, छः अंशुओं का सोम में पुनःस्थापन, निष्क्रमण आदि

पयति' (श० ४।१।१।१५)। यज्ञस्य यावती परम्परया सम्बन्धिनी मात्रा परिच्छेदिनी चतुर्विंशतिसंख्या, तद्योगाद् यज्ञस्तावतः सकलस्यैव यज्ञस्यैतत्परिपूरणमिति पर्यायत्रयगतैस्त्रिभिरभिषुताष्टकृत्वश्चतुर्विंशतिसंख्यानिष्पत्तेः। 'पञ्च पञ्चकृत्वः। पशुकामस्याभिषुणुयादित्याहुः पाङ्क्ताः पशवः पशूनेवावरुन्धे पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य·····' (श० ४।१।१।१६)। 'तं गृहीत्वा परिमार्ष्टि। नेद्व्यवश्च्योतदिति तं न सादयति प्राणो ह्यस्यैष तस्मादयमसन्नः प्राणः सञ्चरति यदि त्वभिचरेदथैनꣳ सादयेदमुष्य त्वा प्राणꣳ सादयामीति तथा ह तस्मिन्न पुनरस्ति यन्नानुसृजति तेनो अध्वर्युश्च यजमानश्च न्योग्जीवतः' (श० ४।१।१।१७)। ग्रहणानन्तरकृत्यमाह तं गृहीत्वा परिमार्ष्टीति। प्रयोजनमाह—अपरिमार्जने रसो विश्चोतेत नेत् ततो महद्भयम्। 'नेदिति परिभये निपातः' (निरु० १।१०)! व्यवश्चोतदिति 'छन्दसि लुङ्लिङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६), 'लिङर्थे लेट्' (पा० सू० ३।४।७), 'श्च्युतिर क्षरणे' इति धातो रूपम्। तं न सादयति। अस्य प्रजापत्यात्मकस्य ग्रहस्य एष रसः प्राणः। तस्मात् प्राणात्मकसोमरसानासादनाद् असन्नोऽन्तरे वा शीर्णो लोकानां प्राणो बहिः सञ्चरति। अभिचरतो मन्त्रविशिष्टं सादनमाह—यदि त्वभिचरेदिति। ग्रहणमन्त्वेनं ग्रहमविसृजन् सादयन् हे सोम, अमुकनाम्नः शत्रोः प्राणरूपं त्वां विशीर्णमवसन्नं वा करोमीति मन्त्रार्थः। तादृक्सादनफलमाह—तथा ह तस्मिन्निति। तथा कृते तस्मिन् शत्रौ पुनः स प्राणो न तिष्ठति, किन्तु तत्रैव विशीर्यत्यवसीदति, यतः पात्रं न विसृजति। विसृजति चेदवसन्नः श्वासो निर्गच्छेदपि। तेन शत्रोरवसादनेनैव निरुपद्रवावध्वर्युयजमानौ चिरं जीवतः।

'अथो अप्येवैनं दध्यात् अमुष्य त्वा प्राणमपि दधामीति तथा ह तस्मिन्न पुनरस्ति यन्न सादयति तेनो प्राणान्न लोभयति' (श० ४।१।१।१८)। सादितस्य पात्रस्य समन्त्रकं पिधानमाह—अथो अप्येवैनं दध्यादिति। एनं ग्रहम् अमुष्येत्यादिमन्त्रेणापिदध्यात्। आच्छादने च तस्मिन् प्राणो न तिष्ठेत्। सादनापिधानयोरकरणे बाधकमाह—यन्न सादयतीति। तेन प्राणान्न लोभयति न विमोहयेद्वा नाकुलीकुर्यात्। 'स वा अन्तरेव सन्त्स्वाहेति करोति। देवा ह वै बिभयाञ्चक्रुर्यद्वै नः पुरैवास्य ग्रहस्य होमादसुररक्षसानीमं ग्रहं न हन्युरिति तमन्तरेव सन्तः स्वाहाकारेणाजुहवुस्तꣳ हुतमेव सन्तमग्नावजुहवुस्तथो एवैनमेष एतदन्तरेव सन्त्स्वाहाकारेण जुहोति तꣳ हुतमेव सन्तमग्नौ जुहोति' (श० १।१।१।१९)। अभिचरता हि यत्तु प्राणा आकुलीकर्तव्या इति विधत्ते—स वा अन्तरेवेति। हविर्धानमध्ये वर्तमान एव सन् 'स्वाहा' इत्युच्चरेदित्यर्थः। तथोच्चारणस्य प्रयोजनमाह—देवा ह वै। होमात् पूर्वमसुरराक्षसकर्तृकं ग्रहस्य पिधानं परिहर्तुं हविर्धानमध्ये स्थितमेव सोमं स्वाहाकारमात्रेण हुत्वा पश्चाद् हुतमेव सन्तं ग्रहं 'स्वाङ्कृतोऽसि' (वा० सं० ७।३) इति मन्त्रेण जुहुवुः। अत इदानीमपि तथा कुर्यात्। 'अथोपनिष्क्रामति' (श० ४।१।१।२०) इति हविर्धानान्निष्क्रमणमाह। 'अथ वरं वृणीते। बलवद्ध वै देवा एतस्य ग्रहस्य होमं प्रेप्सन्ति ते अस्मा एतं वरꣳ समर्धयन्ति क्षिप्रे न इमं ग्रहं जुहवदिति तस्माद्वरं वृणीते' (श० ४।१।१।२१)। वरवरणं विधत्ते—अथ वरं वृणीत इति। वरप्रार्थनाहेतुमाह—बलवद्ध वै देवा इति। एतस्योपांशुसोमरसस्य होमं देवा अत्यन्तमिच्छन्ति। इत्थमस्मै अध्वर्यवे तं यजमानार्थं वृतं वरं समृद्धं कुर्वन्ति। समर्धयतां देवानामयमाशयः—समृद्धिमभिलक्षयन् यजमानोऽध्वर्यवे वरं ददातु। दत्तवरश्चाध्वर्युस्तुष्टः सन्नस्माकमिममुपांशुग्रहमसुरसमागमात् पूर्वमेव त्वरया जुहोत्विति। हुते सति सम्पूर्णो यज्ञो नः सम्पन्नः स्यादिति। यस्माद्देवकृतां समृद्धिमिच्छन् यजमानोऽवश्यं दास्यति, तस्मादध्वर्युर्वरं वृणीते।

क्रियाएँ अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।२६-३०) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम ! उमया सहित देव साम्बसदाशिव, नोऽस्मभ्यं मधुमतीर्माधुर्योपेता इषोऽन्नानि कृधि । हे सोम, यद् यस्मात् ते तव अदाभ्यमहिंस्यमप्रधृष्यं सोमेति नाम जागृवि जागरूकं तस्मै ते सोमाय स्वाहा हविरादिकं दत्तमस्तु । हे सोम, तुभ्यं स्वाहा स्वसर्वस्वं निवेद्य उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमवकाशमन्वेमि, सर्वैषणाविनिर्मुक्तस्तव ब्रह्मात्मकमाकाशमनुगच्छामि ।

दयानन्दस्तु—'हे सोम ! ऐश्वर्ययुक्त विद्वन्, त्वं नोऽस्मभ्यं मधुमतीरिषस्कृधि । तथा हे सोम शुभकर्मसु प्रेरक, अहं यद् यस्मात् ते तवादाभ्यमहिंसनीयं जागृवि जागरूकं नामास्ति, तस्मात्ते सोमाय ऐश्वर्यस्य प्राप्तये तुभ्यं च स्वाहा सत्यां क्रियां स्वाहा सत्यां वाणीमुर्वन्तरिक्षं चान्वेमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विचारासहत्वात् । तथाहि—परमेश्वरस्तदनुग्रहात् कृषिनिपुणाः कृषीवला वा माधुर्योपेतान्यन्नानि निर्मातुं दातुं वा प्रभवन्तीति तदर्थं त एव प्रार्थनीयाः । शुभकर्मसु प्रेरकोऽपि परमेश्वर एव, तदर्थं गुरुर्वानुसर्तव्यो भवति । कोऽयं विद्वान् यस्य अदाभ्यमहिंसनीयं जागरूकं नाम भवति । ऐश्वर्यप्राप्तयेऽपि परमेश्वर एवाश्रयणीयः । सत्यक्रियाकरणाय सत्यवाणीप्राप्तये च स एव प्रार्थनीयो न कश्चिदन्यः । सोमादिशब्दानां तेषु तेषु त्वदुक्तेष्वर्थेषु शक्त्यभावादपि न सङ्गतोऽर्थः । श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वोक्तसिद्धान्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ २ ॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा ॥ ३ ॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे उमासहित सदाशिव, हमारे लिये अन्न को माधुर्य से परिपूर्ण बना दें । हे साम्ब शिव, जो अधर्षणीय 'सोम' यह नाम सुजागृत है, आपके उस सोमस्वरूप के लिये हविष्य आदि समर्पित हों । हे साम्ब शिव, मैं आपके लिये अपना सर्वस्व निवेदित करके विस्तृत अन्तरिक्षावकाश में गमन करता हूँ, अर्थात् समस्त आकांक्षाओं से मुक्त होकर आपके ब्रह्मात्मक आकाश का अनुगमन करता हूं ।

स्वामी दयानन्दोक्त अर्थ विचारसंगत न होने के कारण अग्राह्य है । परमेश्वर अथवा उसकी कृपा से निपुण किसान ही माधुर्य से युक्त अन्न के निर्माण में अथवा दान में समर्थ है । शुभ कर्मों में प्रेरक भी ईश्वर ही हैं अथवा इसके लिये गुरु का अनुसरण करना चाहिये । फिर यह विद्वान् कौन है ? जिसका अहिंसनीय नाम जागरूक होता है । सोम आदि शब्दों की उन कथित अर्थों में शक्ति न रहने के कारण भी अर्थ संगत नहीं है । श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोध तो पूर्वोक्त व्याख्या से स्पष्ट ही है ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्राणरूप उपांशुग्रह । तुम सम्पूर्ण इन्द्रियों के साथ सम्पूर्ण पार्थिव द्विपद, चतुष्पद और दिव्य प्राणियों में स्वयं प्रादुर्भूत हो, मन प्रजापति तुम्हारा नियन्त्रण करते हैं । हे प्रशंसित जन्म वाले ! सूर्यरूप प्रजापति की प्रीति के निमित्त तुम्हारी आहुति देता हूँ । यह आहुति सुन्दर रूप से गृहीत हो । हे पात्र ! मरीचिपालक देवगण की तृप्ति के लिये तुम्हारा मार्जन करता हूँ । हे दीप्यमान अंशुदेव ! जिसके अभिचार की, मारण आदि की कामना के निमित्त तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ, वह मेरा अमुक शत्रु सत्य ही अकस्मात् प्राप्त हुई महापीड़ा से निहत होकर विशीर्ण हो जाय । हे उपांशु सवन ! व्यान देवता की प्रीति के निमित्त तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ३ ॥

'स जुहोति स्वाङ्कृतोऽसीति' (श० ४।१।१।२२)। 'अथ हुत्वोर्ध्वं ग्रहमुन्मार्ष्टि' (श० ४।१।१।२४)। तथा कात्यायनोऽपि—'स्वाङ्कृत इति हुत्वा पात्रमुन्मार्ष्टि' (का० श्रौ० ९।४।३२)। अध्वर्युर्यजमानान्वारब्ध एव यजतिदेशं गत्वा स्वाङ्कृत इति मन्त्रेणोपांशुग्रहं तिष्ठन्नाहवनीये स्वल्पं हुत्वा ग्रहपात्रमूर्ध्वमुन्मार्जयेत्। मन्त्रगते स्वाहाकारे होमः। होमान्तोऽन्वारम्भः। ग्रहदैवतो मन्त्रः। मन्त्रार्थस्तु—हे प्राणरूपोपांशुग्रह, त्वं स्वाङ्कृतोऽसि स्वीकृतोऽसि मया स्वीकृतो भवसि। किमर्थम्? दिव्येभ्यो देवजन्मनि स्थितेभ्यः, पार्थिवेभ्यो मनुष्यजन्मनि स्थितेभ्यः, सर्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः, इन्द्रियेभ्यो हितायेत्यर्थः। मनश्च तेषामिन्द्रियाणामधीशं त्वामष्टु व्याप्नोतु। हे सुभव प्राणरूपोपांशुग्रह, तादृग्रूपं त्वां बहिः प्राणरूपाय सूर्याय स्वाहाकारेण जुहोमि। 'आदित्यो वै बाह्यः प्राणः। उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णाति' इत्यार्थवणिकश्रुतेः। यद्वा हे उपांशुग्रह, त्वं स्वाङ्कृतोऽसि स्वयं कृतोऽसि। स्वयमित्यत्र छान्दसो यकारलोपः, सवर्णदीर्घः, स्वयमुत्पन्नोऽसि, प्राणो वा अस्यैष ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जातस्तस्मादाह, 'स्वाङ्कृतोऽसीति' (श० ४।१।१।२२) इति श्रुतेः। स्वयमुत्पन्नोऽसि, विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः सकाशाद् दिव्येभ्यो देवेभ्यः, पार्थिवेभ्यः पृथिव्यां भवेभ्यो द्विपदचतुष्पदेभ्यः सकाशात् स्वयमुत्पन्नोऽसीत्यनुवृत्तिः। यस्त्वमेवं स्वतन्त्रोऽकृतकस्तं त्वा मनः प्रजापतिरष्टु व्याप्नोतु, 'प्रजापतिर्वै मन इति प्रजापतिष्ट्वाश्नुताम्' (श० ४।१।१।२२) इति च श्रुतिः। शोभनो भव उत्पत्तिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ हे सुभव उत्तमजन्मन् ग्रह, सूर्याय सूर्यार्थं त्वा त्वां स्वाहाकारेण जुहोमि। स्वाङ्कृतशब्देन प्राणरूपग्रहस्य स्वाधीनत्वं दिव्यपार्थिवशब्दाभ्यां च जन्मद्वयमभिप्रेतम्। स्वाङ्कृतोऽसीति प्राणमेव समकृत विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्य इत्याहोभयेष्वेव देवमनुष्येषु प्राणानुपदधाति' इति तैत्तिरीयश्रुतेः। 'उत्तानेन पाणिना मध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्टि' (श० ४।१।१।२४)। 'प्रथमे परिधावुत्तानं पाणिं प्रागुपमार्ष्टि देवेभ्यस्त्वेति' (का० श्रौ० ९।४।३३)। प्रधानपरिधेरधस्तादुत्तानं हस्तं प्रवेश्य पश्चादाकर्षयेत्। पश्चिमस्थे परिधौ सोमलिप्तमूर्ध्वाभिमुखं हस्तं कृत्वा प्रागभिमुखं यथा स्यात्तथा मार्जनं कुर्यात्।

दैवं यजुः। हे लेप, त्वां मरीचिपेभ्यो मरीचिपालकेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय परिधौ मार्ज्मि। 'वास उरो बाहुषु श्लिष्टमꣳशुमभिचरन् जुहुयाद्देवाꣳशाविति' (का० श्रौ० ९।४।३४)। अभिषवं कुर्वतोऽध्वर्यो ग्रावाभिघातवशादुत्पत्त्याध्वर्योर्वस्त्रे हृदये बाह्वोर्वा श्लिष्टं सोमांशुं तत आदायाभिचरन् आहवनीये जुहुयात्। आभिचारिकसोमांशुदैवतं यजुः। हे देव दीप्यमान, हे अंशो सोमांशो, यस्मै शत्रुवधाय त्वामीडे स्तुवे प्रार्थयामि वा, ईडिरध्येषणार्थश्च, तद् वधकर्म सत्यमस्त्विवति शेषः। उपरिप्रुता, प्रुवतिर्गत्यर्थः, उपर्युपर्यागतेन भङ्गेन अभिषवाभिषवामर्देन वा, असाविति देवदत्तादिनामनिर्देशः। असौ द्वेष्यो हतो निहतः सन् फट् विशीर्णो भवेत्। 'त्रिफला विशरणे' इति धातोः क्विबन्तस्य फडिति रूपम्। छन्दसि डलयोरभेदः। आभिचारिकस्वाहाकारस्थाने फडिति प्रयुज्यते, 'वषट् वश्ये वडुच्चाटे फट् द्वेष्ये पौष्टिके स्वधा' इति वचनात्। 'प्राणाय त्वेति पात्रासादनम्' (का० श्रौ० ९।४।३६)। उपांशुग्रहपात्रं स्वस्थाने आसादयेत्। हे उपांशुपात्र, प्राणदेवतासन्तोषार्थं त्वा त्वामासादयामीति शेषः। 'उपांशुसवनं पाणिना परिमृज्योदञ्चं व्यानाय त्वेति सꣳस्पृष्टम्' (का० श्रौ० ९।४।३७)। उपांशुसवनाख्ये पाषाणे लग्नमृजीषादिकं हस्तेनाधः पातयित्वा उदङ्मुखमुपांशुपात्रलग्ननेव तं सादयेत् व्यानाय त्वेति। मुखं चास्य येनाभिषवः कृतः। हे उपांशुसवन, व्यानदेवतार्थं त्वामासादयामीति शेषः।

शतपथे मन्त्रोऽयमित्थं व्याख्यातः—'स्वाङ्कृतोऽसीति प्राणो वा अस्यैष ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जातस्तस्मादाह स्वाङ्कृतोऽसीति विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यः सर्वाभ्यो ह्येष प्रजाभ्यः स्वयं जातो

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।४।३३-३८) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'स्वाङ्कृतोऽसि' इस

मनस्त्वाष्ट्विति प्रजापतिर्वै मनः प्रजापतिष्ट्वाऽश्नुतामित्येवैतदाह स्वाहा त्वा सुभव सूर्यायेति तदपरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवताम्' (श० ४।१।१।२२)। समष्टिः प्राणो हिरण्यगर्भः, स च ब्रह्मरूपः, कर्मान्तराभावात् स्वात्मनैव कृतः। श्रूयते हि—'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० उ० २।७)। स्वात्मना कृतं स्वयं जातमेव दिव्यानि यानि देवानामिन्द्रियाणि, पार्थिवानि यानि मनुष्याणामिन्द्रियाणि, तेषां तृप्त्यर्थं सोमः—'वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु' (वा० सं० २।३७) इति मन्त्रे प्रसिद्धः। अतस्तेषां तृप्त्यर्थं स्वयं जातः सोमस्तं त्वां हे सोम, मनः प्रजापतिरश्नुतदेवाहैष प्रजापतिष्ट्वाऽश्नुतामित्येवैतदाह— स्वाहा त्वा सुभव इति। सूर्यायेति व्याचष्टे—तदवरमिति। अग्नये स्वाहेत्यादिषु प्रथमं देवतापदं चरमं स्वाहापदम्, इह तु तद्विपरीतम्। तत्रायं हेतुः—य एष सूर्यस्तपति सर्वात्मको हि सः। अमुष्मिन् सूर्ये एष उपांशुग्रहो हूयते। एष च परार्धतया सर्वस्योपरि व्यवहर्तव्यः। स्वाहाकारे पुनरुपरि प्रयुज्यमाने स व्यवहारो न स्यादिति। तत् तस्मात् स्वाहाकारमवरं पूर्वं करोति देवतां परां परस्तात् करोति। 'अमुष्मिन् वा एनमहौषीद् य एष तपति सर्वं वा एष तदेनꣳ सर्वस्यैव परार्ध्यं करोत्यथ यदवरां देवतां कुर्यात् परꣳ स्वाहाकारꣳ स्यात् तदु हैवामुष्मादादित्यात् परं तस्मादवरꣳ स्वाहाकारं करोति परां देवताम्' (श० ४।१।१।२३)। पूर्वोक्तं स्पष्टयति। इत्थं च हे उपांशु सोमदेव, मनुष्याणां देवानां च सर्वेन्द्रियतृप्त्यर्थं प्राणात्मकतया त्वं स्वात्मनैव निर्मितोऽसि। अतः सर्वेन्द्रियसहकारी मनोरूपः प्रजापतिरपि त्वा त्वामश्नोतु। हे शोभनजन्मन् सोम, जुहोमि त्वां सूर्यायेति। 'अथ हुत्वोर्ध्वं ग्रहमुन्मार्ष्टि। पराञ्चमेवास्मिन् प्राणं दधात्यथोत्तानेन पाणिना मध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्टि पराञ्चमेवास्मिन्नेतत् प्राणं दधाति देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यः' (श० ४।१।१।२४)। होमानन्तरं कर्तव्यं विधत्ते—अथेति। होमोत्तरकालमथानन्तरमविलम्बमान ऊर्ध्वमुखत्वेन स्थितं ग्रहं मूलत आरभ्याग्रपर्यन्तं मृज्यात्। होममार्जनयोः पौर्वापर्यं क्त्वाप्रत्ययेनोच्यते। तच्च तयोः कालव्यवधानेऽपि सम्भवतीति तथा मा भूदित्यव्यवधानबोधनायाथशब्दः। मार्जनस्योन्मुखतां स्तौति—ऊर्ध्वं ग्रहमिति। एतदुन्मार्जनमस्मिन् यजमाने प्राणमप्रतिबद्धोर्ध्वसञ्चारं करोति। उन्मार्जनानन्तरं कर्तव्यं विधत्ते—अथोत्तानेन पाणिना मध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्टीति। प्रागुपमार्ष्टि तिर्यङ् मृज्यात्। तदपि स्तौति—पराञ्चमेवास्मिन्नेतत्प्राणं दधातीति। उन्मुखस्य प्राणस्य बहिःसञ्चारप्रतिबन्धनिरसनमुपमार्जनस्य फलम्। तत्र मन्त्रं विधत्ते—देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य इति।

'अमुष्मिन् वा एतं मण्डलेऽहौषीद् य एष तपति तस्य मे रश्मयस्ते देवा मरीचिपास्तानेवैतत् प्रीणाति त एनं देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति' (श० ४।१।१।२५)। व्याचष्टे—य एष आदित्यस्तपत्यमुष्मिन् मण्डलरूपेण स्थिते एतमुपांशुग्रहमहौषीत् स्वाहा त्वा सुभव सूर्यायेति। तत्सम्बन्धिनो ये रश्मयो देवास्ते मरीचय एव सन्तः संकृतिरित्यादियाज्यान् पिबन्तीति मरीचिपा एतन्मध्यपरिधौ सोमलेपस्योपमार्जनं तान् देवान् प्रीणात्येव। प्रीताश्च ते एनं यजमानं स्वर्गं प्रापयन्ति। 'तस्य वा एतस्य ग्रहस्य नानुवाक्याऽस्ति न याज्या तं मन्त्रेण जुहोत्येतेनो हास्यैषोऽनुवाक्यवान् भवत्येतेन याज्यवानथ यद्यभिचरेद्योऽस्याꣳशुराश्लिष्टः स्याद्वाह्वोर्वोरसि वा वाससि वा तं जुहुयाद्देवाꣳशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फडिति यथा ह वै हन्यमानानामपधावेदेवनेषोऽभिषूयमाणानाꣳ स्कन्दति तथा ह तस्य नैव धावन्नापधावत् परिशिष्यते यस्मा एवं करोति तꣳ सादयति प्राणाय त्वेति प्राणो ह्यस्यैषः' (श०४।१।१।२६)। स्वाङ्कृत इत्यादिहोममन्त्रमधुना स्तौति—तस्य वा एतस्य ग्रहस्येति। शुक्रामन्थ्यादिग्रहहोममन्त्रो हि सः प्रथमः। संकृतिरित्यादयो याज्यानुवाक्ये अपेक्षन्ते।

कण्डिका के मन्त्रों से उपांशु ग्रह का होम, परिधिमार्जन, सोम कूटने के समय उछल कर लगे हुए सोमलताखण्ड का हवन तथा पात्रासादन आदि कर्म अनुष्ठित किये जाते हैं। शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

स्वाङ्कृत इत्याद्युपांशुग्रहहोममन्त्रस्तु याज्यानुवाक्ये अनपेक्ष्य तत्कृत्यमपि स्वयमेव करोतीति प्रशस्तः। अस्य मन्त्रस्य सम्बन्धी एष ग्रह एतेन मन्त्रेणोभयवान् भवति— अनुवाक्यवान्, याज्यवानिति। 'ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इत्यापो ह्रस्वत्वम्। अभिचरतो बाह्वादिश्लिष्टांशुहोममाह— यद्यभिचरेदिति। तत्र होममन्त्रः—'देवांशो यस्मै त्वेडे' इत्यादि। हे देवांशो सोमांशो, यस्मै शत्रुवधाय त्वा त्वामीडे स्तुवेऽभ्यर्थये वा, तद्वधकर्म सत्यमस्तु। भङ्गेन अभिषवामर्देन उपरिप्रुता उपरिभावाय वाऽऽगतेन त्वया असौ एतन्नामा शत्रुर्हतः सन् फट् विशीर्यताम्। हन्यमानानां शत्रूणां यथा यः कश्चिदेकोऽपधावेत् पलायेत, तद्वदभिषूयमाणानां सोमांशूनां मध्ये एष बाह्वादिलग्नोंऽशुः स्कन्दत्यपगच्छति, यस्मै पुनर्यजमानाय एवमुक्तमन्त्रकं स्कन्नांशुहोमं करोति, अस्य यजमानस्य तथा होमदेवते अभिषुते। सोमे स्थितो वा एवमपधावन् वा कोऽप्यंशुर्न परिश्लिष्यते। तस्य खरे सादनं विधत्ते—तं सादतीति। तत्र मन्त्रः—प्राणाय त्वेति। प्राणो ह्यस्यैष अस्य सोमयागस्य एष उपांशुग्रहः प्राणो हि, प्रागुक्तस्य रसस्य धारणात्, अतस्तत्सादनस्य प्राणनार्थता मन्त्रेणोच्यते।

'दक्षिणार्धे हैके सादयन्ति। एताꣳ ह्येष दिशमनुसञ्चरतीति तदु तथा न कुर्यादुत्तरार्ध एवैनꣳ सादयेन्नो ह्येतस्या आहुतेः काचन परास्ति तꣳ सादयति प्राणाय त्वेति प्राणो ह्यस्यैषः' (श० ४।१।१।२७) इति। विहितस्य सादनस्योत्तरार्धं स्थानं विधातुं मतान्तरमनूद्य निरस्य स्वाभिमतं दधाति—दक्षिणार्धे हैके सादयन्तीति। एके याज्ञिका होमानन्तरमेतं ग्रहं खरस्य दक्षभागे स्थापयन्ति। तत्रोपपत्तिं ते कथयन्ति ग्रहणात् प्राक् खरे पात्रासादनकाले एष ग्रह उपांशुग्रहपात्रमुत्तरादाग्नीध्रमण्डपादासादनाय खरं प्रत्यानीयमानमेतां दक्षिणां दिशमनुसञ्चरति। तथा चापस्तम्बः—'दक्षिणेंऽश उपांशुपात्रम्' इति। तत्तु सादनं तथा दक्षिणांशेन कुर्यादिति परमतं निरस्य उत्तरभाग एवैनं ग्रहं सादयेदिति स्वमतविधिः। विहितमुत्तरार्धं स्तौति – नो ह्येतस्या इति। एतस्या उपांशुसोमाहुतेः परा प्रशस्ता न काचिदाहुतिरस्ति। सवनत्रयात्मिका हि सा। अतस्तदीयपात्रासादनस्योत्तरभागो युक्तः। सोऽपि तर्हि प्रशस्तः, 'तस्मादुत्तरार्धः तेजस्वितरः' इति श्रुतेः। सादने विहितं मन्त्रं स्तोतुमनुवदति—तं सादयति प्राणाय त्वेति। प्राणो ह्यस्यैष अस्य पात्रस्य सम्बन्धी एष सोमः प्राणः। 'अथोपांशुसवनमादत्ते। तं न दशापवित्रेणोपस्पृशति यथा ह्यद्भिः प्रणिक्तमेवं तद्यदꣳशुराश्लिष्टः स्यात् पाणिनैव प्रध्वꣳस्योदञ्चमुपनिपादयेद् व्यानाय त्वेति व्यानो ह्यस्यैषः' (श० ४।१।१।२८)। उपांशुसवनादानं विधत्ते—अथोपांशुसवनमादत्त इति। उपांशुग्रहसादनानन्तरमुपांशुसवनग्रावाणमाददीत। सोमलेपापनोदनाय प्रसक्तं दशापवित्रेणोपस्पर्शनं निषेधति—तं नेति। तत्रानुस्पर्शे कारणमाह—यथा ह्यद्भिः प्रणिक्तमेवमिति। यथा शुद्धयर्थं जलेन क्षालितं वस्तु जललेपापनोदाय न पुनर्जलान्तरेण क्षाल्यते, जललेपस्य शुद्धत्वात्, एवं सोमशेषलिप्तं तद् ग्रावस्वरूपम्, सोमशेषस्यापि पवित्रत्वात्। तद्यदंशुराश्लिष्टः स्यात् पाणिनैव प्रध्वस्य उपर्यन्तर्यामग्रहहोमतदासादनोत्तरकाले सादितयोरुपांश्वन्तर्यामयोर्मध्ये उदगग्रं स्थापयेत्। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'उपांशुसवनं पाणिना प्रमृज्योदञ्चं व्यानाय त्वेति' (का० श्रौ० ९।४।३७)। 'संस्पृष्टमुपविष्टयोः' (का० श्रौ० ९।५।१)। ग्रावसादने मन्त्रः।

अध्यात्मपक्षे— हे देव द्योतनस्वभाव जीवात्मन्, विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो दिव्येभ्यो दिवि भवेभ्यः पार्थिवेभ्यो द्विपदचतुष्पदादौ भवेभ्य इन्द्रियेभ्यो हिताय स्वाङ्कृतोऽसि स्वयं कृतोऽसि स्वयं जातोऽसि। मनः प्रजापतिस्त्वा

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे द्योतनात्मक स्वभाव से युक्त जीवात्मा, समस्त दिव्य द्युलोक में होने वाले तथा पार्थिव मनुष्य, पशु आदि में होने वाले इन्द्रियादि के लिये तुम स्वयं उत्पन्न हो। प्रजापति तुमको व्याप्त करें। हे सुन्दर

त्वां व्याप्नोतु। हे सुभव शोभनजन्मन्, सूर्याय सर्वदेवमयाय आदित्याय तद्रश्मिभूतेभ्यो देवेभ्यो मरीचिवत्पालकेभ्यः स्वाहाकारेण यज। यस्मै कार्याय अभ्युदयनिःश्रेयसाय त्वा त्वाम् ईडे स्तुवे, तत्सत्यमस्तु। हे अंशो, परमेश्वरस्य अंशवद् अंशो भङ्गेन आमर्देन उपरि प्रुत सर्वोपरि प्रवता समागच्छता त्वयासौ कामाज्ञानादिः शत्रुर्हतः सन् फट् विशीर्यताम्। प्राणाय प्राणनाय जीवनाय, व्यानाय विविधचेष्टायै, त्वां सर्वे वागादयः प्राणाः समाश्रयन्त इति शेषः। जातित्वादेकवचनमेकजीववादाभिप्रायेण वा, 'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्धचते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुद्धचते तदा॥' (मा० का० १।१६), 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः' (भ० गी० १३।१) इत्यादिस्मृतिभ्यः। यद्वा हे सगुण साकार परमात्मन् विष्णो साम्बसदाशिव श्रीराम श्रीकृष्ण वा, विश्वेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्य इन्द्रियेभ्यो देवमनुष्यादिसर्वेन्द्रियेभ्यो हिताय स्वाङ्कृतः स्वयं कृतोऽसि स्वयं जातोऽसि, सर्वेषामाप्यायनाय तर्पणाय। 'पराञ्चि खानि व्यतृणद् स्वयम्भूः' (कठो० ४।१) इति श्रुत्यनुसारेण स्वयम्भूः खानि खोपलक्षितानि सर्वेन्द्रियाणि पराञ्चि बहिर्मुखानि व्यतृणद् विरच्य हिंसितवान्। परमात्मानुभववञ्चितत्वमेव तेषां हिंसनम्। तेषां बहुतिथं तपश्चरणात् प्रसन्नो भूत्वा भगवान् दिव्यसौन्दर्यमाधुर्यसौरस्यसौगन्ध्यादिसुधाजलनिधिसाकारविग्रहवान् भूत्वा तान्याप्याययति तर्पयति च। हे परमेश्वर, मनोबहिर्मुखतां परित्यज्य शुद्धं सत् त्वामष्टु त्वदीयमाधुर्यमास्वादयतु। हे सुभव शोभनजन्मन्, सूर्याय प्रचण्डमार्तण्डमण्डलवदनन्तप्रकाशाय तुभ्यं स्वाहा मदीयं सर्वस्वं सुनिवेदितमस्तु। देवा अंशवो यस्य स त्वं हे देवांशो, देवेभ्यो मरीचिपेभ्यो मरीचिपानवद्भ्य ऋषिभ्यो हिताय असौ रावणादिः, कंसादिः, अन्धकासुरादिः, मधुकैटभादिः, भङ्गेनामर्देन उपरि सर्वोपरि प्रपता समागच्छता त्वया हतः सन् फट् विशीर्णः। यस्मै कार्याय अभीष्टसाधनाय त्वा त्वामीडे स्तुवे तत्सत्यं सफलमस्तु। हे परमेश्वर, सर्वेऽपि भक्ताः प्राणाय प्राणनाय व्यानाय विविधचेष्टायै बलाय च त्वामेवाश्रयन्ते, प्राणनापाननादिव्यापाराणां त्वदाश्रयत्वात्, 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥' (कठो० ५।५) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु शतपथसंकेतं कुर्वन्नपि तद्विपरीतमेव वक्ति। 'हे अंशो सूर्यतुल्यदेव दिव्यात्मन्, यस्त्वं दिव्येभ्यो विश्वेभ्यो इन्द्रियेभ्यः पार्थिवेभ्यो मरीचिपेभ्यो देवेभ्यः स्वाङ्कृतोऽसि स्वयं कृत इवासि, तं त्वां

जन्मवाले, सर्वदेवमय आदित्य के लिये, उनके किरणरूपी किरणों के समान पालन करने वाले देवों के लिये स्वाहाकार पूर्वक याग करो। जिस अभ्युदय और निःश्रेयस कार्य के लिये तुम्हारी स्तुति करता हूँ, वह सत्य हो। परमेश्वर के अंशभूत निष्पीड़न से सर्वोपरि गमन करने वाले तुम्हारे द्वारा ये काम, अज्ञान आदि शत्रु हिंसित होकर नष्ट हो जायँ। जीवन के लिये, विविध व्यवहार के लिये वाक्, प्राण आदि सभी तुम्हारा आश्रय लेते हैं।

अथवा हे सगुण साकार परमात्मन्, हे विष्णु, साम्ब सदाशिव, श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण, आप समस्त दिव्य पार्थिव इन्द्रियों के लिये, देवमनुष्य आदि समस्त इन्द्रिययुक्त प्राणियों के हितार्थ स्वयं प्रादुर्भूत हैं। हे परमेश्वर, मन बहिर्मुखता को छोड़कर शुद्ध होकर आपके माधुर्य का आस्वादन करे। हे शोभनजन्मवाले, सूर्यबिम्ब की भाँति अनन्त प्रकाशवाले आपके लिये मेरा सर्वस्व निवेदित हो। आप देवरूपी अंशों से युक्त हैं। किरणों का पान करने वाले ऋषियों के हित के लिये ये रावण, कंस, अन्धकासुर, मधुकैटभ आदि राक्षस निष्पीडन से सर्वोपरि गमन करने वाले आपके द्वारा हिंसित होकर नष्ट हो गये। जिस अभीष्ट सिद्धि के लिये मैं आपकी स्तुति करता हूँ, वह सफल हो। हे परमेश्वर, सभी भक्तगण जीवन के लिये, विविध क्रियाओं के लिये तथा बल के लिये आपका ही आश्रय लेते हैं, क्योंकि प्राणन आदि व्यापार आपके ही आश्रित हैं।

स्वामी दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण का उल्लेख करते हुये भी उससे विपरीत ही व्याख्यान किया है। अंशु शब्द का

मनःशुद्धं विज्ञानं स्वाहा वेदवाणी चाष्टु प्राप्नोतु। हे सुभव सगुण, यस्मै सूर्याय चराचरात्मने परमेश्वराय त्वामहमीडे तत्सत्यं परेशं गृहाणोपप्रुतेव सर्वोत्तममुत्कर्षं प्राप्नुवता येन त्वया भङ्गेन मर्दनेनासावज्ञातशत्रुः फड्ढतस्तं त्वां प्राणायेडे जीवनाय प्रशंसयं व्यानाय वा त्वामीडे विविधसुखप्राप्तये त्वां प्रशंसामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अंशुपदेन सूर्यतुल्येत्यर्थग्रहणे मानाभावात्, गौणार्थत्वप्रसङ्गाच्च। स्वयंकृत इवेत्यत्र इव इति निर्मूलमेव। न च तस्य दिव्यात्मन इन्द्रियाद्यर्थं स्वयंकृतत्वम्, चेतनत्वेन तस्य स्वातन्त्र्यात्। 'सङ्घातस्य परार्थत्वात्' (सां० द० १।६६) इति न्यायेनेन्द्रियादीनामेवात्मार्थत्वं युक्तम्। मनः स्वाहा इत्यनयोरपि शब्दयोस्तादृशार्थत्वे मानाभावात्। किञ्च, परमेश्वराय त्वामीड इत्यपि निरर्थकम्, प्राणाय जीवनाय प्रशंसामीत्यपि निर्मूलम्। व्यानमिति पदस्य विविधसुखप्राप्तिरर्थ इत्यपि निर्मूलम्। न च विविधमानयतीति व्युत्पत्तिरेव मूलमिति वाच्यम्, 'अन प्राणने' इति धातोस्त्यागे, आनयतेर्ग्रहणे विनिगमनाभावात्॥ ३॥

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यँच्छ मघवन् पाहि सोमम्। उरुष्य राय एषो यजस्व॥ ४॥

'प्राणो ह वा अस्योपाᳬशुः। व्यान उपाᳬशुसवन उदान एवान्तर्यामः' (श० ४।१।२।१)। 'अथ यस्मादन्तर्यामो नाम। यो वै प्राणः स उदानः स व्यानस्तमेवास्मिन्नेतत्पराञ्चं प्राणं दधाति यदुपाᳬशुं गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत्प्रत्यञ्चमुदानं दधाति, यदन्तर्यामं गृह्णाति सोऽस्यामुदानोऽन्तरात्मन् यतस्तद्यदस्यैषोऽन्तरात्मन् यतो यद्वैनेनेमाः प्रजा यतास्तस्मादन्तर्यामो नाम' (श० ४।१।२।२)। 'तमन्तः पवित्राद् गृह्णाति। प्रत्यञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति सोऽस्यायमुदानोऽन्तरात्मन् हित एतेनो हास्याप्युपाᳬशुरन्तः पवित्राद् गृहीतो भवति समानᳬ ह्येतद्यदुपाᳬश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ ह्येतेनो हैवास्यैषोऽपीतरेषु ग्रहेष्वनाक्षिवद् भवति' (श० ४।१।२।३)। विधास्यमानस्य ग्रहस्यान्तर्यामताव्युत्पादनायोदानतामन्तर्यामसहचारिणोरुपांशुसवनयोः प्राणव्यानात्मकत्वेन समर्थयते —प्राणो ह वा अस्योपांशुरिति। उदानस्य प्राणव्यानसाहित्यवदुपांशूपांशुसवनसाहित्यादन्तर्यामस्योदानात्मकता प्रतिपत्तव्येत्यर्थः। यस्मात् शब्दप्रवृत्तिनिमित्तादन्तर्याम इति नाम भवति, किं तदिति पृच्छायां तत्समर्थनम्—यो वै प्राणः स उदानः स व्यान इति। प्राण एक एव सन् प्रवृत्तिभेदात् प्राणोदानव्याननामभिर्व्यवह्रियते। तत्र पराग्वृत्तिः प्राणस्तदात्मकोपांशुग्रहग्रहणेन पराङ् प्रतिबद्धसञ्चारो विधीयते। एवं प्रत्यग्वृत्तिरुदानस्तदात्मकान्तर्यामग्रहग्रहणेन अन्तर्निधीयते, निहितश्चान्तर्नियम्यते। यतोऽन्तर्नियम्यते, अत उदानस्यान्तर्याम इति नाम। अनेनोदानेनान्तर्वर्तमानेन सता इमाः प्रजा यथा न म्रियन्ते तथा नियमिताः। अतोऽन्तर्नियम्यतेऽनेनेति

'सूर्यतुल्य' यह अर्थ करने में कोई प्रमाण न रहने के कारण तथा गौणार्थता का दोष प्राप्त होने के कारण यह अग्राह्य है। उस दिव्यात्मा का इन्द्रियादि के लिये स्वयंकृतत्व नहीं है, क्योंकि चेतन होने के कारण वह स्वतन्त्र है। 'संघातपरार्थत्वात्' इस नियम से इन्द्रिय आदि का ही आत्मा के लिये होना उचित है। व्यान शब्द का 'विविध सुखप्राप्ति' अर्थ करना भी अप्रामाणिक है। केवल व्युत्पत्ति ही प्रमाण है, यह मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि प्राणार्थक अन् धातु से 'परित्याग' तथा 'आनयन' अर्थ का ग्रहण करने में कोई निश्चित युक्ति नहीं है॥ ३॥

मन्त्रार्थ—हे अन्तर्याम ग्रह में स्थित सोमरस! तुम क्षुद्र कलश द्वारा गृहीत हो। हे इन्द्र! तुम इस पात्र में सोमरस को अन्तर्गृह पात्र में ग्रहण करो, सोमरस की शत्रु आदि से रक्षा करो तथा पशुओं की रक्षा करो और हमें धनधान्य से परिपूर्ण करो॥ ४॥

करणसाधनं वोदानस्यान्तर्याम नाम। उदानात्मकतया च ग्रहस्यान्तर्याम नामेति। तस्य ग्रहणं विधत्ते—तमन्तः पवित्राद् गृह्णातीति। तमन्तर्यामनामकं सोमरसं दशापवित्रस्यान्तःप्रदेशाद् धारारूपेण स्रवन्तं गृह्णीयात्। तत्स्तवनम्—अन्तर्यामसोमस्य यदेतदन्तःपवित्रदेशप्रापणमेतदुदानस्य सर्वस्मिन् जने प्रत्यङ्मुखतया स्थापनं भवति। अतोऽयमुदानः सर्वजनस्य शरीरमध्ये निहितो दृश्यते। अन्यथापि तत्स्तुतिः - एतेनान्तर्यामरसस्यान्तःपवित्रदेशप्रापणेनैवास्य यजमानस्योपांशुरसो बहिःपवित्राद् गृहीतोऽप्यन्तःपवित्राद् गृहीतो भवतीति प्रसिद्धम्।

पवित्रेणैव सोमस्य शोधने कारणं जिज्ञासापूर्वकमुच्यते—'अथ यस्मात् सोमं पवित्रेण पावयति तत्र वै सोमः स्वं पुरोहितं बृहस्पतिं जिज्यौ तस्मै पुनर्ददौ तेन सꣳशशाम तस्मिन् पुनर्ददुष्यासैवातिशिष्टमेनो यदीन्नूनं ब्रह्मज्यानायाभिदध्यौ' (श० ४।१।२।४)। 'तं देवाः पवित्रेणापावयन्। स मेध्यः पूतो देवानाꣳ हविरभवत् तथो एवैनमेष एतत्पवित्रेण पावयति स मेध्यः पूतो देवानां हविर्भवति' (श० ४।१।२।५)। यस्मात् कारणात् पवित्रेण पावयति तत्किं कारणमित्याख्यायिकयाह—यत्र यदा सोमश्चन्द्रः स्वं स्वकीयं पुरोहितं बृहस्पतिं जिज्यौ दारापहरणेन मानहीनमकरोत्। 'ज्या वयोहानौ' इति धातोर्लिटि 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (पा० सू० ६।१।१७) इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। वयोहानिवचनोऽपि जिनातिरिह हानिमात्रं लक्षयति। सा च हानिर्मानस्येति प्रकरणाल्लभ्यते। इन्द्रबृहस्पत्यादिदेवानां वचनमनादृत्य युद्धे तान् जित्वापि तैः प्रार्थ्यमानस्तान् दारान् पुनर्बृहस्पतये ददौ। तेन दानेन स बृहस्पतिः संशशाम सम्यगेकान्तहृदयोऽभूत्। ददुषि दत्तवत्यपि तस्मिन् सोमे दारा गता इति ब्रह्मज्यानाय ब्राह्मणमानहानाय चिन्तितवान्। तदेनः पापमतिशिष्टं स्थितमास बभूव एव। इत्थं पापिनं चन्द्रं सोमलतारसरूपं विधाय दशापवित्रेण अपावयन् तथा पवित्रश्चन्द्रः पूतः सन् देवानां हविरभूत्। एषाख्यायिका पुराणेषु प्रसिद्धा। तथैव त्वेष यजमान एनमभिषुतं सोमरसं दशापवित्रेण पावयति। स च सोमरसो देवानां हविष्ट्वाय योग्यो भवति। पवित्रेण पावने कारणमुक्तम्, अथ पूतस्योपयामेन ग्रहणे कारणमुच्यते—'तद्यदुपयामेन ग्रहा गृह्यन्ते। इयं वा अदितिस्तस्या अदः प्रायणीयꣳ हविरसावादित्यश्चरुस्तद्वैतत्पुरेव सुत्यायै सा हेयं देवेषु सुत्यायामपि त्वमीषेस्त्वेव मेऽपि प्रसुते भाग इति' (श० ४।१।२।६)। उपयच्छति सोममित्युपयामो दारुपात्रम्। तेन सोमरसो गृह्यते इति यत् तत्रायं वक्ष्यमाणो हेतुः—इयं वा अदितिरिति। उपयामः पृथिवीति वक्ष्यति। सेयमुपयामात्मिका पृथिवी अदितिर्देवता। प्रायणीयेष्टिसम्बन्धिहविरात्मको यश्चरुरसावादित्योऽदितिदेवताक इति प्रसिद्धम्। अतोऽसावुपयामात्मिका पृथिव्येव भवति। तदेतद्धविः सुत्यादिवसात् प्रागेव दीक्षानन्तरं प्रथमोपसद्दिवसे क्रियते। सेयमदितिः सुत्यादिवसेऽपि देवतानां मध्ये, अपि त्वं चरुरूपाद् भागादन्यं सोमरूपं भागमीषे इयेष। ईषे इत्यात्मनेपदम्। त्वशब्दोऽकारान्तः सर्वनामस्वन्यपर्यायः, 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे' (ऋ० सं० ८।२।२३) इति श्रूयते। अदित्या एतद्वाक्यमभिषुते सोमे पूर्वं चरुं स्वीकृतवत्या अपि मम भागो अस्त्वेवेति। 'ते ह देवा ऊचुः। व्यादिष्टोऽयं देवताभ्यो यज्ञस्त्वयैव ग्रहा गृह्यन्तां देवताभ्यो हूयन्तामिति तथेति सोऽस्या एष प्रसुते भागः' (श० ४।१।२।७)। ते ह देवा ऊचुरयं यज्ञो देवताभ्यो व्यादिष्टो दत्तः, अतः सर्वेऽपि सोमरसास्त्वयैव गृह्यन्ताम्, त्वयैव देवताभ्यो हूयन्तामिति। एतावतैव त्वं सोमे लब्धभागा भविष्यसीति। सा च तथास्त्वित्याह। 'तद्यदुपयामेन ग्रहा गृह्यन्ते। इयं वा उपयाम इयं वा इदमन्नाद्यमुपयच्छति पशुभ्यो मनुष्येभ्यो वनस्पतिभ्य इतो वा ऊर्ध्वा देवा दिवि हि देवाः' (श० ४।१।२।८)। यदेष तस्या अदित्यै भागो

भाष्यसार—'उपयामगृहीतोऽसि' इस ऋचा के द्वारा सूर्योदय हो जाने पर अन्तर्याम नामक पात्र में सोमरस का

नाम पृथिव्याश्च उपयाम इति नाम प्रसिद्धम्। यत इयं पृथिवी पश्वादिभ्यस्तृणादिरूपमन्नं प्रयच्छति। मृण्मयशरावादित्यागेन उपयामनामकोर्ध्वपात्ररूपतयैव पृथिव्या सोमग्रहेऽयं हेतुः, यदित ऊर्ध्वं स्वर्गे देवा वर्तन्ते। 'तद्यदुपयामेन ग्रहा गृह्यन्ते। अनयैव तद् गृह्यन्तेऽथ यद्योनौ सादयतीयं वा अस्य सर्वस्य योनिरस्यै वा इमाः प्रजाः प्रजाताः' (श० ४।१।२।९)। ग्रहाणां खरे सादनमभिधातुं स्तौति—अथेति। योनौ खरे ग्रहान् सादयति, तत्रायं हेतुः—इयं खरात्मिका भूमिः, अस्य सर्वस्य जगत उत्पत्तिस्थानम्। अतः पृथिव्याः सकाशात् प्रजा प्रजाताः। 'तं वा एतꣳ रेतोभूतꣳ सोममृत्विजो बिभ्रति यद्वा अयोनौ रेतः सिच्यते प्र वै तन्मीयतेऽथ यद्योनौ सादयत्यस्यामेव तत्सादयति' (श० ४।१।२।१०)। कृत्स्नपृथिव्यात्मकश्चायं खरप्रदेशः। लतासारतया रेतोवद् रेतोभूतमेतं सोममृत्विजो बिभ्रति खरात्मिकया भूम्या उद्धृतं कुर्वन्ति। यदि हि खरादन्यत्र सादयेत् तदा अयोनौ रेतः सिक्तम्, रेतोभूतः स सोमः स्वप्रयोजनप्रसवाय समर्थो न भवेत्। खरे सादनं योनावेव सादनम्, तेन नायं दोषः।

'प्राणोदानौ ह वा अस्यैतौ ग्रहौ। तयोरुदितेऽन्यतरं जुहोत्यनुदितेऽन्यतरं प्राणोदानयोर्व्याकृत्यै प्राणोदानावेवैतद् व्याकरोति तस्मादेतौ समानावेव सन्तौ नानेवाचक्षते प्राण इति चोदान इति च' (श० ४।१।२।११)। उपांश्वन्तर्यामयोः कालभेदं स्तुवन् विधत्ते—प्राणोदानौ हेति। अस्य सोमयागस्य सम्बन्धिनौ एतौ उपांश्वन्तर्यामग्रहौ क्रमेण प्राणोदानात्मकौ यतोऽतस्तयोरन्यतरमन्तर्यामं सूर्य उदिते जुहोति, अन्यतरमुपांशुमनुदिते जुहोति। एवं कालभेदात् प्राणोदानावसङ्कीर्णौ द्विधा कृतौ भवतः। अनेन हि कालभेदेन तावुभौ विभक्तौ करोति। विभागादेव चैतौ समानरूपावपि सन्ता एकं प्राण इति, अपरमुदान इति भेदेन व्यवहरन्ति। 'अहोरात्रे ह वा अस्यैतौ ग्रहौ। तयोरुदितेऽन्यतरं जुहोत्यनुदितेऽन्यतरमहोरात्रयोर्व्याकृत्याऽहोरात्रे एवैतद् व्याकरोति' (श० ४।१।२।१२)। न केवलं प्राणोदानविभागः, किन्त्वहोरात्रव्याकृतिरपि प्रयोजनमित्यनन्तरमेव विधिमनूद्य स्तौति—'अहः सन्तमुपाꣳशुं तꣳ रात्रौ जुहोत्यहरेवैतद्रात्रौ दधाति तस्मादपि सुतमिस्रायामुपैव किञ्चित् ख्यायते' (श० ४।१।२।१३)। एकस्यैव प्राणस्य वृत्तिभेदात् प्राणोदानव्यवहार इत्युक्तम्। सूर्यश्च प्राणात्मकः। अग्निवाय्वादित्यान् प्रकृत्य श्रूयते—'स एष प्राणस्त्रेधा विहितः' इति। सूर्यस्योपरि सञ्चारो दिनम्, अधःसञ्चारो रात्रिः। अतः सूर्यात्मकप्राणस्यात्यूर्ध्वगमनात्मिका प्रवृत्तिरहः, अधःसञ्चारात्मिका उदानवृत्तिः रात्रिः। एवं स्थिते प्राणवृत्तिरूपतया अहरात्मकस्योपांशोः रात्रिशेषे होमेन अहरेव रात्रौ दत्तं भवति। अह्नो रात्रौ दानादेव निबिडतमस्कायामपि रात्रौ उदधसमीपे कियांश्चित्प्रकाशो भवति। एवमुदानवृत्तिरूपतया रात्र्यात्मकस्यान्तर्यामस्य अहरुपक्रमे होमेन रात्रिरहनि दत्ता भवति, अतः प्रभाते मध्याह्ने इव नातितापः। तेनाहोरात्रव्यत्यासेनाहरादावपि शैत्याद्रात्रिशेषेऽपि प्रकाशान्मुख्यव्यवहारसम्मत्या प्रजाः परित्राताः, अत उक्तः कालविभागः प्रशस्तः। 'रात्रिꣳ सन्तमन्तर्यामं तमुदिते जुहोति रात्रिमेवैतदहन् दधाति तेनो हासावादित्य उद्यन्नेवेमाः प्रजाः न प्रदहति तेनेमाः प्रजास्त्राताः' (श० ४।१।२।१४)।

उपांश्वन्तर्यामौ नाम यद् युगलम्, एतत् समानमेकं वस्तु हि यत एतौ प्राणोदानौ तौ चैकः प्राण एव तद्वृत्तिभेदत्वात्। एतेनो हैवेति। इतरेष्वप्यैन्द्रवायववादिग्रहेष्वपि ग्राह्यस्यास्य सोमरसस्य एतेनैव दशापवित्रेण क्रियमाण एष धारास्रावोऽनाश्रितोऽविच्छिन्नः कर्तव्यः। तदेवाहापस्तम्बः—'सन्ततया आस्रावयितव्याया धाराया अन्तर्यामं गृह्णाति सर्वांश्चातो ग्रहानाध्रुवात्' इति। 'उदितेऽन्तर्यामग्रहणमुपयामगृहीत इति'

ग्रहण किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।१) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

(का० श्रौ० ९।६।१)। उदिते सूर्येऽन्तर्यामसंज्ञे पात्रे सोमरसग्रहं गृह्णीयात्। 'इन्द्रो वै मघवान्' इति श्रुत्यनुसारेणात्र मन्त्रे मघवन्नितीन्द्रः सम्बोध्यते, तस्य यज्ञं प्रति नेतृत्वात्। आत्मनः प्राणने स च सम्बोध्यते। अन्तः पदेनोदानात्मकः सोमो गृह्यते। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। उपयामयतीत्युपयामो ग्रहस्तेनोपयामपात्रेण गृहीतोऽसि। हे मघवन्, त्वं तादृशं ग्रहपात्रमन्तर्यच्छ शत्रुभ्यो व्यवधानं यथा भवति तथा नियमय, तथा सोमं पालय तथा रायो धनानि उरुष्य रक्ष। उरुष्यती रक्षणकर्मा। यद्वा 'पशवो रायः' इति श्रुत्यनुसारेण पशून् रक्ष आ इषो यजस्व इषोऽन्नान्यासमन्ताद् देहि। यद्वा इषः प्रजाः, अन्नप्रभवत्वात्, 'प्रजा वा इषः' इति श्रुतेः, यजस्व याजयस्व। 'अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसीत्युक्त उपयामस्य बन्धुरन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोममितीन्द्रो वै मघवानिन्द्रो यज्ञस्य नेता तस्मादाह मघवन्निति पाहि सोममिति गोपाय सोममित्येवैतदाहारुष्य राय एषो यजस्वेति पशवो वै रायो गोपाय पशूनित्येवैतदाहेषो यजस्वेति प्रजा वा इषस्ता एवैतद्यायजूकाः करोति ता इमाः प्रजा यजमाना अर्चन्त्यः श्राम्यन्त्यश्चरन्ति' (श० ४।१।२।१५)। एतेन स्पष्टतया पूर्वोक्तव्याख्यानं समर्थ्यते।

अध्यात्मपक्षे हे मघवन्निन्द्र सर्वैश्वर्यपूर्णपरमेश्वर, उपयामैः संयमैः सानुरागैर्गृहीतोऽसि। भक्त्या गृहीतचरणो भगवान् उपयामगृहीत इव संदंशगृहीत इव भक्तपरवशो भवति। अन्तर्यच्छ अन्तर्मनोबुद्धीन्द्रियादीनि यच्छ नियमय। सोमं प्रेमात्मकं सोमं पाहि। राये ज्ञानवैराग्यशमदमादींश्च उरुष्य रक्ष। इषः सर्वा अपि प्रजा आ यजस्व आसमन्ताद् याजयस्व यायजूकाः कुरु, त्वदनुग्रहेण सर्वाः प्रजास्त्वदर्चनपरायणा भवन्तु, परमेश्वरस्येवान्तर्यामित्वेन सर्वप्रेरकत्वात्।

यत्तु—'हे योगजिज्ञासो, यतस्त्वमुपयामैर्योगनियमैर्गृहीत इवासि, तस्मादन्तर्यच्छ पवनमनइन्द्रियाणि नियमय। हे मघवन्, सोमं योगविद्यासिद्धमैश्वर्यं पाहि। क्लेशानुरुष्य अविद्यादिक्लेशान्नाशय। यतो राय इव ऋद्धिसिद्धिरूपाः सिद्धीरायजस्व सम्यक् प्राप्नुहि' इति, तदपि न युक्तम्, शतपथेनान्यथा व्याख्यातत्वात्। मघवन्निति यज्ञस्य नेतृत्वादिन्द्र इति तत्र व्याख्यातम्। पूर्वोक्तशतपथश्रुतिविरुद्धत्वात् तद्विरुद्धं त्याज्यमेव ॥४॥

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥ ५ ॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे सर्वैश्वर्यपूर्ण परमेश्वर, आप प्रेमपूर्ण संयम के द्वारा गृहीत हैं। भक्ति से पकड़े गये चरणों वाले भगवान् दोनों ओर से पकड़े गये व्यक्ति की भाँति भक्तों के परवश हो जाते हैं। आप हमारे मन, बुद्धि आदि अन्तःकरणों को नियन्त्रित कीजिये। प्रेमात्मक सोम की और ज्ञान, वैराग्य, शम, दम आदि धन की रक्षा कीजिये। समस्त प्रजाओं को पूर्णतः यज्ञपरायण बनाइये। आपकी कृपा से सभी प्रजाएँ आपकी उपासना में परायण बनें, क्योंकि परमेश्वर ही अन्तर्यामी होने के कारण सबका प्रेरक है।

स्वामी दयानन्द का अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि शतपथ श्रुति द्वारा मन्त्र का व्याख्यान भिन्न प्रकार से किया गया है। मघवा का अर्थ वहाँ इन्द्र किया गया है। शतपथ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण यहाँ प्रदर्शित अर्थ त्याज्य है ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे मघवन्! आपके अनुग्रह से मैं स्वर्ग और पृथ्वी की स्थापना करता हूँ और इन दोनों के बीच में विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को स्थापित करता हूँ। हे इन्द्र! पृथ्वी स्थान वाले और आकाशस्थानीय, अर्थात् द्युलोक में निवास करने वाले देवताओं के साथ तुम्हारी समान रूप से प्रीति है, तुम अन्तर्याम ग्रह से सोमरस का ग्रहण कर स्वयं अपने को और इन सबको तृप्त करो ॥ ५ ॥

मघवद्दैवत्या त्रिष्टुप् , अन्तर्यामग्रहणे विनियुक्ता । हे मघवन्निन्द्र, ते तवानुग्रहेण द्यावापृथिवी अन्तर्दधामि व्यवधायिके करोमि । यद्वा यस्य प्राणरूपापन्नस्य तवान्तः शरीरमध्ये द्यावापृथिव्यौ दधामि स्थापयामि । अन्तर्मध्ये द्यावापृथिव्योर्मध्ये उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं च दधामि । हे मघवन् धनवन्, अवरैः पृथिवीस्थानैर्देवेभिर्देवैः परैर्द्युस्थानैः सजूः समानजोषणः समानप्रीतिः सन्नन्तर्यामे ग्रहे मादय स्वात्मानं हर्षयस्वान्यानपि हर्षयस्व, यद्वा तृप्यस्व, तृप्तौ चुरादिरात्मनेपदी । देवेभिरित्यत्र 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।१०) इत्यैसोऽभावे 'बहुवचने झल्येत्' (पा० सू० ७।३।१०३) इत्येकारः ।

शतपथे तदेवोक्तम्—'अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधामि । अन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षं सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चेति तदेनं वैश्वदेवं करोति तद्यदेनेनेमाः प्रजाः प्राणत्यश्चोदानत्यश्चान्तरिक्षमनुचरन्ति तेन वैश्वदेवोऽन्तर्यामि मघवन्मादयस्वेतीन्द्रो वै मघवानिन्द्रो यज्ञस्य नेता तस्मादाह मघवन्नित्यथ यदन्तरन्तरिति गृह्णाति गृह्णात्यन्तस्त्वात्मन् दध इत्येवैतदाह' (श० ४।२।१।१६) । विहितमन्तर्यामग्रहणमनूद्य तत्र मन्त्रं विनियुज्योपयामगृहीतोऽसीति पञ्चधा विभागेन मन्त्रं संस्काराय व्याचष्टे स्वमेव श्रुतिः । ग्रहणादिखरासादनान्तप्रयोगकथनानन्तरमित्यथ-शब्दार्थः । अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तरिति तदेनं वैश्वदेवं करोतीति तेन मन्त्रपठनेनैनं ग्रहं विश्वेदेवोपकारकं करोति । कथमिति चेत्, लोकत्रयस्य तदन्तर्वर्तिपरापरदेवानां चैतद्ग्रहमध्ये स्मरणात्मके निधानेन ते पराश्चा-वराश्च सर्वे देवा अव्याहतप्राणोदानवृत्तयो यतोऽन्तरिक्षेण सुखिनश्चरन्ति, अतो विश्वेदेवोपकारकताऽस्य ग्रहस्य । 'तृतीयार्थे' (पा० सू० १।४।८५) इत्यनुः कर्मप्रवचनीयः, तद्योगादन्तरिक्षमिति द्वितीया । अन्तर्यामि मघवन् मादयस्व, इन्द्रो वै मघवानिति तस्य यज्ञं प्रति नेतृत्वादात्मनः प्राणने स सम्बोध्यते । अत्र समस्ते मन्त्रे योऽयमन्तरन्त इत्यसकृत्प्रयोगः, तेन हे सोमात्मक उदान, त्वामहमात्मन्यन्तः स्थापयामीत्युच्यते । हे उदानात्मक सोम, त्वमिमं सोममन्तरे नियमय रक्ष च । अस्मिन् यज्ञे प्रवर्ग्यार्थस्य च पयसो दोग्ध्रीर्गाश्च रक्ष । यथा च लोकाः सर्वेऽमुना सोमेन यजन्ते तथा कुरु । हे सोम, त्वय्येव लोकत्रयं प्रणिधानेन स्थापयामि । हे मघवन्, स्वर्गमर्त्यलोक-वर्तिभिर्देवैः सहास्मिन्नन्तर्यामग्रहे स्वमात्मानं तर्पयेति समस्तस्य मन्त्रस्यार्थः ।

यद्यपि श्रुतिसूत्रसम्मत एव मन्त्रार्थो युक्तस्तथापि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० १।२।१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५।१५) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां ब्रह्मात्मपरत्वं मन्त्राणां सम्भवत्येवेति हे मघवन्निन्द्र परमेश्वर, ते तवान्तर्मध्ये द्यावापृथिव्यौ दधामि चिन्तयामि । उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं च तवान्तर्दधामि चिन्तयामि । यथा दर्पणे सूर्यचन्द्रनक्षत्रमण्डलादिसहितमाकाशादिकं प्रतिबिम्बते, तथैव चिद्रूपे स्फारे द्यावापृथिव्यौ उर्वन्तरिक्षं तत्स्थानि सर्वाणि वस्तूनि च प्रतिबिम्बन्यायेन विभान्ति । हे मघवन्, अवरैर्भूमिष्ठैः परैर्द्युलोकस्थैश्च देवेभिर्देवैः समानजोषणः समानप्रीतिश्च सन् यमानामहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहलक्षणानां समूहो यामस्तस्मिन् यामे, अर्थाद् यमनिमित्तमन्तर्मम हृदये मादयस्व मां देवांश्च हर्षयित्वा हृष्टो भव ।

भाष्यसार—'अन्तस्ते' यह ऋचा भी अन्तर्याम ग्रह के ग्रहण में विनियुक्त की गई है । शतपथ श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

यद्यपि श्रुति तथा सूत्रों से संमत हो मन्त्रार्थ युक्त है, तथापि 'सभी वेद जिसके स्वरूप का वर्णन करते हैं' तथा 'समस्त वेदों के द्वारा मैं ही ज्ञातव्य हूँ' इत्यादि श्रुति एवं स्मृति के वचनों से मन्त्रों का ब्रह्मात्मपरक अर्थ होना सुसंभव ही है । अतः यह अर्थ है—हे परमेश्वर, आपके अन्तर्गत मैं द्युलोक तथा पृथिवी को समझता हूँ तथा विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को

दयानन्दस्तु—'हे मघवन् योगिन्, अहं परमेश्वरस्ते तव अन्तः शरीरमध्ये द्यावापृथिवी भूमिसूर्याविव विज्ञानादिपदार्थान् दधामि। उरु बहु अन्तरिक्षमन्तरालाकाशमन्तर्दधामि। सजूर्मित्र इव देवेभिर्विद्वद्भिरवरैर्निकृष्टैः परैरुत्तमैर्व्यवहारैश्च सह अन्तर्यामि, यमानामयं यामः, अन्तश्चासौ यामश्चेत्यन्तर्यामस्तस्मिन् आन्तरे नियमसमूहे, मघवन् धनितुल्ययोगिन्, मादयस्व हर्षयस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मघवन्नित्यस्य योग्यर्थकत्वे मानाभावात्, भूमिसूर्ययोः शरीरमध्ये कथमवस्थानमिति साधयित्वैव तद्दृष्टान्तेन विज्ञानादिपदार्थानामन्तःस्थापनत्वोक्तिः सम्भवति। न च तत्साधितम्, घट इव शरीरेऽपि द्यावापृथिव्योरसम्भवात्। अन्तरालाकाशमात्रस्यान्तः स्थापयितव्यत्वे उरु इति विशेषणं व्यर्थमेव स्यात्। देहमध्यवर्त्यन्तरालाकाशस्यैव तत्त्वेऽहं परमेश्वरस्तव योगिनोऽन्तः स्थापयामीत्युक्तेरपार्थकत्वमेव। देवेभिरित्यस्य विशेषणत्वेनावरैः परैश्चेति श्रुतम्। तदपहाया-श्रुतव्यवहारपदमध्याहृत्य तस्य विशेषणत्वेन तयोर्योजनमयुक्तमेव। न च निकृष्टविदुषां निकृष्टव्यवहारस्यान्तर-नियमसमूहे वर्तमाने करणत्वं सम्भवति। पदार्थव्याख्याने 'मादयस्व' इत्यस्य 'हर्षयस्व' इत्यर्थ उक्तः, कर्मनिर्देशस्तु तत्र नास्त्येव। हिन्दीभाष्ये तु 'प्रयत्नं कुरु' इत्युक्तम्, तत्कथमिति तु नोक्तम्। भावार्थे तु दयानन्दः सर्वतो विलक्षणमसम्बद्धं च वक्ति। तथाहि—'ईश्वर उपदिशति ब्रह्माण्डे यादृशा यावन्तः पदार्थाः सन्ति, तादृशास्तावन्तो मम ज्ञाने वर्तन्ते। योगविद्यादिरहितस्तान् द्रष्टुं न शक्नोति' इति। एवंविधो भावो न मन्त्रगतपदैः कथमप्यानेतुं शक्यते ॥ ५ ॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिभ्य उदानाय त्वा ॥ ६ ॥

भी आपमें ही देखता हूँ। जिस प्रकार दर्पण में सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र-मण्डल आदि के सहित आकाश प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकार चिद्रूप परमेश्वर में द्यावापृथिवी, विस्तृत अन्तरिक्ष तथा उनमें स्थित अन्य समस्त वस्तुएँ प्रतिबिम्बन्याय से प्रदर्शित होती हैं। हे मघवन्, भूमि पर स्थित तथा द्युलोक में अवस्थित देवताओं के साथ समान प्रीतियुक्त होकर, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि यमों के समूह याम में, अर्थात् यमनिमित्तक मेरे हृदय में आप मुझे तथा देवताओं को आनन्दित करते हुए प्रहृष्ट रहें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ ग्राह्य नहीं है, क्योंकि 'मघवन्' शब्द का योगी अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। अवरैः, परैः—ये दोनों पद 'देवेभिः' शब्द के विशेषण के रूप में मन्त्र में स्पष्ट निर्दिष्ट हैं। इसको छोड़ कर अपठित 'व्यवहार' शब्द का अध्याहार करके उसके विशेषण के रूप में इन दोनों पदों को लगाना अनुचित है। पदार्थव्याख्या में 'मादयस्व' पद का अर्थ 'हर्षित करो' यह बताया गया है। परन्तु वहाँ कर्म का निर्देश तो है ही नहीं। भावार्थ में तो सबसे विलक्षण असम्बद्ध अर्थ कहा गया है। इस प्रकार का भाव मन्त्र के पदों से तो किसी भी प्रकार नहीं लाया जा सकता ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्राणरूप उपांशु ग्रह ! सम्पूर्ण इन्द्रियों से, सम्पूर्ण पार्थिव द्विपद, चतुष्पद और दिव्य प्राणियों से तुम स्वयं प्रादुर्भूत हो। मन प्रजापति तुम्हारा आधिपत्य करें। हे प्रसंशित जन्म वाले ! सूर्य रूप प्रजापति की प्रीति के निमित्त तुम्हारी आहुति देता हूँ। हे सुन्दर अन्तर्याम ग्रह ! सूर्य के लिये, सूर्य की मरीचियों का पान करने वाले देवताओं के लिये और उदान देवता की प्रीति के लिये मैं तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ६ ॥

स्वाङ्कृत इति मन्त्रेण निःशेषस्यैवान्तर्यामस्थसोमरसस्यैव होमस्तिष्ठतः 'प्रथमे च न्युब्जेन पाणिना प्रत्यगिति' (का० श्रौ० ९.६.४)। प्रथमे परिधावधोमुखेन हस्तेन प्रत्येक्संस्थमुपमार्ष्टि। उदानाय त्वेति पात्रासादनम्। उदानसन्तोषार्थं त्वां सादयामीति मन्त्रार्थः। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव। 'तं गृहीत्वा परिमार्ष्टि' (श० ४।१।२।१७) इत्यादिकं तूपांशुग्रहतुल्यमेव। तत्रत्यप्राणपदस्थानेऽत्रोदानपदमित्येव विशेषः। उपांशोरभिचारे सादनविधानं च नान्यत्रेत्युक्तम्। उभयमन्तर्यामेऽपि तथेत्याह—'स यद्युपाᳬशुं सादयेदिति' (श० ४।१।२।१८)। 'ता उ ह चरका नानैव मन्त्राभ्यां जुह्वति प्राणोदानौ वा अस्यैतौ नानावीर्यौ प्राणोदानौ कुर्म इति वदन्तस्तदु तथा न कुर्याद् मोहयन्ति ह ते यजमानस्य प्राणोदानावपीद्वा एनं तूष्णीं जुहुयात्' (श० ४।१।२।१९)। चरकशाखिनस्तौ उपांश्वन्तर्यामग्रहौ भिन्नाभ्यां मन्त्राभ्यां जुंह्वति। तथा जुह्वतां तेषामाशयः—एतौ ग्रहौ यजमानस्य प्राणोदानौ। निर्गमनकर्मा प्राणः, प्रवेशकर्मा चोदानः। भिन्नव्यापारत्वाद् भिन्नमन्त्रकरणेन एतौ ग्रहौ प्राणापानात्मकौ कुर्म इति। तदु तथा न कुर्यादिति तन्मतापाकरणम्। 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायेन स्वशाखीयकर्मप्रशंसार्थमेव चरकशाखीयपक्षनिन्दनम्। एकस्यैव सतः प्राणस्य वृत्तिभेदान्नानात्मनोः प्राणोदानयोर्नानामन्त्रकरणेन स्वरूपभेदजननाय व्याकुलीकरणं यद् द्वेधाकरणम्। अपि वा एनं तूष्णीं जुहुयात्। न तु भिन्नाभ्यां मन्त्राभ्यां जुहुयात्। न चैवं मन्त्रैकतया होमस्य वैकल्यम्, उपांशोर्मन्त्रवत्त्वेनैवास्यापि तत्सिद्धेः। किञ्च, यद्युपांशुमन्त्रान्मन्त्रान्तरेणान्तर्यामः क्रियेत, तथाप्युपांशुमन्त्रेण कृत एव, उभयोरैक्यात्। यदा त्वमन्त्रकः क्रियेत, तदा विरोधिमन्त्रान्तराभावत्वेनैव मन्त्रेण कृत इति किमु वक्तव्यम्? एक एव हि स ग्रहः, प्राणोदानात्मकत्वात्, तयोश्च प्राणवृत्तिभेदमात्रात्मकत्वात्। तदेवोच्यते श्रुत्या—'स यद्वा उपाᳬशुं मन्त्रेण जुहोति तदेवास्यैषोऽपि मन्त्रेण हुतो भवति किमु तत् तूष्णीं जुहुयात् समानᳬ ह्येतद्यदुपाᳬश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ हि' (श० ४।१।२।२०)। यदि त्वमन्त्रकत्वानुशयपरिहाराय मन्त्रेणैवायं कर्तव्य इति निर्बन्धः, तर्हि येनैवोपांशुः क्रियते, तेनैव स्वाङ्कृत इत्यादिमन्त्रेणायमिति। अस्य च यजुष उपांशुग्रहलक्षणस्वार्थेन सह यो बन्धुसम्बन्ध उक्तः, स एव प्राणद्वारा तदात्मकस्यान्तर्यामस्यापीति पृथगनुक्तोऽप्युक्त एवेति मन्तव्यम्।

तदेवोक्तम्—'स येनैवोपाᳬशुं मन्त्रेण जुहुयात् तेनैवैतं मन्त्रेण जुहोति स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य····सूर्यायेत्युक्तो यजुषो बन्धुः' (श० ४।१।२।२१)। 'अथ हुत्वावाञ्चं ग्रहमवमार्ष्टि। इदं वा उपाᳬशुᳬ हुत्वोर्ध्वमुन्माष्टर्यथात्रावाञ्चमवमार्ष्टि प्रत्यञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति' (श० ४।१।२।२२)। 'अथ नीचा पाणिना। मध्यमे परिधौ प्रत्यगुपमार्ष्टीदं वा उपाᳬशुᳬ हुत्वोत्तानेन पाणिना मध्यमे परिधौ प्रागुपमार्ष्ट्यथात्र नीचा पाणिना मध्यमे परिधौ प्रत्यगुपमार्ष्टि प्रत्यञ्चमेवास्मिन्नेतदुदानं दधाति देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य इति सोऽसावेव बन्धुः' (श० ४।१।२।२३)। उपांशोरुन्मार्जनं यथा विहितं तद्वैलक्षण्यमन्तर्यामे सोपपत्तिकं विधत्ते—अथ हुत्वेति। अन्तर्यामं हुत्वाऽवमार्ष्टि। उपांशौ उन्मार्जनमुक्तम्। उदानस्य प्रत्यग्विधानं ह्यन्तर्यामावमार्जनप्रयोजनम्। मध्यमे परिधौ अवाङ्मुखेन पाणिना प्रत्यगन्तर्याममुपमृज्यात्। यत एतद्विपरीतमुपांशावुपमार्जनम्। अन्तर्यामस्य मन्त्रं विधाय स्तौति—'तं प्रत्याक्रम्य सादयति। उदानाय त्वेत्युदानो ह्यस्यैष तानि वै सᳬस्पृष्टानि सादयति प्राणोदानानेवैतत् सᳬस्पर्शयति प्राणोदानान् सन्दधाति' (श० ४।१।२।२४)। यतोऽन्तर्याम उदानोऽतस्तत्सादने

भाष्यसार—'स्वाङ्कृतोऽसि' इस कण्डिका से अन्तर्याम ग्रह का होम, तदनन्तर पात्रासादन आदि कर्म अनुष्ठित किये जाते हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९.६.५) में प्रतिपादित है।

उदानाय त्वेति मन्त्रः। सादने विशेषं विधाय स्तौति—उपांश्वन्तर्यामोपांशुसवनानि परस्परं यथा संस्पृष्टानि भवन्ति तथा सादयेत्। तस्य च प्रयोजनं प्राणोदानव्यानानां सदा संगत्याऽवस्थापनम्। प्राणोदानयोः सन्ध्यात्मकतया व्यानोऽपि ताभ्यामेव गृह्यते, 'अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः' (छा० उ० १।३।३) इति श्रुतेः। 'तानि वा अनिङ्ग्यमानानि शेरे···सवनः' (श० ४।१।२।२६)। आसादितानां त्रयाणां तृतीयसवनपर्यन्तमव्यापारं तत्र हेतुमाह—तानीति। अनिङ्ग्यमानान्यव्याप्रियमाणानि शेरे शेरते। यथा मनुष्याः कियन्तं कालं सुप्त्वा प्रबुद्ध्यन्ते, तदा अनलसा व्याप्रियन्ते। पक्षिरूपता यज्ञस्योच्यते—यथा पक्षिणः पक्षौ मध्यभागस्तथा यज्ञस्य उपांश्वन्तर्यामौ पक्षौ, उपांशुसवनो मध्यभागः। उपांश्वादीनि तृतीयसवनपर्यन्तं निर्व्यापाराणि तिष्ठन्ति। तृतीयसवने च तैः स यज्ञस्तायते। यज्ञस्य विस्तार एव प्रबोधो यज्ञपक्षिणो गमनम्। पात्राणि नैकत्रासादितानि तिष्ठन्ति, किन्तु तत्र तत्र व्याप्रियन्ते। तदेतद्यज्ञपक्षिणो लौकिकपक्षवतः प्रबोधानन्तरं पक्षौ विक्षिप्य पक्ष्यन्तरसङ्गमवियुक्तं वियति विष्कम्भेण गमनम्। आसादितानामुपांश्वादीनां त्रयाणां लोकत्रयात्मकत्वेनापि प्राशस्त्यमाह—'इयं ह वा उपाꣳशुः। प्राणो ह्युपाꣳशुरियाꣳ ह्येव प्राणन्नभि प्राणित्यसावेवान्तर्याम उदानो ह्यन्तर्यामोऽमुꣳ ह्येव लोकमुदनन्नभ्युदनित्यन्तरिक्षमेवोपाꣳशुसवनो व्यानो ह्युपाꣳशुसवनोऽन्तरिक्षꣳ ह्येव व्यनन्नभिव्यनिति' (श० ४।१।२।२७)। उपांशुर्भूलोकात्मकः। स च प्राणात्मकः, भुवमेवाश्रित्य सर्वे प्राणन्ति। अन्तर्यामो द्युलोकात्मकः, स ह्युदानात्मकः। उदानश्चावार्ग्वृत्तितया प्राणोत्क्रमणप्रतिबन्धकत्वेन जीवनहेतुः। जीवन्तश्च सर्वे यागदानादिभिरमुं लोकं साधयाम इत्येव जीवन्ति। अमुं लोकं लक्षयित्वोदनन्तीत्यसौ लोक उदानात्मकः। उपांशुसवनोऽन्तरिक्षलोकात्मकः। स च प्राणोदानसन्धिरूपो व्यानात्मकः। व्यानव्यापाराणामृक्सामाभिव्याहाराग्निमन्थनाजिसरणदृढधनुरायमनादीनामप्राणताऽनपानता चैवं भ्रियमाणानामन्तरिक्षलोकमाश्रित्यैव निष्पत्तेः। अन्तरिक्षलोकोऽपि व्यानात्मकोऽत उपांश्वादित्रयस्य लोकत्रयात्मकतया प्राशस्त्यम्। 'अभिरभागे' (पा० सू० १।४।९४) इत्यन्तर्लक्षणे कर्मप्रवचनीयत्वेन तद्योगादमुमन्तरिक्षमित्यादौ द्वितीया ॥ ६ ॥

आ वा॑यो भूष शुचिपा उप॑ नः स॒हस्रं॑ ते नि॒युतो॑ विश्ववार।
उपो॑ ते॒ अन्धो॒ मद्य॑मयामि॒ यस्य॑ देव दधि॒षे पू॑र्व॒पेयं॑ वा॒यवे॑ त्वा ॥ ७ ॥

'ऐन्द्रवायवं गृह्णात्यावायविति' (का० श्रौ० ९।६।६)। ऐन्द्रवायवे ग्रहे इन्द्रवायुदेवताकं सोमं धारातो गृह्णीयात्। वायुदेवत्या त्रिष्टुप्, वशिष्ठदृष्टा। सायणाचार्यरीत्या हे वायो, त्वमागत्य ग्रहानलङ्कुरु। हे शुचिपाः, पवित्रस्य सोमस्य पातः, नोऽस्मानुपागच्छ। हे विश्ववार, तव सहस्रं नियुतोऽश्वाः सन्ति। वायोरश्वस्य नियुत इति नाम। तवाश्वानां सहस्रमस्ति। यद्वा त्वदीयमश्वसहस्रं नितरां युतम्। यद्वा हे वायो हे शुचिपाः! शुचि पवित्रं प्रथमं वषट्कृतमप्राप्तमन्यदेवैः सोमं पिबतीति शुचिपाः पवित्रसोमपाने त्वं नोऽस्माकमुप समीपे मखे आभूष आक्रमस्व, आगच्छेत्यर्थः। 'भूष अलङ्कारे' इह तु गत्यर्थः, धातूनामनेकार्थत्वात्। केनाहमाक्रम इति चेत्, सहस्रं

इस मन्त्र का अर्थ पूर्व (७।३) में ही उपदिष्ट है। अतः पूर्वोक्त अर्थ की भाँति यहाँ भी व्याख्यान समझना चाहिये ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पवित्र पानकारी वायु देवता ! तुम हमारे पास आओ। तृप्तिदायक सोमलक्षण अन्न मैं तुम्हारे पास भिजवाता हूँ। हे दीप्यमान वायु ! जिस सोम के प्रथम वषट्कार लक्षण अन्न का तुम सबसे पहले पान करते हो, उसी को इस समय मैं तुम्हारे पास उपस्थित करता हूँ ॥ ७ ॥

ते नियुतो विश्ववार, विश्वं सर्वं वृणोति व्याप्नोति, विश्वैर्वा व्रियते प्रार्थ्यत इति विश्ववारः, तत्सम्बुद्धौ हे विश्ववार सर्वव्यापक सर्ववरेण्य, ते तव सहस्रं नियुतः सन्ति। 'नियुतो वायोः' (निघ० १।१५।१०) इत्युक्तेर्नियुच्छब्देन वायुवाहनभूता मृगा उच्यन्ते। तवासंख्याता वाहनभूता मृगाः सन्ति, तैरागच्छेत्यर्थः। निघण्टु (१।१५) रीत्या नियुतो वाहनानि वा। किञ्च, मद्यं मदनीयं तृप्तिजनकमन्धः सोमलक्षणमन्नं ते तव, उप समीप एव, अयामि गमयामि, सोमं ते समर्पयामीति यावत्। हे देव द्योतमान वायो, यस्य सोमस्य पूर्वपेयं प्रथमवषट्कारलक्षणं पूर्वपानं त्वं दधिषे धारयसि, दधातेर्लिटि रूपम्। एवं वायुं प्रार्थ्य सोममाह—हे सोमरस, वायवे वायुदेवतार्थं त्वां गृह्णामीति शेषः।

शतपथे विशेषः 'वाग्घ वा अस्यैन्द्रवायवः। एतन्न्वध्यात्ममिन्द्रो ह्यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार सोऽबलीयान् मन्यमानो नास्तृषीतीव बिभ्यन्निलयाञ्चक्रे तदेवापि देवा अपन्यलयन्त' (श० ४।१।३।१)। उपांश्वादिप्रयोगानन्तरमैन्द्रवायवस्य प्रयोगमभिधास्यन् तस्य तदानन्तर्ये कारणमाह—'वाग्घ वेति। प्राणापानव्यानात्मकं तत् त्रयं व्यानकार्या च वाक्, तत्कार्यतया तदात्मकश्चैन्द्रवायवो व्यानात्मकोपांशुसवनसृष्ट्यनन्तरमेव सृष्टश्च, अतो युक्तं तस्य तदानन्तर्यम्। हशब्दः प्रसिद्धौ। वैशब्दस्तां स्मारयति, 'प्राणापानाभ्यामेवोपाᳫंश्वन्तर्यामौ निरमिमीत व्यानादुपांशुसवनं वाच ऐन्द्रवायवम्' (तै० सं० १।९।४) इति श्रुतेः। ननु देहाद्बहिरुपलभ्यमानस्यैन्द्रवायवस्य देहान्तर्वर्तिवागिन्द्रियात्मकता कथमिति चेत्तत्राह—एतन्न्वध्यात्ममिति। द्विविधो ह्यैन्द्रवायवः—आधिभौतिकः, आध्यात्मिकश्च। यो बहिः स आधिभौतिकः, यस्त्वेष वाग्रूपः स आध्यात्मिकः। आत्मनीत्यध्यात्मम्। विधास्यमाने ग्रहे वायोः प्रथमवषट्कारः। तस्य द्विदेवत्यत्वम्। सर्वेषां पात्राणां वायव्यनामेत्यादिव्युत्पादनार्थमाख्यायिकोच्यते—इन्द्रो ह्यत्रेति। इन्द्रो वृत्रं हन्तुं वज्रं चिक्षेप। 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' (पा० सू० २।३।१४) इति चतुर्थी। स इन्द्रः कृतप्रहारो न बलवान्, अतो नूनमनेनाहं वृत्रं नास्तृषि न हतवानिति मन्यमानस्तदागमनाद् भीतः सन् निलीनोऽभूत्। ततस्तस्माद् भयादेव देवा अपन्यलयन्त। न्यलयन्तेति व्यत्ययेन शप्। 'ते ह देवा ऊचुः। न वै हतं वृत्रं विद्म न जीवᳫं हन्त न एको वेत्तु यदि हतो वा वृत्रो जीवति वेति' (श० ४।१।३।२)। 'ते वायुमब्रुवन्। अयं वै वायुर्योऽयं पवते वायो त्वमिदं विद्धि यदि हतो वा वृत्रो जीवति वा त्वं वै न आशिष्ठोऽसि यदि जीविष्यति त्वमेव क्षिप्रं पुनरागमिष्यसीति' (श० ४।१।३।३)। 'स होवाच। किं मे ततः स्यादिति प्रथमवषट्कार एव ते सोमस्य राज्ञ इति तथेत्येयाय वायुरैद्धतं वृत्रᳫं स होवाच हतो वृत्रो यद्धते कुर्यात्तत्कुरुतेति' (श० ४।१।३।४)। वृत्रहननसंशये वृत्रो जीवति न वेति न ज्ञायते। अस्माकमेको गत्वा जानात्विति ते देवा ऊचुः। देवैराशुतरत्वेन ज्ञातुं नियुक्तो वायुस्ततो गमनान्मे किं फलं स्यादिति वरं वव्रे। सोमरसात्मकस्य हविषः सम्बन्धिनि यस्मिन्नैन्द्रवायवे ग्रहे प्रथमं वषट्क्रियते स प्रथमवषट्कारः सोमांशस्तव भाग इति। तथेत्युक्त्वा वायुर्देवेभ्यो निरगच्छत्। हतं वृत्रं च प्राप। पुनरागत्य हतो वृत्रः, हते यद्विभजनाय सोमग्रहविभागादिकं कर्तव्यं तत्कुरुतेति तेभ्यो न्यवेदयत्। 'ते देवा अभ्यसृज्यन्त। यथा वित्तिं वेत्स्यमाना एवᳫं स यमेकोऽलभत स एकदेवत्योऽभवद्यं द्वौ स द्विदेवत्यो यं बहवः स बहुदेवत्यस्तद्यदेनं पात्रैर्व्यगृह्णन् तस्माद् ग्रहा नाम' (श० ४।१।३।५)। ते देवाः सोममभिलक्ष्य असृज्यन्त अन्तरिक्षं गतवन्तो यथा वित्तिं वेत्स्यमानाः। विद्यते लभ्यत इति वित्तिः प्राप्तव्योऽर्थः। तं येन प्रकारेण विभजन्ते, एवं हि स सोमग्रहविभागस्तं विभागं वेत्स्यमानास्तत एवं ज्ञातवन्तः। यं ग्रहं महेन्द्रादिरेकोऽलभत स माहेन्द्रादिरेकदेवत्यः। यं द्वौ स आश्विनादिर्द्विदेवत्यः। यं बहवः स वैश्वदेवादिर्बहुदेवत्यः। तदा एनं सोमं यस्मात् कारणात् पात्रैर्विभज्य देवा अगृह्णन्,

---

भाष्यसार—'आ वायो' इस ऋचा से ऐन्द्रवायव ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन

तस्मात् तानि पात्राणि ग्रहा इति प्रसिद्धाः।

'स एषामपूयत। स एनाञ्छुक्तः पूतिरभिववौ स नालमाहुत्या आस नालं भक्षाय' (श० ४।१।३।६)। 'ते देवा वायुमब्रुवन्। वायविमं नो विवाहीमं न स्वदयेति स होवाच किं मे ततः स्यादिति त्वयैवैतानि पात्राण्याचक्षीरन्निति तथेति होवाच यूयं तु मे सच्युपवातेति' (श० ४।१।३।७)। एषां सम्बन्धी स गृहीतः सोमः पूतिगन्धोऽभवत्। स पर्युषितः पूतिगन्धिरेनान् देवान् प्रत्याजगाम। आहुत्यर्थं हुतशिष्टभक्षणार्थं वा दुर्गन्धत्वेन स सोमरसो योग्यो नासीत्। ते देवा वायुमब्रुवन्, वायो इमं सोमं विवाहि विगतदुर्गन्धं कुरु, अस्मभ्यमिमं रोचयेत्यूचुः। तेन च वरे वृते तन्नाम्ना पात्राणां व्यवहारं प्रायच्छन्। तथेत्यङ्गीकृत्य यूयं मे सर्वे सचि सहायकाः स्थिता वातोपकारिणं व्यापारं कुरुतेत्याह। 'तस्य देवा यावन्मात्रमिव गन्धस्यापजघ्नुस्तं पशुष्वदधुः स एष पशुषु कुणपगन्धस्तस्मात् कुणपगन्धान्नापिगृह्णीत सोमस्य हैष राज्ञो गन्धः' (श० ४।१।२।८)। 'नो एव निष्ठीवेत। तस्माद्यद्यव्यासक्त इव मन्येताभिवातं परीयाच्छ्रीर्वै सोमः पाप्मा यक्ष्मः स यथा श्रेयस्यायति पापीयान् प्रत्यवरोहेदेवꣳ हास्माद्यक्ष्मा प्रत्यवरोहति' (श० ४।१।३।९)। तस्य सोमस्य सम्बन्धिनो गन्धस्य यावन्तं दोषांशं देवा अपनीतवन्तस्तं पशुषु प्राणिषु स्थापितवन्तः। स एष प्राणिषु दृश्यमानः स्वेदादिनिबन्धनो दुर्गन्धः। तत्किं प्रयोगमध्ये स्वेदादिनिबन्धने तस्मिन् गन्धे जुगुप्सा कृता, सा चायुक्ता, यतोऽसौ पशुषु क्षिप्तोऽपि क्षेपात् प्राक् सोमस्य राज्ञो गन्धो जातः। तदनाघ्राणाय वस्त्रादिना नासिकाऽऽच्छादनीया। मुखगतस्य परिहाराय निष्ठीवेदिति ? नापि गृह्णीतात्, न निष्ठीवेत्। अपिपूर्वको गृह्णातिराच्छादने वर्तते। यथा तस्माद्दीक्षितेनापिगृह्य ष्ठीवितव्यमित्यादावपि ग्रहणनिष्ठीवनाभ्यां हि तस्मिन् गन्धे जुगुप्सा कृता स्यात्, सा चायुक्ता। यतः पशुषु क्षेपात् प्राक् सोमस्य राज्ञो गन्धः, अतः पिधाननिष्ठीवनाभ्यां सोम एवावज्ञातः स्यात्। अतोऽपवित्रेण गन्धेन आसमन्तात् सक्तं व्याप्तमात्मानं मन्येत, तदा तत्परिहाराय पक्षिण इव प्रवातप्रदेशमासेवेत। तेन च तमपनीय प्रयुञ्जीत। न पुनस्तमपवित्रगन्धं सहमानेनैव प्रयोगो निष्पादनीयः। यतः साक्षाच्छ्रीरूपः सोमः, अपवित्रगन्धः पुनर्व्याधिरूपः पाप्मा। तथा च प्रशस्ततरे राजादावागच्छति सत्युन्नतं पर्यङ्कप्रासादादिकमारुह्य स्थितः पापीयान्, एवं सोमे राजन्यागच्छति सति प्रवातसेवया प्रत्यवरोपितो भवति स गन्धः। 'अथेतरं वायुर्व्यवात्। तदस्वदयत्ततोऽलमाहुत्या आसालं भक्षाय तस्मादेतानि नानादेवत्यानि सन्ति वायव्यानीत्याचक्षते सोऽस्यैष प्रथमवषट्कारश्च सोमस्य राज्ञ एतान्यु एतेन पात्राण्याचक्षते' (श० ४।१।३।१०)। अनन्तरमपनीतगन्धादितरं स्थितं सोमं वायुर्व्यवात्, स यथा विशिष्टरसगन्धादियुक्तो भवति तथा व्याप्नोत्, 'वा गतिगन्धनयोः'। तेन च सोमं देवानां स्वादुमकरोत्। ततश्च स सोमो होमाय हुतशिष्टभक्षणाय च शक्यो जातः। यत्तेन वृत्रविनाशविषयप्रियवार्ताकथनेन सोमस्य स्वादूकरणेन च लब्धवरद्वयो वायुः, तस्मादेतानि पात्राणि देवतार्थतया तत्तद्दैवैश्च व्यपदेशमर्हन्ति, वायोर्दत्तवरतया वायव्यानि चोच्यन्ते। स एष इदानीमपि क्रियमाणः प्रथमवषट्कारश्चास्य वायोरेव जातः। इदानीमपि च याज्ञिकास्तत्तद्दैवत्यानि च पात्राणि वायव्यानीत्याचक्षते।

'इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे। वायुर्वै नोऽस्य यज्ञस्य भूयिष्ठभाग्यस्य प्रथमवषट्कारश्च सोमस्य राज्ञ एतान्यु एनेन पात्राण्याचक्षते हन्ताहमस्मिन्नपित्वमिच्छा इति' (श० ४।२।३।११)। 'स होवाच वायवा माऽस्मिन् ग्रहे भजेति किं

श्रौतसूत्र (९।६।६) में निरूपित है। शतपथ श्रुति तथा सायण आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट किया है।

ततः स्यादिति निरुक्तमेव वाग् वदेदिति निरुक्तं चेद्वाग् वदेदा त्वा भजामीति तत एव ऐन्द्रवायवो ग्रहोऽभवद्वायव्यो हैव ततः पुरा' (श० ४।१।३।१२)। नन्वेवं वायोः प्रथमवषट्कारवरलाभाद्वायव्योऽस्तु ग्रहः, कुत ऐन्द्रवायव इति चेदत्रोच्यते—वायावेवं दत्तवरे इन्द्र ईक्षाञ्चक्रेऽस्मदीयेष्वस्मासु ज्यायस्सु स्थितेषु यस्य वायोः कनीयसः प्रथमो भागः, अस्मन्नामान्यपनीय पात्राण्यपि वायव्यानीति वायुनाम्ना व्यपदेशश्चेत् तर्हि किं कर्तव्यमिति विचार्य कर्तव्यनिश्चयलाभाद् हृष्ट आह—हन्त यद्यप्यैन्द्राग्नेऽग्निना सह मम भागोऽस्ति, उक्थ्यमरुत्वतीयादौ ममैवासाधारणो भागोऽस्ति, तथापि त्वं तेभ्योऽन्यं भागमस्मिन् प्रथमग्रहेऽप्यहमिच्छै। इच्छतेर्व्यत्ययेन आत्मनेपदे लोडुत्तमैकवचनम्। इत्थमिच्छित्वा हे वायो, अस्मिन् ग्रहे मा मां मम भागं देहीत्युवाच। ततो भागप्रदानान्मम किं फलं स्यादिति वायुनोक्ते वरमिन्द्रो ददौ निरुक्तमेव वाग्वदेत्। तं च वरं वाचाङ्गीकृतवति तद्वरप्रदानात् पूर्वं वायुदेवत्योऽपि स ग्रह इन्द्रसम्बन्धेनैन्द्रवायवोऽभवत्। निरुक्तं नाम निःशेषमुक्तं विस्पष्टमित्यर्थः। अत एव देवताविशेषरूपस्यार्थस्य प्रत्यायनेनाविस्पष्टाया ऋचः प्राजापत्यत्वमन्यत्र श्रूयते—'अनिरुक्तया प्राजापत्यया गृह्णाति'। यद्वा—परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीति चतुरवस्था वागवतिष्ठते। तत्र पूर्वस्मिन् वागवस्थाभेदे उत्तरोत्तरस्याभावात् सावशेषत्वम्, वैखर्यां तु परादीनामपि तिसृणां संग्रहेण निःशेषत्वान्निरुक्तत्वम्। 'स इन्द्रोऽब्रवीत्। अर्धं मेऽस्य ग्रहस्येति तुरीयमेव त इति वायुरर्धमेव मे तुरीयमेव त इति वायुः' (श० ४।१।३।१३)। 'तौ प्रजापतिं प्रति प्रश्नमेयतुः। स प्रजापतिर्ग्रहं द्वेधा चकार स होवाचेदं वायोरित्यथ पुनरर्धं द्वेधा चकार स होवाचेदं वायोरितीदं तवेतीन्द्रं तुरीयमेव भाजयाञ्चकार यद् द्वे चतुर्थे तत्तुरीयं तत ऐन्द्रस्तुरीयो ग्रहोऽभवत्' (श० ४।१।३।१४)। एवं विवदमाना इन्द्रवायू प्रजापतिं पृच्छाव इति तत्समीपमगमताम्। स च तं ग्रहं विभज्य इन्द्रं चतुर्थांशेन भागिनमकरोत्, अवशिष्टेन तु वायुमिति।

'तस्य वैतस्य ग्रहस्य। द्वे पुरोरुचौ वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरा द्वे अनुवाक्ये वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरा द्वौ प्रैषौ वायव्य एव पूर्व ऐन्द्रवायव उत्तरो द्वे याज्ये वायव्यैव पूर्वैन्द्रवायव्युत्तरैवमेनं तुरीयं तुरीयमेव भाजयाञ्चकार' (श० ४।१।३।१५)। इन्द्रवाय्वोः स्वकीयग्रहभागानुसारेण ग्रहाङ्गभूतानामपि मन्त्राणां विभागो जातः। द्वे पुरोरुचौ वायव्यैव उपयामगृहीतोऽसीत्यस्मात् पूर्वं ग्रहप्रशंशारूपतद्विषयां रुचिं देवतायै करोतीति पुरोरुक्। ण्यन्तात् क्विप्, 'क्विप् च' (पा० सू० ३।२।७६) इति णिलोपे, 'णेरनिटि' (पा० सू० ६।४।५१) इत्यनेन संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाद् गुणाभावः। यद्वा अन्तर्भावितण्यर्थात् क्विप्। पूर्वा वायव्या उत्तरा ऐन्द्रवायवा इति सर्वत्रेन्द्रस्य चतुर्थांशभाक्त्वम्। अनुवाक्याप्रैषयाज्यास्वप्येवम्। 'स होवाच। तुरीयं चेन्मामबीभजंस्तुरीयमेव तर्हि वाङ्निरुक्तं वदिष्यतीति तदेतत् तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यन्मनुष्या वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत्पशवो वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद्वयांसि वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रꣳ सरीसृपं वदति॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्—'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्तीति' (श० ४।१।३।१६-१७)। स्वकीयग्रहादिभागानुसारेण वाचश्चतुर्थमेव निरुक्तं स्यात्, ग्रहे सर्वचतुर्थभागस्यैव मदीयत्वाद् वागपि चतुर्थमेव भागं विस्पष्टं वदिष्यति, वाचो विस्पष्टिश्चतुर्थे भागे वैखरीं वदत इत्यर्थः। परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीति चतुरवस्था वाग्भवति। परादीनां तिसृणां देवमध्य एवावस्थानेन परश्रोत्रग्रहणयोग्यत्वाभावादविस्पष्टार्थत्वम्। वैखरी पुनः परश्रोत्रैर्गृह्यतेऽतिवाहितार्थप्रत्यये च समर्थेति विस्पष्टेति। यत इन्द्रेण वैखर्यात्मकं वायुमनु जातं तदिदानीं मनुष्यादिभिस्तदेव व्यवह्रियते। मन्त्रोऽपि तथैवाह—इन्द्रो वाचश्चतुर्थभागं विस्पष्टमन्वजानात्। तस्मादृषिणा मन्त्रेणैवमुक्तम्—वाचः पदानि परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीत्यवस्थाभेदाः, चत्वारि परिमिता परिमितानि।

यतश्चत्वार्यतः परिच्छिन्नानि ! यद्वा वाक्परिमितानि चत्वारि पदानि परिच्छिन्नपराद्यवस्थाभेदरूपचतुष्पदात्मिका। पूर्वव्याख्याने 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना षष्ठ्या लुकि वागिति रूपम् । परिमिता इति 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।१।७०) इति जसादेशे शेर्लोपः । ये मनीषिणो विद्वांसस्ते ब्राह्मणास्तानि वाचः पदानि जानन्ति । त्रीणि पदानि पराद्यवस्थाभेदरूपाणि शरीरमध्यरूपायां गुहायां निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते, न विस्पष्टीभवन्तीति । गुहा इत्यत्रापि सप्तम्या लुक्, आकारादेशो वा । चतुर्थमेव रूपं वैखर्यात्मकमिदानीं मनुष्या वदन्ति । मनुष्या इति पश्वादीनामप्युपलक्षणम् । इत्थमाख्यायिकया ग्रहस्य देवतादिकं प्रदर्श्य तस्य समन्त्रकं ग्रहणसंस्कारं विधत्ते—'अथातो गृह्णात्येव । आ वायो भूष···वायवे त्वेति' (श० ४।१।३।१८) । स्पष्टार्थं ब्राह्मणम् । मन्त्रस्तु व्याख्यात एव ।

अध्यात्मपक्षे—हे वायो, वायुवत् सततगमनशील परिव्राजक, शुचिपाः शुचि गङ्गाजलादिकं पिबतीति शुचिपाः, नोऽस्माकमुप समीपे आश्रये आभूष आगत्यालङ्कुरु। हे विश्ववार ! विश्वैः सर्वैर्व्रियते प्रार्थ्यते त्यागशीलत्वादिति विश्ववारस्तत्सम्बुद्धौ । ते तव सहस्रं नियुतः सहस्रसंख्याकानि वाहनानि सन्ति, तैरागच्छ । त्यागित्वात् सर्वेषामपि वाहनानि तवैव सन्ति । ते तुभ्यं मद्यं तृप्तिकरमन्धोऽन्नादिकम् उप अयामि प्रापयामि । हे देव द्योतमान ! यस्य ते तव पूर्वपेयं पूर्वैः पूर्वजैः पेयं ज्ञानामृतं दधिषे धारयसि, तस्मै वायवे त्वत्प्राप्तये त्वा त्वामहं भक्तः साधक आश्रये । यद्वा हे वायो वायुवेग वायुपुत्र ! हे शुचिपाः शुचि जलं पिबतीति शुचिपाः ! त्वं नोऽस्माकं हृदयमलङ्कुरु । हे विश्ववार सर्ववरेण्य, ते तव सहस्रं सहस्रसंख्याका नियुतो नितरां युतास्त्वयि स्थिता ज्ञानविज्ञानादयः सहजा गुणाः, तैः कृतार्थयेति शेषः । ते तव उप समीपे मद्यं तृप्तिकरमन्धो विविधभोग्यम् अहमयामि मनसा समर्पयामि, यस्य ते तव पूर्वपेयं श्रीरामप्रसादात् पूर्वमेव दधिषे, अतो वायवे वायुरूपाय तुभ्यं हे नैवेद्य त्वामर्पयामि । वायुपदेन समष्टिप्राणात्मको हिरण्यगर्भोऽपि ग्रहीतुं शक्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे शुचिपाः ! शुचि पवित्रतां पातीति शुचिपा वायो योगिनः सहस्रं नियुतो नियुज्यन्ते ये, तान् निश्चितान् शुभादिगुणान् उप आभूष । हे विश्ववार, सर्वानन्दान् वृणोतीति ते तव सकाशाद् मद्यमन्ध उपो अयामि । हे देव, यस्य तव पूर्वपेयं पूर्वैः पातुं योग्यमिति वाऽस्ति, यच्च त्वं दधिषे, तद् वायवे त्वा त्वामहं स्वीकरोमि' इति, तदेतत् सर्वमविचारितरमणीयम् । शुचिपदस्य शुचितेति गौणोऽर्थः । नियुज्यन्ते ये ते कथं नियुतः ? ते च शुभगुणादय एव कथम् ? किञ्च, ते गुणा ईश्वरस्य चेत्, कथं तैर्योगी अलङ्क्रियते ? गुणिनमपहाय गुणानामन्यत्र गमनासम्भवात् । निराकारः कथं मद्यमन्धो योगिनां समीपमुपनयति ? पूर्वपेयमित्यस्य

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे वायु के समान निरन्तर गमनशील परिव्राजक, पवित्र गंगा आदि नदियों के जल का पान करने वाले आप हमारे समीप आश्रम में आकर उसे अलंकृत करें। त्यागशील होने के कारण सबके द्वारा प्रार्थित आपके हजारों वाहन हैं । उनके द्वारा आप आइये । आपके लिये तृप्तिकारक अन्न आदि मैं निवेदित करता हूँ । हे द्योतमान, जो आपके पूर्वाचार्यों के द्वारा संगृहीत ज्ञानामृत आप धारण करते हैं, उनकी प्राप्ति के लिये मैं साधक भक्त आपका आश्रय लेता हूँ । अथवा हे वायुवेग वाले पवनपुत्र, पवित्र रस का पान करने वाले आप हृदय को अलंकृत करें। हे सबके द्वारा काम्य. आपके हजारों निरन्तर संयुक्त ज्ञान-विज्ञान आदि सहज गुण हैं, उनके द्वारा हमें कृतार्थ करें । आपके संमुख तृप्तिकारक विविध भोग्य मैं हृदय से समर्पित करता हूँ, जो श्रीराम के प्रसाद से पूर्व में ही आपने धारण किये हैं। अतः वायुरूपी आपके लिये मैं नैवेद्य अर्पित करता हूँ । वायु शब्द से यहाँ समष्टि-प्राणात्मक हिरण्यगर्भ का भी ग्रहण किया जा सकता है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अविचारित-रमणीय ही है । शुचि शब्द का शुचिता अर्थ गौण है । निराकार

'पूर्वैर्योगिभी रक्षणीयं योगबलं दधिषे' इत्यपि तथाविधमेव, तादृशेऽर्थे शब्दस्याशक्तत्वात्। नह्यन्यस्य योगबलमन्यो धारयितुं शक्नोति ॥ ७ ॥

इन्द्र॑वायू इ॒मे सु॒ता उप॒ प्रयो॑भि॒राग॑तम्। इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि वा॒यव॑ इन्द्रवा॒युभ्यां॑ त्वै॒ष ते॒ योनिः॑ स॒जोषो॑भ्यां त्वा ॥ ८ ॥

'अपगृह्य पुनरिन्द्रवायू इतीति' (का० श्रौ० ९।६।७)। एकवारमर्धं गृहीत्वा ततः सन्ततधारातः पात्रं पृथक्कृत्य इन्द्रवायू इति मन्त्रेण तस्या एव धाराया गृह्णीयात्। ऐन्द्रीवायवी गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टा। उपयामेति यजुःसहितो मन्त्रः। हे इन्द्रवायू, युष्मदर्थमिमे सोमाः सुता अभिषुताः। वां प्रयोभिरेतैः सोमरसरूपैरन्नैर्निमित्त-रूपैरुप समीपे युवामागतमागच्छतम्। प्रयुरित्यन्ननाम। यद्वा प्रयोभिः शीघ्रगामिभिरश्वैरागच्छतम्। प्रपूर्वस्य 'इण् गतौ' इत्यस्य शतृप्रत्यये तकारस्य छान्दसः सकारः। हि यस्मादिन्दवः सोमरसाः, वां युवामुशन्ति कामयन्ते। हे सोमरस, त्वमुपयामग्रहेण गृहीतोऽसि। वायवे वायुदेवतार्थमिन्द्रवायुभ्यामिन्द्रवायुदेवतार्थं त्वां गृह्णामीति शेषः। हे पात्र, खरस्यैकदेशः स्थानं तव योनिः। अतोऽत्र सजोषोभ्यां समानप्रीतिभ्यामिन्द्रवायुभ्यां त्वा सादयामीति शेषः। 'दशापवित्रे परिमृज्यैष ते योनिरिति सादनम्' इति दशापवित्रे गृहीतं ग्रहं परिमृज्य ग्रहस्य सादनं करोति। द्विदैवत्यग्रहाणां मध्ये ऐन्द्रवायवग्रहस्य प्राथम्यम्, 'वाग्वा एषा यदैन्द्रवायवः' इत्यादिना तित्तिरिणा बहुधा प्रपञ्चितत्वात्। शतपथे च तदेव स्पष्टीकृतम्—'अथापगृह्य पुनरानयति। इन्द्रवायू····त्वेति यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुस्तस्मादाह एष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वेति' (श० ४।१।३।१९)। पुनर्ग्रहणं विधत्ते—वायव्यग्रहणानन्तरमपच्छिद्य पुनरपीन्द्रवायव्यमानयति, गृह्णातीत्यर्थः। तत्र मन्त्रः—इन्द्रवायू इति। इन्द्रवाय्वोरेकस्मिन्नेव ग्रहे हविःस्वीकारादभिन्नत्वमुपचर्यते—यो वै वायुः स इन्द्रो यो वै इन्द्रः स वायुरिति।

अध्यात्मपक्षे –इन्द्रवायू, इन्द्रः परमात्मा रामः, वायुर्लक्ष्मणः, हिरण्यगर्भरूपत्वात्। परापरब्रह्मरूपौ परमेशहिरण्यगर्भौ वा। इमे सोमाः सुता अभिषुताः, सोमोपलक्षितानि बहूनि निवेदनीयानि नैवेद्यानि प्रस्तुतानि। प्रयोभिरुत्तमवाहनैरुपागतम् उपागच्छतम्। इन्दवः सोमप्रधानानि नैवेद्यानि वां युवामुशन्ति कामयन्ते। हे सोम,

---

तृप्तिकर अन्न को योगियों के समीप कैसे लाया जा सकता है ? ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र और वायु देवता ! तुम्हारे लिये यह सोम प्रस्तुत है। इस सोमरस रूप अन्न के पान के लिये हमारे समीप आइये। यह सोमरस आपकी प्रसन्नता की इच्छा रखता है। हे तृतीय ग्रह के सोमरस ! तुम वायु देवता के निमित्त उपयाम पात्र द्वारा ग्रहण किये गये हो। एक साथ विचरण करने वाले इन्द्र और वायु देवता के सन्तोष के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह इन्द्रवायु ग्रह तुम्हारा निवासस्थान है। इन्द्र और वायु देवता की प्रीति के लिये मैं तुम्हें इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ८ ॥

भाष्यसार—'इन्द्रवायू' यह ऋचा भी ऐन्द्रवायव ग्रह के ग्रहण में विनियुक्त है। निरन्तर धारा से ग्रहण करते हुए आधे ग्रहण के बाद पात्र को अलग करके पुनः इस ऋचा से उसी धारा से ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।७) में निरूपित है। शतपथ ब्राह्मण आदि में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे इन्द्र तथा वायु, अर्थात् परमात्मा राम एवं हिरण्यगर्भात्मक लक्ष्मण, अथवा

तदुपलक्षितनैवेद्यसमूह, त्वम् उपयामेन अहिंसादियमसमूहसमीपवृत्तिना प्रेम्णा गृहीतोऽसि। वायवे हनूमते इन्द्रवायुभ्यां श्रीरामलक्ष्मणाभ्यां परमेशहिरण्यगर्भाभ्यां सजोषोभ्यां समानप्रीतिभ्यां त्वां समर्पयामीति शेषः। हे सोम, एष इन्द्रस्ते योनिः कारणम्। तदाराधनमेव तव सदुपयोगः—'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' इति।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्रवायू प्राणसूर्यसदृशौ योगस्योपदेष्टृभ्यासिनौ, हि यत इमे सुता निष्पन्नाः पदार्था इन्दवः सुखकारका जलादिपदार्थाः, इन्दुरित्युदकनामसु पठितम् (निघ० १।१२।८४)। वां युवामुशन्ति कामयन्ते। युवामेतैः प्रयोभिः पदार्थैः सहैवोपागतम् उपागच्छतम्। हे योगाभीप्सो, वायवे वायुगतिसिद्धये त्वमनेनाध्यापकेन उपयामगृहीतोऽसि योगस्य यमनियमैः सह। हे योगाध्यापक, एष योगस्ते तव योनिर्दुःखनिवारकं गृहमिवास्ति। इन्द्रवायुभ्यां विद्युत्प्राणवायुभ्यां तत्समानाभ्यां योगाकर्षणनिकर्षणाभ्यां जुष्टं प्रीतम्, तथा हे योगाभीप्सो, सजोषोभ्यामुक्तगुणाभ्यां जुष्टं त्वां चाहं वश्मि' इति। हिन्द्यां तु—आगतमित्यस्य 'अवगतम् अवगच्छतम्' इत्यर्थः कृतः। तत्सर्वमपि यत्किञ्चित्, श्रुतिसूत्रादिविरुद्धत्वात्, गौणार्थाश्रयणगौरवाच्च, प्राणसूर्यसादृश्यस्य योगोपदेष्टृभ्यासिनोरनिरूपणात्। कथञ्चित् सादृश्यं तु पतिपत्न्योरप्यस्त्येव। सुता निष्पन्नाः पदार्था इत्यपि निर्मूलमेव। प्रयोभिः कमनीयैरित्यपि चिन्त्यमेव। शिष्योऽध्यापकेन शिष्यत्वेनैव गृह्यते। यमनियमादयः किं शिष्यत्वेन गृह्यन्ते ? अन्यथा कथं सहभावः। वायुवद् गत्यादिसिद्धिरपि वायुपदस्य नार्थः, तस्य तत्राशक्तत्वात्। विद्युत्प्राणाभ्यामाकर्षणनिकर्षणयोः कीदृशं सादृश्यमिति नोक्तम्। हिन्द्यां तु समाध्यारोहणावतारणाभ्यामित्युक्तम्। तदर्थमिन्द्रवायुपदप्रयोगस्य कियत् सार्थक्यमिति तु विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु ॥ ८ ॥

अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा। ममेदिह श्रुतꣳ हवम्। उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा ॥ ९ ॥

पर तथा अपर ब्रह्म रूपी परमेश एवं हिरण्यगर्भ, ये सोम आदि अनेक नैवेद्य प्रस्तुत हैं। आप उत्तम वाहनों के द्वारा आइये। सोम-प्रधान नैवेद्य आपकी कामना करते हैं। हे सोम आदि नैवेद्यसमूह, तुम अहिंसा आदि यमसमूह के समीप रहने वाले प्रेम के द्वारा गृहीत हो। वायुरूप हनुमान् के लिये, समान प्रीति वाले श्रीराम-लक्ष्मण के लिये अथवा परमेश एवं हिरण्यगर्भ के लिये तुमको समर्पित करता हूँ। हे सोम, परमात्मा ही तुम्हारा कारण है। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' इस वचन के अनुसार उसकी आराधना ही तुम्हारा सदुपयोग है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित संस्कृत एवं हिन्दी दोनों ही अर्थ श्रुति तथा सूत्र के वचनों से विरुद्ध होने के कारण और गौण अर्थों के ग्रहण से सदोष होने के कारण अग्राह्य हैं। प्राणसूर्यसदृशत्व का योगोपदेष्टा तथा योगाभ्यासी के रूप में निरूपण नहीं किया गया है। जैसे-तैसे सादृश्य तो पति एवं पत्नी का भी हो सकता है। सुत का अर्थ निष्पन्न पदार्थ करना अप्रामाणिक है। यम, नियम आदि क्या शिष्य के रूप में माने जाते हैं ? वायु शब्द का 'वायु के समान गति आदि की सिद्धि' अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इस अर्थ में पद की शक्ति नहीं है। इन्द्रवायू शब्दों की व्याख्या हिन्दी में अध्यारोपण तथा अवतारण की गई है। इसके लिये इन्द्र एवं वायु शब्दों के प्रयोग की कितनी सार्थकता है, यह विद्वान् ही समझें ॥८॥

मन्त्रार्थ—हे मित्रावरुण ! तुम्हारी प्रीति के निमित्त यह सोमरस प्रस्तुत है। इस यज्ञ में हमारे इस आह्वान का आप श्रवण करें। हे चतुर्थ ग्रह के सोमरस ! तुम मित्रावरुण संज्ञक उपयाम पात्र में गृहीत हो, मित्रावरुण संज्ञक देवताओं की प्रीति के निमित्त तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ९ ॥

'मैत्रावरुणमयं वामिति' (का० श्रौ० ९।६।८) । तस्या एव सन्ततधाराया मैत्रावरुणपात्रे मैत्रावरुणदेवताकं सोममयं वामिति मन्त्रेण गृह्णीयात् । मित्रावरुणदेवत्या गायत्री गृत्समददृष्टा यजुरन्ता । हे मित्रावरुणौ, विभक्तेराकारः । हे ऋतावृधौ, ऋतस्य यज्ञस्य वर्धयितारौ, वां युवयोः प्रयोजनाय अयं प्रस्तुतः सोमः सुतोऽभिषुतः । तस्मादिह यज्ञे मम इद् एव ममैव बहूनां यजमानानां मध्ये ममैव हवमाह्वानं श्रुतं शृणुतम् । हे सोमरस, त्वमुपयामेन मैत्रावरुणग्रहपात्रेण गृहीतोऽसि । मित्रावरुणाभ्यामर्थे त्वां गृह्णामीति शेषः । शतपथे—'क्रतुदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ । एतन्न्वध्यात्मँ स यदेव मनसा कामयत इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुरथ यदस्मै तत्समृद्ध्यते स दक्षो मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्षो ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणोऽभिगन्तैव ब्रह्म कर्ता क्षत्रियः' (श० ४।१।४।१) । विधास्यमानग्रहदेवतां प्रशंसन् तस्यैन्द्रवायवानन्तर्ये कारणमाह—क्रतुदक्षौ ह वा इति । मित्रावरुणौ 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ७।३।२१) इति दीर्घः । अस्य यज्ञस्य समस्तस्य लोकस्य वा क्रतुदक्षौ मित्रावरुणौ, तस्मात् प्रशस्तौ । 'दक्षक्रतुभ्यां मैत्रावरुणम्' (तै० सं० १।५।४) । ऐन्द्रवायवग्रहस्तु वागात्मक इति पूर्वं प्रतिपादितम् । वाक् पुनर्मनोऽधीना, 'मनसा हि वाग्विधृता' (तै० सं० ६।१।७) । सङ्कल्पोत्साहौ च मनोऽधीनौ । ततो वागात्मकैन्द्रवायवानन्तर्यं दक्षक्रत्वात्मकमित्रावरुणदेवत्यस्य ग्रहस्येति युक्तमेव ।

श्रूयते हि तथैव तैत्तिरीयके 'वायव ऐन्द्रवायवं दक्षक्रतुभ्यां मैत्रावरुणम्' (तै० सं० १।५।४) । द्विविधौ हि मित्रावरुणौ—आध्यात्मिकौ, आधिभौतिकौ च । तत्रोक्तावाध्यात्मिकौ । क्रतुदक्षयोरर्थं विवृणोति—इदं मे स्यादिति । इदं पुरोवर्ति मे स्यात्, इदं कुर्वीयेति यन्मनसाभिलषति स क्रतुः सङ्कल्पः । तत्सङ्कल्पितमस्मै लोकाय येन समृद्ध्यते स दक्षः, 'दक्ष वृद्धौ' । तावेव क्रमेण क्रतुदक्षौ । मित्र एव क्रतुः, वरुणो दक्षः । ब्रह्म ब्राह्मणजातिः, सैव मित्रो देवः, क्षत्रियजातिरेव वरुणो देवः । अभिगन्तैव अभिगमनशीलो ज्ञानशक्तियुक्तो ब्रह्म ब्राह्मणः, कर्ता क्रियाशक्तियुक्तः क्षत्रियः । उभयत्रापि ताच्छील्ये तृन्प्रत्ययः । यतो मित्रावरुणौ क्रतुदक्षशब्दाभिधेयज्ञानक्रियाशक्तिरूपौ, ब्रह्मक्षत्रे च ज्ञानक्रियाशक्तिमती, अत आधिभौतिकमित्रावरुणरूपत्वमनयोर्युज्यते । 'ते हैते अग्रे नानेवासतुः । ब्रह्म च क्षत्रं च ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद् वरुणात् स्थातुम्' (श० ४।१।४।२) । 'न क्षत्रं वरुणः । ऋते ब्रह्मणो मित्राद्यद्ध किञ्च वरुणः कर्म चक्रेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समानृधे' (श० ४।१।४।३) । ब्रह्मक्षत्रयोरुक्तमाधिभौतिकत्वमाख्यायिकया दृढीकुर्वन् ग्रहस्य द्विदेवत्यत्वमाह—ते हैते इति । अग्रे पूर्वं ते एते ब्रह्म च क्षत्रं च विभिन्ने अभूताम् । ततो विभेदानन्तरं मित्रात्मकं ब्रह्म वरुणात्मकेन क्षत्रेण विनापि स्वत एव स्थातुं शक्तमभूत्, तथा वरुणात्मकं क्षत्रं मित्रात्मकेन ब्रह्मणा विना स्वत एव स्थातुं न शक्तमभूत् । ततो वरुणं क्षत्रं यत् किञ्च कर्म चक्रे तत्सर्वं मित्रेण ब्रह्मणा अप्रसूतमननुज्ञातमनुपदिष्टमेवाकरोत् । तत् कृतं कर्म अस्मै क्षत्राय न समृद्धमभूत्, यस्मात् स्वत एव कृतं न समृद्धमतः स्थातुं न शक्तमभूत् । 'स क्षत्रं वरुणः । ब्रह्म मित्रमामन्त्रयाञ्चक्र उप मावर्तस्व सँसृजावहै पुरस्त्वा करवै त्वत्प्रसूतः कर्म करवा इति तथेति तौ समसृजेतां तत एष मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत्' (श० ४।१।४।४) । ततो वरुणात्मकं क्षत्रमशक्तं सन्मित्रात्मकं ब्रह्म आमन्त्रयाञ्चक्रे हे ब्रह्मन्, त्वं मामनुवर्तस्व, आवां संसृष्टौ भवाव संसृजावहै इति व्यत्ययेनात्मनेपदम् । त्वां पुरः करिष्यामि त्वयोपदिष्टमेव कर्म करिष्यामि । तथास्त्विति ब्रह्मण्यङ्गीकुर्वति तौ ब्रह्मक्षत्रात्मकौ मित्रावरुणौ संसृष्टावभूताम् । ततः संसर्गाद्धेतोरेवायं ग्रहो मित्रावरुणार्थं द्विदेवत्योऽभवत् ।

भाष्यसार—सोमरस की उसी सतत धारा से मैत्रावरुण पात्र में मैत्रावरुण ग्रह का ग्रहण 'अयं वाम्' इस ऋचा के

'सो एव पुरोधा। तस्मान्न ब्राह्मणः सर्वस्येव क्षत्रियस्य पुरोधां कामयेत स७ह्येवैतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च नो एव क्षत्रियः सर्वमिव ब्राह्मणं पुरोदधीत स७ ह्येवैतौ सृजेते सुकृतं च दुष्कृतं च स यत्ततो वरुणः कर्म चक्रे प्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण स७ हैवास्मै तदानृधे' (श० ४।१।४।५)। ततो वरुणेन संसृष्टत्वाद् ब्राह्मण-जात्यात्मको मित्रश्च क्षत्रजात्यात्मकस्य वरुणस्य पुरोहितोऽभूत्। अत्र ब्रह्मक्षत्रयोर्विभागे क्षत्रस्य सामर्थ्याभाव-मुपन्यस्य पुनस्तदुपगमाय तयोः संसर्गोऽभिहितः। उत्साहश्च सङ्कल्पाभावे न शक्नोति क्रियां निष्पादयितुम्, अतोऽनयोस्तत्सादृश्यलाभात्तदात्मकमित्रावरुणयोराधिभौतिकरूपत्वमुपपद्यत इति भावः। यतोऽत्र मित्रोऽनुरूपः पुरोहितोऽभूत्, वरुणश्चानुरूपो राजा, अतो लोकेऽपि पुरोहितेन राज्ञा चानुरूपाभ्यामेव भवितव्यमिति दर्शयति—स७ ह्येवैताविति। यस्मादनुरूपावेतौ ब्राह्मणक्षत्रियौ सुकृतं दुष्कृतं च संसृजेते संसर्जयतः, सृजिरत्रान्तर्भावितण्यर्थः, तस्माद् ब्राह्मणोऽविशेषेण सर्वस्य क्षत्रियस्य पुरोधां पुरोहितत्वं न कामयेत, किन्तु स्वानुरूपं सुकृतिनमेव क्षत्रियं कामयेतेत्यर्थः। पुरोधामिति दधातेः सम्पदादिलक्षणो भावे क्विप्। क्षत्रियोऽप्येव-मनुरूपमेव ब्राह्मणं पुरोदधीत पुरोहितं कुर्यात्। प्रकृतेऽनुरूपपुरोहितस्य मित्रस्य संसर्गेण प्राप्तं फलमाह—स७ हैवास्मै तदानृधे इति। ततः संसर्गानन्तरं स वरुणो यत्कर्म चक्रे तन्मित्रेण ब्रह्मणोपदिष्टमिति वरुणस्य समृद्धं कर्माभूत्। 'तत्तदवक्लृप्तमेव। यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः स्याद्यद्यु राजानं लभेत समृद्धं तदेतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं यत् क्षत्रियो ब्राह्मणो भवति यद्ध किञ्च कर्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण न हैवास्मै तत्समृद्ध्यते तस्मादु क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेनोपसर्तव्य एव ब्राह्मणः स७ हैवास्मै तद् ब्रह्मप्रसूतं कर्मर्ध्यते' (श० ४।१।४।६)। ब्राह्मणस्य स्वाभाविकज्ञानशक्तिसम्भवात् क्षत्रियस्य तदभावात् क्षत्रियेण ब्राह्मणोऽनुसरणीय इत्याह—तत्तदवक्लृप्तमेवेति। यस्माद् ब्राह्मणस्य स्वाभाविकज्ञानशक्तिमत्तया अन्यत उपदेशापेक्षा नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणो यदि राजन्यो भवेत्, अथवा पुरोहितो भूत्वा राजानं लभेतेति यत् तदवक्लृप्तमेव। तेन कृतं तत्कर्म समृद्धं भवति। क्षत्रियो ब्राह्मणो भवतीत्येतदुक्तम्। ब्राह्मणो यत्किञ्चित्कर्म कुरुते तन्मित्रात्मकेन ब्रह्मणा नोपदिष्टं स्यात्, तथा च तदस्मै न समृद्धं भवति। क्षत्रियस्य पुरोहितकृत्यज्ञानसम्भवेऽपि स्वाभाविकज्ञानाभावात् तत्कर्म न समृद्धं भवति। ब्राह्मणस्य प्रजापतेर्मुखत उत्पन्नत्वादुपदेशकत्वं स्वाभाविकम्। क्षत्रियस्य बाहुभ्यामुत्पन्नत्वात् कर्तृत्वं स्वाभाविकम्। तथा च श्रूयते—'स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत' इत्यारभ्य 'ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनां तस्मात्ते मुख्या मुखतोऽसृज्यन्त' (तै० सं० ७।१।१), 'उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत' इत्यारभ्य 'राजन्यो मनुष्याणाम्' (तै० सं० ७।१।१)। अन्यत्राप्याम्नायते—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः' (वा० सं० ३१।११)। तस्मात् पुरोहितकृत्यविदापि क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेन ब्राह्मण एवोपसरणीयः। मूले 'यद् ब्राह्मणोऽराजन्यः' इति पाठोऽस्ति, तथैव क्षत्रियोऽब्राह्मण इत्यपि पाठः स्यात्, तदा तु यदि ब्राह्मणोऽराजन्यो राजन्यरहितोऽपि भवेत्, तदा तदवक्लृप्तमेव। यदि ब्राह्मणो राजानं लभेत्तदा समृद्धं तज्जीवनं भवेत्, तथैव यदि क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति, ब्राह्मणविधुरो भवेत् तदा तदनवक्लृप्तमेव। यतो यस्माद् ब्रह्मरहितं क्षत्रं यत्कर्म कुरुते, तद्ब्राह्मणानुपदेशान्न समृद्ध्यते। 'अथातो गृह्णात्येव। अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा ममेदिह··· मित्रावरुणाभ्यां त्वेति' (श० ४।१।४।७)। व्याख्यातो मन्त्रः।

अध्यात्मपक्षे—हे मित्रावरुणौ ब्राह्मणक्षत्रियौ रामपरशुरामौ, युवाभ्यामयं दृश्यमानः सोमः सोमोपलक्षितो भोग्योऽन्नभूतो मम स्वात्मा च वां युवाभ्यां सुतो युवयोर्भोग्यत्वेनोपकल्पितः, युवां बहूनामाह्वातॄणां मध्ये ममेन्ममैव हवमाह्वानं श्रुतं शृणुतम्। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि प्रेमगृहीतोऽसि, मित्रावरुणाभ्यां त्वामुपकल्पयामीति।

द्वारा किया जाता है। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।८) में वर्णित है। शतपथ एवं तैत्तिरीय श्रुतियों के अनुसार याज्ञिक अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे ब्राह्मण एवं क्षत्रिय, परशुराम तथा राम! आप दोनों के लिये ही यह

दयानन्दस्तु—'हे मित्रावरुणा प्राणोदानाविव वर्तमानौ ऋतावृधावध्यापकाध्येतारौ, वां युवयोरयं सोमो योगैश्वर्यवृन्दः सुतो निष्पादितः। युवामिह मम हवं श्रुतम्। मम विद्यायोगप्रियस्य इद् इव इहास्मिन् योगविद्याग्राहके व्यवहारे हवं स्तुतिसमूहं श्रुतं शृणुतम्। मित्रावरुणाभ्यां सह वर्तमानं त्वां गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तश्रुतिसूत्रादिविरोधात्। मित्रावरुणा इति पदेनाध्यापकाध्येतृग्रहणस्य निर्मूलत्वात्। सोमपदेन योगैश्वर्यवृन्दग्रहणमपि स्वातन्त्र्यमेव, निर्मूलत्वात् ॥ ९ ॥

राया वयᳫं ससवाᳫंसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः। तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वा ॥ १० ॥

'पयसा श्रीणात्येनं कुशावन्तर्धाय राया वयमिति' (का० श्रौ० ९।६।९)। ग्रहणानन्तरमेनं मैत्रावरुणं ग्रहं कुशाभ्यामन्तर्धाय लौकिकेन दुग्धेन मिश्रयेत्। श्रपणं च द्रव्यान्तरसंसर्गः। एवं कुशान्तर्धानं सर्वत्र श्रपणेषु। मित्रावरुणदेवत्या त्रिष्टुप् त्रसदस्युदृष्टा। तामिति तदः श्रवणादिह यदोऽध्याहारः। मन्त्रद्रष्टा कामदुघां प्रार्थयते—हे मित्रावरुणौ, हव्येन देवा इन्द्रादयो यथा हविषा संभक्ता हृष्यन्ति, यथा च यवसेन घासेन गवाह्निकादिना गावो हृष्टा भवन्ति, तथा च वयं यया राया येन धेनुरूपेण धनेन ससवांसः संभक्ताः, 'वन षण सम्भक्तौ' क्वसौ रूपम्, सन्तो मदेम हृष्टा भवाम। युवं युवां तां धेनुं धत्तं नोऽस्मभ्यं धत्तं दत्तं युवामिति, 'प्रथमायाश्च' (पा० सू० ७।२।८८) इत्यात्वं न भवति, भाषायामिति वचनात्। विश्वाहा विश्वानि च तान्यहानि चेति कर्मधारयः, सर्वदेत्यर्थः। कीदृशीं धेनुम्? अनपस्फुरन्तीम्, स्फुरतिर्गत्यर्थः, अपेत्यापेत्य पुरुषान्तरात् पुरुषान्तरं गच्छति सा अपस्फुरन्ती, तथा न भवतीत्यनपस्फुरन्ती, तामनन्यगामिनीं दत्तमित्यर्थः। विश्वाहेति सततं दानक्रियार्थमिति। गृहीतसोमस्य खरे सादनं विधत्ते—एष ते योनिर्ऋतायुभ्यामिति। ऋतशब्देन मित्रोऽभिधीयते, आयुशब्देन वरुणः, 'ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्म ह्यृतं वरुण एवायुः संवत्सरो हि वरुणः संवत्सर आयुः' (श० ४।१।४।१०) इति श्रुतेः। ताभ्यामृतायुभ्यां मित्रावरुणाभ्यां त्वां सादयामीति शेषः। यद्वा ऋतं सत्यं यज्ञं वा कामयेते तौ ताभ्यामृतयुभ्याम्, संहितायां दीर्घः। ऋतं यज्ञं वा इच्छद्भ्यां मित्रावरुणाभ्यामित्यर्थः, पदकारेण ऋतयुभ्यामिति पदपाठस्य कृतत्वात्। अत एव ऋतं सत्यमिच्छद्भ्यां मित्रावरुणाभ्यामिति काण्वसंहिताव्याख्यायां सायणाचार्यः।

दृश्यमान सोम आदि तथा मेरी भोग्य स्वात्मा भी आपके सामने नैवेद्य के रूप में प्रस्तुत है। बहुत से पुकारने वालों के बीच आप मेरा ही आह्वान सुनें। हे सोम, तुम प्रेम के द्वारा संगृहीत हो। राम एवं परशुराम रूपी मित्रावरुण के लिये तुमको समर्पित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ श्रुति एवं सूत्र के वचनों से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है। मित्र तथा वरुण शब्दों से अध्यापक तथा अध्येता यह अर्थ ग्रहण करना भी अप्रामाणिक है। सोम शब्द से योगैश्वर्यसमूह अर्थ ग्रहण करना भी कोई प्रमाण न होने के कारण स्वेच्छाचारिता ही है ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—जिस गौ के घर में होने से हम धन से सम्पन्न होकर प्रसन्न होते हैं, देवगण हवि का पान करके जैसे प्रसन्न होते हैं, गौ जैसे घास खाकर प्रसन्न होती है, हे मित्रावरुण देवताओं! आप हमारी उसी प्रसन्नता के लिये कभी भी दूसरे पुरुष के निकट न जाने वाली धेनु को सदा प्रदान करें। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है। मित्रावरुण देवता की सन्तुष्टि के लिये तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ १० ॥

भाष्यसार—मैत्रावरुण ग्रह के ग्रहण के बाद दुग्ध से उसका संमिश्रण 'राया वयम्' इस ऋचा के द्वारा किया

शतपथे—'तं पयसा श्रीणाति। तद्यत्पयसा श्रीणाति वृत्रो वै सोम आसीत्तं यत्र देवा अघ्नंस्तं मित्रमब्रुवंस्त्वमपि हिꣳसीति स न चकमे सर्वस्य वा अहं मित्रमस्मि न मित्रꣳ सन्नमित्रो भविष्यामीति तं वै त्वा यज्ञादन्तरेष्याम इत्यहमपि हन्मीति होवाच तस्मात् पशवोऽपाक्रामन् मित्रꣳ सन्नमित्रोऽभूदिति स पशुभिर्व्यार्ध्यत तमेतद्देवाः पशुभिः समार्धयन् यत् पयसाऽश्रीणंस्तथो एवैनमेष एतत्पशुभिः समर्धयति यत्पयसा श्रीणाति' (श० ४।१।४।८)। गृहीतस्य सोमरसस्य पयसा मिश्रणं विधत्ते—तं पयसेति। श्रीणाति मिश्रयति। श्रीणाति-मिश्रणार्थः, धातूनामनेकार्थत्वात्। तत्राख्यायिकया हेतुमाह—वृत्रो नामासुरः सोमो बभूव। तं वृत्रं यदा देवा अवधिषुस्तदा त्वमपि जहीति मित्रमब्रुवन्। एवमुक्तः स तं हन्तुं नाभिललाष। तस्यायमाशयः—अहं सर्वस्य मित्रम् इष्ट एव भवामि। तादृशोऽहमपकारेण शत्रुर्न भविष्यामीति। एवं तर्हि त्वां यज्ञे भागहीनं करिष्याम इति देवैरुक्तः स मित्रो भागलोभादहमपि हन्मीत्यङ्गीचकार। ततोऽस्यामित्रत्वाद् पशुष्वपगतेषु स्वयं पशुविहीनोऽभवत्। ततो देवा एतद्भागं पयसा श्रीत्वा एनं पशुभिः समृद्धमकुर्वन्। अत इदानीमपि पयसा सोमरसस्य मिश्रणेनैव एनं मित्रमेव पशुभिः समर्द्धितवान् भवति। 'तदाहुः। शश्वद्ध नैव चकमे हन्तुमिति तद्यदेवात्र पयस्तन्मित्रस्य सोम एव वरुणस्य तस्मात् पयसा श्रीणाति' (श० ४।१।४।९)। प्रकारान्तरेण मिश्रणं समर्थयते – तत् तस्मिन् मित्रविषये याज्ञिका वदन्ति। पुनः पुनर्देवैरुक्तोऽपि मित्रः सर्वथा सोमं हन्तुं नैव चकमे, यतस्तस्मादत्र ग्रहे यत्पयस्तदेव मित्रस्य भागः, सोमस्तु वरुणस्यैव भागः। अत एनं ग्रहं मित्रार्थं पयसा मिश्रयेत्। 'स श्रीणाति। राया वयꣳ···· ऋतायुभ्यां त्वेति सादयति स यदाहर्तायुभ्यां त्वेति ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यृतं वरुण एवायुः संवत्सरो हि वरुणः संवत्सर आयुस्तस्मादाहैष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वेति' (श० ४।१।४।१०)। मन्त्रो व्याख्यातः। ऋतायुभ्यामित्येतत्पदं श्रुतिर्व्याचष्टे—स यदाहेति। ऋतं सत्यं तदात्मकं ब्रह्म हि प्रसिद्धम्। ब्रह्म च मित्रमिति प्रागुक्तम्। ब्रह्मो ह्यृतम्। द्विरुक्तिः शाखान्तरप्रसिद्ध्या चानुभवप्रसिद्ध्या चोपपद्यते। वरुण एवायुः, आयुः प्राणिनां जीवनकालः, तदात्मकः संवत्सरः, वरुणश्च संवत्सररूपः। तथा च ऋतायुःशब्दाभ्यां मित्रावरुणावभिधेयौ। तस्मान्मन्त्रे ऋतायुप्रयोगो युज्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे मित्रावरुणौ श्रीरामपरशुरामौ, देवा यथा हव्येन हविषा, गावो यथा यवसेन, तथा वयं यया राया भक्तिब्रह्मविद्याधनेन ससवांसः सम्पन्ना मदेम, तां धेनुं कामधेनुमेवाभीष्टदोग्ध्रीं भक्तिं ब्रह्मविद्यां नोऽस्मभ्यं विश्वाहा सर्वदा धत्तम्। कीदृशीं ताम्? अनवस्फुरन्तीमनन्यगामिनीं स्थिरामित्यर्थः। हे सोम, एष ते योनिः कारणम्। त्वाम् ऋतायुभ्याम् ऋतं सत्यमिच्छद्भ्यां ताभ्यां मित्रावरुणाभ्यां त्वा त्वामुपकल्पयामि।

दयानन्दस्तु—'हे ससवांसः संविभक्ता देवाः, वयं यवसेन गाव इव, हव्येन ग्रहीतव्येन राया धनेन मदेम हृष्येम। हे मित्रावरुणौ प्राणवत्सखायौ उत्तमौ जनौ, युवं युवां नोऽस्मभ्यं विश्वाहा विश्वान्यहान्यनपस्फुरन्तीं

जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।९) में यह याज्ञिक विनियोग वर्णित है। शतपथ आदि श्रुतियों के आधार पर सायणाचार्य आदि ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ प्रतिपादित किया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की अर्थसंगति इस प्रकार है – हे मित्रावरुणात्मक श्रीराम तथा परशुराम, जिस प्रकार देवगण हविर्द्रव्य से तथा गायें घास आदि से तृप्त होती हैं, उसी प्रकार हम लोग जिस भक्ति, ब्रह्मविद्यारूपी धन के द्वारा सम्पन्न होकर आनन्दित हों, उस कामधेनु के समान अभीष्ट फल प्रदान करने वाली भक्ति (ब्रह्मविद्या) को हमारे लिये सर्वदा सम्पादित करें, वह अनन्यगामिनी, अर्थात् स्थिर हो। हे सोम, यह तुम्हारा कारण है। तुमको सत्य के अभिलाषी मित्रा-वरुण के लिये प्रस्तुत करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ परस्पर असम्बद्ध होने के कारण बलात् संयोजित ही है। संस्कृत में

विज्ञापयित्रीमिव योगविद्याजन्यां वाचं तां धेनुं धयन्त्यानन्दरसमनयेति धेनुस्तां धत्तम् । हे यजमान, यस्यैष ते विद्याबोधो योनिरस्ति, अत ऋतायुभ्याम् आत्मन ऋतमिच्छद्भ्यामिव त्वा त्वां वयमाददामहे' इति, तत्तु धाष्टर्यमेव, विप्रतिषिद्धत्वात् । संस्कृते ससवांसः संविभक्ता इत्युक्तम्, हिन्द्यां तु सदसद्विवेक्तारावित्युक्तम् । 'मित्रावरुणौ' इत्यस्य 'प्राणवत्सखायौ' इत्यर्थे किं बीजम् ? द्विवचनं च किमर्थकम् ? नहि मित्रावरुणशब्दयोस्तत्र शक्तिः, प्रमाणाभावात् । उत्तमौ जनौ नहि द्वावेव भवतः । युवां सर्वदा सम्यग् ज्ञानदात्रीं तां वाणीमस्मदर्थं धत्तमिति को वक्ति ? न जीवः, यतोऽन्ययोस्तथाभूताया वाण्या धारणेन नान्यस्योपकारः । न चेश्वरः, तस्याप्तकामत्वात् । न चेश्वरो यवसेन गाव इव राया माद्यति । यजमानोऽयं कथमागतः, तस्याप्रसक्तत्वात् । 'ऋतायुभ्यां सहितं वयमाददामहे' अत्र ऋतायुभ्यामित्यनेन सत्यव्यवहारकामयितॄणां ग्रहणं चेत्, तत्र द्विवचनस्य किं स्वारस्यम् ? ताभ्यां सहितं त्वां वयं स्वीकुर्म इत्यत्र के स्वीकर्तारः ? केन किं कस्य फलमिति न किमपि स्पष्टम् ॥ १० ॥

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तया यज्ञं मिमिक्षतम् । उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वैष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा ॥ ११ ॥

'आश्विनं गृह्णात्यन्वारब्धे वा या वामिति' (का० श्रौ० ९।७।७) । हविर्धानं प्रविश्य द्रोणकलशात् पूतभृतो वा यजमानेऽन्वारब्धेऽनन्वारब्धे वा परिप्लवया या वां कशेत्याश्विनपात्र आश्विनसंज्ञं ग्रहं सोमरसं गृह्णीयात् । हे अश्विनौ, वां युवयोर्या कशा वाक्, कशेति वाङ्नामसु पठितम्, काशयति प्रकाशयति वाङ्मयमिति कशा वाक् । कीदृशी सा ? मधुमती, मधु सर्वमोदहेतुत्वाद् ब्रह्म, तत्प्रतिपादकमधुब्राह्मणोपनिषत्प्रशंसायुक्ता । पुनः किंभूता ? सूनृतावती, शोभना प्रिया ऋतावती सत्यवती च या वाक् सा सूनृतावती प्रियसत्यवचनोपेता, तया वाचाऽस्मदीयं यज्ञं मिमिक्षतं सेक्तुमिच्छतं वा । 'मिह सेचने' इत्यस्य सन्नन्तस्य रूपम् । यज्ञं सम्पादयतमित्यर्थः । आश्विनौ हि यज्ञे अध्वर्यू । हे ग्रहगतसोमरस, त्वमुपयामेन दारुपात्रेण गृहीतोऽसि, अश्विभ्यामर्थे त्वां गृह्णामीति शेषः । हे ग्रह, एष ते योनिः स्थानम् । माध्वीभ्यां मधुब्राह्मणाध्येतृभ्यामर्थे त्वां सादयामीति शेषः । मधुब्राह्मणमधीयाते तौ माध्व्यौ ताभ्याम्, 'दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधुनाम ब्राह्मणमुवाच' (श० ४।१।५।१८) इति श्रुतेः ।

शतपथे—'श्रोत्रꣳ ह वा अस्याश्विनस्तस्मात् सर्वतः परिहारं भक्षयति सर्वतो ह्येनेन श्रोत्रेण शृणोति यत्र वै भृगवो वाङ्गिरसो वा स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत तच्च्यवनो वा भार्गवश्च्यवनो वाङ्गिरसस्तदेव जीर्णिः कृत्यारूपो

'ससवांसः' का अर्थ 'संविभक्त' कहा गया है, तो हिन्दी में 'सत् असत् का विवेचक' बताया गया है । 'मित्रावरुणौ' शब्द का अर्थ 'प्राणवत् सखा' करने में क्या प्रमाण है ? द्विवचन का प्रयोग क्यों किया गया ? उत्तम जन दो ही नहीं होते । घास से गायों की भाँति ईश्वर धन की उपलब्धि से हर्षित नहीं होता ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों ! आपकी प्रकाश करने वाली ब्रह्मवती वाणी ब्राह्मण और उपनिषद् की प्रशंसा से युक्त है, प्रिय और सत्यता से युक्त है । उस वाणी से इस यज्ञ को सींच कर पूर्ण करो । हे पंचम ग्रह ! तुम अश्विनीकुमारों की प्रीति के लिये इस उपयाम पात्र में रखे गये हो । हे अश्विग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है, मधुमय मन्त्र-ब्राह्मण पढ़ने वाले अश्विनीकुमारों के निमित्त मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ॥ ११ ॥

भाष्यसार—'या वां कशा' इस मन्त्र से आश्विन पात्र में आश्विन ग्रह का ग्रहण किया जाता है । यह याज्ञिक

जहे' (श० ४।१।५।१) इत्युपक्रम्यानेकाभिः कण्डिकाभिराश्विनस्य ग्रहस्य श्रोत्रात्मना स्तुतिरुक्ता। अस्य यज्ञस्य आश्विनः श्रोत्रमिति प्रसिद्धम्। 'श्रोत्रादाश्विनम्' (तै० सं० १।५।४)। श्रोत्रं सर्वतो ग्राहकत्वात् तदात्मकमाश्विनं सर्वतः परिहृत्य भक्षयेत्। तत्राख्यायिका—पुरा भृगूणामङ्गिरसां वा स्वर्गगमने भार्गव आङ्गिरसो वा जीर्णः कृत्यारूपोऽभिचारदेवतारूपः स्वर्गारोहणसमये च्युतस्तैस्त्यक्तोऽभूत्। तदा स्वकीयप्रजाभिर्भुवं चरतः शर्यातेस्तन्नाम्नो राज्ञः शिबिरे निविष्टे तत्कुमारा अनर्थभ्रान्त्या एनं लोष्टैः पिपिषुः। ततः क्रुद्धेन तेनोन्मादिताः परस्परमयुध्यन्त। ततः शर्यातिः किमिदं प्राप्तमिति विचार्य गोपालानविपालांश्च अप्राक्षीत्, भवतां मध्ये कश्चित् किमपि दृष्टवानिति। तन्मुखात्कुमाराणां वृत्तान्तं श्रुत्वा च्यवन इत्यजानात्। ततः स रथं सज्जीकृत्य सुकन्यामादाय ऋषिसमीपं गत्वा अज्ञानेन त्वामहिंसिषम्, नमस्तेऽस्तु, अनया कन्यया तवापराधमपनयामि, मदीयो वर्गः पर्यवस्थितो भवत्वित्युक्ते तदनुग्रहात्तथाऽजनिष्ट। ततः प्रभृति शर्यातिरन्यहिंसाविषये भीतस्तदनुकूलमुद्योगमकरोत्। तदानीमेव भुवं विचरन्तौ अश्विनौ इमां कन्यामुपेत्य तस्यां मिथुनं मैथुनभावमीषाते। च्यवनस्तु तन्न विवेद। ताभ्यां पत्यौ अरुचिमुखानुसरणं ब्रुवद्भ्यामुक्ता नैतं जीवन्तं हातुं युक्तमित्युक्तवती। तत एतज्ज्ञातवता महर्षिणा पृष्टा सर्वमकथयत्। स उवाच यदि तावागत्य पुनरपि ब्रूतं तदैवं ब्रूहि—युवामसम्पूर्णौ असमृद्धौ, अथापि मदीयं पतिं निन्दथ। केन कारणेन आवामेवं बभूविवेति पृष्टे मदीयस्य पत्युर्यौवने कृते सति वक्ष्यामीति, सा तथैवोक्तवती। ततस्तौ तदिष्टप्राप्त्यै कस्मिंश्चिद् ह्रदे मज्जनमुपायं प्रदर्श्य पुनरात्मवैकल्यमप्राष्टाम्—'तौ होचतुः। एतꣳ ह्रदमभ्यवहर स येन वयसा कमिष्यते तेनोदेष्यतीति तꣳ ह्रदमभ्यवजहार स येन वयसा चकमे तेनोदेयाय' (श० ४।१।५।१२)। ताभ्यामात्मवैकल्ये पृष्टे ऋषिरेवोवाच—कुरुक्षेत्रेऽमी देवा यज्ञं तन्वते वां यज्ञभागरहितौ कुर्वन्ति। तेनोक्तं भवतोर्वैकल्यमिति। तौ प्रेयतुः, ततस्ताभ्यां स्तुते बहिष्पवमाने (श० ४।१।५।१३)। बहिष्पवमानस्तोत्रानन्तरं देवानगमताम्, आवां भवत्समीपे ह्वयध्वमित्यवोचताम्। भवतोश्चिरं मनुष्येषु सुसंसृष्टत्वाद् भिषक्त्वाच्च नोपह्वयिष्याम इति देवैरुक्ते शिरोहीनेन यज्ञेन यजध्वमित्यूचतुः। कथं विशिरस्त्वमिति तैः पृष्टे तान् उपह्वयध्वं पश्चाद् वक्ष्याव इति ताभ्यामुक्तम्। ततस्ताभ्यां ग्रहमगृह्णन्। तावध्वर्यू भूत्वा यज्ञस्य शिरः प्रत्यदधाताम्। शिरसः प्रतिधानप्रकारस्तु प्रवर्ग्यमन्त्रब्राह्मणे स्पष्टः। 'ताभ्यामेतमाश्विनं ग्रहमगृह्णंस्तावध्वर्यू यज्ञस्याभवतां तावेतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्....तस्मादेष स्तुते बहिष्पवमाने ग्रहो गृह्यते स्तुते हि बहिष्पवमाने आगच्छताम्' (श० ४ १।५।१५)।

ग्रहस्य कालं विधत्ते—'तौ होचतुः। मुख्यौ वा आवां यज्ञस्य स्वो यावध्वर्यू इह नाविमं पुरस्ताद् ग्रहं पर्याहरताभि द्विदेवत्यानिति। ताभ्यामेतं पुरस्ताद् ग्रहं पर्याजह्नुरभि द्विदेवत्याँस्तस्मादेष दशमो ग्रहो गृह्यते तृतीय एव वषट्क्रियतेऽथ यदाश्विनावितीमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनाविमे हीदꣳ सर्वमाश्नुवातां पुष्करसृजावित्यग्निरेवास्यै पुष्करमादित्योऽमुष्यै' (श० ४।१।५।१६)। तौ होचतुः—अध्वर्युत्वेनावां ग्रहस्य मुख्यौ। आवां द्विदेवत्यानभिलक्ष्यावयोर्ग्रहं पूर्वमेव समर्पयत इत्युक्ते देवास्तथैवान्वतिष्ठन्। द्विदेवत्यानिति बहुवचनं प्रसिद्धयपेक्षया। अतः पश्चाद्दशमो गृह्यमाणोऽपि द्विदेवत्यानां तृतीय एव सन् हूयते। अश्विनोरश्विनामप्राप्तिं दर्शयति—अथेति। अश्विनौ इति यन्नाम तत्कथमिति प्रश्ने इमे दृश्यमाने द्यावापृथिव्यौ साक्षादश्विनौ देवौ। द्यावापृथिव्यौ कृत्स्नं जगद् व्याप्नुतोऽतस्तदात्मकयोरश्विनोरपि व्यापकत्वादश्वित्वम्।

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।७।७) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ तथा आख्यायिका आदि उपदिष्ट हैं।

पुष्करस्रजौ अश्विनौ। अग्निरेवास्यै पृथिव्याः पुष्करमादित्योऽमुष्यै दिवः। 'अथातो गृह्णात्येव। या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती''''त्वेति सादयति तं वै मधुमत्यर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां त्वेति सादयति तद्यन्मधुमत्यर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां त्वेति सादयति' (श० ४।१।५।१७)। अथात इत्यनेन बहिष्पवमानस्तोत्रानन्तर्यं द्योत्यते। ननु मैत्रावरुणानन्तरपाठात्तदानन्तर्यमेवाथशब्दार्थोऽस्त्विति चेन्न, स्तुते बहिष्पवमाने दशमो गृह्यत इति श्रुत्या तथा विहितत्वात्। ननु यथा श्रुतिः क्रमबोधे प्रमाणं तथा पाठोऽपि, 'समिधो यजति' (तै० सं० २।६।१।१) इत्यादौ पाठस्य क्रमबोधप्रमाणत्वेनाङ्गीकारात्, तथा सत्युभयोः प्रमाणयोः समबलत्वात् कदाचिन्मैत्रावरुणग्रहणानन्तरम्, कदाचिद् बहिष्पवमानस्तोत्रानन्तरमित्यैच्छिकः क्रमोऽस्तु ? इति चेत्तदपि न युक्तम्, पाठस्यान्यथानुपपत्त्या क्रमविधायकत्वे श्रुतिसामर्थ्यादेव विधायकत्वेन प्रत्यक्षत्वेन प्राबल्यात्। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। मधुमत्यर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यां त्वेति सादयतीति ग्रहणसादनमन्त्रविधानम्। ग्रहण-सादनयोरुभयोरपि मधुशब्दप्रयोगस्याभिप्रायमाह—दध्यङ् ह वेति। 'दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणः। मधुनाम ब्राह्मणमुवाच तदेतयोः प्रियं धाम तदेवैनयोरेतेनोपगच्छति तन्मधुमत्यर्चा गृह्णाति माध्वीभ्यामिति सादयति' (श० ४।१।५।१८)। तद् मधुब्राह्मणमनयोः प्रियं धाम स्थानम्। तेन मधुशब्दप्रयोगेण तदेव सम्पादितं भवति। तानि वा एतानीति (श० ४।१।५।१९) द्विदेवत्यपात्राणां लक्षणान्युक्तानि। श्लक्ष्णानि स्निग्धानि। रास्नावमैन्द्रवायवं पात्रम्। रास्ना रशना, परितः स्रगित्यर्थः। मत्वर्थीयो वकारः। द्विदैवत्यसिद्धये द्वैरूपं कार्यम्। अजकावम्, अजकाशब्देन अजागलस्तनो विवक्षितः, तद्युक्तम्। औष्ठम् ओष्ठाकारसहितम्, अश्विनोर्मुखत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विना, तुरीयहिरण्यगर्भरूपत्वाद् व्यापकौ अश्विनाविव परमसुन्दरौ रामलक्ष्मणौ या वां युवयोरैकात्म्याद् मधुमती माधुर्यगुणोपेता सूनृतावती प्रियसत्ययुक्ता कशा वागस्ति, तया ताभ्यां जातावेकवचनम्, उभयोरैकात्म्याद् वा। यज्ञं कर्ममयमुपासनामयं ज्ञानमयं वा मिमिक्षतं निष्पादयतम्। हे सोम, समर्पणीयान्नादिलक्षणनैवेद्य, उपयामेन प्रेम्णा गृहीतोऽसि। अश्विभ्यां श्रीरामलक्ष्मणाभ्यां त्वां गृह्णामि। एष ते योनिः स्थानम्। माध्वीभ्यां त्वां सादयामि। मध्वेव माध्वी, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्। ततो ङीष्। यद्वा मध्वस्यास्तीति मध्वम्, तस्माद् मत्वर्थीय इकारः। यद्वा मध्वेव माध्वी, स्वार्थेऽञ्। मधुमद्भ्यामित्यर्थ इति भट्टभास्करः।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विना सूर्यचन्द्रवत्प्रकाशमानौ योगाध्येत्रध्यापकौ, या वां मधुमती सूनृतावती कशा, तया यज्ञम् ईश्वरसङ्गापादनयोगं मिमिक्षतं सेक्तुमिच्छतम्। हे योगमभीप्सो ! त्वमुपयामगृहीतोऽसि तवैव योगो

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—तुरीय हिरण्यगर्भ रूप होने के कारण व्यापक अश्विनियों की भाँति हे अत्यन्त सुन्दर रामलक्ष्मण ! आप दोनों की जो माधुर्यगुण से परिपूर्ण तथा प्रिय सत्य से युक्त वाणी है, उसके द्वारा कर्मात्मक, उपासनामय अथवा ज्ञानमय यज्ञ का सम्पादन कीजिये। हे समर्पणीय अन्नादि रूपी नैवेद्य, तुम प्रेम के द्वारा गृहीत हो। श्रीराम एवं लक्ष्मण के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। माधुर्यस्वरूप के लिये तुमको रखता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अप्रामाणिक कल्पनाओं से परिपूर्ण होने के कारण अग्राह्य है। उस भाष्य में ही दूसरे स्थान पर 'अश्विनौ' शब्द से 'द्यावापृथिवी' अर्थ का ग्रहण किया गया है। उस अर्थ को छोड़कर यहाँ अध्येता

योनिरस्ति, अतोऽश्विभ्यां प्राणापानाभ्यां वर्तमानं त्वां हे योगाध्यापक ! माध्वीभ्यां सुनीतियोगरीतिभ्यां सह वर्तमानं च त्वां वयमुपाश्रयामः' इति, तत्तु यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणकल्पनामूलत्वात् । त्वयाऽप्यन्यत्र 'अश्विना' इति पदेन द्यावापृथिवी गृहीते । श्रुत्या च ते एवोच्येते । ते अपहायाध्येत्रध्यापकग्रहणे मानाभावात् । किञ्चाध्येतॄणां बाहुल्यस्यापि सम्भवाद् द्विवचनमपि तत्र निरर्थकमेव । पुनरन्यत्र प्राणापानयोस्तेन शब्देन ग्रहणे बीजमपेक्षितम् । माध्वीभ्यामिति शब्देन सुनीतियोगरीत्योर्ग्रहणमपि निर्मूलमेव ॥ ११ ॥

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदꣳ स्वर्विदम् । प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे । उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ १२ ॥

'शुक्रं वैल्वेन वा तं प्रत्नथेति' (का० श्रौ० ९।६।११) । शुक्रसंज्ञके ग्रहे सोमं तस्या एव धाराया विल्ववृक्षनिर्मितेन विकङ्कतवृक्षनिर्मितेन वा पात्रेण गृह्णीयात् । अयं शुक्रसंज्ञको ग्रहः । पूर्वं तु द्रोणकलशस्य सोमस्य शुक्र इति संज्ञा कृतेति ज्ञेयम् । 'अयं वेन इत्येके' (का० श्रौ० ९।६।१२) । जगती वैश्वदेवी काश्यपावत्सारदृष्टा द्वादशार्णचतुष्पादा जगती, उपयामेति यजुः । हे इन्द्र ! त्वं यासु यज्ञक्रियासु, अनुवर्धसे पुनः पुनः सोमपाने वृद्धिं प्राप्नोषि, तासु वृजनं बलवद्यज्ञफलं दोहसे । वृजनमिति बलनाम । पूरयसि यजमानायेति शेषः । कथं दोहसे ? तत्र दृष्टान्तमाह – प्रत्नथा प्रत्नानां चिरन्तनानां भृग्वादीनामिव फलं दोहसे । 'प्रत्नपूर्व·····' (पा० सू० ५।३।१११) इत्यादिना उपमार्थीयः थाल्प्रत्ययः । पूर्वथा पूर्वेषामृषीणामिव, साध्यादीनामिव, विश्वथा विश्वेषां सर्वेषामृषिपुत्राणामिव, इमथा इदानीन्तनानां यजमानानामिवास्य फलं दोहसे, तं त्वां स्तुम इति शेषः । कीदृशं तम् ? ज्येष्ठतातिं तननं तातिर्विस्तारः, ज्येष्ठा उत्कृष्टा तातिर्विस्तारो यस्य तम् । यद्वा 'वृकज्येष्ठाभ्याम्' (पा० सू० ५।४।४१) इत्यादिना प्रशंसायां तातिल्प्रत्ययः । प्रशस्तो ज्येष्ठो ज्येष्ठेषु प्रशस्यो वा ज्येष्ठतातिः । तथा बर्हिषदम्, बर्हिषि यज्ञे सीदतीति । स्वर्विदं स्वर्द्युलोकं वेत्तीति । तत्र हि तस्य निवासः । प्रतीचीनमात्मनोऽभिमुखम् । धुनिं कम्पितारं शत्रूणां 'धूञ् कम्पने', आशुं जयन्तं जेतव्यानि वस्तूनीति महीधरः ।

तथा अध्यापक अर्थ का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है । फिर अध्येता तो बहुत हो सकते हैं, अतः यहाँ द्विवचन की भी निरर्थकता सिद्ध होती है । 'माध्वी' शब्द से सुनीति तथा योगरीति का अर्थ ग्रहण करने में भी कोई प्रमाण नहीं है ॥ ११॥

मन्त्रार्थ – हे इन्द्र ! तुम जिन यज्ञक्रियाओं में पुनः पुनः सोम रस का पान कर वृद्धि को प्राप्त होते हो, तृप्त होते हो, उस उत्कृष्ट विस्तारवान् सर्वश्रेष्ठ यज्ञ में कुशासन के सेवी स्वर्गवेत्ता शत्रुओं को कम्पित करने वाले जेतव्य वस्तुओं को शीघ्र जीतने वाले तुम बलपूर्वक यजमान को यज्ञ-फल देते हो, समस्त यज्ञों के प्राचीन नियम के समान, पूर्व प्रथा के अनुसार, इस समय के यजमान को भी समान रूप से यज्ञ का फल देते हो, ऐसे आपकी हम स्तुति करते हैं । हे षष्ठ ग्रह शुक्र ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हुए हो, शण्ड नामक असुरगुरु के निवास के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । यह तुम्हारा स्थान है । इस स्थान में बैठ कर तुम यजमान के वीरत्व की रक्षा करो । असुर नेता भगा दिया गया है । हे ग्रह ! शुक्र नामक ग्रह में स्थित सोम का पान करने वाले देवता निरापद आहवनीय स्थान में तुम्हें पहुँचावें । हे उत्तरवेदी की श्रेणी ! तुम इस ग्रह को किसी प्रकार की हानि मत पहुँचाओ ॥ १२ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।११, ९।१०।१-९) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'तं प्रत्नथा'

सायणरीत्या तु—हे इन्द्र, त्वां प्रत्नथा पुरातना भृग्वादयो यथाऽस्तुवन्. पूर्वथा पूर्वे साध्यादयो यथाऽस्तुवन् विश्वथा विश्वे ऋषय ऋषिपुत्राः, इमथा इदानीन्तना जना यथा, तथा वयं त्वां स्तुमः। कीदृशं त्वाम् ? ज्येष्ठतातिं स्वार्थे तातिप्रत्ययः। बर्हिषि यागे सन्निहितत्वेन तिष्ठन्तम्। यजमानाय दातव्यं स्वः स्वर्गं वेत्तीति स्वर्विदम्। हे इन्द्र, यस्त्वं प्रतीचीनमस्मदनुकूलं प्रतिगमनमस्मत्प्रतिकूलं वृजनं वर्जनीयम् आलस्याश्रद्धादिकं दोहसे रिक्तीकरोषि विनाशयसि, 'दुह् प्रपूरणे'। प्रपूरणं रिक्तीकरणमिति क्षीरस्वामीति महीधराचार्यः। तं त्वां स्तुमः। यासु क्रियासु धुनिं त्वदनुग्रहात् शत्रुं कम्पयन्तमाशुं क्षिप्रकारिणं जयन्तं सम्यगनुष्ठानेन यजमानान्तराण्यतिशयानम् एनं यजमानम् अनु सोमपानेन स्तुत्या वर्धयसे तासु क्रियासु तं स्तुमः।

उव्वटाचार्यस्तु हे सोम, तमिन्द्रं ज्येष्ठतातिम् उत्कृष्टतातिम् उत्कृष्टवत्सारम् अथवा 'वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च छन्दसि' (पा० सू० ५।४।४१) इति तद्धितप्रत्ययः प्रशंसायाम्। ज्येष्ठतातिं ज्येष्ठप्रशस्यं बर्हिषदं स्वर्विदं स्वःशब्देन द्युलोकोऽभिधीयते। द्युलोकं जानाति। तत्र हि तस्य निवासः। धुनिं कम्पयितारम् आशुं जयन्तं शीघ्रं जेतव्यानि वस्तूनि जयन्तं तमेवंगुणविशिष्टमिन्द्रं हे सोम ! यासु विक्षु येषु यजमानेषु वर्धसे पुनः पुनः संस्क्रियसे, तासु क्रियासु त्वमवस्थितः, तत्र प्रतीचीनं स्वात्मनोऽभिमुखमिन्द्रमवस्थाप्य स्ववीर्येण तर्पयित्वा अस्मै यजमानाय वृजनं बलवच्च यज्ञफलं दोहसे प्रक्षारयसि। कथं दोहसे ? था उपमार्थीयः। प्रत्नशब्दः पुराणवचनः। चिरन्तनानामिव भृगुप्रभृतीनाम् इमथा इदानीन्तनानामिव यजमानानां दोहसे। सायणोव्वटावनुसृत्यैव महीधरेण व्याख्यानद्वयमुपस्थापितम्।

हे शुक्रग्रह, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। शुक्रपुत्राय शण्डनामकाय तन्नामकायासुराय वा त्वां गृह्णामि। एष खरप्रदेशस्तव स्थानमिति सादयति। त्वं यजमानस्य वीरतां पाहि, कर्मशूरत्वं वा पालय। 'शुक्रामन्थिभ्यां चरतः' (का० श्रौ० ९।१०।१) अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ 'शुक्रेणाध्वर्युर्मन्थिना प्रतिप्रस्थाता' (का० श्रौ० ९।१०।२), 'प्रोक्षिताप्रोक्षितौ यूपशकलावादायापिधानं प्रोक्षिताभ्याम्, अपमार्जनमप्रोक्षिताभ्यामपमृष्टः शण्ड इत्यध्वर्युरपमृष्टो मर्क इति प्रतिप्रस्थाता' (का० श्रौ० ९।१०।३)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ एकैकं प्रोक्षितमपरमप्रोक्षितं चेति द्वौ द्वौ यूपशकलावादाय शुक्रामन्थिनोर्ग्रहयोरादानं कुरुतः। प्राणीतेन लौकिकेन वा जलेन यूपशकलप्रोक्षणम्। प्रोक्षितमप्रोक्षितं चेत्यत्र जातावेकवचनम्। प्रोक्षिताभ्यां यूपशकलाभ्यां ग्रहयोरपिधानम्, अप्रोक्षिताभ्यां यूपशकलाभ्यां ग्रहयोर्मुखादारभ्याधस्तान्मार्जनं कुर्वीयाताम्। 'अधस्तात् पांसूनपध्वंसयत आपः' (श० १२।२२।२।४) इति वृत्तिकारः।

आभिचारिकं यजुः। शण्डनामकोऽसुरपुरोहितः शुक्रपुत्रोऽपमृष्टोऽपमार्जनीकृतः। 'देवास्त्वेति निष्क्रामतो यथालिङ्गमिति' (का० श्रौ० ९।१०।५)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ यथाक्रमं शुक्रमन्थीत्येतत्पदद्वयवाचकमन्त्रलिङ्गमनतिक्रम्य हविर्धानमध्यान्निर्गच्छेताम्। देवस्त्वेति मन्त्रेण शुक्रलिङ्गेनाध्वर्युः प्राङ्मुखो हविर्धानान्निष्क्रामेत्। शुक्रदैवतं शुक्रं नाम ग्रहस्थं सोमं पिबन्ति शुक्रपा देवाः। हे शुक्रग्रह, त्वां प्रणयन्त्विति यजतिस्थानम्, 'अपरेणोत्तरवेदिमरत्नी सन्धायोत्तरवेदिश्रोण्योर्निधत्तोऽविसृजन्तौ दक्षिणस्यामध्वर्युरुत्तरस्यां प्रतिप्रस्थाताऽनाधृष्टासीति' (का० श्रौ० ९।१०।५)। हविर्धानान्निष्क्रम्योत्तरवेदेः पश्चात् स्थिता अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ स्वस्य स्वस्य दक्षिणहस्तस्यारत्नी परस्परं संश्लेषयतः। संश्लेषणकाले च हस्तस्थितो ग्रहो यथा न स्कन्देत तथा संश्लेषणं कर्तव्यम्। एवमरत्नी सन्धायाध्वर्युर्दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ स्वहस्तस्थितं शुक्रग्रहं हस्तेनाविमुञ्चन्

इस कण्डिका के मन्त्रों से शुक्रसंज्ञक पात्र में शुक्र ग्रह का ग्रहण, ग्रहपात्र का मार्जन, हविर्धान मण्डप से निष्क्रमण, वेदि के

निदध्यात् । एवं प्रतिप्रस्थाताप्युत्तरस्यां वेदिश्रोण्यां मन्थिग्रहमासादयेत् । वेदिश्रोणिदैवतम् । हे उत्तरवेदिश्रोणे ! त्वमनाधृष्टाऽनुपहिंसितासि ।

शतपथे तद्विशेषमाह—'चक्षुषी ह वा अस्य शुक्रामन्थिनौ । तद्वा एष एव शुक्रो य एष तपति तद्यदेष एतत्तपति तेनैष शुक्रश्चन्द्रमा एव मन्थी' (श० ४।२।१।१)। आश्विनं ग्रहं विधाय शुक्रामन्थिग्रहौ विधातुं चक्षुरात्मना स्तौति—चक्षुषीति । शुक्रश्च मन्थी च शुक्रामन्थिनौ ग्रहौ यज्ञस्यास्य चक्षुषी खलु । तत् तत्र । एष दृश्यमानस्तपति । एष एव सूर्यः शुक्रग्रहः । शोचते दीप्यत इति तस्य शुक्रनामधेयम् । मन्थी चन्द्रमाः । 'त७ सक्तुभिः श्रीणाति । तदेनं मन्थं करोति तेनो एष मन्थ्यैतौ ह वा आसां प्रजानां चक्षुषी स यद्धैतौ नोदियातां न हैवेह स्वौ चन पाणी निर्जानीयुः' (श० ४।२।१।२)। सक्तुभिर्यवचूर्णैर्मिश्रितस्य सोमस्यापि मन्थत्वात् तद्भागिनोऽस्य मन्थित्वादनयोरनुदये प्रजानां स्वपाण्योरप्यदर्शनात् तदुदये तत्सम्भवात् तयोः सूर्यचन्द्रयोश्चक्षुष्ट्वमिति । तदात्मकौ शुक्रामन्थिनावपि चक्षूरूपावित्यर्थः । प्रजापतेश्चक्षुषः सकाशादुत्पन्नत्वाच्चानयोश्चक्षुष्ट्वम्, 'चक्षुषः शुक्रामन्थिनौ' (तै० सं० १।५।४) इति श्रुतेः । 'तयोरत्तैवान्यतरमनु । आद्योऽन्यतरमन्वत्तैव शुक्रमन्वाद्यो मन्थिनमनु तौ वा अन्यस्मै गृह्येते अन्यस्मै हूयेते शण्डामर्कावित्यसुररक्षसे ताभ्यां गृह्येते देवताभ्यो हूयेते तद्यत्तथा' (श० ४।२।१।४)। भोक्तृभोग्यात्मना पुनः स्तौति—तयोरत्तैवेति । तयोरन्यतर अत्ता भोक्ता, अन्यतरश्च आद्यो भोग्यः, तयोर्भोक्तृभोग्यरूपसूर्यचन्द्रात्मत्वेन स्तुतत्वात् । यत एवमतो लोकेऽपि भोक्तृवर्गस्तयोरन्यतरं सूर्यात्मकं शुक्रमनुसृत्य वर्तते, शुक्रेऽन्तर्भूतः । भोग्यवर्गोऽपि चन्द्रात्मककमेव मन्थिनमनुसृत्य वर्तते । ग्रहयोर्ग्रहणहोमौ—तौ वा अन्यस्मै गृह्येते, अन्यस्मै हूयेते । शण्डामर्कावित्यसुररक्षसे सुरविरोधिनौ राक्षसौ । 'अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि' (पा० सू० ५।४।१०३) इत्यादिना टच् । ताभ्यां गृह्येते देवताभ्यो हूयेते । ग्रहणे शण्डामर्कयोर्देवतात्वेनोद्दिष्टत्वात् 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ७।३।२१) इत्यानङादेशः । ग्रहणे शण्डामर्कयोः स्वीकारस्य, होमे तत्परित्यागस्य च हेतुं दर्शयत्याख्यायिकया श्रुतिः—'यत्र वै देवाः । असुररक्षसान्यपजघ्निरे तदेतावेव न शेकुरपहन्तुं यद्ध स्म देवाः किञ्च कर्म कुर्वते तद्ध स्म वै मोहयित्वा क्षिप्रमेव पुनरपद्रवतः, (श० ४।२।१।५)। पुरा किल देवा असुररक्षसामपहननसमये शण्डामर्कौ हन्तुं न शेकुः । तौ सर्वं देवकृतं कर्म मोहयित्वा तिरस्कृत्यागच्छताम् । 'ते देवा ऊचुः । उपजानीत यथेमावपहनामहा इति ते होचुर्ग्रहावेवाभ्यां गृह्णाम तावभ्यैष्यतस्तौ स्वीकृत्यापहनिष्यामह इति ताभ्यां ग्रहौ जगृहतुस्तावभ्यैषतां तौ स्वीकृत्यापाघ्नत तस्माच्छण्डामर्काभ्यामिति गृह्येते देवताभ्यो हूयेते' (श० ४।२।१।६)। ततस्ते देवा एतयोर्हननोपायं विचारयतेत्युक्त्वा ग्रहग्रहणेन तावागमिष्यतः पश्चात्तौ स्वीकृत्य हनिष्याम इति पर्यालोच्य तथैवाचरन् । यत एवमकुर्वन्, अत इदानीमपि शण्डामर्कावुद्दिश्यैव ग्रहणम् । होमास्तु देवताभ्यः क्रियन्ते । 'अपजघ्निरे' इति छान्दसमात्मनेपदम् । तदेव द्रढयति—'अपि होवाच याज्ञवल्क्यः । नो स्विद्देवताभ्य एव गृह्णीयामा३ विजितरूपमिव हीदमिति तद्वै स तन्मीमा७सामेव चक्रे नेत्तु चकार' (श० ४।२।१।७)। याज्ञवल्क्योऽप्येवमुवाच—अस्मदीयाभ्यो देवताभ्य एव नो गृह्णीयाम उत गृह्णीयाम इति । एतद्देवतोद्देश्येन ग्रहग्रहणम् । एवं सम्प्रधार्य याज्ञवल्क्यस्तत्र विचारमेव चक्रे न तु चकार । 'इमामु हैके शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्वन्ति । अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमान इति । तदेतस्य रूपं कुर्मो य एष तपतीति यदाह ज्योतिर्जरायुरिति' (श० ४।२।१।८)। श्रुतिरेव याज्ञवल्क्यरूपधारिणी प्रस्तुतशाखोक्तविधानं प्रशंसितुं तैत्तिरीयपक्षमुपन्यस्य स्वानभिमतं प्रदर्शयति, 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते' इति न्यायात् । शाखान्तरीया अयं वेन इति मन्त्रं शुक्रस्य ग्रहणे पुरोरुचं कुर्वन्ति ।

दक्षिण भाग में शुक्रग्रह का स्थापन इत्यादि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के

'ज्योतिर्जरायू' इत्यस्योच्चारणेनोभयतोऽस्य सूर्यस्य रूपं सम्पाद्यते। एवं तैत्तिरीयशाखामतम्।

'इमां त्वेव शुक्रस्य पुरोरुचं कुर्यात्। तं प्रत्नथा''''स्वर्विदं''''वीरतां पाहीति दक्षिणार्धे सादयत्येताꣳ ह्येष दिशमनुसञ्चरति' (श० ४।२।१।९)। स्वाभिमतं सोपपत्तिकं प्राह—इमां त्वेव। तं प्रत्नथा इतीमामृचमेव पुरोरुचं कुर्यात्, न पुनः शाखान्तरमतप्राप्तमित्यर्थः। अत्रोपपत्तिः—सूर्यस्य भोक्तृत्वं तदात्मकत्वं च लौकिकभोक्तृजातस्येत्युक्तम्—अत्तैव शुक्रः''''इति। भोक्तृभोग्ययोर्भोक्ता प्राधान्येन ज्येष्ठः, अतोऽत्र ज्येष्ठतातिगतज्येष्ठशब्देन शुक्रात्मकः सूर्यः प्रकाश्यत इति शुक्रग्रहण इयमेव पुरोरुक् कार्येति। शतपथीयसायणभाष्यरीत्या तदर्थस्तु—भोक्ता 'तस्मा इन्द्राय' (वा० सं० ७।१५) इति निर्देशादस्या इन्द्रो देवता, माहेन्द्रत्वप्रसिद्धं त्वां स्तुम इति शेषः। प्रत्नथेत्यादौ थाल्प्रत्यय उपमार्थीयः। पुरातना भृग्वादय इव, पूर्वे पित्रादय इव, विश्व इव, समस्ता अवशिष्टा ऋषय इव, इमथा इदानीन्तना यजमाना इव त्वां स्तुमः। कीदृशम्? ज्येष्ठतातिं प्रशस्तज्येष्ठं स्तीर्णे बर्हिषि यज्ञे स्थितं स्वर्गं लब्धवन्तं प्रत्यगात्मभूतं त्वां स्तुमः। त्वं च धुनिम् अस्मान् कम्पयन् वृजनं वर्जनीयं पापं दोहसे क्षारयसि, विनाशयसीत्यर्थः। क्व पुनः स्तोत्रं यासु क्रियासु क्षिप्रमन्यान् यजमानान् जयन्तं यजमानं वर्धयसे तासु स्तुमः। हे सोमरस, उपयामगृहीतोऽसि त्वां शण्डाय गृह्णामि। नन्वस्य मन्त्रस्य 'अत्ता हि ज्येष्ठः' इत्येतद्ब्राह्मणानुसारेण सूर्यपरत्वमवगम्यते, तत्कथमिन्द्रपरत्वेन व्याख्यानमिति, चेत्तत्रोच्यते—इन्द्रोऽपि सूर्यात्मकः, तन्मूर्तिभेदत्वात्, 'धाता चार्यमा च अꣳशश्च भगश्च इन्द्रश्च विवस्वाँश्चेत्येते' (तै० आ० ३।१।१३) इति श्रुतेः। मन्त्रशास्त्रेऽपि 'धाता चार्यममित्रा वरुणांशभगा विवस्वदिन्द्रयुताः। पूषाह्वयपर्जन्यौ त्वष्टा विष्णुश्च भानवः प्रोक्ताः॥' तस्मादिन्द्रपरत्वव्याख्यानं नानुपपन्नम्। गृहीतस्य सोमस्य समन्त्रकं सादनं विधाय व्याचष्टे—एष ते योनिरिति। भोक्तृवर्गः सूर्यरूपः शुक्रात्मकः, अत एव समर्थः। तस्मात् प्रजानां सामर्थ्यं पाहि पालयेति मन्त्र आह। पात्रं प्रयोगकाले दक्षिणभागे प्रयुज्यत इति तत्रैव सादयेत्। तथैव कात्यायनः—'दक्षिणपूर्वार्धे शुक्रामन्थिनोर्दक्षिणं शुक्रस्य' (का० श्रौ० ९।१०।९) ?।

तथा—'द्वौ प्रोक्षितौ यूपशकलौ भवतो द्वावप्रोक्षितौ। प्रोक्षितं चैवाध्वर्युरादत्तेऽप्रोक्षितं चैवमेव प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितं चैवादत्तेऽप्रोक्षितं च शुक्रमेवाध्वर्युरादत्ते मन्थिनं प्रतिप्रस्थाता' (श० ४।२।१।१३)। 'सोऽध्वर्युरप्रोक्षितेन यूपशकलेनापमार्ष्ट्यपमृष्टः शण्ड इत्येवमेव प्रतिप्रस्थाताऽपमृष्टो मर्क इति तदाददानावेवासुररक्षसे अपहतो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वित्येवाध्वर्युर्निष्क्रामति देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्विति प्रतिप्रस्थाता तदेतौ देवताभ्य एव प्रणयतः' (श० ४।२।१।१४)। 'तौ जघनेनाहवनीयमरत्नी सन्धत्तः। ता उत्तरवेदौ सादयतो दक्षिणायामेव श्रोणावध्वर्युः सादयत्युत्तरायां प्रतिप्रस्थाताऽननुसृजन्तावेवानाधृष्टासीति तद्रक्षोभिरेवैतदुत्तरां वेदिमनाधृष्टां कुरुतो विपर्येष्यन्तौ वा एतावग्नि भवतोऽत्येष्यन्तौ तस्मा एवैतन्निह्नुवाते तथो हैनौ विपरियन्तावग्निर्न हिनस्ति' (श० ४।२।१।१५)। होमार्थमुत्तरवेदेः प्रत्यग्देशात् सकाशादाहवनीयं विपर्येष्यन्तौ विविधं दक्षिणतश्चोत्तरतश्च परितो गमिष्यन्तौ व्यतिक्रमेण चरिष्यमाणौ भवतः। अत एतेन वेदिश्रोण्योर्ग्रहासादनेनातिक्रमणरूपमपराधं तस्मै अग्नये अपह्नुवाते अपनयतः कार्यार्थं गमिष्यावो न तु त्वामतिक्रमिष्याव इत्येतत् सूचयित्वा अग्निरनुसृतो भवति। अतः पश्चात्तथा गच्छन्तावपि अग्निर्न हिनस्ति। 'सोऽध्वर्युः पर्येति। सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परिहीत्यत्ता ह्येतमन्वत्ता हि वीरस्तस्मादाह सुवीरो वीरान् जनयन् परीहीत्यभि रायस्पोषेण यजमानमिति तद्यजमानायाशिषमाशास्ते यदाहाभि रायस्पोषेण यजमानमिति' (श० ४।२।१।१६)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थात्रोः परितो गच्छतोर्गमनं समन्त्रकं विदधानो व्याचष्टे—सोऽध्वर्युरिति।

अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—तं वेदान्तेषु प्रसिद्धत्वात् तत्सदिति ब्रह्मणो निर्देशाच्च परमेश्वरं यथा प्रत्ना भृग्वादयोऽस्तुवन्, उपमार्थीयस्थाल्प्रत्ययः, यथा पूर्वे साध्यादयः, यथा च विश्वे सर्वे ऋषय ऋषिपुत्राश्च अस्तुवन्। इमथा यथेदानीन्तनाः सर्वे आस्तिकाः शिष्टाश्च भगवन्तं स्तुवन्ति तथा वयं स्तुमः। कीदृशं तम्? ज्येष्ठतातिं ज्येष्ठा उत्कृष्टा तातिर्व्यापकतालक्षणो विस्तारो यस्य तम्, प्रशस्तो ज्येष्ठेष्विति, प्रशस्तो ज्येष्ठो वा ज्येष्ठतातिः। सर्वज्येष्ठेषु परमेश्वर एव प्रशस्यते। क्वचिज्ज्येष्ठोऽपि विद्याबलशौर्यसौभाग्यादिहीनत्वादप्रशस्तो भवति। परमेश्वरस्तु ज्येष्ठोऽपि प्रशस्तमाहाभाग्ययुक्तत्वाद् ज्येष्ठतातिः। 'वृकज्येष्ठाभ्याम्' (पा० सू० ५।४।४१) इति प्रशंसायां तातिल्प्रत्ययः। बर्हिषदं बर्हिषि यज्ञेषु यजनीयत्वेन भोक्तृत्वेन च सीदतीति तं बर्हिषदम्, 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' (भ० गी० ५।२९) इति गीतोक्तेः। स्वरूपलक्षितं सर्वलोकं वेत्तीति तं स्वर्विदं कर्मफलदातृत्वात् सर्वविदं सर्वज्ञमित्यर्थः। प्रतीचीनं भक्तानां सदैवाभिमुखम्, धुनिं पातकानां स्मृतिमात्रेण कम्पयितारम्। आशुं क्षिप्रकारिणम्, सङ्कल्पमात्रेण सर्वलोकनिर्मातृत्वात्। जयन्तं हिरण्याक्षहिरण्यकशिपुरावणादीन् सर्वान् देवशत्रून् विजित्य सर्वोत्कर्षेण वर्तमानम्। हे भगवन्, यस्त्वं प्रतीचीनमस्मत्प्रतिकूलं वृजनं वर्जनीयमालस्याश्रद्धादिकं दोहसे विनाशयसि, यासु उपासनाक्रियासु भक्तमेवमनुवर्धसे वर्धयसे तासु त्वां स्तुमः। हे निवेदनीयद्रव्य, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। शण्डः, शं कल्याणं ददातीति शण्डः। छान्दसोऽकारः। कल्याणप्रदाय परमात्मने गृह्णामि। एष उपासनाप्रदेशः, तव योनिः स्थानम्। तत्र त्वां सादयामि। त्वमुपासकस्य वीरतां प्रीतिनिष्ठां पाहि। शण्डः अपमृष्टः, नित्यनिरस्तसर्वानर्थः। शुक्रपा देवाः, शुक्रं तेजः पिबन्तीति शुक्रपा देवास्त्वां भगवत्समीपं प्रणयन्तु प्रापयन्तु। भूमिं प्रार्थयते - हे पूजाभूमे, त्वमनाधृष्टासि पूजाप्रभावात् संस्कारप्रभावाच्च सर्वथा विघ्नकारकैरनभिभूतासि।

दयानन्दस्तु—'हे योगिन्, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। ते तवैव योगस्वभावो योनिः सुखहेतुरस्ति। येन योगेन त्वमुपसृष्टः शण्डोऽसि योगक्रियासु वर्धसे, विश्वथा प्रत्नथा पूर्वथेमथा ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदं प्रतीचीन-

---

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—वेदान्तों में प्रसिद्ध तथा 'तत्सत्' आदि पदों के द्वारा ब्रह्म का निर्देश होने के कारण सुप्रथित उस परमेश्वर की जिस प्रकार पुराने भृगु आदि ऋषियों ने स्तुति की, जिस प्रकार पूर्ववर्ती साध्यों ने तथा समस्त ऋषिगणों, ऋषिपुत्रों ने स्तुति की, तथा जिस प्रकार आधुनिक सभी आस्तिक जन, शिष्टगण भगवान् का स्तवन करते हैं, उसी प्रकार हम भी स्तुति कर रहे हैं। उस उत्कृष्ट व्यापकतारूपी विस्तार वाले, ज्येष्ठों में भी प्रशस्त, यज्ञों में यजनीय तथा भोक्ता के रूप में अवस्थित रहने वाले, सर्वलोकवेत्ता, सर्वज्ञ, सर्वदा भक्तों के अभिमुख रहने वाले, स्मरणमात्र से पापों के नाशक, संकल्पमात्र से समस्त लोकों के निर्माता, शीघ्रकारी, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण आदि सभी शत्रुओं को पराजित करके सर्वातिशायी रहने वाले भगवान् की स्तुति करते हैं। हे भगवन्, आप जो हमारे प्रतिकूल, वर्जनीय आलस्य, अश्रद्धा आदि का विनाश करते हैं और जिन उपासनाक्रियाओं में भक्ति की वृद्धि करते हैं, इसीलिये हम आपकी स्तुति करते हैं। हे नैवेद्य, तुम प्रेम के द्वारा ग्रहण किये गये हो। कल्याणप्रदाता परमात्मा के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह उपासना का प्रदेश ही तुम्हारा स्थान है। यहाँ तुमको रखता हूँ। तुम उपासक की प्रेमनिष्ठा की रक्षा करो। तुम कल्याणकारी हो कर हमारे समस्त अनर्थों का नित्य विनाश करो। तेज का पान करनेवाले देवगण तुमको भगवान् के समीप ले जाँय। उपासक भूमि की प्रार्थना करता है - हे पूजा की भूमि, तुम पूजन के प्रभाव से तथा संस्कार के प्रभाव से विघ्नकारकों से सर्वथा अस्पृष्ट हो।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में 'हे योगिन्' इस संबोधनसूचक पद के मन्त्र में न होने के कारण असंगति

माशुं जयन्तं धुनिं वृजनं दोहसे च, तं योगबलं शुक्रपा देवास्त्वां प्रणयन्तु, तस्मै तुभ्यमस्य योगस्यानाधृष्टा वीरतास्तु। त्वमिमां वीरतां पाहि। तदनु त्वामियं वीरता पातु' इति। हिन्द्यां तु—'हे योगिन्, योगाङ्गैः शौचादिनियमैर्गृहीतोऽसि तद्वानसि। योगस्वभावस्तव सुखहेतुः। येन योगेन त्वमपमृष्टोऽविद्यादिदोषैर्वियुक्तः शण्डः शमादिगुणयुक्तः, यासु योगक्रियासु वर्धसे, समस्तप्राचीना महर्षय इव पूर्वकालिका योगिन इव वर्तमान-योगिन इवात्यन्तप्रशंसनीयं हृदयाकाशे स्थिरं सुखदम्, अविद्यादोषाप्रतिकूलं शीघ्रसिद्धिदम्, उत्कर्षप्रापकम् इन्द्रियाणां कम्पितारं वृजनं योगबलं परिपूरयन्ति। तं ये योगं बलरक्षका योगप्रकाशका योगिनस्त्वां प्रणयन्तु तं योगं प्राप्तवते तुभ्यं शण्डाय तस्य योगस्य वीरता त्वं तां पाहि, रक्षिता वीरता त्वां पातु' इति, तदुभयं यत्किञ्चित्, योगिन्निति सम्बोधनसूचकपदाभावात्, शौचादिनियमानां विवक्षितत्वे नियमपदप्रयोगस्यैवौचित्याच्च। ते योनिरिति त इति सम्बन्धोपपत्तौ सुखपदाध्याहारानुपपत्तेः। शण्डशब्दस्य योगक्रियावृद्धिरिति कल्पनापि कल्पनैव, निर्मूलत्वात्। शण्डः शमादिगुणयुक्त इत्यपि निर्मूलम्, तत्रार्थे तस्याशक्तेः। 'वीरता त्वां पातु' इत्यादिकं तु निर्मूलमेव। शतपथादिविरोधाच्च तदयुक्तमेव ॥ १२ ॥

सुवीरो॑ वीरान् प्र॑जनयन् परी॑ह्यभि रा॒यस्पोषे॑ण॒ यज॑मानम्। स॒ञ्ज॒ग्मा॒नो दि॒वा पृ॑थि॒व्या शु॒क्रः शु॒क्रशो॑चिषा॒ निर॑स्तः॒ शण्डः॑ शु॒क्रस्या॑धि॒ष्ठान॑मसि ॥ १३ ॥

'सुवीर इति दक्षिणं यूपदेशं गच्छत्यध्वर्युरिति' (का० श्रौ० ९।१०।६)। हे शुक्रग्रह! त्वं सुवीरः कल्याणवीरः शोभनशौर्योपेतः सन् वीरान् यजमानस्य शौर्योपेतान् पुत्रभृत्यादीन् प्रजनयन् उत्पादयन् रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या सह यजमानमभिलक्ष्य परीहि परितो गच्छ। यद्वा रायस्पोषेण यजमानमभियोजयस्व धनस्य पोषेण यजमानं परीहीत्यनुवर्तते। 'अपरेण यूपमरत्नी सन्धत्तः सञ्जग्मान इति यथालिङ्गमिति' (का० श्रौ० ९।१०।७)। यूपस्य पश्चात् पुनररत्नी सन्धत्तः, शुक्रलिङ्गेनाध्वर्युर्मन्थिलिङ्गेन प्रतिप्रस्थाता। शुक्रनामको ग्रहो दिवा द्युलोकेन पृथिव्या भूलोकेन च सञ्जग्मानः शुक्रशोचिषा शुद्धदीप्त्या यूपं बिभर्तीति शेषः। 'अप्रोक्षितौ निरस्यतो निरस्तः शण्ड इत्यध्वर्युः, निरस्तो मर्क इति प्रतिप्रस्थाता' (का० श्रौ० ९।१०।९)। अप्रोक्षितौ यूपशकलौ उत्करे निरस्यतो मन्त्राभ्यां यथाक्रमम्। आभिचारिकं यजुः। शण्डनामकः शुक्रपुत्रोऽसुरपुरोहितो निरस्तो यज्ञाद्बहि-

---

है। यदि शौचादि नियमों का प्रतिपादन करना अभीष्ट होता, तो नियम शब्द का ही प्रयोग उचित था। शण्ड शब्द का 'योगक्रियावृद्धि' अर्थ करना मूलरहित होने के कारण कपोल-कल्पना ही है। शण्ड शब्द का शम आदि गुणों से युक्त अर्थ करना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि इस अर्थ में शब्द की शक्ति नहीं है। शतपथ आदि श्रुतियों के विरुद्ध होने के कारण यह अर्थ असमीचीन ही है ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे ग्रह! तुम सुन्दर वीरता से युक्त होकर शूरता से युक्त पुत्र, भृत्य आदि को उत्पन्न करते हुए अनेक प्रकार की धन-पुष्टि के द्वारा इस यजमान के ऊपर कृपा करो। यह शुक्र ग्रह अपनी पवित्र कान्ति के साथ पृथ्वी और द्युलोक से संगत होकर दीप्तिमान् हो रहा है। शण्ड नामक असुर दूर चला गया है। हे यूपकाष्ठखण्ड! तुम शुक्र ग्रह के अधिष्ठान हो ॥ १३ ॥

भाष्यसार—'सुवीरः' इस कण्डिका के मन्त्रों से अध्वर्यु द्वारा यूप की ओर गमन, अप्रोक्षित तथा प्रोक्षित यूप-

निक्षिप्तः। 'आहवनीये प्रोक्षितौ प्रास्यतः शुक्रस्याधिष्ठानमित्यध्वर्युरिति' (का० श्रौ० ९।१०।१०)। अध्वर्यु-राहवनीये प्रोक्षितं यूपशकलं क्षिपेत्। हे यूपशकल, त्वं शुक्रग्रहस्याधिष्ठानमधिकरणमसि।

अध्यात्मपक्षे—हे परमात्मन्! निराकार श्रीशिव श्रीविष्णो श्रीराम श्रीकृष्ण वा, शौर्यवीर्यपरमैश्वर्य-परमसौभाग्ययुक्तत्वाद् यजमानं भक्तानभिलक्ष्य तथाविधान् शौर्यवीर्यसौभाग्योपेतान् पुत्रपौत्रादीन् सत्यसङ्कल्पेनाशिषा वा प्रजनयन् यजमानमभिलक्ष्य परित इहि प्राप्नुहि। किञ्च, रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या यजमानभक्तान् परिगच्छ। कीदृशः परमेश्वरः? दिवा द्युलोकेन पृथिव्या पृथिवीलोकेन च सञ्जग्मानः सङ्गच्छमानः, सर्व-कारणत्वाद् दिवा पृथिव्या तदुपलक्षितैः सर्वैरपि लोकैः सङ्गच्छमानः। पुनः कीदृशः? शुक्रः शुद्धः सूर्यादिरूपो वा, त्वदीयया शुक्रशोचिषा शुद्धनिर्दृश्यदृग्रूपया शोचिषा प्रकाशेन शण्डः शं कल्याणं द्यति खण्डयतीति शण्डः कामादिर्निरस्तः समूलकाषं कषितः। हे परमेश्वर, त्वं शुक्रस्य शुद्धेः सर्वविधप्रकाशस्य चाधिष्ठानमसि, तस्यैव भासा सूर्यादीनामपि भासमानत्वात्, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥' (श्वे० उ० ६।१४) इति श्रुतेः, 'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः। श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्तेः कीर्तिः क्षमा क्षमा॥' इति श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायणवचनाच्च।

दयानन्दस्तु—'हे योगिन्, सुवीरस्त्वं वीरानुत्कृष्टगुणान् प्रजनयन् परि सर्वत इहि प्राप्नुहि। एवं यजमानमभि आभिमुख्येन रायस्पोषेण सञ्जग्मानः संगतवान् दिवा सूर्येण पृथिव्या भूम्या सह शुक्रः वीर्यवान् शुक्रशोचिषा शुक्रस्य शोधकस्य सूर्यस्य शोचिर्दीपनं तेनैव निरस्त एवान्धकार इव विषयवासनारहितः शण्डस्त्वं शमादिसहितस्त्वं शुक्रस्य शोधकस्याधिष्ठानमसि' इति। हिन्द्यां तु—'हे श्रेष्ठवीरवद्योगबलयुक्त सगुणयुक्तान् पुरुषान् प्रजनयन् प्रसाधयन् परीहि सर्वत्र भ्रमणं कुरु। एवं धनादिपदार्थदातारमुत्तमपुरुषमभिलक्ष्य रायस्पोषेण धनपुष्ट्या संयुक्तो दिवा सूर्येण पृथिव्या भूम्या तयोर्गुणैः सार्धं शुक्रोऽतिबलवान् सर्वशोधकस्य सूर्यस्य दीप्त्या निरस्तान्धकारेण समं पृथग्भूतयोगबलप्रकाशेन विषयवासनाभिर्मुक्तः शण्डः शमादिगुणयुक्तस्त्वं शुक्रस्यात्यन्तयोगबलस्या-

---

खण्डों का प्रक्षेप आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१०।७-११) में वर्णित है। याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे निराकार परमात्मा, अथवा श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण! आप शौर्य, वीर्य, एवं परम ऐश्वर्य, परम सौभाग्य से युक्त हैं। अतः यजमान-भक्तों के प्रति अपनी कृपादृष्टि से उसी प्रकार के शौर्य, वीर्य, सौभाग्य से संयुक्त पुत्र, पौत्र आदि को सत्यसंकल्प तथा आशीर्वाद से उत्पन्न करते हुए आप यजमान के प्रति आवें तथा धन की पुष्टि से यजमान-भक्तों को व्याप्त करें। परमेश्वर द्युलोक एवं पृथिवीलोक तथा तदुपलक्षित समस्त लोकों से संगत होते हुए अत्यन्त शुभ्र सूर्यादिरूपी हैं। आपके शुद्ध प्रकाश से कल्याण का खण्डन करने वाले कामादि दोष समूल विनष्ट हो गये। हे परमेश्वर, आप शुद्धि तथा सर्वविध प्रकाश के अधिष्ठान हैं, क्योंकि श्रुति तथा वाल्मीकिरामायण आदि के वचनों के अनुसार यह स्पष्ट है कि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ मुख्यार्थ के परित्याग तथा कल्पित गौण अर्थ के स्वीकार के कारण असंगता है। 'सुवीर' का अर्थ 'सुवीर के समान' करना तो स्पष्टतः मुख्यार्थ का त्याग है। योगी ऐसे पुरुषों को उत्पन्न करत

धारोऽसि' इति, तत्सर्वमप्यसङ्गतम्, मुख्यार्थत्यागात् काल्पनिकगौणाद्यर्थस्वीकारात्। तथाहि— सुवीर इत्यस्य सुवीर इवेति मुख्यार्थत्यागः स्पष्ट एव। तथैव वीरानित्यस्य श्रेष्ठगुणयुक्तपुरुष इत्यपि गौण एवार्थः। योगी तादृशान् पुरुषान् प्रजनयतीत्यपि विरुद्धमेव, यमनियमादियुक्तस्य योगिनस्तादृशव्यापारासम्भवात्। सर्वत्र भ्रमणमपि योगविरुद्धमेव, स्थिरस्यैव योगाभ्याससम्भवात्। मूले यजमानमित्येकवचनम्, टीकायां तु धनादि-पदार्थदातार उत्तमपुरुषा इत्यर्थः कृतः, तदपि विरुद्धमेव, अपरिग्रहस्य योगिनो धनादिदातृत्वसम्बन्धानपेक्षणात्। धनिनां सम्मुखे रायस्पोषेण युक्तो योगी किं करिष्यति ? दरिद्राणां समक्षं तादृशस्य योगिन एव लाभदायकत्वम्। सूर्यपृथिव्योर्गुणेनेति विवक्षितत्वे तथैव प्रयोगेणापि भाव्यम्। दिवा पृथिव्या युक्तत्वोक्तिरपार्थैव स्यात्। सूर्यज्योतिषा निरस्तोऽन्धकार इवेत्यपि निर्मूलम्, मूलेऽन्धकारार्थबोधकपदाभावात्। इवेत्युक्त्या दार्ष्टान्तिनेनापि भाव्यम्। अन्धकार इव को निरस्त इति नोक्तम्। मूले तु निरस्तः शण्ड इत्युक्तम्। त्वद्रीत्या शण्डः शमादियुक्तो भवति। स कथमन्धकार इव निरस्येतेति तत्सर्वं सर्वथा बालभाषितमेव ॥ १३ ॥

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः ॥ १४ ॥

'अच्छिन्नस्येति जपित्वेति' (का० श्रौ० ९।१०।११)। यजमानो जपति। सायणरीत्या अध्वर्युः शकलप्रक्षेपानन्तरं जपेत्। वृत्तिकाररीत्या तु यजमानो जपेत्। सूत्रे जपित्वाऽश्राव्याह प्रातः प्रातःसवस्येति ल्यबादेशः पूर्वकालतामात्रे, न समानकर्तृतायाम्। सौम्यम्। हे देव, मे अच्छिन्नस्य अनवखण्डितस्य सन्ततस्य सुवीर्यस्य कल्याणप्रभावस्य रायस्पोषस्य धनपोषस्य, ते तव देवेभ्यो ददितारो दातारो वयं स्याम। देवता-सन्तुष्ट्यर्थं भूयो भूयः सोमस्य दातारः स्याम भवेम। त्वत्प्रसादाद् भूयो भूयो यज्ञस्य करणमाशास्यते। 'उभयतो यूपं प्रत्यङ्मुखौ जुहुतः सा प्रथमेत्यध्वर्युः प्रथमम्, तमनु प्रतिप्रस्थातेति' (का० श्रौ० ९।११।१-२)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ यूपस्य पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखौ तिष्ठन्तौ वषट्कृते सति जुहुतः, सा प्रथमेति प्रथममध्वर्युः शुक्रम्, तत्पश्चात्तेनैव मन्त्रेण प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं जुहुयाद्। इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप्। सा प्रथमा यस्येन्द्रस्य संस्कृतिः प्रथमः संस्कारः क्रियते, समीचीना कृतिर्वा 'सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमम्' (वा० सं० ४।२०) इति मन्त्रेण सोमस्य क्रयरूपा या संस्कृतिः क्रियते, सा प्रथमा, अभिषवादिसंस्काराणां तदनन्तरभावित्वात्।

है, यह भी विरुद्ध है, क्योंकि यम, नियम आदि से युक्त योगी इस प्रकार का व्यवहार नहीं करता। अपरिग्रहशील योगी का धनदाता होना भी असम्बद्ध है। धनियों के समक्ष धनपुष्टि से युक्त योगी क्या करेगा ? मूल मन्त्र में अन्धकार-बोधक पद भी नहीं है। अन्धकार के समान किसको निरस्त किया गया ? मूल मन्त्र में तो 'शण्ड निरस्त हो गया' यह कहा गया है। इस अर्थ की रीति में शमादि से युक्त शण्ड होता है, वह अन्धकार की भाँति कैसे निरस्त किया जायगा ? यह सब अज्ञप्रलपित की भाँति ही है ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोमदेवता ! निरन्तर अखण्ड कल्याणमय प्रभाव वाले वीर ! आपके प्रसाद से हम धन-पुष्टि को देने वाले हों। सम्पूर्ण ऋत्विक् जनों से वरणीय यह संस्कार-क्रिया इन्द्र के निमित्त की जाती है, इससे यह मुख्य है और जगत् की उत्पत्ति का कारण होने से वरुण, मित्र और अग्नि देवता इसके मुख्य सेवक हैं ॥ १४ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१०।१२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अच्छिन्नस्य'

कीदृशी संस्कृतिः ? विश्ववारा विश्वैः सर्वैर्यत्र सोमो व्रियते ऋत्विग्भिराहुतिभिश्च, विश्वं वा वृणोतीति व्रियमाणः सोमो यत्र, जगदुत्पत्तिबीजत्वात्। स च प्रथमो वरुणः, स च प्रथमो मित्रः, स च प्रथमोऽग्निः, यस्येन्द्रस्यान्येषां देवगणानां प्रभुः। यद्वा सोमस्य वरुणो मित्रोऽग्निश्च स प्रसिद्धो यस्य प्रथमो मुख्यो भक्त इति शेषः। वरुणमित्राग्नयोऽन्येषामप्युपलक्षकाः, देवगणानां यः प्रभुरित्यर्थः। यद्वा—यस्येन्द्रस्य या संस्कृतिः समीचीना कृतिर्विश्ववारा सर्वैर्देवैरादरणीया, सा प्रथमा देवानां मध्ये मुख्या, स प्रथमो मुख्यः, स एवेन्द्रवरुणमित्राग्नयः।

शतपथे तु—'तत्र जपति। अच्छिन्नस्य ते''''ददितारः स्यामेत्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते' (श० ४।२।१।२२)। होमात् पुराऽध्वर्योर्यजमानस्य वा मन्त्रजपं विधत्ते—तत्र जपतीति। हे द्योतमान सोम, अच्छिन्नस्य रायस्पोषस्य तादृशस्य ते देवेभ्यो ददितारः स्मः। अत्र सोमदानस्याभिहितत्वात् सोमसाधनकर्मविषयेयं प्रार्थना। अत एतेन मन्त्रोच्चारणेन तामेवाशिषमाशास्ते। 'अथाश्राव्याह। प्रातः प्रातःसवस्य शुक्रवतो मधुश्च्युत इन्द्राय सोमान् प्रस्थितान् प्रेष्येति वषट्कृतेऽध्वर्युर्जुहोति तदनु प्रतिप्रस्थाता तदनु चमसाध्वर्यवः' (श० ४।२।१।२३)। 'तौ वै पुरस्तात्तिष्ठन्तौ जुहुतः। चक्षुषी वा एतौ तत्पुरस्तादेवैतच्चक्षुषी धत्तस्तस्मादिमे पुरस्तच्चक्षुषी' (श०।४।२।१।२४)। 'अभितो यूपं तिष्ठन्तौ जुहुतः। यथा वै नासिकैवं यूपस्तस्मादिमे अभितो नासिकां चक्षुषी' (श० ४।२।१।२५)। मन्त्रजपानन्तरमाश्रावणपूर्वकं प्रैषं विधत्ते—अथाश्राव्याहेति। प्रातःकाले प्रातःसवनसम्बन्धिनः शुक्रवतः सारवतो मधुश्च्युतो माधुर्यरसस्यन्दिन इन्द्रार्थं प्रस्थितान् प्रयतान् सोमान् होतुं होतारं प्रति याज्यापाठार्थं प्रेरयति—प्रस्थितान् प्रेष्येति। मैत्रावरुणं विनियुङ्क्ष्वीतेत्यर्थः। वषट्कारावसाने ग्रहचमसानां होमं होमार्थं स्थानविशेषं चाह—तौ वा पुरस्तात्तिष्ठन्ताविति। तदनु तद्वचनमनुसृत्य पुरस्तादाहवनीयस्य पूर्वभागे जुहुतः। शुक्रामन्थिग्रहयोश्चक्षुरात्मकत्वात् तयोः पूर्वभागे यद्धारणं तेन लौकिकानामिमे चक्षुषी पुरस्तादेव ध्रियेते। तथा यूपस्योभयपार्श्वयोः स्थित्वा होमकालेऽपि नासिकामुभयतश्चक्षुषी ध्रियेते। यत्र यत्र सौमिका एर्त्विजश्चमससम्बन्धाच्चमसाध्वर्यव इति व्यपदिश्यन्ते, यथा देवदत्तः पचिसम्बन्धात् पाचक इति प्रतीयते, तथापि मध्यतश्चारिणां चमसाध्वर्यवो होत्रकाणां चमसाध्वर्यव इति षष्ठ्या भेदप्रतीतेरन्य एव चमसाध्वर्यवः। न चैवं शमितेत्यत्रापि यौगिक्याः संज्ञाया अनाश्रयणादन्य एव स्यादिति वाच्यम्, वैषम्यात्। तत्र हि वरणं नास्ति, अत्र तु 'चमसाध्वर्यून् वृणीते' इति वरणमस्ति, षष्ठी च भेदस्य ज्ञापिकेति वैषम्यम्। अन्यत् स्पष्टम्।

'तौ वै वषट्कृतौ सन्तौ मन्त्रेण हूयेते। एतेनो हैतौ तदुदश्नुवाते यदेनौ सर्वꣳ सवनमनु हूयते यद्ध्वैतौ सर्वꣳ सवनमनु हूयत एतौ वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां चक्षुषी ह्येतौ सत्यं वै चक्षुः सत्यꣳ हि प्रजापतिस्तस्मादेनौ सर्वꣳ सवनमनु हूयते' (श० ४।२।१।२६)। तौ वषट्कृतौ सन्तौ। वषट्कारेण याज्योपलक्ष्यते। तया दीयमानावपि मन्त्रेणाहूयेताम्। इतरेषां ग्रहाणां होमः केवलं याज्ययैव, अनयोस्तु तदतिरिक्तेन मन्त्रेणापीत्यर्थः। तत्र हेतुः—एनाविति। व्यत्ययेन एनादेशः। सर्वं सवनमनु सर्वस्मिन् सवने, प्रातःसवने मध्याह्नसवने च हूयेते। ऐन्द्रवायवादयो ग्रहा एकस्मिन्नेव सवने हूयन्ते, एतौ ग्रहौ पुनः सवनान्तरेऽपि हूयेते। तदभिप्रायेण सर्वसवनप्रयोगः। एतेनैतौ शुक्रामन्थिनौ तत् समन्त्रकहोमगौरवं प्राप्नुतः। प्रजापतेः प्रत्यक्षतमामतिशयेन सन्निकृष्टौ

इस मन्त्र का यूपखण्ड के प्रक्षेप के बाद पाठ किया जाता है। सायण के मत से यजमान पाठ करता है। वृत्तिकार

प्रजापतेश्चक्षूरूपे। तद्ग्रहयोश्च सत्यत्वाभिधानात् प्रत्यक्षत्वमिति। 'स जुहोति। सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽग्निः स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वांस्तस्मा इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहेति' (श० ४।२।१।२७)। होमानुवादेन मन्त्रं दर्शयति—स जुहोति सा प्रथमेति। मन्त्रस्यायमर्थः—यस्येन्द्रस्यार्थे 'सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमम्' (वा० सं० ४।२०) इत्यादिना मन्त्रेण सोमस्य क्रयरूपा या संस्कृतिः क्रियते, सा प्रथमा, अभिषवादि-संस्काराणां तदनन्तरभावित्वात्। विश्ववारा विश्वैः समस्तैर्ऋत्विग्भिर्वरणीयः। स एव प्रथमसंस्कृतः सोमः स्तूयते। हे अध्वर्यवः, तस्मै इन्द्राय सुतमभिषुतं सोमं स्वाहाकारेण आजुहोत।

अध्यात्मपक्षे—आचार्यरूपधारी मन्त्र आह—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वत्प्रसादाद् वयमच्छिन्नस्य अखण्डितस्य सुवीर्यस्य दिव्यसामर्थ्यवतो रायस्पोषस्य रायः शमदमादिसम्पत्तेर्ब्रह्मविद्याधनस्य वा पोषकस्य गायत्री-पञ्चाक्षर-अष्टाक्षर-द्वादशाक्षरादित्वान्मन्त्रस्येति शेषः। ददितारः समर्पयितारः प्रचारकाः स्याम। सा प्रसिद्धा प्रथमा मुख्या संस्कृतिः संस्कारः, सा च विश्ववारा सर्वैर्वरणीया, तामन्तरा पुरुषार्थासिद्धेः। हे देव, वरुणो मित्रोऽग्निस्त्वदीयः प्रथमो मुख्योंऽशः। 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इत्यादिमन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'हे देव! योगजिज्ञासो सोम, प्रशस्तगुणशिष्य, वयमध्यापकास्ते तुभ्यं सुवीर्यस्याच्छिन्नस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम। शोभनानि वीर्याणि पराक्रमाणि यस्मात्, रायः सर्वविद्याजनितस्य बोधधनस्य पोषस्य पुष्टेर्दातारः स्याम। सा प्रथमा आदिमा संस्कृतिर्विद्यासुशिक्षाजनिता नीतिः, विश्ववारा सर्वैरेव स्वीकर्तुं योग्या, सा तुभ्यं सुखदा अस्तु। योऽस्माकं मध्ये वरुणः श्रेष्ठोऽग्निरिवाध्यापकोऽस्ति, स प्रथमस्ते मित्रो भवतु' इति, तदपि वेदबाह्यमेव व्याख्यानम्, देवपदस्य योगजिज्ञासुः, सोमपदस्य प्रशस्तगुणशिष्य इत्यर्थकत्वे मानाभावात्। संस्कृतिपदस्य विद्यासुशिक्षाजनिता नीतिरित्यपि निर्मूलमेव। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानेन स्फुट एव॥ १४॥

के मत से अध्वर्यु मन्त्रपाठ करता है। 'सा प्रथमा संस्कृतिः' इत्यादि मन्त्र से शुक्र एवं मन्थि ग्रह का हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—आचार्य रूपधारी मन्त्र कहता है कि हे साम्ब सदाशिव! आपकी कृपा से हम अखण्डित, दिव्य सामर्थ्यवान्, शम, दम आदि सम्पत्ति अथवा ब्रह्मविद्या रूपी धन के तथा गायत्री, पञ्चाक्षर, अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर आदि पोषण करने वाले आपके मन्त्रों के समर्पक, प्रचारक हों। वही सुप्रथित मुख्य संस्कार है तथा सबके द्वारा प्राप्तव्य है, क्योंकि उसके बिना पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती। हे देव! वरुण, मित्र, अग्नि आदि आपके मुख्य अंशभूत हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या वेदबाह्य ही है। देव शब्द का 'योगजिज्ञासु' अर्थ तथा सोम शब्द का 'प्रशस्त गुण से युक्त शिष्य' अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। संस्कृति शब्द का 'विद्या, सुशिक्षा से उत्पन्न नीति' अर्थ करना भी निर्मूल है, श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोध तो स्पष्ट ही है॥ १४॥

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मा इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहा।
तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहाऽयाडग्नीत् ॥ १५ ॥

स प्रसिद्धः, चिकित्वान् चेतनावान् उत्कृष्टधीर्बृहस्पतिर्यस्येन्द्रस्यान्येषां मन्त्रिगणानां मध्ये प्रथमो मुख्यो मन्त्रीति शेषः। तस्मै इन्द्राय सुतमभिषुतं सोममाजुहोत स्वाहा स्वाहाकारेण आभिमुख्येन जुहुत होमं कुरुत। 'तृम्पन्त्विति जपतीति' (का० श्रौ० ९।११।११)। हुत्वा तृम्पन्त्विति मन्त्रमध्वर्युर्जपेत्। होत्रादेवतं यजुः। होत्राश्छन्दोभिमानिन्यो देवतास्तृम्पन्तु तृप्ता भवन्तु, 'तृम्प प्रीतौ'। होत्राशब्देन हौत्रिकयाज्याच्छन्दांस्यभिधीयन्ते। ताः काः? या मध्वः, मधु सोममित्यौपमिकम्। मधुनो मधूपमस्वादस्य सोमस्य स्विष्टाः साधु इष्टाः, तद्धोमे नियुक्तत्वात्। याश्च होत्राः सुष्ठु प्रीताः साधु प्रीताः। कथं तासां सुप्रीतत्वं ज्ञायत इति चेत्, सुहुता यत्स्वाहा यद् यस्मात् स्वाहाकारेण साधु हुता होमार्थं नियुक्ता इत्यर्थः। 'होतारं प्रत्यङ्ङुपसीदत्ययाडग्नीदिति' (का० श्रौ० ९।११।१२)। ततोऽध्वर्युरग्नीच्च चमसहस्त एव सदस्यागत्य अयाडग्नीदिति मन्त्रेण प्रत्यङ्मुखो होतृसमीपे उपविशेद् भक्षणार्थम्। होतृदैवतम्। अग्नीद् अयाड् अयाक्षीद् अग्नीध्रा यागः कृत इत्यध्वर्युर्होतुराचष्टे। यद्वा मधुनो मधुरोपेतस्य सोमस्य यद्रसरूपं द्रव्यं स्विष्टं सुष्ठ्वपेक्षितम्, यत् स्वाहाकृतं तद् दृष्ट्वा होत्रा यष्टव्या देवतास्तृप्यन्त्विति सायणाचार्यः।

शतपथे—'स यज्जुहोति। सा प्रथमा स प्रथम इति शश्वद्ध वै रेतसः सिक्तस्य चक्षुषी एव प्रथमे सम्भवतस्तस्माज्जुहोति सा प्रथमा स प्रथम इति' (श० ४।२।१।२८)। मन्त्रे प्रथमशब्दप्रयोगस्य तात्पर्यमाह—स यज्जुहोति सा प्रथमा स प्रथम इति। शश्वत् सर्वदा सिक्तस्य रेतसः सकाशाच्चक्षुषोरेव प्रथमोत्पत्तेश्चक्षूरूपयोः शुक्रामन्थिग्रहयोर्होममन्त्रेऽपि तत्प्राथमिकत्वसूचनाय सा प्रथमा स प्रथम इति प्रथमशब्दप्रयोगः। 'अथ सम्प्रेष्यति। प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणां प्र यजमानस्य प्रयन्तु सदस्यानाᳪ होत्राणां चमसाध्वर्यव उपावर्तध्वᳪ शुक्रस्याभ्युन्नयध्वमिति सम्प्रैष एवैष पर्येत्य प्रतिप्रस्थाताध्वर्योः पात्रे सᳪस्रवमवनयत्यत्र एवैतदाद्यं बलिᳪ हारयति तमध्वर्युर्होतृचमसेऽवनयति भक्षाय वषट्कर्तुर्भक्षः प्राणो वै वषट्कारः सोऽस्मादेतद्वषट्कुर्वतः पराङिवाभूत् प्राणो वै भक्षस्तत्प्राणं पुनरात्मन् धत्ते' (श० ४।२।१।२९)। होमानन्तरं कर्तव्यमध्वर्योः प्रैषमाह—अथ सम्प्रेष्यतीति। प्रेष्यति तत्कर्तव्ये विनियुङ्क्ते। मैत्रावरुणो ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा आग्नीध्रश्चेत्येते होत्राशब्देन विवक्षिताः। होत्राशब्दोऽपि नियतस्त्रीलिङ्गः। होतुश्चमसः प्रैतु, ब्रह्मणश्चमसः प्रैतु, उद्गातॄणां चमसः प्रैतु, यजमानस्य चमसः प्रैतु। एवं सदस्यानां होत्राणां चमसाध्वर्यव उपावर्तध्वमित्येष सम्प्रैष एषः। आपस्तम्बोऽपि—'तस्मै चमसाध्वर्यवः स्वं स्वं चमसं द्रोणकलशादभ्युन्नीय हरन्ति' इति। चमसाध्वर्यवः सचेतनास्तद्भागोऽयं सम्प्रेषोऽस्ति, चमसानामचेतनत्वेन प्रेषावधारणसामर्थ्यविरहात्। तद्भागेऽदृष्टार्थं

मन्त्रार्थ—वह अनुपम चेतनावान् महाबुद्धिसम्पन्न बृहस्पति देवताओं के मन्त्री हैं। इन्द्र के उद्देश्य से यह प्रस्तुत सोम रस आहुत होता है। यह आहुति भली प्रकार स्वीकार हो, इसके लिये स्वाहाकार का उच्चारण करते हुए हवन करो। छन्दों के अभिमानी वे देवता तृप्त हों, जो मधुर स्वाद वाले सोम को पीकर अत्यन्त प्रसन्न हैं। ये सब स्वाहाकार द्वारा होम के निमित्त नियुक्त हुए हैं। इनके कारण शुक्रग्रह सोमरस से सम्पन्न हुआ है ॥ १५ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।११।९-१०) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'स प्रथमः' इस

इत्येतां शङ्कां निरसितुमाह—सम्प्रैष एवैष इति। यद्यपि तेऽचेतनास्तथापि तद्व्यापारेण तेषां नयने नियुक्ताः पुरुषा लक्ष्यन्ते। यथा कुम्भाः प्रविशन्तु। तस्मादेष सर्वोऽपि प्रैषः। प्रतिप्रस्थाताऽध्वर्युपात्रे शेषस्यावनयनं विधत्ते—पर्येत्य प्रतीति। पर्येत्य परि आहवनीयस्य पश्चाद्भागमेत्य गत्वा संस्रवं होमशेषमवनयन्ति। एतद् एतेन होमशेषावनयनेन अत्त्रे भोक्तृवर्गाय आद्यं बलिं भोगरूपां पूजां हारयति, मन्थिग्रहस्य भोगरूपस्य चन्द्रात्मकत्वादित्यर्थः। अध्वर्युपात्रात् सोमं भक्षार्थं होतृचमसेऽवनयेदित्याह— तमध्वर्युरित्यादिना। वषट्कर्तुर्होतुर्भक्षणं प्रसिद्धम्, 'वषट्कर्ता प्रथमः सन् सर्वभक्षान् भक्षयति' (ऐ० ब्रा० ३।२२) इति श्रुतेः। 'प्राणो वा एष वषट्कारः' इति वषट्कारस्य प्राणत्वं श्रूयते ऐतरेयके। पराङिव पराङ्मुखो निर्गतोऽभूदित्यर्थः। भक्षणस्य प्राणत्वं पुष्टिहेतुत्वादिति।

'अथ यदेते प्रतीची पात्रे न हरन्ति। हरन्त्यन्यान् ग्रहांश्चक्षुषी ह्येते सꣳस्रवमेव होतृचमसेऽवनयति' (श० ४।२।१।३०)। पूर्वस्मिन् वाक्ये होतृचमसेऽवनयति भक्षायेत्यनेन शुक्रामन्थिग्रहयोः सदः प्रति गमनं निवारितम्, सदोगमनस्य भक्षणार्थत्वाद् भक्षणस्य होतृचमसेनैव सिद्धत्वादिति तदनूद्य तत्रोपपत्तिमाह— अथ यदेते पात्रे प्रतीची न हरन्ति सदः प्रति न हरन्त्यध्वर्यव इति यत् तत्कारणमुच्यते। पात्रशब्देन तदन्तर्वर्तिनौ शुक्रामन्थिग्रहौ चक्षुरात्मकावित्युक्तम्, 'चक्षुषी ह वा अस्य शुक्रामन्थिनौ' (श० ४।२।१।१)। तथा चक्षुषोः पुरत एवावस्थानात् तदात्मकयोरपि पुरत एवावस्थानं युक्तम्, न तु प्रत्यग्गमनम्। भक्षणं तु होतृचमसे शेषस्यावनीतत्वात् सिद्धयतीत्यर्थः। 'अथ होत्राणां चमसानभ्युन्नयन्ति हुतोच्छिष्टा वा एते सꣳस्रवा भवन्ति नालमाहुत्यै तानेवैतत्पुराप्याययन्ति तथालमाहुत्यै भवन्ति तस्माद्धोतॄणां चमसानभ्युन्नयन्ति' (श० ४।२।१।३१)। होतृचमसे शेषावनयनानन्तरं होत्रकाणां चमसाभ्युन्नयनं सहेतुमाह संस्रावणीयाः प्रतिपत्त्यर्हाः, अतस्तादृशाः सन्त आहुत्यै नालं भवन्ति न पर्याप्ता भवन्तीति तानेवैतत् पुनराप्याययन्ति। तथा सत्यलमाहुत्यै भवन्ति तस्माद्धोत्राणां चमसानभ्युन्नयन्ति। 'अथ होत्राः संयाजयन्ति। होत्रा वै युक्ता देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति ता एवैतत्सन्तर्पयन्ति तृप्ताः प्रीता देवेभ्यो यज्ञं वहानिति तस्माद्धोत्राः संयाजयन्ति' (श० ४।२।१।३२)। होत्रकाणां याजनं विधत्ते— अथ होत्रा इति। चमसाभ्युन्नयनानन्तरं होत्रा होत्रकान् मैत्रावरुणादीन् संयाजयन्ति। यद्यध्वर्यवो याजयेयुर्होत्रा मैत्रावरुणादयो नियुक्ताः सन्तो देवार्थं यज्ञं वहन्ति, तेषां याज्यादिपाठादिना यज्ञनिष्पत्तेर्यज्ञवाहकत्वात्। तद् एतेन संयाजनेन मैत्रावरुणादीन् सन्तर्पयन्ति तृप्तान् कुर्वन्ति, यजमानेन तेषां सोमशेषभक्षणस्य सिम्पादनात्। तर्पयतां चाशयः—तृप्तास्तृप्तिं प्राप्ताः, प्रीता हृष्टा देवेभ्यो यज्ञं वहन्त्विति। वहान् इति लेट्, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागः। तस्माद्धोत्राः संयाजयन्ति।

'स प्रथमायां वा होत्रायामिष्टायामुत्तमायां वानुमन्त्रयते तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहेति होत्राणामेवैषा तृप्तिरथेत्य प्रत्यङ्ङुपविशतीत्ययाडग्नीदित्यग्नीद्धयत्र यजतामुत्तमः संयजति तस्मादाहायाडग्नीदिति' (श० ४।२।१।३३)। प्रथमहोत्रकस्योत्तमहोत्रकस्य वा याज्यापाठानन्तरं हुत्वाध्वर्युर्मन्त्रयेदत्याह—स प्रथमायां होत्रायामिष्टायां प्रथमे होत्रके वषट्कृते यागे सति सुमन्त्रयेदध्वर्युः। शतपथीयसायणभाष्यरीत्या समस्तस्य मन्त्रस्यायमर्थः—यस्येन्द्रस्यार्थे सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोममित्यादिना (वा० सं० ४।२०) मन्त्रेण सोमस्य क्रयणरूपा संस्कृतिः क्रियते, सा प्रथमा, अभिषवादिसंस्काराणां तदनु भावित्वात्।

कण्डिका के मन्त्रों से अध्वर्यु द्वारा इनका वाचन तथा चमस-भक्षण के लिये उपवेशन आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं।

विश्ववारा विश्वैः समस्तैर्ऋत्विग्भिर्वरणीया, स एव प्रथमसंस्कृतः सोमो वरुणादयो देवाः। स एव चिकित्वानभिज्ञो बृहस्पतिरपीति सर्वदेवात्मना सोमः स्तूयते। हे अध्वर्यवः, तस्मा इन्द्राय सुतमभिषुतम्, इमं सोमं स्वाहाकारेण आजुहोत होममाहारयत। यद् यस्माद् मया स्वाहाकृतम्, अतो मद्द्वारा सुहुताः सुप्रीताः स्विष्टा या होत्रा मध्वो मधुवन्मधुररसस्य सोमस्य सकाशात् तृम्पन्तु तृप्यन्तु। होत्राणामेवैषा तृप्तिर्नान्येषाम्। होत्राशब्दो मन्त्रे उच्चारितः। चमसहोमानन्तरं सदो गत्वा 'अयाडग्नीत्' इत्येतद्वाक्यमुक्त्वा प्रत्यङ्मुख उपविशेत्। उव्वटादिरीत्या होत्राशब्देन हौत्रिकयाज्याच्छन्दोऽभिमानिन्यो देवता विवक्षिताः। शतपथीयसायणभाष्यरीत्या तु मैत्रावरुणो ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा आग्नीध्रश्च होत्रापदव्यपदेश्याः। 'होत्राणां चमसानभ्युन्नयन्ति' (श० ४।२।१।३१) इति श्रुत्यापि मैत्रावरुणादय एव होत्राः प्रतीयन्ते। यद्यप्यत्र विरोधो भाति, तथापि मैत्रावरुणादिप्रयुक्तयाज्यायामपि गौण्या वृत्त्या होत्रापदप्रयोगो न विरुद्ध्यते।

अध्यात्मपक्षे—स वेदादिप्रसिद्धः परमेश्वरः, प्रथमो मुख्यः, बृहस्पतिर्बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पतिः, तदीयमहातात्पर्यविषयत्वात्। चिकित्वान् सर्वज्ञः। तस्मै इन्द्राय परमैश्वर्यशीलाय, हे ऋत्विजो भक्ताः, स्वाहा स्वाहाकारेण सर्वस्वात्मनिवेदनेन आजुहोत आभिमुख्येन जुहोत होमं कुरुत। होत्रा याज्याच्छन्दोभिमानिन्यो देवतास्तृम्पन्तु त्वत्स्तुत्या कृतार्था भवन्ति। कीदृश्यस्ताः ? मधूपमस्य मधुविद्याप्रतिपाद्यस्य याः साधुतया इष्टाः प्रियाः सुप्रीताः, याश्च तत्प्रतिपादनेन प्रीताः प्रसन्नाः, यत्सुहुता याश्च स्वाहाकारेण सुहुता होमार्थं नियुक्ताः, ता देवतास्त्वत्स्तुत्या तृप्यन्तु। अयाडग्नीद् अग्नीदुपलक्षित ऋत्विक्समूहः, तमेवेन्द्रमयाड् अयाक्षीत्। भूतकालोऽविवक्षितः। सर्वदैवतमेव यजतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे शिष्याः, यूयं यथा स पूर्वोक्तो मित्रः प्रथमश्चिकित्वान् बृहस्पतिर्बृहत्या विद्यायुक्ताया वाचः पालकः, यस्मै प्रयतेत तस्मै इन्द्राय स्वाहा सुतमाजुहोत। तथा तद्या होत्राः स्वीकर्तुमर्हाः, या मध्वः स्विष्टाः, याः सुहुताः सुष्ठु हुतानि योगादानरूपाणि कर्माणि, याभिर्योगिनीभिः स्त्रीभिस्ताः सुप्रीताः स्त्रियोऽग्नीत् कश्चिद्योगी च स्वाहाऽयाट् तथाभवनास्तृम्पन्तु' इति, हिन्द्यां तु—'शोभनया वाचा हे शिष्याः, यूयं पूर्वमन्त्रोक्तः प्रथममित्रश्चिकित्वान् सर्वविद्यायुक्ताया वाचः पालको यस्यैश्वर्यस्यार्थे प्रयतते तस्मै इन्द्राय ऐश्वर्याय स्वाहा सत्यां वाचं सुतं निष्पादितं श्रेष्ठव्यवहारम्, आजुहोत सम्यग् गृह्णन्तु। तथा या होत्रा योगस्वीकारार्हा याश्च माधुर्यादिगुणयुक्ताः शोभनाः कामाः सम्पद्यन्ते याभिस्ताः स्विष्टा याश्च सुहुता याभ्यश्च हवनादिकर्माणि सिद्ध्यन्ति,

---

शतपथ ब्राह्मण आदि में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—वह वेदादि द्वारा प्रसिद्ध परमेश्वर मुख्य, वेदरूपिणी वाणी का पालक, सर्वज्ञ है। हे भक्तों, उस परमैश्वर्यशाली के लिये सर्वस्वात्मनिवेदन के द्वारा अभिमुख होकर यजन करें। याज्या छन्दों की अधिष्ठात्री देवियाँ मधु के समान साधुता से प्रहर्षित हैं तथा जो मधुविद्या के प्रतिपादन से प्रसन्न हैं, जो स्वाहाकार के द्वारा होम के लिये विनियुक्त हैं, ऐसी देवियाँ तुम्हारी स्तुति से तृप्त हों, कृतार्थ हों। आग्नीध्र आदि सभी ऋत्विक् उसी सर्वदेवमय परमेश्वर का यजन करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अग्राह्य है, क्योंकि वैसा अर्थ वेद से ही अधिगत न होने के कारण अवेदार्थ है। शिष्यों को संबोधित करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। इन्द्र शब्द से परम ऐश्वर्यवान् देवविशेष का ही ग्रहण होता है, ऐश्वर्य का ग्रहण नहीं किया जाता, क्योंकि उस अर्थ के बोधन में शब्द की शक्ति नहीं है। स्वाहा

याश्च सदा प्रसन्ना भवन्ति, ता निपुणाः स्त्रीजना अग्नीत् श्रेष्ठप्रेरणाप्राप्तयोगी यथा सत्यया वाचा सर्वान् तर्पयति, तथैव ताभिः स्त्रीभिस्तेन च योगिना समानास्तृप्यन्तु' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, तादृशस्यार्थस्य वेदैकसमधिगम्यत्वाभावेनावेदार्थत्वात्, शिष्याः सम्बोधनीया इत्यत्र मानाभावाच्च। इन्द्रपदेनापि परमैश्वर्यवानिन्द्रो देवविशेषो गृह्यते, न त्वैश्वर्यम्, तत्र तस्याशक्तत्वात्। स्वाहेतिपदेन सत्यवाणीग्रहणं सुतशब्देन निष्पादितश्रेष्ठ-व्यवहारस्य ग्रहणं चापि निर्मूलम्। होत्राः स्वीकर्तुमर्हा इति प्रोक्तम्, हिन्द्यां तु योगस्वीकारार्हा इत्युक्तम्। एतच्च विप्रतिषिद्धम्। तादृश्यः स्त्रियो न तृप्तौ सम्भवन्त्युदाहरणम्। न च सम्प्रतिपन्नमुदाहरणम्। अग्नीत्पदस्य योगीत्यर्थोऽपि चिन्त्यः। श्रुतिसूत्रपद्धतिविरोधस्तु पूर्वोक्तसिद्धान्तव्याख्यानेनैव स्पष्टः ॥ १५ ॥

अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने। इममपाᳬ संङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति। उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा ॥ १६ ॥

'मन्थिनमयं वेन इति' (का० श्रौ० ९।६।१३)। मन्थिग्रहं गृह्णीयात् 'अयं वेन' इति मन्त्रेण। सोम्या त्रिष्टुभा अनया अधिदैवमधियज्ञं चावस्थितः सोमः स्तूयते। 'वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः' (नि० १०।३८)। अयं चन्द्रो वेनः कान्तोऽभीष्टः, 'विनि कान्तौ' इति धातोर्निष्पन्नत्वात्। पृश्निरादित्यस्तस्य गर्भभूता आपः। प्रश्नोत्तराभ्यामस्यार्थस्यान्यत्र श्रूयमाणत्वात्। क्वेमा आपोऽनिमिषन्तो यदितो यान्ति सम्प्रतीति प्रश्नः। 'आपः सूर्ये समाहिताः' (तै० आ० ३०।१।८)। अभ्राण्यपः प्रपद्यन्त इत्युत्तरम्। अयं वेनः पृश्निगर्भा पृश्नि-रादित्यो द्युलोको वा गर्भोऽवस्थितिस्थानं यासां ता द्युलोकस्थाः सूर्यस्था वा। अपो जलानि चोदयत् चोदयति, वर्षतीत्यर्थः। कीदृशोऽयं ज्योतिर्जरायुः, ज्योतिर्विद्युल्लक्षणं तेजो जरायुर्जरायुवद्वेष्टनम्, 'जरायुर्गर्भवेष्टनम्, यस्यासौ ज्योतिर्जरायुः। ज्योतिरस्य चन्द्रस्य जरायुस्थानीयमाच्छादकमित्यर्थः। कुत्र स्थितः ? रजस उदकस्य विमाने निर्माणस्थानेऽन्तरिक्षेऽवस्थितो ग्रीष्मान्ते पृश्निगर्भा अपश्चोदयत् चोदयति। नन्वपां सूर्ये गर्भीभावः कथं सम्पन्न इति चेदत्रोच्यते—विप्रा मेधाविन ऋत्विजोऽपां सूर्यस्य च सङ्गमे निमित्तभूते सतीमं चन्द्रं शिशुं न स्तनन्धयं शिशुमिव क्षीरादिना लालयन्तो मतिभिर्मन्त्रसहिताभिराहुतिभिर्लिहन्ति यजन्तीत्यर्थः। आहुतिदेवताभि-रिमा आपो नीयन्ते, एतदेवाभिप्रेत्य श्रूयते—भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय इति। यद्वा इदानी-मधियज्ञं लतात्मना सोमः स्तूयते। विप्रा मेधाविनो ब्राह्मणा इमं सोमं शिशुं न शिशुमिव मतिभिस्तत्पूर्वाभिर्वाग्भी

शब्द से सत्य वाणी तथा सुत शब्द से श्रेष्ठ व्यवहार का ग्रहण करना भी अप्रामाणिक है। 'होत्राः' शब्द का अर्थ संस्कृत में 'स्वीकार योग्य' तथा हिन्दी में 'योगस्वीकारार्ह' किया गया है, यह परस्पर मेल नहीं खाता। अग्नीत् शब्द का योगी अर्थ भी शोचनीय है। श्रुति, सूत्र तथा पद्धति ग्रन्थों का विरोध तो पूर्वोक्त व्याख्यान से ही स्पष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—**यह विद्युत् लक्षण वाली ज्योति से वेष्टित कान्तिमान् चन्द्र जल के निर्माण करने में जल को प्रेरित करता है। बुद्धिमान् ब्राह्मण सूर्य से जल की संगति के समय इस सोम की प्रिय पुत्र के समान बुद्धिपूर्वक वाणियों से स्तुति करते हैं। हे सप्तम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र द्वारा गृहीत हो, मर्क असुर के निमित्त तुम्हें स्थापित करता हूँ ॥ १६ ॥**

भाष्यसार—'अयं वेनः' इस मन्त्र से मन्थि ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन

रिहन्ति स्तुवन्ति स्तोत्रशस्त्ररूपाभिः। कीदृशं सोमम्? सूर्यस्यापां च सङ्गमे गृहीताभिरद्भिरभिषुतमिति शेषः। सोमाभिषवार्थं वसतीवर्य आपोऽपां सूर्यस्य च सङ्गमे गृह्यन्ते, 'ता वै वहन्तीनां स्यन्दमानानां गृह्णीयाद्दिवा गृह्णीयात्' इति श्रुतेः। परमात्मनः सङ्गमेऽन्योन्याध्यासलक्षणे सम्बन्धे मतिभिर्बुद्धिभिस्तत्साक्षितया शिशुं शंसनीयं शिशुमिव रिहन्ति स्तुवन्ति। हे परमात्मन्, त्वमुपयामैर्यमैर्नियमैरनुरागैश्च प्रत्यगात्मतया गृहीतो भवसि। मर्काय जीवनाय त्वां गृह्णामि। मर्चति चेष्टत इति मर्को जीवः। हे सोमरस, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। उपयामयतीत्युपयामो ग्रहस्तेन गृहीतोऽसि, मर्कः शुक्रपुत्रोऽसुरपुरोहितस्तस्मै त्वां गृह्णामीति शेषः। शतपथे च—'अथ मन्थिनं गृह्णाति। अयं वेनश्चोद.....'(श० ४।२।१।१०)।

अध्यात्मपक्षे—अयमपरोक्षः पराभिन्नः प्रत्यगात्मा वेनः कान्तः सर्वाभिलषितः, सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात्। पृश्निगर्भा द्युलोकगर्भा आदित्यगर्भा वा अपो लोकान्, 'आपो वै लोकाः' इति श्रुतेः। चोदयत् प्रेरयति, तस्यैव सर्वान्तर्यामित्वात्। क्वेति जिज्ञासायां रजस उदकस्य निर्माणस्थान आकाशे, तत्रैव सर्वलोकानां सत्त्वात्। कीदृशोऽयं वेनः? ज्योतिषां बाह्यानां सूर्यचन्द्रादीनामान्तराणां मनोबुद्धीन्द्रियादीनां जरायुवदाच्छादकः, तत्र तेषामप्रकाशत्वात्, 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्' (श्वे० उ० ६।१४), 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः' (केनो० १।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवा ज्योतींषि जरायुवदाच्छादकानि यस्य सः। तैरप्रकाश्यत्वादेवेमं तथाविधमात्मानं विप्रा अपां सूर्यस्य लोकानां तच्छासकस्य परमात्मनः सङ्गमेऽन्योन्याध्यासलक्षणे सम्बन्धे मतिभिर्बुद्धिभिस्तत्साक्षितया शिशुं शंसनीयं शिशुमिव रिहन्ति स्तुवन्ति। हे परमात्मन्, त्वमुपयामैर्यमैर्नियमैरनुरागैश्च प्रत्यगात्मतया गृहीतो भवसि। मर्काय जीवनाय त्वां गृह्णामि। मर्चति चेष्टत इति मर्को जीवः।

दयानन्दस्तु—'हे शिल्पविद्विद्वन्, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। अहं रजसो लोकसमूहस्य मध्ये पृश्निगर्भा लोका इव ज्योतिर्जरायुरिवायं वेनश्चोदयदिमं चन्द्रमपां सूर्यस्य सङ्गमे शिशुं विप्रा मतिभी रिहन्ति, नेव मर्काय दुष्टानां प्रशमनाय श्रेष्ठव्यवहारस्थापनाय च विमाने त्वां गृह्णामि' इति, हिन्दीभाष्ये तु—'हे शिल्पविधिज्ञ सभाध्यक्ष, त्वमुपयामगृहीतोऽसि सेनादिभी राज्याङ्गैर्युक्तोऽसि। अहं रजसो लोकानां मध्ये पृश्निगर्भा पृश्निरन्तरिक्षं गर्भो येषां तान् ज्योतिर्जरायुरिव ज्योतिषां जरायुरिवाच्छादकस्तारागणानाच्छादयन् अयं वेनः

श्रौतसूत्र (९।६।१२) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्र-व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—यह अपरोक्ष, पराभिन्न, प्रत्यगात्मा समस्त प्राणियों का परम प्रेमास्पद होने के कारण सबके द्वारा अभिलषित, द्युलोकगर्भ अथवा आदित्यगर्भरूपी सर्वान्तर्यामी होने के कारण लोकों को उदक के निर्माणस्थान आकाश में प्रेरित करता है, वही समस्त लोकों में विद्यमान है। यह वेन बाह्य सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियों का तथा आभ्यन्तर मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि का गर्भवेष्टन की भाँति आच्छादन करने वाला है। अथवा ज्योतियाँ ही गर्भवेष्टन की भाँति इसको ढक लेती हैं। उनके द्वारा अदृश्य होने के कारण ही इस आत्मा को विद्वान् लोग लोकों के शासक परमात्मा के अन्योन्याध्यासरूपी सम्बन्ध में बुद्धियों के द्वारा उसकी स्तुति करते हैं। हे परमात्मन्! आप यम, नियम तथा अनुराग के द्वारा प्रत्यगात्मरूप से ग्रहण किये जाते हैं। जीवन के लिये आपका ग्रहण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में शिल्पवेत्ता विद्वान् को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण व्यर्थता है। हिन्दी में 'वही सभाध्यक्ष है' यह भी कहा गया है। सभी अध्यक्ष शिल्पवेत्ता नहीं होते और न ही सभी

कमनीयश्चन्द्रश्चोदयति यथायोग्यं स्वस्वमार्गेऽभियोजयति, इमं चन्द्रमपां सूर्यस्य च सङ्गमे संग्राम आकर्षणादिविषयेषु शिशुं न शासनीयशिक्षायोग्यबालकं विप्रा मतिभिः स्वबुद्धिभी रिहन्ति सत्कुर्वन्त इवादरेण गृह्णन्ति। अहं च मर्काय मृत्युनिमित्ताय वायवे दुष्टानां शमनाय सद्व्यवहारस्थापनाय विमाने मानरहितेऽनन्तेऽन्तरिक्षे विविधयाननिर्माणाय त्वां करोमि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शिल्पविद्विदुषः सम्बोध्यत्वे मानाभावात्। हिन्द्यां तु 'स एव सभाध्यक्षः' इत्यप्युक्तम्। न च सर्वोऽध्यक्षः शिल्पविद्भवति। न वा शिल्पवित्सर्वः सभाध्यक्षो भवति। न चासौ राज्याङ्गसेनादिभिः संयुक्तो भवति, न वा शिल्पविदश्चन्द्रवत्कमनीयो भवति। 'चन्द्रमसो नक्षत्राणां स्वस्वमार्गप्रेरकः' इत्यपि रिक्तं वचः, प्रमाणाभावात्। एवमपां सूर्यस्य सङ्गमे आकर्षणादिषु शिक्षायोग्यबालकं विप्राः स्वबुद्धिभिः सत्कुर्वन्त इवादरेण गृह्णन्तीत्यस्य किं कर्मेति न स्पष्टम्। तथैव मर्कपदस्य दुष्टानां प्रशमनं सद्व्यवहारस्थापनं चेत्यर्थोऽपि निर्मूल एव। यत्तु—'वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः। तस्यैषा भवति' (नि० १०।३८), 'अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा'...अप इति वा ज्योतिर्जरायुर्ज्योतिरस्य जरायुस्थानं भवति जरायुर्जरया गर्भस्य यूयत इति वेममपां सङ्गमने सूर्यस्य च शिशुमिव विप्रा मतिभी रिहन्ति लिहन्ति स्तुवन्ति...वा। शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणश्चिरलब्धो गर्भो भवति' (नि० १०।३९) इति निरुक्तोद्धरणम्, तदपि निरर्थकमेव, तदनुकूलस्यार्थस्यानिरूपणात् ॥ १६ ॥

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता। आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णो अस्याऽश्रीणीताऽऽदिशं गभस्तावेष ते योनिः प्रजाः पाह्यपमृष्टो मर्को देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ १७ ॥

'सक्तुभिः श्रीणात्येनं मनो न येष्विति' (का० श्रौ० ९।६।१४)। एनं मन्थिनं ग्रहं सक्तुभिर्लौकिकैः पवित्रेऽन्तर्धाय मिश्रयेरन्मनो न येष्विति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। त्रिष्टुप् छन्दः। सोमदैवतम्। मनो न मन इव मनोवेगं क्षिप्रं येषु हवनेषु सोमहोमेषु तिग्ममुत्साहयुक्तं यथा स्यात्तथा, तेजतेरुत्साहकर्मणो निष्पन्नत्वात्। विपो विपश्चितौ मेधाविनावध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ। विपश्चिताविव्यत्र छान्दसः प्रातिपदिकैकदेशलोपः। शच्या कर्मनिमित्तेन। शचीति कर्मनाम। वनुथो वनुतो व्याप्नुवतो युगपत्। वनुथ इति प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुष-

---

शिल्पवेत्ता सभाध्यक्ष होते हैं। 'आदर से ग्रहण करते हैं' इसका क्या कर्म है, यह स्पष्ट नहीं किया गया। मर्क शब्द का अर्थ दुष्टों का शमन तथा सद्व्यवहार का स्थापन किया गया है यह भी अप्रामाणिक है। निरुक्त का जो उद्धरण दिया गया है, वह भी निरर्थक ही है, क्योंकि उसके अनुकूल अर्थ नहीं प्रतिपादित किया गया है ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—लघुहस्त, क्षिप्रकारी, बुद्धिमान्, कर्म के द्वारा मन के उत्साह को बढ़ाने वाले ऋत्विक् जिस सोम रस के हवन में मन के समान तीक्ष्ण उत्साह से विशेष मन लगाये हुए हैं, वे बहुत धन वाले ऋत्विक् सोम को हाथों में रख कर इनको अंगुलियों से सब ओर से सक्तुओं से मिश्रित करते हैं। हे मन्थिग्रह! तुम्हारा यह स्थान है। इस स्थान में स्थित रहकर यजमान की प्रजा की रक्षा करो, मर्क असुर को अपमार्जित करो। हे मन्थि ग्रह, मन्थि ग्रह का पान करने वाले देवता तुमको यज्ञ स्थान में प्राप्त करें, वेदि-श्रोणी अनुपहिंसित हो ॥ १७ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।१३,९।१०।४,६) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'मनो न येषु'

श्छान्दसः। शुक्रामन्थिनौ होमं द्रवन्तौ गच्छन्तौ। तेष्वहोमेषु कर्तव्येषु वनुत इति सम्बन्धः। योऽध्वर्युरश्रीणीत शर्याभिरङ्गुलीभिः। तुविनृम्णः तुवि बहु नृम्णं धनं यस्य स महादक्षिणः। तुवीति बहुनाम। नृम्णमिति धननाम। अस्य मन्थिग्रहस्य। कर्मणि षष्ठी। इमं मन्थिग्रहगतं सोमं सक्तुभिर्यवपिष्टैरश्रीणीत आदिशं प्रतिदिशम् आसमन्ताद् मिश्रयेत। क्वावस्थितस्य सतो मन्थिग्रहस्य? गभस्तौ पाणौ स्थितस्य, पाणौ स्थितमित्यर्थः। यद्यप्यत्राध्वर्यु-प्रतिप्रस्थातारौ समानकर्माणौ, तथापि यः सक्तभिः श्रपणं करोति स एव प्रधान इत्याशयः। एष ते योनिः प्रजा यजमानसम्बन्धिनीः पाहि गोपाय। 'अपमृष्टो मर्क इति प्रतिप्रस्थातेति' (का० श्रौ० ९।१०।३)। प्रति-प्रस्थाता प्रोक्षितेन शकलेन मन्थिनमाच्छाद्याप्रोक्षितेनोपमार्ष्टि। अपमृष्टो मर्कः, अपमार्जनीकृतो मर्काख्योऽसुर-पुरोहितः। 'देवास्त्वेति निष्क्रामतो यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० ९।१०।४)। प्रतिप्रस्थाता हविर्धानान्निष्क्रामेत्। मन्थिदैवतम्। हे मन्थिग्रह, मन्थिनं ग्रहं पिबन्तीति मन्थिपा देवास्त्वां प्रणयन्तु यजतिस्थानं प्रापयन्तु। अनाधृष्टासीति हे वेदिश्रोणे, त्वमनाधर्षितासीति।

यद्वा—हे विपो विपश्चितः, येषु सोमहोमेषु मनो न मन इव क्षिप्रं तिग्ममुत्साहयुक्तं यथा स्यात्तथा द्रवन्तौ शुक्रामन्थिनौ शच्या कर्मणा निमित्तेन वनुथो वनुतः प्राप्नुतः, व्यत्ययेन मध्यमः पुरुषः। देवांशभूतेषु होमेषु प्राप्तो यः तुविनृम्णो (निघ० ३।१।२) बहुबलो (निघण्टु २।९।९) मन्थिग्रहोऽस्ति, अस्येमं ग्रहं गभस्तौ पाणौ धृत्वा शर्याभिरङ्गुलीभिरादिशं प्रतिदिशं यवपिष्टैः, अश्रीणीत समन्ताद् मिश्रयत। गभस्तिः पाणिः, 'पाणी वै गभस्ती' इति श्रुतेः। यद्वा विपश्चितोऽध्वर्यवो येषु सोमयागेषु शच्या कर्मनिमित्तभूतेन मनोवत् तिग्मं तीक्ष्णं क्षिप्रं व्याप्नुवन्ति, तथा शुक्रामन्थिनौ ग्रहौ द्रवन्तौ गच्छन्तौ युवां वनुथो युष्मदीयं होमं व्याप्नुथः। तेषु होमेषु कर्तव्येषु यस्तुविनृम्णो बहुधनो बहुदक्षिणोपेतोऽस्ति, अस्य गभस्तौ पाणौ स्थितस्य मन्थिग्रहस्य आदिशं प्रदिशं शर्याभिः स्वाङ्गुलीभिः, आश्रीणीत आश्रयं कुर्वीत। हे मन्थिग्रह, ते तवैष प्रदेशो योनिः स्थानम्।

अत्र शतपथब्राह्मणम्—'तं ँ सक्तुभिः श्रीणाति। तद्यत् सक्तुभिः श्रीणाति वरुणो ह वै सोमस्य राज्ञोऽ-भीवाक्षि प्रतिपिपेष तदश्वयत्ततोऽश्वः····समभवत्तस्मादश्वो नाम तस्याश्रु प्रास्कन्दत्ततो यवः समभवत्तस्मादाहु-र्वरुण्यो यव इति तद्यदेवास्यात्र चक्षुषोऽमीयत तेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मात् सक्तुभिः श्रीणाति' (श० ४।२।१।११)। गृहीतस्य सोमरसस्य यवपिष्टैर्मिश्रणं तस्योपव्याख्याने हेतुं चाह—तं सक्तुभिरिति। सक्तुभिः श्रीणातीति यत् तत्कारणमुच्यते। वरुणो ह वै सोमस्य सक्तोर् अक्षि अभिपिपेष तेनाभिपेषणेन तदक्षि अश्वयत् प्रवृद्धमभूत्, 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः'। तस्मात् श्वयथात्, श्वयथुरित्युकारस्य व्यत्ययेनाकारः, अश्वः समभवत् तस्मादश्वो नाम। तस्याश्रु प्रास्कन्दत् ततो यवः समभवत्। तस्मादाहुर्वरुण्यो यवः। 'भवे छन्दसि' (पा० सू० ४।४।११०) इति यत्प्रत्ययः। यद्यस्मादस्य सोमस्य चक्षुषः सकाशाद् देवांशरूपममीयत अपगतमभूत्, यदेतेन यवपिष्टमिश्रणेन तेनैवांशेन एनं सोमं समर्धयति तेन च कृत्स्नं सम्पूर्णं करोति। तस्मात् सक्तुभिः श्रपणं प्रशस्तम्। स श्रीणातीति विहितं मिश्रणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—मनो न येष्विति। मन्त्रस्तु व्याख्यात एष त इत्यादिना। श्रुतिर्मन्त्रांशं व्याचष्टे—एष ते योनिः प्रजाः पाहीति सादयति। आद्यो भोग्यवर्गश्चन्द्रात्मकस्य मन्थिनोऽवस्थाभेद इत्युक्तम् (४।२।१।२-३) इत्यत्र शतपथे। प्रजाश्च भोग्याः। अतश्चन्द्रात्मकस्य मन्थिनो भोग्यप्रजारक्षकत्वं मन्त्र आहेत्यर्थः।

इस कण्डिका के मन्त्रों से मन्थिग्रह में स्थित सोम का सक्तुओं से मिश्रण, ग्रहपात्र का यूपशकल से आच्छादन, हविर्धान मण्डप से निष्क्रमण आदि विधियां अनुष्ठित की जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—हे विपः ! विपश्चितौ मेधाविनौ श्रीरामलक्ष्मणौ, कृष्णबलरामौ वा, युवां येषु हवनेषु दुष्टनिर्दलनसाधुपरित्राणधर्मस्थापनादिकार्येषु शच्या कर्मणा प्रज्ञया वा मनोवत् क्षिप्रं तिग्मं सोत्साहं यथा स्यात्तथा वनुथो व्याप्नुथः। कीदृशौ युवाम् ? द्रवन्ता तेष्वेव कर्मसु प्रचरन्तौ। तेषु कर्तव्येषु हवनेषु यस्तुविनृम्णो बहुधनः प्रभूतैश्वर्यः प्रभूतबलो वाऽस्ति, अस्येमं गभस्तौ मनोरश्मिषु मनोवृत्तिषु धृत्वा शर्याभिः सर्वाभिरङ्गुलीभिरश्रीणीत आश्रयं कुर्वीत। हे साधक, एष ते योनिः कारणमाश्रयो वा। तदाश्रये प्रजाः सर्वमेव संसारं पाहि पालय। मर्को मर्कोपलक्षितः सर्वोऽपि विघ्नकारकः। अपमृष्टो निरस्तः। मन्थिपा देवा मथ्नातीति मन्थि मनः, तत्पान्ति रक्षन्तीति मन्थिपा देवास्त्वां प्रणयन्तु त्वदिष्टसन्निधानं प्रापयन्तु। हे भक्त्युपेते साधकबुद्धे, त्वमनाधृष्टा अनुपहिंसिता असि भवसि, त्वदाश्रयेणैव साधकसाफल्यमिति यावत्।

दयानन्दस्तु 'हे शिल्पविद्याविचक्षण सभापते विद्वन्, एष ते राजधर्मो योनिर्गृहम्। त्वं यथा तुविनृम्णः, तुवीनि बहूनि नृम्णानि धनानि यस्य सः, प्रजापतिर्विपो विविधं पातीति विपो मेधावी। 'विप इति मेधाविनामसु पठितम्' (निघ० ३।१५)। प्रजाजनश्चैतौ द्वौ युवां येषु हवनेषु धर्मेणैवादानेषु शर्याभिर्गतिभिस्तिग्मं वज्रवत्तीव्रं 'तिग्ममिति वज्रनामसु' (निघ० २।२०)। मनो विज्ञानं न इव द्रवन्ता गन्तारौ सन्तौ शच्या प्रज्ञया 'शचीति प्रज्ञानामसु' (निघ० ३।९)। सह आ वनुथः कामयेथे। वनोतीति कान्तिकर्मसु (निघ० २।६)। इत्थं प्रत्येकः प्रजाजनोऽस्य गभस्तौ अङ्गुल्या निर्देशे 'गभस्तयोऽङ्गुलिनामसु' (निघ० २।५)। आदिशं दिशमभिव्याप्य यथा स्यात्तथा शत्रूनाश्रीणीत श्रीणाति पचति मर्को मरणदुःखदो दुर्नयोऽपमृष्टो दूरीकृतो भवतु। प्रजाः पाहि मन्थिपाः, ये मन्थन्ति शत्रून् तान् वीरान् पान्ति ते मन्थिपा देवा विद्वांसस्त्वां प्रणयन्तु प्रीणयन्तु। हे प्रजे, यतोऽनाधृष्टा अधर्षणीया निर्भया स्वतन्त्रा त्वमसि, तं राजानं सततं रक्ष' इति, तदप्यविचारितरमणीयम्, सर्वस्याप्येतस्यार्थस्य कल्पनाप्रसूतत्वेन वेदबाह्यत्वात्। तथाहि—'शिल्पविद्याविचक्षण सभापते हे प्रजे, तं राजानं सततं रक्षेत्यादिकं निर्मूलमेव, मूले तद्बोधकपदाभावात्। तुविनृम्ण इत्यस्य बहुधनः, विप इत्यस्य च मेधावीति च त्वदुक्तोऽर्थः। तौ शब्दौ प्रजापतिप्रजाजनपरौ कथम् ? सिद्धान्ते तु श्रुतिसूत्रानुसारेण ग्रहीतुं शक्येते। संस्कृतव्याख्याने तु—'येषु हवनेषु धर्मेणैवादानेषु' इत्युक्तम्, हिन्दीव्याख्याने तु हवनादिकर्मस्वित्युक्तम्, तदपि विरुद्धमेव। गभस्तिपदेन निघण्टुरीत्याऽङ्गुलिग्रहणेऽप्यङ्गुलीनिर्देशोऽर्थोसङ्गत एव। 'आदिशं

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे मेधावी श्रीराम एवं लक्ष्मण अथवा श्रीकृष्ण तथा बलराम, आप दोनों जिन दुष्टों के संहार, सज्जनों की रक्षा तथा धर्म की स्थापना आदि कार्यों में, कर्म से अथवा प्रज्ञा से मन के समान शीघ्रता सहित उत्साहपूर्वक उद्युक्त रहते हैं। आप दोनों उन्हीं कर्मों में व्यापृत रहते हैं। उन कर्तव्यों में जो बहुत ऐश्वर्यशाली अथवा अधिक बलवान् हैं, उनको ही मनोवृत्तियों में स्थापित करके सभी अंगुलियों आदि से उनका आश्रय ग्रहण करें। हे साधक ! वही तुम्हारा कारण अथवा आश्रय है। उसके आश्रय में सम्पूर्ण संसार का पालन करो। मर्क आदि सम्पूर्ण विघ्नकारी निरस्त हो गये। मन्थनात्मक मन का रक्षण करने वाले देवगण तुमको इष्टदेव का सान्निध्य प्राप्त करावें। भक्ति से युक्त हे साधक की बुद्धि, तुम अहिंसित हो, क्योंकि तुम्हारे आश्रय से ही साधक की सफलता है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ इस आर्य विचारक की कल्पना से ही उत्पन्न होने के कारण वेदबाह्य होने से गाम्भीर्य-रहित है। हे शिल्पविद्याविचक्षण सभापति, हे प्रजाओं, ये सब संबोधन अप्रामाणिक हैं, क्योंकि मूल मन्त्र में इस अर्थ के बोधक पद नहीं हैं। 'तुविनृम्ण' शब्द का अर्थ बहुत धनवान् तथा 'विपः' का अर्थ मेधावी भी इसी व्याख्या में कहा गया है। फिर उन्हीं शब्दों को प्रजापति तथा प्रजाजन का बोधक मानना कैसे संभव है ? निघण्टु के अनुसार

शत्रून् अश्रीणीत' इत्यत्रापि शत्रुशब्दः कस्य शब्दस्यार्थ इति नोक्तम्, अतस्तदपि निर्मूलमेव। मर्कशब्दस्य मरण-दुःखद इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव। दुर्नयस्तु ततोऽपि दूरतरः। श्रुतिसूत्रानुसारी त्वर्थ उक्त एव। 'विप इति मेधाविनामसु' इति निघण्टुवचनं तु विपश्चित्प्रातिपदिकैकदेशलोपमूलकमेवेति मन्तव्यम् ॥ १७ ॥

सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा निरस्तो मर्को मन्थिनोऽधिष्ठानमसि ॥ १८ ॥

'सुप्रजा इति प्रतिप्रस्थातोत्तरमिति' (का० श्रौ० ९।१०।६)। सुप्रजा इति मन्त्रेण प्रतिप्रस्थाता उत्तरं यूपप्रदेशं गच्छेत्। मन्थिदैवतम्। हे मन्थिग्रह सुप्रजाः शोभनप्रजास्त्वं यजमानसम्बन्धिनीः प्रजाः प्रजनयन् रायस्पोषेण धनस्य पोषेण पुष्ट्या सह यजमानमभि यजमानसम्मुखं परीहि परिगच्छ। 'अपरेण यूपमरत्नी सन्धत्तः संजग्मान इति' (का० श्रौ० ९।१०।७)। यूपस्य पश्चात् पुनररत्नी सन्धत्तः शुक्रलिङ्गेनाध्वर्युर्मन्थि-लिङ्गेन प्रतिप्रस्थातेति। दिवा पृथिव्या द्युलोकभूलोकाभ्यां सञ्जग्मानः सङ्गच्छमानः सन् मन्थी मन्थिशोचिषा मन्थिनः स्वस्यैव शोचिषा दीप्त्या, यूयं बिभर्तीति शेषः। 'निरस्तो मर्क इति प्रतिप्रस्थाता' (का० श्रौ० ९।१०।९)। प्रतिप्रस्थाता अप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्येद् आभिचारिकम्। मर्कनामासुरपुरोहितो निरस्तो निराकृतः। 'मन्थिन इति प्रतिप्रस्थातेति' (का० श्रौ० ९।१०।१०)। प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितयूपशकलमाहवनीये प्रक्षिपेत्। शकल-दैवतम्। हे यूपशकल, त्वं मन्थिग्रहस्याधिष्ठानमधिकरणमसि।

अत्र शतपथब्राह्मणम् –'अथ प्रतिप्रस्थाता पर्येति। सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीहीत्याद्यो ह्येतमन्वाद्या हीमाः प्रजा विशस्तस्मादाह सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीहीत्यभि रायस्पोषेण यजमानमिति तद्यजमानायाशिष-माशास्ते यदाहाभि रायस्पोषेण यजमानमिति' (श० ४।२।१।१७)। प्रतिप्रस्थाता सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीहीत्याद्यो भोग्यवर्गश्च चन्द्रात्मकस्य मन्थिनोऽवस्थाभेदः। प्रजायमानाः प्रजा भोग्याः सुवीरो वीरानिति तु शुक्रग्रहात्मकस्य सुवीरस्य वीरान् भोक्तॄन् प्रत्युत्पादकत्वमुक्तम्। 'तावपिधाय निष्क्रामतः। तिर एवैना-वेतत्कुरुतस्तस्मादिमौ सूर्याचन्द्रमसौ प्राञ्चौ यन्तौ न कश्चन पश्यति तौ पुरस्तात् परीत्यापोर्णुतः पुरस्तात्तिष्ठन्तौ जुहुत आविरेवैनावेतत् कुरुतस्तस्मादिमौ सूर्याचन्द्रमसौ प्रत्यञ्चौ यन्तौ सर्व एव पश्यति तस्मात्पराग्रेतः सिच्यमानं न कश्चन पश्यति तदु पश्चात् प्रजायमानं सर्व एव पश्यति' (श० ४।२।१।१८)। आहवनीयस्य पश्चाद्भागे ग्रहयोराच्छादनं पुरस्ताद् गत्वा तदपनयनं च विधत्ते—तावपिधाय निष्क्रामत इति। अत्रानन्तरमेवोपात्तत्वेन प्रकृतत्वात् प्रोक्षिताभ्यां शकलाभ्यामपिदध्यातामिति तद्विधानम्। पिधानस्य प्रयोजनं ग्रहयोः प्राग्गमनसमये

गभस्ति शब्द का अंगुली अर्थ मानने पर भी 'अंगुलिनिर्देश' अर्थ तो असंगत ही है। मर्क शब्द का अर्थ 'मरणदुःखद' करना भी अप्रामाणिक है। श्रुति तथा सूत्र के अनुसार अर्थ हमारे सिद्धान्त पक्ष में बता दिया गया है ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ – **हे ग्रह ! तुम सुप्रजा हो, यजमान सम्बन्धिनी प्रजा को उत्पन्न करते हुए धन की पुष्टि के साथ यजमान के संमुख आओ। यह मन्थि नामक ग्रह अपनी दीप्ति से द्युलोक और भूलोक के साथ संयुक्त होकर यूप की रक्षा करता है। मर्क असुर दूर चला गया है। हे यूपकाष्ठखण्ड ! तुम मन्थि ग्रह के अधिकरण हो ॥ १८ ॥**

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१०।७-१३) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'सुप्रजाः प्रजा' इस

लोकैरनुपलम्भाय तिरोधानम्। शुक्रामन्थिनौ सूर्यचन्द्रात्मकौ। तयोश्च प्राग्गतिर्न केनचिदुपलभ्यते। अतस्तदात्मकयोरनयोर्ग्रहयोरपि प्राग्गत्या लोकैरनुपलब्धयैव भाव्यम्। पुरस्तात् स्थित्वा आच्छादनमपोर्णुतोऽपनयतः। तस्य प्रयोजनं ग्रहयोराविष्करणम्। सूर्याचन्द्रमसौ च प्राग्गतौ सर्वैरेव दृश्येते, अतस्तदात्मकयोर्ग्रहयोरपि प्राग्भागे प्रकाशनमुपपद्यत इत्यर्थः।

शाखान्तरेऽपि तथैवाम्नायते—'असौ वा आदित्यः शुक्रश्चन्द्रमा मन्थ्यपिगृह्य प्राञ्चौ निष्क्रामतस्तस्मात् प्राञ्चौ सन्तौ न पश्यन्ति प्रत्यञ्चावावृत्य जुहुतस्तस्मात् प्रत्यञ्चौ यन्तौ पश्यन्ति' (तै० सं० ६।४।१०)। ननु सर्वेषां ग्रहाणां प्रत्यग्गतिरेव प्रसिद्धा, न प्राग्गतिरिति चेदुच्यते—यदा सूर्यश्चन्द्रमाश्च यस्मिन्नक्षत्रे तिष्ठति तदा तेनैव सह प्रत्यग्गच्छति। तत्र प्रवहणवायुवशेन तस्मिन्नक्षत्रे पुरतः शीघ्रं नीयमाने सति स्वयं पश्चाद्धीयते। स तथाविधः सन् ततः प्राचीनेन नक्षत्रान्तरेण युज्यते। सैव प्राग्गतिः। सा तु न केनचिदुपलभ्यते। तदुक्तं ज्योतिःसिद्धान्ते—'पश्चाद् व्रजन्तोऽतिजवान्नक्षत्रैः सततं ग्रहाः। नीयमानास्तु लम्बन्ते तुल्यमेव स्वमार्गगाः॥' (सूर्यसिद्धान्त म० प्र०)। अथ च प्रागुदितौ सूर्याचन्द्रमसौ प्रत्यगस्तं गत्वा पुनः प्रागुदयाय प्रत्यक्तः सकाशात् पाताले प्राग्गच्छतः। तथा गच्छन्तौ तौ न दृश्येते, भूभागव्यवधानात्। तावेव तु प्रागुदयं गतौ दृश्येते, प्राक्तस्तु प्रत्यग्गच्छन्तौ अव्यवहितत्वात् सर्वैरेव दृश्येते, अतस्तदात्मनोर्ग्रहयोरपि प्राग्गतिसमये सकलाभ्यां पिधानम्। प्रत्यग्गतिसमये तदपनयनम्। यस्मात् प्राग्गमनसमये ग्रहयोराच्छादनं पुरतो गत्वा तदपनयनं कृतम्, तस्माल्लोकेऽपि पराक् पराचीनं सिच्यमानं रेतो न कश्चिदपि पश्यति, पश्चात् प्रत्यगभिमुखं जायमानं तत् सर्व एव पश्यति। 'तौ जघनेन यूपमरत्नी सन्धत्तः। यद्यग्निर्नोद्बाधेत यद्यु अग्निरुद्बाधेताप्यग्रेणैव यूपमरत्नी सन्दध्याताᳪ संजग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषेत्येवाध्वर्युः संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषेति प्रतिप्रस्थाता चक्षुषोरेवैते आरमणे कुरुतश्चक्षुषी एवैतत्सन्धत्तस्तस्मादिमेऽभितोऽस्थिनी चक्षुषी सᳪहिते' (श० ४।२।१।१९)। यूपस्य पश्चात् पुरतो वा तयोः पुनरभिसन्धानं समन्त्रकमाह—तौ जघनेनेत्यादि। उद्बाधेत दहेदित्यर्थः। दिवा पृथिव्या च सङ्गच्छमानः शुक्रग्रहः शुक्रदेवतासम्बन्धिना तेजसा रक्षसामपघातं करोत्विति शेष इति सन्धानमन्त्रार्थः। तथैव दिवा पृथिव्या च सङ्गच्छमानो मन्थिग्रहो मन्थिशोचिषा रक्षसामपघातं करोत्विति। एतेन सन्धानेन चक्षुषोरेव आरमणे सञ्चारस्थाने कुरुतः, एतस्मिन् स्थाने चक्षुषी अपि संहिते कुरुतः। यत एवं तस्माल्लौकिकानां चक्षुषी उभयतोऽस्थिमती संहिते भवतः। 'सोऽध्वर्युः। अप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्यति निरस्तः शण्ड इत्येवमेव प्रतिप्रस्थाता निरस्तो मर्क इति तत्पुराहुतिभ्योऽसुररक्षसे अपहतः' (श० ४।२।१।२०)। तेन निरसनेन आहुतिकालात् प्रागेवासुररक्षसे अपहतः, अपगमय्य हिंस्तः। एते चक्षुरात्मकयोर्ग्रहयोः सम्बन्धिन्यौ समिधौ यतोऽतश्चक्षुषी एताभ्यां समिन्धे उज्ज्वलयत्यध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता च। तस्माल्लौकिकानामिमे चक्षुषी प्रकाशमाने भवतः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वं सुप्रजाः सु शोभना ब्रह्मादयः प्रजा यस्य स त्वं प्रजाः पुत्रपौत्रादिरूपा ज्ञानवैराग्यादिरूपा वा प्रजाः प्रजनयन् रायस्पोषेण धनपुष्ट्या सह यजमानं परीहि प्राप्नुहि। कीदृशस्त्वम् ?

कण्डिका के मन्त्रों से प्रतिप्रस्थाता द्वारा गमन, यूपखण्डों का प्रक्षेपण आदि कर्म अनुष्ठित किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप ब्रह्मादिरूपी श्रेष्ठ प्रजाओं वाले हैं। आप पुत्रपौत्रादि रूपी अथवा ज्ञान, वैराग्य आदि प्रजाओं को उत्पन्न करते हुए धनपुष्टि के साथ यजमान को प्राप्त करें। द्युलोक

दिवा पृथिव्या तदुपलक्षितैः सर्वैर्लोकैः सङ्गच्छमानो महाविराड्रूपः सन् मन्थी मन्मथस्यापि मन्थी मन्थनशीलो मन्थिनस्तव शोचिषा दिव्यदीप्त्या मर्कः कामादिर्निरस्तः, श्रीकृष्णस्य साक्षान्मन्मथमन्मथस्य शोचिषा कोटिकोटिमन्मथानां निरस्तत्वात्। हे भगवन्, त्वं मन्थिनोऽधिदैवस्याध्यात्मिकस्य मन्थिनः कामस्याधिष्ठानमसि, त्वय्येव तस्य कल्पितत्वात्। यथा सूर्ये प्रकाशकत्वाप्यायकत्वादिगुणसमर्पकस्य परमात्मनः सूर्यस्यापि सूर्यत्वम्, यथा वाऽयःपिण्डे दाहकत्वप्रकाशकत्वसमर्पकस्याग्नेर्दग्धुर्दग्धृत्वम्, तथैव श्रीकृष्णस्य मन्मथमन्मथत्वमुपपद्यते।

दयानन्दस्तु—'भो न्यायाधीश, सुप्रजास्त्वं प्रजाः प्रजनयन् रायस्पोषेण यजमानमभिपरीहि सर्वथा तस्य धनवृद्धिमिच्छ, मन्थी त्वं दिवा पृथिव्या संजग्मानो भव, तद्गुणो भवेति भावः। यतस्त्वं मन्थिनोऽधिष्ठानमसि। मन्थिशोचिषा मर्को निरस्तो भवतु' इति, तदपि न किञ्चित्, न्यायाधीशस्य सुप्रजस्त्वस्य प्रजाप्रजनकत्वस्यानिरूपणात्। तस्य च यजमानस्य धनवृद्धिकरत्वं च नोपपद्यते। मन्थी वादविवादमन्थनशीलस्य न्यायाधीशत्वम्, तस्य च धीरतादिशुभगुणेष्वासक्तत्वमपि काल्पनिकमेव। तस्य च गौणार्थकत्वमेव। न च न्यायकारी न्यायकारिणोऽधिष्ठानं सम्भवति, आत्माश्रयदोषात्॥ १८॥

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥ १९॥

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभिसवनानि पाहि॥ २०॥

एवं पृथिवीलोक आदि समस्त लोकों से समन्वित होते हुए महाविराड् रूपी होकर, कामदेव को भी उन्मथित कर देने वाले, मथनशील आपकी दिव्य दीप्ति से कामादि सब निरस्त हो जाते हैं, क्योंकि साक्षात् कामदेव का मन्थन करने वाले श्रीकृष्ण की प्रभा से करोड़ों कामदेवों का निरास हो गया है। हे भगवन्, आप आधिदैविक, आध्यात्मिक काम के आश्रय हैं, क्योंकि आपमें ही उसकी कल्पना है। जिस प्रकार सूर्य में प्रकाशकत्व, पोषकत्व आदि गुणों को प्रदान करनेवाले परमात्मा सूर्य के भी प्रकाशक हैं, अथवा जिस प्रकार लोहपिण्ड में दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि गुणों को प्रदान करने वाली अग्नि में ही मुख्य दाहकत्व है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण का भी काम को मथित करना संगत होता है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में न्यायाधीश का सुप्रजाओं से युक्त होना तथा प्रजा का उत्पत्तिकर्ता होना निरूपित न किये जाने के कारण व्यर्थता है। वह यजमान की धनवृद्धि करता है, यह भी असंगत है। न्यायकर्ता न्यायकर्ता का अधिष्ठान नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें आत्माश्रय दोष है॥ १८॥

मन्त्रार्थ—हे देवताओं! तुम अपनी महिमा के प्रभाव से द्युलोक में ग्यारह प्रकार के हो। महाभाग्यवान् होने से पृथ्वी के ऊपर भी ग्यारह प्रकार के हो और अन्तरिक्ष में भी ग्यारह प्रकार से स्थित हो। आप सब लोग मिल कर इस यज्ञ का आनन्द लें॥ १९॥

मन्त्रार्थ—हे ग्रह! तुम उपयाम पात्र द्वारा गृहीत हो, आग्रयण नाम वाली श्रेष्ठता को प्राप्त करने वाले हो। अतः इस यज्ञ की रक्षा करो, यज्ञपति यजमान की रक्षा करो। यज्ञ के अधिपति विष्णुदेव अपनी सामर्थ्य से तुम्हारी रक्षा करें। तुम भी यज्ञदेव की रक्षा कर प्रातःसवन आदि तीनों सवनों की सब ओर से रक्षा करो॥ २०॥

आग्रयणं द्वयोर्धारयोर्ये देवास इति' (का० श्रौ० ९।६।१५)। धाराद्वयेन आग्रयणस्थाल्यामाग्रयणसोमं गृह्णीयात्। तत्र यजमानो निग्राभ्या आग्रयणपात्रे पृथगासिञ्चति, सा प्रथमा धारा। उन्नेतृकर्तृकाऽपरा। एवं धाराद्वयं सम्पाद्यमिति कर्काचार्यः। आग्रयणस्थाल्यां सोमस्तस्यैका धारा, द्वितीया तु प्राकृती होतृचमसस्था। तत्र पृथक्पृथग् धाराकरणम्। उन्नेतृयजमानयोर्धाराद्वये क्षरति आग्रयणनामकं ग्रहं गृह्णीयात्। वैश्वदेवी त्रिष्टुप् परुच्छेपदृष्टा। हे देवासो देवाः, ये यूयं दिवि द्युलोके महिना महाभाग्येन महिम्ना स्वस्वमाहात्म्येन वा एकादश स्थ एकादशसंख्याका भवथ, तथा पृथिव्यामधि उपरि महिना स्वमाहात्म्येन एकादश स्थ एकादशसंख्याका भवत, एकादशेन्द्रियभेदेन श्रोतृद्रष्टृघ्रातृत्रादिभेदेनैकादशत्वसम्भवात्। तथा अप्सुक्षितः, 'अप्सु इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम्' (निघ० १।३।८)। क्षियतिर्निवासार्थः। अप्सु अन्तरिक्षे क्षियन्ति निवसन्तीत्यप्सुक्षितोऽन्तरिक्षे निवसत महिना एकादश भवत। महिनेति पदं त्रिष्वपि स्थानेषु सम्बद्ध्यते। एकादशेन्द्रियभेदेन ते सर्वे देवा यूयं यज्ञं यजमानीयमिममाग्रयणग्रहं जुषध्वं प्रीत्या सेवध्वम्। उपयामेत्याग्रयणदैवतं यजुराग्रयणग्रहणे विनियुक्तम्। हे स्वाग्रयण अग्रस्य भाव आग्रम्, सुष्ठु आग्रं स्वाग्रं श्रैष्ठ्यम्, तस्य अयनः प्रापकः स्वाग्रयणः, तत्सम्बुद्धौ हे स्वाग्रयण हे वाक्य, यज्ञं पाहि यज्ञपतिं यजमानं च रक्ष। विष्णुर्यज्ञरूपी देव इन्द्रियेण स्वसामर्थ्येन त्वां पातु, त्वमपि तादृशं विष्णुं पालय, अभितः प्रातरादीनि सवनानि पालय। हे आग्रयणग्रह, त्वम्, आग्रयणेति नाम्ना सम्बोधनं स्तुत्यर्थमित्युव्वटः, नामधेयलाभोऽस्य साधुक्रियायोगात् स्वाग्रयणः, यस्मिन् त्वयि गृहीतेऽग्रे प्रथमे वाचोऽयनं गमनमुत्सर्गोऽध्वर्योः सञ्जातः, यस्य त्वमेवंविधः साधुकारी, तं त्वां वच्मि, पाहि यज्ञमित्यादि। शेषं पूर्ववत्।

तत्र शतपथे विशेषः—'आत्मा ह वा अस्याग्रयणः। सोऽस्यैष सर्वमेव सर्वꣳ ह्ययमात्मा तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णाति सर्वं वा इयꣳ सर्वमेष ग्रहस्तस्मादनया गृह्णाति' (श० ४।२।२।१)। उपांश्वादयो ग्रहाः प्राणाद्यात्मकत्वेन विहिताः। अत्र तेषां प्राणादीनामाश्रयो यो मध्यदेहस्तदात्मना विधास्यमानमाग्रयणग्रहं स्तौति। अस्य प्रजापतेरात्मा मध्यदेह आग्रयणस्तदुत्पत्तिस्थानत्वात्, 'आत्मन आग्रयणम्' (तै० ब्रा० १।५।४) इति श्रुतेः। प्रजापतिरपि यज्ञ एव, 'यज्ञो वै प्रजापतिः' (तै० ब्रा० १।३।१०) इति श्रुतेः। अतोऽस्य यज्ञस्याग्रयण आत्मा मध्यदेह इति प्रसिद्धः। उक्तेनात्मना अस्य ग्रहस्य प्राप्तं सर्वत्वमाह—सोऽस्यैष इति। यस्मादयं दृश्यमानो लौकिकानां मध्यदेह आत्मा सर्वं शरीरम्। उक्तं सर्वत्वमुपजीव्य पृथिव्या ग्रहस्य ग्रहणं विधत्ते। ननु पृथिव्या ग्रहस्य ग्रहणं न सम्भवति, अशक्यत्वादेवेति तत्राह—अस्यै हीति। अस्या पृथिव्याः सकाशात् स्थाली भवति उत्पद्यते, अतस्तादृश्या स्थाल्या ग्रहस्य ग्रहणे पृथिव्यैव ग्रहणं सम्पद्यते। ग्रहस्य पृथिव्या ग्रहणे तदीयं सर्वत्वं कारणमुक्तम्, तत्कथमिति तदाह—सर्वं वा इयमिति। इयं पृथिवी सर्वं सर्वाश्रयभूता, एष आग्रयणग्रहश्च मध्यदेहात्मत्वेन सर्वेषामङ्गानामाश्रयः, अतस्तस्य तया ग्रहणमुपपद्यत इत्यर्थः। 'पूर्णं गृह्णाति। सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वमेष ग्रहस्तस्मात् पूर्णं गृह्णाति' (श० ४।२।२।२)। 'विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति। सर्वं वै विश्वे देवाः सर्वमेष ग्रहस्तस्माद्विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति' (श० ४।२।२।३)। विहितं ग्रहणमनूद्य तस्य ग्रहणस्य भूयिष्ठत्वं सोपपत्तिकं विधत्ते—पूर्णं गृह्णातीति। ग्रहं पूर्णं पात्रान्तराले यथा किञ्चिदप्यवकाशो न स्यात्तथा गृह्णीयात्। लोके यत्किञ्चित्पूर्णं तत्कृत्स्नं भवति यतः, अतोऽस्य सर्वशरीरत्वादिमं ग्रहं पूर्णं गृह्णीयात्। विहिते ग्रहणे देवतासम्बन्धं दर्शयति—विश्वेभ्यो देवेभ्य इति। सर्वं वै विश्वे देवाः, विश्वे देवा इति काश्चन देवताः, ताः सर्वदेवताः, तासां सर्वदेवतात्मकत्वं विश्वे देवा इत्येतन्नाधेयत्वेनावगम्यते। तत्र सर्वशब्दार्थस्य

भाष्यसार—'ये देवासः' इत्यादि मन्त्रों से आग्रयण पात्र में आग्रयण ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक

विश्वशब्दस्य सद्भावेन साधारण्यावगमात् । नह्यग्न्यादयः शब्दास्तथा साधारणानि नामधेयानि, तस्माद्विश्वे देवाः सर्वदेवात्मकाः । 'सर्वेषु सवनेषु गृह्णाति । सर्वं वै सवनानि सर्वमेष ग्रहस्तस्मात् सर्वेषु सवनेषु गृह्णाति' (श० ४।२।२।४) । प्रातःसवनादीनि त्रीणि सर्वं यस्य शरीरम् । 'स यदि राजोपदस्येत् । तमत एव तन्वीरन्नतः प्रभावयेयुरात्मा वा आग्रयण आत्मनो वा इमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्त्येतस्मादन्ततो हारियोजनं ग्रहं गृह्णाति तस्मादात्मन्येवास्यां प्रतिष्ठायामन्ततो यज्ञः प्रतितिष्ठति' (श० ४।२।२।५) । पात्रान्तरगतस्य सोमरसस्य क्षयेऽस्मादेव ग्रहात्तं समर्धयेदित्याह तन्वीरन्निति । विस्तारयेयुरध्वर्यवः । यथा आत्मनो मध्यदेहे करचरणादीन्यङ्गानि प्रभवन्ति । 'भुव प्रभवः' (पा० सू० १।४।३१) इत्यपादानसंज्ञायामपादाने पञ्चमी । अतस्तदात्मकानां सोमानामुत्पादनं युक्तम् । सवनत्रयपरिसमाप्त्यनन्तरमस्माद् ग्रहाद्धारियोजनं गृह्णीयात् । तदात्मन्येवेति । तत् तेन ग्रहणेन आत्मनि स्वकीयमध्यदेहलक्षणायां प्रतिष्ठायां यज्ञ उपांशुग्रहादिरूपः प्रतिष्ठितो भवति । मध्यशरीरं हि सर्वेषामङ्गानां प्रतिष्ठा ।

'अथ यस्मादाग्रयणो नाम । यां वा अमूं ग्रावाणमाददानो वाचं यच्छत्यत्र वै साग्रेऽवदत्तद्यत् सात्राऽग्रेऽवदत्तस्मादाग्रयणो नाम' (श० ४।२।२।६) । यस्माच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तादाग्रयणशब्दो ग्रहस्य नामधेयं ततोऽथ किमित्यर्थः । अथशब्दः प्रश्ने (अ० को० ३।३।२४६) । यं ग्रावाणमुपांशुसवनाख्यमाददानो यां वाचमयच्छत्, सा वागत्र समयेऽग्रे पुरस्तादवदत् । अत्र वदतेर्गत्यर्थे पर्यवसानम् । तस्मादग्रे वाचः अयनम् अग्रयणम्, 'शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्' (पा० सू० वा० १।१।६४), अग्रयणस्य सम्बन्धी आग्रयण इति ग्रहस्य नामधेयम् । आग्रयणशब्दस्य अग्रे वाच आगमनं प्रवृत्तिनिमित्तमिति प्रत्यक्षं तित्तिरय आमनन्ति—'साऽमन्यत वागन्तर्यन्ति वै मेति साग्रयणं प्रत्यागच्छत्तदाग्रयणस्याग्रयणत्वम्' (तै० सं० ६।४।११) 'रक्षोभ्यो वै तां भीषा वाचमयच्छन् । षड्वा अतः प्राचो ग्रहान् गृह्णात्यथैष सप्तमः षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य सर्वं वै संवत्सरः' (श० ४।२।२।७) । यतो ग्रहस्याग्रयणनामव्युत्पादने वाचो वचनं सिद्धवत्कृत्याभिहितम्—अत्र वै साग्रेऽवददिति, अतस्तेनैवाध्वर्योराग्रयणे वाग्वदनं प्राप्तम् । 'तां देवाः । सर्वस्मिन् विजितेऽभयेऽनाष्ट्रेऽत्राग्रे वाचमवदंस्तथो एवैष एताꣳ सर्वस्मिन् विजितेऽनाष्ट्रेऽत्राग्रे वाचं वदति' (श० ४।२।२।८) । सर्वे देवाः सर्वस्मिन् संवत्सरे विजिते स्वायत्तेऽभयेऽनाष्ट्रे नाशयितृरक्षःप्रभृतिरहिते, अग्रे पुरस्तात् तां वाचमवदन्, अत ऋतुषट्करूपसंवत्सरात्मके ग्रहषट्के गृहीते सति सर्वं विजितमभयमनाष्ट्रं भवतीति तदनन्तरमाग्रयणग्रहे देवानुसारेणाध्वर्युरेतां वाचमुदितवान् भवति । तस्मादाग्रयणग्रहेऽध्वर्योर्वाग्वदनमुपपन्नमिति भावः । 'अथातो गृह्णाति । ये देवासो''''यज्ञमिमं जुषध्वमुपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इति वाचमेवैतदयातयाम्नीं करोति तस्मादनया समानꣳ सद्विपर्यासं वदत्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यदाग्रयणोऽस्याग्रयणोऽसीति गृह्णीयात्तस्मादाहाग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इति' (श० ४।२।२।९) । मन्त्रस्तु व्याख्यातः । ग्रहस्य विहितं ग्रहणमनूद्य मन्त्रं चतुर्धा विभज्य व्याचष्टे श्रुतिः—आग्रयणोऽसि स्वाग्रयणोऽसीति । एतद्वाक्याभिप्रायमाह—अथात इत्यादिना । एतद् एतेन आग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इत्येवमुच्चारणेनोक्तरूपां वाचमयातयाम्नीं करोत्यनपगतसारा करोति, यद्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणोऽसीत्युक्त्वा गृह्णीयादाग्रयणाख्यं ग्रहम्, तर्हि जामि नैरस्यं हि कुर्यात्, वाक्यद्वयेनाप्येकार्थस्य प्रतीतेर्विशेषानवगमाद् वैरस्यं वाचः, तस्मादनया आग्रयणोऽसि स्वाग्रयण इत्येवंविधया वाचा समानमेकरूपं सदपि सोमद्रव्यं विपर्यासं विपर्यस्यान्यथा कृत्वाऽध्वर्युर्वदति । विपर्यासमिति बहुलग्रहणादनाभीक्ष्ण्येऽपि (पा० सू० ३।१।८५) णमुल्प्रत्ययः । तथा च स्वाग्रयण इत्यत्र 'सु' इत्यस्य शब्दस्य प्रयोगादर्थविशेषावगतेर्नैरस्यं न भवतीत्यर्थः ।

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१०।१४, ९।३।११) में वर्णित है । शतपथ ब्राह्मण आदि के अनुकूल सायणाचार्य ने

'पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिमिति । वाचमेवैतदुपसृष्टामाह गोपाय यज्ञमिति पाहि यज्ञपतिमिति वाचमेवैतदुपसृष्टामाह गोपाय यजमानमिति यजमानो हि यज्ञपतिर्विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाहीति वाचमेवैतदुपसृष्टामाह यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञस्त्वां वीर्येण गोपायत्विति विष्णुं त्वं पाहीति वाचमेवैतदुपसृष्टामाह यज्ञं त्वं गोपायेत्यभि सवनानि पाहीति तदेतं ग्रहमाह सर्वाणि ह्येष सवनानि प्रति' (श० ४।२।२।१०)। पाहि यज्ञपतिमिति द्वितीयभागं व्याचष्टे—वाचमेवैतदिति । यद्वाक्यं गोपाय यज्ञमित्युपसृष्टां वाचमेव सम्बोध्याह, न त्वाग्रयणमिति भावः । प्रथमभागस्य व्याख्यानेन व्यवधानात् पाहि यज्ञपतिमिति पुनरवयवस्योपादानम् । एवं सर्वत्र । तृतीयभागं विवृणोति--यज्ञो वै विष्णुरिति । वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः । यज्ञश्च व्यापकत्वाद्विष्णुरिति व्यपदिश्यते । वैशब्दोऽत्र यज्ञस्य व्याप्तेः प्रत्यक्षप्रसिद्धिं द्योतयति । अथवा तेनापशीर्ष्णा यज्ञेन यजमान इति क्वचिद् ब्रुवता पूर्वं तेषां मखं वैष्णवं यज्ञमृच्छतीत्यादि महतोपाख्यानेन विष्णुविषय एवार्थो वर्णितः । अतस्तस्य प्रकृतत्वादपशीर्ष्णा यज्ञेन विष्णुरेवाभिहितः, वैशब्दस्तां द्योतयति । चतुर्थं भागं व्याचष्टे— अभि सवनानीति । तत् तेनोक्तेन वाक्येनाध्वर्युरेतं प्रकृतमाग्रयणं ग्रहमाह, न तूत्सृष्टां वाचमित्यर्थः । कुत इत्याह—सर्वाणि ह्येष सवनानि प्रतीति । एष चाग्रयणग्रहः सर्वाणि सवनानि प्रति प्रातरादीनि त्रीणि सवनानि प्रतिलक्ष्य दृश्यते यतः, अतोऽभिसवनानीत्यादिवाक्यमाग्रयणं प्रत्येव प्रयुक्तम् ।

तस्मादयं निर्गलितो मन्त्रार्थः—हे देवाः, ये यूयं द्युलोके स्वमहिम्ना एकादश स्थ, पृथिव्या उपरि महाभाग्येन एकादश स्थ, ये चाप्सुक्षितोऽन्तरिक्षे निवसन्तो महिम्ना एकादश स्थ, ते सर्वे यूयं यज्ञम् आग्रयणग्रहलक्षणं जुषध्वम् । हे ग्रह, त्वमुपयामेन स्वीकृतोऽसि आग्रयणनामासि, अतः स्वाग्रयणः शोभनमग्रे वाचोऽयनमागमनं यस्य स तादृशोऽसि । हे वाक्, त्वं यज्ञं पाहि । यज्ञपतिं याज्ञिकं पाहि । विष्णुर्यज्ञस्त्वामिन्द्रियेण वीर्येण पातु, त्वं च विष्णुं पाहि । हे आग्रयणग्रह, त्वं सवनान्यभितः पाहि । यद्यप्यन्ये ग्रहमेव सम्बोध्य व्याचक्षते, तथापि वाचमेवैतदुपसृष्टामाहेति ब्राह्मणानुसारेणैव व्याख्यानं युक्तमिति सायणाचार्यः । 'सा हैषा वागनुद्यमाना ततामं तस्यां देवा वाचि तान्तायाँ हिङ्कारेणैव प्राणमदधुः प्राणो वै हिङ्कारः प्राणो हि वै हिङ्कारस्तस्मादपिगृह्य नासिके न हिङ्कर्तुं शक्नोति सैतेन प्राणेन समजिहीत यदा वै तान्तः प्राणं लभतेऽथ संजिहीते तथो एवैष एतद्वाचि तान्तायाँ हिङ्कारेणैव प्राणं दधाति सैतेन प्राणेन संजिहीते त्रिष्कृत्वो हिङ्करोति त्रिवृद्धि यज्ञः' (श० ४।२।२।११)। अनुद्यमाना अनुच्चार्यमाणा सती ततामं ग्लानिं प्राप्तवती, उच्चारणस्यैव तज्जीवनत्वात्, तमु क्लान्तौ ।

अध्यात्मपक्षे—ये यूयं देवासो देवा दिवि द्युलोके महिना महाभाग्याद् एकादशसंख्याका भवथ, ये पृथिव्यामुपरि ये चाप्सुक्षितोऽन्तरिक्षनिवासिन एकादशसंख्याकाः सन्ति, पञ्चकर्मेन्द्रियाणां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणामन्तःकरणस्य चाधिष्ठातारस्ते इमं यज्ञं भगवदाराधनलक्षणं यज्ञं प्रीत्या सेवध्वम् । हे परमेश्वर, उपयामगृहीतोऽसि भक्त्याऽनुरक्त्या वशीकृतोऽसि, आग्रयणोऽसि आग्रं श्रैष्ठ्यमयति प्रापयतीत्याग्रयणोऽसि, परमेश्वरानुग्रहेणैव श्रैष्ठ्यावाप्तेः । सुष्ठु आग्रं ब्राह्मपदम् अयति प्रापयतीति स्वाग्रयणो यज्ञः सोमादिलक्षण उपासनालक्षणो वा, तं

याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार मन्त्रव्याख्यान किया है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे देवगण, आप लोग जो महान् ऐश्वर्य-प्रभाव के कारण द्युलोक में ग्यारह संख्या वाले हैं, जो पृथिवी पर तथा जो अन्तरिक्ष में निवास करने वाले एकादश संख्यात्मक होते हैं, वे पांच कर्मेन्द्रियों, पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरण के अधिष्ठाता इस भगवदाराधनात्मक यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करें ।

पाहि रक्ष। यज्ञपतिं यजमानमुपासकं वा रक्ष। साधकं प्रत्याह— हे साधक, विष्णुर्यज्ञस्तदधिष्ठातृदेवो नारायणो वा त्वामिन्द्रियेण वीर्येण उपासनैकाग्र्यादिना पातु रक्षतु। त्वं च विष्णुं परमेश्वरं रङ्काश्चिन्तामणिमिव स्वहृदये रक्ष गोपाय। सवनानि प्रातरादीनि सवनानि परमेश्वराराधनरूपाणि पाहि निर्वर्तय।

मन्त्रद्वयस्य दयानन्दीयं व्याख्यानं यथा—'ये महिना स्वमहिम्ना दिवि विद्युति एकादश प्राणापानोदान-समानव्याननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयजीवाः स्थ सन्ति, पृथिव्यां भूमौ अधि उपरि एकादश पृथिव्यप्तेजो-वाय्वाकाशादित्यचन्द्रनक्षत्राहङ्कारमहत्तत्त्वप्रकृतयः सन्ति, अप्सुक्षितः प्राणेषु क्षियन्ति महिना महिम्ना श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनांसि सन्ति, ते देवासस्ते यथा स्वकर्मसु वर्तन्ते, तद्वद् राजसभा-सदो विद्वांसो यज्ञं राजप्रजासम्बद्धव्यवहारमिमं प्रत्यक्षं जुषध्वं सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाचकलुप्तो-पमालङ्कारच्छलेन स्वेच्छाचारित्वाश्रयणात्। न च राजसभासदां राजप्रजासम्बद्धव्यवहारस्य वा बोधकाः शब्दा मन्त्रे सन्ति। न च विद्युति प्राणादयः सन्ति, तस्या जडत्वात्। न वा प्राणादयो दिव्याः, तेषां ग्लान्यादिदर्शनात्। नहि जीवः प्राणादिषु गणनार्हः, तस्य चेतनत्वात्। न वा भूमौ पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादीनां सम्भवः, पृथिव्यां पृथिव्यन्तरादर्शनात्, आदित्यस्य तेजस्यन्तर्भावाच्च। अहङ्कारमहत्तत्त्वादीनां कारणत्वेन विकारमात्रेषु सत्त्वमिति न तेषामत्र गणना युक्ता, श्रोत्रादीनां प्राणादिषु सत्त्वे तत्रैवान्तर्भावो युक्तः। ते यथा स्वकर्मसु वर्तन्ते, तथा सभासद्भिरपि स्वस्वकर्मसु वर्तितव्यमिति कथञ्चिद् वक्तुं शक्यत्वेऽपि राजप्रजासम्बद्ध-व्यवहारसेवनाद्युपदेशस्त्वननुरूप एव। न च तस्य यज्ञत्वमपि सम्प्रतिपन्नम्। न च पृथिव्याकाशादयः क्वचित् प्रवर्तन्ते, तेषां जडत्वात्, आकाशादीनां निर्विचेष्टत्वाच्च।

द्वितीये मन्त्रे यदुक्तम्—'हे सभापते राजन् उपदेशक वा, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, अतो विनयादिराज-गुणैर्युक्तो यज्ञं राजप्रजापालकं पाहि। स्वाग्रयण इवाग्रयणोऽसि, शोभनश्चासावाग्रयणश्चेति तद्वदाग्रयणोऽसि, तस्माद् यज्ञपतिं संगतस्य न्यायस्य पालकं पाहि। अयं विष्णुः सकलशुभगुणकर्मव्यापी विद्वान् त्वामिन्द्रियेण मनसा धनेन वा, 'इन्द्रियमिति धननामसु' (निघ० २।१०) पातु। त्वं न्यायाधीशोऽभिसवनान्यैश्वर्याणि पाहि'। स्वाग्रयण इवाग्रयणोऽसीत्यस्य व्याख्यानं हिन्दीभाष्ये यथा—'विज्ञानयुक्तकर्मणां प्रापका भवन्ति, तथोत्तमविचार-

---

हे परमेश्वर, आप भक्ति अनुराग से वशीकृत हैं, श्रेष्ठता को प्राप्त कराने वाले हैं। परमेश्वर की कृपा से ही श्रेष्ठत्व को प्राप्ति होती है। आप उत्तम ब्राह्म पद को प्राप्त कराने वाले हैं। आप इस सोमादि यज्ञ अथवा उपासनात्मक यज्ञ की रक्षा करें। यजमान अथवा उपासक की भी रक्षा करें। साधक के प्रति कहा जाता है कि हे साधक, यज्ञ अथवा उसके अधिष्ठाता भगवान् नारायण तुम्हारी इन्द्रियों में बल के आधान द्वारा और उपासना, एकाग्रता आदि से रक्षा करें। जिस प्रकार निर्धन व्यक्ति चिन्तामणि का रक्षण करता है, तुम भी उसी प्रकार अपने हृदय में परमेश्वर विष्णु की रक्षा करो। प्रातः आदि परमेश्वर के आराधनात्मक तीन सवनों का अनुष्ठान करो।

दोनों मन्त्रों का स्वामी दयानन्द के द्वारा वर्णित व्याख्यान वाचकलुप्तोपमा अलंकार के बहाने से स्वेच्छाचारिता से परिपूर्ण होने के कारण अग्राह्य है। राजा के सभासदों तथा राजा-प्रजा से सम्बद्ध व्यवहार के बोधक शब्द मन्त्र में नहीं हैं। विद्युत् में प्राण आदि भी नहीं हैं, क्योंकि वह जड़ है। प्राण आदि दिव्य भी नहीं हैं, क्योंकि उनमें ग्लानि आदि भाव प्रत्यक्ष हैं। चेतन होने के कारण जीव की गणना प्राणादि में नहीं हो सकती। भूमि में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि संभव नहीं हैं, क्योंकि पृथिवी में कोई दूसरी पृथिवी नहीं दृष्टिगोचर होती। जड़ होने के कारण पृथिवी, आकाश आदि कहीं स्वयं प्रवृत्त नहीं होते।

युक्तकर्मणां ग्राहकस्त्वं भवेति' इति, एतदपि यत्किञ्चित्, स्वेच्छयैव तत्र तत्रोपयामशब्दस्य भिन्नभिन्नार्थग्रहणे-नान्यैरन्यथा ग्रहणसम्भवे विनिगमनाविरहात्। अत्र सम्बोध्यः सभापतिरित्यपि निर्मूलम्। राजप्रजापालको यज्ञोऽप्यसम्प्रतिपन्न एव। स्वाग्रयणाग्रयणादिशब्दयोरपि त्वदुक्तार्थबोधकत्वे मूलाभाव एव। सुमनुष्य इव मनुष्योऽसीतिवद् विरुद्धं च तत्, सूपसर्गभावाभावाभ्यामाग्रयणशब्दयोः शुभविचारयुक्तकर्मणां प्रापकत्व-ग्राहकत्वभेदासम्भवात्। न च विद्वान् मनुष्यो गुणेषु वेवेष्टीत्यपि युक्तमुक्तम्, गुणानां द्रव्याधिकरणत्वा-सम्भवात् ॥ १९–२० ॥

सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवत इष ऊर्जे पवतेऽद्भ्य ओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः। एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ २१ ॥

'दशापवित्रेणाग्रयणमुपगृह्य त्रिर्हिङ्कृत्य सोमः पवत इति सकृच्छेषम्' (का० श्रौ० ९।६।१६)। ग्रहसम्मार्जनार्थं दशापवित्रेणाग्रयणमुपगृह्य तेन दशापवित्रेण स्थाल्या मुखदेशं सोमव्यवसेकपरिहारार्थं वेष्टयित्वा हिंशब्दं वारत्रयमुच्चार्य ततः सोमः पवत इति त्रिरुच्चार्य शेषम् अस्मै ब्रह्मण इत्यादिकं सकृज्जपेत्। अत्र वाग्विसर्गोऽध्वर्य्वादीनाम्। वैश्वदेवदैवत्यम्। सोमः पवते गच्छति। पवतेर्गत्यर्थत्वाद् ग्रहपात्रेषु स्वकीये कर्मणि प्रवर्तत इत्यर्थः। द्विरुक्तिरादरार्था, द्वितीयोच्चारणं भयापगमसूचनार्थं वा। असुरराक्षसभयादेव वाचोऽनुच्चारणस्य ब्राह्मणेनोक्तत्वात्। किमर्थम्? अस्मै प्रत्यक्षसिद्धाय ब्रह्मणे ब्राह्मणजातिप्रीत्यर्थम्, अस्मै क्षत्राय क्षत्रियजातिप्रीत्यर्थम्, अस्मै सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते यजमानाय तदभीष्टकामप्राप्त्यर्थं पवते सोमः, इषेऽन्नाय, ऊर्जे रसाय तदुपसेचनाय क्षीरादये, तन्निष्पत्त्यर्थं पवते। अद्भ्यो वृष्टिभ्य ओषधीभ्यो व्रीहियवादिसस्य-सिद्धयर्थं पवते। द्यावापृथिवीभ्यां द्युभूलोकप्रीणनाय पवते। सुभूताय सर्वेषां साधुभवनाय पवते। हे आग्रयण ग्रह, तादृशं त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यः सर्वदेवप्रीत्यर्थं गृह्णामीति शेषः। एष त इति सादयति—हे ग्रह, एष खरस्ते

दूसरे मन्त्र की व्याख्या में जो कहा गया है, वह भी निरर्थक है, क्योंकि स्वेच्छा से ही स्थान स्थान पर उपयाम शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करने पर किसी दूसरे के द्वारा कोई अन्य ही अर्थ मानना सम्भव है तथा उसमें कोई निश्चित युक्ति नहीं है। इसमें सभापति को सम्बोधित किया जाना चाहिये, यह भी अप्रामाणिक है। राजा प्रजा का पालक यज्ञ है, यह भी असिद्ध ही है। स्वाग्रयण तथा आग्रयण शब्दों के भी इस अर्थ के बोधन में कोई प्रमाण नहीं है ॥ १९-२० ॥

मन्त्रार्थ—यह सोम इस ब्राह्मण जाति की प्रीति के लिये ग्रहपात्र में क्षरित होता है, क्षत्रिय जाति की तुष्टि के लिये ग्रहपात्र में क्षरित होता है, सोमाभिषव करने वाले यजमान के निमित्त ग्रहपात्र में क्षरित होता है, अच्छी वर्षा और औषधियों के लिये क्षरित होता है, आकाश और पृथ्वीलोक की समृद्धि के लिये क्षरित होता है, समस्त चराचर प्राणी और तीनों लोकों के सन्तोष के लिये क्षरित होता है, प्राणीमात्र के आनन्द के लिये यह सोम ग्रहपात्र में क्षरित होता है। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है। सम्पूर्ण देवताओं की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ २१ ॥

भाष्यसार—'सोमः पवते' इस मन्त्र का पाठ आग्रयण ग्रह का ग्रहण करने के अनन्तर किया जाता है।

योनिः स्थानम्, विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थे त्वां सादयामि। अथ दशापवित्रेणोपगृह्य हिङ्करोतीत्यादिना ग्रहणानन्तरं दशापवित्रेण सह ग्रहं दशापवित्रवन्तं ग्रहं स्वीकृत्य हिङ्कुर्यात्। 'दशापवित्रेणाग्रयणमुपगृह्य त्रिर्हिङ्कृत्य' (का० श्रौ० ९।६।१६) इति विहितं हिङ्कारं प्राणात्मना स्तौति। हिङ्कारस्य प्राणत्वादेव लोके कश्चिदपि नासिके अपिगृह्य न हिङ्कर्तुं शक्नोति। नासिकयोः प्राणसञ्चारस्थानत्वात् तेन प्राणेन सा वाक् समजिहीत संगताऽभूत्, अतो लोकेऽपि यदा जनस्तान्तः क्लान्तः सन् प्राणं लभते, तदा वाचा सङ्गच्छते, तद्वदेव एषोऽध्वर्युर्हिङ्कारेण तान्तायां क्लान्तायां वाचि प्राणं दधाति, सा च तेन प्राणेन सङ्गच्छते। त्रिष्कृत्वो हिङ्करोति त्रिवृद्धि यज्ञः। त्रिवृत् त्रिगुणो यज्ञेऽग्निपरिधिः, सवनादीनां त्रित्वात्। 'अथाह सोमः पवते' (श० ४।२।२।१२) इत्यादिना अध्वर्योर्वाग्विसर्गसाधनमन्त्रमाह।

'अथाह सोमः पवत इति। स यामेवामूं भीषाऽसुररक्षसेभ्यो न निरब्रुवंस्तामेवैतत् सर्वस्मिन् विजितेऽभयेऽनाष्ट्रेऽत्र निराह तामाविष्करोति तस्मादाह सोमः पवत इति' (श० ४।२।२।१२)। हिङ्कारानन्तरमध्वर्योर्वाग्विसर्गसाधनं मन्त्रमाह— अथाह सोमं पवते। सोऽध्वर्युः, असुररक्षसेभ्यो भीषा भयेन याममूं वाचं न निरब्रुवन् नावोचत्, व्यत्ययेन (पा० सू० ३।१।८५) बहुवचनम्। एतद् एतेन सोमः पवत इत्यस्योच्चारणेन सर्वस्मिन् विजिते स्वायत्ते सति तां वाचं निराह। अस्यैव व्याख्यानम्—तामाविष्करोति तस्मादेवोच्चारयेत्, 'आग्रयणं गृहीत्वा त्रिर्हिङ्कृत्य वाचं विसृजते' इत्यापस्तम्बश्रौतसूत्रवचनात्। सोमः पवत इत्यस्य पुनरुच्चारणं भयापगमसूचनार्थम्। अत एव कात्यायनोऽपि सोमः पवत इत्यस्य त्रिरुच्चारणं सूत्रितवान्—'त्रिर्हिङ्कृत्य सोमः पवत इति सकृच्छेषम्' (का० श्रौ० ९।६।१६)। 'अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायेति। तद् ब्रह्मणे च क्षत्राय चाहास्मै सुन्वते यजमानाय पवत इति तद्यजमानायाह' (श० ४।२।२।१३)। ब्रह्मक्षत्रयोः समृद्ध्यै ब्रूत इत्यर्थः। 'तदाहुः। एतावदेवोक्त्वा सादयेदेतावद्वा इदꣳ सर्वं तस्मादेतावदेवोक्त्वा सादयेदिति' (श० ४।२।२।१४)। केषाञ्चिन्मतम्—केषाञ्चिद्रीत्या सर्वमिदं दृश्यम्। इन्द्राग्नी हि प्राधान्येन सर्वात्मकौ, तौ च ब्रह्मक्षत्रयोरधिदेवते, तयोस्तद्रूपकत्वेन सर्वात्मकत्वात्। अस्मै ब्रह्मणे अस्मै क्षत्राय इत्येतावदेवोक्त्वा सादयेदिति। स्वमतमाह—'तदु ब्रूयादेव भूयः। इष ऊर्जे पवत इति वृष्ट्यै तदाह यदाहैष इत्यूर्ज इति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाहाद्भ्य ओषधीभ्यः पवत इति तदद्भ्यश्चौषधीभ्यश्चाह द्यावापृथिवीभ्यां पवत इति तदाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामाह ययोरिदꣳ सर्वमधि सुभूताय पवत इति साधवे पवत इत्येवैतदाह' (श० ४।२।२।१५)। यद्यपि ब्रह्मक्षत्रे सर्वात्मके इति तावतैव पर्याप्तम्, तथापि ब्रह्मणे क्षत्राय चेत्युक्तौ तयोरेव समृद्ध्यर्थम्, अत इष ऊर्जे इत्याद्यपि ब्रूयादेव इष इति वृष्ट्यै इत्याह, 'इडित्यन्नम्' (निघ० २।७।१५)। तत्साधनस्य वृष्टेरपि कार्यकारणभेदविवक्षया इडिति व्यपदेशः। वृष्टाद् वृष्टेः सकाशात्, 'नपुंसके भावे क्तः' (पा० ३।३।११४) इति क्तप्रत्ययः। ऊर्क् अन्नरसो जायते, तत्समृद्धये ऊर्जे इति वचनम्। ययोर्द्यावापृथिव्योः सर्वमिदं दृश्यमानं सर्वमप्याश्रितम्, ताभ्यां पवत इत्युक्ते समस्तजगतः समृद्धये भवतीत्यर्थः। साधवे लोके यः कश्चन न्यायवर्ती जनस्तस्मै पवत इत्याह मन्त्रः।

'तदु हैक आहुः। ब्रह्मवर्चसाय पवत इति तदु तथा न ब्रूयाद् यद्वा आहास्मै ब्रह्मण इति तदेव ब्रह्मवर्चसायाह विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयत्यात्मा ह्यस्यैष मध्य इव ह्ययमात्मा दक्षिणोक्थ्यस्थाली भवत्युत्तरादित्यस्थाली' (श० ४।२।२।१६)। केचिच्छाखिनो ब्रह्मवर्चसायेत्येतत्पदं पठन्ति, तदनवगतमित्यनूद्य निराकरोति—तदु तथा न ब्रूयादिति। ब्रह्मणे पवत इति यत् तद् ब्रह्मवर्चसाय पवत

कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।१५) में इसकी पूरी याज्ञिक विधि वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के

इत्युक्तं भवति। वृत्तस्याध्ययनस्य समृद्धिर्ब्रह्मवर्चसं भवति, 'स्याद् ब्रह्मवर्चसं वृत्ताध्ययनर्द्धिः' (२।७।३८) इत्यमरकोषात्। ननु पूर्वग्रहेष्वपि मन्त्राम्नानात् कथं तूष्णीं ग्रहणम्, वाग्विसर्गस्याग्रयणग्रह उक्तत्वादिति चेन्न, वाचं यच्छतीत्यनेनोपांशुध्वनिर्विवक्षितः। 'यान् प्राचीनमाग्रयणाद् ग्रहान् गृह्णीयात् तानुपांशु गृह्णीयात्, यानूर्ध्वांस्तानुपह्निमतः' (तै० ब्रा० ३।१।९)। गृहीतस्य सोमस्य समन्त्रकं सादनं विधत्ते—विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इत्यादि। हे आग्रयण, विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वामासादयामि। एष खरप्रदेशस्तवावस्थानम्। तं वै मध्ये सादयति। तत्कारणमुच्यते—अस्य यज्ञस्याग्रयणग्रह आत्मा, 'आत्मा ह वा अस्याग्रयणः' इति श्रुतेः। आत्मा च मध्य इव हि मध्यभाग इत्यर्थः। यथा सादितस्य ग्रहस्य उक्थ्यस्थाली दक्षिणा उत्तरा च आदित्यस्थाली, तथा मध्यशरीररूपमाग्रयणं मध्ये सादयेदित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सोमः साम्बसदाशिवः, अस्मै ब्रह्मणे ब्राह्मणजातिहिताय पवते सर्वं वस्तु दृष्टिमात्रेण पवित्रयति। अस्मै क्षत्राय च सर्वं पवित्रयति, सोमं सुन्वते सोमयागकर्त्रे यजमानाय च पवते, इषे अन्नाय ऊर्जे अन्नरसाय अद्भ्यो वृष्टिभ्य ओषधीभ्यो व्रीहियवादिभ्यस्तत्सिद्ध्यर्थं पवते चेष्टते क्रियावान् भवति, वस्तुतः कूटस्थोऽविक्रियो निष्क्रियोऽपि सन् मायया व्यापारवानिव भवति। 'त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात्। त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुद्ध्यते त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥' (भा० पु० १०।३।१९) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। द्यावापृथिवीभ्यां तदुपलक्षितस्य सर्वलोकस्य प्रीणनाय चेष्टते। किं बहुना, सर्वेषां साधुभवनाय चेष्टते। नन्वेवं सति कथं परमेश्वरस्य प्रयत्नेऽपि जना दुर्वृत्ता भवन्तीति चेच्छृणु, स्वस्वप्राक्तनकर्मतत्संस्कारानुसारेण जनानां विपरीतप्रवृत्तेरपि सम्भवात्। यथा समानायामपि वृष्टौ बीजानुसारेण विचित्रा अङ्कुरा जायन्ते, समानेऽपि विद्युत्संसर्गे स्वस्वसामर्थ्यानुसारेण यन्त्राणि विचित्राणि कार्याणि सम्पादयन्ति, तद्वत्। हे साधक, विश्वेभ्यो देवेभ्यो हिताय त्वां परमेश्वरोपासने नियोजयामि। एष परमेश्वरस्ते तव योनिराश्रयो हेतुश्च। तेन तदुपासने विश्वेभ्यो देवेभ्यो हिताय त्वा नियुनज्मि, 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः। हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा····॥' (भा० पु० ५।१८।१२) इत्यादिपुराणवचनात्।

अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—साम्ब सदाशिव इस ब्राह्मण जाति के हितार्थ समस्त पदार्थों को दृष्टिमात्र से पवित्र करते हैं, इस क्षत्रिय जाति के हितार्थ पवित्र करते हैं। सोमयाग करने वाले यजमान के लिये, अन्न के लिये, अन्नरस के लिये, वृष्टि के लिये, व्रीहि-यवादि ओषधियों की सिद्धि के लिये सक्रिय होते हैं। वस्तुतः वे कूटस्थ, अविकारी निष्क्रिय रहते हुए भी माया के द्वारा मानों व्यापारवान् होते हैं। द्यावापृथिवी आदि सम्पूर्ण लोकों के पोषण के लिये, सबकी भलाई के लिये चेष्टावान् होते हैं। परन्तु यदि ऐसा है, तो परमेश्वर के प्रयत्न करने पर भी पुरुष दुराचारी कैसे हो जाते हैं? इसका समाधान यह है कि अपने अपने पूर्व जन्म के कर्मों तथा उनके संस्कारों के अनुसार प्राणियों की विपरीत प्रवृत्ति भी संभव है। जिस प्रकार सर्वत्र वर्षा समान रूप से होने पर भी बीज के अनुसार विभिन्न अंकुर उत्पन्न होते हैं तथा बिजली का संयोग समान रूप से होने पर भी अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार मशीनें विविध कार्य करती हैं, उसी प्रकार यहां भी है। हे साधक, समस्त देवताओं के हितार्थ तुमको परमेश्वर की उपासना में लगाता हूँ। यह परमेश्वर तुम्हारा आश्रय तथा कारण है। अतः उसकी उपासना में समस्त देवों के हितार्थ तुमको विनियुक्त करता हूँ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथाऽयं सोमो सौम्यगुणसम्पन्नो राजा, अस्मै ब्रह्मणे परमेश्वराय वेदाय वा पवते विजानीयात्, अस्मै क्षत्राय राज्याय क्षत्रियाय वा, अस्मै सुन्वते सर्वाविद्यासिद्धान्तं निष्पादयते यजमानाय सङ्गच्छमानाय पवत इव, इषे अन्नाय ऊर्जे पराक्रमाय पवते, अद्भ्यो जलेभ्यः प्राणेभ्यो वा ओषधीभ्यः सोमादिभ्यः पवते, द्यावापृथिवीभ्यां सूर्यभूमिभ्यां पवते, सुभूताय सुष्ठु सत्याय व्यवहाराय पवते, तद्वत् सोमः सभ्यजनः प्रजाजनोऽप्येतस्मै सर्वस्मै पवताम्। हे राजन्, यस्य ते तवैष राजधर्मगुणग्रहणं योनिर्वसतिरस्ति, तं त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यो वयं स्वीकुर्मस्तथा विश्वेभ्यो देवेभ्यो गुणेभ्यश्च त्वामङ्गीकुर्महे' इति, तदपि परस्परविरुद्धम्। तथाहि—संस्कृते पवते विजानीयादित्युक्तम्, हिन्दीभाष्ये तु 'पूतो भवति क्षत्राय ज्ञानवान् भवति' इति चोक्तम्। तथैव यजमानाय निर्मलो भवति, अन्नाय पराक्रमाय च शुद्धं भवति, ओषधीभ्यो जानाति, सत्याय व्यवहाराय अशुभकर्मभ्यो विविक्तो भवति, तथैव सोमः सभ्यजनः प्रजाजनः सर्वं जानीयाद् मन्येत पूतो भवेत्। हे राजन् हे सभ्यजन, यस्य ते तव राजधर्मो योनिर्गृहमस्ति, तं त्वां विश्वेभ्यो विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यः स्वीकुर्म इति चोक्तम्. तत्सर्वमप्यसम्बद्धमेव। सत्राय ज्ञानवान् भवतीत्यस्य कोऽभिप्रायः? लुप्तोपमालङ्कारकल्पनमपि निर्मूलमेव। सोमशब्देन क्वचिद्राज्ञः, क्वचित् सभ्यजनस्य, क्वचित् प्रजाजनस्य ग्रहणमपि निर्मूलमेव। राज्ञः सभ्यजनेभ्यः प्रजाजनेभ्योऽन्ये केऽवशिष्यन्ते ये तान् स्वीकुर्वन्ति? कश्च लाभस्तत्कर्तृकया स्वीकृत्या? ॥ २१ ॥

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि। यत्त इन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वा एष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा। देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं गृह्णामि यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥ २२ ॥

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ परस्परविरुद्ध है। संस्कृत व्याख्या में 'पवते' का अर्थ 'जाने' बताया गया है। परन्तु हिन्दी भाष्य में 'पवित्र होता है, ज्ञानवान् होता है' यह कहा गया है। इसी प्रकार अन्यत्र निर्मल होता है, शुद्ध होता है, जानता है, विविक्त होता है, इत्यादि विभिन्न अर्थ दिये गये हैं। ये सब असम्बद्ध हैं। लुप्तोपमा अलंकार की कल्पना भी अप्रामाणिक है। सोम शब्द से कहीं राजा, कहीं सभ्य जन तथा कहीं प्रजाजन का अर्थ ग्रहण किया गया है। यह भी निर्मूल है ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे उक्थ ग्रह, उक्थ को समस्त देवताओं का तृप्तिकारक जान कर मैं तुम्हारा बृहत्साम सोमरूप अन्न वाले इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त ग्रहण करता हूँ। हे परम भाग्यवान् इन्द्र! जो यह तुम्हारा महान् सोमरूप अन्न है. उसको पाने के लिये मैं तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ। हे सोम! यज्ञ के अधिष्ठात्री देवता विष्णु की प्रीति के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ! हे उक्थ ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है, उक्थप्रिय देवताओं की प्रीति के निमित्त तुम्हें इस स्थान में स्थापित करता हूँ। हे सोम! मित्रावरुण आदि देवताओं का प्रीतिकारक जान कर उनकी सन्तुष्टि के लिये मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ, यज्ञ की सामग्री का फलपर्यन्त ग्रहण करता हूँ ॥ २२ ॥

'उक्थ्यमुपयामगृहीत इति' (का० श्रौ० ९।६।२१)। धाराया एव उक्थस्थाल्या उक्थ्यसंज्ञं ग्रहं गृह्णीयाद् उपयामगृहीत इति मन्त्रेण। उपयामग्रहदेवतानि यजूंषि। हे सोम, त्वमुपयामेन दारुपात्रेण गृहीतोऽसि। हे उक्थ्यग्रह, त्वामिन्द्रार्थं गृह्णामि स्वीकरोमि। कथंभूतायेन्द्राय ? बृहद्वते बृहत्संज्ञकसामवते बृहत्सामस्तुताय बृहत्सामप्रियाय वा। तथा वयस्वते विशिष्टं यौवनलक्षणवीर्यसमेतं सदा काले वयोऽस्त्यस्य तस्मै नित्ययौवनोचितवीर्यसम्पन्नाय। यद्वा वयः सोमलक्षणमन्नमस्त्यस्येति तस्मै वयस्वते। कीदृशं ग्रहं त्वां गृह्णामि ? उक्थाव्यम्, उक्थानि मैत्रावरुणब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाकसम्बन्धीनि शस्त्राण्यवति गोपायतीत्युक्थाव्यम्, अस्य ग्रहस्य तत्रैव विनियोगात्। एवं सोमं प्रशस्य पुनरिन्द्रमाह—हे इन्द्र, यत् ते तव बृहद्वयो बृहद् महद् वयोऽन्नं सोमलक्षणमस्ति, तस्मै तत्पानार्थं त्वां प्रार्थय इति शेषः। हे सोम, विष्णवे विष्णुदेवताप्रीत्यर्थं त्वां गृह्णामि। यद्वा यत्ते तव बृहद् महद् ऊर्जितं वयो विशिष्टं यौवनरूपम्, तस्मै त्वा त्वां सोमं गृह्णामि।

उव्वटादिरीत्या—'ते' इति, 'इन्द्र' इति युष्मत्पदसम्बोधनपदाभ्यां प्रत्यक्ष इन्द्र उच्यते। त्वेति युष्मदा सोम उच्यते। तयोः प्रत्यक्षतः सामर्थ्यं कथमिति चेत्, यस्येन्द्रस्य बृहद्वयस्तस्मै त्वां गृह्णामीति पदद्वयस्य व्यत्ययेनेति ब्रूमः। 'ते' इत्यस्य 'यस्य' इत्यनेन पदेन व्यत्ययः। 'इन्द्र' इत्यस्य पदस्य इन्द्रस्येत्यनेन व्यत्ययः। यद्वा हे सोम, यस्येन्द्रस्य बृहद्वयस्तस्मै त्वां गृह्णामि। त्वत्पानेनेन्द्रस्य बृहद् ऊर्जितं विशिष्टं यौवनं तदुचितं वीर्यं च सिद्ध्यतीति तदर्थं त्वां गृह्णामीत्यर्थः। विष्णवे यज्ञाय त्वां गृह्णामि। एष त इति सादनम्। एष ते तव योनिः स्थानम्। उक्थेभ्योऽर्थाय त्वां सादयामि। 'उक्थ्यं विगृह्णाति त्रैधं देवेभ्यस्त्वेति सर्वेभ्य इति' (का० श्रौ० ९।१४।९)। उक्थस्थालीस्थं सोमं त्रिधा विभज्योक्थपात्रे गृह्णीयात्। मैत्रावरुणब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाककर्तृकशस्त्रं यागार्थम्। हे सोम, देवेभ्यो देवानां प्रयोजनाय त्वां गृह्णामि। कीदृशं त्वाम् ? देवाव्यं देवानवति तर्पयतीति देवावीस्तं देवाव्यम्, यज्ञस्यायुषे भ्रमप्रमादादिजनितभ्रेषशून्या निर्विघ्नयज्ञपरिसमाप्तिर्यज्ञस्यायुस्तस्मै यज्ञस्यायुषे अदृष्टात्मना फलपर्यन्तावस्थानाय च त्वां गृह्णामि। यज्ञो यजमानस्य शरीरम्, तन्निर्वर्त्यत्वात्, तस्यायुषे दीर्घायुष्ट्वाय वा त्वां गृह्णामि।

शतपथे विशेषः—'अयꣳ ह वा अस्यैषोऽनिरुक्त आत्मा यदुक्थ्यः' (श० ४।२।३।१) इत्यादिनोक्थग्रहं विधातुं सूक्ष्मशरीरात्मना तं स्तौति—अयं ह वा इति। अयमुक्थ्यः, यत एषोऽस्य यज्ञस्य अनिरुक्त आत्मा अविस्पष्ट आत्मा सूक्ष्मशरीरम्, स एष ग्रहोऽस्य यज्ञस्यात्मा सूक्ष्मशरीरात्मकत्वात् संसारमनुवर्तमानश्च न स्थूलदेहवत्प्रतिजन्म विनश्वरः। अनिरुक्तः प्राणो लोक आत्मत्वेन प्रसिद्धः। अतः सूक्ष्मशरीरस्यापि प्राणात्मकत्वेनात्मत्वम्। स सूक्ष्मशरीरात्मको ग्रहो यज्ञस्यायुर्जीवनकालः। उक्तमायुष्ट्वमवलम्ब्य ग्रहस्य पृथिव्या ग्रहणमाह—'तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णाति' (श० ४।२।३।१)। आयुष्ट्वं पृथिव्या ग्रहणे कथं हेतुरित्यत आह—अजरा हीयमिति। इयं पृथिवी अजरा। आयुश्च अक्षरममृतं भवति। यस्य यावदायुरस्ति तावदायुषो जरा शैथिल्यं तदभावोऽमृतत्वमनष्टत्वं च भवति। तं वै पूर्णं गृह्णातीति विहितग्रहणानुवादेन सम्पूर्णतां विधत्ते—'सर्वं वै तद्यत्पूर्णꣳ सर्वं तद्यदायुस्तस्मात् पूर्णं गृह्णाति' (श० ४।२।३।२)। नन्वयं ग्रह आयुरित्यभिधीयते, आत्मेति च पूर्वमुक्तम्, तथा सत्युभयात्मकः स्यादिति तत्राह—'तस्यासावेव ध्रुव आयुः। आत्मैवास्यैतेन सꣳहितः पर्वाणि सन्ततानि तद्वा अगृहीत एवैतस्मादच्छावाकायोत्तमो ग्रहो भवति' (श० ४।२।३।३)। असावित्युत्तरस्मिन् ब्राह्मणे विधास्यमानो ध्रुवग्रह एव यज्ञस्यायुः। एतेनोक्थ्यग्रहणेन आत्मैव

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।२०,९।१४।८,१६,१७) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'उपयाम-

सूक्ष्मशरीरः संहितः स्यात् संयोजितः स्वयं यज्ञस्यात्मरूप एव भवति । नापूरुषः आयुरिति व्यवहारस्त्वात्म-सन्धानार्थत्वादुपपद्यत इत्युत्तरत्र वक्ष्यते। 'तद्यस्यैतेनात्मा सꣳहितस्तेनास्यैष आयुः' (श० ४।२।३।५)। यतोऽयं ग्रहो यज्ञस्यात्मा, अतोऽनेन यज्ञस्य पर्वाणि सवनत्रयरूपाणि संहितानि परस्परं संश्लिष्टानि कार्याणि। प्राणरूपेण ह्यात्मनोऽङ्गानां पर्वाणि सन्धीयन्ते। सन्धानप्रकारं विधत्ते—तद्वा अगृहीत इति। उक्थ्यग्रहस्त्रेधा विभज्य हूयते। तत्र प्रथमे उक्थ्यविग्रहे मैत्रावरुणः शस्त्रं पठति, द्वितीये ब्राह्मणाच्छंसी, तृतीये अच्छावाकः। एवं च सत्येतस्मादुक्थ्यग्रहादच्छावाकसम्बन्धिनि चरम उक्थ्यविग्रहेऽगृहीते सति माध्यन्दिनसवनार्थं सोममभिषव-स्थाने स्थापयेत्। वसतीवरीणां च तृतीयं भागमवनयेत्। तत् तथा सति पर्व प्रातःसवनलक्षणं माध्यन्दिनसवन-लक्षणं च समैति परस्परं समेतं भवति। यत उत्तरस्य सवनस्य सोमोपावहरणरूपं प्रथममेवाङ्गं पूर्वं करोति। पूर्वस्य सवनस्य उत्तममङ्गम् अच्छावाकोक्थ्यविग्रहहोमरूपं पश्चात् करोति। अतः परस्परं सन्नद्धं भवति। उत्तरसवनसम्बन्धिनः प्रथमाङ्गस्य पूर्वमनुष्ठाने पूर्वसवनसम्बन्धिनश्चान्तिमाङ्गस्य पश्चादनुष्ठाने व्यतिषङ्गाल्लोकेऽपि शारीराणि पर्वाणि व्यतिषक्तानि भवन्तीति। इदमुपरितनमङ्गमित्थमतिहानमतिगमनयुक्तं भवति, इदं वा अधस्तनमित्थम्।

तदुक्तं ब्राह्मणेन—'अथ राजानमुपावहरति। तृतीयं वसतीवरीणामवनयति तत्पर्व समैति प्रथममहोत्तरस्य सवनस्य करोतीत्युत्तमं पूर्वस्य स यदुत्तरस्य सवनस्य तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वस्य तदुत्तमं तद् व्यतिषजति तस्मादि-मानि पर्वाणि व्यतिषक्तानीदमित्थमतिहानमिदमित्थम्' (श० ४।२।३।४)। उक्तः सवनसन्धानप्रकारो माध्यन्दिन-सम्बन्धिन्युक्थ्यविग्रहेऽपि कर्तव्य इत्याह—'एवमेव माध्यन्दिने सवने। अगृहीत एवैतस्मादच्छावाकायोत्तमो ग्रहो भवत्यथ तृतीयं वसतीवरीणामवनयति....प्रथममहोत्तरस्य सवनस्य करोत्युत्तमं पूर्वस्य स यदुत्तरस्य सवनस्य तत्पूर्वं करोति यत्पूर्वस्य तदुत्तमं व्यतिषजति तस्मादिमानि पर्वाणि व्यतिषक्तानि....तद्यदस्यैतेनात्मा सꣳहितस्तेनास्यैष आयुः' (श० ४।२।३।५)। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'प्रागच्छावाकविग्रहात् सोमोपावहरणं वसतीवर्यर्धं चासिञ्चत्याधवनीये' (का० श्रौ० ९।१४।१९-२०)। अच्छावाकविग्रहात् प्राक् पूर्ववत् सोमो-पावहरणं वसतीवर्यर्धं चासिञ्चत्याधवनीये। अयमभिप्रायः—उक्थग्रहस्य त्रयः पर्यायाः। तत्र उक्थ्यस्थालीगतं सोमं त्रेधा विभज्य तृतीयमंशं प्रथमतो मित्रावरुणाभ्यां गृह्णाति स प्रशास्तुरुक्थ्यविग्रहः। द्वितीयं द्वितीयमंशमिन्द्राय गृह्णाति स ब्राह्मणाच्छंसिन उक्थ्यविग्रहः। तृतीयं तृतीयमंशमिन्द्राग्निभ्यां गृह्णाति सोऽच्छावाकस्योक्थ्यविग्रहः। त्रिष्वपि विग्रहेषु उक्थ्यग्रहणानन्तरं दशापि चमसा गृह्यन्ते हूयन्ते भक्ष्यन्ते च। तत्र यत्सम्बन्ध्युक्थ्यविग्रहस्तस्य चमसं प्रथमं गृहीत्वा उन्नीय तत इतरे नव चमसा उन्नेयाः। एवं च प्रथमस्य ग्रहस्य प्रशास्तृसम्बन्धित्वात् तस्यैव चमसः प्रथममुन्नेयः। स एव शंसनकर्तापि। एवं द्वितीये विग्रहे ब्राह्मणाच्छंसिनश्चमसः प्रथमं ग्राह्यः, तदन्वितरे नव चमसाः। ततस्तृतीये च अच्छावाकचमसस्य प्रथमं ग्रहणमितरेषां नवानां तत इति विभज्य विग्रहः। उक्थ्यग्रहस्य यज्ञसम्बन्ध्यात्मसन्धानार्थत्वाद् आयुरिति व्यवहार इत्यर्थः। 'सैषा कामदुघैवेन्द्रस्योद्धारः। त्रिभ्य एवैनं प्रातःसवन उक्थ्येभ्यो विगृह्णाति त्रिभ्यो माध्यन्दिने सवने तत् षट्कृत्वः षड् वा ऋतव ऋतवो वा इमान् सर्वान् कामान् पचन्त्येतेनो हैषा कामदुघैवेन्द्रस्योद्धारः' (श० ४।२।३।६)। प्रकृतं ग्रहं प्रशंसति—इन्द्रस्योद्धार इति। साधारणो भागो योऽयमुक्थ्यो ग्रहः, सैषा कामदुघैव कामधेनुरेव। यद्यप्युक्थ्यविग्रहेषु देवतान्तर-सम्बन्धोऽस्ति, तथापीन्द्रस्य प्राधान्याद् माध्यन्दिनसवने तस्यैव देवतात्वाच्चेन्द्रस्य भाग इत्युक्तम्। तत्र हेतुमाह—त्रिभ्य इत्यादिना। उक्थ्यमिति स्तुतशस्त्रविशेषनामधेयम्। प्रातःसवन उक्थ्यत्रयार्थं माध्यन्दिनसवने चोक्थ्यत्रयार्थमिति तद्ग्रहणं षट्कृत्वः सम्पद्यते। षट्संख्याका ऋतवः सर्वान् इमान् कामान् पचन्ति पाकं प्रापयन्ति, उपयोगयोग्यान् कुर्वन्ति, कालस्य सर्वोत्पत्तिनिमित्तकारणत्वादित्यर्थः। अथ संख्यासामान्येन विगृह्यमाणस्योक्थ्यग्रहस्य ऋतुरूपत्वात् कामधेनुत्वम्।

'तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति। उक्थꣳ हि पुरोरुगृग्घि पुरोरुगृग्घ्युक्थ्यꣳ साम ग्रहोऽथ यदन्यज्जपति यद्यजुस्ता हैता अभ्यर्ध एवाग्र ऋग्भ्य आसुरभ्यर्धो यजुर्भ्योऽभ्यर्धः सामभ्यः' (श० ४।२।३।७)। ननु यथा ऐन्द्रवायवादिग्रहाणाम् 'आ वायो' (वा० सं० ७।७) इत्यादयः पुरोरुचो जातास्तथा अस्य ग्रहस्य का पुरोरुक् ? इत्यत आह— तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति। ग्रहणात् पूर्वो रोचयिता मन्त्रविशेषः पुरोरुक्, तद्रहितमेव तम् एतमुक्थ्यग्रहं गृह्णाति। ननु यदि ग्रहणेऽपुरोरुक्त्वं होमे वा का पुरोरुक् ? इत्यत आह— उक्थमिति। उक्थं शस्त्रं हि होमात्पूर्वमेव प्रयुज्यमानं होमदेवतायै हवी रोचयतीति तेन शस्त्रेण होमः सपुरोरुक्कः। ननु तर्हि उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा इत्ययमपि मन्त्रो ग्रहणात्पूर्वमेव ग्रहीष्यमाणं हविर्देवतायै रोचयतीत्यस्यापि पुरोरुक्त्वात् कथं ग्रहणमपुरोरुक्कमित्यत आह—ऋग्घि पुरोरुगिति। न पुरोरोचयितृमात्रं पुरोरुक्शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्, किन्तु पादबद्धत्वहेतुकेन ऋगात्मकत्वेन विशिष्टम्। न चेह पादबद्धत्वमस्ति, उक्थ्यशस्त्रस्य तु ऋगात्मकत्वेन युक्तमनन्तरोक्तं पुरोरुक्त्वमित्यत आह—ऋग्घ्युक्थमिति। उक्थशस्त्रस्य ऋगात्मकत्वादस्तु पुरोरुक्त्वम्, उक्थस्तोत्रस्य तु कथम् ? नहि तादृगात्मकं तत्, किन्तु सामात्मकमित्यत आह—साम ग्रह इति। गृह्यतेऽभिव्यज्यतेऽनेनेति ग्रहः। प्रगीतो मन्त्रः सामेत्युच्यते। न च गानमात्रेण तस्य ऋक्त्वं व्यावर्त्यते, पादनिबन्धनं हि तत्। उक्तं हि तल्लक्षणं जैमिनिना—'तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (जै० सू० २।१।३५)। तेनाप्रगीतवत् प्रगीतस्यापि ऋग्लक्षणयोगेन ऋक्त्वात्, ऋग्घि पुरोरुग् इत्यनेनैव प्रगीतोऽपि गृह्यते। प्रगीतमन्त्रात्मकस्य साम्न ऋक्त्वेऽपि 'ऋचः सामानि यजूंषि, ऋक्सामे वै देवेभ्यः साम' (ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्) इत्यत्राभेदव्यवहारः प्रगीताप्रगीतत्ववैलक्षण्यमात्रनिबन्धनो भविष्यतीति। यदपि—'गीतिषु सामाख्या' (जै० सू० २।१।३६), तत्रापि गीयत इति गीतिरिति कर्मणि क्तिना मन्त्रोऽभिधीयते। मन्त्राश्च विवक्षितार्था इति मन्त्राधिकरणे (जै० सू० २।१।३०-३१) स्पष्टम्। न च गीतिक्रियाऽर्थवती, अथ तु 'ऋच्यध्यूढꣳ साम गायति रेवतीषु वारवन्तीयं कवतीषु रथन्तरम्' (ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्) इत्यादिषु गीतिक्रियामात्रे सामादिपदं व्यवहृतमिति मन्यसे, तर्हि गीतिक्रियाया अर्थानवबोधकत्वेन पुरोरुक्त्वानङ्गीकारादेव कथं पुरोरुक्त्वमिति प्रश्नानवकाशः। अस्मिन् यज्ञे साम ग्रह इति श्रुतौ ग्रहशब्दो गृह्यते। ऋगक्षराण्यभिव्यज्यन्तेऽनेनेति करणसाधनो गानक्रियामेव विधत्ते। तदात्मकस्य साम्नोऽर्थानवबोधकत्वादेव पुरोरुक्त्वाभावाद् ऋग्घि पुरोरुगिति न व्याहन्यते। यत्तु प्रगीताप्रगीतरूपाया ऋचोऽन्यद् उपयाम इत्यादि, तत् पुरोरोचयितृत्वेऽपि न पुरोरुक्, किन्तु यजुरेव केवलमिति। प्रकृतग्रहस्यापुरोरुक्त्वेऽपि चोपपत्तिरित्याह—अथ यदन्यदिति। पुरो रोचयितृणामुपयामेत्यादीनामनृक्त्वेन पुरोरुक्त्वाभावे सत्यपरेणापि केनचनासाधारणेन विशेषेण भवितव्यम्, न यजुर्मात्रसाधारण्येन गणनं युक्तमिति चेत्, तत्राह—ता हैता इति। सत्यम्, अत एव ता एता उपयामेत्यादयः पुरोरोचयित्र्यो मन्त्रजातयः, अग्रे पूर्वस्मिन् काले ऋग्यजुःसाममात्रेभ्यो मन्त्रेभ्यः पुरोरोचयितृत्वेनैवासाधारणेनाभिहिताः समृद्धा आसु। अत एव उपयामेत्यादयः पुरोरोचयित्र्यो मन्त्रजातयः, अग्रे ऋग्भ्योऽभ्यर्धा आसुः, यजुर्भ्यः सामभ्यश्चाभ्यर्धा आसुः।

'ते देवा अब्रुवन्। हन्तेमा यजुःषु दधाम तथेयं बहुलतरेव विद्या भविष्यतीति ता यजुःष्वदधुस्तत एषा बहुलतरेव विद्याऽभवत्' (श० ४।२।३।८)। इत्थं पृथग्भूतानां यजुषां कथं यजुष्ट्वमिति तत्रोच्यते—ते देवा इति। ऋग्यजुःसामाख्याभ्यो मन्त्रजातिभ्योऽपरस्याश्चतुर्थ्या अपि पुरोरोचयित्र्या जातेरङ्गीकारे गौरवादेवैता यजुःष्वेव निहिताः। अत एषां यजुषां पुरोरोचयितृत्वेऽप्यनृक्त्वेन पुरोरुक्त्वाभावात् प्रकृतं

गृहीतः' इस मन्त्र से उक्थ्य ग्रह का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल

ग्रहमपुरोरुक्कं गृह्णातीति युक्तम्। मूलं तु स्पष्टमेव। 'तं यदपुरोरुक्कं गृह्णाति। उक्थꣳ हि पुरोरुग्घि पुरोरुग्घ्युक्थꣳ स यदेवैनमुक्थेभ्यो विगृह्णाति तेनो हास्यैष पुरोरुङ्मान् भवति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति' (श० ४।२।३।९)। मन्त्रस्य पुरोरुक्त्वाभावेऽपि ग्रहस्य पुरोरुक्त्वं समर्थयितुमाह—तं यदित्यादि। यद् यद्यपि ग्रहणसमये तम् अपुरोरुक्कं गृह्णाति, तथापि विभज्य ग्रहणानन्तरमुक्थ्यस्तोत्राणि भविष्यन्ति, तेषां च पुरोरुक्त्वात्तैर्विगृह्यमाणोऽयं ग्रहः सपुरोरुक्को भविष्यति। विग्रहानन्तरैः स्तोत्रशस्त्रैः सपुरोरुक्त्वेऽपि स्वसाधनस्य यजुषोऽपुरोरुक्त्वादपुरोरुक्त्वमित्यपि सिद्धमिति शतपथभाष्ये सायणाचार्यः। 'अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत इतीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्राय त्वेति बृहद्वते वयस्वत इति वीर्यवत इत्येवैतदाह यदाह बृहद्वते वयस्वत इत्युक्थाव्यं गृह्णामीत्युक्थेभ्यो ह्येनं गृह्णाति यत्त इन्द्र बृहद्वय इति यत्त इन्द्र वीर्यमित्येवैतदाह तस्मै त्वा विष्णवे त्वेति यज्ञस्य ह्येनमायुषे गृह्णाति तस्मादाह तस्मै त्वा विष्णवे त्वेत्येष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वेति सादयत्युक्थेभ्यो ह्येनं गृह्णातीति' (श० ४।२।३।१०)। ग्रहस्य ग्रहणमनूद्य चतुर्धा विभज्य विनियुञ्जानो विधत्ते—अथातो गृह्णात्येवेति। इन्द्रो वै उक्थ्यग्रहलक्षणस्य यज्ञस्य देवता खलु। तथा च पूर्वमुक्तम् -'सैषा कामदुघैवेन्द्रस्योद्धारः' इति। अथवा सोमस्य मानमन्त्रेषु 'इन्द्राय त्वा वृत्रघ्ने' इत्येवमादिष्विन्द्र एव सर्वत्र देवतात्वेन निर्दिष्टः, अतः प्राधान्यात् स एव यज्ञस्य देवता। तस्मादिन्द्राय त्वेति मन्त्रपदमुपपन्नम्। वीर्यवत इत्येतेनैवाभिप्रायेण वयस्वत इति बृहद्वत इति पदमध्वर्युराह। अत्र बृहद्वत इति बृहदिति बृहत्साम, यच्च वीर्येण सृष्टत्वाद् वीर्यरूपम्। तथा च तैत्तिरीयकम्—'उरसो बाहुभ्याम्' इति प्रक्रम्य 'वीर्याद्बृहत्सृज्यन्त' (तै० सं० ७।१।१) इति। वयस्वत इत्यत्राप्यतिशायने मतुप्। वयःशब्देनात्रातिशायि यौवनलक्षणं वयोऽभिधीयते। तच्च वीर्यस्य हेतुः। अतो वीर्यवत इत्येतदभिप्रायेण वयस्वत इत्युक्तम्। द्वितीयं भागं व्याचष्टे - उक्थाव्यमित्यादि। उक्थेभ्यो ह्येनमिति। उक्थानि शस्त्रस्तोत्राणि तैः स्तुतिं सम्पादयितुम् एनं गृह्णाति, अत उक्थाव्यमित्युक्तम्। अवतिर्गत्यर्थः (निघ० २।१४।१-२)। उक्थान्यवतीत्युक्थावीः। यद्वा उक्थैराव्यो गन्तव्यः। तृतीयं भागं व्याचष्टे—यत्त इन्द्रेत्यादि। अत्रापि बृहद्वय इत्यनेन वीर्यमभिहितम्। चतुर्थं भागं व्याचष्टे—यज्ञस्य ह्येनमिति। अत्रायुरित्यनेन लिङ्गशरीरमभिधीयते। लिङ्गशरीररूपात्मसन्धानार्थत्वादस्यायुष्ट्वव्यवहार इति पूर्वमुक्तत्वात्, तदर्थमस्य ग्रहणाद् विष्णवे त्वा इत्यध्वर्युराह—विष्णुरिति यज्ञ उच्यते।

तथा शतपथानुसारी समस्तस्य मन्त्रस्यायमर्थः—हे उक्थ्यग्रह, उपयामेन स्थाल्या गृहीतोऽसि। बृहत्सामयुक्ताय यौवनलक्षणवयोयुक्ताय इन्द्रायोक्थ्यशस्त्रगामिनं त्वां गृह्णामि। हे इन्द्र, यद् यस्माद् बृहद् महद् वयो यौवनलक्षणं तस्मादिन्द्राय तुभ्यं त्वां ग्रहं गृह्णामि। इन्द्रार्थे ग्रहे इन्द्रत्वमुपचर्यते। हे ग्रह, त्वां विष्णवे च गृह्णामि। ग्रहस्य समन्त्रकं सादनं विधत्ते—एष त इति। उक्थेभ्यो ह्येनं गृह्णाति। उक्थैः स्तोत्रशस्त्रैः स्तुतिं सम्पादयितुमस्य ग्रहस्य ग्रहणान्मन्त्रे उक्थेभ्य इत्यस्य शब्दस्य प्रयोगो युज्यते। 'तं विगृह्णाति। देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीति प्रशासनꣳ स कुर्याद्य एवं कुर्याद्यथादेवतं त्वेव विगृह्णीयात्' (श० ४।२।३।११)। इत्थं ग्रहस्य ग्रहणादिकं विधाय तस्यैव समन्त्रकं विभज्य ग्रहणं विधत्ते—तमिति। उक्थग्रहस्त्रेधा विभज्य हूयते। पर्यायत्रयेऽपि देवेभ्यस्त्वा इत्यनेनैव मन्त्रेण विभज्य गृह्णीयात्। उक्तमन्त्रसाधने विग्रहणे ग्रहस्य साधारणलक्षणं दोषमुद्भावयति—प्रशासनं स इत्यादि। योऽध्वर्युरुक्तमन्त्रसाधनकं विग्रहणं कुर्यात्, स ग्रहस्य प्रकर्षेण शासनं विनियोजनं कुर्यात्, मन्त्रे देवेभ्य इति सर्वदेवतासाधारणस्य शब्दस्य प्रयोगादिति भावः। यत एवमतस्तद्देवतानुसारेण ग्रहं विगृह्णीयादित्यादि। यथादेवतमित्यादि।

मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सोम निवेदनीय द्रव्य, त्वमुपयामेन यमसदृहसमीपवर्तिना नियमेन प्रेम्णा गृहीतोऽसि। बृहत्सामप्रियाय वयस्वतेऽतिप्राचीनाय नित्याय इन्द्राय परमैश्वर्यवते परमेश्वराय त्वां गृह्णामि। कीदृशं त्वाम्? उक्थाव्यम्, उक्थैः स्तोत्रशस्त्रादिभिरवनीयं रक्षणीयं स्तुत्यं वा, भगवते समर्पणीयं चरुपुरोडाशादिकं स्तोत्रैः प्रगीतैरुक्थ्यसमूहैः शस्त्रैर्ऋक्समूहैरप्रगीतैरेव भगवते निवेदनीयं स्तूयते रक्ष्यते च। यद् यस्माद् महद् वयो नित्ययौवनलक्षणं वयो भक्तैः प्राप्यते तस्मै इन्द्राय परमेश्वराय हे सोम, त्वां गृह्णामि। कीदृशाय इन्द्राय? विष्णवे व्यापनशीलाय। हे सोम, एष ते योनिः स्थानम्। उक्थेभ्य उक्थसम्बन्धिभ्यो देवेभ्यस्त्वां देवाव्यं देवानां पालकं यज्ञस्योपासनालक्षणस्यायुषे दीर्घजीवनाय त्वां गृह्णामि। भगवदाराधनेन तदुपहारेण सर्वे देवास्तृप्यन्ति, यथा तरोर्मूलनिषेचनेन शाखोपशाखादयः सर्वे तृप्यन्तीति तद्वद्।

दयानन्दस्तु—'धर्मार्थकाममोक्षानिच्छुरहम्। हे इन्द्र सेनापते, त्वमुपयामगृहीतोऽसि सुनियमैरधीतविद्योऽसि, अतो बृहद्वते प्रशस्तानि बृहन्ति कर्माणि यस्य तस्मै, वयस्वते बहुजीवनाय इन्द्राय परमैश्वर्यवते उक्थाव्यं प्रशंसार्हाणि स्तोत्राणि शस्त्रविशेषाणि वा यस्य तं त्वां गृह्णामि। यत् ते तव बृहद्वयो जीवनं तस्मै तत्पालनाय विष्णवे परमेश्वराय यज्ञाय वा त्वां गृह्णामि। एष सेनाधिकारस्ते योनिः स्थित्यर्थं स्थानविशेषः। उक्थेभ्यः प्रशंसनीयेभ्यो वेदोक्तेभ्यः कर्मभ्यः, देवेभ्यो विद्वद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यो वा, त्वां देवाव्यम् उक्तानां देवानां पालकम्, यज्ञस्य राज्यपालनादेः, आयुषे जीवनाय गृह्णामि' इति, हिन्द्यां तु—'परमैश्वर्यवते सभापतये तथैव उक्थाव्यं शस्त्रविद्यावन्तं त्वाम्' इत्युक्तम्। संस्कृते 'सेनाधिकारः', हिन्द्याम् 'अधिकारी' इत्यादिवैरूप्यपूर्णोऽर्थ उक्तः। तत्सर्वमप्येतद्विसङ्गतम्, मुख्यार्थपरित्यागात्, गौणार्थस्वीकाराच्च। तथाहि—इन्द्रपदेन सेनापतिरर्थः कथं गृह्यते? यथा बृहन्ति कर्माणि तथा बृहन्तो गुणाः, बृहत्सामापि च भवन्ति, तेषु त्वदर्थग्रहणे विनिगमना वाच्या। उक्थपदेन स्तोत्राणि शस्त्राणि च वैदिकप्रसिद्ध्यनुसारेण गृह्यन्ते। सेनापतेस्तैः कः सम्बन्धः? उक्थपदेन शस्त्रविद्याग्रहणे न किमपि बीजमस्ति। किञ्च, वयस्वद्-बृहच्छब्दौ सभापतेर्विशेषणे इत्यत्र किं बीजम्? नहि तत्र किमपि विशेष्यपदं निर्दिष्टम्। तत्रापि तादृशसभापतिपालनं कस्य शब्दस्यार्थः? न चतुर्थीमात्रस्य सोऽर्थः सम्भवति। श्रुतिसूत्रादिविरोधस्तु स्फुट एव॥ २२॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे निवेदनीय द्रव्य सोम, तुम नियमपूर्वक प्रेम के साथ ग्रहण किये गये हो। बृहत्साम के प्रेमी, चिरन्तन, नित्य, परमैश्वर्यशाली परमेश्वर के लिये स्तोत्र, शस्त्र आदि के द्वारा रक्षणीय अथवा स्तुत्य तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। जिससे नित्ययौवनात्मक आयु भक्तों को प्राप्त होती है, उस व्यापक परमेश्वर के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे सोम, यही तुम्हारा स्थान है। उक्थ सम्बन्धी देवों के लिये, उपासनात्मक दीर्घजीवन के लिये, हे देवताओं के पालक, तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। भगवदाराधन के द्वारा उसके उपहार से समस्त देवगण उसी प्रकार तृप्त होते हैं, जैसे वृक्ष की जड़ का सिंचन करने से शाखा तथा उपशाखा आदि सभी संतृप्त हो जाते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्या में संस्कृत में 'सेनाधिकार' तथा हिन्दी में 'अधिकारी' इस प्रकार द्विविध विभिन्नता से पूर्ण अर्थ किया गया है। यह पूरा ही मुख्यार्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के स्वीकार के कारण विसंगतियुक्त है। इन्द्र शब्द के द्वारा सेनापति अर्थ कैसे ग्रहण किया जा सकता है? उक्थ शब्द से 'शस्त्रविद्या' का ग्रहण करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। वयस्वत् तथा बृहस्वत् शब्द सभापति के विशेषण हैं, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ कोई विशेष्य पद भी निर्दिष्ट नहीं किया गया है। उस प्रकार के 'सभापति का पालन' किस शब्द का अर्थ है? केवलचतुर्थी का वह अर्थ नहीं हो सकता। श्रुति एवं सूत्र वाक्यों आदि का विरोध तो स्पष्ट ही है॥ २२॥

मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥ २३ ॥

'मित्रावरुणाभ्यां त्वेति वा प्रशास्त्रे' (का० श्रौ० ९।१४।१०)। अथवा मैत्रावरुणकर्तृकशस्त्रवद् ग्रहयागार्थमुक्थस्थालीस्थसोमतृतीयांशमुक्थपात्रे मित्रावरुणाभ्यां त्वेति गृह्णीयात्। मन्त्रविकल्पार्थोऽयमारम्भः। हे उक्थ्यग्रह, मित्रावरुणाभ्यां सम्मिलितदेवताभ्यामर्थे देवाव्यं देवतर्पकं देवै रक्षणीयं गन्तव्यं वा त्वां यज्ञस्यायुषे गृह्णामि। 'एवं प्रतिप्रस्थातोत्तराभ्यामिन्द्राय त्वेति ब्राह्मणाच्छꣳसिन इन्द्राग्निभ्यां त्वेत्यच्छावाकाय' (का० श्रौ० ९।१४।१६-१८)। एवं प्रथमे उक्थ्यविग्रहेऽध्वर्युणा प्रचारितद्वितीयतृतीयाभ्यां विग्रहाभ्यां प्रतिप्रस्थाता प्रचरेत्। अयं विशेषः— इन्द्राय त्वेति मन्त्रेण ब्राह्मणाच्छंसिकर्तृकशस्त्रवते यागाभ्यासाय ग्रहं गृह्णीयात्। इन्द्राग्निभ्यां त्वेति मन्त्रेणाच्छावाककर्तृकशस्त्रवते यागाभ्यासाय गृह्णीयात् —इन्द्राय त्वा गृह्णामि, इन्द्राग्निभ्यां त्वां गृह्णामि। शेषं पूर्ववत्। 'उत्तरेष्विन्द्रावरुणाभ्यामिन्द्राबृहस्पतिभ्यामिन्द्राविष्णुभ्यामिति' (का० श्रौ० १०।७।१०)। उक्थादिसोमसंस्थेषु मैत्रावरुणादीनां तृतीयसवने उक्थ्यविग्रहमन्त्राः। मित्रावरुणयोरर्थे त्वां देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि। इन्द्राविष्णुभ्यामर्थे त्वां गृह्णामि। इन्द्रावरुणाभ्यामित्यादौ 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इति पूर्वपदान्तस्य दीर्घः।

अत्र शतपथे विशेषः —'मित्रावरुणाभ्यां त्वा। देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येव मैत्रावरुणाय मैत्रावरुणीषु हि तस्मै स्तुवते मैत्रावरुणीरनुशꣳसति मैत्रावरुण्या यजति' (श० ४।२।३।१२)। मित्रावरुणाभ्यामिति मन्त्रेणैव मैत्रावरुणयोरुक्थ्यं विगृह्णीयान्न देवेभ्य त्वेत्यनेन। अत्र सायणाचार्यः—'न केवलं तस्य मन्त्रस्य ग्रहसाधारण्यपरिहारः प्रयोजनम्, अपि त्वेतदुक्थ्यविग्रहसम्बन्धिनां मन्त्रान्तराणां सादृश्यलाभोऽपि' इत्याह। मैत्रावरुणीष्विति। तस्मै मैत्रावरुणसम्बन्धिने उक्थ्यविग्रहाय मित्रावरुणसम्बन्धिनीष्वृक्षु 'आ नो मित्रावरुणा' (मा० सं० २१।८) इत्यादिषु स्तुवते उद्गातारः। मैत्रावरुणश्च मैत्रावरुणीरनु मैत्रावरुणीभिर्ऋग्भि आ नो मित्रा इत्यादिभिरेव शंसति स्तौति। अनोस्तृतीयार्थे कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया। तथा 'आ नो मित्रावरुणा' इति मैत्रावरुण्यैवेति सर्वत्र मन्त्रेषु मित्रावरुणसम्बन्धाद् विग्रहणे साधनभूतोऽपि मन्त्र इतरमन्त्रसादृश्यलाभाय मैत्रावरुण एव कर्तव्यः।

मन्त्रार्थ— देवगणों का तृप्तिकारक जान कर मित्रावरुण देवताओं की प्रीति के निमित्त यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के निमित्त तुम्हारे अंश को ग्रहण करता हूँ। देवगणों का तृप्तिकारक जान कर इन्द्रदेवता की प्रीति के लिये यज्ञ की समाप्ति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ, देवसमूहों का तृप्तिकारक जान कर इन्द्राग्नी देवता की तृप्ति के निमित्त, इन्द्र-वरुण देवता की प्राप्ति के निमित्त, इन्द्र और बृहस्पति देवताओं की प्रीति के निमित्त तथा इन्द्र और विष्णु देवताओं की प्रीति के निमित्त तुम्हारे विभिन्न अंशों को ग्रहण करता हूँ ॥ २३ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१०।९, १४) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार उक्थ्य स्थाली में

'इन्द्राय त्वा। देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येव ब्राह्मणाच्छᳮसिन ऐन्द्रीषु हि तस्मै स्तुवते ऐन्द्रीरनुशᳮसत्यैन्द्रचा यजति' (श० ४।२।३।१३)। 'इन्द्राग्निभ्यां त्वा। देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीत्येवाच्छावाकायैन्द्राग्नीषु हि तस्मै स्तुवत ऐन्द्राग्नीरनुशᳮसत्यैन्द्राग्न्या यजतीन्द्राय त्वेत्येव माध्यन्दिने सवन ऐन्द्रᳮहि माध्यन्दिनᳮ सवनम्' (श० ४।२।३।१४)। माध्यन्दिनं सवनमैन्द्रम् इन्द्रदेवत्यमेव खलु। तथा च दाशतय्यां मन्त्रः—'प्रातः सुतमपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते' (ऋ० सं० ४।३५।७)। उक्थ्यपर्यायत्रयेऽपि इन्द्रायेत्येव विगृह्णीयात्। तत्रैव—'तदु ह चरकाध्वर्यवः' (श० ४।२।३।१५-१७) इत्यादिना निरसनाय शाखान्तरमतमुपन्यस्यति। तस्मिन् उक्थ्यविग्रहे चरकाध्वर्यवो निम्नोक्तरीतिमनुसरन्ति—मैत्रावरुणब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाकसम्बन्धिनामुक्थ्य-विग्रहाणाम् उपयाम गृहीतोऽसीत्यादिना क्रमेण विग्रहणादि प्राथ्यर्ते। तृतीये पर्याये पुनर्हविरसीति स्थालीं नाभिमृशेत्, माध्यन्दिनसवनस्यैन्द्रदेवत्यत्वात्। तत्र इन्द्राय इत्येव विगृह्णीयात्। यतोऽध्वर्युः प्रातःसवने प्रथमद्वितीययोर्द्विः स्थालीमभिमृशति, तृतीयपर्याये तूष्णीं स्थालीमनभिमृश्यैव ग्रहं निदधाति, अतो माध्यन्दिनेऽपि तथैव कुर्यादिति तदाशयः। 'तं वै नोपयामेन गृह्णीयात्' (श० ४।२।३।१८) इत्यादिना तन्मतं स्वपक्षस्तुत्यै निरस्यति एतम् उक्थ्यविग्रहम् उपयामगृहीतोऽसीत्युच्चार्य न गृह्णीयात्। एष ते योनिरित्यनेन खरे सादनं योनौ सादनं तदपि न कुर्यात्, हि यस्मादग्रे पूर्वग्रहग्रहणसमय एव एष ग्रह उपयामशब्दोच्चारणेन गृहीतः, एष ते योनिरित्यादिना खरे सादितः, अतो न तदुच्चारणं कुर्यात्। तथाकरणेऽजामित्वं अजामितायै स्यात्। उपयाम-गृहीतः, एष ते योनिर्—इत्यनयोर्ग्रहणसमये प्रयुक्तत्वात्, अत्रापि पुनस्तयोरुच्चारणे विशेषाभावाद् आलस्याय कल्पते।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, यज्ञस्य देवाराधनलक्षणस्य आयुषे मित्रावरुणाभ्यां प्रसिद्धाभ्यां देवाभ्यां मित्राय हितकारिणे वरुणाय शान्तिप्रदाय मित्रावरुणाभ्यामिव प्रकाशकवर्षकाभ्यां ज्ञानवैराग्याभ्यां यज्ञस्यायुषे इन्द्राय परमेश्वराय देवाव्यं देवतर्पणशीलं त्वां गृह्णामि। यज्ञस्यायुषे इन्द्रावरुणाभ्यां तन्नामकाभ्यां देवाभ्यां तत्तुल्याभ्या-मैश्वर्यशमाभ्यां देवाव्यं त्वां गृह्णामि। यज्ञस्यायुषे इन्द्राबृहस्पतिभ्यां देवताभ्यामैश्वर्यज्ञानाभ्यामर्थाय त्वां देवाव्यं गृह्णामि। तथैव इन्द्राविष्णुभ्यां देवताभ्यामैश्वर्यपालयितृभ्यां त्वां गृह्णामि। यज्ञस्यायुषे इन्द्राग्निभ्यां देवाभ्यामैश्वर्यतेजोभ्यां त्वां गृह्णामि।

स्थित सोम के अंश का उक्थ पात्र में ग्रहण 'मित्रावरुणाभ्यां त्वा' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे सोम, देवाराधनरूपी यज्ञ की आयुष्य के लिये हितकारी तथा शान्तिप्रद मित्र एवं वरुण नामक प्रसिद्ध देवों के लिये, उनकी भाँति प्रकाशक एवं वर्षणकर्ता ज्ञान तथा वैराग्य के लिये, परमेश्वर के लिये देवतर्पणशील तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यज्ञ के आयुष्यार्थ इन्द्र तथा वरुण नामक देवों के लिये, उनके तुल्य ऐश्वर्य एवं शम के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। इन्द्र एवं बृहस्पति देवों के लिये, ऐश्वर्य तथा ज्ञान के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। इसी प्रकार इन्द्र एवं विष्णु देवताओं के लिये, ऐश्वर्य तथा पालकत्व के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। इन्द्र तथा अग्नि देवों के लिये, ऐश्वर्य तथा तेज के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।

दयानन्दस्तु – 'हे सभापते, धर्मादिमोक्षान्तान् पुरुषार्थानिच्छुरहं यज्ञस्य अग्निहोत्रादे राज्यपालनान्तस्य आयुषे उत्पत्त्यै मित्रावरुणाभ्यां सख्युरुत्कृष्टाभ्याम्' इति, हिन्द्यां तु—'मित्राय उत्तमविद्यायुक्तपुरुषेभ्योऽर्थाय देवाव्यं देवरक्षकं त्वां गृह्णामि। हे सेनापते विद्वन्, यज्ञस्य अग्निहोत्रादे राज्यपालनान्तस्य आयुषे उन्नत्यै इन्द्राय परमैश्वर्यवते त्वा देवाव्यं विद्वद्रक्षकं त्वां गृह्णामि। हे शस्त्रास्त्रविद्यावित्, यज्ञस्य सत्सङ्गतिकरणस्यायुषे इन्द्राग्निभ्यां विद्युत्प्रसिद्धाग्निभ्यां देवाव्यं दिव्यविद्याबोधकं त्वां गृह्णामि, हे शिल्पिन्, यज्ञस्य शिल्पविद्याकार्यसिद्धिकरस्य आयुषे इन्द्रावरुणाभ्यां विद्युज्जलाभ्यां त्वां देवाव्यम् एतद्दिव्यविद्याव्यापकं त्वां गृह्णामि। हे विद्वन्, यज्ञस्य क्रियाकौशलसंगतस्य आयुषे इन्द्राबृहस्पतिभ्यां राजानूचानाभ्यां विद्वद्भ्यां त्वा देवाव्यं प्रशस्तयोगविद्याप्रापकं यज्ञस्य योगविद्याप्रापकस्य विज्ञानस्य आयुषे इन्द्राविष्णुभ्याम् ईश्वरवेदज्ञानाभ्यां त्वा देवाव्यं ब्रह्मविदां तर्पकं यज्ञस्य ज्ञानमयस्य आयुषे वृद्धये गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वदुक्तानां सम्बोध्यानां वेदोक्तत्वे मानाभावात्। तथैव मित्रावरुणाभ्यामित्यनेन मित्रोत्तमविद्याविदोर्ग्रहणमपि निर्मूलम्, 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० सू० ६।३।२६) इति सूत्रेण देवताद्वन्द्व एव पूर्वपदान्तस्य दीर्घत्वविधानात्। तेन मित्रावरुणसंज्ञकौ देवताविशेषावेवात्र विवक्षितौ। यज्ञपदस्यापि न त्वदुक्ता विविधा अर्थाः, प्रमाणशून्यत्वात्। सत्सङ्गतिरूपस्य यज्ञस्योन्नतये सेनापतेर्ग्रहणे का वाचोयुक्तिः? इन्द्राग्निशब्दाभ्यां विद्युदग्न्योः प्रकाशोऽर्थ इत्यपि यत्किञ्चित्। 'यज्ञस्य क्रियाकौशलस्य आयुषे ज्ञानाय' इत्यपि स्वातन्त्र्यमेव, निर्मूलत्वात्। एवं राज्ञः शास्त्रवक्तुश्चार्थायाध्यापकग्रहणमपि तथैव। देवाव्यमित्यस्यापि शब्दस्य यथेष्टार्थग्रहणं स्वातन्त्र्यमूलकमेव, श्रुतिसूत्रविरोधात् ॥ २३ ॥

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविᳪं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥ २४ ॥

'ध्रुवं मूर्धानं दिव इति' (का० श्रौ० ९।६।२१)। उद्गातॄणां पश्चिमेन ध्रुवस्थालीमाहृत्य तस्याः स्थाल्या ध्रुवग्रहं गृह्णाति। वैश्वानरदेवत्या त्रिष्टुप्। भरद्वाजस्यार्षम्। स च वैश्वानरोऽग्निरत्र सर्वात्मना स्तूयते।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में बताये गये संबोधनों के वेदोक्त होने में कोई प्रमाण न रहने के कारण अनौचित्य है। मित्रावरुण शब्द से मित्र तथा उत्तमविद्यावेत्ता अर्थ का ग्रहण करना भी निर्मूल है, क्योंकि 'देवताद्वन्द्वे च' इस सूत्र से देवताद्वन्द्व में ही पूर्वपद के अन्त का दीर्घविधान किया गया है। अतः यहाँ मित्र एवं वरुण नामक देवताविशेष ही अभीष्ट हैं। यज्ञपद के भी व्याख्योक्त विविध अर्थ प्रमाणाभाव के कारण नहीं हो सकते। 'देवाव्यम्' इस शब्द का भी यथेच्छ अर्थ करना स्वैराचारमूलक ही है, क्योंकि इसमें श्रुति तथा सूत्र वचनों का विरोध है ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ – देवताओं ने द्युलोक के मस्तक स्वरूप सूर्य के रूप में प्रकाशित, पृथ्वी के सीमा स्वरूप जाठराग्नि के रूप में समस्त मनुष्य लोक के हितकारी, यज्ञ में दो अरणिकाष्ठों से उत्पन्न, अविचल तथा दीप्तिमान, क्रान्तदर्शी, संमुख आने वाले, नक्षत्र मंडलो में सम्राट्, यजमान आदि समस्त जनों के अतिथि, हवि से आदरणीय इस ब्रह्माग्नि को मुख्य पात्र चमस में प्रकट किया था ॥ २४ ॥

भाष्यसार—'मूर्धानं दिवः' इस ऋचा से ध्रुव ग्रह का ग्रहण किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।२१) में

दिवो द्युलोकस्य मूर्धानं शिरोरूपं सूर्यात्मनाऽवस्थितम्। पृथिव्या अन्तरिक्षस्य, पृथिवीशब्दोऽन्तरिक्षवचनः (निघ० १।३।९)। अरतिं पर्याप्तमतिं तदभिमानिनीं देवतां तस्यैव वायुरूपत्वाश्रयणात्, 'वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः' इति श्रुतौ वायोश्चान्तरिक्षलोकाभिमानित्वश्रवणात्। भूमौ च ऋते यज्ञे यज्ञनिमित्ते आजातम् आभिमुख्येन अरणिद्वयादुत्पन्नं वैश्वानरं विश्वेषां देवानां सम्बन्धिनमग्निमग्रे नेतारं कविं प्रत्यगात्मरूपतया क्रान्तदर्शनं सम्राजं सम्यग्राजमानं जनानां यजमानरूपाणाम्, अतिथिम् अतिथिवत् पूज्यम्, 'अग्नेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा' (श० ३।४।१।११) इत्यतिथिरूपायाग्नये निर्वापः क्रियते। योऽयमुक्तगुणोऽग्निस्तं देवा इन्द्रादय आसन् आसनि आस्ये, 'पद्दन्नो·····' (पा० सू० ६।१।६३) इत्यास्यशब्दस्य आसन्नादेशः। पात्रं पानसाधनम्, आभिमुख्येन जनयन्त अजनयन्त। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडागमाभावः। अग्निप्रापितः सोमो देवैः पीयत इत्यग्नेः पानसाधनत्वम्, 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुतेः। वयं वैश्वानरनामकमग्निं स्तुम इति शेषः। कीदृशं वैश्वानरम्? विश्वेषां देवानां सम्बन्धिनम्, यद्वा देवा इन्द्रादयो यमग्निमित्थंभूतं जनयन्त उत्पादितवन्तः। अडागमाभावश्छान्दसः। कथंभूतमग्निम्? दिवो द्युलोकस्य मूर्धानं शिरोवदूर्ध्वप्रदेशे आदित्यरूपेण स्थित्वा प्रकाशकम्, तथा पृथिव्याः पृथिवीलोकस्याऽरतिं रतिरहितम्। पृथिव्या उपरि कदाचिदपि तदुपरमाभावाद् दाहपाकप्रकाशादिभिः सर्वानुग्राहकत्वेन तत्र सर्वदा वर्तमानत्वादिति सायणाभिप्रायः।

उव्वटरीत्या तु—आकाशमापः पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितत्वात् पृथिव्या अन्तरिक्षस्य अरतिम् अलं मतिं पर्याप्तमतिं पूरकम्। तत्र स्थित्वा सूर्यरूपेण यथाकालं वृष्ट्या भूतानि पुष्णाति। तथा वैश्वानरं विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो नरेभ्यो जाठराग्निरूपेणाशितपीतादिपाचकत्वाद् हितं वैश्वानरं विश्वान् सर्वान् वा आसमन्ताद् नृणाति नयतीति (व्यवहारयतीति) विश्वानरः, विश्वानर एव वैश्वानरस्तम्। तथा ऋते यज्ञे यज्ञनिमित्तमाजातम्, आभिमुख्येनारणिद्वयान्मन्थनेन जातम्। कविं स्वमात्मानमनुग्रहीतुमभिज्ञं क्रान्तदर्शिनमतीतानागतवर्तमानद्रष्टारम्, सर्वज्ञमित्यर्थः। सम्राजं सम्यग् दीप्यमानं जनानां यजमानानामतिथिमतिथिवत् सत्कारार्हम्। विज्ञायते ह्यग्निरतिथिरूपेण गृहान् प्रविशति। तस्मात्तस्योदकमाहरन्ति। आसन्नापात्रम्, आस्यशब्दस्य सप्तम्येकवचने 'पद्दन्नो·····' (पा० सू० ६।१।६३) इति सूत्रेण आसन् आदेशः। 'सुपां सुलुक्·····' (पा० सू० ७।१।३९) इति सप्तमीलोपः। तेन देवानाम् आसन् आसनि आस्ये आपात्रम् आभिमुख्येन पीयतेऽनेनेत्यापात्रं पानसाधनं चमसपात्ररूपम्। विज्ञायते हि चमसो देवपान इति। चमसेन ह वा एतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति। तमीदृशमग्निं देवा इन्द्रादयोऽजनयन्तेत्यर्थः।

शतपथे विशेषः—'अयꣳ ह वा अस्यैष प्राणः। योऽयं पुरस्तात् स वै वैश्वानर एवाथ योऽयं पश्चात्स ध्रुवस्तौ ह स्मैतौ द्वावेवाग्रे ग्रहौ गृह्णन्ति ध्रुववैश्वानराविति तयोरयमप्येतर्ह्यन्यतर एव गृह्यते ध्रुव एव स यदि तं चरकेभ्यो वा यतो वाऽनुब्रुवीत यजमानस्य तं चमसेऽवनयेदथैतमेव होतृचमसे' (श० ४।२।४।१)। उपांश्वादीनां ग्रहाणां प्राणाद्यात्मकत्वाद् आग्रयणोक्थयोः स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयात्मकत्वात् तद्विधानेन कृत्स्नं यज्ञशरीरं निष्पादितम्। आयुर्विशेषविशिष्टमेव शरीरं कार्यजनकत्वेन सार्थकं भवति। अतस्तत्सार्थकत्वाय आयुषः सम्पादनीयत्वात् तत्सम्पादनायेदानीमस्मिन् ब्राह्मणे तदात्मकत्वेन ध्रुवं ग्रहं विधातुं प्रस्तौति—अयं हेति। अस्य यज्ञस्य एष वक्ष्यमाणो ध्रुवो ग्रहः, अयं सर्वेषां प्रत्यक्षः प्राणः खलु। प्राणशब्देनात्र आयुर्विवक्ष्यते। आयुषः

यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सायण तथा उव्वट आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के

प्राणशरीरात्मसम्बन्धात्मकत्वात्, सोऽस्यैष आयुरेवेति द्वितीयकण्डिकायां विवरिष्यमाणत्वात्, 'आयुर्वा एतद्यज्ञस्य यद् ध्रुव इति' (तै० सं० ६।५।२) इति श्रुतेः। प्राणस्य मूलाधारे निष्पत्तिः। निष्पन्नस्य तस्य मुखनासा-विवरेणाभिव्यक्तिः। ततश्चैकस्यापि निष्पत्त्यभिव्यक्तिस्थानभेदमङ्गीकृत्य तदनुसारेण ग्रहद्वैविध्यमाह— 'योऽयं पुरस्तादिति। मुखनासाविवरेणाभिव्यज्यमानः प्राणः स एव वैश्वानरस्तदात्मको वैश्वानरो ग्रहः, योऽयं प्राणः पश्चाद् मूलाधारे निष्पद्यते स एव ध्रुवग्रहः। तौ एतौ उक्तरीत्या द्विसंख्याकौ पूर्वं गृह्णातीति केषाञ्चित् शाखिनां मतमनुवदति—तौ ह स्मैताविति। यद्यपि प्राणस्य स्थानभेदनिबन्धनो भेदोऽस्ति, तथापि न स्वरूपनिबन्धनो भेदः, तस्यैकत्वात्। तदात्मकयोस्तयोरन्यतर एव ग्रहो ग्रहीतव्य इति। तत्र स्वमतमाह—तयोरयमिति। अयमिति सामान्येन निर्दिष्टार्थः प्रदर्श्यते—ध्रुव एवेति। मुखनासाविवरेण व्यज्यमानः प्राणो मूलाधारादुत्पन्न एवेति तदात्मकध्रुवग्रहणेन वैश्वानरग्रहणमपि सम्पादितं भवतीति ध्रुव एवेत्युक्तम्। चरकेभ्यो यतो वा अन्येभ्यो यदि इदं प्रतिपादकं वचनमधीयीत, तदा तं वैश्वानरग्रहं होमकाले यजमानस्य चमसेऽवनयेत्। एवं ध्रुवग्रहं तु होतृचमस एव अवनयेत्, तयोरन्यतर एव ध्रुव एवेति स्वेनोपादानात्। 'एतम्' इति ध्रुवस्य प्रत्यक्षनिर्देशः। तदभावात् तमिति वैश्वानरस्य परोक्षनिर्देशः।

'यद्वा अस्याऽवाचीनं नाभेस्तदस्यैष आत्मनः सोऽस्यैष आयुरेव तस्मादनया गृह्णात्यस्यै हि स्थाली भवति स्थाल्या ह्येनं गृह्णात्यजरा हीयममृता अजरꣳ ह्यमृतमायुस्तस्मादनया गृह्णाति' (श० ४।२।४।२)। स्थाल्या ग्रहणमुपपादयितुमायुरात्मकत्वमाह—यद्वा अस्येति। अस्य यज्ञस्य नाभेरधस्तनं यच्छरीरं यस्यात्मनस्तच्छरीरमेतस्य। एष ध्रुवग्रहः, तत् तस्य प्राणात्मकत्वात्। अत एवास्य यज्ञस्य सोऽयं ग्रह आयुरात्मकः। प्राणशरीरसम्बन्धात्मकत्वादायुषो यदुक्तप्रकारेण ग्रहस्यायुष्ट्वम्, तस्मादेनं ग्रहम् अनया पृथिव्या गृह्णीयात्। ननु चायं स्थाल्या गृह्यते, कथमुच्यते पृथिव्या गृह्णीयादिति ? अत आह—अस्यै हि स्थालीति। कार्यकारणयोरभेदात् स्थाल्या ग्रहणेन पृथिव्यैव ग्रहणं मन्तव्यम्। तथापि ग्रहस्य पृथिव्या ग्रहणे कथमायुष्ट्वं हेतुरित्यत आह— अजरा हीति। जरा शैथिल्यम्, मरणं स्वरूपनाशः। आयुषश्च न तदुभयम्, यस्य यावदायुस्तावत्तस्मिन् तदुभयाभावात्। 'तं वै पूर्णं गृह्णाति। सर्वं वै तद्यत्पूर्णꣳ सर्वं तद्यदायुस्तस्मात् पूर्णं गृह्णाति' (श० ४।२।४।३)। 'देवा ह वै यज्ञं तन्वानास्ते असुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्बिभयाञ्चक्रुस्तान् दक्षिणतोऽसुररक्षसान्यासेजुस्तेषामेतान् दक्षिणान् ग्रहानुज्जघ्नुरप्येतद्दक्षिणꣳ हविर्धानमुज्जघ्नुरथैतमेव न शेकुरुद्धन्तुं तदुत्तरमेव हविर्धानं दक्षिणꣳ हविर्धानमदृꣳहत् तद्यदेतं न शेकुरुद्धन्तुं तस्माद् ध्रुवो नाम' (श० ४।२।४।१९)। ग्रहस्य ध्रुवनामधेयप्राप्तिमाख्यायिकया दर्शयति—दक्षिणत इति। असुररक्षसानि देवान् आसेजुः, तैः सह युद्धे आसक्ता बभूवुः। देवाश्चासुररक्षसां कृते दक्षिणे हविर्धाने गतान् ग्रहानुज्जघ्नुः। दक्षिणहविर्धानमपि प्रचिक्षिपुः। एतं ग्रहमप्युद्धृत्य प्रक्षेप्तुमुद्युक्तास्तथा कर्तुं न शक्नुवन्तः। अत एवोत्तरं हविर्धानं दक्षिणं हविर्धानमदृंहद् दृढं कृतवतो ग्रहस्योद्धर्तुमशक्यत्वाद् ध्रुवनामधेयम्।

अध्यात्मपक्षे—अग्निमग्रनेतारं परमात्मानं नौमीति शेषः। कीदृशम् ? दिवो द्युलोकस्य मूर्धानम्, मूर्धान-मिवोत्कृष्टं सर्वभासकम्, आदित्यरूपेण वा वर्तमानम्, पृथिव्या अन्तरिक्षस्य अरतिम् अभिमानिनम्। वायुं वायुरूपेण

अनुकूल अर्थ निरूपित किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—आगे बढ़ाने वाले परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ। द्युलोक के

भासमानम्, विश्वान् नृणति कर्मफलभोगाय नयतीति वैश्वानरस्तम्, जाठराग्निरूपेण वा वर्तमानम्, 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥' (भ० गी० १५।१४) इति गीतोक्तेः। ऋते यज्ञे आजातम् अरण्योरुत्पन्नं तद्रूपम्। ऋते सूनृतायां वाचि आजातं आभिमुख्येन प्रादुर्भूतम्, कविं क्रान्तदर्शिनं सर्वज्ञं सम्राजं स्वप्रकाशम्। जनानामतिथिं तद्वत् पूज्यम्। आसन् मुखे अभिमुखं पात्रम् अमृतपानसाधनरूपम्, तं देवा इन्द्रादयो जनयन्त अजनयन्त प्रादुर्भावयन्ति, मुखाभिमुखममृतपानसाधनरूपे दैवा भक्त्या ज्ञानेन च तमाविर्भावयन्ति।

दयानन्दस्तु—'यथा देवा धनुर्वेदविद्वांसो धनुर्वेदशिक्षया दिवो द्योतमानस्य सूर्यस्य मूर्धानं शिरोवद्वर्तमानं पृथिव्या अरतिम् ऋच्छति प्राप्नोतीत्यरतिस्तम् ऋते सत्ये आसमन्ताद् जातं प्रसिद्धं वैश्वानरं यो विश्वान्नराना-नन्दयति तम्। 'वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान् नरान् नयति····विश्व एनं नरा नयन्तीति वा' (निरु० ७।२१)। जनानामतिथिं सत्पुरुषाणामतिथिवत्पूज्यम्, आसन् मुखे आपात्रम् आसमन्तात् पाति रक्षति समस्तं शिल्पव्यवहारं यस्तम्, कविं क्रान्तदर्शनम्, अग्निं शुभगुणैः प्रकाशमानम्, सम्राजं चक्रवर्तिनमिव जनयन्त उत्पादयन्तु, तथा सर्वैरनुष्ठेयम्' इति, तदेवद् गौणार्थकाख्यानमप्यस्पष्टमेव। अत एव भाषाभाष्ये संस्कृत-भाष्यादप्यधिकोऽध्याहारः। तथा च—'धनुर्वेदविद्वांसो धनुर्वेदशिक्षया दिवः सूर्यस्य शिरोवद्वर्तमानम्, पृथिव्या गुणानाम् अरतिं प्रापकसत्यमार्गे सम्यक् प्रसिद्धं सर्वानन्ददायकं सत्पुरुषाणामतिथिवत् सत्कारार्हं यज्ञरूपे मुखे पात्रं समस्तशिल्पव्यवहाररक्षकम्, कविं दूरदर्शनं शुभगुणप्रकाशितं सभापतिं सम्राजमिव जनयन्त सम्यक् प्रकाशयन्ति, तथैव सर्वैर्मनुष्यैः कर्तुं योग्यम्' इति, तदेत् सर्वमप्यसंगतमेव। नहि यद्धनुर्वेदशिष्या धनुर्वेदविदः कर्तुं प्रभवन्ति, तदन्यैः कर्तुं योग्यं भवति। अग्निपदस्य शुभगुणैः प्रकाशमानः सभापतिः कथमर्थः? शुभगुणैः प्रकाशमानत्वं विदुष आचार्यस्यापि सम्भवत्येव। देवपदस्य धनुर्वेदविदर्थ इत्यपि निर्मूलम्। कथं च तेऽपि सूर्यस्य शिरोवद्वर्तमानं भूपतिं निर्यातुं प्रभवन्ति। एतादृशो भूपतिः सम्राडेव भवति तदा सम्राजमिवेत्युक्ति-रपार्थैव। आसन्नित्यस्य मुखबोधकत्वेऽपि यज्ञरूपत्वं तस्य निर्मूलमेव। वैश्वानरशब्दस्य आनन्ददायत्वं कथमर्थः? न च निरुक्तमपि तत्पोषकम् ॥ २४ ॥

मस्तक की भाँति सर्वोत्कृष्ट अथवा सर्वभासक सूर्य के रूप में विद्यमान, पृथिवी और अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता, वायुरूप से भासित होने वाले, समस्त लोकों को कर्मफल के भोग के लिये ले चलने वाले अथवा जठराग्नि के रूप में विद्यमान, सत्य मधुर वाणी में संमुख उत्पन्न होने वाले, क्रान्तदर्शी, सर्वज्ञ, स्वप्रकाश, प्राणियों के द्वारा अतिथि की भाँति पूजनीय, अपने संमुख अमृतपान के साधनरूप उस पात्र को इन्द्र आदि देवगण भक्ति एवं ज्ञान से आविर्भूत करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित भाष्य में गौण अर्थ का प्रतिपादन भी स्पष्ट नहीं है। अतः हिन्दी भाष्य में संस्कृत भाष्य से भी अधिक अध्याहार हैं। यह सम्पूर्णतः असंगत है। अग्नि शब्द का 'शुभ गुणों से प्रकाशमान सभापति' अर्थ कैसे होगा? शुभ गुणों से प्रकाशमान होना तो विद्वान् आचार्य के लिये भी संभव ही है। देव शब्द का धनुर्वेदवेत्ता अर्थ करना भी अप्रामाणिक है। वे सूर्य के सिर की भाँति वर्तमान राजा का निर्माण करने में कैसे समर्थ होंगे? 'आसन्' शब्द के मुखबोधक होने पर भी उसका यज्ञरूपत्व प्रतिपादित करना अप्रामाणिक है। वैश्वानर शब्द का अर्थ 'आनन्ददायक' कैसे होगा? निरुक्त भी इसका पोषण नहीं करता ॥ २४ ॥

उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुव क्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तम एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा । ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि । अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत् ।। २५ ।।

ध्रुवदेवतं यजुः । ध्रुवग्रहण एव विनियुक्तम् । हे सोम, त्वमुपयामेन दारुपात्रेण गृहीतोऽसि, ध्रुवोऽसि ध्रुवनामासि, पूर्वोक्तरीत्या प्रक्षेप्तुमशक्यत्वात् । कथंभूतस्त्वम् ? ध्रुवा स्थिरा क्षितिर्निवासो यस्य स ध्रुवक्षितिः, 'क्षिति निवासगत्योः', स्थिरनिवासः, आ वैश्वदेवीशंसनमवस्थानात् । ध्रुवाणामादित्यस्थाल्यादीनां मध्ये ध्रुवतमोऽतिशयेन स्थिरः । अच्युतानां च्युतिरहितानां क्षरणशून्यानामच्युतक्षितीनां मध्येऽच्युतक्षित्तमः । अच्युते च्युतिरहिते पात्रे क्षियति निवसतीत्यच्युतक्षित् । अतिशयेनाच्युतक्षिद् अच्युतक्षित्तमः । अच्युतक्षितां श्रेष्ठोऽसीति सायणाचार्यः । उव्वटरीत्या तु—ध्रुवाणां त्वं ध्रुवक्षितिर्ध्रुवनिवासः, ध्रुवतमोऽच्युतानाम् । अच्युतानामपि त्वमेव ध्रुवतमः, च्युतिरहितानामपि त्वमेव स्थिरतमः । अच्युते क्षियतीत्यच्युतक्षिद् अतिशयेनाच्युतक्षिद् अच्युतक्षित्तमः । हे ध्रुवग्रह, एष ते योनिः स्थानम् । वैश्वानराय अग्नये त्वां सादयामि । 'ध्रुवꣳ होतृचमसेऽवनयति ध्रुवं ध्रुवेणेति' ध्रुवपात्रस्थं सर्वसोमं होतृचमसे सिञ्चेत् । बृहती । पूर्वार्धर्चः ध्रुवदैवतः । उत्तरार्धर्च ऐन्द्रः । प्रथमतृतीयौ पादावष्टाक्षरौ, द्वितीयतृतीयौ दशाक्षरौ यस्याः सा बृहती, वैराजौ गायत्री चेति पिङ्गलोक्तेः । अष्टाक्षरा गायत्री । दशाक्षरा विराट् । ध्रुवेण निश्चलेन मनसा वाचा तन्मन्त्रोच्चारणप्रवणया होतृचमसेऽवनयामि । यद्वा ध्रुवग्रहं सोमं होतृचमसं प्रत्यवनयामि । स हि होतृचमसेऽवसिच्यते । द्वादशे शस्त्रेऽथा अनन्तरम् इन्द्र इद् इन्द्र एव । विशो मनुष्यान् असपत्नान् सपत्नरहितान् शत्रुहीनान्, समनसः समनस्कान् सङ्कल्पाध्यवसायादिवृत्तिभिर्युक्तान् करत् करोतु । यद्वा समानं मनो यासां ता विशः सावधानस्थिरमनस्का धृतियुक्ताः शत्रुरहिताश्च विशः, करत् करोतु ।

शतपथे—'तं वै गोपायन्ति''''' (श० ४।२।२।२०) इत्यादिना ग्रहणमारभ्य होमपर्यन्तं रक्षेयुः । कुतः ? इत्यत आह—शिरो वा एष एतस्य । शिरश्च श्रीस्तस्मात् शिरसः श्रीरूपत्वाद् यो यस्यार्धस्य भागः श्रेष्ठः श्रिया प्रशस्यतरो भवति, असावमुष्यार्धस्य शिर इति वा लोका वदन्ति । लोके श्रेष्ठस्य समृद्धिमन्ये न सहन्त इति ततो बिभेति । अतोऽत्र श्रेष्ठत्वाद् ग्रहो व्यथेत । एतेन लोके श्रेष्ठ एव व्यथते । तथा च सत्यत्र यजमानस्य श्रेष्ठत्वात् तस्यापि व्यथा स्यात्, अतो नैव यजमानो व्यथतामिति तदर्थं सोमग्रहं गोपायेयुरित्यर्थः । 'वत्सो वा एषः । एतस्यै गायत्र्यै यज्ञो वा गायत्री द्वादश स्तोत्राणि द्वादश शस्त्राणि तच्चतुर्विꣳशतिश्चतुर्विꣳशत्यक्षरा वै गायत्री तस्या एष वत्सस्तं यद् गोपायन्ति गोपायन्ति वा इमान् वत्सान् दोहाय यदिदं पयो दुह्र एवमियं गायत्री

मन्त्रार्थ— हे सोम ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, स्थिर निवास वाले समस्त ग्रह-नक्षत्र मंडल की अपेक्षा अत्यन्त अचल, च्युतिरहित पात्र में निवास करने से ध्रुव नाम से प्रसिद्ध हो, ध्रुव देवता की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । हे ध्रुव ग्रह ! यह तेरा स्थान है, समस्त मनुष्य लोक के हितकारी देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें इस स्थान में स्थापित करता हूँ । स्थिर मन और वाणी से इस ध्रुव ग्रह में स्थित सोम को होतृचमस पात्रान्तर में सिंचित करता हूँ । इसके अनन्तर इन्द्र देवता हमारी प्रजा को शत्रुशून्य और स्थिरप्रज्ञ करें ।। २५ ।।

भाष्यसार—'उपयामगृहीतः' इस कण्डिका का विनियोग भी ध्रुव ग्रह के ग्रहण में ही किया गया है । सायणाचार्य

यजमानाय सर्वान् कामान् दोहाता इति तस्माद् वै गोपायन्ति' (श० ४।२।२।४)। वत्सानां रक्षणेन यथा गौरिदं पयो दुह्रे दुग्धे। तकारलोपः, बहुलं रुडागमः। एवमियं यज्ञरूपा गायत्री वत्सरूपस्य ध्रुवग्रहस्य रक्षणेन यजमानाय सर्वान् कामान् दोहाता इति तदर्थं ध्रुवग्रहं रक्षेयुः। उपांश्वाद्या ग्रहाः प्रातःसवन एव गृह्यन्ते, तत्रैव च हूयन्ते। अयं तु ध्रुवग्रहो न तथा, किन्त्वेतस्मात् कालादग्निमारुतशस्त्रकालं यावदुपशेते स्थिरो भवति। तथावस्थानेन तस्य सर्वाणि सवनान्यतिनीतत्वात् तस्यायूरूपत्वमुपपद्यन्ते। तदेतत् स्पष्टम्—'स प्रातःसवने गृहीतः। एतस्मात् कालादुपशेते तदेनꣳ सर्वाणि सवनान्यतिनयति' (श० ४।२।२।८)। अग्निष्टोमस्तोत्रावसरे स्वल्पस्यापि सोमस्यानवस्थापनात् तदास्यावनयनप्रसक्तौ निषेधति—'तं न स्तूयमानेऽवनयेत्....' (श० ४।२।२।६)। कदा तर्ह्येनमवनयेदिति तत्राह—'तꣳ शस्यमानेऽवनयति। तदेनं द्वादशꣳ स्तोत्रमतिनयति तथा परम्परमायुः समश्नुते तथो ह यजमानो ज्योग् जीवति तस्माद् ब्राह्मणोऽग्निष्टोमसत् स्यादेतस्य होमान्न सर्पेन्न प्रस्रावयेत तथा सर्वमायुः समश्नुत आयुर्वा अस्यैष तथा सर्वमायुरेति' (श० ४।२।२।७)। अग्निमारुतशस्त्रशंसनकाले द्वादशानामपि स्तोत्राणां समापितत्वेन द्वादशमासात्मकस्य संवत्सरस्य साकल्येन तदात्मकस्योत्तरोत्तरस्यायुषः प्राप्त्या यजमानश्चिरं जीवेदित्यर्थः। यतोऽग्निष्टोमस्तोत्रे समापिते द्वादशात्मकः संवत्सरः साकल्येन प्रथत इति तदैव ध्रुवग्रहो हूयते। अतस्तद्धोमपर्यन्तं तत्रैव तिष्ठेत्। तेनापि तस्य ध्रुवत्वमुक्तमेव।

तस्माद् ब्राह्मणोऽग्निष्टोमसत् स्यात् अग्निष्टोमस्तोत्रपर्यन्तं तत्रैव तिष्ठेत्, तस्य होमान्न सर्पेन्न प्रस्रावयेत न मूत्रयेत तस्मात् सर्वमायुः समश्नुते। अत्र ब्राह्मणशब्देन दीक्षितास्त्रैवर्णिका उच्यन्ते—ब्राह्मणो वा एष जायते यो दीक्षते ततोऽस्माद्राजन्यवैश्यावपि ब्राह्मणा इत्येवावेदयति। 'यद्वा अस्यावाचीनं नाभेः' (श० ४।२।२।८) इत्यादिषु ध्रुवग्रहो यज्ञस्य नाभेरधस्तनशरीरतयोक्तः। अत एव तस्य होमात् पूर्वमन्यत्र गमने मूत्रावसेचने वा ध्रुवमेवावसिञ्चेत्। तस्मात् तावत्पर्यन्तं तत्रैव तिष्ठेत्। अग्निष्टोमस्तोत्रपर्यन्तं सदनं चावश्यकर्तव्यत्वाय प्रशंसति—'स वा अग्निष्टोमसद् भवति' (श० ४।२।२।९)। स वै यजमानोऽग्निष्टोमस्तोत्रपर्यन्तं तत्रैव स्थितिमान् भवेदित्यत्रोपपत्तिमाह—यशो वै सोमः। य एवं विद्वान् सोममागच्छति यश एवैनमृच्छति तस्मादाहुर्यश्चैव वृतो यश्च न तावुभौ सोममागच्छतः। सोमयागे दक्षिणां लभते दक्षिणावान् तद्व्यतिरिक्तश्च यशोरूपं सोमं द्रष्टुमागच्छति। अदक्षिणतोऽप्यागमनात् सोमस्य यशस्त्वं समर्थितं भवति। 'ब्राह्मणाः संप्रसृप्यात्मन् सन्दधते यद्भक्षयन्ति....देवाश्चैवासुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे एतस्मिन् यज्ञे प्रजापतौ पितरि संवत्सरे अस्माकमयं भविष्यत्यस्माकमयं भविष्यतीति' (श० ४।२।२।९-११)। संवत्सरावयवीभूतमासगतद्वादशसंख्याविशिष्टैः स्तोत्रैः शस्त्रैश्च यज्ञस्य समाप्यत्वात् संवत्सरात्मकप्रजापतिरूपत्वमपि यज्ञस्य। तत्प्राप्त्यर्थं स्पर्धां कृतवन्तः। 'ततो देवाः। अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्त एतदग्निष्टोमसद्यं ददृशुस्त एतेनाग्निष्टोमसद्येन सर्वं यज्ञꣳ समवृञ्जतान्तरायन्नसुरान् यज्ञात् तथो एवैष एतेनाग्निष्टोमसद्येन सर्वं यज्ञꣳ संवृङ्क्तेऽन्तरेति सपत्नान् यज्ञात् तस्माद्वा अग्निष्टोमसद् भवति' (श० ४।२।२।१२)। स्पर्धानन्तरं ते देवा अर्चन्तः पूजयन्तः श्राम्यन्तस्तपस्यन्तश्च चेरुः। ततः स्वकीयतपःप्रभावेण यज्ञप्राप्तौ अग्निष्टोमसद्यं साधनं ददृशुः। ततस्तेन समस्तं यज्ञं समवृञ्जन्त, असुरेभ्योऽपच्छिद्य स्वायत्तं कृतवन्तः। अतोऽसुरान् यज्ञाद् अन्तरायन् अन्तरितान् यज्ञहीनानकुर्वन्। तस्मात् तथैवाग्निष्टोमसद्येन यजमानोऽपि सर्वं यज्ञं स्वायत्तं कुरुते। सपत्नान् यज्ञहीनान् कुरुते। 'तं गृहीत्वोत्तरे हविर्धाने सादयति' (श० ४।२।२।१३)। उपांश्वादीन् ग्रहान् उपकीर्णे पांसुभिर्न्युप्तखरप्रदेशे सादयेत्। ध्रुवं ग्रहं तु व्युह्य सादनस्थानगतं यत्किञ्चिदपसार्य तृणमात्रमप्यव्यवहितं कृत्वा सादयेत्। नाभेरूर्ध्वभागस्य पुरुषस्योपरिभागत्वात् तद्भागत्वाच्चक्षुरादिरूपाणां ग्रहाणामुच्छ्रिते खरे सादनं युज्यते। नाभ्यधोभागरूपस्य तु ध्रुवग्रहस्याऽव्यवहितायां पृथिव्यामेव सादनम्। एवं बहुधा प्रशस्य—'अथ यदध्वर्युश्च प्रतिप्रस्थाता च। निश्चक्रामतः प्रतिपद्येते यथा बद्धवत्सोपाचरेद्देव-

मेतं ग्रहमुपाचरतस्तमवनयति' (श० ४।२।४।२२)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थात्रोर्निर्गमनागमनाभ्यां ग्रहस्य वत्सरूपतां प्रतिपादयति। तौ ग्रहणानन्तरं निष्क्रामतः। ततो होमकाले ग्रहं प्रपद्येते। यथा बद्धवत्सा गौर्गत्वा पश्चाद् वत्समुपाचरेद् वत्ससमीपमागच्छेत्, एवं तौ वत्सरूपग्रहमुपचरितवन्तौ।

ग्रहस्यावनयनं विधत्ते--तमवनयतीत्यादि। 'तᳪ शस्यमानेऽवनयति' (श० ४।२।४।७) इति, 'अथैतमेव होतृचमसेऽवनयति' (श० ४।२।४।१) इति कालस्य होतृचमसस्य च विहितत्वादग्निमारुतशस्त्रशंसनकाले होतृचमसे ध्रुवग्रहमासिञ्चेद् गायत्रीमेवैतत् प्रस्नावयति प्रस्तुतं करोति। दोहार्थं पयःपूरितस्तनाग्रतः पयःक्षरणात् क्षारयन्ती प्रत्ता प्रदातुमुपक्रान्ता यजमानाय सर्वान् कामान् दोहाता इति। 'सोऽवनयति। ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामीति गृह्णामीति वाथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करदिति यथा न इन्द्र इमाः प्रजा विशः श्रियै यशसेऽन्नाद्यायासपत्नाः संमनसस्करवदित्येवैतदाह' (श० ४।२।२।२३)। विहितमवनयनमनूद्य मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे—अवनयामीति। गृह्णामीति वा प्रयोक्तव्यः। तदुक्तं कात्यायनसूत्रभाष्ये—'अवनयामिस्थाने गृह्णामीति च' इति। अथात इत्यस्य मन्त्रभागस्योच्चारणेऽयमभिप्रायः—नोऽस्माकं विशः प्रजाः, श्रियै यशसे अन्नाद्याय, असपत्नाः शत्रुरहिताः समनस इन्द्र एव करोत्विति। हे ग्रह, ध्रुवेण एकाग्रेण मनसा वाचा मन्त्रोच्चारणेन च होतृचमसगतं सोमं प्रति त्वां ध्रुवम् अवनयामि। अथ इन्द्र एव नोऽस्माकं विशोऽसपत्नाः समनसः करोत्विति समस्तमन्त्रार्थः। 'अथातो गृह्णात्येव। मूर्धानं दिवो अरतिं····जनयन्त देवा उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षिति-र्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तम एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वेति सादयति व्युह्य न तृणं चनान्तर्धाय वैश्वानराय ह्येनं गृह्णाति' (श० ४।२।२।२४)। ग्रहस्य ग्रहणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते अथातो गृह्णात्येवेति। दिवो द्युलोकस्य मूर्धानं पृथिव्या अन्तरिक्षस्य अरतिं पर्याप्तमतिं तदभिमानिनीं देवताम् ऋते यज्ञे तन्निमित्तेन आजातमरण्यो-रुत्पन्नं वैश्वानरमग्निं कविं सम्राजं जनानामतिथिं देवा आसन् आस्ये आपात्रं पानसाधनत्वेन अजनयन्त। हे ध्रुवपात्रगत सोमरस, त्वमुपयामगृहीतोऽसि, त्वां वैश्वानरायाग्नये गृह्णामि, त्वं ध्रुवोऽसि, ध्रुवक्षितिः स्थिर-निवासोऽसि, ध्रुवाणां मध्ये ध्रुवतमोऽसि। तस्यैव व्याख्यानम्—अच्युतानामच्युतक्षित्तम इति। अथ एनं व्युह्य न तृणं चनान्तर्धायाव्यवहितायां पृथिव्यां सादयति वैश्वानराय ह्येनं गृह्णाति।

अध्यात्मपक्षे तु—हे सोम, उमया महाशक्त्या सहितः सोमः, तत्सम्बुद्धौ हे सोम, त्वम् उपयामेन यमसमूहसमीपवर्तिना प्रेम्णाऽनुरागेण गृहीतोऽसि वशीकृतोऽसि। ध्रुवोऽसि कूटवन्निर्विकारोऽसि। ध्रुवक्षितिरसि ध्रुवाणामाकाशकालादीनां क्षितिर्निवासभूतोऽसि। ध्रुवाणामात्माकाशादीनां स्थिराणां मध्ये ध्रुवतमः स्थिरतमः, कूटस्थनित्यत्वात्। अनात्मोपाधिसंसृष्टानां परिणामिनित्यत्वेन निरपेक्षध्रौव्यायोगादच्युतानां क्षरणरहितानामात्मा-काशादीनामच्युतक्षित्तमोऽच्युतेष्वात्माकाशादिषु क्षियन्ति निवसन्तीत्यच्युतक्षितो द्रव्यत्व-सत्तासामान्य-अन्त-

---

आदि ने शतपथ ब्राह्मण के अनुसार याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ निर्दिष्ट किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है महाशक्ति उमा के सहित हे शिव, आप यमादि समूह के निकटवर्ती प्रेम, अनुराग के द्वारा वशीकृत हैं, कूटवत् निर्विकार हैं, आकाश, काल आदि ध्रुव पदार्थों के निवासभूत हैं। आत्मा, आकाश आदि स्थिर पदार्थों के मध्य कूटस्थ नित्य होने के कारण स्थिरतम हैं। अनात्मोपाधिसंसृष्ट पदार्थों में परिणामिनित्यता के होने से, उनमें निरपेक्ष स्थिरता के न रहने से क्षरणरहित आत्मा, आकाश आदि के मध्य, अच्युत आत्मकाशादि में रहने

र्याम्यादयः, तेषु श्रेष्ठतमोऽन्तर्यामी अच्युतक्षित्तमः। यद्वा—अच्युता आत्माकाशादयः क्षियन्ति निवसन्ति येषु देशकालाधिष्ठानपरमात्मसु, तेषां मध्ये श्रेष्ठः। एष भोग्यभोक्तृवर्गसमूहस्ते तव योनिरभिव्यक्तिस्थानं गृहमिव निवासस्थानं वा। वैश्वानराय विश्वेषां नराणां हिताय त्वा त्वां ध्रुवं स्थिरं सोमं साम्बसदाशिवं ध्रुवेण निश्चलेन मनसाऽन्तःकरणेन त्वत्स्तोत्रशस्त्रप्रवणया वाचा अवनयामि अनुकूलयामि। अथानन्तरं नोऽस्माकम् इन्द्रः परमैश्वर्यवान् सोम एव विशः प्रजा असपत्नाः शत्रुरहिताः समनसः सहृदयाः करत् करोतु।

अत्र दयानन्दः—'हे परमेश्वर, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। यमानां समूहो यामम्, उपगतं च तद् याममुपयामम्, तेन गृहीतः (शास्त्रप्राप्तनियमसमूहैरिति भाषायाम्), ध्रुवः स्थिरः, ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाः क्षितयो भूमयो यस्मिन्, ध्रुवाणामाकाशादीनां ध्रुवतमोऽतिशयेन ध्रुवः। अच्युतानां कारणजीवानाम् अच्युतक्षित्तमः, अच्युतं क्षियति निवासयति सोऽतिशयितः, एष ते सत्यमार्गप्रकाशस्तव योनिः स्थानमिव, अस्मै वैश्वानराय विश्वेषां नराणां नायकाय सत्यप्रकाशकाय निश्चयं ध्रुवेण निष्कम्पेन मनसा अन्तःकरणेन ध्रुवया वाचा सोमं सकलजगतः प्रसवितारं त्वामवनयामि स्वीकरोमि। अथानन्तरमिन्द्रः सर्वदुःखविदारक इद् एव नोऽस्माकं विशः प्रजा असपत्ना अजातशत्रवः समानं मनः स्वान्तं यासां ताः करत् करोतु' इति, तदसङ्गतमेव, उपयामपदेन यमानां समूहस्य ग्राह्यत्वेऽपि नियमानां ततो भिन्नत्वेन ग्रहीतुमशक्यत्वात्। नहि यमा एव नियमाः, योगशास्त्रेऽहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाणां यमत्वम्, शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानां नियमत्वमुक्तम्। तथा च संक्षेपशारीरकम्—'यमस्वरूपा सकला निवृत्तिस्तथा प्रवृत्तिर्नियमस्वरूपा' इति। अच्युतानां कारणजीवाना-मित्यप्यसङ्गतम्, जीवेषु कारणविशेषणानुपपत्तेः। ते च स्वत एवाविनाशिनः, तत्रातिशयिताविनाशित्वा-निरूपणात्। असपत्ना इत्यस्य अजातशत्रव इत्यर्थोऽप्यसङ्गत एव, अजातशत्रोरपि युधिष्ठिरस्यासपत्नत्वाभावात्। वैश्वानरशब्दस्य विश्वेषां नराणां नायक इत्यर्थोऽपि चिन्त्यः, 'नृ नये' इति निष्पन्नस्य नरशब्दस्य नायकार्थत्वे इतरनरशब्दस्यापेक्षणात्। ध्रुवाः क्षितयो यस्मिन्नित्यप्यशुद्धम्, त्वया पृथिव्याश्चलत्वाभ्युपगमात्॥ २५॥

वाले द्रव्यत्व, सत्तासामान्य, अन्तर्यामिता आदि में सर्वश्रेष्ठ अन्तर्यामी हैं। अथवा आकाशादि अच्युत पदार्थ, देश, काल, अधिष्ठान, परमात्मा में रहते हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं। यह भोग्य-भोक्ताओं का समूह आपका अभिव्यक्तिस्थल है अथवा घर की भाँति निवासस्थान है। समस्त प्राणियों के हितार्थ स्थिर, आप साम्ब सदाशिव को मैं निश्चल अन्तःकरण से स्तोत्र, गुणवर्णन से परिपूर्ण वाणी के द्वारा अनुकूल करता हूँ। इसके अनन्तर हमारे परमैश्वर्यशाली भगवान् साम्ब सदाशिव ही प्रजाओं को शत्रुरहित तथा सहृदय बनावें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में असंगति है, क्योंकि उपयाम शब्द से यमसमूह का ग्रहण हो सकने पर भी यम ही नियम नहीं हो सकते। योगशास्त्र में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को यम एवं शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान को नियम बताया गया है। इसी प्रकार संक्षेपशारीरक में भी समस्त निवृत्ति यमस्वरूपा तथा प्रवृत्ति नियमस्वरूपा कही गई है। 'अच्युत' का अर्थ 'कारणजीव' करना भी असंगत है, क्योंकि जीवों में 'कारण' विशेषण नहीं लग सकता। वे तो स्वभावतः ही अविनाशी हैं। 'असपत्न' शब्द का 'अजातशत्रु' यह अर्थ भी असंगत है। अजातशत्रु युधिष्ठिर भी असपत्न नहीं थे। 'जिसमें पृथिवी स्थिर है' यह अर्थ भी अनुचित है, क्योंकि स्वामी दयानन्द के मत में पृथिवी चल मानी गई है॥ २५॥

यस्ते॑ द्र॒प्सः स्कन्द॑ति यस्ते॑ अ॒ᳪ॒शुर्ग्राव॑च्युतो धि॒षण॑योरु॒पस्था॑त्। अ॒ध्व॒र्योर्वा॒ परि॑ वा॒ यः प॒वित्रा॑त् तं ते॑ जुहोमि॒ मन॑सा॒ वष॑ट्कृत॒ᳪ॒ स्वाहा॑ दे॒वाना॑मुत्क्रम॑णमसि ॥ २६ ॥

'यस्त इति विप्रुषाᳪ होमं जुहोति' (का० श्रौ० ९।६।२९)। अभिषवे होमे च पतितानां सोमबिन्दूनां ग्रहणाशक्यत्वात् स्कन्दनप्रत्यवायपरिहाराय घृतहोमस्य विप्रुड्ढोम इति संज्ञा। तमध्वर्य्वादयः षडपि सकृद्गृहीतमाज्यं प्रचरण्या क्रमेण जुहुयुः। होमात् पूर्वमन्वारम्भपक्षे सर्वे सव्येन पाणिना समन्वारब्धा दक्षिणेन जुहुयुः। न चात्र विप्रुषो हूयन्ते, तेषां ग्रहणाशक्यत्वात्, विप्रुषो जुहोतीत्यश्रवणाच्चेति वृत्तिकारः। प्रतिप्रस्थात्रुद्गात्रादिसहितोऽध्वर्युः केवलो वा विप्रुषां होमं जुहुयादिति काण्वसंहितायां सायणाचार्यः। 'अध्वर्युर्वा' (का० श्रौ० ९।६।३०)। अथवाध्वर्युरेको विप्रुड्ढोमं कुर्यात्, नेतर इति सूत्रार्थः। सौमी त्रिष्टुप्। स्वाहेति यजुरन्ता देवश्रवोदृष्टा। हे सोम, ते त्वदीयो यो द्रप्सो रसो रसैकदेशः स्कन्दति भूमावन्यत्र वा स्तोकः पतति, ते त्वदीयो योंऽशुर्ग्रावच्युतो ग्राव्णः सकाशात् पतितः, योऽधिषवणयोरधिषवणफलकयोरुपस्थाद् उत्सङ्गात् पतितः, योंऽशुरध्वर्योः सकाशात् पाणिभ्यां परिस्कन्दति, परिवायः पवित्रात्, यतः कुतश्चित् परिस्कन्दतीति भावः, मनसा वषट्कृतं सङ्कल्पितं तं तादृशं ते तव त्वदीयमंशुं स्वाहा स्वाहाकारेण जुहोमि। 'वेदितृणे अध्वर्युरादत्ते' (का० श्रौ० ९।६।३१)। स्तीर्णाया वेदेः सकाशाद् द्वे तृणे आददीत। 'अन्यतरत् तृणं चात्वाले प्रास्यतीति' (का० श्रौ० ९।६।३२)। अध्वर्युणा वेदेस्तृणे गृहीते तयोरेकं चात्वाले क्षिपेत्। चात्वालदैवतम्। हे चात्वाल, त्वं देवानामुत्क्रमणमसि, उत्क्रामन्ति गच्छन्ति स्वर्गं यस्मात् तदुत्क्रमणमसि। देवास्त्वत्तः स्वर्गं गच्छन्ति, 'अतो हि देवाः स्वर्गमुपोदक्रामन्' (श० ४।२।५।५) इति श्रुतेः।

अत्र शतपथे विशेषः—'ग्रहान् गृहीत्वा। उपनिष्क्रम्य विप्रुषाᳪ होमं जुहोति तद्यद्विप्रुषाᳪ होमं जुहोति या एवास्यात्र विप्रुषः स्कन्दन्ति ता एवैतदाहवनीये स्वगाकरोत्याहवनीयो ह्याहुतीनां प्रतिष्ठा तस्माद्विप्रुषाᳪ होमं जुहोति' (श० ४।२।५।१)। गतेषु ब्राह्मणेषु प्रातःसवनसम्बन्धिनामुपांश्वादीनां ग्रहाणां ग्रहणं विहितम्। तदनन्तरकर्तव्यं बहिष्पवमानस्तोत्रादिकमत्र वक्ष्यते। तत्र तावदभिषवकाले ग्रहणकाले च स्कन्नानां सोमबिन्दूनां स्कन्दनप्रत्यवायपरिहाराय विप्रुषां होमं विधत्ते—ग्रहान् गृहीत्वोपनिष्क्रम्य विप्रुषां होमं जुहोति। हविर्धानान्निष्क्रम्य विप्रुषामर्थे तत्र स्कन्दनप्रायश्चित्तत्वेन होमं कुर्यात्। यद्यपि जुहोतीत्यनेनैव होमं कुर्यादित्यर्थो लभ्यते, तथापि होममिति पृथगुपात्तत्वाद् जुहोतिना लक्षणया करोत्यर्थो बोध्यते, वाचमवोचदितिवत्। विहितस्य होमस्योपयोगमाह—आहवनीये स्वगाकरोतीति। अस्य सोमस्य या विप्रुषः स्कन्दन्ति विशीर्णा भवन्ति, ता एतेन विप्रुड्ढोमेन आहवनीये स्वगाकरोति। स्वस्थानमाहवनीयं गच्छन्तीति स्वगाः, तादृशीः कृतवान् भवति।

मन्त्रार्थ—हे सोम! पात्र में डालते समय तुम्हारे रस की कुछ बूंदें भूमि पर गिर गई हैं, पत्थर से कूटते समय अभिषव काल में तुम्हारे रस की बूंदें ग्रावच्युत होकर इधर-उधर उड़ती हैं और जो तुम्हारा रस अधिषवण फलक के मध्य से गिरता है, अध्वर्यु के व्यवहार के समय जो कुछ नष्ट हुआ है, तुम्हारे इन सब अंशों को मन से ग्रहण कर उनकी वषट्कार और स्वाहाकार पूर्वक आहुति देता हूँ। हे चात्वाल! तुम देवताओं के स्वर्गगमन के लिये सोपान (सीढ़ी) का काम करते हो ॥ २६ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।६।२८-३२) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'यस्ते द्रप्सः' इस

यत आहवनीयः सर्वासामाहुतीनां प्रतिष्ठायामाधारो भवति, अत उक्तहोमे विप्रुषामाहवनीयं प्रति प्रापणात् स्कन्दनप्रत्यवायो न भवति। 'स जुहोति। यस्ते द्रप्सः स्कन्दति यस्ते अꣳशुरिति यो वै स्तोकः स्कन्दति स द्रप्सस्तस्मात्तमाह यस्ते अꣳशुरिति तदꣳशुमाह ग्रावच्युतोऽधिषवणयोरुपस्थादिति ग्राव्णा हि च्युतो अधिषवणाभ्याꣳ स्कन्दत्यध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रादित्यध्वर्योर्वा हि पाणिभ्याꣳ स्कन्दति पवित्राद्वा तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतꣳ ... हुतमेवमस्यैतद् भवति' (श० ४।२।५।२)। विहितं होममन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— स जुहोति यस्ते द्रप्स इति। स्तोको लग्नो बिन्दुः द्रप्सपदार्थः। द्रप्सपदं तं स्तोकमाह। अभिषवार्थेन ग्राव्णा च्युतः, अधिषवणयोरभिषवफलकयोश्च्युतः, अध्वर्योः पाणिभ्यां च्युतः, अध्वर्योः पवित्राद्वा च्युतस्तम्, यतः कुतश्चिद्वा च्युतस्तं जुहोमि। अत्र वषट्कृतमित्येतदुच्चारणेन सवषट्कारो होम एव भवतीत्यर्थः। हे सोम, ग्राव्णश्च्युतः, अधिषवणयोरुत्सङ्गाच्च्युतः, अध्वर्योः पाणिभ्यां पवित्राद्वा च्युतः, यस्ते अंशुर्द्रप्सः स्तोकः, ते तव सम्बन्धिनं तमंशुं द्रप्सं मनसा वषट्कृतं सन्तं जुहोमि —इदं द्रव्यं स्वाहुतमस्त्विति।

'अथ स्तीर्णायै वेदेः। द्वे तृणे अध्वर्युरादत्ते तावध्वर्यू प्रथमौ प्रतिपद्येते प्राणोदानौ यज्ञस्याथ प्रस्तोता वागेव यज्ञस्याथोद्गाताऽऽत्मैव प्रजापतिर्यज्ञस्याथ प्रतिहर्ता भिषग्वा व्यानो वा' (श० ४।२।५।३)। वैप्रुषहोमानन्तरं बहिष्पवमानार्थमध्वर्युणा तृणयोरादानं प्रथमं विधत्ते अथेत्यादि। 'वेदितृणे अध्वर्युरादत्ते प्रह्वा उदञ्चो गच्छन्ति' (का० श्रौ० ९।६।३१)। स्तीर्णाया वेदेः सकाशाद् द्वे तृणे अध्वर्युराददीत। ते अध्वर्य्वादयः षड् अन्वारब्धा एव नम्रा भूत्वा उदङ्मुखाश्चात्वालस्य दक्षिणतो वेदिमध्ये बहिष्पवमानदेशं गच्छेयुः। तौ यज्ञस्य प्राणापानात्मकावध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ प्रथमौ प्रतिपद्येते गन्तुमुत्क्रामतः, अथानन्तरं यज्ञस्य वागात्मकः प्रस्तोता, अथ यज्ञस्योद्गाता यज्ञाङ्गत्वात् प्रजापतिः। स च यज्ञस्यात्मा मध्यशरीरम्, अथ प्रतिकृत्ता यज्ञस्य भिषक् चिकित्सकः, स च व्यानरूपः। अत्राध्वर्युप्रभृतीनां यज्ञसम्बन्धिप्राणाद्यात्मकत्वकथनेन यज्ञस्य मुख्याङ्गं बहिष्पवमानं प्रति गन्तृत्वे योग्यता प्रदर्शिता। 'तान् वा एतान्। पञ्चर्त्विजो यजमानोऽन्वारभत एतावान् वै सर्वो यज्ञो यावन्त एते पञ्चर्त्विजो भवन्ति पाङ्क्तो वै यज्ञस्तद् यज्ञमेवैतद्यजमानोऽन्वारभते' (श० ४।२।५।४)। यजमानेनाध्वर्युप्रभृतीनां स्पर्शनं विधत्ते— तान् वा एतानिति। एते पञ्चर्त्विजो यावन्तो यावत्परिमाणयुक्ताः, सर्वो यज्ञ एतावान् तत्परिमाणयुक्तः। एते पञ्चर्त्विज एव सकलो यज्ञः, तेषां यज्ञसम्बन्धिप्राणाद्यात्मकत्वेनाभिधानात्। 'अथान्यतरत् तृणं चात्वालमभिप्रास्यति देवानामुत्क्रमणमसीति यत्र वै देवा यज्ञेन स्वर्गं लोकꣳ समाश्नुवत त एतस्माच्चात्वालादूर्ध्वाः स्वर्गं लोकमुपोदक्रामंस्तद् यजमानमेवैतत् स्वर्ग्यं पन्थानं संख्यापयति' (श० ४।२।५।५)। सूत्राणि च ब्राह्मणानुसारीण्येव। अध्वर्य्वादिगमनानन्तरमुपात्तयोस्तृणयोरन्यतरत् चात्वालमभिप्रास्यति देवानामिति मन्त्रेण। तदर्थस्तु—हे चात्वाल, त्वं देवानामुत्क्रमणमसि स्वर्गं प्रत्युत्क्रमणसमयेऽधिकरणमसि। तृणप्रक्षेपस्योपयोगमाह—यत्र वा इति। तेन देवानामुत्क्रमणसीति मन्त्रमुच्चार्य चात्वाल तृणप्रक्षेपेण यजमानमेव स्वर्ग्यं स्वर्गप्राप्तिहेतुभूतं पन्थानमनुसंख्यापयति ज्ञापयति, संख्यातेरत्र ज्ञानार्थत्वात्।

'अथान्यतरत् तृणं पुरस्तादुद्गातॄणामुपास्यति तूष्णीमेव स्तोमो वा एष प्रजापतिर्यदुद्गातारः स इदꣳ सर्वं युत इदꣳ सर्वꣳ सम्भवति तस्मा एवैतत्तृणमपिदधाति तथो हाध्वर्युं न युते नैनꣳ सम्भवत्यथ यदा जपन्ति जपन्ति ह्यत्रोद्गातारः' (श० ४।२।५।६)। अवशिष्टस्य तृणस्य विनियोगं दर्शयति अथेति। स्तोमो वेति स्तोत्र-साधनभूतानामृचां सङ्घः स्तोमः। तेन च यज्ञो निष्पद्यत इति स्तोम एव एष प्रजापतिर्यज्ञः। स्तोमनिष्पादकाना-

---

कण्डिका के मन्त्रों से भूमि पर गिरे हुए सोमबिन्दुओं के दोष के निराकरण के लिये 'विप्रुट्' संज्ञक घृताहुति तथा वेदि-

मुद्गातॄणामपि कार्यकारणाभेदविवक्षया स्तोमत्वम्। प्रजापतिः स इदं सर्वं प्रपञ्चं युते मिश्रयति एकीकरोति, 'यु मिश्रणामिश्रणयोः'। एकीकृत्य च इदं सर्वं स्वयं सम्भवति। एतत्सर्वमात्मन्येव निधाय कारणात्मनाऽवतिष्ठत इत्यर्थः। तस्मादेतत्तृणप्रक्षेपेण प्रजापत्यात्मकानामुद्गातॄणामात्मनश्च मध्ये व्यवधानं सम्पादयति। एवं च प्रजापतिरध्वर्युं न मिश्रयति। तेन तस्य स्वरूपनाशो न भवति। कालविशेषे स्तोत्रोपकरणं समन्त्रकं विधत्ते—अथ यदा जपन्तीति। यदा यस्मिन् काले जपन्ति, तदा सोमः पवत इत्यनेन स्तोत्रमुपाकुर्याद् आरम्भयेत्। जपन्ति ह्यत्रोद्गातार इत्यनेन बहिष्पवमानप्रदेशे जपः प्रसिद्ध इति दर्शितम्। यतो ब्रह्मक्षत्राद्यर्थं सोमः पवते, अतस्तं पवमानं सोमस्तुत्या समर्धयितुमुपक्रमध्वमित्यर्थः। अत एव—'उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे' (वा० सं० ३३।६२) इति श्रूयते। अत्रैवानेकाभिः कण्डिकाभिर्बहिष्पवमानस्तोत्रेण स्वर्गलोकप्राप्तिरुक्ता। बहिष्पवमानस्तुतौ नौरूपत्वमुक्तम्। अत्र स्वर्ग्यायां नावि ऋत्विज एव स्फ्याश्चारित्राश्च भवन्ति, स्फ्या इति स्फ्याकाराः केचन तरणसाधनविशेषाः, अरित्रास्तरणसाधनभूता वंशाः, ते च स्वर्गस्य लोकस्य सम्पारणाः स्वर्गलोकप्रापका इति। नौर्वा एषा स्वर्ग्या यद्बहिष्पवमानम्। तस्या ऋत्विज एव स्फ्याश्चारित्राश्चेति। तत्र यः कुतश्चित् कारणाद् निन्द्यो जनः सर्व एव, तस्याः पवमानात्मिकाया नावो मज्जयिता। यथा लोकेऽनिन्द्यैः पूर्णां नावमारुह्य निन्द्यो मज्जयेत्, तथैव निन्द्यो बहिष्पवमाननावं मज्जयति। स न केवलं बहिष्पवमानात्, किन्तु कृत्स्नाद्यज्ञादेव सर्वथा परिहरणीयः' (श० ४।२।५।७-१०)।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, यस्ते स्तोकः, अंशुः खण्डः, खण्ड इवांशभूतो जीवः, स्कन्दति कर्मानुसारेण भूमावन्यत्र वा क्षरति पतति गच्छति, यश्च त्वदीयोंऽशो भोग्यवर्गगतो ग्रावच्युतो ग्राव्णः सकाशात् च्युतोऽधिषवणफलकयोः पवित्रादुत्सङ्गादध्वर्योर्वा सकाशात् स्कन्दति ग्रावाधिषवणाध्वर्यूपलक्षिताद् यज्ञात् फलरूपेण स्कन्दति, तं भोक्तृवर्गं भोग्यवर्गं च सङ्कल्पितमिव तुभ्यं स्वाहाकारेण जुहोमि समर्पयामि। भोक्तृभोग्यप्रपञ्चस्य सर्वस्यैव भगवति प्रविलापनेन तन्मात्रताभावनमेव हि मुख्यमुपासनम्। तदुपासनमेव सम्बोध्य कथयति—हे उपासने भक्ते वा, त्वं देवानामुत्क्रमणमसि देवानां द्योतमानानां भक्तानां भगवन्तं प्रति यदूर्ध्वगमनं तत्प्रति साधनमसि।

दयानन्दस्तु—'हे यज्ञपते, यस्ते द्रप्सो यज्ञपदार्थसमूहः स्कन्दति, अन्यान् प्रति गच्छति, वायुना सह सर्वत्र गच्छति, यश्च ते ग्रावच्युतो ग्राव्णो मेघाच्च्युतोंऽशुः संविभागः 'ग्रावेति मेघनामसु पठितम्' (निघ०),

---

तृण के ग्रहण की विधि अनुष्ठित की जाती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सायणाचार्य आदि ने याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ किया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे साम्ब सदाशिव, जो आपका अंशभूत जीव अपने कर्मों के अनुसार पृथ्वी पर अथवा अन्यत्र लोकों में जाता है तथा आपका जो भोग्य वर्ग के अन्तर्गत अंश अधिषवण फलक के पावन आधार से, अथवा अध्वर्यु से निर्गत होता है, अर्थात् अधिषवण तथा अध्वर्यु से लक्षित यज्ञ से फलरूप से निर्गत होता है, उस भोक्ता-समूह तथा भोग्यसमूह को संकल्प की भाँति मैं स्वाहाकार के द्वारा आपके प्रति समर्पित करता हूँ। सम्पूर्ण भोक्तृ-भोग्यसमूह को भगवान् में लीन करने के उपरान्त तन्मात्रताभाव ही मुख्य उपासना होती है। उस उपासना को सम्बोधित करते हुए भक्त कहता है कि हे उपासना अथवा भक्ति, तुम विद्योतमान भक्तों की भगवान् के प्रति ऊर्ध्वगमन की साधनरूपा हो।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ विसंगत तथा अप्रामाणिक ही नहीं, अस्पष्ट भी है। द्रप्स का अर्थ 'यज्ञपदार्थ

धिषणयोः पवित्रादुपस्थाद् द्यावापृथिव्योः। 'धिषणे इति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम्' (निघ० ३।३०)। पवित्राद् उपस्थात् समीपस्थादध्वर्योर्वा होत्रादीनां समुच्चये शुद्धगुणानां वा समुच्चये, सकाशात् परितो वा प्रकाशते, तस्मात् तमहं स्वाहा सत्यवाचा मनसा सुविचारेण वषट्कृतं सङ्कल्पितमिव जुहोमि, तत्फलदानेन तुभ्यं प्रयच्छामि। यतस्त्वं यज्ञानुष्ठाता देवानामाप्तानाम् उत्क्रमण ऊर्ध्वक्रमणतेज इवासि' इति, तदपि विसङ्गतमस्पष्टं च, निर्मूलत्वात्। द्रप्सो यज्ञपदार्थसमूहस्त्वयोच्यते, ब्राह्मणे तु द्रप्सः स्तोक इत्युक्तम्। 'स्कन्दति वायुना सह सर्वत्र गच्छति' इत्यपि निर्मूलम्। 'अध्वर्योः सकाशात् परितो वा प्रकाशते' इत्यत्र प्रकाशत इति कस्य शब्दस्यार्थः ? किञ्च, कोऽयं तत्फलप्रदानेन प्रयच्छति ? न जीवः, तस्य फलप्रदानेऽसामर्थ्यात्। नेश्वरः, तस्याप्रसङ्गात्। यत्र यज्ञो न भवति तत्रापि मेघच्युतो जलबिन्दुर्दृश्यते, तत्कुतस्तस्य यज्ञहेतुकत्वं सम्भवति ? प्रकाशभूम्योरुपस्थाद् उत्सङ्गात् समीपस्थाद्वा यज्ञकर्तृभ्यो वा यः प्रकाशते, तं यज्ञं ते तुभ्यं सत्यवाचा मनसा एव सङ्कल्पितमिव जुहोमि प्रयच्छामीत्यस्य कथं सङ्गतिः ? द्यावापृथिवीभ्यां कथं यज्ञः प्रकाशते ? भाषाभाष्य उक्तम् —'फलदायकत्वात् तुभ्यं तं पदार्थं सङ्कल्पितमिव प्रेषयामि। यदर्थं यज्ञस्यानुष्ठाता त्वं देवानां विदुषा-मूर्ध्वश्रेणीप्राप्तैश्वर्यसमानोऽसि, एतस्मात् तुभ्यं सुखं प्राप्यते' इत्यादिकम्, तत्सर्वमपि दयानन्दीयं भाष्यं सर्वथाप्यसम्बद्धमेव ॥ २६ ॥

प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २७ ॥

'ग्रहानवेक्षयति यथागृहीतमवकाशान् वाचयन् प्राणाय म इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० ९।७।८)। ग्रहणक्रमेणाध्वर्युर्यजमानेन ग्रहानवेक्षयति प्राणाय म इत्यवकाशसंज्ञान् मन्त्रान् प्रतिमन्त्रं यजमानं वाचयन्।

समूह' किया गया है, परन्तु ब्राह्मण में द्रप्स का अर्थ अल्प है। 'स्कन्दति' का अर्थ 'वायु के साथ सर्वत्र जाता है' यह भी निर्मूल है। फलप्रदान के द्वारा देने वाला कौन कहा गया है ? जीव नहीं है, क्योंकि वह फलप्रदान में असमर्थ है। ईश्वर भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसका प्रसंग यहाँ नहीं है। द्यावापृथिवी के द्वारा यज्ञ कैसे प्रकाशित होता है ? इस प्रकार सम्पूर्ण व्याख्यान सर्वथा अप्रासंगिक है ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—ये ग्रह यज्ञ के प्राण हैं, इस कारण हम इनकी प्राणरूप से स्तुति करते हैं। हे उपांशु ग्रह ! तुम स्वभाव से तेज को देने वाले हो, इस कारण मेरे हृदय में स्थित प्राण वायु का तेज बढ़ाओ। हे उपांशु सवन ! तुम स्वभाव से कान्ति देने वाले हो, मेरी व्यान वायु की कान्ति बढाओ। हे अन्तर्याम ग्रह ! तुम कान्ति देने वाले हो, मेरी उदान वायु की कान्ति को बढाओ। हे वायव ग्रह ! तुम स्वभाव से ही कान्तिप्रद हो, मेरी वाणी की कान्ति को बढाओ। हे मैत्रावरुण ग्रह ! तुम स्वभाव से ही कान्ति देने वाले हो, मेरी कामना और समृद्धि तथा कार्य करने की निपुणता को बढाओ। हे आश्विन ग्रह ! तुम स्वभाव से ही कान्ति देने वाले हो, मेरी श्रवण शक्ति को बढाओ। हे शुक्र और मन्थिग्रह ! तुम स्वभाव से ही कान्तिप्रद हो, मेरी नेत्रसम्बन्धी कान्ति को बढाओ ॥ २७ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।७।८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'प्राणाय मे' इस

आदावुपांशुग्रहावेक्षणम् । लिङ्गोक्तदैवतान्येकादश यज्ञस्यैते प्राणास्तान् प्राणरूपेण दर्शयति—प्राणायेति । हे उपांशो, यस्त्वं स्वभावत एव वर्चोदा तेजोदाः, स त्वं मे मम प्राणाय हृदयस्थिताय पवस्व प्रवर्तस्व उपांशुसवनम्, व्यानाय मे सर्वशरीरगाय वायवे पवस्व । अन्तर्याममाह—उदानाय मे कण्ठस्थाय वायवे वर्चोदा वर्चसे पवस्व । ऐन्द्रवायवं वागिन्द्रियाय मैत्रावरुणं क्रतुदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्य । क्रतुः कामः, दक्षस्तस्य समृद्धिः, ताभ्यां तद्द्वयसाधनरूपाय वर्चसे पवस्व । आश्विनं ग्रहमवेक्षयन्नाह—श्रोत्राय श्रोत्रेन्द्रियाय हे वर्चोदसौ वर्चःप्रदौ शुक्रामन्थिनौ, मे मम चक्षुषोः पाटवाय तद्रूपाय वर्चसे युवां पवेथां प्रवर्तेथाम् ।

शतपथे तत्स्पष्टम्—'स उपाꣳशुमेव प्रथममवकाशयति । प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वे''त्यथैन्द्रवायवं वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथ मैत्रावरुणं क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथाश्विनꣳ....चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवेथामिति' (श० ४।५।६।२) । अध्वर्युग्रहानवकाशाद् यजमानस्तु सप्राणं कृत्स्नं यज्ञं जनयित्वा येन कुरुते । प्राणाय म इत्यादिभिर्मन्त्रैरात्मानमेव प्रजापतिं करोति । सोऽध्वर्युराश्विनं ग्रहं गृहीत्वा अवकाशा उपांश्वादयः, तानवकाशयति अवेक्षयति । यजमानोऽवेक्षत इति तत्र सायणाचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—'हे परमेश्वर, त्वं स्वभावत एव वर्चोदा तेजसो दाता, स त्वं मे प्राणाय हृदयस्थित-वायोर्वर्चसे तेजस्वित्वाय पवस्व अस्मान् प्रवर्तयस्व । हे परमेश्वर, त्वं वर्चोदा असि । मे व्यानाय व्यानवायो-र्बलवत्त्वरूपाय वर्चसे पवस्य प्रवर्तयस्व । तथैव हे परमेश्वर, त्वं वर्चोदा भवसि, तस्मान्मे उदानाय उदानस्य विशिष्टशक्तिमत्त्वाय मे वर्चोदा पवस्व । तथैव वाचे वागिन्द्रियाय वाक्समृद्धिसाधनभूताय वर्चसे पवस्व । हे उमामहेश्वरौ, युवां वर्चोदसौ विविधतेजसो दातारौ क्रतुदक्षाभ्यां कामतत्समृद्धिसाधनभूताय वर्चसे पवेथां प्रवर्तयेथाम् । तत्तच्छक्तिविशिष्टस्य परमेश्वरस्यैव प्राणादीनां शक्तिमत्त्वरूपेभ्यस्तेभ्यो वर्चोभ्यः प्रवर्तयितृत्वं सम्भवति । अत एवान्ते वर्चोदसाविति द्विवचनेन शक्तिशक्तिमन्तौ उमामहेश्वरौ वर्चोदातृत्वेनोक्तौ ।

दयानन्दस्तु—'हे वर्चोदा, वर्चो यथायोग्यं प्रकाशं ददातीति वर्चोदाः, अध्येतरध्यापक, त्वं मे मम प्राणाय हृदयस्थवायवे वर्चसे विद्याप्रकाशाय पवस्व पवित्रतया प्राप्नुहि। हे वर्चोदा, मे मम दीप्तिप्रदो जाठराग्नि-

---

कण्डिका के 'अवकाश' संज्ञक मन्त्रों से अध्वर्यु यजमान को ग्रहपात्रों का अवलोकन कराता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप स्वभावतः ही तेज प्रदान करने वाले हैं । आप मेरे हृदयस्थित प्राणवायु की तेजस्विता के लिये मुझे प्रवर्तित करें । हे परमेश्वर, आप तेजोदाता हैं, अतः मेरे व्यानवायु के सबल होने के लिये मुझे प्रवर्तित करें । आप उदानवायु को विशिष्ट शक्तिमान् होने के लिये प्रवृत्त करें । इसी प्रकार वागिन्द्रिय के लिये वाक्समृद्धि के साधनभूत तेजहेतु प्रवृत्त करें । हे उमा एवं महेश्वर, आप दोनों विविध तेजों के प्रदाता हैं । आप काम तथा उसकी समृद्धि के साधनभूत तेज के लिये मुझे प्रवृत्त करें । उन उन शक्तियों से विशिष्ट परमेश्वर का ही प्राणादिशक्तिमान् रूपों के उन उन तेजों के लिये प्रवर्तक होना सम्भव है । अतः अन्त में द्विवचन से शक्ति एवं शक्तिमान्, उमा तथा महेश्वर ही तेजोदाता के रूप में उपदिष्ट किये गये हैं ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में निर्मूल कल्पनाओं की अधिकता के कारण अग्राह्यता है । 'वर्चोदा' शब्द से अध्येता तथा अध्यापक का अर्थ ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है । प्राण के लिये वेदविद्या का प्रकाश कैसे

रिव व्यानाय सर्वशरीरगतवायवे वर्चसे पवस्व। हे वर्चोदा वर्चो विद्याबलं ददातीति, ममोदानाय वर्चसे अन्नाय पवस्य। हे वर्चोदा, मे वाचे वर्चसे पवस्व। हे वर्चोदा सत्यवक्तृत्वप्रद, मम क्रतुदक्षाभ्यां यज्ञबलाभ्यां वर्चसे यागलभ्याय पवस्व। हे वर्चोदा विज्ञानप्रद, वर्चसे शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानाय श्रोत्राय शब्दज्ञानाय वर्चसे पवस्व उपदिश। हे वर्चोदसौ सूर्याचन्द्रमसौ अतिथ्यध्यापकौ, युवां मम चक्षुर्भ्यां वर्चसे पवेथाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलकल्पनाबाहुल्यात्। 'वर्चोदाः' इत्यनेन अध्येत्रध्यापयित्रोर्ग्रहणे मानाभावात्। अध्येत्रध्यापकयोः प्रयत्नेनान्यस्य प्राणवायवे कथं वेदविद्याप्रकाशः? कथं च प्राणाय वेदविद्याप्रकाशः? प्रकाशस्य बुद्धिधर्मत्वात्। तदर्थं च प्रार्थयितुः पवित्रतया वर्तनमपेक्षितम्। तथैव वर्चोदा इत्यनेन सत्यवक्तृत्वप्रदः कथं गृह्यते? तथैव शब्दज्ञानदो वर्चोदा इत्यपि निर्मूलमेव। न वा नेत्राभ्यां शुद्धसिद्धान्तप्रकाशः सम्भवति, तयो रूपमात्रप्रकाशत्वात्। शतपथश्रुतिव्याख्यानविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ २७ ॥

आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २८ ॥

आग्रयणं ग्रहं दर्शयन् ममात्मने जीवस्य स्वास्थ्याय वर्चसे पवस्य। उक्थ्यम् ओजः सर्वेन्द्रियपाटवं शारीरं बलं वा तद्रूपाय वर्चसे पवस्व। ध्रुवमवेक्षयन् आयुषे, आयुर्निर्दोषजीवनम्, तद्रूपाय वर्चसे पवस्व। पूतभृदाहवनीयौ युगपदवेक्षते—हे पूतभृदाहवनीयौ, युवां वर्चोदसौ तेजोदातारौ, विश्वाभ्यः सर्वाभ्यो मम प्रजाभ्यः प्रजार्थं यद्वर्चस्तदर्थं पवेथाम्। सर्वत्र ददातेरसुन्प्रत्ययेन वर्चोदा वर्चोदसा इति सिद्धिः। यद्वा प्राणायेत्यादिचतुर्थीनां षष्ठ्या विपरिणामः। तेन प्राणापानादीनां यद्वर्चस्तदर्थं पवस्वेति। यद्वा यो ग्रहस्तं यज्ञं प्राणाय वर्चोदाः स मे वर्चसे ब्रह्मवर्चसाय पवस्वेति। एवं सर्वत्र। शतपथे च—'अथाग्रयणम्। आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथोक्थ्यमोजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथ ध्रुवमायुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वेत्यथाम्भृणौ विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथामिति वैश्वदेवौ वा अम्भृणावतो हि देवेभ्य उन्नयन्त्यतो मनुष्येभ्योऽतः पितृभ्यस्तस्माद् वैश्वदेवावम्भृणौ' (श० ४।५।६।३)। अम्भृणौ पूतभृदाहवनीयौ, अत आभ्यां देवेभ्य उन्नयन्ति सोमयागार्थमत एव मनुष्येभ्यः पितृभ्यश्च। अत एव वैश्वदेवौ अम्भृणौ।

हो सकता है? क्योंकि प्रकाश बुद्धि का धर्म है। इसी प्रकार 'वर्चोदा' इस शब्द से 'सत्यवक्तृत्वप्रद' यह अर्थ कैसे लिया जा सकता है? इसी प्रकार 'शब्दज्ञानप्रद' अर्थ करना भी अप्रामाणिक है। नेत्रों से शुद्ध सिद्धान्त का प्रकाश नहीं होता, क्योंकि वे तो केवल रूप के प्रकाशक हैं। शतपथ श्रुति का विरोध तो इस व्याख्या में स्पष्ट ही है ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—हे आग्रयण ग्रह! तुम स्वभाव से ही कान्तिप्रद हो, मेरी आत्मा सम्बन्धी कान्ति को बढाओ। हे उक्थ ग्रह! तुम स्वभाव से ही कान्ति देने वाले हो, मेरे शारीरिक बल की कान्ति को बढाओ। हे ध्रुव ग्रह! तुम स्वभाव से ही कान्ति देने वाले हो, मेरी आयु सम्बन्धी कान्ति को बढाओ। हे पूतभृत् आहवनीय ग्रह! तुम स्वभाव से ही कान्तिप्रद हो, मेरी सम्पूर्ण प्रजा वर्ग की कान्ति को बढाओ ॥ २८ ॥

भाष्यसार—'आत्मने मे' इस कण्डिका का याज्ञिक विनियोग भी पूर्वोक्त की भाँति है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वं वर्चोदा असि। आत्मने ममात्मने प्रत्यगात्मने, अनात्मतादात्म्यनिवृत्त्या ब्रह्मतादात्म्यप्राप्तिलक्षणाय स्वास्थ्यरूपाय वर्चसे पवस्व ओजसे निष्ठादार्ढ्यलक्षणाय बलाय पवस्व, आयुषे जमदग्निकश्यपादीनामिव निर्दोषपवित्रजीवनलक्षणाय वर्चसे पवस्व। विश्वाभ्यः सर्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो देवमनुष्यादिभ्यो हितार्थं यद्वर्चस्तस्मै, हे भवानीशङ्करौ वर्चोदसौ! वर्चोदातारौ पवेथां प्रवृत्तिं कुरुतम्।

दयानन्दस्तु 'हे वर्चोदा योगब्रह्मविद्याप्रद विद्वन्! त्वं ममात्मने इच्छादिगुणसमवेताय स्वस्वरूपाय मे वर्चसे निजात्मप्रकाशाय पवस्व प्रापय। हे वर्चोदा विद्याप्रद, ओजसे आत्मबलाय पवस्व विज्ञापय। आयुषे जीवनाय मे वर्चोदा बलप्रदवर्चसे रोगापहारकायौषधाय पवस्व गमय। हे वर्चोदसौ न्यायप्रकाशकौ सर्वाधिष्ठातारौ सभापतिन्यायाधीशाविव योगारूढजिज्ञासू! युवां मे वर्चसे सद्गुणप्रकाशाय विश्वाभ्यः समस्ताभ्यः प्रजाभ्यः पालनीयाभ्यः पवेथां प्रापयेथाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः। तथाहि वर्चोदा इति न विशेष्यवाचकं पदम्, किन्तु विशेषणवाचकम्, तथात्वेऽनेकार्थावबोधकत्वायोगात्। न च न्यायप्रकाशकाभ्यां सभापतिन्यायाधीशाभ्यां योगारूढजिज्ञास्वोः सादृश्यम्। यथाकथञ्चित् तादृशार्थबोधने त्वदभिप्रायविपरीतार्थविबोधनमपि सम्भवति, त्वदीयमतखण्डनपरायणौ कौचन विद्वांसावपि वर्चोदसौ वक्तुं शक्येते। अत्रापि शतपथविरोधः स्पष्टः ॥ २८ ॥

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम। भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳪं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ २९ ॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप तेजःप्रद हैं। मेरी प्रत्यगात्मा को अनात्मतादात्म्य की निवृत्ति के द्वारा ब्रह्मतादात्म्य की प्राप्तिरूपी स्वास्थ्यात्मक तेज के लिये प्रवर्तित करें। निष्ठा की दृढतारूपी बल के लिये, जमदग्नि तथा कश्यप आदि महर्षियों की भाँति निर्दोष एवं पवित्र जीवनरूपी तेज के लिये प्रवृत्त करें। हमारी समस्त प्रजाओं, देव-मनुष्य आदि के हित के लिये जो तेज है, उस तेज को प्रदान करने वाले हे उमामहेश्वर! आप दोनों प्रवृत्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ असंगति के कारण अग्राह्य है। 'वर्चोदा' यह पद विशेष्यवाचक नहीं है, अपितु विशेषणवाचक है। ऐसा होने पर उसका अनेक अर्थों का बोधक होना असंगत है। न्यायप्रकाशक सभापति एवं न्यायाधीश से योगारूढ तथा जिज्ञासु की समानता भी नहीं है। जिस किसी प्रकार से उस प्रकार के अर्थ का बोधन होने पर तो स्वयं इसी मत के विपरीत अर्थ का भी बोधन सम्भव है। इसमें शतपथ श्रुति का विरोध स्पष्ट ही है ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे द्रोण कलश! तुम कौन् प्रजापति हो, कौन से समूह में तुम रहते हो? किस प्रजापति के हो? तुम्हारा क्या नाम है? तुम्हारे जिस नाम को लेकर हम तुमको सोम रस से तृप्त कर चुके हैं, क्या तुम वही हो? हमको अपना नाम बता कर कामना से तृप्त करो। हे अग्नि, वायु और सूर्य! आप लोगों के प्रसाद से मैं अच्छी प्रजा से सम्पन्न होऊँ, वीरतायुक्त पुत्र, पौत्र आदि को प्राप्त कर सुपुत्रवान् विख्यात होऊँ, उत्कृष्ट धन-सम्पत्ति से सम्पन्न होकर अच्छी सम्पत्ति वाला विख्यात होऊँ ॥ २९ ॥

'कोऽसीति द्रोणकलशम्' (का० श्रौ० ९।७।११)। कोऽसीति वाचयन् द्रोणकलशमवेक्षयेत्। प्राजापत्या वर्धमानोष्णिक्। यस्याः प्रथमः पादः षडक्षरो द्वितीयः सप्ताक्षरस्तृतीयोऽष्टाक्षरश्चतुर्थो नवाक्षरः, सा त्रिंशद्वर्णा वर्धमानोष्णिक्, अध्यस्तप्रजापतिद्रोणकलशदेवत्या। हे द्रोणकलश, त्वं कः अनिरुक्तः प्रजापतिरसि। कतमोऽसि अतिशयेन कः प्रजापतिरिति कतमः असि अनन्यभूतः प्रजापतिना। कस्यासि प्रजापतेरनन्यभूतोऽसि। को नामासि प्रजापतिनामासि। वयं यस्य तव नाम अभिधानम् अमन्महि विजानीमः। ज्ञानार्थको मनधातुः। यं च त्वां सोमेन अतीतृपामस्तर्पितवन्तः, सोऽस्मान् विदितनाम्नः प्रख्याताभिधानान् कुरु तर्पय चाभीष्टकामैः। 'भूर्भुवः स्वरिति जपतीति' (का० श्रौ० ९।७।१२)। यजमानो भूर्भुवः स्वरिति जपति। हे भूर्भुवः स्वः, व्याहृतित्रयदेवा अग्निवायुसूर्याः, प्रजाभिरहं सुप्रजाः शोभनप्रजायुक्तो भवेयम्। वीरैः पुत्रैः सुवीरः स्याम्। पोषैर्धनादिपुष्टिभिः सुपोषः शोभनधनपोषो भवेयम्।

शतपथे च –'अथ द्रोणकलशम्। कोऽसि कतमोऽसीति प्रजापतिर्वै कः कस्यासि को नामासीति प्रजापतिर्वै को नाम यस्य ते नामामन्महीति मनुते ह्यस्य नाम यं त्वा सोमेनातीतृपामेति तर्पयति ह्येनꣳ सोमेन स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वाऽन्वङ्गमाशिषमाशास्ते तर्पयति सुप्रजाः प्रजाभिः स्यामिति तत्प्रजामाशास्ते सुवीरो वीरैरिति तद्वीरानाशास्ते सुपोषः पोषैरिति तत्पुष्टिमाशास्ते' (श० ४।५।६।४)। सोमेनेत्यन्तं स्पष्टम्। स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा समर्थाचरणेन यजमानोऽन्वङ्गं प्राणतां प्राणादीनां पश्चादङ्गेषु कल्पितेषु स लब्धात्मकः सन् आशिषमाशास्ते भूर्भुवः स्वरिति। 'तान् वै न सर्वमिवावकाशयेत्। यो न्वेव ज्ञातस्तमवकाशयेद्यो वास्य प्रियः स्याद्यो वानूचानोऽनूक्तेनैनान् प्राप्नुयात् स आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा कृत्स्नं यज्ञं जनयति तं कृत्स्नं यज्ञं जनयित्वा तमात्मन् धत्ते तमात्मन् कुरुते' (श० ४।५।६।५)। उपांश्वादिभिः सम्बन्धादवकाशानां सर्वप्रयोगविषये प्राप्ते ज्ञातादिप्रयोग एव व्यवस्थाप्यते। यो न्वेव ज्ञातः शुच्याभिजनतया यो वाऽध्वर्योः प्रियोऽतिशयेन यो वानूचानो वेदार्थानुवचनसमर्थोऽनूक्तेनानुवचनेन विद्ययैव एनान् उपांश्वादिरूपान् प्राणान् प्राप्नुयात्। अन्यस्त्वनवकाशित एव यजमान आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा कृत्स्नं यज्ञं जनयति। तदा हि प्राणैर्ग्रहैर्योजितो भवतीत्यभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—लोके यस्य वस्तुनः कश्चन विशिष्टोऽधिकारी न भवति, तद्वस्तु देशाधिपतेः शासकस्य भवति यथा, तथैव यानि नामानि तैस्तैर्व्यक्तिविशेषैः गृहीतसङ्गतिकानि तानि विशिष्टव्यक्तिसम्बन्धीनि, यानि न तथा तानि परमेश्वरस्यैव नामानि। सर्वनामानि च सर्वैः सम्बद्धानि। सर्वं च कार्यकारणाभेदेन ब्रह्मात्मकमेव भवति। तस्मादेव 'प्रजापतिर्वै कः प्रजापतिर्वै को नाम' (श० ४।५।६।४) प्रजापतिरत्र परमेश्वर एव।

भाष्यसार—'कोऽसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से द्रोणकलश का अवलोकन तथा यजमान द्वारा मन्त्रजप आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।७।१३-१४) में निरूपित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—जिस प्रकार संसार में जिस वस्तु का कोई विशेष अधिकारी नहीं होता, वह वस्तु उस देश के स्वामी, शासक की होती है। उसी प्रकार जो नाम व्यक्तिविशेषों के द्वारा संगृहीत हैं, वे विशिष्ट व्यक्तियों से सम्बद्ध हैं। जो इस प्रकार के नहीं हैं, वे परमेश्वर के ही नाम हैं। सर्वनाम सबके साथ सम्बद्ध हैं। 'सर्व' कार्यकारण के अभेद से ब्रह्मात्मक ही होता है। अतः हे सोम, तुम प्रजापति हो, परमेश्वर हो। अन्यत्र ग्रहों का तथा

तस्माद् हे सोम, त्वं कोऽसि प्रजापतिरसि परमेश्वरोऽसि, कतमोऽसि औपचारिकमपि प्रजापतित्वं ग्रहाणां यजमानानामपि तत्र तत्रोक्तमस्ति, तद्व्यावृत्तये कतमोऽसि अतिशयेन प्रजापतिरसीति प्रोक्तम्। एतत्प्रयोगेण निरुपचरितप्रजापतित्वं त्वय्येव विद्यत इत्यर्थः सम्पन्नः। कस्यासि प्रजापतेरेव स्वरूपभूतोऽसि। राहोः शिर इतिवदभेदेऽपि भेदोपचारात् षष्ठी। को नामासि प्रजापतिनामासि। यस्य प्रजापतेः परमेश्वरस्य ते तव नाम अमन्महि निरन्तरं चिन्तयामः। यं त्वा त्वां सोमेन अमृतात्मकेन सोमरसेन अतीतृपामस्तर्पयामः। हे भूर्भुवः स्वः सर्वस्वरूप ! (अर्थाद् भूरादयो लोकास्तत्रत्यानि वस्तूनि तदधिष्ठातारश्च त्वमेवासि), अहं साधकस्त्वत्प्रसादात् त्वदीयाभिः प्रजाभिः सुप्रजाः, त्वदीयैर्वीरैः सुवीरः, त्वदीयैः पोषैः सुपोषः स्याम्। प्रजापत्यभेदसाक्षात्कारेण त्वदीयानि वस्तूनि सर्वाणि मदीयानि सम्पद्यन्तामित्यर्थः। यद्वा भवन्तं सोमं साम्बसदाशिवं प्रति प्रश्नः—हे देव ! त्वं कोऽसि ? 'को भवानुग्ररूपः' (भ० गी० ११।३१) इति विश्वरूपं प्रति धनञ्जयप्रश्नवत्। कतमोऽसि जीवेश्वरजगतां मध्ये कतमोऽसि। को नामासि, यस्य ते नाम वयममन्महि विजानीमश्चिन्तयामः, यं च त्वामतीतृपामस्तर्पयामः। एवं पृष्टो भगवानाह—भूर्भुवः स्वः, लोकत्रयोपलक्षितसर्वस्वरूपोऽहमित्यर्थः। भवति सर्वं जगदस्मादिति भूः सर्वोत्पादकोऽस्मि, भूत्वा वसति सर्वं जगदस्मिन्निति भुवर्विश्वस्थितिहेतुरहम्, स्वः स्वरति लयं गच्छति सर्वं यस्मिन् स विश्वप्रलयाधारश्चाहमेवेत्यर्थः। अहमेव सर्वाभिः प्रजाभिः सुप्रजाः, सर्वैर्वीरैः सुवीरः, सर्वैः पोषैः सुपोषः। अहं सर्वस्वरूपः परमात्मा। भूर्भुवः स्वरिति व्याहृतयो मम नामानि। जीवेश्वरजगतां मध्ये परमेश्वर एवाहम्। अहमेव च सर्वस्य धाता माता संहर्ता सर्वाभीष्टपूरक इत्युत्तरम्।

दयानन्दस्तु—'सभ्यसेनास्थप्रजाजना वयम् ! त्वं कोऽसि, कतमोऽसि, कस्यासि, को नामासि, किंनाम्ना प्रसिद्धोऽसि ! यस्य ते नाम वयममन्महि, यं त्वा सोमेनातीतृपामेति पृच्छामो ब्रूहि। तान् प्रति सभापतिराह—भूर्भुवः स्वर्लोकसुखमिवात्मसुखमभीप्सुरहं युष्माभिः प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः सुवीरः, पोषैः सुपोषश्च स्यामिति

यजमानों का भी औपचारिक प्रजापतित्व कहा गया है। उसकी निवृत्ति के लिये कहा गया है—तुम अतिशयरूप से प्रजापति हो। इस शब्द के प्रयोग से 'निरुपचरित प्रजापतित्व तुममें ही है' यह अर्थ निष्पन्न होता है। तुम प्रजापति के भी स्वरूपभूत हो। यहाँ 'राहु के सिर' की भाँति अभेद होने पर भी भेदोपचार में षष्ठी है। तुम 'प्रजापति' नाम वाले हो। जिस परमेश्वर के नाम का हम निरन्तर मनन करते हैं, जिसको हम अमृतात्मक सोमरस से सन्तृप्त करते हैं, हे सर्वस्वरूप ! मैं साधक आपकी कृपा से आपकी प्रजाओं के द्वारा सुप्रजावान्, वीरों से सुवीरवान्, पोषण से सुपुष्ट होऊँ।

अथवा भगवान् साम्ब सदाशिव के प्रति प्रश्न है कि हे देव ! आप कौन हैं ? जीव, ईश्वर तथा जगत् के मध्य आप कौन हैं ? किस नाम के हैं ? आपके जिस नाम को हम जानते हैं, जिसका मनन करते हैं और आपको सन्तृप्त करते हैं। इस प्रकार प्रश्न करने पर भगवान् उत्तर देते हैं कि मैं भूः लोक आदि सर्वस्वरूप हूँ। भूः, अर्थात् सर्वोत्पादक हूँ। भुवः, अर्थात् विश्व की स्थिति का कारण हूं। स्वः, अर्थात् विश्वप्रलय का आधार हूँ। मैं ही समस्त प्रजाओं से प्रजावान्, समस्त वीरों से सुवीर तथा समस्त पोषणों से सुपुष्ट हूँ। मैं सर्वस्वरूप परमात्मा हूँ। भूः, भुवः, स्वः—ये तीनों व्याहृतियाँ मेरे नाम हैं। जीव, ईश्वर तथा जगत् में मैं परमेश्वर ही हूँ। मैं ही सबका विधाता, निर्माता, संहरणकर्ता, सर्वाभीष्टपूरक हूँ।

स्वामी दयानन्द के द्वारा वर्णित अर्थ में प्रश्नकर्ता कौन है ? तथा उत्तरदाता कौन है ? इसका समाधान न होने के कारण विसंगति है। नाम आदि से संबद्ध प्रश्नों के तदनुरूप ही उत्तर होने चाहिये। आम के सम्बन्ध में पूछे जाने पर

प्रतिजाने' इति, तदपि विसङ्गतमेव, के प्रष्टारः के च प्रतिवक्तार इत्यनिर्णयात्। किञ्च, नामादिविषयाणां प्रश्नानां तदनुगुणैरेव प्रतिवचनैर्भाव्यम्। नह्याम्रान् पृष्टः कोविदारान्निवेदयन्नवधेयवचनो भवति। नहि भूर्भुवः स्वर्लोकसुखमभीप्सुरहं युष्माभिः प्रजाभिः सुप्रजाः स्यामित्यादिभिरुत्तरैः प्रश्नः समाधीयते। भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्राक्षरासम्बद्ध एवेति सर्वत्रोपेक्ष्यते। तस्मात् शतपथादिसम्मतं पूर्वोक्तं व्याख्यानमेवादरणीयमिति ॥ २९ ॥

उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वोपयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वोपयामगृहीतोऽसि शुक्राय त्वोपयामगृहीतोऽसि शुचये त्वोपयामगृहीतोऽसि नभसे त्वोपयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वोपयामगृहीतोऽसीषे त्वोपयामगृहीतोऽस्यूर्जे त्वोपयामगृहीतोऽसि सहसे त्वोपयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वोपयामगृहीतोऽसि तपसे त्वोपयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वोपयामगृहीतोऽस्यᳬहसस्पतये त्वा ॥ ३० ॥

'ऋतुग्रहैश्चरतो द्रोणकलशादुपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वेति द्वादश प्रतिमन्त्रमध्वर्योः पूर्वः पूर्वो मन्त्र उत्तर उत्तरः प्रतिप्रस्थातुः' (का० श्रौ० ९।१३।१-३)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ उपयामगृहीतोऽसि मधवे

कचनार से सम्बद्ध उत्तर देने वाला समझदार नहीं होता। भूर्भुवः आदि उत्तरों से यहाँ प्रश्न का समाधान नहीं होता। भावार्थ तो सर्वथा मन्त्र के शब्दों से असम्बद्ध है। अतः शतपथब्राह्मण आदि से संमत पूर्वोक्त व्याख्या ही समुचित है ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्रथम ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हुए हो, मधु (चैत्र) मास की प्रीति के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे द्वितीय ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हुए हो, वैशाख मास की संतुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे तृतीय ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हुए हो, ज्येष्ठ मास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे चतुर्थ ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हुए हो, आषाढ़ मास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे पंचम ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, श्रावण मास की प्रीति के लिये तुमको गृहीत करता हूँ। हे षष्ठ ऋतुग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, भाद्रपद मास की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। हे सप्तम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, आश्विन मास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे अष्टम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, कार्तिक मास की प्रीति के लिये तुमको ग्रहण करसा हूँ। हे नवम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, मार्गशीर्ष मास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे दशम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र द्वारा गृहीत हो, पौष मास की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। हे एकादश ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, माघ मास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे द्वादश ऋतु ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, फाल्गुन मास की प्रीति के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे त्रयोदश ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, पाप के अधिपति मलमास की सन्तुष्टि के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ ॥ ३० ॥

भाष्यसार- 'उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वा' इत्यादि कण्डिका के अन्तर्गत तेरह मन्त्रों के द्वारा अध्वर्यु तथा

त्वेत्यादिभिर्द्वादशमन्त्रैः प्रतिमन्त्रं द्रोणकलशाद् द्वाभ्यामृतुग्रहपात्राभ्यामुभयतोमुखाभ्यां रसं द्वादश गृह्णीतः, न सादयतो नात्रानुवषट्कारः। षण्णां मन्त्रयुग्मानां त्वेत्यादीनां मध्येऽध्वर्योः पूर्वः पूर्वः, उत्तर उत्तरः प्रतिप्रस्थातुः। द्वादश लिङ्गोक्तानि दैवतानि। हे सोम, त्वमुपयामग्रहगृहीतोऽसि। त्वां मधवे मधुसंज्ञकाय चैत्रमासाय गृह्णामि। द्वितीयः—माधवाय वैशाखाय त्वां गृह्णामि। तृतीयः—शुक्राय ज्येष्ठमासाभिमानिदेवतायै त्वां गृह्णामि। चतुर्थः शुचये आषाढमासाभिमानिदेवतायै त्वां गृह्णामि। पञ्चमः नभसे श्रावणमासाभिमानिदेवतायै त्वां गृह्णामि। षष्ठः—नभस्याय भाद्रपदमासाय त्वां गृह्णामि। सप्तमः—इषे आश्वयुजमासाय त्वां गृह्णामि। अष्टमः—ऊर्जे एतन्नामकाय कार्तिकमासाय हे सोम त्वां गृह्णामि। नवमः सहसे मार्गशीर्षमासाय हे सोम त्वां गृह्णामि। दशमः—सहस्याय सहस्यनाम्ने पुष्यमासाय त्वां गृह्णामि। एकादशः—तपसे माघमासाय हे सोम त्वां गृह्णामि। द्वादशः—तपस्याय फाल्गुनमासाय त्वां गृह्णामि। 'त्रयोदशं गृह्णीयादिच्छन्नुपयामगृहीतोऽस्य꣡ꣳहस्पतये त्वा' (का० श्रौ० ९ १३।१४)। यद्यनुष्ठातुरिच्छा स्यात् तदाध्वर्युस्त्रयोदशं ग्रहं गृह्णीयात्। यदि नेच्छा स्यात्तदा न गृह्णीयादित्यैच्छिको विकल्पः। अंहसस्पतये, अंहतेर्गतिकर्मणः सन्प्रत्ययान्तस्य रूपम्। अंहसां गतीनां पतिस्त्रयोदशो मास आदित्यगतिवशाज्जायते। यद्वा अंहः पापं तस्य पतिरंहसस्पतिः। तस्मै हे सोम, त्वां गृह्णामि। सोम एव सर्वत्र तत्तन्मासाभिमानिनीभिर्देवताभिर्गृह्यते तत्तन्मासनामभिरिति सायणाभिप्रायः।

उव्वटमहीधराचार्यरीत्या—मधुमाधवौ वासन्तिकौ। तत्र मधुप्रमुखमन्नं वसन्ते उत्पद्यत इति मधुमाधवौ मासौ। शुक्रशुची ग्रीष्ममासौ, 'शुच शोषणे' इति धातोः। शुक्रो ज्येष्ठमासो भवति शुचिराषाढः। नभस्यौ वार्षिकौ मासौ। न भात्यत्र सूर्यो मेघबाहुल्यादिति नभाः, नभस्यश्च। इषे ऊर्जे इति शारदौ मासौ। इषमन्नम्, ऊर्जं तदुपसेचनं दध्यादि प्राचुर्येण यत्रोत्पद्यते, अभेदोपचाराद् आश्वयुक्कार्तिकौ मासा उच्येते। सहः सहस्याविति हैमन्तिकौ मासौ, प्रसहनार्थस्य सहते रूपत्वात्। सहते ह्यसौ शीतेनाभिभवति जनानिति सहः, प्रसहनमभिभवनम्। तपस्तपस्यौ शिशिरौ। तपति (शुष्यति) सूर्यो यत्रात्यन्तं स तपस्तपस्यश्च।

शतपथे चैतद् व्याख्याविशेषः—'अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णात्युपयामगृहीतोऽसि माधवाय त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव वासन्तिकौ स यद्वसन्त ओषधयो जायन्ते वनस्पतयः पच्यन्ते तेनो हैतौ मधुश्च माधवश्च' (श० ४।३।१।१४)। चैत्रवैशाखयोर्मधुमाधवनामधेयप्राप्तिं दर्शयति—तावेव वासन्तिकाविति। उक्तौ मासौ वासन्तिकौ। वसन्ते माधुर्यरसहेतुभूता ओषधयो जायन्ते, वनस्पतयः पच्यन्ते परिपक्वा भवन्ति, परिपाके च माधुर्यरसोत्पत्तेरुपभोगयोग्या भवन्ति, तस्मात्तत्सम्बन्धी मासो मधुमासः। मधुरेण माधवः। स्वार्थिकोऽण्प्रत्ययः। यद्वा मधुमासस्यायमनन्तरभावी माधवः। 'तस्येदम्' (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यण्। 'उपयाम""शुक्राय त्वेत्यध्वर्युर्गृह्णाति""शुचये त्वेति प्रतिप्रस्थातैतावेव ग्रैष्मौ स यदेतयोर्बलिष्ठं तपति तेनो हैतौ शुक्रश्च शुचिश्च' (श० ४।३।१।१५)। एतौ मासावेव ग्रैष्मौ ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिनौ। एतयोर्मासयोः सूर्योऽपि बलिष्ठमत्यन्तं तपति। शोचते शुष्यति यतस्तस्मात् शुक्रः शुचिरिति नामधेयम्। 'उपयाम""नभसे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णाति""नभस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थाता एतावेव वार्षिकावमुतो वै दिवो वर्षति तेनो हैतौ नभश्च नभस्यश्च' (श० ४।३।१।१६)। अमुतो दिवो नभसः सकाशाद्वर्षति। तेन मासावपि नभोनभस्यौ। 'उपयाम"' इषे त्वेत्येवाध्वर्युः"' ऊर्जे त्वेति प्रतिप्रस्थाता एतावेव शारदौ यच्छरद्यदूर्ग्रस ओषधयः पच्यन्ते तेनो हैताविषश्चोर्जश्च'

प्रतिप्रस्थाता द्रोणकलश से रस का ग्रहण करते हैं। अन्तिम मन्त्र द्वारा रसग्रहण में इच्छानुसार वैकल्पिकता है। यह याज्ञिक

(श० ४।३।१।१७)। ऊर्जशब्दस्यैवार्थकथनम्—ओषधय इति। अनेनान्नस्योत्पत्तिः सूच्यते। इडन्नम्, तदस्मिन्नस्तीतीषः, ऊकशब्दाभिधेयोऽन्नरसश्च, तदस्मिन्नस्तीत्यूर्जः। मत्वर्थीयोऽकारप्रत्ययः। इषे ऊर्जे इति ग्रहणमन्त्रयोस्तु हलन्तयोरेव तयोश्चतुर्थ्यन्तनिर्देशः। 'उपयाम···सहसे त्वेत्येवाध्वर्युः···सहस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थाता एतावेव हैमन्तिक स यद्धेमन्त इमाः प्रजाः सहसेव स्वं वशमुपनयते तेनो हैतौ सहश्च सहस्यश्च' (श० ४।३।१।१८)। हेमन्तौ इमाः प्रजाः शीताधिक्यात् स्ववशं नीत्वाऽभिभवतीवेति सहः सहस्यश्च तदीयौ मासौ। 'उपयाम···तपसे त्वेत्येवाध्वर्युर्गृह्णाति···तपस्याय त्वेति प्रतिप्रस्थाता एतावैव शैशिरौ स यदेतयोर्बलिष्ठꣳ श्यायति तेनो हैतौ तपश्च तपस्यश्च' (श० ४।३।१।१९)। एतयोर्मासयोर्बलिष्ठं श्यायति तपति शुष्यति सूर्यः। 'उपयामेति अꣳहसस्पतये त्वेति त्रयोदशं ग्रहं गृह्णाति यदि त्रयोदशं गृह्णीयादथ प्रतिप्रस्थाताऽध्वर्योः पात्रे सꣳस्रवमवनयत्यध्वर्युर्वा प्रतिप्रस्थातुः पात्रे सꣳस्रवमवनयत्याहरति भक्षम्' (श० ४।३।१।२०)। त्रयोदशग्रहणपक्षे मन्त्रमाह—उपयामेति। होमानन्तरमध्वर्योः पात्रे प्रतिप्रस्थातुर्वा पात्रे शेषमवनयेत्। संस्रवशेषमाहरति यस्मिन् पात्रे शेषोऽवनीयते तत्रत्यं भक्षणाय सोमं सदः प्रत्याहरतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, सोमोऽमृतात्मकं निवेदनीयं द्रव्यम्, मधवे चैत्राधिष्ठात्रे देवाय त्वा गृह्णामि। एवं तत्तन्मासाधिष्ठातृदेवेभ्यो निवेदनीयसोमादिद्रव्ये चैत्रादिमासाधिदेवतर्पणेन तन्नियतानां तत्फलभूतानां समेषां वस्तूनां परमेश्वरोपासनाशेषत्वापत्त्या परमपुरुषार्थसाधनत्वोपपत्तिः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्मात् त्वां मधवे वयं स्वीकुर्मः। सभापतिराह—हे प्रजा-सभा-सेनाजनाः, यतो युष्माकं प्रत्येक उपयामगृहीतोऽस्ति, तस्मादेकैकं त्वा मधवेऽहं स्वीकरोमि। इत्थं सर्वत्र योजना कार्या' इति, भाषाभाष्ये तु—'हे राजन्, त्वं शोभनै राज्यप्रबन्धनियमैः स्वीकृतोऽसि, अतस्त्वा मधवे चैत्रमासप्रसिद्धसकलसुखकारकव्यवहाराय त्वां स्वीकुर्मः। तदुत्तररूपेण सभापतिराह—हे प्रजा-सभा-सेनाजनाः, युष्माकं प्रत्येकः शोभनैर्नियमैः स्वीकृतः, तस्मात् चैत्रमासलभ्यसुखाय त्वां स्वीकरोमि' इति, तदुभयमपि साहसमात्रम्, तादृशाभ्यूहे मानाभावात्, मधुपदस्य तादृशार्थबोधने सामर्थ्याभावात्, मन्त्रावृत्तेर्निर्मूलत्वात्। राजप्रजाजनादिसंवादोऽपि निर्मूल एव। शतपथश्रुतिविरोधस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव॥ ३०॥

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१३।१-४,१८) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उव्वट, महीधर तथा सायण आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्या की है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे सोम, अमृतात्मक नैवेद्य वस्तु, तुमको चैत्र मास के अधिष्ठाता देव के लिये ग्रहण करता हूँ। इसी प्रकार उन उन मासों के अधिष्ठाता देवों के लिये निवेदनीय सोम आदि द्रव्यों में चैत्र आदि मासों के अधिदेवताओं के तर्पण के द्वारा उनमें नियत तथा उनमें फलरूप समग्र वस्तुओं का परमेश्वर की उपासना में अंगत्व सम्पन्न हो जाने पर परम पुरुषार्थ की साधनता सिद्ध हो जाती है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में की गई कल्पनाओं के सम्बन्ध में कोई प्रमाण न होने के कारण वह केवल दुस्साहस ही है। मधु शब्द की शक्ति भाष्योक्त अर्थ में नहीं है। मन्त्रावृत्ति भी निर्मूल है। राजा एवं प्रजाजन आदि का संवाद भी मूलरहित है। शतपथ श्रुति का विरोध तो स्पष्ट ही है॥ ३०॥

इन्द्राग्नी आगतꣳ सुतं गीर्भिर्नभोवरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा ॥ ३१ ॥

'ऐन्द्राग्नं गृह्णाति' (का० श्रौ० ९।१३।१६)। होमानन्तरमध्वर्युः स्वपात्रस्थितं सोमं प्रतिप्रस्थातृपात्रे निनयति, प्रतिप्रस्थाता च स्वपात्रस्थितं सोममध्वर्योः पात्रे निनयति । एवं करणेन यद्रिक्तमन्यतरस्य पात्रं तेन प्रतिप्रस्थाता द्रोणकलशात् पूतभृतो वा परिप्लवया ऐन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति । ऐन्द्राग्नी गायत्री विश्वामित्रस्यार्षम् । हे इन्द्राग्नी, युवां सुतमभिषुतं सोमं प्रति, आगतम् आगच्छतम् । कथंभूतं सोमम् ? गीर्भिः स्तुतिरूपाभिर्वाग्भिः, जुष्टमिति शेषः । नभोवरेण्यं, नभःस्थितैः स्वर्गतिभिर्देवैर्वरेण्यं संभजनीयम्, नभःपदेन नभस्था देवा लक्षणया बोध्यन्ते । यद्वा नभोवदादित्यवद्वरेण्यम्, 'नभ आदित्यो भवति,''''नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः (नि० २।१४) इति यास्कवचनात् । लुप्तोपमानं चैतत् । अस्य सोमस्य सम्बन्धिनं स्वकीयमंशं पातं युवां पिबतम् । कीदृशौ युवाम् ? धिया अस्मद्बुद्ध्या इषितौ प्रार्थितौ । हे सोम, उपयामेन पात्रेण गृहीतो भवसि । हे ग्रह, इन्द्राग्निभ्यां त्वां गृह्णामि । एष खरप्रदेशस्ते योनिः स्थानम् । इन्द्राग्निभ्यां त्वां सादयामि ।

'अथ प्रतिप्रस्थाताऽभक्षितेन पात्रेण । ऐन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति तद्यदभक्षितेन पात्रेणैन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति न वा ऋतुग्रहाणामनुवषट्कुर्वन्त्येतेभ्यो वा ऐन्द्राग्नं ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति तदस्यैन्द्राग्नेनैवानुवषट्कृता भवन्ति' (श० ४।३।१।२१)। भक्षाहरणानन्तरमैन्द्राग्नस्य ग्रहणं विधत्ते—अथेति । पात्रगतसोमशेषस्याभक्षितत्वात् पात्रमप्यभक्षितमित्युपचर्यते । अभक्षितपात्रेणैन्द्राग्नग्रहणे कारणमाह—तद्यदिति । अनुवषट्कारे कृते ऋतूनामपवर्गः स्यादिति तद्यागेऽनुवषट्कारो निषिद्धः—'नानुवषट्करोति नेदृतूनपवृणजै' (श० ४।३।१।८) इति । तस्मादस्य यज्ञस्य सम्बन्धिन ऋतुग्रहा ऐन्द्राग्नेनैव ऐन्द्राग्नग्रहस्यानुवषट्कारेणैवानुवषट्कृता भवन्ति । एतेभ्य ऋतुग्रहेभ्य ऐन्द्राग्नं ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति । तत्राभक्षितेन पात्रेणैतस्य ग्रहणमन्तरेण न सम्भवतीति तेन गृह्णीयादित्यर्थः । 'यद्वेवैन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति' (श० ४।३।१।२२) इत्यादिना तत्प्रशंसनम् । योऽध्वर्युर्ऋतुग्रहानग्रहीत् स इदं सर्वं प्रजनय्य एतद् ऐन्द्राग्नग्रहणेन प्राणापानयोः प्रतिष्ठापयति । ननु कथं प्राणापानयोः प्रतितिष्ठतीति तत्रोच्यते—नात्र प्राणोदानशब्दाभ्यामुदानप्राणवृत्तिभेदौ विवक्षितौ । इन्द्राग्न्योः प्राणोदानात्मकत्वाद् द्यावापृथिव्योरिन्द्राग्नित्वम् । तत्र च सर्वं जगत् प्रतिष्ठितमेव । तस्मादैन्द्रग्रहणं प्रशस्तमिति (श० ४।३।१।२३) इत्यत्र स्पष्टम् । 'अथातो गृह्णात्येव । इन्द्राग्नी आगतꣳ सुतं गीर्भिर्नभोवरेण्यम् अस्य पातं धियेषिता उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वैष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वेति सादयतीन्द्राग्निभ्याꣳ ह्येनं गृह्णाति' (श० ४।३।१।२४)। विहितं ग्रहणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—इन्द्राग्नी आगतमिति ।

मन्त्रार्थ—हे इन्द्राग्नी देवताओं ! तुम ऋक्, यजुः, साम के अभिषवण मन्त्रों से आदित्य के समान प्रार्थनीय हो, सोम रस के पान के लिये यहाँ आओ, यजमान की बुद्धि से प्रार्थनीय होकर तुम इस सोम रस के अपने भाग का पान करो । हे चौबीसवें ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, इन्द्राग्नी देवता की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ । हे इन्द्राग्नी ग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है, इन्द्राग्नी देवताओं की प्रीति के निमित्त तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३१ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१३।१६) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'इन्द्राग्नी आगतम्' इस ऋचा के द्वारा प्रतिप्रस्थाता द्रोणकलश अथवा पूतभृत् पात्र से ऐन्द्राग्न ग्रह का ग्रहण करता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्राग्नी रामलक्ष्मणौ, इन्द्रवदैश्वर्यशालित्वादग्निवत् शत्रुदाहकत्वाच्च। युवां सुतं सम्पादितं प्रेम्णा निर्मितं सोमं भक्तोपहृतनैवेद्यमभिलक्ष्यागतमागच्छतम्। कीदृशं सोमम्? गीर्भिर्मन्त्ररूपाभिः स्तुतिरूपाभिश्च वाग्भिः स्तुतं पूतं वा। नभोवत् सूर्यवद्वरेण्यं संभजनीयं प्रार्थनीयं नभःस्थैर्देवैः प्रार्थनीयं वा, भगवन्नैवेद्यस्य निर्गुणत्वेन (गुणातीतत्वेन) वेदैर्देवैश्च वन्दितत्वात्। हे इन्द्राग्नी, युवामस्य सोमस्य सारतमं भागं पातं पिबतम्। कीदृशौ युवाम्? धिया मदायया भक्तिस्नेहयुतया बुद्धचा इषितौ प्रेरितौ प्रार्थितौ। सोमं चाह—हे सोम, त्वमुपयामेन यमसमूहसमीपस्थितेनानुरागेण गृहीतोऽसि। इन्द्राग्निभ्यां पूर्वोक्तश्रीराम-लक्ष्मणाभ्यां त्वां गृह्णामि।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजनौ, युवामिन्द्राग्नी इव प्रकाशमाना आगतम्। गीर्भिः सुशिक्षिताभिर्वाग्भि-रस्मभ्यं वरेण्यं नभः सुखम्, नभ इति साधारणनामसु (निघ० १।४)। सुतं सुनुतम्, धियेषिता धिया प्रज्ञया कर्मणा वा इषितौ प्रार्थितौ, युवामस्य नभसः पातं रक्षतम्। तावाहतुः—हे प्रजाजन, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। त्वामिन्द्राग्निभ्यां स्वीकृतं वयं मन्यामहे—एष राजन्याय ते योनिरस्ति। त्वामिन्द्राग्निभ्यां चेतयामहे' इति, भाषाभाष्ये तु 'हे सूर्याग्निवत् प्रकाशमानौ राजप्रजाजनौ, युवामागतम्। गीर्भिः शिक्षिताभिर्वाग्भिर्वरेण्यं सुखं सुतमुत्पादयतम्। इषितौ प्रेरितौ प्रार्थितौ युवां धिया प्रज्ञया राजशासनकर्मणा वा अस्य नभः सुखं पातम्। तावाहतुः त्वं प्रजाजनस्य धर्मैर्नियमैः स्वीकृतोऽसि। त्वामिन्द्राग्निभ्यां वयं तथैव मन्यामहे। एष राजन्यस्ते योनिः। इन्द्राग्निभ्यां त्वां वयं चेतयामहे। राजशासनं प्रकाशयामहे' इति, तत्सर्वमपि सर्वथाऽसङ्गतम्, वेदार्थ-बाह्यत्वात्। 'इन्द्राग्नी' इत्यस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। किञ्च, राजप्रजाजनाभ्यामन्ये क इमे प्रार्थयितारः? राष्ट्रे तदन्यस्यासत्त्वात्। न च वाग्भिरेव सुखमुत्पद्यते, साधनसापेक्षत्वात्। राज-प्रजाजनौ कं प्रत्याहतुः? नहि प्रजाजनं प्रत्याहतुरिति सम्भवति, अंशत आत्माश्रयत्वापातात्। 'त्वामिन्द्राग्निभ्यां वयं तथैव मन्यामहे' इत्यत्र इन्द्राग्निपदाभिलप्यौ राजप्रजाजनौ चेत्, तर्हि त्वामिति पदाभिलप्यः कः? वक्तारश्च के? न चेन्द्राग्नी वक्तारौ, 'इन्द्राग्निभ्यां वयं मन्यामहे' इत्यसङ्गतेः। किञ्च, मन्यामहे चेतयामह इति कस्य पदस्य व्याख्यानम्? मन्त्रे तादृगर्थबोधकपदाभावात्। अतः सर्वथापि बालभाषितमेतत्॥ ३१॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—इन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली तथा अग्नि के समान शत्रुदाहक हे श्रीराम तथा लक्ष्मण, आप दोनों प्रेम से निर्मित एवं भक्त द्वारा समर्पित नैवेद्य के सम्मुख पधारें। यह नैवेद्य मन्त्ररूपिणी तथा स्तुतिरूपा वाणियों से पवित्र, सूर्य के समान अभिलषणीय है, अथवा नभोमण्डल में स्थित देवताओं के द्वारा प्रार्थनीय है, क्योंकि भगवान् का नैवेद्य गुणातीत होने के कारण वेदों तथा देवों से वन्दित होता है। हे श्रीराम लक्ष्मण, मेरी भक्ति-स्नेह से युक्त बुद्धि से प्रार्थित आप दोनों इस नैवेद्य का सारतम भाग ग्रहण करें। नैवेद्य के प्रति कहते हैं—हे नैवेद्य, तुम अनुराग के द्वारा संगृहीत हो। श्रीराम तथा लक्ष्मण के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या वेदार्थ से बहिर्भूत होने के कारण सर्वथा असंगत है। 'इन्द्राग्नी' शब्द का अर्थ उस प्रकार से करने में कोई प्रमाण भी नहीं है। राजा तथा प्रजाजनों से अतिरिक्त ये प्रार्थना करने वाले कौन हैं? क्योंकि राष्ट्र में इन दोनों से अतिरिक्त और कोई नहीं होता। मात्र वाणियों से सुख उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह साधन की अपेक्षा रखता है। 'मन्यामहे चेतयामहे' यह किस शब्द की व्याख्या है? क्योंकि मन्त्र में इस अर्थ के वाचक शब्द का अभाव है। अतः यह सर्वांशतः बालक की भाँति किया गया व्याख्यान है॥ ३१॥

आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् । येषामिन्द्रो युवा सखा । उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा ॥ ३२ ॥

अग्नीन्द्रदेवत्या गायत्री विशोकदृष्टा । ऐन्द्राग्नग्रहे विकल्पः शाखान्तरे । ये यजमाना इष्टिपशुसोमादिभिर्यज्वानः, अग्निमा इन्धते आदीपयन्ति । घेत्यनर्थको निपातः । ये चानुषग् आनुपूर्व्येण क्रमेण, 'आनुषगिति नामानुपूर्व्यस्यानुषक्तं भवति' (निरु० ६।१४) इति निरुक्तवचनात् । बर्हिः स्तृणन्ति आच्छादयन्ति । येषां युवा जरामरणरहित इन्द्रः सखा मित्रं भवति । हे सोम, तेषां सम्बन्धिनि यज्ञे उपयामेन ग्रहेण गृहीतोऽसि । त्वामग्नीन्द्रदेवताभ्यामर्थे गृह्णामि । एष ते स्थानं त्वां सादयामि ।

अध्यात्मपक्षे—ये यज्वानः, अग्निमा इन्धते आदीपयन्ति, ये चानुपूर्व्येण क्रमेण बर्हिः स्तृणन्ति आच्छादयन्ति, येषां च युवा जरामरणादिरहित इन्द्रः कृष्णः सखा स्नेहवानुपकारकः, हे सोम निवेदनीय ! तेषां यज्ञे त्वं ग्रहेण गृहीतः, अग्नीन्द्रबलकृष्णदेवतार्थं त्वां गृह्णामि । एष ते योनिः । अग्नीन्द्राभ्यां त्वां सादयामि ।

दयानन्दस्तु 'ये वेदपारगा विद्वांसः सभासदो वा अग्निविद्युदादिकं घेन्धते प्रदीपयन्ति, येषां विदुषामानुषग् अनुकूलतया बर्हिरन्तरिक्षम् आस्तृणन्ति यन्त्रादिना आच्छादयन्ति, युवा तरुणावस्थ इन्द्रः सभापतिः सखा सुहृदस्ति, यस्त्वमग्नीन्द्राभ्यामुपयामगृहीतोऽसि, तं त्वा प्राप्ता वयमग्नीन्द्राभ्यां त्वामुपदिशामः' इति, तदप्यसङ्गतम्, असामञ्जस्यात् । तथाहि—नहि विद्वांसः सभासदोऽग्निं यन्त्रादिनाच्छादयन्ति, तेषां शासनादिकार्येऽधिकृतत्वात् । 'उपदिशामः' इत्यपि निर्मूलम्, मन्त्रे तादृशपदाभावात् ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—जो यजमान अग्नि को इष्टि आदि यज्ञों में प्रज्वलित करते हैं और क्रम से कुशाओं को बिछाते हैं तथा जिनके सदा तरुण रहने वाले इन्द्र सखा हैं, वे सदा निष्पाप हैं । हे सोम ! उनके यज्ञ में तुम उपयाम पात्र से गृहीत हो, अग्नि और इन्द्र देवता के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । हे सोम ! यह तुम्हारा स्थान है, अग्नि और इन्द्र देवता के निमित्त तुम्हे यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३२ ॥

भाष्यसार—'आ घा ये' इस ऋचा का याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ऐन्द्राग्न ग्रह के ग्रहण में विनियोग किया गया है । तदनुसार अर्थ भी वर्णित है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—जो यजनशील जन अग्नि का आदीपन करते हैं, जो क्रमपूर्वक बर्हिस्तरण आदि करते हैं तथा जरामरण आदि से विरहित श्रीकृष्ण जिनके सखा, स्नेहशील उपकारक हैं, उनके यज्ञ में हे नैवेद्य ! तुम ग्रहण किये गये हो । बलराम एवं श्रीकृष्ण देव के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । यह तुम्हारा स्थान है । उन देवों के लिये तुमको यहाँ रखता हूँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ असमंजस होने के कारण असंगत है । विद्वान् सभासद् यन्त्र आदि के द्वारा अग्नि को नहीं ढकते, क्योंकि वे शासन आदि कार्यों में ही अधिकृत हैं । 'उपदेश करते हैं' यह कहना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि मन्त्र में ऐसा कोई पद नहीं है ॥ ३२ ॥

ओमा॑सश्चर्षणीधृतो॒ विश्वे॑देवास॒ आग॑त । दा॒श्वाᳪ सो॑ दा॒शुष॑: सु॒तम् । उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑ ए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑: ॥ ३३ ॥

वैश्वदेवी गायत्री मधुच्छन्दोदृष्टा । 'वैश्वदेवं गृह्णाति, शुक्रपात्रेण द्रोणकलशादन्वारब्धे वौमास इति' (का० श्रौ० ९।१४।१-२) । अध्वर्युर्यजमानेन स्पृष्टेऽस्पृष्टे वा सति द्रोणकलशात् सकाशात् शुक्रपात्रेण वैश्वदेवं सोमं गृह्णाति । मन्त्रार्थस्तु हे विश्वेदेवाः, यूयम् आगत आगच्छत अस्मद्यज्ञं प्रति । कीदृशा यूयम् ? ओमासः, अवन्तीत्योमासः, अवितारो वा अवनीया वा' (निरु० १२।४०) इति यास्कोक्तेः । तर्पयितारस्तर्पणीया वा । अवतेर्मनिन्प्रत्यये 'ज्वरत्वर....' (पा० सू० ६।४।२०) इत्यूठि गुणे जसोऽसुकि च कृते ओमास इति रूपम् । तथा चर्षणीधृतः । चर्षणिशब्दस्य संहितायां दीर्घः । चर्षणयो मनुष्यास्तान् धरन्ति पुष्णन्तीति, तैर्वा ध्रियन्ते ते चर्षणीधृतः । अनिष्टनिवारणं रक्षणम्, अभीष्टप्रापणं पोषणम्, इत्यवधारणयोर्भेदान्न पौनरुक्त्यम् । तथा सुतमभिषुतं सोमं दाशुषो दत्तवतो यजमानस्य दाश्वांसः फलं दत्तवन्त इति महीधराचार्यः । यद्वा दाश्वांसश्चेतसा दत्तवन्तः, इदं नामास्माभिरस्मै देयमिति कृतसङ्कल्पा भूत्वाऽस्य दाशुषो यागदानादिकरणशीलस्य दत्तवतो यजमानस्यैतं सुतमभिषुतं सोमं पातुमागच्छत, इत्याशास्महे इत्युव्वटाचार्यः । हे सोम ! त्वमुपयामगृहीतोऽसि, विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामि । एष ते योनिः । विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां सादयामि ।

शतपथे-- 'अथ वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । सर्वं वा इदं प्राजीजनद्य ऋतुग्रहानग्रहीत् स यद्धैतावदेवाभविष्यद्यावत्यो हैवाग्रे प्रजाः सृष्टास्तावत्यो हैवाभविष्यन्न प्राजनिष्यन्त' (श० ४।३।१।२५) । ऐन्द्राग्नग्रहग्रहणानन्तरं वैश्वदेवग्रहस्य ग्रहणं सार्थवादं विधत्ते-- सर्वं वा इदं प्राजीजनदिति । यदि ऋतुग्रहग्रहणान्तमेवाभविष्यत्, तदा यावत्यः प्रजा अग्रे पूर्वं सृष्टास्तावत्य एवाभविष्यन्, न तु ततः परं प्रजाः प्राजनिष्यन्त । 'अथ यद् वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति । इदमेवैतत् सर्वमिमाः प्रजा यथायथं व्यवसृजति तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्तं प्रजायन्ते शुक्रपात्रेण गृह्णात्येष वै शुक्रो य एष तपति तस्य ये रश्मयस्ते विश्वेदेवास्तस्माच्छुक्रपात्रेण गृह्णाति' (श० ४।३।१।२६) । वैश्वदेवस्य ग्रहणेन इदमेव सर्वं यथायथं व्यवसृजति विशेषेण प्रजा उत्पादयति । वैश्वदेवस्य सर्वदेवत्यत्वात् सर्वप्रजासृष्टिहेतुत्वम् । तस्मादिमाः प्रजाः पुनरभ्यावृत्योत्पद्यन्ते । विहिते ग्रहणे साधनतया शुक्रपात्रं विधत्ते— एष वै शुक्र इति । तत्तु स्पष्टम् । 'अथातो गृह्णात्येव । ओमास....विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयति विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णाति' (श० ४।३।१।२७) । मन्त्रस्तु व्याख्यात एव ।

मन्त्रार्थ--हे विश्वेदेवों ! तुम सब हमारे सब प्रकार से रक्षक हो तथा मनुष्यों को पुष्ट करने वाले हो। मनुष्य तुम्हारे प्रसाद से ही पुष्ट होते हैं। अभिषुत संस्कार किये सोम को देने वाले यजमान को फल देने वाले तुम सोमपान के निमित्त यहाँ आओ। हे पंचविंश ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। हे विश्वेदेव ग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है, विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के निमित्त तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ३३ ॥

भाष्यसार-- कात्यायन श्रौतसूत्र (९।१४।१२) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'ओमासः' इत्यादि कण्डिका के द्वारा शुक्रपात्र से वैश्वदेव ग्रह का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उव्वट, महीधर आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल भाष्य किया है।

अध्यात्मपक्षे— अत्र सर्वेश्वरः परमात्मा समष्टिदेवरूपेण स्तूयते, सूर्यरूपस्य भगवतो रश्मिरूपत्वाद्देवानाम्। हे विश्वेदेवासः, परमेश्वरस्यांशभूताः सर्वे देवाः ! यूयम् ओमासोऽवितारो रक्षितारः सर्वानिष्टनिबर्हणेन सर्वरक्षकाः। चर्षणीधृतश्चर्षणीनां मनुष्याणां धारकाः पोषकाश्च, 'दैवाधीनं जगत्सर्वम्' इत्युक्तेः। दाशुषो यागदानादिपरायण-स्यास्तिकस्य सुतमभिषुतं श्रद्धया निष्पादितं सोमं पत्रं पुष्पं फलं जलममृतं मधुरविविधव्यञ्जनादिकमभिलक्ष्य आगत आगच्छत। हे सोम, उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्, विश्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वामत्र सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे चर्षणीधृत ओमासः, अवन्ति सद्गुणैरिति, विश्वदेवासो विद्वांसो यूयं दाश्वांस उत्कृष्टं ज्ञानं दत्तवन्तः, दाशुषो दानशीलस्योत्तमजनस्य, सुतं सर्वति सत्कर्मानुष्ठानेनैश्वर्यं प्राप्नोतीति सुतस्तं बालकम् आगत आगच्छत। हे दाशुष सुताध्येतः, त्वमुपयामैरध्यापननियमैर्गृहीतोऽसि। अतस्त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यस्तत्सेवनाया-ज्ञापयामि, यतस्त एष विद्याशिक्षासंग्रहो योनिः कारणम्, अतस्त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यः शिक्षयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अज्ञातज्ञापकस्य वेदस्य लोकसिद्धार्थबोधनेऽनुवादकत्वापत्त्या तात्पर्याभावात्। चर्षणीनां धारकत्व-पोषकत्वादिकं नाञ्जस्येनाध्यापकेषु सङ्गच्छते। रक्षकत्वमपि तथाभूतमेव, शासकेष्वेव तत्सम्भवात्। धनादि-दातारोऽपि दाश्वांसो भवन्ति। न वा दानशीलस्यैव सुतमाचार्या अध्यापयन्ति। सुतपदमपि प्रकृते बालकपरं न सङ्गच्छते। उभयत्रैकवचनमपि न युक्तम्। शतपथश्रुतिविरोधोऽपि स्फुट एव ॥ ३३ ॥

विश्वेदेवास आगत शृणुता म इमꣳ हवम्। एदं बर्हिर्निषीदत। उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ३४ ॥

वैश्वदेवी गायत्री गृत्समदद्दष्टा वैश्वदेवग्रहग्रहण एव विकल्पेनाम्नाता। हे विश्वेदेवाः, यूयमस्मद्यज्ञं प्रति

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—यहाँ सर्वेश्वर परमात्मा की स्तुति समष्टिदेव के रूप से की गई है, क्योंकि सूर्यस्वरूप भगवान् के रश्मिरूपी देवगण हैं। परमेश्वर के अंशभूत हे समस्त देवताओं, आप लोग समस्त अनिष्टों का निराकरण करने के कारण सबके रक्षक हो, मनुष्यों के धारक तथा पोषक हो। याग-दानादि परायण आस्तिक से द्वारा श्रद्धा से सम्पादित नैवेद्य, पत्र, पुष्प, फल, जल, मधुर विविध व्यञ्जन आदि के सम्मुख आप लोग आवें। हे नैवेद्य, तुम प्रेम से गृहीत हो। समस्त देवताओं के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह पूजास्थल ही तुम्हारा स्थान है। समस्त देवताओं के लिये तुमको यहाँ रखता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वेद के अज्ञातार्थज्ञापक होने के कारण उससे लोकप्रसिद्ध पदार्थ का बोधन होने पर अनुवादकत्व प्राप्त हो जायगा। धारकत्व, पोषकत्व आदि सरलता से अध्यापकों में संगत नहीं होता। रक्षक होना भी सामान्यतः संगत नहीं होता, क्योंकि वह गुण शासकों में ही सम्भव है। धनादि के प्रदाता भी 'दाश्वान्' हो सकते हैं। गुरुजन केवल धन देने वाले के ही पुत्र को नहीं पढ़ाते। शतपथश्रुति का विरोध तो स्पष्ट ही है ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे विश्वेदेव देवताओं ! हमारे इस यज्ञ में आओ, हमारे इस आह्वान को भलीभाँति सुनो। इस विस्तीर्ण कुशासन पर बैठो। आप सब उपयाम पात्र में गृहीत हैं, विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के लिये आप लोगों का आह्वान करता हूँ। आप लोगों का यह स्थान है, आप लोग इस स्थान पर प्रीतिपूर्वक बैठें ॥ ३४ ॥

भाष्यसार—'विश्वेदेवासः' यह मन्त्र भी याज्ञिक दृष्टि से वैश्वदेव ग्रह के ग्रहण में विकल्प से विनियुक्त है। याज्ञिक

आगत आगच्छत, आगत्य च शृणुत। मम इदं हवमाह्वानम्। श्रुत्वा इदं मदीयं बर्हिर् आ निषीदत। बर्हिष उपर्युपविशत। उपयामेत्यादिकं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वेदेवासः, यूयमस्मद्यजनस्थानमागच्छत। मम इमं हवमाह्वानं स्तवं वा शृणुत। बर्हिः बर्हिषि उपविशत। शेषं पूर्ववज्ज्ञेयम्। एते प्रातःसवनग्रहमन्त्राः ॥ ३४ ॥

इन्द्र॑ मरुत्व इ॒ह पा॑हि सोमं॒ यथा॑ शार्या॒ते अपि॑बः सु॒तस्य॑। तव॒ प्रणी॑ती॒ तव॑ शूर॒ शर्म॒न्ना विवासन्ति क॒वयः॑ सुय॒ज्ञाः। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ॥ ३५ ॥

अथ माध्यन्दिनसवनग्रहमन्त्रा उच्यन्ते, 'माध्यन्दिने सवने मरुत्वतीया गृह्यन्ते' इति तित्तिरिवचनात्। तेषु त्रिषु प्रथममाह—'मरुत्वतीयमृतुपात्रेणेन्द्रमरुत्व इति' (का० श्रौ० १०।१।१२)। उक्थ्यग्रहणात् प्राग् मरुत्वतीयसंज्ञकं ग्रहं धारायां गृह्णीयात्, इन्द्र मरुत्व इति मन्त्रेण। ऐन्द्रमारुतीश्चतस्रस्त्रिष्टुभो विश्वामित्रदृष्टाः। मरुतो नाम देवा अस्य सन्तीति मरुत्वान्, तत्सम्बुद्धौ हे मरुत्वः, 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति सम्बुद्धौ रुत्वम्। तादृशेन्द्र, त्वमिहास्मदीये यज्ञे सोमं पाहि पिब। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति शपो लुकि पिबादेशाभावे रूपम्। कथमिति चेत्तत्राह—यथा शार्याते, शर्यातिर्मानवः पुराणे सुकन्यापितृत्वेन प्रसिद्धः, तस्य सम्बन्धिनि यज्ञे शार्याते सुतस्याभिषुतस्य सोमस्यांशम्, अपिबः पीतवानसि। शर्यातिर्मानवः, तस्यापत्यं शार्यातः, 'शार्यातो ह वा इदं मानवो ग्रामेण चचार' (श०४।१।५।२) इति शतपथश्रुतेः। येन प्रकारेण शार्याते राजनि अपिबः पीतवानसि, तद्वत्। हे शूर शौर्यगुणोपेत इन्द्र, तव प्रणीती प्रणीत्या तृतीयैकवचनस्य ईकारादेशः, प्रणयनेन अनुज्ञया सुयज्ञाः कल्याणयज्ञाः पूर्वे कवयः क्रान्तदर्शिनस्तव शर्मणि सुखे निमित्तभूते सति, आविवासन्ति परिचरन्ति, तद्वदयमपि यजमानस्त्वां परिचरति। 'विवासतिः परिचर्यायाम्'। यद्वा हे शूर, ते तव प्रणीत्या प्रणयनेम शर्मन् शर्मणि यज्ञगृहे आभिमुख्येनावस्थिताः कवयः क्रान्तदर्शिनस्त्वां परिचरन्ति। कीदृशास्ते कवयः ? सुयज्ञाः शोभनयज्ञाः।

प्रक्रिया के अनुकूल इसका व्याख्यान आचार्यों ने उपदिष्ट किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे विश्वेदेवों, आप लोग हमारे यज्ञस्थान में आवें, मेरे इस आह्वान अथवा स्तवन को सुनें। आसन पर विराजमान हों। शेष अर्थ पूर्व मन्त्र की भाँति ही है।

पूर्वव्याख्यात ये सभी मन्त्र प्रातःसवन ग्रहविधि के हैं ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे मरुत् देवताओं वाले इन्द्र! जिस प्रकार बड़े परिश्रमी शर्याति के यज्ञ में अभिषुत सोम के अंशों को आपने पिया था, उसी प्रकार हमारे इस यज्ञ में सोम की रक्षा करो और उसका पान करो। हे विक्रान्त वीर! तुम्हारी सुनीति और अनुज्ञा से श्रेष्ठ यज्ञ करने वाले दूरदर्शी यजमान तुम्हारे सुखप्रद स्थान में चिरकाल तक तुम्हारी परिचर्या करते हैं। हे प्रथम ग्रह! तुम इस उपयाम पात्र में गृहीत हो, मरुत् देवताओं से युक्त इन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे प्रथम मरुत्वतीय ग्रह! तुम्हारा यह स्थान है। मरुत् देवताओं से युक्त इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ३५ ॥

भाष्यसार—'इन्द्र मरुत्व' इस कण्डिका से माध्यन्दिन सवन के ग्रहों के मन्त्र उपदिष्ट हैं। 'इन्द्र मरुत्व' इस मन्त्र

शतपथे महता समारोहेणैष प्रपञ्चितः। तथाहि—'तान् वा एतान् पञ्चग्रहान् गृह्णात्येष वै वज्रो यन्माध्यन्दिनः पवमानस्तस्मात् पञ्चदशः पञ्चसामा भवति पञ्चदशो हि वज्रः स एतैः पञ्चभिर्ग्रहैः पञ्च वा इमा अङ्गुलयोऽङ्गुलिभिर्वै प्रहरति' (श० ४।३।३।४)। सम्भूय पञ्चानां ग्रहाणां ग्रहणमनूद्य प्रशंसति—तान् वा एतानिति। एष वै वज्रो यन्माध्यन्दिनः पवमानस्तस्माद् वज्रत्वात् पञ्चदशः पञ्चदशः स्तोमः। वज्रो हि पञ्चदशात्मकः, 'पञ्चदशो वज्रो भ्रातृव्याभिभूत्यै' (तै० सं० ६।३।३) इति श्रुतेः। एतैः प्रकृतैः पञ्चभिर्ग्रहैर्हेतुना स माध्यन्दिनः पवमानः पञ्चसामा भवति। इमा अङ्गुलयस्ताभिः प्रहरतीति प्रत्यक्षसिद्धम्। तस्मात् पञ्चसंख्याका एतेऽपि ग्रहास्तत्प्रहरणसाधनभूता अङ्गुलयस्ते च संख्यासामान्यात् सामरूपाः सन्तो वज्रात्मकेन माध्यन्दिनपवमानेन सम्बद्ध्यन्ते। 'इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्रजहार। स वृत्रं पाप्मानꣳ हत्वा विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा निनाय तस्मादप्येतर्हि यदेवैतेन माध्यन्दिनेन पवमानेन स्तुवतेऽथ विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा नीयन्ते तथो एवैष एतैः पञ्चभिर्ग्रहैः पाप्मने द्विषते भ्रातृव्याय वज्रं प्रहरति स वृत्रं पाप्मानं हत्वा विजिते''''दक्षिणा नयति' (श० ४।३।३।५)। इन्द्रो वृत्रायेत्यादिना दक्षिणा नयतीत्यन्तेन पञ्चसाम्नः पञ्चदशस्तोमकस्य माध्यन्दिनपवमानस्य वज्रत्वमेव प्रदर्श्यते। इन्द्रो वज्रेण वृत्रं पाप्मानं हत्वा विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा निनाय, तथैव एषोऽध्वर्युः पञ्चभिर्ग्रहैरङ्गुलिभिस्तत्स्थानीयैर्द्विषते द्वेषं कुर्वते भ्रातृव्याय वज्रं माध्यन्दिनपवमानरूपं प्रहरति। स वृत्रं पाप्मानं हत्वा विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे दक्षिणा नयति। 'तद्यन्मरुत्वतीयान् गृह्णाति। एतद्वा इन्द्रस्य निष्केवल्यꣳ सवनं यन्माध्यन्दिनꣳ सवनं तेन वृत्रमजिघाꣳसत् तेन व्यजिगीषत मरुतो वा इत्यश्वत्थेऽपक्रम्य तस्थुः क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतो विशा वै क्षत्रियो बलवान् भवति तस्मादाश्वत्थे ऋतुपात्रे स्यातां कार्ष्मर्यमये त्वेव भवतः' (श० ४।३।३।६)। कारणाभिधित्सया मरुत्वतीयानां ग्रहणमनुवदति—तद्यन्मरुत्वतीयान् गृह्णातीति। 'तेभ्य एतौ मरुत्वतीयौ ग्रहावगृह्णात् तेभ्यो वै नस्तृतीयं ग्रहं गृहाण' (४।३।३।७-९) इति वक्ष्यमाणत्वात्। त्रीन् मरुत्वतीयान् ग्रहान् गृह्णातीति यत्तत्कारणमुच्यत इत्यर्थः।

नन्वेकस्यैव मरुत्वतीयस्य ग्रहणमभिहितम्, तत्कथं त्रयाणामनुवादः ? एवं तर्ह्यनेन सिद्धवत्कृत्यानुवादेनेतरयोर्ग्रहयोरपि विधिरुन्नेयः। कारणमाह—एतद्वा इन्द्रस्य निष्केवल्यमिति। निष्कृष्य केवल इन्द्रो देवता यस्य तन्निष्केवल्यं सवनं यन्माध्यन्दिनं सवनम्। तेनेन्द्रो वृत्रमजिघांसत्। तेन व्यजिगीषत्। मरुतो वा इत्यश्वत्थे अपक्रम्य तस्थुः। क्षत्रं वा इन्द्रः। विशो मरुतः। विशा वै क्षत्रियो बलवान् भवति। तस्मादृतुपात्राभ्यामेव मरुत्वतीयानां ग्रहणाद् मरुतां चाश्वत्थे स्थितत्वात् तदवरोधाय आश्वत्थे ऋतुपात्रे स्यातामिति केषाञ्चिन्मतम्, तत्तु नादरणीयम्। कार्ष्मर्यमये एव ऋतुपात्रे स्याताम्, न त्वाश्वत्थे स्याताम्। कार्ष्मर्यो वृक्षविशेषः। तत्रायमाशयः—वृत्रमजिघांसदिति वृत्रस्य जिघांसितत्वाद् रक्षोविघातकत्वेन कार्ष्मर्यस्य तन्मये एव पात्रे भवतः। मरुतामवरोधस्तु 'इन्द्राय मरुत्वते' (श० ४।३।३।१०) इतीन्द्रेण सह मरुतां निर्देशादेव सेत्स्यति। कार्ष्मर्यस्य रक्षोविघातकत्वं तु तैत्तिरीयके श्रूयते—'यत्कार्ष्मर्यमयाः परिधयो भवन्ति रक्षसामपहत्यै' (तै० सं० ६।२।१)। 'तानिन्द्र उपमन्त्रयाञ्चक्रे। उपमावर्तध्वं युष्माभिर्बलेन वृत्रꣳ हनानीति ते होचुः किं नस्ततः स्यादिति तेभ्य एतौ मरुत्वतीयौ ग्रहावगृह्णात्' (श० ४।३।३।७)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्। 'ते होचुः। अपनिधायैनमोज उपावर्तामिहा इति त एनमपनिधायैवौज उपाववृतुस्तद्वा इन्द्रोऽस्पृणुतापनिधाय वै मौज उपावृतन्निति' (श० ४।३।३।८)। 'द्युद्भ्यो लुङि' (पा० सू० १।३।९१) इति परस्मैपदम्। 'स होवाच। सहैव मौजसोपावर्तध्वमिति तेभ्यो वै नस्तृतीयं ग्रहं गृहाणेति तेभ्य एतं तृतीयं ग्रहमगृह्णादुपगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजस इति त एनꣳ

से मरुत्वतीय नामक ग्रह का ग्रहण किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।१।१२) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित

सहैवौजसोपावर्तन्त तैर्व्यजयत तैर्वृत्रमहन् क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतो विशा वै क्षत्रियो बलवान् भवति तत्क्षत्र एवैतद्बलं दधाति तस्मान्मरुत्वतीयान् गृह्णाति' (श० ४।३।३।९)। 'स वा इन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयान्नापि मरुद्भ्यः स यद्धापि मरुद्भ्यो गृह्णीयात् प्रत्युद्यामिनीॅ ह क्षत्राय विशं कुर्यादथैतदिन्द्रमेवानु मरुत आभजति तत्क्षत्रायैवैतद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति तस्मादिन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयान्नापि मरुद्भ्यः' (श० ४।३।३।१०)। ग्रहाणां मरुदर्थत्वस्य कथितत्वात्तेभ्य एव ग्रहणे प्राप्ते तत्सहितायेन्द्राय गृह्णीयादिति विधत्ते—स वा इन्द्रायैवेति। मरुद्भ्य एव ग्रहणे दोषं तत्सहितायेन्द्राय ग्रहणे गुणं च प्रदर्श्य तदेव निगमयति—स यद्धापि मरुद्भ्य एव गृह्णीयात्तदा क्षत्राय प्रत्युद्यामिनीं प्रातिकूल्येनोद्यतां विशं प्रजां कुर्यात्। अथेन्द्रमेवानुलक्ष्य मरुत आभजति भागिनः करोति, तेन क्षत्राय विशं कृतानुकारं करोति क्षत्रायत्तां करोति। तदेतदानुकूल्येन यथा करोति, तादृशीमनुवर्त्मानं क्षत्रानुगतां करोति। तस्मान्मरुत्वत इन्द्राय गृह्णाति।

'अपक्रमादु हैवैषामेतद्बिभयाञ्चकार। यदिमे मन्नापक्रमेयुर्यन्नान्यद्ध्रियेरन्निति तानेवैतदनपक्रमिणोऽकुरुत तस्मादिन्द्रायैव मरुत्वते गृह्णीयान्नापि मरुद्भ्यः' (श० ४।३।३।११)। तमेवार्थं कारणान्तराद् द्रढयति—एषां मरुतामपक्रमादेवेन्द्रो बिभयाञ्चकार। 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' (पा० सू० ३।१।३९) इत्याम्। भीतश्च येनोपायेन मत्तः सकाशाद् इमाः प्रजा नापक्रमेयुर्येनोपायेनान्यत्र न ध्रियेरन्निति विचार्य तेनोपायेन तान् मरुतोऽनपक्रमिणोऽनपक्रमणशीलान् सङ्गतानेवाकुरुत। यत एवं तस्मान्मरुत्सहितायेन्द्रायैव गृह्णीयान्न केवलं मरुद्भ्यः। 'ऋतुपात्राभ्यां गृह्णाति। ऋतवो वै संवत्सरो यज्ञस्तेऽदः प्रातःसवने प्रत्यक्षमवकल्प्यन्ते यदृतुग्रहान् गृह्णात्यथैतत्परोक्षं माध्यन्दिने सवनेऽवकल्प्यन्ते यदृतुपात्राभ्यां मरुत्वतीयान् गृह्णाति' (श० ४।३।३।१२)। ऋतुपात्राभ्यां प्रकृतग्रहाणां ग्रहणं विधत्ते—ऋतुपात्राभ्यां गृह्णातीति। तत्र प्रयोजनमभिधीयते—ऋतवो वा इति। ऋतवो वै यज्ञसंवत्सररूपाः प्रातःसवने प्रत्यक्षमेवावकल्प्यन्ते स्वायत्ता भवन्ति। यस्माद् ऋतुग्रहान् गृह्णाति, स्वातन्त्र्येण विधानात्। माध्यन्दिने सवने परोक्षमवकल्प्यन्ते, यदृतुपात्राभ्यां मरुत्वतीयान् गृह्णातीति पराङ्गतया विधानात्। अत्र ऋतुग्रहाभावेन ऋतुपात्रसम्बन्धादृतूनां परोक्षावक्लृप्तिः, तदर्थमृतुपात्राभ्यां ग्रहणम्। किञ्च, मरुतो विशः, 'मरुतो वै देवानां विशः' (तै० सं० ५।४।७) इति श्रुतेः। विशश्चान्नम्, कृष्यादिना तत्सम्पादनात्। ऋतवश्चेदं पुरोवर्ति अन्नाद्यम्, अद्यम् अन्नं पचन्ति उपभोगयोग्यं कुर्वन्ति, ऋतूनां सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वात्। अतो मरुतामृतूनां च सम्बन्धादपि ऋतुपात्राभ्यां मरुत्वतीयान् गृह्णीयात्। क्रमेण ग्रहाणां ग्रहणसादनमन्त्रानाह—'अथातो गृह्णात्येव····इन्द्र मरुत्व····एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते' (श० ४।३।३।१३)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे हे इन्द्र, मरुत्वो मरुत्सखस्येन्द्रस्य रूपेण व्यक्तपरमेश्वर! त्वमिहास्माकं यजनस्थाने सोमं सोमरसं तदुपलक्षितं विविधनैवेद्यान्नपानादिसारं पिब। कथं पिबेत्यत आह—यथा शार्यातियज्ञेऽपिबस्तद्वत्। हे शूर शौर्यवीर्यादिदिव्यनानाकल्याणगुणगणार्णव, तव प्रणीता प्रणीत्या त्वदनुज्ञया, सुयज्ञाः त्वदाराधनबुद्ध्यानुष्ठितनिष्कामयज्ञादिकर्माणः, कवयः क्रान्तदर्शनाः, शर्मन् शर्मणि ब्रह्मात्मसुखनिमित्ते पूजागृहे वा त्वां परिचरन्ति। शेषं पूर्ववत्।

है। तैत्तिरीय एवं शतपथ श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रव्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—मरुद्गणों के मित्र इन्द्र के रूप में अभिव्यक्त हे परमेश्वर, आप हमारे इस यजनस्थल में सोमादि विविध नैवेद्य, अन्नपानादि के सार का उसी प्रकार आस्वादन करें, जिस प्रकार आपने शर्याति के यज्ञ में किया था। शौर्य, वीरता आदि अनेक दिव्य कल्याणकारी गुणों के हे सागर! आपकी आज्ञा से, आपकी आराधना की बुद्धि से, निष्काम यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठाता, क्रान्तदर्शी विद्वान् ब्रह्मात्मसुखकारक उपासनास्थल में आपकी

दयानन्दस्तु—'मरुत्वः ! मरुतः प्रशस्ता धर्मसम्बद्धाः प्रजा यस्य तत्सम्बुद्धौ । इन्द्रः सम्राट् त्वमिह यथा शार्याते शर्याभिरङ्गुलीभिर्निर्वृत्तानि व र्माणि शार्याणि, तान्यतति व्याप्नोतीति शार्यातिस्तस्मिन् । 'शर्या इत्यङ्गुलिनामसु' (निघ० २।५) । सुतस्य तव अपिबस्तथा सोमं पाहि । हे शूर, तव शर्मन् न्यायगृहे सुयज्ञा इव कवयस्तव प्रणीती प्रकृष्टां नीतिमाविवसन्ति परिचरन्ति । यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्मात् त्वामिन्द्राय परमैश्वर्याय मरुत्वते प्रजासम्बन्धाय वयं सेवेमहि । ते तवैष विद्याप्रचारयोनिरस्ति । अतस्त्वामिन्द्राय मरुत्वते मन्यामहे' इति, भाषाभाष्येऽपि—शार्याते इत्यस्य स्वहस्तपादपरिश्रमनिष्पन्ने व्यवहारे सुतस्याभ्यस्तस्य विद्यारसम् अपिबः, तथैव सोमं समस्तोत्तमगुणैश्वर्यकारकं सुखकरं पठनपाठनात्मकं यज्ञं पाहि' इत्यादिकम्, तदपि मुख्यार्थत्यागात् सुदूरगौणार्थाश्रयणाच्च श्रुतिषु बलात्कार एव, मरुत्पदस्य प्रजाद्यर्थत्वे मानाभावात् । न च विशो मरुत इति श्रुतिः प्रमाणमिति वाच्यम्, तत्र 'क्षत्रं वा इन्द्रो विशो मरुतः' (श० ४।३।३।९) इति रीत्या इन्द्रस्य क्षत्ररूपत्वं मरुतां च विड्रूपत्वमुक्तम् । न तु मरुत्पदस्य प्रजार्थत्वं तत्रोक्तम् । तथैव शर्यापदस्य अङ्गुल्यर्थकत्वेऽपि हस्तपादार्थकत्वमभ्युपगम्य तद्व्यापारस्य तस्य तज्जनितपरिश्रमार्थता ततस्तज्जनितव्यवहारार्थतेति कल्पनं निर्मूलमेव । सुतस्य विद्यारसस्येत्यपि व्याख्यानं निर्मूलमेव । तथैव सोमपदस्य पठनपाठनयज्ञोऽर्थ इत्यपि स्वैरित्वमेव । 'प्रणीती' इत्यस्य प्रकृष्टनीतिमित्यप्यर्थो (शाब्द) न्यायविरुद्ध एव । इन्द्रपदस्य परमैश्वर्यवान् अर्थो न परमैश्वर्यम् । मरुत्वदित्यस्यापि मरुत्सहित इन्द्रोऽर्थः, न प्रजासम्बन्धः । श्रुतिविरोधोऽपि स्फुटः ॥ ३५ ॥

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यꣳ शासमिन्द्रम् । विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳ सहोदामिह तꣳ हुवेम ॥ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे ॥ ३६ ॥

अर्चना करते हैं । शेष मन्त्रार्थ पूर्व की भाँति ही है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या मुख्य अर्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के स्वीकरण के कारण श्रुतियों के साथ बलात्कार ही है । मरुत् शब्द के 'प्रजा' अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है । इसी प्रकार 'शर्या' शब्द अंगुलि के अर्थ का वाचक होने पर भी उसका हाथ-पैर आदि तात्पर्य मानकर उसके परिश्रम से जनित व्यवहार अर्थ की कल्पना निर्मूल है । सुत की व्याख्या 'विद्यारस' करना भी अप्रामाणिक है । इसी प्रकार 'सोम' का अर्थ पठन-पाठनयज्ञ करना भी स्वेच्छाचारिता ही है । 'इन्द्र' शब्द का अर्थ परमैश्वर्यवान् होता है, परमैश्वर्य नहीं । श्रुतिवाक्यों से विरोध भी स्पष्ट ही है ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—मरुद्गणों से युक्त, उचित समय पर जल बर्षाने वाले हे इन्द्र ! तुम व्रीहि, धान्य आदि को बढ़ाने वाले, उत्कृष्ट ऐश्वर्यवान्, द्युलोक में रहने वाले, दुष्टों के शासक, आलस्य से रहित हो विश्व के पालक, बल देने वाले और नूतन यजमान का रक्षण करने के निमित्त निरन्तर उद्यत वज्र वाले हो । इस यज्ञ की रक्षा के निमित्त हम तुम्हारा आह्वान करते हैं । हे द्वितीय ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, मरुद्देवताओं से युक्त इन्द्र की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । हे तृतीय मरुत्वतीय ग्रह ! मरुद्देवताओं के बल सम्पादन के लिये तुम यहाँ बैठो ॥ ३६ ॥

द्वितीयं मरुत्वतीयमाह—'वशिना मरुत्वतीयग्रहणं मरुत्वन्तमिति' (का० श्रौ० १०।३।७)। रिक्तेन ऋतुपात्रेण सशस्त्रं मरुत्वतीयग्रहणं कुर्यादध्वर्युः। इहास्मदीये यज्ञे तमिन्द्रं वयं हुवेम आह्वयामः। ह्वेञः शपि व्यत्ययेन सम्प्रसारणम्। कीदृशमिन्द्रम्? मरुत्वन्तं मरुद्गणोपेतं वृषभं जलवर्षितारं कामानामभीष्टानां वर्धयितारम्। वावृधानं वर्धते वर्धयति वा कामानभीष्टानिति वावृधानस्तम्, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति वर्धतेः शानचि जुहोत्यादित्वेन श्लुः, 'श्लौ' (पा० सू० ६।१।१०) इति द्वित्वम्। अकवारिम्, कुत्सिता अरयो यस्यासौ कवारिः, न कवारिरकवारिस्तम्। यस्य शत्रवो वृत्रादयोऽप्यकुत्सिता महानुभावाः। यद्वा अकुत्सितमैश्वर्यमियर्ति प्राप्नोतीत्यकवारिस्तम्। दिव्यं दिवि भवम्। शासम्, शास्तीति शासस्तं शासितारं दुष्टानां निग्रहीतारम्। यद्वा शासनं शासः, तद्वन्तम् अव्याहतशासनम्। विश्वासाहं विश्वं पालयितुं सहत इति विश्वाषाट् तं विश्वासाहं विश्वपालनेऽनलसं समर्थम्। अभिभवार्थो वा सहिः, स्वधर्मच्युतस्य विश्वस्य सर्वस्याभिभवितारम्। नवीनभूताय इदानीन्तनयजमानपालनाय उग्रम् उद्गूर्णवज्रम्। सहोदां सहो बलं ददातीति सहोदास्तं बलप्रदम्। अवसे अवसानाय स्थित्यै। उपयामेति व्याख्यातमेव। 'ऋतुपात्रेण मरुत्वतीयग्रहणमुपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजस इति' (का० श्रौ० १०।३।३)। प्रतिप्रस्थाता द्वितीयेन ऋतुपात्रेण द्रोणकलशात् पूतभृतो वा कुण्ठमरुत्वतीयस्य ग्रहणं कुर्यात्। मरुद्देवताको ग्रहो मरुत्वतीयः। मरुद्दैवत्यं यजुः। हे मरुत्वतीय ग्रह, मरुतां देवानामोजसे बलाय त्वा त्वां सादयामि। ओज इति बलनामसु। स त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। स्वबलं निधायेन्द्रं प्रत्यागता मरुतोऽनेन ग्रहेण गृहीतेन सबला जाता इति भावः।

अध्यात्मपक्षे—अत्र जीवेशानुगतमात्मचैतन्यं दर्शयति। मरुत्वन्तं मरुद्भिः प्राणैः सह वर्तमानं वृषभं श्रेष्ठं वावृधानमुपाधिवृद्धया वर्धमानं दिव्यं वस्तुतोऽलौकिकं लोकोत्तरमिन्द्रं दीप्तिमन्तं देहादिभासकं विश्वासाहं विश्वपालनसमर्थम्, तपोभिरुपासनाभिश्चोपाधिशुद्धयतिशयादैश्वर्यातिशयदर्शनात्। स्वधर्मच्युतस्य विश्वस्य अभिभवितारम्। नूतनाय अवसे इदानीन्तनजनानां पालनाय उग्रं उद्गूर्णवज्रम्। सहोदां सहो बलं ददातीति सहोदास्तम्। एवंभूतं तं जीवेशानुगतं तत्तदुपाधिविशिष्टमुपाधितद्धर्मवर्जितं च प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परमात्मानं हुवेम, जननमरणाविच्छेदलक्षणायाः संसृतेरपाकरणाय आह्वयामः साक्षात्कुर्मः। हे प्रत्यगात्मन्, त्वं यमनियमादिभिर्गृहीतोऽसि नियमितोऽसि। मरुद्भिरुपाधिभिरुपलक्षिताय इन्द्राय तत्पदलक्ष्यार्थाय परमात्मने त्वां समर्पयामः, तत्र प्रविलापयामः। एष ते योनिरधिष्ठानम्। इन्द्राय मरुत्वते त्वां तदभेदभावनायै प्रोत्साहयामः। उपयाम-

---

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।३।७) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार अध्वर्यु एवं प्रतिप्रस्थाता ऋत्विजों के द्वारा मरुत्वतीय ग्रह का ग्रहण 'मरुत्वन्तम्' आदि कण्डिकागत मन्त्रों के द्वारा किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप मन्त्रार्थ पूर्वाचार्यों के द्वारा वर्णित है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—इसमें जीवेश्वर के अनुगत आत्मचैतन्य का प्रकाशन किया गया है। प्राणों के साथ विद्यमान, श्रेष्ठ, उपाधि की वृद्धि के द्वारा परिवृद्ध होने वाले, वस्तुतः अलौकिक, लोकोत्तर, दीप्तिमान्, देहादिभासक, विश्व के पालन में समर्थ, स्वधर्म से च्युत विश्व का पराभव करने वाले, अधुनातन प्राणियों के पालन के लिये उग्रवज्र, बलप्रदान करने वाले, इस प्रकार के उस जीवेश्वर के अनुगत विभिन्नोपाधिविशिष्ट एवं उपाधि तथा उपाधि धर्मों से विरहित प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मा का हम आह्वान करते हैं। जन्ममृत्युरूपिणी सृष्टि के निराकरण के लिये उनका साक्षात्कार करते हैं। हे प्रत्यगात्मन्, तुम यम, नियम आदि के द्वारा संगृहीत हो, नियमित हो। उपाधियों से उपलक्षित, इन्द्रपद के लक्ष्यार्थ परमात्मा के लिये तुमको हम समर्पित करते हैं, उसमें विलीन करते हैं। यही तुम्हारा

गृहीतोऽसि। तत एव मरुतामोजसे मरुतां प्राणानां तदुपलक्षितानामन्योपाधीनामोजसे सारभूतायाधिष्ठानाय त्वां समर्पयामः, अधिष्ठाने प्रविलाप्याधिष्ठानमात्रतां चिन्तयामः।

दयानन्दस्तु—'कवयो वयं नूतनाय अवसे रक्षणाद्याय मरुत्वन्तं प्रशस्तप्रजावन्तं वृषभं सर्वोत्तमं वावृधानम्, अतिशयेन शुभकर्मसु वर्धमानम्। अकवारिं कौति धर्ममुपदिशतीति कवो न कवोऽकवोऽधर्मात्मा, तस्यारिः शत्रुस्तम्। दिव्यं शुद्धं शासं शासितारम् इन्द्रमैश्वर्यवन्तं विश्वासाहं विश्वान् सर्वान् सहत इति विश्वाषाट् तं हुवेम स्वीकुर्वीमहि। हे मुख्यसभासद्, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्मात् त्वां मरुत्वत इन्द्राय, यतस्ते तवैष योनिरस्त्यतस्त्वां मरुत्वत इन्द्राय, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि तस्माद् मरुतामोजसे बलाय च त्वा त्वां हुवेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदमन्त्राणां धर्मब्रह्मपरत्वेन धर्माङ्गत्वे दिव्यदेवतादिप्रतिपादनमपहाय लौकिकमनुष्य-शासकेष्विन्द्रादिपदप्रयोगस्यासङ्गतत्वात्। कवो धर्मोपदेष्टा, तद्भिन्नोऽधर्मात्मा तस्यारिरित्यपि न सङ्गतम्, तादृशार्थस्य कवपदेनैव सिद्धत्वात्॥ ३६॥

सजोषा इन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्। जहि शत्रूँ२॥ रप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः॥ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनि-रिन्द्राय त्वा मरुत्वते॥ ३७॥

'सजोषा इन्द्रेति' (वा० सं० ७।३७), 'मरुत्वाँ२॥ इन्द्रेति' (वा० सं० ७।३८) ऋग्द्वयस्य सोपयामस्य मरुत्वतीयग्रहणे विनियोगो वाचस्तोमे, 'वाचस्तोमाश्चत्वारः' (का० श्रौ० २२।६।२६) इति कात्यायनोक्तेः। हे इन्द्र शूरवीर, त्वं सोमं पिब। कीदृशस्त्वम्? सजोषाः, जोषणं जोषः प्रीतिः, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' असुन्प्रत्ययः। तेन जोषसा सह वर्तमानः सजोषाः। मरुद्भिः कृत्वा सगणः सपरिवार एकोनपञ्चाशन्मरुद्गणैः सह सोमं पिब। वृत्रहा वृत्रं तन्नामानं दैत्यं हन्तीति वृत्रहा, अनेन सोमपानेन वृत्रं हनिष्यामीति विद्वान् एतमर्थं जानानः, ततः

अधिष्ठान है। मरुत्वान् इन्द्र के लिये तुमको उसमें अभेद की भावना हेतु हम प्रोत्साहित करते हैं। तुम यमादि के द्वारा गृहीत हो। प्राण तथा अन्य उपाधियों के सारभूत अधिष्ठान के लिये तुमको समर्पित करते हैं। अधिष्ठान में प्रविलीन करके अधिष्ठानमात्रता का चिन्तन हम करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित मन्त्रार्थ असमीचीन है, क्योंकि धर्मब्रह्मपरक रहने के कारण वेदमन्त्रों का धर्मांगत्व होने पर दिव्य देवताओं आदि का प्रतिपादन छोड़कर केवल लौकिक मनुष्य शासकों में इन्द्र आदि शब्दों का प्रयोग असंगत है। 'कव' का अर्थ धर्मोपदेशक है तथा उससे विपरीत अधर्मात्मा है। उसका शत्रु (अकवारि) इत्यादि अर्थ भी संगत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का अर्थ तो केवल 'कव' शब्द से ही सिद्ध हो जाता है॥ ३६॥

मन्त्रार्थ—हे विक्रान्त इन्द्र! तुम हमारे इस यज्ञ को प्रीति से सेवन करो। वृत्र को मारने वाले, सब कुछ जानने वाले तुम मरुद्गणों के परिवार के साथ सोम का पान करो, शत्रुओं को मारो, संग्राम से शत्रुओं को निवृत्त करो और शत्रुनाश के अनन्तर हमको सब प्रकार का अभय प्रदान करो। हे ग्रह! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, मरुद् देवताओं से युक्त इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह! यह तुम्हारा स्थान है, देवताओं की प्रीति के निमित्त तुम्हे यहाँ स्थापित करता हूँ॥ ३७॥

भाष्यसार—'सजोषा इन्द्र' तथा 'मरुत्वाँ इन्द्र' इन दो उपयामादि यजुर्मन्त्र से संयुक्त ऋचाओं का विनियोग

सोमं पीत्वा शत्रून् वृत्रादीन् जहि मारय। मृधः संग्रामान् अपनुदस्व। 'णुद प्रेरणे' युद्धं निवर्तय। 'दीर्घादटि समानपादे' (८।३।९) इति शत्रूनिति नस्यानुनासिकत्वम्। यद्वा मृध इति पञ्चम्येकवचनम्। मृधः संग्रामाद् अपनुदस्व शत्रूनित्यस्यानुषङ्गः। ये हतावशिष्टा अरयस्तान् संग्रामात् पलायनार्थं प्रेरयस्व। एवं शत्रून् पराजित्य विश्वतोऽभयं कृणुहि।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वरांश, हे शूर सर्वैरनभिभाव्य, त्वं सजोषाः सुप्रसन्नो मरुद्भिः प्राणादिभिरान्तरैर्बाह्यैश्चोपाधिभिः कृत्वा सगणः सपरिवारः, वृत्रहा वृत्रमसुरमज्ञानं च हतवानिति वृत्रहा, सोमं भक्तिरसं पिब। भक्त्या च विद्वान् कृतात्मसाक्षात्कारः शत्रूनविद्याजनितान् कामादीन् जहि समूलमुन्मूलय। मृधः संग्रामात् पलायनाय अपनुदस्व प्रेरयस्व। नोऽस्मभ्यं विश्वतः सर्वतोऽभयं कृणुधि। तत्त्वज्ञः सर्वं संन्यस्य सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽभयं प्रयच्छति। उपयामगृहीतोऽसीति पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सेनापते शूर, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि सेवासु नियमस्वीकृतोऽसि, मरुत्वत इन्द्राय त्वामुपदिशामि। किमित्यपेक्षायामाह—ते तव सम्बन्धी एष व्यवहारः। मरुत्वते प्रशस्तानि मरुदस्त्राणि यस्मिन् तस्मै मरुत्वते इन्द्राय प्रयतमानमङ्गीकरोमि। सजोषाः सगणस्त्वं मरुद्भिर्वायुभिरिव वृत्रहा इव सोमं सकलपदार्थरसं पिबेति। तं पीत्वा विद्वान् सन् शत्रून् जहि। अथ मृधोऽपनुदस्व। नोऽस्मभ्यं विश्वतोऽभयं कृणुहि' इति, भाषाभाष्ये च—'ईश्वरो वक्ति' इति, तदुभयमप्यसङ्गतम्, ईश्वरस्य नित्यनिर्भयत्वेन विश्वतोऽभयं कृणुहीति प्रार्थनायोगात्, इन्द्रपदेन सेनापतिग्रहणे मानाभावात्। तथैव मरुत्पदेन मरुदस्त्रग्रहणमपि निर्मूलमेव। नहीश्वरः सेनापत्यादिभ्य उपदिशन्नुपलभ्यते। न वा तादृग्वचनं किञ्चिदुपलभ्यते॥ ३७॥

म॒रुत्वाँ॑२॥ इन्द्र वृ॒ष॒भो रणा॑य॒ पिबा॒ सोम॑मनुष्व॒धं मदा॑य। आ सि॑ञ्चस्व ज॒ठरे॒ मध्व॑ ऊ॒र्मिं त्वᳬ राजा॑सि॒ प्रति॑पत्सु॒ताना॑म्। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते॥ ३८॥

वाचस्तोम में मरुत्वतीय ग्रह के ग्रहण में किया गया है। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (२२।६।२६) में प्रतिपादित है। मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ भी पूर्वाचार्यों के द्वारा निरूपित है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर के अंशभूत, सबके द्वारा न पराभूत होने वाले तुम सुप्रसन्न होकर, प्राणादि आन्तरिक तथा बाह्य उपाधियों से, सपरिवार असुर तथा अज्ञान के विनाशक बनकर भक्तिरस का पान करो। आत्मसाक्षात्कार सम्पन्न करके तुम भक्ति के द्वारा अविद्या से उत्पन्न कामादि शत्रुओं को जड़ से उन्मूलित करो, संग्राम से भागने के लिये उन्हें प्रेरित करो। हमारे लिये सब ओर से अभय करो। तत्त्वज्ञ समस्त संन्यस्त करके सभी जीवों के लिये अभय प्रदान करता है। 'उपयामगृहीतः' आदि की व्याख्या पूर्वोक्त ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ उचित नहीं है। संस्कृतभाष्य तथा भाषाभाष्य में भी 'ईश्वर कहता है' ये दोनों ही कथन असंगत हैं, क्योंकि ईश्वर के नित्यनिर्भय होने के कारण 'सब ओर से अभय करो' इस कामना की कोई संगति नहीं है। इन्द्र शब्द से सेनापति अर्थ ग्रहण करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार मरुत् शब्द से 'मरुत् अस्त्र' अर्थ लेना भी निर्मूल है। सेनापति आदि के लिये उपदेश देता हुआ ईश्वर उपलब्ध नहीं होता, अथवा ऐसा कोई वचन भी उपलब्ध नहीं है॥ ३७॥

हे इन्द्र, यतस्त्वं मरुत्वान् मरुद्भिर्युक्तोऽसि, वृषभोऽपां वर्षिता, तं त्वां ब्रवीमि रणाय रणं संग्रामं कर्तुं पिब सोमम्, अनुष्वधं अनु पश्चात् स्वधा अन्नं पुरोडाशधानामन्थदधिपयस्यालक्षणम्, स त्वमनुष्वधं सोमं पिबेत्यर्थः। किमर्थं पातव्यः सोमः ? इत्यत आह—मदायेति। मदे हि सति योद्धा भवतीन्द्रः। केन प्रकारेण पिबेत्युच्यते—आसिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिम्, अकृपणमुदरे आसिञ्चस्व। मध्वो मधु सोममित्यौपमिकं माद्यतेः, मधुस्वादस्य सोमस्योर्मि महासङ्घातम् उदरे आसिञ्चस्व। विशिष्टसोमपानस्य हेतुमाह— हे इन्द्र, त्वं यतो राजा ईश्वरोऽसि। प्रतिपत्सुतानां प्रतिपत्प्रमुखास्वपि तिथिषु सुतानामभिषुतानां सोमानाम्, त्वदर्थमेव सर्वासु तिथिषु सोमोऽभिषूयते, छन्दोगानां सवने प्रतिपदो विद्यमानत्वात्। पिबा 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—'हे मरुत्वान् मरुदादिदेवगणोपेत इन्द्र परमेश्वर, त्वं वृषभोऽभीष्टवर्षणशीलो दीप्यमानश्चासि। रणाय भक्तानामभयार्थं दुष्टदानवैः सार्धं युद्धाय मदाय भक्तानां हर्षाय अनुष्वधं सोमं पिब, अनु पश्चात् स्वधा अन्नानि पुरोडाश-धाना-मन्थ-दधि-पयस्यादीनि यस्य तं सोमं तदुपकरणानि विविधान्यन्नानि च पिब भक्षय। मध्वो मधुस्वादस्य सोमस्य ऊर्मि लहरीः, उदरे जठरे आसिञ्चस्व। हे इन्द्र, त्वमेव प्रतिपत्सुतानां प्रतिपत्प्रमुखासु तिथिषु सुतानामभिषुतानां त्वमेव राजा ईश्वरोऽसि। परमेश्वरस्य पूर्णकामस्य नित्यतृप्तत्वेऽपि भक्तानुग्रहार्थमेव भक्तसमर्पितबल्युपहारसपर्यादिग्राहित्वं पुराणेषु प्रसिद्धम्। 'नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते' (भा० पु० ७।९।११)। हे सोमादिनिवेदनीय द्रव्य, त्वमुपयामगृहीतोऽसि, इन्द्राय मरुत्वते त्वां गृह्णामि। एष ते योनिः, इन्द्राय मरुत्वते त्वां सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सभापते, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, तस्माद् वयं त्वां मरुत्वते प्रशस्ता मरुतः प्रजाः सेना वा विद्यन्ते यस्य तस्मै इन्द्राय शत्रुजिते नियोजयामः। यतस्ते तवैष योनिः। तस्मात् त्वां मरुत्वते

मन्त्रार्थ—मरुद्गणों से संयुक्त हे इन्द्र ! जल को वर्षाने वाले तुम स्वधापूर्वक पुरोडाश, धान्य, मन्थ, दधि, पय लक्षण वाले सोमरस को तृप्ति के निमित्त और दैत्यों से युद्ध करने के लिये पीजिये, इस मधुर रस की कल्लोल का उदर में आसिंचन कीजिये। आप प्रतिपत् प्रभृति तिथियों में अभिषुत हुए सोम के राजा हो। हे ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, इन्द्र और मरुद्गणों की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है, इन्द्र और मरुद्गणों की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३८ ॥

भाष्यसार—'मरुत्वाँ इन्द्र' इस कण्डिका का याज्ञिक विनियोग पूर्वोक्त ही है। यज्ञपरक मन्त्रार्थ भी पूर्वप्रतिपादित है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—मरुत् आदि देवगणों से युक्त हे परमेश्वर, आप अभीष्ट की वर्षा करने वाले तथा दीप्यमान हैं। भक्तों के अभयार्थ दुष्ट दानवों के साथ युद्ध के लिये, भक्तों की प्रसन्नता के लिये पुरोडाश, धाना, मन्थ, दधि, पयस्या आदि अन्नभक्ष्यों से संयुक्त सोम तथा उसके सहवर्ती विविध अन्नद्रव्यों का भक्षण करें। मधु के समान सुस्वादु सोम की तरंगों को उदर में अन्तर्भुक्त करें। हे परमेश्वर, आप ही प्रतिपदा आदि तिथियों में सम्पादित किये गये पदार्थों के स्वामी हैं। पूर्णकाम परमेश्वर के नित्यतृप्त होने पर भी भक्तों पर अनुग्रह के लिये भक्त द्वारा समर्पित नैवेद्य, उपहार, पूजन आदि का ग्रहण करना पुराणों में वर्णित है। हे सोम आदि नैवेद्य द्रव्य, तुम नियमादि से संगृहीत हो। मरुत्वान् परमेश्वर के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। मरुत्वान् परमेश्वर के लिये तुमको स्थापित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत एवं हिन्दी अर्थ ग्राह्य नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के स्थूल अर्थ एवं लोकप्रसिद्ध

इन्द्राय ब्रूमः । किं तत्तदाह—त्वं प्रतिपद्राजा, पद्यते विचार्यते योऽर्थविषयः स पत्, पदं पदं प्रतीति प्रतिपत्, प्रतिपद्राजा प्रत्येककर्मणि प्रकाशमानो मरुत्वान् वृषभोऽसि, अतो रणाय अनुष्वधं सर्वेषु पक्वान्नेष्वनुकूलं मदाय सोमं सोमाद्योषधिसमूहं पिब । सुतानां सुसंस्कारेण निष्पादितानामन्नानां मध्वो मधुरस्य ऊर्मिं लहरीं जठरे आसिञ्चस्व' इति, भाषाभाष्ये तु—'हे इन्द्र शत्रुजित्सभापते, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि राजनियमैः स्वीकृतोऽसि, अतो वयं त्वां मरुत्वते यत्रोत्तमान्यस्त्राणि शस्त्राणि च प्रयुज्यन्ते, तस्मै परमैश्वर्यप्रापकाय युद्धाय नियोजयामः । तव एष युद्धपरमैश्वर्यं योनिः कारणमस्ति । अतस्त्वां तस्मै युद्धाय कथयामि । त्वं प्रत्येकस्मै महते विचारकार्येषु प्रकामयमानः प्रतिपद्राजा प्रशंसनीयप्रजायुक्तः श्रेष्ठोऽसि, अतो रणाय युद्धाय मदाय हर्षाय च प्रत्येकभोजनानुकूलं सोमं सोमलतादिपोषकरसं सुतानामुत्तमसंस्कारैर्निष्पन्नानां भोजनानां मधुररसस्य लहरीर्जठरे स्थापय' इति, तदतीव मन्दम्, तादृशस्थूलार्थस्य लोकसिद्धस्यार्थस्य वाक्यस्यापौरुषेये वेदेऽसम्भवात् । 'मरुत्वते इन्द्राय' इत्यस्य परमैश्वर्यप्रापकं शस्त्रास्त्रादिप्रयोगमयं युद्धमर्थ इत्यत्र मानाभावात् । तथैव प्रतिपत्पदस्य प्रतिविचारार्थत्वं राजपदस्य प्रकाशमानत्वं चार्थश्चिन्त्य एव ॥ ३८ ॥

महाँ२॥ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभिः। अस्मद्र्यग् वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् ॥ उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ ३९ ॥

'माहेन्द्रं गृह्णाति वैश्वदेववन्महाँ इन्द्र इति' (का० श्रौ० १०।३।११) । 'वैश्वदेवं गृह्णाति····। वौमास इति' (का० श्रौ० ९।१४।१-२) इति वैश्वदेवग्रहग्रहणे ये धर्मा उक्तास्तेऽत्रातिदिश्यन्ते वैश्वदेववद् महाँ इन्द्र इति मन्त्रेण शुक्रपात्रेण द्रोणकलशान्माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णीयादिति सूत्रार्थः । माहेन्द्री त्रिष्टुब् भरद्वाजस्यार्षम् । तृतीयपादो नवाक्षरः । इन्द्रः परमैश्वर्यसम्पन्नो देवो वीर्याय वीरकर्मणे वावृधे वर्धते । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति वर्तमाने संहितायामभ्यासदीर्घः । कीदृश इन्द्रः ? महान् महत्त्वगुणविशिष्टः, महाप्रभवो वा । नृवद् मनुष्यवद् आहूयमान आगच्छति । एतेन तस्य सौशील्यवैशिष्ट्यं सूच्यते । चर्षणयो मनुष्यास्तानासमन्तात् प्राति तदभीष्टभोगैः पूरयतीत्याचर्षणिप्राः । यथा राजामात्यादिमनुष्यसेवकानभीष्टभोगैरापूरयतीति, 'प्रा पूरणे' । उतापि चायं द्विबर्हा 'बृहि वृद्धौ' बर्हणं बर्हो वृद्धिः, द्वयोः प्रकृतिविकृतिरूपयोः सोमयागयोर्बर्हो वृद्धिर्यस्येति सः । यद्वा द्वयोर्मध्यमोत्तमस्थानयोर्बर्हाः वृद्धः परिवृढः प्रभुर्द्विबर्हाः । अमिनः सहोभिर्बलैः, अमिनः

पदार्थ से युक्त वाक्य अपौरुषेय वेद में सम्भव नहीं हो सकते । 'मरुत्वते इन्द्राय' इसका अर्थ परमैश्वर्यप्रापक शस्त्रास्त्रादि के प्रयोग से युक्त युद्ध है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । इसी प्रकार प्रतिपत् शब्द का प्रतिविचारार्थत्व तथा राजा शब्द का 'प्रकाशमानत्व' अर्थ भी विचारणीय है ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—राजा जिस प्रकार प्रजा की अभिलाषा पूरी करता है, उसी प्रकार मनुष्य के अभीष्ट को पूरा करने वाले, प्रकृति-विकृति रूप सोम याग को बढ़ाने वाले, उपमा से रहित, बलशाली, हमारे प्रति अनुकूल भाव वाले, महाप्रभावशाली इन्द्र वीरतापूर्ण कार्यों को सम्पन्न करने के लिये वृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा यज्ञ से विस्तीर्ण महान् बलशाली इन्द्र यजमानों द्वारा सत्कृत हो उनके बलवीर्य की वृद्धि करते हैं । हे चतुर्थ ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, महेन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ । हे माहेन्द्र ग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है, महेन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३९ ॥

भाष्यसार—'महाँ इन्द्रः' इस मन्त्र के द्वारा द्रोणकलश से माहेन्द्र ग्रह का ग्रहण किया जाता है । यह याज्ञिक

अमितः अमितबलः, 'अमिनोऽमितमात्रो महान् भवत्यभ्यमितो वा' (निरु० ६।१६) इति यास्कोक्तेः। यद्वा सहोभिः शतबलैरमितोऽप्रक्षिप्तः, शत्रुसम्बन्धिबलैरनुपहिंसित इत्यर्थः। 'डुमिञ् प्रक्षेपणे', 'मीञ् हिंसायाम्' इति वा, निष्ठान्तत्वमार्षम्। यद्वा अमितः उपमारहितः। अस्मद्र्यक् अस्मान् प्रत्यञ्चतीति अस्मद्र्यक् अस्मदभिमुखमुपागन्ता, अस्मच्छब्दे उपपदे अञ्चतेः क्विप्। 'विश्वग्देवयोश्च''''' (पा० सू० ६।३।९२) इत्यादिना क्विबन्तेऽञ्चतौ परेऽस्मच्छब्दस्य टेरद्र्यादेशः। 'उगिदचां''''' (पा० सू० ७।१।७०) इति प्राप्तस्य नुमोऽभावश्छान्दसः। लोडर्थे लुङ्। अडभावश्छान्दसः। अस्मत्सदृशो ववृधे वृद्धिं प्राप्तः। यथा वयमेतदनुग्रहाद् वृद्धिं प्राप्तास्तथैवास्मदीयैर्हविर्भिरस्य विवृद्धिः। तदेव प्रपञ्च्यते—वीर्याय सामर्थ्यसिद्धये कर्तृभिर्यजमानैरयं सुकृतोऽभूत् सुष्ठु वर्धितोऽभूत्। सुकृतः साधुकृतः सत्कृतः पूजितो वा। कीदृशी तस्य विवृद्धिः? उरुर्यशसा विपुलः पृथुर्बलेन विस्तृतः।

शतपथे च—'अथ माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति। पाप्मना वा एतदिन्द्रः सꣳसृष्टोऽभूद्यद्विशा मरुद्भिः स यथा विजयस्य कामाय विशा समाने पात्रेऽश्नीयादेवं तद्यदस्मा एतं मरुद्भिः समानं ग्रहमगृह्णन्' (श० ४।३।३।१५)। मरुत्वतीयग्रहानन्तरं माहेन्द्रं ग्रहं विधत्ते—अथ माहेन्द्रमिति। विहितं माहेन्द्रग्रहं पापनिरसनहेतुत्वेन प्रशंसति—विशा मरुद्भिरिति। मरुद्देवतारूपया विशा, एतेनेन्द्रः पाप्मना पापेन संसृष्टोऽभूत्, यतोऽस्मा इन्द्राय मरुद्भिः समानं साधारणमेतं ग्रहम् अगृह्णन् इति यत् तद् एवंप्रकारो भवति, यथा विजयकामार्थं विशा सह समाने पात्रे भोजनम्। तस्मात् पापसंसृष्टोऽभूत्। 'तं देवाः। सर्वस्मिन् विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे यथेषीकां मुञ्जाद्विवृहेदेवꣳ सर्वस्मात् पाप्मनो व्यवृहन् यन्माहेन्द्रं ग्रहमगृह्णंस्तथो एवैष एतद्यथेषीका विमुञ्जा स्यादेवꣳ सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते यन्माहेन्द्रं गृह्णाति' (श० ४।३।३।१६)। ते देवाः सर्वस्मिन् विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे सति तमिन्द्रं मुञ्जाद्यथेषीकां तद्गताग्रं विवृहेद् उद्धरेत्, एवं माहेन्द्रग्रहग्रहणेन सर्वस्मात् पाप्मनो व्यवृहन्, तस्मात्तथैव एष यजमानो मुञ्जादुद्धृतेषीकेव माहेन्द्रग्रहणेन सर्वस्मात् पापान्मुच्यते। 'यद्वेव माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति। इन्द्रो वा एष पुरा वृत्रस्य वधादथ वृत्रं हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्तस्मान्माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति महान्तमु चैवैनमेतत्करोति वृत्रस्य वधाय तस्मादेव माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति शुक्रपात्रेण गृह्णात्येष वै शुक्रो य एष तपत्येष उ एव महांस्तस्माच्छुक्रपात्रेण गृह्णाति' (श० ४।३।३।१७)। यजमानस्य महत्त्वहेतुत्वेन पुनरपि माहेन्द्रं ग्रहं प्रशंसति—महान्तं चैवैनमिति। लोके विजिग्यानो विजितवान् राजा यथा महाराजो भवति, एवमिन्द्र एव वृत्रं हत्वा महेन्द्रोऽभवत्। तस्मान्माहेन्द्रग्रहणेन वृत्रस्य पापरूपस्य वधार्थमेनं यजमानं महान्तं करोति। विहितग्रहणमनूद्य शुक्रपात्रं विधत्ते—शुक्रपात्रेण गृह्णातीति। शुक्रस्य सूर्यरूपस्य सर्वात्मकत्वेन महत्त्वात् तत्पात्रेण माहेन्द्रग्रहस्य ग्रहणं युक्तमित्यर्थः। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरो महान् प्रभावतस्तथापि भक्तैराहूतो नृवत् मनुष्यवत् प्रेम्णाकृष्ट इवागच्छति। आचर्षणिप्रा चर्षणीनां मनुष्याणां पूरयिता कामैः, उत किञ्च द्विबर्हा द्वयोरिहलोकपरलोकयोः परिवृढः प्रभुः, अमिनः सहोभिः, सहोभिर्बलैः, अमिनोऽनुपमः। यद्वा सहोभी रावणादिशत्रुबलैः, अमिनोऽनुपहिंसितः।

प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।३।११) में निरूपित है। याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है – परमेश्वर महान् प्रभावशाली हैं, तथापि भक्तों के द्वारा आहूत होने पर मनुष्य के समान प्रेम से मानों आकृष्ट होकर आते हैं। मनुष्यों को अभिलषित पदार्थों से परिपूर्ण करने वाले लोक एवं परलोक

अस्मद्रयक् अस्मद्दर्शनोत्सुकः सन् वावृधे वर्धते वीर्याय वीरकर्मणे, यथा गौः स्ववत्सदर्शनोत्सुका भवति, तथैव भगवाननुग्रहार्थं भक्तदर्शनोत्सुको भवति। भक्तरक्षणार्थमेव वीरकर्मणे रावणादिवधाय वावृधे वर्धते। सोऽस्माभिः क्रतुभिर्यजनार्चनादिकारकैः स्तूयमानः, उरुः प्रमाणतः पृथुश्च विस्तारेण सुकृतः शोभनं भक्तानां कल्याणं कृतं येन स तथाभूतो भूयात्। यद्वा कर्तृभिरर्चकैः सुकृतः साधुकृतः सत्कृतः पूजितोऽभूत्, भवत्वित्यर्थः। हे सोम, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि महेन्द्राय अनुत्तमैश्वर्यवते परमेश्वराय त्वां स्वीकरोमि। एष उपासनाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। महेन्द्राय त्वा सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे भगवन् जगदीश्वर, यतस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि योगाभ्यासेन स्वीकर्तुं योग्योऽसि, तस्माद् महेन्द्राय अनुत्तमैश्वर्याय त्वा वयमुपास्महे। उतापि यतस्तवैष योगो योनिः कल्याणकारणम्, यो महान् सर्वोत्कृष्टः पूज्यतमश्च नृवद् न्यायशीलैर्मनुष्यैस्तुल्यः, आचर्षणिप्रा आचर्षणीन् मनुष्यान् प्राति पूरयति सः, द्विबर्हा द्वे बर्हसी व्यावहारिकपारमार्थिके वृद्धिकरे विज्ञाने यस्य सः। अस्मद्रयक् अस्मानञ्चति सर्वज्ञतया जानातीति। अमिनः अनुपमोऽतुलपराक्रमः, उरुर्बहुः, पृथुर्विस्तीर्णः, कर्तृभिः सुकर्मकारिभिर्जीवैः सह सुकृत् शोभनं कृतं क्रियते येन सः, इन्द्रोऽभूद् भवति। तमेवाश्रितः सर्वो जनः सहोभिः सह वीर्याय वावृधे' इति, तद्यपि भगवदाश्रयणं नानुचितम्, तथापि श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वान्नायं मन्त्रार्थः। उपयामेति पदस्य योगाभ्यासोऽर्थो निर्मूल एव। महेन्द्रशब्दस्य महैश्वर्ययुक्तो देवोऽर्थो न महैश्वर्यम्, व्युत्पत्तिविरोधात्। वयमुपास्मह इत्यपि वेदाक्षर-बाह्यमेव। नृवदित्यत्र नृपदेन न्यायशीलमनुष्योऽर्थो ग्राह्य इत्यत्र न किञ्चिद् बीजम्। नृधातोर्नयार्थत्वेऽपि न्यायशीलो मनुष्य इति कथमर्थः? परमेश्वरस्य एकत्वात् तत्र बहुत्वं न युक्तम्। अमितस्य पृथुत्वमपि न युक्तम्। सर्वो जन इत्यपि निर्मूलोऽध्याहारः॥ ३९॥

म॒हाँ२॥ इन्द्रो॒ य ओज॑सा प॒र्जन्यो॑ वृष्टि॒माँ२॥ इ॑व। स्तोमै॑र्व॒त्सस्य॑ वावृधे। उ॒प॒या॒मगृ॑ही॒तोऽसि म॒हेन्द्राय॑ त्वै॒ष ते॒ योनि॑र्म॒हेन्द्राय॑ त्वा॥ ४०॥

दोनों के प्रभु, बलों के द्वारा अनुपम, अथवा रावण आदि शत्रु बलों से अनुपहिंसित हम लोगों को देखने के लिये समुत्सुक होते हुए वे वीरतापूर्ण कार्यों के लिये परिवृद्ध होते हैं। जिस प्रकार गौ अपने बछड़े को देखने हेतु उत्कण्ठित होती है, उसी प्रकार भगवान् भी अनुग्रह के लिये भक्तों को देखने के इच्छुक होते हैं। भक्तों की रक्षा के लिये ही रावणवध आदि वीरतापूर्ण कार्यों के लिये अभिवृद्ध होते हैं। हमारे द्वारा यजन, अर्चन आदि कृत कर्मों से स्तुत होते हुए वे भक्तों के लिये गुरुतर तथा अतिविशाल कल्याणकर्ता हों। अथवा पूजकों के द्वारा अत्यधिक सम्मानित, पूजित हों। हे सोम, तुम नियमादि के द्वारा गृहीत हो। अनुत्तम ऐश्वर्य से युक्त परमेश्वर के लिये तुमको स्वीकार करता हूँ। यह उपासना स्थल ही तुम्हारा स्थान है। परमेश्वर के लिये तुमको रखता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में भगवदाश्रयण अनुचित नहीं है, तथापि श्रुति एव सूत्र वचनों से विरुद्ध होने के कारण यह मन्त्रार्थ नहीं है। उपयाम शब्द का 'योगाभ्यास' अर्थ निर्मूल ही है। महेन्द्र शब्द का 'महैश्वर्ययुक्त देव' यह अर्थ है, केवल महैश्वर्य नहीं है, क्योंकि इसमें व्युत्पत्ति से विरोध है। 'नृ' पद से न्यायशील मनुष्य अर्थ लेना चाहिये, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। 'नृ' धातु के नयनार्थक होने पर भी 'न्यायशील मनुष्य' यह अर्थ कैसे होगा? परमेश्वर के एक होने के कारण उसमें बहुत्व जोड़ना उचित नहीं है। 'सर्वो जनः' यह अध्याहार करना भी अप्रामाणिक है॥ ३९॥

माहेन्द्री गायत्री वत्सदृष्टा । माहेन्द्रग्रहग्रहण एव विकल्पेन विनियुक्ता । य इन्द्रो वत्सस्य वसनशीलस्य वत्सस्थानीयस्य वा यजमानस्य स्तोमैः स्तोत्रैर्वावृधे वर्धते । कीदृशः इन्द्रः ? ओजसा बलेन तेजसा वा महान् महत्त्वोपेतः । क इव ? वृष्टिमान् वृष्टियुक्तः पर्जन्य इव । यथा वर्षणशीलो मेघस्तापापनोदकत्वेनान्नादिप्रदत्वेन दारिद्र्यनाशकत्वेन वर्धते, तथैव पाप-ताप-दारिद्र्यादिनाशकत्वेनेन्द्रो वर्धते । यद्वा महान् महाप्रभाव इन्द्र ओजसा बलेन यथा वृष्टिमान् पर्जन्यो धाराभिरसंख्याभिरपरिच्छिन्नसंख्यः, एवमोजसाऽसंख्यातमहाभाग्येनापरिच्छिन्नमहावैभवो वत्सस्य वात्सल्यास्पदस्य यजमानस्य स्तोमैः स्तूयमानो वर्धते ।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरो महान् स्वरूपतः, प्रभावतस्तु महाप्रभावः, य ओजसा तेजसा वृष्टिमान् वर्षणशीलः पर्जन्य इव, स भगवान् वत्सस्य वात्सल्यप्रेमास्पदस्य भक्तस्य स्तोमैः स्तोत्रैः स्तूयमानो वावृधे वर्धते । हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसीति पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'अनादिसिद्धमहायोगिन्, यतस्त्वं योगिभिरुपयामगृहीतोऽसि, तस्मात् त्वां महेन्द्रायोपास्महे । यतस्तवैष योगो योनिरस्त्यतस्त्वां महेन्द्राय वयं ध्यायेम । महान् वृष्टिमान् पर्जन्य इव वत्सस्य स्तोमैरोजसेन्द्रः सुखवर्षको भवति । तं विदित्वा योगी वावृधे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य स्वाभ्यूहितत्वात् । इन्द्रः सुखवर्षक इत्यादिकं सर्वं पूर्ववदेव निर्मूलम् ॥ ४० ॥

उदु॒ त्यं जा॒तवे॑दसं दे॒वं व॑हन्ति के॒तवः॑ । दृ॒शे विश्वा॑य॒ सूर्य॒ꣳ स्वाहा॑ ॥ ४१ ॥

'इडां भक्षयित्वा शालाद्वार्ये दक्षिणाहोमो वासःप्रबद्धꣳ हिरण्यꣳ हवन्यामवधाय चतुर्गृहीतमुदु त्यमिति' (का० श्रौ० १०।२।८) । सवनीयपुरोडाशेडां भक्षयित्वा शालाद्वार्ये दक्षिणासम्बद्धो होमः स्यात् । दक्षिणाप्रयोजको होमो दक्षिणाहोमः । तत्र वस्त्रेण प्रकर्षेण बद्धं हिरण्यं जुह्वां निधाय चतुर्गृहीतमाज्यमुदु त्यमिति शालाद्वार्ये प्रथमामाहुतिं जुहुयात् । सौरी गायत्री प्रस्कण्वदृष्टा । तृतीयपादः सप्तार्णः । उ निपातः पादपूरणः ।

मन्त्रार्थ—जो महाप्रभावशाली इन्द्र तेज से महान्, वर्षा वाले मेघ के समान, मन से की हुई स्तुतियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, उसकी प्रीति के लिये हे ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ४० ॥

भाष्यसार—'महाँ इन्द्रः' यह ऋचा भी माहेन्द्र ग्रह के ग्रहण में विकल्प से विनियुक्त की गई है । इसका याज्ञिक अर्थ पूर्वप्रतिपादित ही है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—परमेश्वर स्वरूपतः तथा प्रभाव से महान् है, जो तेज से अभिवर्षण करने वाले पर्जन्य की भाँति है । भगवान् वात्सल्यप्रेमास्पद भक्त की स्तुतियों से अभिवृद्ध होते हैं । हे सोम, तुम नियमादि के द्वारा गृहीत हो, इत्यादि व्याख्या पूर्व की भाँति ही है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में सम्बोधन पद स्वयं के द्वारा ही कल्पित होने के कारण अप्रामाणिक है । इन्द्र का अर्थ सुखवर्षक है, इत्यादि समस्त व्याख्यान भी पूर्व की भाँति ही निर्मूल है ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—सब पदार्थों को जानने वाले प्रकाशात्मक सूर्यदेव को उसकी प्रकाशात्मक किरणें समस्त विश्व में प्रकाश फैलाने के लिये विचार के साथ निश्चित दिशाओं में सब तरफ वहन करती हैं । वे स्वर्ग में भी पहुँचती हैं । उस प्रसिद्ध सूर्यदेव के निमित्त दी गई यह हवि भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४१ ॥

भाष्यसार—'उदु त्यम्' इस ऋचा का विनियोग दक्षिणाहोम नामक आज्याहुति प्रदान करने के लिये किया गया है।

त्यमिति त्यच्छब्दश्छान्दसस्तच्छब्दार्थे इति महीधराचार्यः। केतवो मयूखाः, त्यं तं प्रसिद्धं सूर्यमुद्वहन्ति। कीदृशं सूर्यम्? जातवेदसम्, जातो वेद ऋग्वेदो ज्ञानं धनं वा यस्मात्तम्, 'ऋग्वेदोऽग्नेरजायत' इति श्रुतेः। 'जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यत इति वा, जातवित्तो वा जातधनः, जातविद्यो जातप्रज्ञानः, यत्तज्जातः पशूनविन्दतेति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्' (निरु० ७।१९) इति यास्कोक्तेः। देवो दानाद् द्योतनाद्वा। तं देवं दातारं द्युस्थानं वा उद्वहन्ति ऊर्ध्वं नयन्ति। किमर्थम्? विश्वाय विश्वस्य, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, दृशे दर्शनाय जगद् द्रष्टुं जगतः प्रकाशनाय जगत्कर्तृकदर्शनाय वा। 'दृशे विख्ये च' (पा० सू० ३।४।११) तुमर्थे निपातः। तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु। यद्वा केतवो रश्मयस्त्वां जातवेदसं तमग्निसदृशं सूर्यम्, उद्वहन्ति ऊर्ध्वसदृश एव नयन्ति। किमर्थम्? विश्वस्य कृत्स्नस्य जगतः सूर्यं दृशे द्रष्टुम्।

आध्यात्मिकोऽर्थः अत्यन्तं प्रसिद्धं परमात्मानं केतवो भगवद्यशःख्यापका आचार्या भक्त्या उद्वहन्ति हृदयेनोच्चैर्महत्या भक्त्या धारयन्ति। कीदृशं तम्? जातवेदसम्, जाता वेदा यस्मात्तम्, देवं दानादिगुणयुक्तम्। किमर्थम्? विश्वाय विश्वस्य दृशे दर्शनाय विश्वकर्तृकभगवद्दर्शनाय। यथा मेघानीतमेव जलं सर्वसुलभं भवति, तथा भक्ताचार्यप्रत्त एव भगवान् सर्वसुलभो भवति, तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु—'यथा किरणा विश्वाय सर्वार्थाय दृशे द्रष्टुं जातवेदसं त्यममुं सूर्यं यः स्त्रियते विज्ञायते विज्ञाप्यते वा तं देवमुद्वहन्ति, एवं विदुषः केतवो ज्ञानानि स्वाहा वाणी अन्यान् मनुष्यान् परं ब्रह्म प्रापयन्ति' इति, तदपि न किञ्चित्, विदुष इत्याद्यध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। कैश्चित्तु 'मयूखपदेन सूर्यगताकर्षणशक्तिरभिधीयते, आकर्षणशक्तिभिरेव सूर्यस्य धार्यमाणत्वात्' इति, तदपि तुच्छम्, तादृशशक्तेरसिद्धत्वात्, केतुपदस्य रश्मिषु प्रसिद्धत्वाच्च ॥ ४१ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ ४२ ॥

यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।४) में प्रतिपादित है। याज्ञिक दृष्टि से मन्त्रार्थ महीधराचार्य आदि द्वारा किया गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से मन्त्रार्थ इस प्रकार है उस सुप्रथित परमात्मा को भगवान् के यश का ख्यापन करने वाले आचार्य एवं भक्तगण हृदय से उच्च महान् भक्ति के द्वारा धारण करते हैं। जिससे वेद प्रादुर्भूत हुए हैं, उस दानादि गुणों से युक्त भगवान् को सम्पूर्ण विश्व के द्वारा दर्शनार्थ धारण करते हैं। जिस प्रकार मेघों के द्वारा लाया गया जल ही सबके लिये सुलभ होता है, उसी प्रकार भक्तों, आचार्यों द्वारा निरूपित भगवान् ही सर्वसुलभ होते हैं। उस परमात्मा के लिये हम आत्मसमर्पण करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ 'विदुषः' इत्यादि अध्याहारों की निर्मूलता के कारण अग्राह्य है। कुछ लोग मयूख शब्द से सूर्य की आकर्षण शक्ति का ग्रहण करते हैं। यह भी अनुचित है, क्योंकि उस प्रकार को शक्ति सिद्ध नहीं है। केतु शब्द की प्रसिद्धि भी रश्मियों के अर्थ में ही है ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—यह कैसा आश्चर्य है कि देवताओं के जीवनाधार, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूपधारी परमेश्वर के नेत्रों के समान प्रकाशमान्, जंगम और स्थावर जगत् के अन्तर्यामी भगवान् सूर्य उदयाचल को प्राप्त हो रहे हैं,

'चित्रं देवानामिति द्वितीयामिति' (का० श्रौ० १०।२।४)। चतुर्गृहीतेनाज्येन शालाद्वार्ये द्वितीयामाहुतिं जुहुयात्। सौरी त्रिष्टुप् कुत्सदृष्टा। सूर्यो देवः परापररूपेणावस्थितोऽत्र स्तूयते। तत्र अपररूपेण स्तूयते सूर्यः— चित्रमाश्चर्यं यथा स्यात्तथा उदगादुदयं प्राप्त उद्गच्छति वा। चित्रमिति क्रियाविशेषणम्। आश्चर्यं हि यः स्वकीयेन ज्योतिषा शार्वरं तमोऽपहृत्यान्येषां ज्योतिषां ज्योतिरादायोद्गच्छति। यद्वा चित्रं चायनीयं पूजनीयमुदगमत्। यद्वा चित्रं रक्तश्वेतादिविविधवर्णं देवानां किरणानामनीकं मुखमाश्रयः। द्योतन्ते दीव्यन्तीति देवाः किरणाः। यद्वा अनीकं समूहः किरणपुञ्जः, रश्मीनामनीकं सैन्यसदृशं मण्डलमुदगात्। तथा मित्रस्य वरुणस्य अग्नेश्चक्षुर्नेत्रवत् प्रकाशकः। मित्रादय उपलक्षकाः, सर्वस्य सदेवमनुष्यस्य विश्वस्य रूपाणि सूर्योदयेऽभिव्यज्यन्ते, अतो मित्रादीनां चक्षुः स सूर्य उद्गतः। सर्वस्य प्राणिजातस्येन्द्रियाधिष्ठातृत्वाच्चक्षुषोऽधिष्ठातृत्वाच्च चक्षुःस्थानीयो मण्डलस्थः सूर्यः स्थावरस्य जगतश्चात्मा। यच्च उदयानन्तरमेव द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च आप्रा आपूरितवत् स्वकीयेन प्रकाशेन द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च आसमन्तात् पूरयति। पूर्वोक्तानि विशेषणानि मण्डलाभिप्रायान्नपुंसकलिङ्गानि। अथ परमात्मरूपेण स्तूयते—सूर्य आत्मा परमपुरुषरूपः। कस्यात्मेत्याकाङ्क्षायामुच्यते—जगतो जङ्गमस्य तस्थुषश्च स्थावरस्य च सर्वस्यैवात्मा चेतयिता, 'यमेतमादित्ये पुरुषं वेदयन्ते स इन्द्रः प्रजापतिस्तद् ब्रह्म' इति। सूर्याद्वैतमनेन मन्त्रेण स्थाप्यते, स सूर्यात्मत्वेनोपास्यः। एवमधियज्ञं गतोऽप्ययं मन्त्रोऽधिदैवतमाचष्टे। अध्यात्मं तु वक्ष्यति—'योऽसावादित्ये पुरुष.....' इत्यादिना। तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—उक्तव्याख्यानमेवाध्यात्मव्याख्यानमपि।

भूलोक से द्युलोक पर्यन्त अन्तरिक्ष को अपने तेज से पूर्ण कर रहे हैं। उन सूर्यदेव के निमित्त दी हुई यह आहुति भली प्रकार से गृहीत हो ॥ ४२ ॥

भाष्यसार— 'चित्रं देवानाम्' इस ऋचा से चतुर्गृहीत घृत की द्वितीय आहुति शालाद्वार्य नामक अग्नि में प्रदान की जाती है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।४) में प्रतिपादित है। इस ऋचा में पर तथा अपर रूप से विद्यमान सूर्य की स्तुति की गई है।

अपर रूप से सूर्य की स्तुति इस प्रकार से है कि यह आश्चर्यजनक रूप से उदय को प्राप्त हुआ है, अथवा उदित होता है। आश्चर्य ही है कि यह अपनी ज्योति से रात्रि के अन्धकार को विनष्ट करके, अन्य ज्योतियों का प्रकाश ग्रहण करते हुए उदित होता है, अथवा अत्यन्त सुपूज्यता से उदित होता है, अथवा लाल, श्वेत आदि विविध रंगों से युक्त किरणों का यह मुख है, आश्रय है। द्योतनात्मक होने के कारण देव का अर्थ किरण है। अथवा किरणों के पुंज, रश्मियों की सेना के समान यह मण्डल उदित हुआ है। यह मित्र, वरुण, अग्नि आदि देवों का नेत्र की भाँति प्रकाशक है। देवों और मनुष्यों के सहित सम्पूर्ण विश्व के रूप सूर्योदय में अभिव्यक्त होता है। अतः मित्र आदि का नेत्ररूपी वह सूर्य उदित हुआ है। समस्त प्राणियों की इन्द्रियों के अधिष्ठाता तथा चक्षु के अधिष्ठाता होने के कारण नेत्रस्थानीय मण्डलस्थित सूर्य स्थावर-जंगमात्मक विश्व की आत्मा है। वह उदय के बाद ही द्युलोक, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष को सर्वतः परिपूर्ण कर देता है।

परमात्मा के रूप में स्तुति इस प्रकार से है कि यह सूर्य आत्मा परमपुरुषरूपी है। किसकी आत्मा है, यह निरूपित किया जाता है- जंगम तथा स्थावर समस्त विश्व की आत्मा, चेतनत्वकर्ता है। इस मन्त्र से सूर्याद्वैत की प्रतिष्ठापना की जाती है। वह सूर्यात्मत्व के रूप से उपासनायोग्य है। इस प्रकार अधियज्ञ प्रकरण में व्याख्यात होने पर भी यह मन्त्र अधिदैवत अर्थ प्रकाशित करता है। अध्यात्मपक्षीय अर्थ भी 'योऽसावादित्ये पुरुषः' इत्यादि के द्वारा प्रतिपादित है। उसके

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माभिः सूर्यः स्वाहा सत्यक्रियया देवानां चक्षुरादीनामिव विदुषां मित्रस्य सख्युः प्राणस्य वा वरुणस्य श्रेष्ठस्योदानस्याग्नेर्विद्युतः, चित्रमनीकं बलवत्तरं सैन्यमिव चक्षुरुदगात्। जगतस्तस्थुषश्चात्मा सन् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षमाप्रा इव यो जगदीश्वरोऽस्ति, स एव सततमुपासनीयः' इति, भाषाव्याख्याने तु—'हे मनुष्याः, यः सूर्यः सत्यक्रियया चक्षुरादीनामिव देवानां मित्रस्य प्राणस्य वरुणस्य श्रेष्ठपुरुषस्योदानस्य वा अग्नेर्विद्युतश्च चित्रमद्भुतमनीकं बलवत्तरसेनाया इव प्रसिद्धं चक्षुः प्रभावदर्शकगुणान् उदगात् सुप्राप्तो भवति, जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य आत्मा इव, सततव्याप्त इव द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च व्याप्त इव परमात्मास्ति, युष्माभिस्तस्योपासना सततं कार्या' इति, तदुभयमपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थपरित्याग-गौणार्थस्वीकारस्य चानौचित्यात्। 'मनुष्याः' इति सम्बोधनमपि दुर्बलमेव। स्वाहापदस्य सत्यक्रियार्थतापि निर्मूलैव ॥ ४२ ॥

अग्ने नय॑ सु॒पथा॑ रा॒ये अ॒स्मान् विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑उक्तिं विधेम॒ स्वाहा॑ ॥ ४३ ॥

'अग्ने नयेत्याग्नीध्रीयेऽग्नौ सकृद्गृहीतमाज्यं जुहोति' (का० श्रौ० १०।२।६)। मन्त्रोऽयं पञ्चमेऽध्याये षट्त्रिंशे स्थले व्याख्यातः। शतपथे—'स जुहोति। अग्ने नय....स्वाहेत्यथ यद्यश्वं युक्तं वा अयुक्तं वा दास्यन् स्यादथ द्वितीयां जुहुयाद् यद्यु न नाद्रियेत' (श० ४।३।४।१२)। हे अग्ने, विश्वानि वयुनानि ज्ञानानि विद्वान् त्वमस्मान् राये धनाय स्वर्गलक्षणाय मोक्षलक्षणाय वा नय प्रापय। किञ्च, जुहुराणं कुटिलमेनः पापमस्मद् अस्मत्तो युयोधि पृथक्कुरु। वयं च ते भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम नमस्कारं कुर्याम। 'विध विधाने' इति धातोः। स्वाहा स्वाहुतमस्तु। यद्यश्वयुक्तं रथे विनियुक्तमयुक्तं वा दास्यन् स्यात् तद् द्वितीयामाहुतिं जुहुयात्। यद्यु न, नाद्रियेत।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने स्वप्रकाशपरमेश्वर, अस्मान् सुपथा शोभनेन मार्गेण राये भोगमोक्षलक्ष्म्यै नय प्रापय। भवान्नो वयुनानि ज्ञानान्युपासनालक्षणानि विद्वान् जानानोऽस्मत्तो जुहुराणं कुटिलमेनः पातकं

प्रति पूर्ण समर्पण हो। अध्यात्मपक्ष में उपर्युक्त व्याख्या ही आध्यात्मिक व्याख्या भी है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित संस्कृत एवं हिन्दी दोनों ही व्याख्याएँ मुख्य अर्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ को स्वीकार करने के कारण अनौचित्य के द्वारा अग्राह्य है। 'हे मनुष्यों' यह सम्बोधन भी दुर्बल ही है। स्वाहा शब्द का सत्यक्रिया अर्थ भी अप्रामाणिक ही है ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेवता! आप सभी प्रकार की विद्याओं को जानने वाले हैं। धन और यज्ञ की प्राप्ति के लिये जो श्रेष्ठ मार्ग है, उसे हमें दिखाइये। हमारी अभिलाषाओं के प्रतिबन्धक पापों को दूर कीजिये। हम आपका नमन करते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं। आपको दी हुई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४३ ॥

भाष्यसार—'अग्ने नय' इस मन्त्र से आग्नीध्रीय अग्नि में घृत की आहुति प्रदान की जाती है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।६) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह मन्त्र पाँचवें अध्याय में छत्तीसवीं कण्डिका के रूप में याज्ञिक दृष्टि से व्याख्यात है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे स्वप्रकाश परमेश्वर, हम लोगों को शुभ मार्ग के द्वारा भोग एवं

युयोधि वियोजय। ते तुभ्यं भूयिष्ठां बहुतरां नमउक्तिं नमस्कारवचनं विधेम करवामः, तस्मै तुभ्यं स्वाहा सर्वमर्पितमस्तु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, त्वं सुपथा योगमार्गेण राये योगसिद्धये, अस्मान् विश्वान्यखिलानि नय प्रापय। यतो वयं स्वाहा सत्यया स्वकीयया वाचा वेदवाचा वा भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम। हे देव योगप्रदविद्वन्, त्वं कृपया जुहुराणमेनोऽस्मद्युयोधि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'सुपथा योगमार्गेण राये योगसिद्धये' इति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, वेदेषु गीतायां च दक्षिणायनोत्तरायणलक्षणमार्गद्वयातिरिक्तमार्गस्यादर्शनात्॥ ४३॥

अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा॥ ४४॥

अयमपि मन्त्रः पञ्चमेऽध्याये ३७ कण्डिकास्थले व्याख्यातपूर्वः। शतपथे चैष व्याख्यातः—'स जुहोति। अयं नोऽग्निः····स्वाहेति वाजसा ह्यश्वः' (श० ४।३।४।१३)। द्वितीयाहुतेः कर्तव्यतापक्षे मन्त्रमाह—स जुहोति, अयं न इति। मन्त्रार्थस्तु—अग्निर्नोऽस्माकं वरिवो धनं कृणोतु सम्पादयतु। 'कृवि हिंसाकरणयोः'। न केवलमयं धनमेव करोतु, किन्तु मृधः संग्रामान् प्रभिन्दन् युद्धव्यूहान् भेदयन् पुरस्तादेतु गच्छतु। किञ्चायं वाजसातौ, 'वाजोऽन्नम्' (निघ० २।७), सोऽस्मिन् सायते सम्भज्यत इति वाजसातिः संग्रामः, तस्मिन् वाजसातौ संग्रामे वाजान् अन्नानि जयतु स्वाधीनं करोतु। अतिशयेन हृष्यन्निति जर्हृषाणः शत्रून् जयतु। मन्त्रस्थवाजशब्दस्य तात्पर्यमाह—'वाजसा ह्यश्वः' इति। वाजमन्नं सनोति संभजतीति वाजसाः, 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इत्यात्वम्। अस्य जयसिद्धिसाधकत्वादन्नसम्पादकत्वम्। अनेनैवाभिप्रायेण साध्यसाधन-भेदाऽविवक्षयाऽश्वस्यान्नरूपत्वं क्वचिदाम्नायते—'अश्वो वै बृहद्वयः' इति। वय इत्यन्ननामधेयम्। यतोऽश्वोऽस्य वाजसाः, तस्माद्दानाङ्गभूतस्य साधने मन्त्रे वाजशब्दप्रयोगः।

अध्यात्मपक्षे—अयं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नोऽग्निः सर्वदोषदाहकोऽग्निः परमात्मा नोऽस्माकं वरिवो ज्ञानलक्षणं धनं कृणोतु सम्पादयतु। अयमपरोक्षात्माभिन्नोऽग्निर्मृधः संग्रामान् भिन्दन् संग्रामे सेनाव्यूहान् विदारयन्

मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करावें। आप हमारे उपासनादि ज्ञानों को जानते हुए हमसे कुटिल पाप को दूर कीजिये। आपके लिये हम बार-बार नमस्कारात्मक वचनों का वाचन करते हैं। आपके लिये हमारा सर्वस्व समर्पित है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ 'योगमार्ग के द्वारा, राये, अर्थात् योगसिद्धि के लिये' इत्यादि निर्मूल व्याख्या होने के कारण अग्राह्य है। वेदों में तथा गीता में दक्षिणायन तथा उत्तरायण रूपी दो मार्गों के अतिरिक्त किसी अन्य मार्ग का उल्लेख नहीं है॥ ४३॥

मन्त्रार्थ **यह अग्नि हमें धन और ऐश्वर्य से सम्पन्न करे, संग्राम में शत्रुसेनाओं को छिन्न-भिन्न करता हुआ आगे बढ़े। यह अग्नि धन-धान्य के संग्रह को हमें देने के लिये शत्रु से जीत ले। अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ यह अग्नि हमारे शत्रुओं को जीते, हमारी आहुति को सुन्दर रूप से ग्रहण करे॥ ४४॥**

भाष्यसार—'अयं नः' यह मन्त्र भी पंचम अध्याय में सैंतीसवीं कण्डिका के रूप में व्याख्यात है। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—यह प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, समस्त दोषों को दग्ध करने वाला परमात्मा

कामादिशत्रून् नाशयन् पुरस्ताद् बुद्धौ एतु, पुरः पुरस्ताद् एतु गच्छतु। अयमग्निर्वाजसातौ देवासुरसंग्रामेऽन्नानि जयतु स्वाधीनं करोतु। जर्हृषाणोऽत्यन्तं हृष्यन् शत्रूंश्च जयतु कामादीन् दोषान् बाह्यान् आन्तरांश्च शत्रून् जयतु।

दयानन्दस्तु—'अयं सर्वाभिरक्षकोऽग्निर्वैद्यविद्याप्रकाशकः सर्वरोगनिवारकः सद्वैद्यो नोऽस्माकं वाजसातौ वाजानां संग्रामाणां विभागे वरिवः सुखकारकं सेवनं कृणोतु करोतु। अयं मुख्ययोद्धा प्रभिन्दन् शत्रून् विदारयन् मृधः संग्रामस्य पुरः पुरस्तादेतु। अयं वक्तृत्वेनोपदेष्टुं कुशलो योद्धा वाजान् वेगादिगुणयुक्तान् सेनास्थान् वीरान् जयतु उत्कर्षयतु। अयं सर्वोत्कृष्टो जर्हृषाणो भृशमाह्लादितः सन् शत्रून् धर्मशातकान् जयतु स्वोत्कर्षाय तिरस्करोतु' इति, तदपि क्लिष्टकल्पनैव, एकस्यायंशब्दस्य त्वदुक्तनानार्थकत्वे मानाभावात् ॥ ४४ ॥

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु।
ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः ॥ ४५ ॥

'सहिरण्यो यजमानः शालां पूर्वेण तिष्ठन्नभिमन्त्रयते दक्षिणा बहिर्वेदि तिष्ठन्तीर्दक्षिणतो रूपेण व इति' (का० श्रौ० १०।२।९)। सहिरण्यो यजमानः शालां पूर्वेण तिष्ठन् वेदेर्बहिर्दक्षिणस्यां दिश्यवस्थिता गा अभिमन्त्रयेद् रूपेण व इति मन्त्रेण। नष्टरूपानुष्टुब् दक्षिणादेवत्या, नव वैराजत्रयोदशैर्नष्टरूपेति लक्षणात्। अत्र द्वितीय एकादशार्णस्तेन पूर्णैव। अग्रे पशव आत्मनो दानमसहमाना अन्यानि रूपाण्याददिरे। तान् देवाः स्वै रूपैः प्रत्युपतिष्ठन्त। ततस्ते स्वै रूपैराजग्मुः। एतन्निदानमस्य मन्त्रस्य। हे दक्षिणारूपा गावः, रूपेण मूर्त्या वो युष्माकं रूपमहमभ्यागामभ्यागतोऽस्मि। अतो भवतीभिरागन्तव्यम्। सर्वो हि स्वं रूपमागच्छतीत्यभिप्रायः। किञ्च, तुथो वो विश्ववेदा विभजतु। तुथो ब्रह्मा प्रजापतिर्वो युष्मान् विभजतु यथार्हमृत्विग्भ्यो विभागं करोतु, 'ब्रह्म वै तुथः' (श० ४।३।४।१५) इति श्रुतेः। कीदृशः तुथः? विश्ववेदाः, विश्वं सर्वं वेदो ज्ञानं यस्य स विश्ववेदाः सर्वज्ञः। यूयं चैतज्जानाना ऋतस्य यज्ञस्य प्रस्तुतस्य पथा मार्गेण प्रेत प्रगच्छत।

हमारे लिये ज्ञानरूपी धन का सम्पादन करे। यह अपरोक्षात्माभिन्न अग्नि संग्राम में सेना के व्यूहों को, कामादि शत्रुओं को विनष्ट करता हुआ बुद्धि में प्राप्त हो, संमुख आवे। देवासुरसंग्राम में यह अग्नि अन्नों को स्वाधीन करे, अत्यन्त प्रहृष्ट होकर शत्रुओं को विजित करे, बाह्य तथा आन्तरिक काम आदि दोषों को जीते।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत अर्थ तो क्लिष्ट कल्पना ही है, क्योंकि एक ही 'अयं' शब्द के निरूपित विभिन्न अर्थों में कोई प्रमाण नहीं है ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—सुवर्ण दक्षिणा वाली हे गायो! यजमान की मूर्ति से मैं तुम्हारे रूप को प्राप्त हुआ हूँ। सर्वज्ञ ब्रह्मा यथायोग्य विभक्त कर ऋत्विजों के निमित्त तुम्हें प्रदान करें। यज्ञ के मार्ग से गमन करो। हे दक्षिणारूप गायो! आज हम तुमको प्राप्त करके स्वर्ग के देवयान मार्ग को देखते हैं, अन्तरिक्ष के पितृयान मार्ग को देखते हैं। हे ऋत्विक्-गण! आप सब इस बात का प्रयत्न करें कि सभी सभासदों को उनके हिस्से की गायों को देने के बाद भी कुछ बची रह जाँय ॥ ४५ ॥

भाष्यसार—'रूपेण व.' इस ऋचा के द्वारा शाला के पूर्व में खड़ा होकर यजमान दक्षिण दिशा में अवस्थित गायों को अभिमन्त्रित करता है। 'वि स्वः' आदि मन्त्रों से गमन तथा सदस्यों का अवलोकन करता है। यह याज्ञिक

कथंभूता यूयम् ? चन्द्रदक्षिणाः। चन्द्रं सुवर्णं यजमानस्य हस्ते गतं दक्षिणार्थं प्रधानद्रव्यं द्वितीयं दक्षिणा यासां ताश्चन्द्रद्वितीयदक्षिणा इति प्राप्ते शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपिसमासेन चन्द्रदक्षिणा इत्युक्तिः। चन्द्रमिति हिरण्यनामसु (निघ० १।२)। 'सदो गच्छति वि स्वरिति' (का० श्रौ० १०।२।१६)। यजमानो वि स्वः पश्येति मन्त्रेण आग्नीध्रदेशात् सदः प्रति गच्छति। दक्षिणादैवत्यम्। हे दक्षिणाः, अहं त्वया दक्षिणया सोपानभूतया स्वः स्वर्गं देवयानमार्गं विपश्यामि, च अन्तरिक्षलोकं पितृयानमार्गं पश्यामि। विपश्येति मध्यमपुरुषस्योत्तमपुरुषो व्याख्यातः, श्रुत्यैव तथोक्तत्वात्। सदसि स्थितान् ब्राह्मणान् प्रेक्षते। 'यतस्व सदस्यैरिति सदस्यान्' (का० श्रौ० १०।२।१७)। यतस्व सदस्यानिति यजमान ऋत्विजः प्रेक्षते। दक्षिणादैवतम्। हे दक्षिणे, त्वं यतस्व यत्नमातिष्ठस्व यथा सदस्यैर्ऋत्विग्भिः पूरितैरप्यतिरिच्यत इति शेषः। हे दक्षिणे, त्वया तथा यतनीयं यथा ऋत्विजो धनैः सम्पूर्याधिका भवेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ हिरण्यमादाय शालामभ्यैति। दक्षिणेन वेदिं दक्षिणा उपतिष्ठन्ते सोऽग्रेण शालां तिष्ठन्नभिमन्त्रयते रूपेण वो रूपमभ्यागामिति न ह वा अग्रे पशवो दानाय चक्षमिरे तेऽपनिधाय स्वानि रूपाणि शरीरैः प्रत्युपातिष्ठन्त तानेतद्देवाः स्वैरेव रूपैर्यज्ञस्यार्धादुपायंस्ते स्वानि रूपाणि जानाना अभ्यवायंस्ते रातमनसोऽलं दानायाभवंस्तथो एवैनानेष एतत् स्वैरेव रूपैर्यज्ञस्यार्धादुपैति ते स्वानि रूपाणि जानाना अभ्यवायन्ति ते रातमनसोऽलं दानाय भवन्ति' (श० ४।३।४।१४)। सोऽग्रेण शालां शालाया अग्रभागे तिष्ठन् दक्षिणार्था गा अभिमन्त्रयते रूपेण व इति मन्त्रेण। मन्त्रस्य प्रथमभागं व्याचष्टे—अग्रे पूर्वं पशवो दानाय न समर्था बभूवुः, स्वदानं सोढुमसमर्थाः। यतस्ते स्वानि रूपाणि सामर्थ्यानि अपनिधाय शरीरमात्रेणैवोपस्थिताः। एतद् एतेन रूपेण व इत्यादिमन्त्रभागस्योच्चारणेन देवास्तान् दानसमर्थान् पशून् स्वैरेव रूपैः सहितान् यज्ञस्यार्धाद् मध्याद् उपायन्, माध्यन्दिनसवनमाश्रित्य प्राप्नुवन्नित्यर्थः। अर्धादिति कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी (पा० सू० १।४।३१) इत्यत्र वार्त्तिकम्। ततश्चैते स्वानि सामर्थ्यानि जानाना अभिमुखमागताः, पश्चात् स्वसामर्थ्येनोपेतत्वाद् रातमनसः सन्तो दानाय समर्था बभूवुः। एतन्मन्त्रोच्चारणेन तथैव भवतीत्यर्थः।

'तुथो वो विश्ववेदा विभजत्विति। ब्रह्म वै तुथस्तदेना ब्रह्मणा विभजति ब्रह्म वै दक्षिणीयं चादक्षिणीयं च वेद तथो हास्यैता दक्षिणीयायैव दत्ता भवन्ति नादक्षिणीयाय' (श० ४।३।४।१५)। मन्त्रस्य द्वितीयं भागं व्याचष्टे—तुथ इति। साक्षात् परब्रह्म दक्षिणीयं दक्षिणार्हमदक्षिणीयं दक्षिणानर्हं च जानातीति विग्रहे 'कडङ्करदक्षिणाच्छः' (पा० सू० ५।१।६९) इत्यर्हाऽर्थे छप्रत्ययः। अतस्तुथो विभजतु इत्युक्तेनैवादिभागः कृतो भवतीति। प्रमादाददक्षिणीयाय दत्तापि दक्षिणा दक्षिणीयायैव दत्ता भवतीति भावः। तदेना ब्रह्मणा विभजति ब्रह्म सर्वज्ञत्वाद् दक्षिणार्हं तदनर्हं च वेद। तथाकरणेन दक्षिणीयायैव दत्ता भवन्ति नानादक्षिणीयायेति। 'ऋतस्य पथा प्रेतेति। यो वै देवानां पथेति स ऋतस्य पथैति चन्द्रदक्षिणा इति तदेतेन ज्योतिषा यन्ति' (श० ४।३।४।१६)। तृतीयं भागं व्याचष्टे—यो वै देवानामिति। देवानां मार्गेण गच्छतेत्यभिप्रायेण ऋतस्य यज्ञस्य पथा प्रगच्छतेत्युक्तम्, यज्ञमार्गस्य देवतासम्बन्धात्। चतुर्थं भागं व्याख्याय संस्करोति—चन्द्रदक्षिणेति। चन्द्रं हिरण्यमध्वर्युगतं तद् दक्षिणा समर्धकं यासां तास्तथोक्ताः। अनेन चन्द्ररूपेण ज्योतिषा सदैव गच्छेयुः। हे दक्षिणार्था गावः, रूपेण सामर्थ्येन पूर्वं भवतीभिरग्रनिहितेन सह वो रूपं स्वरूपमभ्यागाम् आभिमुख्येन प्राप्तोऽस्मि। वो विश्ववेदाः सर्वज्ञः, तुथो ब्रह्म विभजतु। यूयं च चन्द्रदक्षिणाः सत्यो यज्ञसम्बन्धिना मार्गेण गच्छतेति कृत्स्नमन्त्रार्थः।

अथ सदोऽभ्यैति। वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षमिति वि त्वया दक्षिणया लोकं ख्येषमित्येवैतदाह' (श०

४।३।४।१७)। समन्त्रकं सदोगमनं विधाय मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—वि स्व इति। हे सदः, त्वदीयया दक्षिणया स्वर्लोकमन्तरिक्षलोकं च वि ख्येषम्, समीक्षिषीयेत्येवमर्थम् एतन्मन्त्रवाक्यमाह। अस्ति च दक्षिणायाः सदसश्च सम्बन्धः, सदस्यासीनेभ्य ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाया दातव्यत्वात्। मन्त्रे पश्येति पुरुषव्यत्ययः, पश्यामीत्यर्थः। तदैव वि ख्येषमिति व्याख्यानमुपपद्यते। 'अथ सदः प्रेक्षते। यतस्व सदस्यैरिति मा त्वा सदस्या अतिरिक्षतेत्येवैतदाह' (श० ४।३।४।१८)। हे सदः, त्वं सदस्यैः सहित एव यज्ञकार्ये प्रयतस्वेति। मन्त्रस्य सदसः सर्वदा सदस्यैः सह सम्बन्धोऽभिप्रेत इति व्याचष्टे—अतिरिक्षतेति। 'रिचिर् विरेचने' इत्यस्य रूपम्।

अध्यात्मपक्षे तु—परमेश्वरो वदति। हे मनुष्याः, अहं रूपेण मूर्त्या पुरुषाकारधारणेन वो युष्माकं रूपमभ्यगां प्राप्नोमि, मदनुध्यानायेति शेषः। अथवा वेदो वक्ति—हे जनाः, तुथः परमात्मा विश्ववेदाः सर्वज्ञः सन् वो युष्मान् विभजतु वर्णाश्रमविभागेन युष्माकं विभागं करोतु, व्यत्ययेन करोति। तथा सति स्वकर्मणा परमेश्वरं समभ्यर्च्य जनाः सिद्धिं यास्यन्ति, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (भ० गी० १८।४६) इति गीतोक्तेः। हे जनाः, यूयं ऋतस्य यज्ञस्य सत्यस्य वा पथा मार्गेण प्रेत प्रगच्छत। कीदृशा यूयम्? चन्द्रदक्षिणाः। स्वर्णादिदक्षिणाः, दानपरायणाः। तेनैव स्वः स्वर्गं देवयानमार्गम् अन्तरिक्षलोकात् पितृयानमार्गं विपश्य विशेषेण पश्यत। त्वं स्वयं सदस्यैश्च सार्धं प्रयतस्व, सर्वोत्कृष्टं लोकं लोकातीतं वा परब्रह्म प्राप्तुमिति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे सन्तता प्रजाजनाः, यथाहं रूपेण चक्षुर्ग्राह्येण प्रियेण वो युष्माकं रूपं स्वरूपमभ्यागाम्, तथा विश्ववेदा वो युष्मान् विभजतु। तुथो ज्ञानवृद्धः। 'तु गतिवृद्धिहिंसादौ' इत्यस्मादौणादिकः स्थःप्रत्ययः (उणादि २।७)। त्वं स्व उपतपन्नादित्य इव 'स्वरादित्यो भवति' (निरु० २।१४)। ऋतस्य सत्यस्य पथा मार्गेण अन्तरिक्षं क्षयरहितमन्तर्यामि स्वाभाविकं ब्रह्मविज्ञानं वा। 'अन्तरिक्षं कस्मात्? अन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे (क्षियति) इति वा, शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा' (निरु० २।१०)। विपश्य प्रचक्ष्व सभायां सदस्यैः सह तस्य पथा प्रयतस्व। चन्द्रदक्षिणा चन्द्रं सुवर्णं दक्षिणा दानं येषां ते यूयमृतस्य धर्म्यं मार्गं वीतम्' इत्यादि, एवमेव भाषाभाष्येऽपि—'हे सेनाप्रजाजनाः, यथाहं दृष्टिगोचरेण आकारेण युष्माकं स्वरूपं प्राप्नोमि' इत्यादि, सर्वमेतदस्पष्टमेव। तथाहि कोऽस्य मन्त्रस्य वक्ता? परमेश्वरश्चेत्, तदा कथं तस्य दृष्टिगोचरेण रूपेण सेनाप्रजाजनानां

प्रक्रिया कात्यायन श्रौत्रसूत्र (१०।२।६,१६,१७) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—परमेश्वर की उक्ति है कि हे मनुष्यों, मैं मूर्ति के द्वारा पुरुषाकार धारण कर तुम लोगों के लिये अनुध्यान लायक रूप को प्राप्त करता हूँ। अथवा वेद का उपदेश है कि हे मनुष्यों, परमात्मा सर्वज्ञ होते हुए वर्णाश्रमविभाग से तुम लोगों को व्यवस्थित करते हैं। ऐसा होने पर अपने-अपने कर्मों से परमेश्वर की आराधना करते हुए प्राणी सिद्धि प्राप्त करेंगे। हे मानवों, तुम लोग यज्ञ अथवा सत्य के मार्ग से चलो। स्वर्ण आदि दक्षिणाओं से दानपरायण होकर तुम लोग उसी के द्वारा स्वर्ग, देवयान मार्ग तथा पितृयान मार्ग का अवलोकन करो। तुम लोग स्वयं तथा सदस्यों के साथ सर्वोत्कृष्ट लोक अथवा लोकातीत परब्रह्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित संस्कृत तथा हिन्दी अर्थ सब अस्पष्ट ही है, क्योंकि प्रश्न उठता है कि इस मन्त्र का वक्ता कौन है? यदि परमेश्वर है, तो उसके दृष्टिगोचर रूप के द्वारा सेना-प्रजाजनों को स्वरूप-प्राप्ति कैसे होगी? उनके मत में तो परमेश्वर की निराकारता मान्य है, अतः ऐसा मानने से उनके सिद्धान्त की हानि प्राप्त होती है। जीव भी वक्ता

स्वरूपप्राप्तिः ? त्वया तस्य निराकारत्वाभ्युपगमेनापसिद्धान्तापातात्। जीवश्चेत्, तदपि न, तस्याल्पशक्तित्वेनाभीष्टरूपग्रहणे सामर्थ्याभावात्। 'विश्ववेदा इव सभापतिर्युष्मान् विभजतु स्वाधिकारेषु नियतान् करोतु। चन्द्रदक्षिणा राजपुरुषाः' इत्यादि च सर्वमस्पष्टम्। तथाहि चन्द्रदक्षिणा राजपुरुषाः कथं भवन्ति ? सभापतिः कुतो न चन्द्रदक्षिणो भवति ? कोऽस्याभिप्रायः ? धर्म्यं मार्गं वीत इति तु मन्त्रार्थबाह्यमेव। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन निगदव्याख्यातः ॥ ४५ ॥

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳ सुधातुदक्षिणम्। अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥ ४६ ॥

'ब्राह्मणमद्येत्याग्नीध्रगमनमिति' (का० श्रौ० १०।२।१८)। ब्राह्मणमद्येति मन्त्रेण यजमान आग्नीध्रमृत्विजं स्वस्थानस्थं प्रति गच्छति सदःस्थानात्। ब्राह्मणदैवत्यं यजुः। अहमद्यास्मिन् दिने ईदृशं ब्राह्मणं विदेयं लभेय, 'विद्लृ लाभे'। कीदृशम् ? पितृमन्तं प्रशस्तः पिता अस्त्यस्येति तम्, सर्वोऽपि पितृमान् भवतीति प्राशस्त्यार्थेऽत्र मतुप्प्रत्ययो वेदितव्यः, अनुशिष्टेन अतिविशिष्टेन पित्रा युक्तम्। पैतृमत्यं यस्य पितामहप्रभृतयोऽपि वश्याः श्रोत्रियाः स पैतृमत्यस्तम्। यद्वा पितुरिमे पैतरः पितामहादयो मताः सम्मता जगन्मान्या यस्य तं पैतृमत्यम्। यद्वा पितरः पूर्वजा मताः सम्मताः श्रोत्रिया यस्य सः पितृमतः, पितृमत एव पैतृमत्यः। यद्वा प्रशस्तात् पितुरुत्पन्नः पितृमान् तदपत्यं पैतृमत्यः। सर्वथापि यस्य पितृपितामहादयः श्रोत्रियाः स पैतृमत्यः, तम्। तथा ऋषिं मन्त्राणां व्याख्यातारम्, तथा आर्षेयम् ऋषिषु विख्यात आर्षेयस्तम्। जात्या प्रवरैर्ज्ञानेन सुजातमिति वार्थः। सुधातुदक्षिणं शोभनो धातुः सुवर्णं दक्षिणा यस्य तम्। सुवर्णं हि आग्नीध्रे दक्षिणा दीयते। अस्मद्राता हे दक्षिणाः, अस्माभी राता दत्ताः सत्यो देवत्रा देवान् प्रति गच्छत। ततोऽनन्तरं यज्ञफलं साधयन्त्यः प्रदातारं यजमानम् आविशत सूक्ष्मपुण्यादृष्टरूपेण।

अत्र ब्राह्मणम् –'अथ हिरण्यमादायाग्नीध्रमभ्यैति। ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमिति यो वै ज्ञातो ज्ञातकुलीनः स पितृमान् पैतृमत्यो भवति या वै ज्ञाता यापि कतिपयीर्दक्षिणा ददाति ताभिर्महज्जयत्यृषिमार्षेयमिति यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः'''सुधातुदक्षिणः' (श० ४।३।४।१९)। सहिरण्यमाग्नीध्रं प्रति गमनं विधत्ते—अथ हिरण्यमित्यादि। दातव्यं हिरण्यमादाय ब्राह्मणमद्येति मन्त्रेण आग्नीध्रमभिगच्छेत्। मन्त्रस्थपितृमत्पैतृमत्यशब्दयोस्तात्पर्यमाह—यो वै ज्ञात इति। पितृमन्तं पैतृमत्यमित्येताभ्यां शब्दाभ्यां ज्ञातो ज्ञातकुलीनश्च विवक्षितः। ज्ञातः प्रसिद्धः। पितृमानिति प्रशंसायां मतुप्, प्रशस्तपितृमान्। प्रशस्तपितृमत्त्वेन च प्रसिद्धिर्लभ्यते। पैतृमत्यं पितृमति कुले भवम्, 'भवे च्छन्दसि' (पा० सू० ४।४।११०) इति यत्। कुलस्य ज्ञातत्वं

नहीं हो सकता, क्योंकि वह अल्पशक्ति होने के कारण स्वेच्छित रूप धारण करने में समर्थ नहीं है। तथा चन्द्रदक्षिणा वाले राजपुरुष कैसे होते हैं ? सभापति क्यों नहीं ? चन्द्रदक्षिणा वाला होता है ? इसका क्या अभिप्राय है ? श्रुति तथा सूत्र का विरोध तो पूर्वप्रतिपादित ही है ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—आज विख्यात, यशस्वी, विद्वान् पिता वाले, जनमान्य पितामह वाले, मन्त्रों की व्याख्या करने वाले ऋषियों में विख्यात, सम्पूर्ण सुवर्ण दक्षिणा के योग्य अधिकारी, सर्वगुणसम्पन्न, श्रेष्ठ कुल वाले ब्राह्मण को मैं प्राप्त करूँ। हे सम्पूर्ण दक्षिणा द्रव्य ! तुम हमारे द्वारा दिये जाकर देवताओं से अधिष्ठित ऋत्विक्गण के समीप यथाभाग उपस्थित होकर, देवताओं को तृप्त कर, इस यज्ञ का फल देने के लिये दाता यजमान में अपूर्व के रूप से स्थित हो जाओ ॥ ४६ ॥

प्रशस्तपुरुषसम्बन्धनिबन्धनम् । तथा च प्रशस्तपितृयुक्ते कुले जातमित्यनेन प्रशस्तकुलोत्पत्तिर्लभ्यते । तादृशाय ज्ञाताय याः कतिपयीरपि दक्षिणा ददाति, ताभिर्महत्फलं जयति, स्वाधीनीकरोति । तस्मादनेनाभिप्रायेण पितृमन्तं पैतृमत्यमिति शब्दप्रयोगः । ऋष्यार्षेयशब्दयोरर्थमाह - यो वा ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिः । अनूचानः साङ्गे प्रवचनेऽधीती । आर्षेयः 'इतश्चानिञः' (पा० सू० ४।१।१२२) इति ढक्प्रत्ययः । स हीति प्रकृतत्वात् स ज्ञातोऽनूचानस्तं सुधातुदक्षिणम् । प्रसिद्धाय खलु हिरण्यं दीयते ।

'अथैवमुपसद्य । अग्नीधे हिरण्यं ददात्यस्मद्राता देवत्रा गच्छतेति यां वै रातमना अविचिकित्सन् दक्षिणां ददाति तया महज्जयति देवत्रा गच्छतेति देवलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते तद्देवलोक एवैनमेतदपित्विनं करोति प्रदातारमाविशतेति मामाविशतेत्येवैतदाह तथो हास्मादेताः पराच्यो न प्रणश्यन्ति त यदग्नीधे प्रथमाय दक्षिणां ददात्यतो हि विश्वेदेवा अमृतत्वमपाजयंस्तस्मादग्नीधे प्रथमाय दक्षिणां ददाति' (श० ४।३।४।२०) दक्षिणादाने प्राप्तमाग्नीध्रस्य प्राथमिकत्वमनूद्य तत्र कारणमुपन्यस्यति—तद्यदिति । आग्नीध्रात् सकाशाद् देवा अमृतत्वं प्राप्नुवन्तीति प्रसिद्धम् । देवानां यज्ञेऽग्निरेवाग्नीध्रः । अत एव 'अग्नये आग्नीध्रं कुर्वते' (श० ४।३।४।२४) । इति वक्ष्यते । अग्निनैव साधनेन देवा असुरानभिभूय निर्बाधा अभवन्, 'तस्मादाग्नीध्रं प्रथमदक्षिणा' (तै० सं० ६।२।२।) इति श्रुतेः । उपसदनानन्तरं समन्त्रकं हिरण्यदानं विधत्ते—अग्नीध्रे हिरण्यं ददातीति । मन्त्रार्थस्तु—हिरण्यरूपा दक्षिणा अस्मद्राता अस्माभिर्दत्ता देवान् गच्छतेत्यर्थः । 'देवमनुष्य...' (पा० सू० ५।४।५६) इत्यादिना द्वितीयार्थे त्राप्रत्ययः । मन्त्रपदानामभिप्रायमाह- यां वा रातमना इति । दानमना इत्यर्थः । अविचिकित्सन् सन्देहमकुर्वन् यां दक्षिणां ददाति, तादृश्या तया दक्षिणया महत्फलं जयति । तस्मादस्मद्राता इति मन्त्रमाह—यजमानो न केवलमस्मिल्लोके एव भवत्विति यजते, किन्तु स्वर्गेऽपि । तस्माद्देवत्रा गच्छतेत्युक्तम् । एवं चैतद् हिरण्यं देवलोक एव अपित्विनं गमनयुक्तं कृतवान् भवति । अपित्विनमिति लिङ्गव्यत्ययः (पा० सू० ३।१।८५), प्रदातारमिति । यद्येतन्न प्रयुज्यते, तदा अस्माद् यजमानाद् एता दक्षिणाः पराच्य परागमनशीला एव सत्यः प्रणश्येयुः । प्रदातारमाविशतेति प्रयुङ्क्ते, मामाविशत इत्युक्तत्वात्, तथा न प्रणश्येयुरित्यर्थः ।

'अथैवमेवोपसद्य । आत्रेयाय हिरण्यं ददाति यत्र वा अदः प्रातरनुवाकमन्वाहुस्तद्ध स्मैतत् पुरा शꣳसन्त्यत्रिर्वा ऋषीणाꣳ होतासाथैतत् सदोऽसुरतमसमभिपुप्रुवे त ऋषयोऽत्रिमब्रुवन्नेहि प्रत्यङ्ङिदं तमोऽपजहीति स एतत्तमोऽपाहन्नयं वै ज्योतिर्य इदं तमोऽपावधीदिति तस्मा एतज्ज्योतिर्हिरण्यं दक्षिणामनयन् ज्योतिर्हि हिरण्यं तद्वै स तत्तेजसा वीर्येणर्षिस्तमोऽपजघानाथैष एतेनैवैतज्ज्योतिषा तमोऽपहन्ति तस्मादात्रेयाय हिरण्यं ददाति' (श० ४।३।४।२१) । आग्नीध्राय हिरण्यं दत्त्वा अथात्रेयाय हिरण्यं दद्यादिति विधत्ते—आत्रेयाय हिरण्यं ददातीति । येन प्रकारेणोपसद्याग्नीध्राय हिरण्यं दत्तम्, तेनैव प्रकारेणोपसद्य आत्रेयाय हिरण्यं दद्यात् । ब्राह्मण-मद्येति मन्त्रेणोपसद्य दद्यात्, आत्रेयाय चाग्नीध्रवत् सदसः पुरस्तादुपविष्टाय क आत्रेयं क आत्रेयमिति त्रिरुक्त्वा (का० श्रौ० १०।२।२०) । आग्नीध्रवद् ब्राह्मणमद्येति मन्त्रेणात्रेयं प्रत्यागत्य अस्मद्राता इति मन्त्रेण सदसः पुरस्तादुपविष्टाय आत्रेयसगोत्रायानृत्विजे हिरण्यं दद्यात् । अत्र क आत्रेयमिति यजमानस्त्रिर्वदेत् । ततोऽहमात्रेय-मित्यात्रेयः प्रत्याह । इदं चात्रेयसम्प्रदानकं दानमदृष्टार्थम् । आत्रेयाय हिरण्यदाने हेतुमाह—यत्र वा अदः प्रातरनुवाकमन्वाहुस्तद्ध स्मैतत् पुरा पूर्वस्मिन् प्रदेशे आहवनीयस्य समीपे शंसन्ति तत्र अत्रिर्वा ऋषीणां होता आस । अत्रिः स्वयं पूर्वभागे शंसन् एतत्सदोऽसुरतमसम् असुररूपं तमः, अमो लुगभावश्छान्दसः, तम् अभिपुप्रुवे, 'प्रुङ् गतौ' अन्तर्भावितण्यर्थः, अभ्यप्रावयत् । त ऋषयोऽत्रिमब्रुवन् एहि प्रत्यङ् इदं तमो जहीति ।

भाष्यसार—'ब्राह्मणमद्य' इस मन्त्र का यजमान के गमन में विनियोग किया गया है । यह याज्ञिक विनियोग

स एतत्तमोऽपाहन्, पूर्वभागे शंसतः स्थितत्वात्। तत्र प्राप्तुमशक्ता असुराः पश्चात् सदः प्राप्नुवन्। अयं वै ज्योतिर्य इदं तमोऽपावधीत्। तस्मै एतज्ज्योतिर्हिरण्यं दक्षिणामनयन्। ज्योतिर्हि हिरण्यम्। तत्तदा हिरण्यदानानन्तर-काले तत्तेजसा तस्य हिरण्यस्य तेजसा स्वकार्येण पश्चात् तमोऽपजघान। तस्मादात्रेयाय हिरण्यं ददाति।

'अथ ब्रह्मणे। ब्रह्मा हि यज्ञं दक्षिणतोऽभिगोपायत्यथोद्गात्रेऽथ होत्रेऽथाध्वर्युभ्या्ँ हविर्धाने आसीनाभ्या-मथ पुनरेत्य प्रस्तोत्रेऽथ मैत्रावरुणायाथ ब्राह्मणाच्छ्ँसिनेऽथ पोत्रेऽथ नेष्ट्रेऽथाच्छावाकायाथोन्नेत्रेऽथ ग्रावस्तुतेऽथ सुब्रह्मण्यायै प्रतिहर्त्रे उत्तमाय ददाति तथो हास्मादेताः पराच्यो न प्रणश्यन्ति' (श० ४।३।४।२२)। यज्ञरक्षक-त्वेन ब्रह्मणः प्राधान्यसूचनाद्दाने प्राथमिकत्वमुचितमिति। अथ पुनरेत्य पुनरपि सदो गत्वेत्यर्थः। प्रतिहर्त्रे उत्तमाय अन्तिमाय ददाति। एष प्रतिहर्ता समाप्तिरूपस्य प्रतिहारभागस्य कर्ता खलु। अतोऽस्मा अन्ततो दक्षिणाः समापयन्ति। तथा सत्येताः पराग्भूता न प्रणश्यन्ति, अन्यथा समाप्त्यभावात् पराच्यः सत्यः प्रणश्येयुः। 'न ह त्वेवाशतदक्षिणः सौम्योऽध्वरः स्यात्' (श० ४।३।४।३) इति रीत्या शतसंख्याका गावः सोमयागे दक्षिणा विहिता। ताः प्रविभज्योक्तक्रमेण ब्रह्मादिभ्यो दद्यात्। विभागः कात्यायनेन दर्शितः—'यथारम्भं द्वादश द्वादशाद्येभ्यः षट् षट् द्वितीयेभ्यश्चतस्रश्चतस्रस्तृतीयेभ्यस्तिस्रस्तिस्र इतरेभ्यः' (का० श्रौ० १०।२।२४)। आपस्तम्बोऽपि रूपान्तरेण तथैवाह 'यावदध्वर्यवे तस्यार्धं प्रतिप्रस्थात्रे तृतीयं नेष्ट्रे चतुर्थमुन्नेत्रे'। एवमेवेतरेषाम्।

'अथाहेन्द्राय मरुत्वतेऽनुब्रूहीति' (श० ४।३।४।२२) इत्युक्तप्रैषोच्चारणानन्तरं न दद्यात्। तत्रार्थवादः—पुरा प्रजापतिः स्वयज्ञे दक्षिणा ददौ। तदा इन्द्रः प्रजापतिपुत्रो विचारयामास—अयं मम इदं सर्वं धनं दास्यति, तदा अस्मभ्यं किमवशेक्ष्यति ? एवं विचार्याप्रदानाय इन्द्रो मरुत्वते इदं न ब्रूहीति एतद्वाक्यरूपं वज्रं चक्षुरुद-यच्छत्। पश्चात् स नो अददात्। तथैवेदानीमप्यदानायेन्द्रायेत्यादिवाक्यरूपो वज्र उद्यम्यते। तस्मान्न दद्यात्। 'चतस्रो वै दक्षिणाः। हिरण्यमायुरेवैतेनात्मनस्त्रायते आयुर्हि हिरण्यं तदग्नये आग्नीध्रं कुर्वतेऽददात्तस्मा-दप्येतर्ह्याग्नीधे हिरण्यं दीयते' (श० ४।३।४।२४)। विहितशतदक्षिणातिरिक्तानां चतुर्णां द्रव्याणां प्रयोजनाभि-धानपूर्वकमृत्विग्विशेषेषु दानमाह—हिरण्यमिति। हिरण्यं प्रथमा दक्षिणा। आयुर्हि हिरण्यमिति प्रसिद्धम्। अत एतेन यजमानः स्वात्मन आयुरेव रक्षति। तद् हिरण्यं प्रजापतिराग्नीध्रकर्म कुर्वतेऽग्नयेऽददात्। तस्मादेतर्हि अग्नीधे हिरण्यं दीयते। 'अथ गौः। प्राणमेवैतयाऽऽत्मनस्त्रायते प्राणो हि गौरन्नँ हि गौरन्नँ हि प्राणः ताँ रुद्राय होत्रेऽददात्' (४।३।४।२५)। तां प्रजापतिर्होतृभूताय रुद्राय अददात्, तस्माद् होत्रे गां दद्यात्।

'अथ वासः। त्वचमेवैतेनात्मनस्त्रायते त्वग्घि वासस्तद् बृहस्पतये उद्गायतेऽददात्' (श० ४।३।४।२६)। 'अथ वासः परिधत्ते····' (श० ३।१।२।१३-१६) इत्युपक्रम्याम्नातम्—तस्मिन्नेतामस्मिंस्त्वचमदधुर्वास एव। तस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो बिभर्ति। 'अथाश्वः। वज्रो वा अश्वो वज्रमेवैतत्पुरो गां कुरुते यमलोके मेऽप्यसदिति वै यजते यो यजते यद्यमलोक एवैनमेतदपित्विनं करोति तं यमाय ब्रह्मणेऽददात्' (श० ४।३।४।२७)। 'वज्रो वा आपः' इत्यपां वज्रत्वं श्रूयते। अश्वश्चाद्भ्यः सम्भूतः, 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' (तै० सं० ५।३।१२)। तस्मात् कारणभूतानामपां वज्रत्वात् कार्यभूतोऽश्वोऽपि वज्रः। वज्रमेवैतत्पुरोगां यमलोकबाधपरिहारत्वेन पुरोगामिनं कुरुते। 'स हिरण्यं प्रत्येति। अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददात्वित्यग्नये ह्येतद्वरुणोऽदात् सोऽमृतत्व-मशीयायुर्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्र इति' (श० ४।३।४।२८)। मन्त्रं विधत्ते—अग्नये त्वा मह्यं ददात्विति। अग्नये ह्येतद्वरुणोऽददादिति ब्राह्मणवाक्यम्। अनेन मन्त्रगतस्याग्निपदस्य प्रयोगे उपपत्तिरुक्ता। वरुणोऽत्र

कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।१८) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

प्रजापतिः, सर्वं वृणोति व्याप्नोतीति वरुणः। स चाग्नये स्वयज्ञस्याग्नीधे एतद् हिरण्यमददादिति प्रसिद्धम्। आयुर्हि हिरण्यम्। तस्मान्मन्त्रेऽग्निपदं प्रयुक्तम्। हे हिरण्य, अग्निरूपाय मह्यं वरुणः प्रजापतिरूपस्त्वां ददातु। सोऽहं त्वां प्रतिगृह्णन् अमृतत्वमविनश्वरताम्, अशीय प्राप्नुयाम्। किञ्च, त्वं दात्रे यजमानाय आयुरेधि भव। लोटि मध्यमपुरुषैकवचने। प्रतिग्रहीत्रे मह्यं मयः सुखं भव। एवमेव पूर्वोक्तरीत्या अन्येऽपि मन्त्रा व्याख्याता एव।

अध्यात्मपक्षे— साधको ब्रह्मविद्याप्रेप्सया ब्रह्मविद्वरिष्ठं ब्राह्मणं प्राप्तुं भगवन्तं प्रार्थयते— अद्याहं साधको ब्राह्मणं विदेयम्। 'आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्' (छा० उ० ४।९।३), 'प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानायैव प्रेष्ठ' इत्यादिश्रुतिभ्यः। कीदृशं ब्राह्मणम्? पितृमन्तं प्रशस्तमातापित्राचार्यवन्तम्, 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति श्रुतेः। पुनः कीदृशम्? पैतृमत्यम्, श्रोत्रियत्वादिभिर्विख्यातम्, पितामहादिमन्तम्। ऋषिं प्रत्यक्षीकृतमन्त्रार्थम्। आर्षेयं जात्या प्रवरैश्च विख्यातम्। सुधातुदक्षिणं स्वर्णदक्षिणावन्तम्, एवंविशिष्टगुणस्य कुलीनस्य प्रशस्तपित्रादिमतो ब्रह्मविद्वरिष्ठब्राह्मणस्यैव आचार्यत्वसम्भवात्। आचार्यश्च कथयति—हे ब्रह्मविद्ये, अस्माभी राता दत्ता देवत्रा देवान् प्रति गच्छ। देवान् देवतुल्यान् विशिष्टाधिकारिणः कृतार्थयित्वा ब्रह्मविद्याफलं सम्पादयन्ती प्रदातारं पुनः प्रविश। यद्वा प्रदातारं प्रकृष्टदानादिपरायणं प्रविश साधकश्रेष्ठं प्रकर्षेण सफलय।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजाः सभासेनाजनाः, यथाहमद्य ब्राह्मणं पितृमन्तं पैतृमत्यं सुधातुदक्षिणं प्रदातारं विदेयम्, तथास्मद्राताः सन्तो यूयं देवत्रा गच्छत शुभान् गुणानाविशत। तद्रीत्या प्रशस्ताः पितरो रक्षकाः सत्याः सत्योपदेशका विद्यन्ते यस्य तमिति। पितृमतो भावं पैतृमत्यम्, ऋषिं वेदार्थविज्ञापकम्, आर्षेयमृषीणामिदं योगजं विज्ञानं प्राप्तम्, सुधातुदक्षिणं शोभना धातवो दक्षिणा यस्य दातुस्तं प्रदातारं च विदेयम्। तथास्मद्राता येऽस्मभ्यं रान्ति शुभान् गुणान् ददति, तेऽस्मद्राताः सन्तो यूयं देवत्रा देवेषु पवित्रगुणकर्मस्वभावेषु वर्तमाना गच्छत प्राप्नुत शुभान् गुणानाविशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उपदेष्टू राजत्वे तस्य तादृशब्राह्मणप्राप्ते-रकिञ्चित्करत्वात्। नहि राजा सुधातुदक्षिणं प्रदातारमपेक्षते, राज्ञो दक्षिणानपेक्षत्वात्। 'यथा तथा' इत्युक्ति-र्नोपपद्यते, तुल्यत्वाभावात्। अहं यथा पितृमन्तं पैतृमत्यं विदेयम्, तथा यूयं देवत्रा गच्छत शुभान् गुणाना-विशतेति वैषम्योपलम्भात्॥ ४६॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—साधक ब्रह्मविद्या की अभिलाषा से वरिष्ठ ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को प्राप्त करने के लिये भगवान् से प्रार्थना करता है कि मैं साधक आज ब्रह्मविद् को प्राप्त करूँ। श्रोत्रियत्व आदि के द्वारा विख्यात, पितामहादियुक्त, मन्त्रों के साक्षात्कर्ता, जाति एवं प्रवरों से प्रसिद्ध, स्वर्णदक्षिणावान्, इस प्रकार के विशिष्टगुणशाली, कुलीन, प्रशस्त पित्रादि वंशपरम्परा से युक्त, ब्रह्मविद्वरिष्ठ का ही आचार्यत्व सम्भव है। आचार्य कहता है—हे ब्रह्मविद्या, हमारे द्वारा प्रदान की गई तुम देवताओं के प्रति जाओ। देवतुल्य विशिष्ट अधिकारी जिज्ञासुओं को कृतार्थ करके ब्रह्मविद्या के फल का सम्पादन करती हुई दाता के प्रति पुनः आकर प्रविष्ट हो जाओ। अथवा विशिष्ट दान आदि में परायण व्यक्ति में प्रविष्ट हो जाओ। श्रेष्ठ साधक को विशिष्टतया सफल करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ असमीचीन है। उपदेष्टा के राजा होने पर उसको इस प्रकार के ब्राह्मण की उपलब्धि कोई विशेष बात नहीं है। राजा सुधातु दक्षिणावाले दाता की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि राजा दक्षिणा से निरपेक्ष है। यथा-तथा आदि शब्दों का प्रयोग भी उचित नहीं है, क्योंकि तुल्यता का यहाँ अभाव है॥ ४६॥

अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ॥ ४७ ॥

'अग्नये त्वेति हिरण्यं प्रतिगृह्णीत' (का० श्रौ० १०।२।२७)। यजमानेन दत्तं हिरण्यमनेन मन्त्रेण प्रतिगृह्णीयातामध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ। हिरण्यदैवतम्। हे हिरण्य, हिरण्यरूपं त्वामग्नये अग्निरूपाय मह्यं वरुणो ददातु दद्यात्। स प्रतिगृह्णन्नमृतत्वं विनाशराहित्यमश्यात् प्राप्नुयात्। दक्षिणायाः प्रदात्रे यजमानाय आयुः शतसंवत्सरपर्यन्तं दीर्घायुष्यमेधि भव। सुखमेधि भव। प्रतिग्रहीत्रे मह्यम्। मया वरुणेन पूर्वमग्न्यादिभ्यः कनकादिकं दत्तमतस्तद्रूपेण प्रतिगृह्णानो विप्रो न नश्यतीति देवतादेशः। अनेन विधिना गृह्णानः सोऽहममृतत्वमारोग्यमशीय व्याप्नुयाम्। 'रुद्राय त्वेति गाम्' (का० श्रौ० १०।२।२८)। गां प्रतिगृह्णीत। हे गौस्त्वां रुद्ररूपाय मह्यं वरुणो ददातु। सोऽहममृतत्वं प्राप्नुयाम्। हे गौस्त्वं दात्रे यजमानाय प्राणः प्राणरूपा सती एधि मह्यं ग्रहीत्रे वयोऽन्नं पशुर्वा एधि भव। दुग्धदध्यादिरूपेणान्नं सन्ततिद्वारा पशुश्च। 'बृहस्पतये त्वेति वासः' (का० श्रौ० १०।२।२८)। वस्त्रं गृह्णीतः। वासोदैवत्यम्। हे वासः, बृहस्पतिरूपाय मह्यं वरुणस्त्वां ददातु, सोऽहममृतत्वमशीय। त्वं च दात्रे त्वगेधि भव त्वगिन्द्रियसुखकारी भव। प्रतिग्रहीत्रे मह्यं मयः सुखं च भव। 'यमाय त्वेत्यश्वम्' (का० श्रौ० १०।२।२८)। हयं गृह्णीत। अश्वदैवत्यम्। हे अश्व, यमरूपाय मह्यं वरुणस्त्वां ददातु। स यमरूपोऽहमश्वं गृह्णानोऽमृतत्वं व्याप्नुयाम्। हे अश्व, त्वं दात्रे हयोऽश्वो भव, मह्यं प्रतिग्रहीत्रे वयोऽन्नं तद्दाता पशुर्वा भव सन्ततिद्वारा।

अध्यात्मपक्षे— 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति रीत्या तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वात् सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वेन हिरण्यमचेतनबुद्ध्या सम्बोध्याह—हे हिरण्य, वरुणोऽग्निरूपापन्नाय मह्यं त्वां ददातु। पूर्वं वरुणेन कनकाद्यग्न्यादिभ्यो

मन्त्रार्थ— हे सुवर्ण ! वरुण देवता अग्निरूप को प्राप्त हुए मेरे लिये तुम्हें प्रदान करें। इस प्रकार से गृहीत सुवर्ण से मैं स्वास्थ्यलाभ करूँ, हे सुवर्ण ! तुम दाता की आयु में वृद्धि करो, प्रतिग्रह करने वाले मुझे भी सुख की प्राप्ति हो। हे गौ ! वरुण देवता रुद्ररूप को प्राप्त हुए मेरे निमित्त तुम्हें प्रदान करें, मैं स्वास्थ्यलाभ करूं, तुम दाता के बल और प्राण की वृद्धि करो। मुझ प्रतिग्रहीता के अन्न और पशु की वृद्धि करो। हे वस्त्र ! वरुण देवता बृहस्पतिस्वरूप मेरे निमित्त तुम्हें देता है। मैं तुमको प्राप्त करके अमृतत्व की प्राप्ति करूं। तुम दाता की त्वगिन्द्रिय की शक्ति को बढ़ाओ, प्रतिग्रहीता के सुख की वृद्धि करो। हे अश्व ! वरुण देवता यमस्वरूप मेरे निमित्त तुम्हें देते हैं, मैं तुमको प्राप्त कर आरोग्य को प्राप्त होऊं, दाता के यहाँ घोड़ों की वृद्धि करो, प्रतिग्रहीता की पशु-सम्पत्ति की भी वृद्धि करो ॥ ४७ ॥

भाष्यसार—'अग्नये त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों से याज्ञिक विधि के अन्तर्गत स्वर्ण, गौ, वस्त्र, अश्व आदि पदार्थों का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।२७–२८) में उल्लिखित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त पदार्थों के ब्रह्मरूप

दत्तमतस्तेन तेनात्मना गृह्णानो विप्रो न नश्यतीत्यनेन विधिना गृह्णानः सोऽहममृतत्वमारोग्यमशीय व्याप्नुयाम्। एवं गवि अन्नबुद्धिः, पशुबुद्धिः, प्रतिग्रहीतरि रुद्रबुद्धिः, दातरि वरुणबुद्धिरप्यध्यात्मचिन्तैव। तथैव वस्त्रे त्वग्बुद्धिः, प्रतिग्रहीतरि बृहस्पतिबुद्धिः, अश्वे हयबुद्धिः, प्रतिग्रहीतरि यमबुद्धिः, दातरि वरुणबुद्धिरप्यध्यात्मचिन्तैव ॥ ४७ ॥

कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात्। कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत् ते ॥ ४८ ॥

सप्तमाध्यायः समाप्तः ॥

'कोऽदादित्यन्यदिति' (का० श्रौ० १०।२।२९)। अन्यन्मन्थौदनतिलादि गृह्णीत कोऽदादिति मन्त्रेण। कामदैवत्यम्। दातुर्दानाभिमानाभावाय स्वस्य च प्रतिग्रहादिजनितदोषाभावाय देहेन्द्रियात्मसंघाते कामं विविनक्ति। कोऽदाद् दत्तवान्? कस्मै अदाद् दत्तवान्? इति प्रश्नद्वयस्योत्तरम् कामोऽदात्, कामायैवादात्। त्वत्कामाभिमानी देवो मत्कामाभिमानिनेऽदात्। तथा च काम एव दाता काम एव प्रतिग्रहीता। हे काम, एतद्द्रव्यं ते तव। तवैव दातृप्रग्रहीतृत्वात् त्वमेव केनचित्प्रयोजनेन ददासि, केनचित्प्रयोजनेन प्रतिगृह्णासि। वयं तु तव सम्बन्धिना सता विद्यमानेन भोगजातेत दानप्रतिग्रहादिकं कुर्मः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यदन्यद् ददाति। कामेनैव तद्दातीदं मेऽप्यमुत्रासदिति तत्प्रत्येति कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्त इति तद्देवताया अतिदिशतीति' (श० ४।३।४।३२)। हिरण्यादिदानानन्तरं यत्किञ्चिन्मन्थादिदानं विधत्ते—अथ यदन्यद्ददातीति। अथोक्तदक्षिणादानानन्तरमन्यद् वस्तु यदि दद्यात्, तदपि कामेनैव यथैवामुष्मिल्लोके स्वर्गेऽप्यस्त्विति दद्यात्। न पुनरिज्यायाः पूर्वोक्तदक्षिणाद्रव्यवदवश्यं दातव्यम्। इच्छया दत्तस्यायं प्रतिग्रहमन्त्रः कोऽदादिति। मन्त्रो व्याख्यात एव। प्रतिग्रहमन्त्रेषु तत्तद्देवतावाचकशब्दोच्चारणस्य प्रयोजनमुच्यते—तद्देवताया अतिदिशतीति। तत् तेन मन्त्रेषु देवतावाचकशब्दोच्चारणेन देवतायै देवतार्थमतिदिशति स्वकीयं प्रतिग्रहीतृत्वमारोपयति, देवतामेव प्रतिग्रहीत्रीं करोति। प्रतिग्रहीतुरात्मनः प्रतिग्रहीतृत्वे दोषं देवतारूपेण प्रतिग्रहीतृत्वे च गुणं तैत्तिरीयश्रुतिराह—'देवा वै वरुणमयाजयन्। स यस्यै यस्यै देवतायै दक्षिणामनयत् तामव्लीनात्। तेऽब्रुवन् व्यावृत्य

होने के कारण स्वर्ण को अचेतन रीति से संबोधित किया गया है कि हे हिरण्य, अग्निरूप को प्राप्त हुए मेरे लिए वरुणदेव तुम्हें प्रदान करें। पुराकाल में वरुण ने अग्नि आदि को स्वर्ण आदि प्रदान किया था। अतः उन उनके रूप से पदार्थों को ग्रहण करने वाला विप्र क्षीण नहीं होता। इस प्रकार उपर्युक्त विधि से ग्रहण करने वाला मैं अमृतत्व, आरोग्य को प्राप्त करूँ। इसी भांति गौ में अन्नबुद्धि, पशुबुद्धि तथा ग्रहणकर्ता में रुद्रबुद्धि एवं दाता में वरुणबुद्धि भी अध्यात्मचिन्ता ही है। इसी प्रकार वस्त्र में त्वचा की बुद्धि, प्रतिग्रहीता में बृहस्पति की बुद्धि, अश्व में घोड़े की बुद्धि, ग्रहीता में यम की दृष्टि तथा दाता में वरुण की दृष्टि भी आध्यात्मिक ही है। ४७ ॥

मन्त्रार्थ—किस महान् आत्मा ने दान किया? किसके निमित्त दान किया? यज्ञफल की कामना के निमित्त यजमान ने दान किया, कामना ही देने वाली है, अभिलाषा ही प्रतिग्रह करने वाली है। हे अभिलाष! अभिलाषा करने योग्य यह समस्त वस्तु तुम्हारी ही है ॥ ४८ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।२।२९) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'कोऽदात्' इस मन्त्र

प्रतिगृह्णाम, तथा नो दक्षिणा न ब्लेष्यतीति । ते व्यावृत्य प्रत्यगृह्णन् । ततो वै तान् दक्षिणा नाब्लीनात् । य एवं विद्वान् व्यावृत्य दक्षिणां प्रतिगृह्णाति नैनं दक्षिणा ब्लीनाति' (तै० सं० २।२।५)। तस्माद्देवतायै प्रतिग्रहीतृत्वे निर्दिष्टे स्वात्मनो न कश्चिद् दोषो भवतीत्यर्थः । 'तदाहुः·····' (श० ४।३।४।३३)। केचिदाहुः— न देवताया अतिदिशेत्, किन्तु स्वयमेव प्रतिगृह्णीयात् । तेषामयमाशयः—इदानीं यां देवतां हविर्दानात् समिन्धे दीपयति, सा दीप्यमाना सत्युत्तरोत्तरं श्रेयस्करी भवति । 'इदं वै यस्मिन्नग्नावभ्यादधति स दीप्यमान एव श्वः श्वः श्रेयान् भवति । श्वः श्वो ह वै श्रेयान् भवति य एवं विद्वान् प्रतिगृह्णाति तद्यथा समिद्धे जुहुयादेवमेतां जुहोति यमधीयते ददाति तस्मादधीयन्नातिदिशेत्' (श० ४।३।४।३३)। अयमभिप्रायः— दाता यस्मै ददाति तस्मै देवतारूपायैव ददामीति ददाति । तथा च तस्य साद्गुण्यसम्भवादुत्तरोत्तरं श्रेय एव भवति । तस्माद्दातुः साद्गुण्यसम्पादनेन श्रेयोनिमित्तं देवताया अतिदिश्यन् न प्रतिगृह्णीयात्, किन्तु स्वयमेव प्रतिगृह्णामीत्येवोच्चार्य गृह्णीयादित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—कोऽदात्, कस्मा अदाद् इति प्रश्नद्वयस्य कामोऽदात् कामः प्रतिग्रहीतेत्युनरम् । एतद् द्रव्यं ते तव, तवैव केनचिद्रूपेण दातृत्वात्, केनचिद्रूपेण प्रतिग्रहीतृत्वाच्च । एतावता दातुर्दानाभिमानोऽपसार्यते, प्रतिग्रहीतुश्च प्रतिग्रहजनितदोषोऽपसार्यते, कामाभिमानिनो देवस्यैव दानप्रतिग्रहहेतुत्वात्, 'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् । यद् यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥' (२।४) इति मनूक्तेश्च । जानाति, इच्छति, अथ करोति । यथा ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, तथैव कर्माण्यपि स्थूलानि सूक्ष्माणि चेच्छाजन्यान्येव, इच्छामन्तरा कस्याश्चिदपि चेष्टाया अभावात् ।

दयानन्दस्तु—'कः अदात् कर्मफलानि ददाति, कस्मै अदात्, एतयोः प्रश्नयोरुत्तरम्—कामोऽदादिति । काम्यते यः स परमेश्वरः, अदाद् ददाति कर्मफलम् । कामाय कामयमानाय जीवाय अदात् । कामः, यः काम्यते सर्वैर्योगिभिः स परमेश्वरो दाता सर्वपदार्थदायकः । कामो जीवः प्रतिग्रहीता । कामयतेऽसौ कामस्तत्सम्बुद्धौ हे जीवात्मन् ! एतदाज्ञापनं ते त्वदर्थमिति त्वं निश्चिनुहि' इति, तदपि श्रुतिसूत्रादिविरुद्धमेव । कर्मफलानीत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव, यज्ञप्रसङ्गे दक्षिणाया एव प्रसक्तत्वात् । कामः परमेश्वरो दाता इत्यत्र

से अन्य पदार्थों का ग्रहण किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना यह है—किसने दिया ? तथा किसके लिये दिया ? इन दो प्रश्नों का समाधान है कि काम ने दिया है तथा काम ही ग्रहण करने वाला है । यह द्रव्य तुम्हारा ही है, क्योंकि किसी रूप से देने तथा किसी रूप से ग्रहण करने वाले तुम ही हो । इसके द्वारा प्रदान करने वाले का दानाभिमान निवृत्त किया जाता है तथा प्रतिग्रहीता के प्रतिग्रह से प्राप्त दोष का भी निराकरण किया जाता है । कामाभिमानी देव ही दान तथा प्रतिग्रह का कारण है । यही मनु द्वारा भी 'अकामस्य क्रिया' आदि वचन में प्रतिपादित है । जिस प्रकार इच्छा ज्ञान से उत्पन्न होती है, उसी प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म कर्म भी इच्छा से उत्पन्न होते हैं । इच्छा के बिना किसी भी चेष्टा का अभाव ही रहता है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ श्रुति तथा सूत्र के वचनों के विरुद्ध है । कर्मफलों का अध्याहार करना निर्मूल है, क्योंकि यज्ञ के प्रसंग में दक्षिणा का ही औचित्य है । 'काम परमेश्वर दाता है' इसमें कर्मफल का ही प्रदान मानना होगा । तब कर्मफल अप्रतिग्रहयोग्य होने के कारण 'कामः प्रतिग्रहीता' यह वचन संगत नहीं होगा । ईश्वर का

कर्मफलस्यैव दातृत्वं मन्तव्यम्, तदा कामः प्रतिग्रहीता इत्यसङ्गतं स्यात्, कर्मफलस्याप्रतिग्राह्यत्वात् । न चात्राज्ञापनमस्ति किञ्चित्, वस्तुस्थितिमात्रस्य त्वद्रीत्योक्तत्वात्, भावार्थे—'अकामस्य क्रिया काचित्' (म० स्मृ० २।४) इत्युद्धरणस्य निष्प्रयोजनत्वापत्तेश्च । न चेश्वरस्य सर्वकर्मास्पदत्वं संभवति, तथात्वे तत्र संशयजिज्ञासाद्यनुपपत्तेः । नहि रागास्पदे ज्ञानप्राप्त्युपायादिकं विधीयते । तस्मात् काम्यते यः स परमेश्वर इति व्याख्यानमसंगतमेव । सर्वथापि कुशकाशावलम्बनमात्रमेव दयानन्दीयं व्याख्यानम् । सायणोव्वटमहीधरादिसम्मतं व्याख्यानं तु श्रुति-सूत्र-पद्धति-पारम्पर्यानुकूलमेवेति तत्र तत्र दर्शितमेव ॥ ४८ ॥

॥ इति वेदार्थपारिजातभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥

सर्वकामास्पद होना भी संभव नहीं है । ऐसा होने पर उसमें संशय, जिज्ञासा आदि संगत नहीं होंगे । अतः 'काम्यते यः स परमेश्वरः' यह व्याख्यान भी अयुक्त है । यह व्याख्यान सर्वथा सतही है । उव्वट, सायण, महीधर आदि आचार्यों से संमत व्याख्यान ही श्रुति, सूत्र, पद्धति तथा परम्परा के अनुकूल है, यह स्थान-स्थान पर प्रदर्शित कर दिया गया है ॥ ४८ ॥

अष्टमोऽध्यायः

उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा । विष्ण उरुगायैष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन् ॥ १ ॥

सप्तमे उपांशुग्रहादिसवनद्वयगता मन्त्रा दक्षिणादानान्ता आम्नाताः। अष्टमे तृतीयसवनगता आदित्यादिग्रहा उच्यन्ते। तत्र-'प्रतिप्रस्थाता आदित्यपात्रेण द्रोणकलशादुपयामगृहीतोऽसीति गृहीत्वा द्विदेवत्याननुजुहोत्युत्तरार्धे' (का० श्रौ० ९।९।१२)। प्रतिप्रस्थाता आदित्यपात्रेण द्रोणकलशाद् उपयामगृहीतोऽसीत्येतावतैव मन्त्रेण देवतानिर्देशशून्येन सोमं गृहीत्वा द्विदेवत्यहोमानन्तरमुत्तरभागे जुहुयात्। अध्वर्योर्द्विदेवत्यहोममनु होमः प्रतिप्रस्थातुः। सोमदेवत्यम्।

मन्त्रार्थस्तु—उपयामेन पात्रेण त्वं मया गृहीतोऽसि। 'शेषꣳ शेषमादित्यस्थाल्यामासिञ्चत्यादित्येभ्यस्त्वेति' (का० श्रौ० ९।९।१७)। प्रतिप्रस्थाता द्विदेवत्याननु प्रतिहोममादित्यपात्रस्थं हुतशेषमादित्यस्थाल्यामासिञ्चेत्। सर्वेषु द्विदेवत्येष्वनुहोतव्यम्, स्थाल्यां चावनेतव्यम्। सोमदेवत्यम्। हे सोम, आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां सिञ्चामीति शेषः। 'समासिच्य तेनापिदधाति विष्ण उरु गायेति' (का० श्रौ ९।९।१८)। तृतीयवारमादित्यस्थाल्यामासिच्य तेनैवादित्यपात्रेणादित्यस्थालीमपिदध्यादिति सूत्रार्थः। विष्णुदैवतम्। हे विष्णो यज्ञपुरुष, हे उरुगाय, उरुभिर्बहुभिर्गीयते स्तूयत इति उरुगायस्तत्सम्बुद्धौ। एष सोमस्ते तवार्पितः, तं सोमं रक्षस्व गोपायस्व। आत्मनेपदमार्षम्। हे सोम, रक्षणे प्रवृत्तं त्वां मा दभन् मा दभ्नुयुः, मा हन्युः, रक्षांसीति शेषः। यद्वा हे विष्णो, उरुगाय उरुगमनाय वा एष ते तव सोमः समर्पितः, तं रक्ष। शेषं पूर्ववत्। यद्वा हे विष्णो यज्ञ, 'यज्ञो वै विष्णुः' (श० ४।३।४।८) इति श्रुतेः। उरुगाय विस्तीर्णव्याप्ते! एष सोमस्ते तव सम्बन्धी, अतस्त्वं रक्षस्व गोपाय त्वां रक्षांसि मा दभन् मा हिंसिषुः॥ १॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। हे सोम! आदित्यगणों की प्रीति के लिये तुमको ग्रहण करता हूँ। हे बड़ी स्तुति को प्राप्त होने वाले यज्ञपुरुष! यह सोम तुम्हारे निमित्त है। इस सोम की रक्षा करो। रक्षा करने में असुरबल तुमको पीड़ा न पहुँचावें॥ १॥

भाष्यसार—सप्तम अध्याय में उपांशु ग्रह आदि के दो सवनों के अन्तर्गत विनियुक्त दक्षिणादान तक के मन्त्र उपदिष्ट किये गये। अष्टम अध्याय में तृतीय सवन के अन्तर्गत आदित्य आदि ग्रहों के मन्त्र प्रतिपादित किये जा रहे हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र (९।९।१२, १७, १८) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'उपयामगृहीतः' इस कण्डिका के मन्त्रों से आदित्य ग्रह का ग्रहण, हुतशेष का आदित्यस्थाली में आसिंचन आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे सोम, तुम उपयाम पात्र के द्वारा ग्रहण किये गये हो। आदित्यों के लिये तुम्हारा सिंचन करता हूँ। हे यज्ञपुरुष विष्णु, हे सबके द्वारा संस्तुत, यह सोम आपके लिये अर्पित है। इस सोम की रक्षा करो। हे सोम, रक्षा में संयुक्त तुमको राक्षसगण हिंसित न करें। अथवा हे विष्णु, विशाल व्याप्तियुक्त यज्ञ! यह सोम तुमसे सम्बद्ध

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे। उपोपेन्नु मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यत आदित्येभ्यस्त्वा ॥ २ ॥

'आदित्यग्रहं गृह्णाति सꣳस्रवेभ्यः कदाचनेति' (का० श्रौ० १०।४।३)। हविर्धानेऽपिहितद्वार आदित्यपात्रमादाय ये पूर्वमादित्यस्थाल्यामासिक्ताः संस्रवास्तान् संस्रवांश्चादित्यस्थाल्या आदाय पूतभृत उपरि तेभ्यः संस्रवेभ्य आदित्यपात्रेणादित्यग्रहं गृह्णीयात् कदाचनेति मन्त्रेण। आदित्यदेवत्ये बृहत्यौ यजुरन्ते। तृतीयो द्वादशार्णस्त्रयोऽन्येऽष्टार्णाः सा बृहती। तृतीयेऽध्याये बृहदुपस्थानगता (३।३४) इन्द्रदेवत्या सा। इह त्वादित्यदेवत्या यजुरन्ता चेति विशेषः। हे इन्द्र, परमैश्वर्यशालिन्नादित्य, त्वं कदाचन कदाचिदपि स्तरीर्हिंसको न भवसि, किन्तु दाशुषे आहुतिं दत्तवते यजमानाय सश्चसि प्रीणयसे। यद्वा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। हविर्दत्तवतो यजमानस्य हविः सश्चसि सेवसे। यद्वा स्तरीराच्छादकः, स त्वं विस्तृतं वितत्य धनानामाच्छादको न वितरसि, किन्तु दाशुषे यजमानाय फलदानार्थं सश्चसि गच्छसि—इति शतपथभाष्ये सायणाचार्यः। उप इन्नु यजमानस्यात्यन्तसमीप एव। यद्वा उपेति पादपूरणे, इन्नु क्षिप्रमेव हे मघवन्, धनसम्पन्न इन्द्र, भूय इन्नु पुनरेव च देवस्य तव दानम्, दीयत इति दानम्, देयं हविः पृच्यते त्वया सम्बद्ध्यते। यजमानेन हविर्दीयत इत्यर्थः। हे ग्रह, आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामीति काण्वसंहितागतसायणभाष्यानुसारि व्याख्यानम्।

अत्र शतपथब्राह्मणम्—'त्रयो वै देवाः। वसवो रुद्रा आदित्यास्तेषां विभक्तानि सवनानि वसूनामेव प्रातःसवनꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यानां तृतीयसवनं तद्वा अमिश्रमेव वसूनां प्रातःसवनममिश्रꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनममिश्रमादित्यानां तृतीयं सवनम्' (श० ४।३।५।१)। दक्षिणादानानन्तरं मरुत्वतीय-माहेन्द्रोक्थ्यग्रहाणां यागे कृते माध्यन्दिनं सवनमनुष्ठीयते। तृतीयसवनस्योपक्रमे आदित्यग्रहयागः क्रियते। तमादित्यग्रहयागं विधातुमयं प्रस्तावः। प्रातःसवनं वसूनाम्, तच्च गायत्रीच्छन्दस्कम्। अष्टाक्षरा गायत्री वसवश्चाष्टौ। तेन संख्यासाम्याद्गायत्रीसम्बन्धाद्गायत्रं प्रातःसवनम्। एवं त्रैष्टुभं जागतम्। उक्तप्रकारेणोत्तरयो-र्द्वितीयतृतीयसवनयोरपि सम्बन्धो ज्ञातव्यः। तद्वा अमिश्रं प्रातःसवनं केवलं गायत्रमतश्छन्दोऽन्तरसम्बन्ध-राहित्यादमिश्रम्। माध्यन्दिनं सवनं केवलमिन्द्रदेवत्यमिति श्रूयते—'प्रातः सुतमपिबो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते' (ऋ० ४।३५।७)। तृतीयसवनं तु छन्दोऽन्तरसंगतत्वान्नानादैवत्यत्वाच्च मिश्रमिति।

'ते हादित्या ऊचुः।.....इतरस्मिन् सवने स्मो नेवेतरस्मिन् यद्वै नो रक्षाꣳसि न हिꣳस्युरिति' (श० ४।३।५।३), 'ते ह द्विदेवत्यानूचुः। रक्षोभ्यो बिभीमो हन्त युष्मान् प्रविशामेति' (श० ४।३।५।४), 'ते ह द्विदेवत्या ऊचुः। किमस्माकं ततः स्यादित्यस्माभिरनुवषट्कृता भविष्यथेत्यु हादित्या ऊचुस्तथेति ते द्विदेवत्यान् प्राविशन्' (श० ४।३।५।५), 'स यत्र प्रातःसवने। द्विदेवत्यैः प्रचरति तत्प्रतिप्रस्थातादित्यपात्रेण द्रोणकलशात्

है, अतः तुम इसकी रक्षा करो। तुमको राक्षस हिंसित न करें।

अध्यात्मपक्षीय मन्त्रार्थ अग्रिम मन्त्र के साथ संयुक्त है ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव! तुम कभी भी हिंसक नहीं हो सकते और हवि देने वाले यजमान की हवि को यजमान के अत्यन्त समीप जाकर सेवन करते हो। हे मघवन् इन्द्र! यजमान के द्वारा देवताओं को दिया गया हविरूप दान भी आपसे ही सम्बद्ध होता है। हे ग्रह, आदित्य देवता की प्रीति के लिये मैं तुम्हारा करता हूँ ॥ २ ॥

भाष्यसार—'कदाचन' इस कण्डिका से आदित्य ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन

प्रतिनिगृह्णीत उपयामगृहीतोऽसीत्येतावताध्वर्युरेवाश्रावयत्यध्वर्योरनु होमं जुहोति प्रतिप्रस्थाता आदित्येभ्यस्त्वेति सꣳस्रवमवनयत्येतावतैवमेव सर्वेषु' (श० ४।३।५।६)। आदित्यग्रहोपयोगिनीमाख्यायिकामाह—ते हादित्या इति। येनोपायेन रक्षांसि न हिंस्युरिति विचार्य ते द्विदेवत्यानूचुः (४।३।५।३-५) । अस्माभिरनुवषट्कृता भविष्यथेति प्रतिश्रुत्य ते द्विदेवत्यान् प्राविशन्। आख्यायिकायाः फलितार्थं प्रतिश्रुतं द्विदेवत्यानामनुवषट्कारं दर्शयितुं द्विदेवत्ययागकाले तदुपयुक्तं प्रयोगमाह—स यत्रेति। सोऽध्वर्युर्यत्र प्रातःसवने यदा द्विदेवत्यैः प्रचरति, तदा प्रतिप्रस्थाता आदित्यपात्रेण द्रोणकलशात् प्रतिनिगृह्णीते द्विदेवत्यग्रहस्य द्वितीयत्वेन गृह्णीते। तत्र 'उपयामगृहीतोऽसि' इत्येतावान् मन्त्रः। अध्वर्युरेवाश्रावयेत्, न पुनः प्रतिप्रस्थाता। अध्वर्युणा कृतं होममनुलक्ष्य जुहोति प्रतिप्रस्थाता आदित्येभ्यस्त्वेति संस्रवमवनयति, आदित्यस्थाल्यामासिञ्चति, सर्वेषु ऐन्द्रवायव-मैत्रावरुणाश्विनेष्वेवमेव प्रतिनिग्रहणादिकं कुर्यादित्यर्थः।

'तद्यत्प्रतिप्रस्थाता प्रतिनिगृह्णीते। द्विदेवत्यान् वै प्राविशन्नस्माभिरनुवषट्कृता भविष्यथेत्यु हादित्या ऊचुर्यां वा अमूं द्वितीयामाहुतिं जुहोति स्विष्टकृते वै तां जुहोति स्विष्टकृतो वा एतेऽनुवषट्क्रियन्ते तथो हास्यै- तेऽनुवषट्कृता इष्टस्विष्टकृतो भवन्त्युत्तरार्धे जुहोत्येषा ह्येतस्य देवस्य दिक् तस्मादुत्तरार्धे जुहोति' (श० ४।३।५।७)। प्रतिप्रस्थातृकृतया द्वितीयाहुत्या द्विदेवत्यानामनुवषट्कारसिद्धिमाह—यां वा अमूमिति। यां वा अमूं द्वितीयामाहुतिं जुहोति स्विष्टकृदर्थं हि तां जुहोति। यत एते सर्वेऽपि ग्रहाः स्विष्टकृतोऽर्थेऽनुवषट्- क्रियन्ते। सोमस्याग्ने 'वीही वौषट्' इत्यनेन क्रियमाणो होमोऽनुवषट्कारः। तथो ह तथैवेतरग्रहवदस्य यज्ञस्य सम्बन्धिन एते हि द्विदेवत्या अपि प्रतिप्रस्थातृकृतयाऽऽहुत्या अनुवषट्कृता भवन्ति। उक्तहोमस्य उत्तरार्धं देशं विधत्ते—एषा ह्येतस्येति। एषा हि एतस्य देवस्य स्विष्टकृतोऽग्नेः सम्बन्धिनी दिक्। रुद्रस्य तूत्तरा दिगिति श्रुतिषु प्रसिद्धेः। 'एषा वै रुद्रस्य दिक्' (तै० सं० ५।४।३) इति हि सा श्रुतिः।

'यद्वेव प्रतिप्रस्थाता प्रतिनिगृह्णीते। द्विदेवत्यान् वै प्राविशन्त्स यानेव प्राविशंस्तेभ्य एवैतन्निर्मिमीतेऽथापि- दधाति रक्षोभ्यो ह्यबिभयुर्विष्ण उरु गायैष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन्निति यज्ञो वै विष्णुस्तद्यज्ञायैवैतत् परिददाति गुप्त्या अथाह सꣳस्थित एव माध्यन्दिने सवने पुरा तृतीयसवनादेहि यजमानेति' (श० ४।३।५।८)। विहितं प्रतिनिग्रहणं द्विदेवत्यसंसृष्टादित्योत्पादकत्वेन च प्रशंसति—यद्वेति। द्विदेवत्यग्रहयागानन्तरमादित्य- पात्रेणादित्यस्थाल्याच्छादनं समन्त्रकं विधत्ते—अथापिदधातीति। पिधानस्य प्रयोजनमाह—यज्ञो वै विष्णु- रित्यादिना। मन्त्रोच्चारणस्य प्रयोजनमुच्यते—द्विदेवत्येति। द्विदेवत्यग्रहशेषैरादित्यग्रहो गृह्यते। अतः 'ते हादित्या....' इत्यादिनोक्तस्यैवार्थस्य 'अथापिदधाति यज्ञायैवैतत्परिददाति गुप्त्यै' इत्यन्तेन ब्राह्मणेन तच्छेष- प्राप्तिप्रचारः प्रदर्शितः। अथाह—संस्थित एव माध्यन्दिन इत्यादि।

'ते सम्प्रपद्यन्ते। अध्वर्युश्च यजमानश्चाग्नीध्रश्च प्रतिप्रस्थाता चोन्नेताऽथ योऽन्यः परिचरो भवत्युभे द्वारे अपिदधाति रक्षोभ्यो ह्यबिभयुरध्वर्युरादित्यस्थालीं चादित्यपात्रं चादत्ते स उपर्युपरि पूतभृतं विगृह्णाति नेद्व्यवश्चोतदिति' (श० ४।३।५।९)। विहिते काले ग्रहस्य ग्रहणात् प्राक्कर्तव्यमनुष्ठानविशेषं विधत्ते—ते सम्प्रपद्यन्त इति। अध्वर्य्वादयः, यश्चान्यो जनः परिचरवर्ती भवति, परिचरशब्देनात्र पत्नी विवक्षिता, सा हि हविर्धानं प्रपद्यते, 'हविर्धानं प्रविशन्ति अध्वर्युयजमानप्रतिप्रस्थात्रग्नीदुन्नेतारः, पत्नी चापरेणेति'

श्रौतसूत्र (१०।४।३) में प्रतिपादित है। शतपथ तथा तैत्तिरीय श्रुतियों में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

(का० श्रौ० १०।४।१-२) इति कात्यायनसूत्राभ्याम् । पूतभृतमुपर्युपरि पूतभृतः समीप उपरि प्रदेशे, तच्च नैव सोमबिन्दुर्भूमौ क्षरत्वित्यभिप्रायेण गृह्णीयादित्यर्थः । अन्यत् स्पष्टमेव । 'अथ गृह्णाति । कदाचन स्तरी''''आदित्येभ्यस्त्वेति' (श० ४।३।५।१०) । मन्त्रार्थस्तूक्त एव । 'तं वै नोपयामेन गृह्णीयात् । अग्रे ह्येवैषोपयामेन गृहीतो भवत्यजामितायै जामि ह कुर्याद्यदेनमत्राप्युपयामेन गृह्णीयात्' (श० ४।३।५।११) । द्विदेवत्यानां यागकाले प्रतिप्रस्थाता उपयामगृहीतोऽसि गृहीतः खलु । तस्मात्तस्यैतन्मन्त्रशेषत्वादत्र तन्न प्रयोक्तव्यम् । स्पष्टमन्यत् ।

अध्यात्मपक्षे—हे विष्णो, व्यापिन् परमेश्वर ! हे उरुगाय, उरुभिर्बहुभिर्भक्तैः स्तोत्रशस्त्रैर्वाजे गीयमान, त्वमुपयामेन यमनियमादिसमीपस्थेन प्रेम्णा गृहीतोऽसि । आदित्येभ्यः संवत्सरेभ्यः, अनन्तकालाय त्वामहमाश्रये । एषोऽहं ते तव सोमोऽन्नं भोग्योपकरणभूतं त्वत्सेवार्थं त्वयि समर्पितस्तं रक्षस्व गोपाय। कामक्रोधादिभ्यस्त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धकेभ्यः पालय। तव तु सर्वेश्वरत्वाद् वशीकृतमायत्वात् त्वां ते मा दभन् मा हिंस्युः । कदाचनेति । हे इन्द्र, परमैश्वर्यशालिन्, त्वं कदाचन कदापिदपि स्तरीर्घातिको नासि न भवसि, किन्तु दाशुषे स्वात्मसमर्पयित्रे भक्ताय सश्चसि प्रीणयसे प्राप्नोषि वा । न त्वं दूरे भवसि, किन्तु उपोपेन्नु भक्तानामत्यन्तसमीप एव भवसि । हे मघवन्, प्रशस्तषडैश्वर्यरूपधनवन्, भूय एव पुनरेव देवस्य जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलस्य ते तव दानं देयं वा अभीष्टं पृच्यते भक्तैः सम्बध्यते, भक्तेभ्यस्त्वया स्वात्मापि दीयते । हे इन्द्र ! आदित्येभ्योऽनन्तसंवत्सरेभ्यस्त्वामहमाश्रये ।

दयानन्देन त्विमौ मन्त्रौ विवाहपरत्वेन व्याख्यातौ । तथाहि—'हे कुमार ब्रह्मचारिन् ! सेवितचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्या ब्रह्मचारिण्यहमादित्येभ्यः कृताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्येभ्यः पुम्भ्यस्त्वामङ्गीकरोमि त्वमुपयामगृहीतोऽसि । हे विष्णो, सर्वशुभविद्यागुणकर्मस्वभावव्याप्त ! उरुगाय, उरूणि बहूनि शास्त्राणि गायति पठतीति तत्सम्बुद्धौ, एष गृहाश्रमः, ते तव सोमो मृदुगुणवर्धकः, तं रक्षस्व । मा त्वां कामबाणा दभन् मा हिंसन्तु' इति, तदपि निर्मूलमेव, कुमारादिसम्बोध्यसम्बोधकविवक्षायां मानाभावात् । सेवितचतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्याहमित्यपि कल्पनामात्रम्, निर्मूलत्वात्, मनूक्तविवाहवयोनिर्देशविरोधाच्च । सोमशब्दस्य मृदुगुणवर्धकोऽर्थोऽपि निर्मूलः,

---

अध्यात्मपक्ष में प्रथम मन्त्र की अर्थसंगति इस प्रकार है—हे व्यापक परमेश्वर, हे अनेक भक्तों अथवा स्तोत्र आदि के द्वारा उपवर्णित ! आप यम-नियम आदि के सहकृत प्रेम के द्वारा गृहीत हैं । अनेक संवत्सरों, अनन्त काल के लिये मैं आपका आश्रय ग्रहण करता हूँ । मैं आपका यह भोग्य उपकरणरूपी आपकी सेवा के लिये आपके प्रति समर्पित हूँ । इसकी रक्षा कीजिये । काम, क्रोध आदि आपकी प्राप्ति में प्रतिबन्धक तत्त्वों से सुरक्षा कीजिये । आप तो सर्वेश्वर हैं, माया को वश में करने वाले हैं, अतः वे आपको अभिभूत नहीं करेंगे ।

द्वितीय मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है—हे परमैश्वर्यशाली ! आप कभी भी हानिकारक नहीं होते, अपितु स्वात्मसमर्पण करने वाले भक्त के लिये पूर्णता करते हैं, अथवा प्राप्त होते हैं । आप दूर नहीं होते, अपितु भक्तों के अत्यन्त समीप ही रहते हैं । हे प्रशस्त छः ऐश्वर्यादि रूपी धनों से युक्त, पुनः जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहृति की लीला करने वाले आपका देय अथवा इच्छित भक्तों से सम्बन्ध होता है । भक्तों के लिये आप स्वात्मा को भी प्रदान करते हैं । हे परमेश्वर, अनन्त वर्षों के लिये मैं आपका आश्रय लेता हूँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा ये दोनों मन्त्र विवाहपरक दृष्टि से व्याख्यात हैं । परन्तु वह भी निर्मूल ही है, क्योंकि कुमार आदि के सम्बोध्य तथा सम्बोधनकर्ता की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है । 'चौबीस वर्षों तक ब्रह्मचर्य का सेवन करने वाली मैं' इत्यादि व्याख्या अप्रामाणिक तथा मनु द्वारा निर्दिष्ट विवाह की अवस्था से विरुद्ध होने के कारण केवल कल्पना

तस्य तत्राशक्तत्वात् । दभन्नित्यस्य कर्तृत्वेन कामबाणानामध्याहारोऽपि निर्मूल एव, शतपथे रक्षसां प्रसङ्गस्योक्तत्वात् । कदाचनेत्यत्र तु 'हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त पते, यतस्त्वं कदाचन स्तरीर्नासि स्वग्रीवाच्छादकः संकुचितो न भवसि, तस्माद् दाशुषे इन्नूपोप सश्चसि दानशीलस्य समीपं प्राप्नोषि । हे मघवन्, देवस्य विदुषो यद्दानं तदेव इन्नु भूयः पृच्यते सम्बध्यते मह्यं प्राप्यतां प्रतिमासेभ्यः प्रतिमासम् । अतोऽहं स्त्रीत्वेनादित्येभ्यः सदा सुखप्रापकं त्वामाश्रये' इत्यपि काल्पनिकमेव व्याख्यानम्, अन्यथापि क्लिष्टकल्पनया व्याख्यातुं शक्यत्वात्, श्रुतिसूत्रादिविरोधाच्च । स्तरीरित्यस्याच्छादकार्थकत्वेऽपि स्वग्रीवाच्छादकः संकुचितो न भवसीत्यर्थस्य निर्मूलत्वात् । न च साधारणे मनुष्ये पत्यौ इन्द्रपदप्रयोगः सम्भवति, तत्र परमैश्वर्यायोगात् ॥ २ ॥

कदाचन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी । तुरीयादित्यसवनं त इन्द्रियमातस्थावमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥ ३ ॥

'अपगृह्य पुनः कदाचनेति' (का० श्रौ० १०।४।४)। धारातो विच्छिद्य पूतभृतः सकाशादात्मसमीपं नीत्वा पुनस्तथैवादित्यग्रहं गृह्णीयात् । नात्रोपयाम इति पूर्वं शतपथवचनेनोक्तमेव । हे आदित्य, त्वं कदाचन कस्मिन् काले वा प्रयुच्छसि प्रमाद्यसि, अर्थात् कदाचिदपि न प्रमाद्यसीति वाकुः । उदय-ताप-पाक-प्रकाशैः प्राणिनोऽनुगृह्णन् कदाचिदप्यालस्यं न करोषि । तुरीय, तुरीयं चतुर्थं मायातीतं शुद्धम् आदित्यसवनम्, सुवति स्वकार्ये जगत्प्रेरयतीति सवनम्, ते त्वदीयं जगत्प्रवर्तकममृतमविनश्वरं विज्ञानानन्दस्वभावं यदिन्द्रियं वीर्यम्, तद्दिवि द्युलोके सूर्यमण्डलान्तरे आतस्थौ आभिमुख्येन स्थितम्, 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (३१।३) इति मन्त्रवर्णात् । अथवा 'कदा, च, न' इति पदत्रयम् । चकारोऽप्यर्थः । कदापि न प्रयुच्छसि न प्रमाद्यसि स्वकर्मणि । किञ्च, वर्तमानं भावि चेत्युभे जन्मनी देवमनुष्यजन्मनी वा निपासि नितरां पालयसि । एवमत्र परापररूपेणादित्यः स्तुतः । तुरीयेत्यविभक्तिको निर्देशः ।

काण्वसंहितासायणभाष्यरीत्या तु तृतीयमित्यर्थे व्यत्ययेन तुरीयशब्दः प्रयुक्तः । तथा च हे आदित्य, ते तव यत् तृतीयं सवनं तस्मिन् दिवि द्युलोकसमाने वितते इन्द्रियमिन्द्रियवृद्धिकरणममृतं सुधासमं हविर् आतस्थौ समन्तात् स्थितम् । हे आदित्यग्रह, आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामीति शेषः । अत्र शतपथब्राह्मणम्—

ही है । सोम शब्द का अर्थ 'मृदुगुणवर्धक' करना भी निर्मूल है, क्योंकि इस अर्थ में पद की शक्ति नहीं है । 'दभन्' इस क्रिया के कर्ता के रूप में कामबाणों का अध्याहार करना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि शतपथ श्रुति में राक्षसों का प्रसंग ही वर्णित है ।

'कदाचन' इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान भी काल्पनिक है । क्लिष्ट कल्पना से तो अन्य प्रकार से भी व्याख्या हो सकती है । यहाँ श्रुति, सूत्र आदि से विरोध भी है । 'स्तरीः' शब्द आच्छादकार्थक होने पर भी उसका 'अपनी ग्रीवा को आच्छादित करने वाले संकुचित नहीं होते हो' यह अर्थ निर्मूल है । साधारण मनुष्य-स्वामी में इन्द्र शब्द का प्रयोग सम्भव नहीं है, क्योंकि वह परमैश्वर्य युक्त नहीं होता ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—हे आदित्य ! तुम कभी भी प्रमाद नहीं करते, देव और मनुष्यों की तुम रक्षा करते हो । तुम्हारा चौथा भाग माया से परे है । अविनश्वर शुद्ध जगत्प्रवर्तक विज्ञानानन्द स्वभाव जो इन्द्रियरूप पराक्रम है, वह द्युलोक में मण्डलान्तर में प्रमुखता से स्थित है । हे ग्रह ! आदित्य देवों की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ॥ ३ ॥

भाष्यसार—'कदाचन प्रयुच्छसि' इस मन्त्र का विनियोग भी आदित्य ग्रह के ग्रहण में किया गया है । कात्यायन

'अथापगृह्य पुनरानयति। कदाचन प्रयुच्छस्युभे निपासि''' त्वेति'। तत्रत्यसायणभाष्यरीत्या तु—हे ग्रह, कदाचन कदाचिदपि। चनशब्दोऽप्यर्थः। प्रयुच्छसि न प्रमाद्यसि। प्रशब्दो धात्वर्थनिवृत्तिपरः। यागनिष्पादनरूपं स्वकार्यं प्रति न कदाचिदपि प्रमादं गच्छसि। तदेवावधानं दर्शयितुमाह—उभे निपासि जन्मनी, यजमानस्य वर्तमानभविष्यल्लक्षणे उभे जन्मनी नियमेन पासि पुरुषार्थसम्पन्ने कुरु। अधुना आदित्यमेव चतुर्थसवनत्वेन रूपयन्नामन्त्रयते—हे आदित्यग्रह, तुरीय चतुर्थसवनात्मक! स एकोऽप्येतर्हि तथैव ग्रहो हूयते। संस्थित एव माध्यन्दिने सवने पुरा तृतीयसवनात् पूर्वकालस्य विहितत्वादादित्यग्रहस्य चतुर्थसवनात्मव त्वम्। ते तव सम्बन्धि चतुर्थसवनमिन्द्रियमिन्द्रस्य आदित्यस्य प्रीतिकरम्। दिवि द्युलोके अमृतम्, नास्मिन् मृतमस्तीत्यमृतम् अमरण-हेतु, आतस्थौ आस्थितम्। हे सोम, त्वामादित्येभ्यो गृह्णामि।

अध्यात्मपक्षे तु—हे इन्द्र, अवस्थात्रयदीपन, 'ञिइन्धी दीप्तौ' जीवात्मन्, त्वं कदाचिन्न प्रयुच्छसि न प्रमाद्यसि प्रमादं न कुरु। उभे ऐहिकमामुष्मिकं च जन्मनी पाहि रक्ष सफलय। स्वधर्मानुष्ठानपूर्वकभगवदाराधनेन हे आदित्य, आदित्यवत् सर्वक्षेत्रभासक क्षेत्रज्ञ, 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥' (भ० गी० १३।३३) इति गीतोक्तेः। ते तुरीयं चतुर्थं विश्व-तैजस-प्राज्ञापेक्षया विराड्ढिरण्यगर्भाव्याकृतापेक्षया वा तुरीयं चतुर्थसंख्यापूरकं प्रपञ्चातीतं निर्विशेषविज्ञानानन्दस्वभावं सवनं निर्विकारतया सत्तामात्रेण सर्वप्रवर्तकम्, यथा सवितुः सत्तामात्रेण लोको व्यवहरति, पद्मानि विकासमुपयान्ति। न हि सविता कञ्चिदुत्थापयति स्वापयति वा, न वा कमलिनीकुलं विकासयति मुकुलयति वा, तत्सत्त्वासत्त्वाभ्यां तु सर्वं स्वयमेव सम्पद्यत इति तद्वत्। तच्च इन्द्रियमिन्द्रस्यावस्थात्रयभासकस्य क्षेत्रज्ञस्य हितकरम्, तत्प्राप्त्यैव तत्कृतार्थताश्रवणात्। तच्च तुरीयममृतं जन्ममरणादिभयवर्जितं दिवि द्युलोके, आतस्थौ आसमन्तात् स्थितम्, दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपे वा आस्थितम्, 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (वा० सं० ३१।३) इति मन्त्रवर्णात्। हे तुरीय, आदित्येभ्यः क्षेत्रज्ञेभ्यो हिताय त्वामाश्रयामः। यद्वा आदित्येभ्योऽनन्तकालेभ्यः, सर्वदेत्यर्थः, त्वामाश्रयामः।

दयानन्दस्तु—नेत्यध्याहृत्य—'हे पते, त्वं यदि कदाचन न प्रयुच्छसि तर्हि स्वकीये उभे जन्मनी

श्रौतसूत्र (१०।४।४) में यह याज्ञिक प्रक्रिया वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सायणाचार्य ने याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान किया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—तीन अवस्थाओं में प्रकाशित होने वाले हे जीवात्मा! तुम कभी भी प्रमाद मत करो। ऐहिक तथा आमुष्मिक दोनों जन्मों को स्वधर्म के अनुष्ठानपूर्वक भगवदाराधन के द्वारा सुरक्षित, सफल बनाओ। आदित्य की भाँति सर्वक्षेत्रभासक हे क्षेत्रज्ञ! विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ की अपेक्षा अथवा विराट्, हिरण्यगर्भ तथा अव्याकृत की अपेक्षा तुम्हारा जो चतुर्थसंख्यात्मक, प्रपञ्चातीत, निर्विशेषविज्ञानानन्द स्वभाव निर्विकारिता के कारण सत्तामात्र से सबका उसी प्रकार प्रवर्तक है, जैसे कि सूर्य की केवल सत्ता से समस्त लोक व्यवहार करता है, कमल विकसित होते हैं। सूर्य किसी को जगाता अथवा सुलाता नहीं है, या कमलिनीसमूह को विकसित अथवा संकुचित नहीं करता, परन्तु उसके दर्शन तथा अदर्शन मात्र से स्वयमेव यह सब क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती हैं। उसी प्रकार ईश्वर भी इन्द्रियों की तीन अवस्थाओं को प्रतिभासित करने वाले क्षेत्रज्ञ का हितकर है, क्योंकि उसकी प्राप्ति से ही कृतार्थता श्रुत है। वह तुरीय रूप जन्म, मरण आदि भयों से रहित द्युलोक में स्थित है, अथवा द्योतनात्मक स्वरूप में अवस्थित है। हे तुरीय, क्षेत्रज्ञों के हित के लिये हम तुम्हारा आश्रय ग्रहण करते हैं। अथवा अनन्त काल के लिये, अर्थात् सदा सर्वदा तुम्हारा आश्रय लेते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में 'न' का अध्याहार करके पति को सम्बोधनीय तथा पत्नी को सम्बोधक कहा

प्रवर्तमानं प्राप्स्यमानं च निपासि नितरां रक्षसि। हे आदित्य, विद्यया सूर्य इव प्रकाशमान, ते तव सवनं सवति प्रसूयतेऽनेन तत् ते इन्द्रियं मनआदिकार्यसाधकम् आतस्थौ वशीभूतं स्यात्तर्हि दिवि द्योतनात्मके व्यवहारे, अमृतं मरणधर्मरहितं सुखं प्राप्स्यसि। हे तुरीय चतुर्थवन् चतुर्थाश्रमपूरक, आदित्येभ्यः संवत्सरेभ्यः प्रतिमाससुखाय त्वामहमुपयच्छे स्वीकरोमि' इति, तदपि निर्मूलम्, पत्युः सम्बोध्यत्वे पत्न्याश्च वक्त्रीत्वे प्रमाणाभावात्। आदित्यपदस्य गौणार्थता च निर्युक्तिका। सवनपदस्यापि प्रातःसवनादिप्रसिद्धमर्थमपहाय प्रसवसाधनेन्द्रियार्थकरणं न सङ्गतम्, विवाहसमये कन्यया तथा वक्तुमयोग्यत्वात्। चतुर्थाश्रमिणः स्त्रीसम्बन्धाभावात्तुरीयपदस्य तथार्थकरणमपि धाष्टर्यमेव। चतुर्थमात्रबोधकस्य तुरीयशब्दस्य तुरीयाश्रमबोधकत्वे मानाभावात्। किञ्च, हे तुरीय, हे चतुर्थाश्रमिन् प्रतिमाससुखार्थं त्वामहं स्वीकरोमीति तद्रीत्यार्थः सम्पद्यते, स च सर्वथा शास्त्रविरुद्धः। चतुर्थाश्रमिणं प्रति नहि काचित् कन्या एवं वक्तुं शक्नोति। तदेतत्कुभिक्षोरपरं स्वैरित्वम् ॥ ३ ॥

य॒ज्ञो दे॒वानां॒ प्रत्ये॑ति सु॒म्नमादि॑त्यासो॒ भव॑ता मृड॒यन्तः॑। आ वो॒ऽर्वाची॑ सुम॒तिर्व॑वृत्याद॒ꣳहोश्चि॒द्या व॑रिवो॒वित्त॒रास॒दादि॒त्येभ्य॑स्त्वा ॥४॥

'दध्ना श्रीणात्येनं पश्चिमेऽन्ते मध्ये वा यज्ञो देवानामिति' (का० श्रौ० १०।४।५)। एनमादित्यग्रहं कुशावन्तर्धाय ग्रहस्य पश्चिमे भागे मध्ये वा दध्ना श्रीणीयाद् मिश्रयेत्, यज्ञो देवानामिति मन्त्रेण। त्रिष्टुब्यजुरन्ता, आदित्यदेवत्या, कुत्सदृष्टा। यस्माद् यज्ञः प्रकृतः सोमयागो देवानामादित्यानामदितिपुत्राणां सुम्नं सुखं कर्तुं प्रत्येति, तस्माद्धेतोर् हे आदित्यासः, आदित्याः! यूयं मृडयन्तः सुखयन्तः सुखकर्तारोऽस्माकं भवता भवत, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति संहितायां दीर्घः, तेन 'भवत' इति स्थाने 'भवता' इति रूपम्। 'वः' युष्मत्सम्बन्धिनी सुमतिः शोभना भक्तकल्याणसम्पादयित्री बुद्धिः, अर्वाची अस्मदभिमुखी आववृत्याद् आवर्ततताम्, 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति वर्ततेर्लिङि जुहोत्यादित्वात् श्लुः, श्लौ द्वित्वं च। अंहोश्चिद् अंहोर्हननशीलस्य पापिनोऽपि, अंहुरिति पापकारी, चिदित्यप्यर्थः, या सुमतिर्वरिवोवित्तरा, वरिवो धनं विन्दति लभत इति वरिवोवित्, अतिशयेन वरिवोविदिति वरिवोवित्तरः। अत्र तमबर्थे तरप्प्रत्ययो बोद्धव्यः। ऐहिकामुष्मिकविविधस्वर्गापवर्गादिलक्षणधनप्रापयित्री, अत एव सुबुद्धिः प्रार्थ्यते—'स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु' (श्वे० उ० ४।१, १२), 'मतिश्च मे सुमतिश्च मे' (वा० सं० १८।११) इत्यादिश्रुतेः।

गया है, यह अप्रामाणिक है। आदित्य शब्द का गौण अर्थ करना भी युक्तिसंगत नहीं है। सवन शब्द का भी प्रसिद्ध अर्थ छोड़ कर 'प्रसवसाधन इन्द्रिय' अर्थ करना उचित नहीं है, क्योंकि विवाह के समय कन्या के द्वारा इस प्रकार कहना अयुक्त है। चतुर्थ संन्यास आश्रम में स्थित पुरुष का स्त्रीसम्बन्ध से विरहित होने के कारण तुरीय शब्द का भी उस प्रकार अर्थ करना धृष्टता ही है। तुरीय शब्द चतुर्थ मात्र का वाचक है, इसके चतुर्थाश्रम का बोधक होने में कोई प्रमाण भी नहीं है। इस प्रकार का अर्थ शास्त्रविरुद्ध है। संन्यासी के प्रति कोई कन्या इस प्रकार नहीं कह सकती। यह स्वेच्छाचारिता ही है ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ आदित्य देवताओं के सुख के निमित्त आगमन करता है। इस कारण हे आदित्यगणों! आप लोग हमारे लिये अवश्य ही सुखकारी हों। आपकी जो स्वभावसिद्ध अनुग्रह-बुद्धि है, वह हमारी तरफ प्रवृत्त हो। पापकारी मनुष्य की भी जो सुमति धन का उपार्जन करने वाली है, वह हमारे संमुख हो। हे सोम, आदित्य ग्रह की प्रीति के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ ॥ ४ ॥

भाष्यसार—'यज्ञो देवानाम्' इस मन्त्र के द्वारा आदित्य ग्रह को दही से संमिश्रित किया जाता है। कात्यायन

पापिनोऽपि या सुबुद्धिरत्यन्तं धनप्रापयित्री, असद् भवति, हे देवा युष्माकं सम्बन्धिनी सा सुमतिरस्मदभिमुखी आवर्ततां पौनःपुन्येन प्रवाहवती भवतु। यद्वा या वो युष्माकं सुमतिरंहोश्चित् पापिनोऽपि प्रभूतधनसम्पादयित्री भवति, साऽस्माकं त्वदुपासनापराणां सदाचारनिष्ठानामभिमुखी प्रवाहवती स्यात्, तदा सुतरां वरिवोवित्तरा भविष्यतीत्याशयः। यद्वा पुनरपि सैव सुमतिर्विशेष्यते—अंहोर्हननशीलस्य पापिनोऽपि चित् चेद् या सुमतिः, अतिशयेन धनलब्ध्री भवेत्, साऽस्मदभिमुखी सती आववृत्याद् दयापरवशानां देवानां कदाचित् पापिष्वपि सा सुमतिरभिमुखी भूत्वा कल्याणं करोति, किमुत भक्तेषु। हे ग्रह, आदित्येभ्यो देवेभ्यस्त्वां दध्ना मिश्रयामि।

यद्वा शतपथीयसायणभाष्यरीत्याऽयमर्थः—यस्मादस्मदीयो यज्ञो देवानामादित्यानां सुम्नं सुखं (निघ० ३।६।१६) सम्पादयितुं प्रत्येति। यज्ञे हविःप्रदानेन देवानां तृप्तिसम्पादनसुखमुत्पद्यते। तस्माद् हे आदित्यास आदित्याः, 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७।१।५०) इति जसोऽसुगागमः। मृडयन्तोऽस्मान् सुखयन्तो भवता भवत, संहितायां दीर्घः। स्वर्गापवर्गादिसुखकारिणो भवत। किञ्च, वो युष्माकं सुमतिः शोभना भक्तानुग्रहपरा मतिः सा अर्वाची अर्वाग्गमनशीला भवति, सा च अस्मदभिमुखी आवर्तताम् अनन्तकालम् अस्मदाभिमुख्येन प्रवाहवती भवतु। सैव मतिः पुनर्विशेष्यते—अंहोश्चिद्या वरिवोत्तराऽसत्, 'अहि गतौ' भ्वादिः। अस्मादौणादिक उत्प्रत्ययः। सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था भवन्तीत्यंहुर्विद्वानुच्यते। स चात्र यजमान एव। चिदिति निपातोऽप्यर्थः। विदुषो यजमानस्यापि वरिवोवित्तरा असद् भवतु। वरिवो धनम् (निघ० २।१०।५), विन्दति वेदयति लम्भयतीति वरिवोवित्, अतिशयेन वरिवोविदिति वरिवोवित्तरा, तादृशी असद् अतिशयेन धनप्रापयित्री स्यात्। सा सुमतिरस्मदभिमुखी सत्यावर्ततामिति सम्बन्धः। हे दधि, आदित्येभ्यस्त्वां गृह्णामीति शेषः।

अत्र शतपथब्राह्मणम्—'अथ दधि गृह्णाति। आदित्यानां वै तृतीयसवनमादित्यान् वा अनु पशवस्तत्पशुष्वेवैतत् पयो दधाति तदिदं पशुषु पयो हितं मध्यत इव गृह्णीयादित्याहुर्मध्यत इव हीदं पशूनां पय इति पश्चादिव त्वेष गृह्णीयात् पश्चादिव हीदं पशूनां पयः' (श० ४।३।५।१३)। गृहीते सोमरसे दधिग्रहणं सार्थवादं विधत्ते—अथ दधि गृह्णातीति। आदित्यान् वा अनु पशवः, अनुशब्दो हीनार्थकः, 'हीने' (पा० सू० १।४।८६) इति हीनार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात् 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (पा० सू० २।३।८) इति द्वितीया विभक्तिः। अत्रादित्यानां वृष्टिप्रदानद्वारा पशूपकारित्वात् प्राधान्यम्, पशूनामुपकार्यत्वाद् हीनत्वम्। उपकार्योपकारकभावादेव पश्वादित्यानामभेदोऽपि तैत्तिरीयश्रुतौ श्रूयते—'पशवो वा एते आदित्याः' (तै० सं० ६।५।६।४) इति। पशुष्वेवैतत् पयो दधाति तदिदं पशुषु पयो हितम्। दधिग्रहणस्य स्थानविषये केषाञ्चिन्मतमुपन्यस्य स्वमतमेव निगमयति—मध्यत इति। इवशब्दो वाक्यालङ्कारे। मध्यत इव मध्यस्थाने, सार्वविभक्तिकस्तसिः, (पा०सू० ५।४।४४ वा०) इति सप्तम्यर्थे तसिः। कदाचनेति मन्त्रद्वयसाध्ये द्वे ग्रहणे। तयोर्मध्ये दधि गृह्णीयात्। एवं च पशूनां मध्यभागे पयसोऽवस्थानान्मध्य एव पयो निहितं भवतीति केचिच्छाखिन आहुः। एतच्च तैत्तिरीयशाखामतम्, तत्र—'दध्ना मध्यतः श्रीणात्यूर्जमेव पशूनां मध्यतो दधाति' (तै० सं० ६।५।६।४) इत्याम्नातत्वात्। तच्च नादरणीयमित्याह—मध्यत इव हीदं पशूनां पय इति पश्चादिव त्वेव गृह्णीयात् पश्चादिव हीदं पशूनां पयः, यतः पशूनां पयः पश्चाद्भाग एवावतिष्ठते। अत्र पयसो मध्यभागावस्थानमात्रमभिप्रेत्य शाखान्तरीयैर्मध्यतो ग्रहणमभिप्रेतम्, किन्तु पशूनां मध्येशरीरं पयो नावतिष्ठते, अपितु शरीरस्य पश्चाद्भागेऽवतिष्ठते, अतः पश्चादेव ग्रहणं युक्तमिति शतपथब्राह्मणाभिप्रायः। एतत्सर्वं स्वपक्षदार्ढ्याय तत्स्तुत्यर्थमेव मन्तव्यं नान्यपक्षं निन्दितुम्, नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुमिति मीमांसानयात्।

श्रौतसूत्र (१०।४।५) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सायणभाष्य आदि में याज्ञिक

'यद्वेव दधि गृह्णाति। हुतोच्छिष्टा वा एते सꣳस्रवा भवन्ति नालमाहुत्यै तानेवैतत् पुनराप्याययति तथालमाहुत्यै भवन्ति तस्माद्दधि गृह्णाति' (श० ४।३।५।१४)। दधिग्रहणमादित्यग्रहस्य सम्पूर्णताहेतुत्वेन प्रशंसति यद्वेव दधि गृह्णातीति। एते आदित्यग्रहार्थाः सोमा हुतोच्छिष्टत्वात् संस्रावणीयाः प्रतिपत्त्यर्हाः सन्त आहुत्यर्थं न पर्याप्ता भवन्ति। एत इति बहुवचनं द्विदेवत्यग्रहगतसोमापेक्षम्। तस्मात्तानेव सोमान् एतेन दधिग्रहणेन समर्धयति। समर्द्धिता आहुत्यै पर्याप्ता भवन्तीति दधि गृह्णीयात्। 'स गृह्णाति। यज्ञो देवानां प्रत्येति""त्वेति' (श० ४।३।५।१५)। विहिते दधिग्रहणे मन्त्रं विनियुङ्क्ते-यज्ञो देवानामिति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—देवानां यज्ञो यजनं जनानां सुम्नं सम्पादयितुं प्रत्येति। हे आदित्यास आदित्याः, अदितेः परमेश्वरस्य अपत्यानि पुमांसो जीवाः। यूयं परस्परं मृडयन्तः सुखयन्तो भवता भवत। वो युष्माकम् अर्वाची अर्वाग्गमनशीला सुमतिः शोभना बुद्धिरावबृत्याद् आत्माभिमुख्येन आवर्ततान्। या आत्माभिमुखी सुमतिरंहोरपि पापिनोऽपि वरिवोवित्तरा असत्, स्वर्गापवर्गादिलक्षणस्य धनस्य अतिशयेन प्रापयित्री भवति, तेभ्य आदित्येभ्यो हिताय हे यज्ञ! त्वामाश्रयामः, यज्ञस्यैव स्वान्तःशुद्धिक्रमेण तत्त्वज्ञान-हेतुत्वेन समाश्रयणीयत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे आदित्यासः, आदित्यवद्विद्यादिगुणैः प्रकाशमानाः! यूयं देवानां विदुषां वो युष्माकं यो गृहाश्रमाख्यो यज्ञः सुम्नं सुखं प्रत्येति प्रतीतम् एति प्रापयति, या अंहोः सुखप्रापकस्य गृहाश्रमस्या-नुष्ठानस्यार्वाची सुशिक्षाविद्याभ्यासात् पश्चाद् विज्ञानमञ्चति प्राप्नोत्यनया सा वरिवोवित्तरा, वरिवः सत्यं व्यवहारं वेत्त्यनया, सातिशयिता सुमतिः शोभना मतिरावबृत्याद् वर्तताम्, या त्वादित्येभ्यः सर्वेभ्यो मासेभ्यः प्राप्तोत्तमविद्या शिक्षा असत्, तया चित् युक्ता वां सदा मृडयन्तः सर्वान् सुखयन्तो भवत' इति। अद्वैत-त्सम्प्रदायाभिज्ञो ब्रह्मदत्तो जिज्ञासुः—'पदार्थोऽन्वयश्चासम्बद्ध इव प्रतिभाति। एति प्रापयतीत्यत्र प्रापयत्विति युक्तं स्यात्। आदित्येभ्यः सर्वेभ्यो मासेभ्य इत्यत्र आप्तेभ्यो विद्वद्भ्य इति स्यात्। वाम् इत्यपि नान्वेति, एकवचनान्तसम्बोधनस्याभावात्, आदित्यास इति बहुवचनान्तस्य दर्शनाच्च' इति। दयानन्दीये भाषाभाष्ये तु—'हे सूर्यवद् विद्यादिशुभगुणैः प्रकाशमानाः, भवतां विदुषां स्त्रीपुरुषाभ्यां वर्तितुं योग्यो गृहाश्रमव्यवहाररूपो यज्ञो निश्चयेन सुखं प्रापयति। या गृहाश्रमसुखसाधयित्री सुशिक्षाविद्याभ्यासानु विज्ञानप्रापयित्री सत्यव्यवहारस्य निरन्तरविज्ञानदात्री भवतां सुमतिः सा श्रेष्ठमार्गे निरन्तरं प्रवर्तताम्। आप्तेभ्यो विद्वद्भ्यस्त्वामुत्तमा विद्या शिक्षा प्राप्नोतु। तया बुद्ध्या युक्ता आवां स्त्रीपुरुषौ मृडयन्तो भवतः' इति, सर्वमप्येतद् यत्किञ्चित्, यज्ञशब्दस्य गृहाश्रमोऽर्थ इत्यत्र प्रमाणवैधुर्यात्। वरिवः सत्यं व्यवहारम्

प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ वर्णित है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का यह अर्थ है—देवताओं का यजन प्राणियों के सुख-सम्पादन के लिये अग्रसर होता है। परमेश्वर की सन्ततिरूप हे जीवों, तुम लोग परस्पर सुख देते हुए रहो। तुम्हारी अग्रगामिनी सुबुद्धि आत्माभिमुख होती हुई प्रत्यावर्तित हो। जो आत्माभिमुख सुमति पापी को भी स्वर्ग, अपवर्ग आदि के रूप में धन को प्राप्त कराने वाली होती है, उसके लिये और अदिति के पुत्रों के हित के लिये हे यज्ञ, हम तुम्हारा आश्रय लेते हैं। यज्ञ ही स्वान्तःशुद्धि के क्रम से तत्त्वज्ञान के कारण के रूप में आश्रयणीय है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत अर्थ तथा भाषाभाष्य एवं ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा निरूपित विवरण, यह सभी अनुपादेय हैं। यज्ञ शब्द का अर्थ गृहाश्रम है, इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। 'वरिवः' का अर्थ 'सत्य व्यवहार'

इत्यपि निर्मूलमेव। देवानां सुमतिरंहोर्गृहाश्रमस्य सुखसाधयित्रीत्यपि निर्मूलम्, अंहुशब्दस्य तत्राशक्तत्वात्। अर्वाचीत्यस्यापि त्वदुक्तोऽर्थो निर्मूल एव, अर्वागञ्चतीत्यस्यैव तदर्थत्वात्, सुशिक्षाविद्याभ्यासात् पश्चाद्भावित्वेन विज्ञानमुत्कृष्टमेव भवति नार्वाक्। श्रुतिसूत्रविरोधाच्चैतदुपेक्षणीयमेव ॥ ४ ॥

विव॑स्वन्नादित्यै॒ष ते॑ सोमपी॒थस्तस्मि॑न् मत्स्व। श्रद॑स्मै न॒रो वच॑से दधातन॒ यदा॑शी॒र्दा दम्प॑ती वा॒मम॑श्नु॒तः। पुमा॑न् पु॒त्रो जाय॑ते वि॒न्दते॒ वस्वधा॑ वि॒श्वाहा॑र॒प एधते गृ॒हे ॥ ५ ॥

'उपांशुसवनेन मिश्रयति विवस्वन्नादित्येति' (का० श्रौ० १०।४।६)। उपांशुसवनेन तन्नामकेनाभिषवणसाधनेन ग्राव्णा पाषाणेनादित्यग्रहगतं सोमरसं मिश्रयेत्, सोमं दधि च परस्परं मिश्रयेदित्यर्थः। आदित्यदेवत्यं यजुः। हे विवस्वन्नादित्य, तमांसि विवासयति निवारयतीति विवस्वान्, तत्सम्बुद्धौ। विशिष्टधनवान् वा विवस्वान्, विशिष्टं वसु धनमस्येति तथोक्तः। मतौ टिलोपश्छान्दसः। हे आदित्य, एष पात्रस्थस्ते तव सोमपीथः पातव्यः सोमः, पातुं योग्यः पीथः, पीथश्चासौ सोमः सोमपीथः, आहिताग्न्यादित्वात् पीथशब्दस्य परत्वम्। तस्मिन् मत्स्व तृप्तिं कुरु। यद्वा एष ते सोमपीथः, एतत्ते तव सोमपानम्, तस्मिन् मत्स्व। 'मद तृप्तौ', 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इत्यदादित्वात् शपो लुक्। यद्वा—'विवस्वान् वा एष आदित्यो निदानेन यदुपांशुसवनः' (श० ४।३।५।१६) इति शतपथश्रुत्या उपांशुसवनस्यादित्यत्वविधानात् प्रकृते आदित्यात्मक उपांशुसवनः सम्बोध्यते। हे विवस्वन्नामक आदित्यात्मक उपांशुसवन, ते तव एष सोमपीथः सोमपानम्, अतस्तस्मिन् सोमपाने मत्स्व तृप्तिं प्राप्नुहि। 'श्रदस्मै नर इत्येनमवेक्षते पत्नीति' (का० श्रौ० १०।५।७)। पत्नी एनं पूतभृतं श्रदस्मै इति मन्त्रेण पश्येत्। आशीर्देवत्या जगती नरदेवत्या वा। यद्वा द्वादशाक्षरचतुष्पादा जगती। पत्नी वदति—हे नरः, 'नृ नये', नेतार ऋत्विग्यजमाना आशीर्दा आशिषोऽभीष्टकामान् ददतीति आशीर्दाः, सुब्लोपश्छान्दसः, यूयमस्मै वचसे आशीर्वचनाय श्रद्धातन। श्रदिति सत्यवचनेषु पठितम्। 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति मध्यमबहुवचनस्य तनादेशः। श्रद्धामास्तिक्यबुद्धिं कुरुत। यद्वा 'नेत्यनर्थका उपजना भवन्ति' इति नकारोऽनर्थकः। श्रद्धात श्रद्धां कुरुतेत्यर्थः। मदुक्तमाशीर्वचनं भवद्भिः श्रद्धया धारितं तथैव स्यात्। किं तदाशीर्वचनमित्यत आह—यद् दम्पती जायापती पत्नीयजमानौ वामं वननीयं सम्भजनीयं यज्ञफलमश्नुत प्राप्नुत। किञ्च, इहैव पुमान् पुंस्त्वधर्मसम्पन्नः पुत्रो जायते उत्पद्यते। दुहितापि पुत्रशब्देनोच्यते, अतः पुमानिति विशेष्यते। स च पुत्रो वसु धनं विन्दते लभते। अधा अथ। अधा-अथेत्येतौ छन्दसि समानार्थौ। 'निपातस्य च' (पा० सू०

करना भी निर्मूल है। 'अंहु' शब्द भी 'गृहाश्रम' अर्थ बोधित करने में शक्त नहीं है। 'अर्वाची' शब्द का भी निरूपित किया गया अर्थ अप्रामाणिक है। यह व्याख्यान श्रुति तथा सूत्र वाक्यों से विरुद्ध होने के कारण भी अग्राह्य है ॥ ४ ॥

हे अन्धकार को दूर करने वाले आदित्य! इस पात्र में तुम्हारे पीने योग्य सोम स्थित है। इसका पान कर आप प्रसन्न होइये। हे यज्ञीय कर्मचारीगण, आप लोग श्रद्धापूर्वक आशीर्वचन कहिये, जिससे कि यह यजमान और उसकी पत्नी वरण करने योग्य क्रियमाण यज्ञ के फल को पावें। इस फल से यजमान पराक्रमी पुत्र को प्राप्त करे और वह पुत्र धन-सम्पत्ति से सम्पन्न होकर जीवन भर निष्पाप और ऋण आदि से मुक्त रह कर घर में सब प्रकार की वृद्धि को प्राप्त करे ॥ ५ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।४।६, १०।५।७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'विवस्वन्' इस

६।३।१३६) इति संहितायां दीर्घः। अथेत्यनन्तरं विश्वाहा विश्वानि च तान्यहानि चेति विश्वाहा सर्वकालम्, 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (पा० सू० ५।४।९१) इति टच्प्रत्ययस्य वैकल्पिकत्वात् छान्दसो वाडभावः। अनन्तरं धने लब्धे सति स पुत्रो विश्वाहा सर्वदा अरपः पापरहितः सन् गृहे स्वसदने वर्धते। नास्ति रपो यस्यासावरपः, 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः' (निरु० ४।२१)। यद्वा आशीर्दा आशिषो दातारौ दम्पती इति दम्पतीविशेषणम्, विभक्तेराकारः। दम्पती यज्ञफलं प्राप्नुताम्, तयोः पुत्रो जायताम्, स च धनं लब्ध्वा निष्पापः स्वगृहे वर्धतामित्याशीर्वचने श्रद्धां कुरुत।

अत्र ब्राह्मणम्—'तमुपांशुसवनेन मेक्षयति। विवस्वान् वा एष आदित्यो निदानेन यदुपाᳪशुसवन आदित्यग्रहो वा एष भवति तदेनᳪ स्व एव भागे प्रीणाति' (श० ४।३।५।१६)। आदित्यग्रहस्योपांशुसवनाख्येन ग्राव्णाऽऽलोडनं कुर्यात्। मेक्षयति आलोडयति। उपांशुसवन इति यदेष निदानेन कारणात्मना विवस्वान्नामक आदित्य एव, 'एष वै विवस्वानादित्यो यदुपांशुसवनः' (तै० सं० ६।५।६।५) इति श्रुतेः। अतस्तेनादित्यग्रहस्यालोडने स्वकीये भागे आदित्यमेव प्रीणितवान् भवतीत्यर्थः। 'तं न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति। एते वै शुक्रवती रसवती सवने यत्प्रातःसवनं च माध्यन्दिनं च सवनमथैतन्निर्धीतशुक्रं यत्तृतीयसवनᳪ स यन्न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति तेनो हास्यैतच्छुक्रवद्रसवत्तृतीयसवनं भवति तस्मान्न दशाभिर्न पवित्रेणोपस्पृशति' (श० ४।३।५।१७)। ग्रहान्तरसाधारण्येन ग्रहणानन्तरं प्राप्तं दशापवित्रेण मार्जनं निषेधति—न दशाभिर्न पवित्रेणेति। दशाभिः स्वाञ्चलैः, पवित्रेण पावनार्थेन वस्त्रेणादित्यग्रहं न परिमृज्यात्। प्रातर्माध्यन्दिनसवनयो रसवत्त्वेन तृतीयसवनस्य नीरसत्वं शतपथे (३।३।३।१९) उक्तम्। 'रसवती वा शुक्रवती' इत्यस्यैव व्याख्यानम्—निर्धीतशुक्रं निष्पीतरसमिति। पक्षिरूपा गायत्री तृतीयसवनार्थं सोमं मुखेनाहरन्त्यपिबदिति प्रसिद्धम्। तेन तृतीयसवनं नीरसम्। तैत्तिरीयके श्रूयते—'पद्भ्यां द्वे सवने समगृह्णान्मुखेनैकं यन्मुखेन समगृह्णात्तमधयत् तस्माद् द्वे सवने शुक्रवती प्रातःसवनं माध्यन्दिनं च तस्मात्तृतीयसवनं ऋजीषमभिषुण्वन्ति धीतमिव हि मन्यते आशिरमवनयति स शुक्रत्वाय' (तै० सं० ६।१।६।४-५)। तत्तेनैवाभिषवादिसम्पादनेन, तस्मात् शुक्रवतो माध्यन्दिनसवनात् तृतीयसवनं निर्मिमीते उत्पादयति, सवनोत्पादकस्य सोमाभिषवादेरत्र सम्पादनात्, अतो दशापवित्रेण परिमार्जनस्याकरणे तृतीयसवनस्य रसवत्त्वं भवतीति दशाभिः पवित्रेण च न परिमृज्यात्।

'स मेक्षयति। विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्वेत्यथोन्नेत्र उपाᳪशुसवनं प्रयच्छत्यथाहोन्नेतारमासृज ग्राव्ण इति तानाधवनीये वा सृजति चमसे वा' (श० ४।३।५।१८)। उपांशुसवनेन ग्रहस्य यन्मेक्षणं विहितं तदनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स मेक्षयति विवस्वन्नादित्येत्यादि। मन्त्रार्थस्सूक्त एव। ग्रहणानन्तरं कर्तव्यमाह—अथेत्यादिना। उन्नेत्र उपांशुसवनं प्रयच्छति। अथोन्नेतारमाह—आसृज ग्राव्ण इति। उन्नेता तान् आधवनीये चमसे वा आसृजति। 'राजानमुन्नीय। आदित्यानां वै तृतीयसवनमादित्यान् वा अनु ग्रावाणस्तदेनान् स्व एव भागे प्रीणात्यपोर्णुवन्ति द्वारे' (श० ४।३।५।१९)। राजानमुन्नीय सोममापूर्य चमसे वा विसृजति निदध्यात्। अभिषवार्थान् पाषाणान् आदित्यानां वेत्यादिना ग्राव्णा निधानस्य प्रयोजनमाख्यायते— अनु ग्रावाण इति। अनुः 'हीने' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयः। आदित्यानामत्र ग्रावाभिमानित्वात् तेषां प्राधान्यम्, ग्राव्णां च हीनत्वमनुशब्देन द्योत्यते। तस्मादेतान् स्व एव भागे प्रीणाति। अपोर्णुवन्ति द्वारे हविर्धानस्य उभे द्वारे अपिदधातीति हविर्धानस्य द्वारयोरपिधानं विहितम्, तदिदानीमपनयेयुरिति।

कण्डिका के मन्त्रों से उपांशुसवन नामक पाषाणखण्ड के द्वारा आदित्य ग्रहपात्र में स्थित सोमरस का दधि से मिश्रण तथा

'अथापिधायोपनिष्क्रामति । रक्षोभ्यो ह्याबिभयुरथाहादित्येभ्योऽनुब्रूहीत्यत्र संपश्येद्यदि कामयेताश्राव्य त्वेव सम्पश्येदादित्येभ्यः प्रेष्य प्रियेभ्यः प्रियधामभ्यः प्रियव्रतेभ्यो महस्वसरस्य पतिभ्य उरोरन्तरिक्षस्याध्यक्षेभ्य इति वषट्कृते जुहोति नानुवषट्करोति नेत्पशूनग्नौ प्रवृणजानीति प्रयच्छति प्रतिप्रस्थात्रे सꣳस्रवौ' (श० ४।३।५।२०)। द्वारपिधानापनयनानन्तरं निष्क्रमणादिकं विधत्ते-- अथेति । अपिधाय ग्रहं स्वकीयेन पाणिना आदित्यस्थाल्या वा आच्छाद्य हविर्धानान्निष्क्रमेत्, 'ग्रहमपिधाय पाणिना स्थाल्या वा' (का० श्रौ० १०।४।९)। हि यस्मात् कारणाद् आदित्या रक्षोभ्योऽबिभयुर्भीता बभूवुः, तस्मात्तदीयस्य ग्रहस्यापिधानं युक्तमिति भावः। आश्राव्य त्वेवेति। यदि ग्रहं द्रष्टुमिच्छेत्तर्हि आश्रावणानन्तरमेव सम्पश्येत्, न पुनः पूर्वोक्तानुवचनानन्तरमित्यर्थः। सम्पश्येदित्यत्र 'समो गम्यृच्छि' (पा० सू० १।३।२९) इत्यादिसूत्रस्थलीयेन 'अर्तिश्रुदृशिभ्यश्चेति वक्तव्यम्' इति वार्त्तिकेन आत्मनेपदं न भवति, तत्राकर्मकादित्यधिकारात्।

अनेनोपरि होमकाले ग्रहो नावेक्षणीय इति दर्शितम्। अत एवापस्तम्बः—'अन्यत्रेक्षमाण आदित्यं जुहोति'। अध्वर्योः प्रैषमुत्पाद्य कालविशिष्टं होमं विधत्ते– आदित्येभ्यः प्रेष्य प्रियेभ्य इत्यादिकं प्रैषमुच्चार्य होत्रा वषटकारे कृते ग्रहमग्नौ जुहुयात्। प्रैषस्यायमर्थः—प्रीतिकरेभ्यः, धाम स्थानं तच्च प्रियं धाम येषां ते प्रियधामानस्तेभ्यः। प्रियव्रतेभ्यः, प्रियं व्रतं कर्म यज्ञरूपं येषां तेभ्यः। महस्वसरस्य पतिभ्यः, स्वसरमित्यहर्विधीयते (निघ० १।९।५), महसां विशिष्टं स्वसरमहो महःस्वसरम्, तस्य पतिभ्योऽहर्पतिभ्यः। उरोर्विस्तीर्णस्य अन्तरिक्षास्याध्यक्षेभ्यः साक्षिभ्यः, तत्रैव सर्वदा वर्तमानत्वात्। एवंविधेभ्य आदित्येभ्यो हविर्दातुं मैत्रावरुणयाज्यापाठार्थं होतारं प्रेरयेदित्यर्थः। ग्रहान्तरसाधारण्येन प्राप्तमनुवषट्कारं निषेधति– नानुवषट्करोति। अनुवषट्कारो हि स्विष्टकृदग्न्यर्थं क्रियते, 'स्विष्टकृतो वा एतेऽनुवषट्क्रियन्ते' इत्युक्तत्वात्। तथा सत्यनुवषट्कारे कृते 'पशवो वा एते यदादित्यः' (तै० सं० ६।५।६) इत्यादित्यग्रहस्य पश्वात्मकत्वात् पशव एवाग्नौ परित्यक्ताः स्युः। तस्मान्नैव पशूनग्नौ प्रवृणजानि परित्यजानीति नानुवषट्कुर्यादिति। 'अथ पुनः प्रपद्य। आग्रयणमादत्त उदीचीनदशं पवित्रं वितन्वन्ति प्रस्कन्दयत्यध्वर्युराग्रयणस्य संप्रगृह्णाति प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवावानयत्युन्नेता चमसेन वोदञ्चनेन वा' (श० ४।३।५।२१)। आदित्यग्रहयागानन्तरं हविर्धानगमनपूर्वकमाग्रयणस्य ग्रहणप्रकारं विधत्ते—अथ पुनः प्रपद्येति। तृतीयसवनार्थमभिषवानन्तरं पूतभृत उपरि उदङ्मुखाञ्चलं पवित्रं पवनार्थं वितन्वन्ति विस्तारयन्त्युद्गातारः, तस्मिन् पवित्रेऽध्वर्युराग्रयणस्य, 'कर्मणि षष्ठी' (पा० सू० २।३।५०), आग्रयणपात्रस्थं सोमं प्रस्कन्दयत्यासिञ्चति। तदा प्रतिप्रस्थातापि पवित्रे आदित्यस्थालीगतौ संस्रवौ सम्प्रगृह्णाति, समित्येकीभावे, सह सिञ्चेत्, उन्नेता वा आधवनीयाद् उदञ्चनेन चमसेन वा वितत आग्रयणं गृह्णाति।

'तं चतसृणां धाराणामाग्रयणं गृह्णाति। आदित्यानां वा तृतीयसवनमादित्यान् वा अनु गावस्तस्मादिदं गवां चतुर्धा विहितं पयस्तस्माच्चतसृणां धाराणामाग्रयणं गृह्णाति' (श० ४।३।५।२२)। धाराचतुष्टयाद् ग्रहणं विधातुं प्रशंसति—तं चतसृणां धाराणामिति। संख्याद्वारा जगतीसम्बन्धित्वाज्जागतं तृतीयसवनमुक्तम्। गावश्च वृष्टिप्रदानेनादित्यानुपजीव्य वर्तन्ते, तस्मादादित्यसम्बन्धितृतीयसवनगतस्याग्रयणस्य चतसृभ्यो धाराभ्यो गृहीतत्वाद् आदित्यसम्बन्धिनीनां गवां पयश्चतुर्धा विहितं दृश्यते, चतुर्भिः स्तनमुखैः पयस उद्गमात्। अतश्चतसृभ्यो धाराभ्यो ग्रहणं प्रशस्तम्।

'तद्यत् प्रतिप्रस्थाता सꣳस्रवौ सम्प्रगृह्णाति। आदित्यग्रहो वा एष भवति न वादित्यग्रहस्यानुवषट्करोत्येतस्माद्वै सावित्रं ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति तदस्य सावित्रेणैवानुवषट्कृतो भवति' (श० ४।३।५।२३)।

पत्नी द्वारा पूतभृत् का अवलोकन आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। शतपथ एवं तैत्तिरीय श्रुतियों के अनुसार तथा

आग्रयणस्य ग्रहणे प्रतिप्रस्थातृकृतं संस्रवावसेचनमादित्यग्रहस्यानुवषट्कारहेतुत्वेन प्रशंसति--तद्यदिति। एष संस्रवरूपः सोमः खलु, तच्छेषत्वात्। आदित्यग्रहस्य त्वनुवषट्कारो निषिद्धः। अत आग्रयणे तच्छेषावनयने सत्येतत्सावित्रग्रहस्य ग्रहीष्यमाणत्वात् सावित्रस्य चानुवषट्कारसम्भवात् तेनैवादित्यग्रहोऽनुवषट्कृतो भवति। 'यद्वेव प्रतिप्रस्थाता सꣳ स्रवौ सम्प्रगृह्णाति। पुरा वा एभ्य एतन्मिश्राद् ग्रहमहौषुः पुरा तृतीयसवनात्तृतीयसवनाय वा एष ग्रहो गृह्यते तदादित्यास्तृतीयसवनमपियन्ति तथा न बहिर्धा यज्ञाद् भवन्ति तस्मात् प्रतिप्रस्थाता सꣳ स्रवौ सम्प्रगृह्णाति' (श० ४।३।५।२४)। प्रकारान्तरेणापि तदेव प्रशंसति। 'आग्रयणमादायासिञ्चति पवित्रेऽधिपूतभृतं प्रतिप्रस्थाता च सꣳ स्रवावाधवनीयादुन्नेतोदञ्चनेन चमसेन वा तत आग्रयणं गृह्णाति' (का० श्रौ० १०।५।१-४)। नेष्ट्रा आग्रयणस्थालीस्थं सोमं पात्रान्तरे कृतं हस्तेन गृहीत्वा पूतभृत उपरि धृते दशापवित्रे आसिञ्चेदध्वर्युः। प्रतिप्रस्थाता आदित्यग्रहादित्यस्थालीशेषावासिञ्चेत्। आधवनीयादुन्नेता उदञ्चनेन चमसेन वा पवित्रे आसिञ्चेत्। एवं चतस्रो धारा भवन्ति। ततस्ताभ्यश्चतसृभ्योऽध्वर्युराग्रयणस्थाल्यामाग्रयणं गृह्णीयादिति विस्तरेण शतपथश्रुत्या च व्याख्यात एवार्थः कात्यायनादिभिः सूत्रकारैः सायणादिभिर्वेदभाष्यकारैः प्रकटीकृत इति तत्सम्मतं व्याख्यानमेव वेदव्याख्यानम्।

अध्यात्मपक्षे—हे विवस्वन् अविद्यातमोऽपनोदक, एष ते तव सोमपीथो यज्ञः, सोमः पीयते यस्मिन् स सोमादिः समर्पितोऽस्ति, 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥' (भ० गी० ९।२७) इति गीतोक्तेः। तस्मिन् मत्स्व तृप्तिं प्राप्नुहि। हे नरः, नयन्ति परमात्मनि मनो ये ते नरो भगवद्भक्ताः, अस्मै वचसे श्रद्धातन श्रद्धातन विश्वासं कुरुत। आशीर्दा आशिषो दातारो भवत। किं च तद्वचनम्? यद्यस्माद् दम्पती जायापती तत्स्थानीयौ बुद्धिजीवौ, पुरञ्जनोपाख्याने बुद्धिजीवयोर्जायापतित्वारोपदर्शनात्। वामं रमणीयं संभजनीयं भोगं मोक्षं च अश्नुतो व्याप्नुतः। तयोश्च पुमान् पुत्रः प्रबोधचन्द्रो जायताम्। स च वसु ब्रह्मरूपं धनं लभताम्। स च निष्पापो निरुपप्लवोऽथा अनन्तरं विश्वाहा सर्वदा अरपो निष्पापः संशयविपर्ययादिरहितो गृहे स्वस्थाने हृदये एधते वर्धते स्वात्मसाक्षात्कारेण कृतार्थो भवति भवतु।

स्वामिदयानन्दस्तु—'हे विवस्वन् आदित्यगृहिन्, विविधे स्थाने वसतीति विवस्वान्, एष ते तव सोमपीथो गृहाश्रमोऽस्ति। सोमः पीयते यस्मिन् सः सोमपीथः, तस्मिन् त्वं विश्वाहा बहूनि अहानि, मत्स्व आनन्दितो भव। हे नरो गृहाश्रमस्थाः, यूयमस्मै वचसे गृहाश्रमव्यवहाराय श्रद्धातन श्रत् सत्यं दधातन धरत। यद् यस्मिन् गृहे दम्पती वामं प्रशस्यं गृहाश्रमं धर्ममश्नुतो व्याप्नुतः, तस्मिन् आशीर्दा आशीरिच्छां ददातीति सः,

---

कात्यायन, आपस्तम्ब आदि सूत्रकारों के अनुकूल याज्ञिक अर्थ सायण आदि वेदभाष्यकारों ने निरूपित किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—अविद्यारूपी तम के विनाशक हे विवस्वन्, आपको यह सोमादि नैवेद्य समर्पित है, इसमें तृप्ति का अनुभव करें। परमात्मा में अपने मन को ले जाने वाले हे भगवद्भक्तों, इस वचन के प्रति विश्वास करो, आशीः के प्रदाता बनो। पुरंजनोपाख्यान में बुद्धि तथा जीव में पत्नी तथा पति का रूपक उपदिष्ट होने के कारण दम्पतीस्थानीय बुद्धि एवं जीव जिससे रमणीय, सेवनीय भोग तथा मोक्ष को प्राप्त करते हैं, उनसे प्रबोधचन्द्ररूपी पुत्र उत्पन्न हो, वे ब्रह्मरूपी धन प्राप्त करे। तदनन्तर वे निष्पाप, सर्वदा संशय-विपर्यय आदि से विरहित होकर अपने स्थान हृदय में स्वात्मसाक्षात्कार के द्वारा कृतकृत्य हों।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ श्रुति तथा सूत्र वचनों से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है। विवस्वान् का अर्थ 'गृही' करना निर्मूल है तथा गृहस्थ नियमतः विविध स्थानों में निवास नहीं करता। रूढ अर्थ के परित्याग में कोई

अरपो निष्पापः पुमान् पुत्रो जायते, वसु धनं विन्दते लभते । अधेत्यनन्तरे, पृषोदरादित्वात् थस्य धः । 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति दीर्घः, एधते वर्धते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिसूत्रविरोधात् । विवस्वन्नित्यस्य गृहिन्नित्यर्थो निर्मूल एव । न च गृहस्थो नियमेन विविधे स्थाने वसति, रूढार्थत्यागे मानाभावाच्च । तमआच्छादकत्वेन योगरूढोऽयं विवस्वान्शब्द आदित्ये वर्तते । आदित्य इत्यस्य अविनाशिस्वरूप इत्यपि नार्थः, तत्राशक्तत्वात्, श्रुतिसूत्रादिषु तथाऽप्रयुक्तत्वात् । अन्यत्तु सायणाद्यनुकरणमेव ॥ ५ ॥

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्यᳬं सावीः । वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम ॥ ६ ॥

'भक्षयित्वेडामुपाᳬंश्वन्तुर्यामिपात्रयोरन्यतरेण सावित्रग्रहणं वाममद्येति' (का० श्रौ० १०।५।१७) । सवनीयपुरोडाशेडां भक्षयित्वा इडाहरणोपलक्षितं सवनीयसम्बन्धि प्रतिपत्तिकर्मजातं समाप्य उपांश्वन्तर्यामपात्रयोरन्यतरेण सावित्रग्रहं गृह्णीयात् । कण्डिकाद्वयात्मको मन्त्रः । सवितृदेवत्या त्रिष्टुब् भरद्वाजदृष्टा । हे सवितः, वामं वननीयं संभजनीयं कर्मफलम्, अद्य अस्मिन् दिने, अस्मभ्यम् अस्मदर्थे सावीः प्रेरय, देहीत्यर्थः । 'सु प्रेरणे' लुङि अडभावश्छान्दसः । वाममु श्वो वामं च उपांशुसवनीये काले सावीः । श्वः उपांशुशंसनीयः काल इति यास्कः । उ अप्यर्थः । श्वोऽपि समनन्तरदिनेऽपि वामं मनोरमं कर्मफलं सावीः । किं बहुनोक्तेन, दिवेदिवे अहन्यहनि प्रतिदिनम्, अस्मभ्यं वामं सम्भजनीयं सुखं सावीः प्रसूयाः । किञ्च, वामस्य हि क्षयस्य भूरेर्विस्तीर्णस्य बहुकालीनस्य धनपूर्णस्य वा क्षयस्य स्वर्गनिवासस्य, सिद्धय इति शेषः, वामभाजः स्याम कर्मानुष्ठातारः स्याम । क्षयशब्दो निवासवचनः, 'क्षयो निवासे' (पा० सू० ६।१।२०१) इत्याद्युदात्तस्मरणात् । यद्वा हे देव, वामस्य शोभनस्य क्षयस्य निवासस्य भूरेर्बहुनो धनपूर्णस्य, दाता भवेति शेषः । हि यस्मात् । अया अनया । नलोपश्छान्दसः । धिया कर्मणा । धीरिति कर्मनाम । श्रद्धोपेतया बुद्धया वा वामभाजोऽभीष्टधनभाजः स्याम सम्भवेम । यद्वा अनया धिया सोमाख्येन कर्मणा अभीष्टफलभागिनः स्याम भवेम ।

अत्र ब्राह्मणम्—'मनो ह वा अस्य सविता । तस्मात् सावित्रं गृह्णाति प्राणो ह वा अस्य सविता तमेवास्मिन्....दधाति यदुपाᳬंशुं गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत्पश्चात् प्राणं दधाति यत्सावित्रं गृह्णाति ताविमा उभयतः प्राणौ हितौ यश्चायमुपरिष्टाद्यश्चाधस्तात्' (श० ४।४।१।१) । सावित्रग्रह उच्यते । प्रकृते मनःशब्देनाध्यवसायात्मिका बुद्धिर्ग्राह्या । सा हि क्रियासु प्रसौतीति सविता । अनध्यवसिते प्राणवृत्त्यभावात् प्राणानुरूपं मनः सविता, तदन्तत्वात् सावित्रो ग्रहोऽस्य यज्ञपुरुषस्य मन एवेत्यवश्यं भावनीयम् । प्राणो ह वास्य सवितेति दर्शनानन्तरं प्राणोऽपि वृत्त्यङ्गत्वात् प्रसौति, तेन सोऽपि सविता । रविमण्डलमपि वायुनैवोह्यमानं जगतः स्वकर्मप्रवृत्तिषु

प्रमाण भी नहीं है । अन्धकार का आच्छादन करने से यह योगरूढ विवस्वान् शब्द आदित्य के लिये प्रयुक्त है । आदित्य का अर्थ 'अविनाशी स्वरूप' भी नहीं है, क्योंकि शब्द उस अर्थ के बोधन में अशक्त है । श्रुति, सूत्र आदि में भी इस प्रकार का प्रयोग नहीं है । अन्य मन्त्रार्थ तो सायण आदि का अनुकरण ही है ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे जगत् को उत्पन्न करने वाले, आज हमारे निमित्त वरणीय यज्ञ-फल को दीजिये, कल भी यज्ञ-फल को दीजियेगा, प्रतिदिन यज्ञफल को दीजिये । हे देव, हम संभजनीय विस्तीर्ण स्वर्ग लोक के निवास की सिद्धि के लिये श्रद्धायुक्त बुद्धि से इस यज्ञ-फल के भोगने वाले होवें ॥ ६ ॥

भाष्यसार—'वाममद्य' इस कण्डिका तथा अग्रिम कण्डिका के द्वारा सावित्र ग्रह का ग्रहण किया जाता है । इस

हेतुर्वायुना भवतीति वायुरपि सवितेत्यभिप्रायः । यत्सावित्रं गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत् पुरस्तात् प्राणं दधाति । पुरस्तादिति मुखतः, पश्चादिति जघनतः । ताविमौ वायू प्राणौ हितौ । कौ तावित्यत आह – यश्चायमुपरिष्टाद् यश्चाधस्तादिति ।

'ऋतवो वै संवत्सरः' (श० ४।४।१।२) इत्यवयवावयविभावेन ऋतवो वा संवत्सरः, स च यज्ञपूर्वपरिणामत्वाद् यज्ञः । संवत्सररूपो यज्ञः प्रतिसवनं दर्शनीयः, अवयवशून्यस्यानुपपत्तेः, अवयवानां च यज्ञावयवत्वात् । स च सवनयोर्द्वयोर्दर्शितः । 'एष वै सविता य एष तपति' (श० ४।४।१।३) इत्यादिना तृतीयसवने सावित्रग्रहग्रहणेनैतस्य संवत्सररूपता प्रदर्शिता । 'तं वा उपाꣳशुपात्रेण गृह्णाति । मनो ह वा अस्य सविता प्राण उपाꣳशुस्तस्मादुपाꣳशुपात्रेण गृह्णात्यन्तर्यामपात्रेण वा समानꣳ ह्येतद्यदुपाꣳश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ हि' (श० ४।४।१।४) । तं सावित्रग्रहमुपांशुपात्रेणान्तर्यामपात्रेण वा गृह्णीयात् । समानमेतद् द्वयम्, प्राणोदानरूपत्वात् । यस्मान्मनः सावित्रः, प्राण उपांशुः । प्राणमनसोश्चात्यन्ताव्यभिचारः । तस्माद् मनसः प्राणेनाविनाभावादुपांशुपात्रेण गृह्णात्यन्तर्यामिपात्रेण च । 'आग्रयणाद् गृह्णाति । मनो ह वा अस्य सविता आत्मा आग्रयण आत्मन्येवैतन्मनो दधाति प्राणो ह वा अस्य सविता आत्मा आग्रयण आत्मन्येवैतत्प्राणं दधाति' (श० ४।४।१।५) । आग्रयणाद् आग्रयणस्थालीस्थसोमादित्यर्थः । 'अथातो गृह्णात्येव । वाममद्य····वामभाजः स्याम' (श० ४।४।१।६) । मन्त्रार्थस्तूक्त एव ।

अध्यात्मपक्षे—हे सवितः, विश्वोत्पादयितः ! अद्य अस्मिन् वामं संभजनीयं सुखं सावीः प्रेरय देहि । श्वः परदिन उ अपि वामं सुन्दरमध्यात्मसुखं सावीः । किं बहुना, दिवेदिवे प्रतिदिनमस्मभ्यं वामं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारसुखं सावीः, तस्यैव सर्वतोभावेन सम्भजनीयत्वात् । हे देव, दानादिगुणयुक्त ! प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरमात्मन् वा । हि यस्मात्, अया अनया श्रद्धान्वितया बुद्ध्या वयं वामभाजः स्याम, ब्रह्मोपासनलक्षणं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं वा वामं भजन्तीति वामभाजः, ब्रह्मोपासनपरायणा ब्रह्मात्मापरोक्षज्ञानवन्तः स्याम भवेम । किमर्थम् ? वामस्य सम्भजनीयस्य भूरेर्भूम्नो विस्तीर्णस्य क्षयस्य ब्रह्मनिवासस्य ब्रह्मात्मनाऽवस्थानस्य, सिद्धय इति शेषः ।

दयानन्दस्तु –'हे देव सवित ईश्वर, त्वं कृपयाऽस्मभ्यमद्य वामं प्रशस्यसुखम्, उ श्वः परस्मिन् दिने वामं पूर्वोक्तं दिवेदिवे प्रतिदिनं सावीः सव उत्पादय । येन वयमया अनया धिया श्रेष्ठबुद्ध्या भूरेर्बहुपदार्थान्वितस्य वामस्याऽत्युत्कृष्टस्य क्षयस्य गृहस्य मध्ये वामभाजः प्रशस्यकर्मसेविनः स्याम भवेम' इति, तदपि मन्दम्, वामस्याऽत्युत्कृष्टस्येति विवरणासङ्गतेः, धात्वर्थानुपपत्तेः । अन्यत्तु महीधराद्यनुकरणमेव ॥ ६ ॥

प्रकार सावित्र ग्रह के ग्रहण में दो कण्डिकाओं का एक मन्त्र है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।५।१३) में प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे विश्व के उत्पादयिता, आज आप रमणीय सुख प्रदान करें । अग्रिम दिन, कल भी सुन्दर अध्यात्मसुख प्रदान करें । प्रतिदिन हमारे लिये ब्रह्मात्मसाक्षात्कार के सुख को प्रदान करें, क्योंकि वही सर्वतः सुन्दर है । दान आदि गुणों से युक्त, प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न हे परमात्मन्, हम श्रद्धायुक्त इस बुद्धि के द्वारा सुखभागी हों । ब्रह्मोपासना रूपी अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार रूपी सुखभागी, ब्रह्मोपासनपरायण ब्रह्मात्मापरोक्षज्ञानवान् हम लोग अभिलषित विस्तीर्ण ब्रह्मात्मरूप से स्थिति की सिद्धि के लिये हों ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में 'वाम' की व्याख्या 'अत्युत्कृष्ट' के रूप में करने के कारण धात्वर्थ की

उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनोधा असि चनो मयि धेहि। जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं भगाय देवाय त्वा सवित्रे ॥ ७ ॥

हे सोम, त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि। हे ग्रह, त्वं सावित्रः सवितृदेवत्योऽसि। त्वं चनोधा, 'चन इत्यन्ननाम' (निरु० ६।१६)। चनोऽन्नं धत्त इति चनोधा, अन्नस्य धारयितासि। 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु० १०।४२) इति रीत्या अभ्यासात् त्वमतिशयेनान्नस्य धारयितासि, अतश्चनोऽन्नं मयि धेहि स्थापय। जिन्व तर्पय यज्ञम्, जिन्व तर्पय यज्ञपतिं यजमानम्, जिन्वतेः प्रीतिकर्मत्वात्। भगाय यज्ञफलाय देवाय सवित्रे त्वा त्वां गृह्णामीति शेषः। यद्वा भगाय भगवते, अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः, ऐश्वर्यादिषड्भगयुक्ताय सवित्रे प्राणिनां प्रसवकर्त्रे देवाय त्वां गृह्णामि। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥' (वि० पु० ६।५।७४) इति षट्संख्याका भगाः प्रसिद्धाः। 'तं गृहीत्वा न सादयति' (श० ४।४।१।७) इति न सादयति नानुवषटकरोति, नेन्मनोऽग्नौ प्रवृणजानि नेत्प्राणमग्नौ प्रवृणजानीति। पूर्वमेतत् स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वं भक्तैरुपयामगृहीतोऽसि प्रेम्णा वशीकृतोऽसि। सावित्रः सवितुः परमेश्वरस्यायं सावित्रः परमेश्वरस्य सोपाधिकस्य निरुपाधिकस्वरूपोऽसि। त्वं चनोधा अभ्यासेनातिशयेनान्नं धारयसि, अतो मयि चनोऽन्नं धेहि। हे भगवन्, जिन्व यज्ञं प्रीणय। जिन्व यज्ञपतिम्, भगवतैव यज्ञस्य साद्गुण्यसम्भवात्। 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥' इत्युक्तेः, 'यत्पादपद्मस्मरणाद् यस्य नामजपादपि। न्यूनं पूर्णं भवेत् कर्म तं वन्दे साम्बमीश्वरम् ॥' (शि० म० पु० ६।१२।६४) इत्युक्तेश्च। यज्ञपतेरपि भगवति यज्ञसमर्पणेनैव सिद्धिः, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (भ० गी० १८।४६) इति भगवदुक्तेः।

असंगति होने से अनौचित्य है। शेष व्याख्या तो महीधर आदि भाष्यकारों का अनुकरण ही है ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। हे सोमग्रह, तुम सविता देवता से सम्बद्ध हो। हे अन्न को धारण करने वाले, तुम प्रभूत अन्न को धारण करने वाले हो, इस कारण हमें अन्न दीजिये। आप यज्ञ और यजमान से प्रीति रखिये। हे ऐश्वर्य आदि गुणयुक्त सबके उत्पादक! सविता देवता के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ ॥ ७ ॥

भाष्यसार—'उपयामगृहीतोऽसि' इस कण्डिका का विनियोग पूर्वोक्त है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्या पूर्ववत् स्पष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—हे साम्बसदाशिव, आप भक्तों के द्वारा प्रेम से वशीकृत हैं। सोपाधिक परमेश्वर के निरुपाधिक स्वरूप हैं। आप अतिशय रूप से अन्न को धारण करने वाले हैं, अतः मुझमें अन्न धारण कीजिये। हे भगवन्, यज्ञ को समृद्ध कीजिये तथा यजमान को भी परिपूर्ण कीजिये। पुराणोक्ति के अनुसार भगवान् के द्वारा ही यज्ञ की सद्गुणता सम्भव है। यज्ञपति कर्ता की भी सिद्धि गीता के वचन के अनुसार (१८।४६) भगवान् के प्रति यज्ञ के समर्पण से ही होती है।

दयानन्दस्तु—'हे पुरुष, त्वया यथाहं नियमोपनियमैः संगृहीतास्मि, तथा मया त्वमुपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि सविता सकलजगदुत्पादको देवता यस्य त्वं सावित्रोऽसि। चनोधा चनांस्यन्नानि दधातीति चनोधाः, अभ्यासेनाधिकार्थो ग्राह्यः, सर्वेभ्योऽधिकान्नवान् असि। अतोऽन्नं मयि धेहि। तथाहमस्मि। त्वं मयि चनो धेहि। अहमपि त्वयि दध्याम्। त्वं यज्ञं जिन्व प्राप्नुहि जानीहि वा। जिन्वतीति गतिकर्मसु पठितम् (निघ० २।१४।८६), जिन्व प्रीणीहि। अहमपि जिन्वेयम्। पुरुषपालिकां स्त्रियं गृहाश्रमपालकं पुरुषं वा भगाय धनाद्याय सेवनीयाय ऐश्वर्याय देवाय दिव्याय कमनीयाय त्वां सवित्रे सन्तानोत्पादकाय सवित्रे देवाय भगाय यज्ञपत्नीं मां जिन्व। एतस्मै यज्ञपतिं त्वामहमपि जिन्वेयम्' इति, तदपि निर्मूलम्, पतिपत्न्योः सम्बोध्य-सम्बोधकयोरत्र सत्त्वे मानाभावात्। ब्राह्मणरीत्या त्वयं मन्त्रः सावित्रग्रहग्रहणे विनियुक्तः। धर्मशास्त्रदृष्ट्या योषितोऽधना भवन्ति, तेन पुरुषस्य चनोधात्वेऽपि स्त्रियस्तदयोगात्। स्त्रीधनं च न पुरुषेण धीयते। न च मनुष्यः कश्चन सर्वेभ्योऽधिकधनवान् भवति, लोके धनतारतम्यस्य ध्रौव्यात्। न च मनुष्यः सवितृदेवत्यः, तत्र प्रमाणाभावात्। न च यज्ञपतिशब्देन यज्ञपत्नी गृह्यते, न वा पत्नी पुरुषपालिका भवति, तथात्वे प्रमाणानुपलम्भात्। किञ्च, नहि स्त्रीपुंसादिव्यवहारप्रतिपादने वेदः प्रवर्तते, तस्य लोकगम्यत्वेन वेदाविषयत्वात्, प्रत्यक्षानुमानानधिगतार्थबोधकत्वेनैव तत्प्रामाण्यात् ॥ ७ ॥

उपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासि सुप्रतिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ८ ॥

'अभक्षितेन महावैश्वदेवग्रहणमुपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासीति' (का० श्रौ० १०।६।२)। अभक्षितेनैव सावित्रग्रहपात्रेण पूतभृतः सकाशान्महावैश्वदेवग्रहं गृह्णीयादध्वर्युः। हे वैश्वदेव ग्रह, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। गृहमाश्रयो वा। त्वं सुशर्मासि शोभनं शर्म सुखं यस्य तादृशोऽसि। सुप्रतिष्ठानोऽसि सुष्ठु प्रतिष्ठानं पात्रे स्थितिर्यस्य सोऽसि महत्साधनसम्पन्नः, 'प्राणो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठानः' इति श्रुतेः। प्राणहेतुत्वात् प्राण इत्युच्यते। अन्नं वै ग्रहोऽन्नं प्राणहेतुः, तस्माद् बृहदुक्षाय बृहन् महांश्चासौ उक्षा सेक्ता बृहदुक्षः, 'प्रजापतिर्वै बृहदुक्षः' इति

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में पति-पत्नी की सम्बोध्य तथा सम्बोधक के रूप में कल्पना करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अप्रामाणिकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों की रीति से तो यह मन्त्र सावित्र ग्रह के ग्रहण में विनियुक्त है। धर्मशास्त्र की दृष्टि से स्त्रियाँ 'अधन' कही गई हैं। अतः पुरुष के 'चनोधा' होने पर भी स्त्रियों में यह युक्त नहीं होता। स्त्रीधन भी पुरुष के द्वारा नहीं रखा जाता। मनुष्य सवितृदेवताक नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। यज्ञपति शब्द से 'यज्ञपत्नी' का ग्रहण नहीं होता अथवा पत्नी पुरुष की पालिका भी नहीं होती, क्योंकि इस कथन में कोई प्रमाण नहीं है। फिर वेद स्त्रीपुरुष आदि का व्यवहार प्रतिपादित करने में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वह व्यवहार तो लोकगम्य होने के कारण वेद का विषय नहीं है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा अज्ञात अर्थ का बोधन कराने के कारण ही वेद का प्रामाण्य है ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे महावैश्वदेव ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, श्रेष्ठ कल्याण की खान इस पवित्र पात्र में यह अन्न स्थित है। विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के निमित्त तुमको उपयाम पात्र में ग्रहण करता हूँ। हे महावैश्वदेव ग्रह, यह तुम्हारा स्थान है। विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के निमित्त तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ ॥ ८ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।६।२) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'उपयामगृहीतोऽसि

श्रुतेः। तादृशाय जगदुत्पादयित्रे विश्वेदेवात्मकाय प्रजापतये नमः, सोमाख्यमन्नं गृह्णामीति शेषः। नम इत्यन्ननाम। विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाभक्षितेन पात्रेण। वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति तद्यदभक्षितेन पात्रेण वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति न वै सावित्रस्यानुवषट्करोत्येतस्माद्वै वैश्वदेवं ग्रहं ग्रहीष्यन् भवति तदस्य वैश्वदेवेनैवानुवषट्कृतो भवति' (श० ४।४।१।८)। महावैश्वदेवग्रह उच्यते। यस्यार्भवः पवमानस्तोत्रम्, एवं वैश्वदेवं च शस्त्रं भवति। 'यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति। मनो ह वा अस्य सविता सर्वमिदं विश्वेदेवा इदमेवैतत्''''कृतानुकरमनुवर्त्म करोति'''',' (श० ४।४।१।९)। सर्वस्य विश्वेदेवात्मकप्रजापतिकार्यत्वात् सर्वमिदं विश्वेदेवा इति। 'यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति। प्राणो ह वा अस्य सविता सर्वमिदं विश्वेदेवा अस्मिन्नेवैतत्सर्वस्मिन् प्राणापानौ दधाति' (श० ४।४।१।१०)। स्पष्टार्थकं ब्राह्मणम्। 'यद्वेव वैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति। वैश्वदेवं वै तृतीयसवनं तदुच्यत एव सामतो यस्माद्वैश्वं तृतीयसवनमुच्यत ऋक्तोऽथैतदेव यजुष्टः पुरश्चरणतो यदेतं महावैश्वदेवं गृह्णाति' (श० ४।४।१।११)। वैश्वदेवग्रहग्रहणं तृतीयसवनमुच्यते। एवं सामतो विश्वे हि देवाः स्तूयन्ते, ऋक्तो विश्वेदेवाः शस्यन्ते। अथैतेनैव कारणेन यजुष्टो यजुःषु पुरश्चरन्ति प्रचरन्ति, प्रथमतरमस्य सामभ्यश्चरन्त्येभिरिति पुरश्चरणं यजूंषि, तत्राप्येतेनैव कारणेन वैश्वदेवं तृतीयसवनं पर्यवस्यति। एतं महावैश्वदेवं ग्रहं गृह्णाति। 'तं वै पूतभृतो गृह्णाति। वैश्वदेवो वा पूतभृदतो हि देवेभ्य उन्नयन्त्यतो मनुष्योऽतः पितृभ्यस्तस्माद्वैश्वदेवः पूतभृत्' (श० ४।४।१।१२)। तं वै पूतभृतो गृह्णन्ति। वैश्वदेवो हि वै पूतभृत्। अतो देवेभ्य उन्नयन्ति। चमसानां पूतभृत उन्नयनं दर्शयत्यनादिष्टानां च। अतो मनुष्येभ्यो भक्षितानां पुनर्भक्षणार्थमेवायं पूतभृतो दर्शयति, अतः पितृभ्य इति। एवाप्यायितानां शंसिताश्चमसाः पितृदेवत्या भवन्ति। ततश्च तदाप्यायनं पितृभ्योऽप्युन्नयन्ति पूतभृत इति दर्शयति।

'तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति। विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णाति सर्वं वै विश्वेदेवा यदृचो यद्यजूंषि यत्सामानि स यदेवैनं विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णाति तेनो हास्यैष पुरोरुङ्मान् भवति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति' (श० ४।४।१।१३)। विश्वेषामेव देवानामृगादीनि शब्दमयानि शरीराणि। ततश्च विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्यमाणस्तदन्तर्गततया पुरोरुचा युक्त एव भवति। अतः पितृभ्य इत्युक्ते किं तत्र पुरोरुचेत्यर्थः। 'अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसि''''बृहदुक्षाय नम इति प्रजापतिर्वै बृहदुक्षः प्रजापतये नम इत्येवैतदाह विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति सादयति विश्वेभ्यो ह्येनं देवेभ्यो गृह्णात्यथेत्य प्राङुपविशति' (श० ४।४।१।१४)। स एष ग्रहः प्राणस्यान्नमिति कृत्वा प्राण इत्युच्यते। स एव सुशर्मा सु शोभनं प्रतिष्ठानं विश्वेदेवा अस्येति। एतदन्नं हि प्रजानां भवति। अथेत्य प्राङुपविशति वैश्वदेवशस्त्रप्रतिगरम्। 'स यत्रैताँ होता शँसति' (श० ४।४।१।१५)। यत्र काले होता शंसति, तस्मिन्नेव काले एतस्यां वायुदेवत्यायामृचि शस्यमानायां द्विदेवत्यानि पात्राणि विमुच्यन्ते प्रक्षाल्य खरे निधीयन्ते। एष हि तेषां विमोकः। 'वायुप्रणेत्रा वै पशवः प्राणो वै वायुः प्राणेन हि पशवश्चरन्ति' (श० ४।४।१।१५)। आख्यायिकया प्रशंसति—स ह देवेभ्य इति। 'स ह देवेभ्यः पशुभिरपचक्राम। तं देवाः प्रातःसवनेऽन्वमन्त्रयन्त स नोपाववर्त तं माध्यन्दिने सवनेऽन्वमन्त्रयन्त स ह नैवोपाववर्त तं तृतीयसवनेऽन्वमन्त्रयन्त' (श० ४।४।१।१६), 'स होपावर्त्स्यन्नुवाच। यद्व उपावर्तेय किं मे ततः स्यादिति त्वय्यैवैतानि पात्राणि युज्येरंस्त्वया विमुच्येरन्निति तदेनेनैतत्पात्राणि युज्यन्ते यदैन्द्रवायवाग्रान् प्रातःसवने गृह्णात्यथैनेनैतत्पात्राणि विमुच्यन्ते यदाह नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्चेति''''' (श० ४।४।१।१७)।

सुशर्मासि' इस मन्त्र से अध्वर्यु महावैश्वदेव ग्रह का ग्रहण सावित्र ग्रहपात्र के द्वारा करता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उपयामगृहीतोऽसि भक्त्या वशीकृतोऽसि। सुशर्मासि भक्तानां शोभनाश्रयभूतोऽसि। सुप्रतिष्ठानोऽसि शोभनं प्रतिष्ठानं कैलासादिकं यस्य स सुप्रतिष्ठानः। तस्मै बृहदुक्षाय प्रजापतिरूपाय तुभ्यं नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। एष भक्तानां हृदयसमूहस्ते योनिर्गृहम्। विश्वेभ्यो देवेभ्यो हिताय त्वामाश्रयामः। तदर्थमेव त्वामासादयामः स्थापयामः।

दयानन्दस्तु—'हे पते, अहं यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि सुप्रतिष्ठानः सुशर्मासि, तस्मै बृहदुक्षाय तुभ्यं नमोऽस्तु। सुसंस्कृतं हृद्यमन्नमुचितसमये ददामि। यथाहं यस्य ते तवैष योनिः प्रासादोऽस्ति, तं त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्यः सेवे, विश्वेभ्यो देवेभ्यो नियुनज्मि, तथा त्वं विश्वेभ्यो देवेभ्यो मां नियुङ्ग्धि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणत्वात्। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नियुनज्मीत्यस्य को वाऽर्थः? कथं हि स्त्री पतिं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नियोक्ष्यति, कथं च पतिस्तां नियोक्ष्यति? किमिदं दयानन्दीयनियोगस्य मूलम्? 'त्वं बृहदुक्षा अत्यन्तवीर्य-प्रदाता, तं त्वा दिव्यसुखेभ्यः सेवे' इति तु त्वदीयं मानसं भावमभिव्यनक्ति, किं त्वदीये वेदे इदमेव वर्णितम्॥ ८॥

उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम त इन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ२॥ ऋद्ध्यासम्। अहं परस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्। अहꣳ सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानाम्परमं गुहा यत्॥ ९॥

'उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्येति प्रतिप्रस्थाता पात्नीवतं गृह्णाति' (का० श्रौ० १०।६।१५)। स चोपांशुपात्रेणान्तर्यामपात्रेण वा परिप्लवयाऽग्रयणात् पात्नीवतं ग्रहं गृह्णाति। 'उपांशुपात्रेण पात्नीवतमाग्रयणाद् गृह्णाति' (सत्या० श्रौ० ९।४) इति सूत्रात्। सोमदेवत्यम्। हे सोमदेव, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। इन्दोरिन्द्रियावतो वीर्यवतः पत्नीवतः पत्नीसंयुक्तस्य ते तव सम्बन्धिनो ग्रहानन्यानुपांशुप्रभृतीन् ऋद्ध्यासं समर्धयेयम्।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे साम्बसदाशिव, आप भक्ति के द्वारा वशीकृत हैं, भक्तों के सुन्दर, शुभ आश्रय रूप हैं। कैलास आदि शुभ प्रतिष्ठानों से युक्त हैं। ऐसे प्रजापतिरूपी आपके लिये प्रणाम हो। भक्तों का यह हृदयसमूह ही आपका निवास है। समस्त देवों के हितार्थ हम आपकी शरण लेते हैं। एतदर्थ ही आपकी प्रतिष्ठापना करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अप्रामाणिक होने के कारण अग्राह्य है। 'विश्वेदेवों के लिये नियुक्त करता हूँ' इसका क्या अर्थ है? विश्वेदेवों के लिये स्त्री पति को तथा पति स्त्री को कैसे नियुक्त करेंगे? क्या यह नियोग है? उस मत में 'तुम अत्यन्त वीर्यप्रदाता हो' इत्यादि ही क्या वेद में वर्णित है?॥ ८॥

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान देव सोम, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, इस कारण यज्ञ करने वाले यजमान से अभिषुत तुम्हारे रसयुक्त वीर्य से पत्नीसंयुक्त मैं तुम्हारे अनुग्रह से अन्यान्य उपांशु आदि ग्रहों को पूर्ण करता हूँ। मैं ही नीचे भूलोक में स्थित हूँ। जो मध्यवर्ती लोक है, वह भी मुझ देहधारी का पिता के समान पालक है। मैं परम रूप हुआ ऊपर और नीचे स्थित होकर सूर्य को देखता हूँ। देवताओं का अत्यन्त गोप्य हृदय मैं ही हूँ॥ ९॥

भाष्यसार—'उपयामगृहीतोऽसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से प्रतिप्रस्थाता द्वारा पात्नीवत ग्रह का ग्रहण तथा अध्वर्यु

कीदृशस्य ते ? बृहस्पतिसुतस्य बृहतो महतो यज्ञकर्मणः पतिः पालयिता यजमानस्तेन सुतस्याभिषुतस्य, यद्वा बृहस्पतयो ब्राह्मणा ऋत्विजस्तैरभिषुतस्य, यद्वा बृहस्पतिसुतस्य ब्रह्मप्रसूतस्येत्यर्थः, 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः' (श० ११।४।३।१३) इति ब्राह्मणोक्तेः। इन्दोः, उनत्तीतीन्दुस्तस्य, 'उन्दी क्लेदने', क्लेदनरूपस्य, रसरूपस्येत्यर्थः। इन्द्रियावतः, इन्द्रियं वीर्यमस्यास्तीतीन्द्रियवान्, संहितायां दीर्घः, इन्द्रियावान्, तस्य। 'इन्द्रियावतो वीर्यवत इत्येवैतदाह' (श० ४।४।१।१२) इति हि श्रुतिः। तथा पत्नीवतः पत्नीयुक्तस्य, तादृशस्य ते सम्बन्धिनोऽन्यान् ग्रहान् ऋद्ध्यासं समर्धयेयमिति सम्बन्धः। 'प्रचरणीशेषेण श्रीणात्येनमहं परस्तादिति' (का० श्रौ० १०।६।१६)। प्रचरणीशिष्टेनाज्येन पात्नीवतग्रहगतसोमं मिश्रयेद् अहं परस्तादिति मन्त्रेणाध्वर्युः। प्रजापतिरूपात्मदेवत्या त्रिष्टुप्। मन्त्रद्रष्टा स्वस्य सर्वगतब्रह्मरूपत्वाभिप्रायेण वदति—अहं परमात्मरूपः सन् परस्ताद् उपरितनद्युलोकादौ, तिष्ठामीति शेषः। यदन्तरिक्षं मध्यवर्तिलोकरूपमस्ति, तदुत तदेव मे देहधारिणः पिता पाता सवितृवत् प्रतिपालको बभूव। अहं ब्रह्मरूपः सन्, उभयत उपरिष्टादधस्ताच्च स्थित्वा सूर्यं ददर्श दृष्टवानस्मि। सूर्यस्य मम शिर इत्यभिप्रायः। यद्वस्तु देवानामिन्द्रादीनां हृदये परमं गुहा अत्यन्तगोप्यमस्ति, तदेवाहमस्मि।

'सौम्येन चरुणा प्रचरति' (श० ४।४।२।१) इति श्रुतौ सौम्यस्य चरोः सोपपत्तिकं प्रचरणविधानम्। सौम्यस्य चरोर्देवपित्रोरुभयोर्हविष्ट्वमुक्त्वा तन्निमित्तककलहनिवारणाय तस्य वैश्वदेव्यं तृतीयसवनेऽनुवाक्यावर्जं प्रचरणविधानं प्राक्, पश्चादुभयतोऽन्यतरतो वाज्येन परियजनसहितस्य सधर्मकस्य सौम्यस्य चरोर्विधानम्—'अथ प्रचरणीति स्रुग् भवति' (श० ४ ४।२।७) इत्यादि। तत्र पूर्वं प्रचरण्यां स्रुचा चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽध्वर्योः शालाकैर्यथोपकीर्णं यथापूर्वं धिष्ण्यानां व्याघारणविधानम्, तदैव प्रतिप्रस्थातुः पात्नीवतग्रहस्य ग्रहणविधानम्। तत्साधनत्वेन यदि सावित्रो ग्रह उपांशुग्रहेण गृहीतश्चेदस्यान्तर्यामपात्रेण ग्रहणम्। यदि सावित्रो ग्रहोऽन्तर्यामपात्रेण गृहीतस्तदास्य पात्नीवतो ग्रहस्योपांशुपात्रेण ग्रहणमिति व्यवस्थितविभाषया पात्रस्य विधानम्। तदपि ग्रहणमपुरोरुक्कतया कर्तव्यम्। विहितग्रहणमनूद्य प्रचरणीशेषेणाज्येन पात्नीवतग्रहस्य श्रपणकरणम्। प्रसङ्गात् स्त्रीणां पित्र्यस्य धनस्य वा षड्विधस्य स्त्रीधनस्य दायस्यानीश्वरत्वोपवर्णनम्।

तद्यथा—'तं वा उपाꣳशुपात्रेण गृह्णाति। यदि सावित्रमुपाꣳशुपात्रेण गृह्णीयादन्तर्यामपात्रेणैतं यदि सावित्रमन्तर्यामपात्रेण गृह्णीयादुपाꣳशुपात्रेणैतꣳ समानꣳ ह्येतद्यदुपांꣳश्वन्तर्यामौ प्राणो हि यो वै प्राणः स उदानो वृषा वै प्राणो योषा पत्नी मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते' (श० ४।४।२।१०), 'तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति। वीर्यं वै पुरोरुङ् नेत् स्त्रीषु वीर्यं दधानीति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति' (श० ४।४।२।११)। सोमः पत्नीवान्, एवं परोक्षं पत्नीभ्यो गृह्णाति। देवपत्नीषु किल देवैस्तुल्याः सुकृतास्तदनुकरणान्मानुष्योऽपि स्त्रियो वीर्यवत्यः कृताः स्युः, तच्चायुक्तम्, व्यवहारस्यानवक्लृप्तेरित्यभिप्रायः। 'अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिसुतस्य देव सोम त इति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मप्रसूतस्य देव सोम त इत्येवैतदाहेन्दोरिन्द्रियावत इति वीर्यवत इत्येवैतदाह यदाहेन्दोरिन्द्रियावत इति पत्नीवतो ग्रहाँ२॥ ऋद्ध्यासमिति न सम्प्रति पत्नीभ्यो गृह्णाति नेत् स्त्रीषु वीर्यं दधानीति तस्मान्न सम्प्रति पत्नीभ्यो गृह्णाति' (श० ४।४।२।१२)। बृहस्पतिसुतस्य ब्रह्मप्रसूतस्य इन्द्रियावतो वीर्यवतः, न पत्नीभ्यः स्वातन्त्र्येण ग्रहान् गृह्णाति। अन्यथा तास्वपि वीर्यवत्त्वं स्यात्, तस्मान्न ताभ्यो गृह्णाति। 'अथ यः प्रचरण्याꣳ सꣳस्रवः परिशिष्टो भवति। तेनैनꣳ श्रीणाति समर्धयति वा अन्यान् ग्रहांच्छ्रीणन्नथैतं व्यर्धयति वज्रो वा आज्यमेतेन वै देवा वज्रेणाज्येनाघ्नन्नेव पत्नीर्निराक्ष्णुवं-

---

द्वारा घृत से सोम के मिश्रण की विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र

स्ता हता निरष्टा नात्मनश्चनैशत न दायस्य चनैशत तथो एवैष एतेन वज्रेणाज्येन हन्त्येव पत्नीर्निरक्ष्णोति ता हता निरष्टा नात्मनश्चनेशत न दायस्य चनेशते' (श० ४।४।२।१३)। अथ यः प्रचरणीशेषेणैव पात्नीवतं श्रीणाति, एतेन चाज्येन देवाः पत्नीं हतवन्तस्ताडितवन्तः, ताडयित्वा निराक्ष्णुवन् ऐश्वर्यान्निर्भक्तवन्तः। 'अक्षु व्याप्तौ' इति भौवादिकस्य व्यत्ययेन श्नुविकरणः। पत्न्यो हता वाग्वज्रेण निरष्टा ऐश्वर्याद् बहिर्भूताः सत्य आत्मनोऽपि स्वशरीरस्यापि न ईशितवत्यः, 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (मनु० ९।३) इति स्मृतेः। न दायस्य चन अपि पित्र्यस्य ईशते। स्त्रीधनं वा षड्विधं रायस्तस्यापि नैवेशत इति। तदनुकारेणायमध्वर्युस्तथैव करोति, स्त्रियश्चाद्यापि नेशते। 'स श्रीणाति। अहं परस्तात्' देवतानां परमं गुहा यदिति स यदहमहमिति श्रीणाति पुꣳस्वेवैतद्वीर्यं दधाति' (श० ४।४।२।१४)। अध्वर्युः किल पुमांसं वा तमुच्चारयन् पुंस्त्वसामान्यात् सर्वेष्वेव सर्वं दधाति, येन स्वतन्त्रा पुमांसः सर्वस्येशते।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, साम्बसदाशिव ! हे देव क्रीडापरायण, त्वमुपयामगृहीतोऽसि भक्त्या वशीकृतोऽसि। बृहस्पतिसुतस्य ब्रह्मप्रसूतस्य, 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः' इति श्रुतेः। हे ब्रह्मपुत्र, रुद्ररूपेणावतीर्णस्य ते इन्दोः सोमवत्प्रियदर्शनस्य, इन्द्रियावतो वीर्यवतोऽनन्तब्रह्माण्डनिर्माणक्षमस्य, पत्नीवतः पत्नी राजराजेश्वरी उमा प्रशस्ता लोकोत्तरा जाया यस्य तस्य, ग्रहान् इन्द्रियलक्षणान्, 'अष्टौ ग्रहा अष्टा अतिग्रहाः' इति श्रुतेः। प्राप्येति शेषः। त्वदिन्द्रियगोचरतां प्राप्य ऋद्ध्यासं वर्धिषीय समर्धयेयम्। भगवत्कृपया विगलिततमोरजोमलः कृतात्मसाक्षात्कारः प्रकटयति—अहं परब्रह्मस्वरूपेण जगतः परस्तात् तथैवाधस्तादहमस्मीति। यदन्तरिक्षं मध्यवर्तिलोकरूपमस्ति, तदु तदेव मे देहधारिणो मम पिता पितृपालकमभूद् भवति। अहं परमात्मरूपः सन्नुपरिष्टादधस्ताच्च स्थित्वा सूर्यं ददर्श पश्यामि। देवानामिन्द्रादीनां यत् परमं गुहा गुहायामत्यन्तं गोप्ये हृदयेऽस्ति, तदेवाहमस्मीति पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे सोमदेव, यस्त्वं मया कुमार्योपयामगृहीतोऽसि, तस्येन्दोरिन्द्रियावतः पत्नीवतः प्रशस्तजायावतः, बृहस्पतिसुतस्य बृहत्या देववाण्याः पालकस्य पुत्रस्य ते तव गृहान् प्राप्याहं परस्ताद् उत्तरस्माद् अहम् अवस्ताद् अर्वाचीनात् समयाद् ऋद्ध्यासं वर्द्धिषीय। यद् देवानां गुहास्थितमन्तरिक्षं विज्ञानम्,

---

(१०।६।१५-१६) तथा सत्याषाढ श्रौतसूत्र (९।४) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—हे साम्बसदाशिव, हे जगत्क्रीडापरायण, आप भक्ति के द्वारा वशीकृत हैं। ब्रह्मप्रसूत, रुद्ररूप से अवतरित, चन्द्रमा की भाँति सुन्दर, मनोहर, बलशाली, अनन्त ब्रह्माण्डों के निर्माण में सक्षम, राजराजेश्वरी भगवती उमारूपिणी प्रशस्त लोकोत्तर पत्नी से संयुक्त आपके इन्द्रियात्मक ग्रहों को प्राप्त करके, अर्थात् आपके इन्द्रियगोचरत्व (दृष्टिपात के अनुग्रह) को प्राप्त करके मैं परिवर्धित, समृद्ध होऊँ। भगवान् की कृपा से तमोरजोमल से शून्य होकर आत्मसाक्षात्कार को सम्पन्न करने वाला कहता है कि मैं परब्रह्म स्वरूप से जगत् के ऊर्ध्व भाग तथा उसी प्रकार अधो भाग में भी हूँ। जो अन्तरिक्ष मध्यवर्ती लोक के रूप में है, वही देहधारी मेरा पिता, पालक है। मैं परमात्मस्वरूप होता हुआ ऊर्ध्व तथा अधो भागों में स्थित होकर सूर्य को देखता हूँ। इन्द्र आदि देवों के अत्यन्त गोप्य हृदय में जो है, वह मैं ही हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ प्रकरण से विरुद्ध तथा श्रुति एवं सूत्र से विरुद्ध है। सामान्य पति के लिये बृहस्पतिपुत्र आदि विशेषण संगत नहीं है। कुमारियाँ पत्नी से युक्त पुरुष के घर जाने की अभिलाषा भी नहीं

गुह्यन्ते संव्रियन्ते सकला विद्या यया बुद्ध्या तस्याम्, गुहा, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू०७।१।३९) इति विभक्तेर्लुकि, स्थितम्, अन्तरिक्षम् अन्तरक्षयम्, अन्तः अन्तःकरणे क्षयरहितं विज्ञानमन्वेमि, तत् त्वमपि प्राप्नुहि। य उ मे मम पिता पालयिता अध्यापको वा विद्वानभूत्, तत्सकाशात् पूर्णां विद्यां प्राप्याहं यं परमं सूर्यं चराचरात्मानमीश्वरमुभयतः पूर्वापरभावतो ददर्श, तं त्वमपि पश्य' इति, तदपि प्रकरणविरुद्धमेव, श्रुतिसूत्रविरुद्धं च, पतिसामान्यस्य बृहस्पतिसुतादिविशेषणानुपपत्तेः। न च पत्नीवतः पुरुषस्य गृहान् गन्तुमिच्छन्ति कुमार्यः। अन्तरिक्षपदस्य विज्ञानार्थकत्वे किं मूलम्? न चान्तःकरणस्य विज्ञानमक्षयं भवति, अन्तःकरणपरिणामभूतस्य ज्ञानस्य कार्यत्वेन क्षयिष्णुत्वात् ॥ ९ ॥

अग्ना ३॥ इ पत्नीवन् सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमम्पिब स्वाहा। प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय ॥ १० ॥

'अग्ना ३॥ इ पत्नीवन्नित्युत्तरार्धे जुहोतीति पात्नीवतं ग्रहमग्नेरुत्तरभागे जुहोति' (का० श्रौ० १०।६।१८)। पात्नीवतं ग्रहमाहवनीयस्याग्नेरुत्तरार्धेऽध्वर्युर्जुहुयात्, अग्ना ३॥ इ पत्नीवन्निति मन्त्रेण। 'एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते' (पा० सू० ८।२।१०७) इति 'अग्ने' इत्येकारस्य 'आइ' इत्यादेशः, आकारस्य प्लुतत्वम्। हे अग्ने पत्नीवन्, पत्नी अस्त्यस्येति पत्नीवान् तत्सम्बुद्धौ, हे पत्नीयुक्त! त्वष्ट्रा देवेन सजूः समानप्रीतिः सन् सोमं पिब। स्वाहा सुहुतमस्तु। 'पत्नीꣳ सदः प्रवेश्यापरेणोत्तरत उपविष्टामुद्गात्रा समीक्षयति प्रजापतिर्वृषासीति' (का० श्रौ० १०।७।३)। नेष्टा पत्नीमपरद्वारेण सदः प्रवेश्य उद्गातॄणामुत्तरत उपविष्टामुद्गातारं पश्येति प्रेष्य समीक्षयति, सा च तमुद्गातारं पश्येत् प्रजापतिरिति मन्त्रेण। हे उद्गातः, प्रजापतिः प्रजानां पालकस्त्वं वृषासि सेक्ता भवसि। रेतोधा रेतसो वीर्यस्य धारयिता चासि। एवं गुणयुक्तस्त्वं रेतो वीर्यं मयि धेहि स्थापय। शुभसङ्कल्पद्वारा मदीयपतिकर्तृकं रेतोनिधानं सम्पादयेत्यर्थः। तदनन्तरं वृष्णो वीर्यस्य सेक्तू रेतोधसो रेतो धारयितुः, प्रजापतेस्तेऽनुग्रहाद् रेतोधां रेतसो धारयितारं प्रजोत्पादनसमर्थं पुत्रमशीय प्राप्नुयाम्। अश्नोतेर्व्यत्ययेनादादित्वं लिङ्युत्तमैकवचने रूपम्। अत्रोद्गातरि प्रजापतित्वमारोप्य तथोक्तिः, 'प्रजापतिर्वा उद्गाता' इति श्रुतेः। प्रजापतिः सर्वप्रजानां पतिः पालकः। तत्तत्पतिद्वारा स एव सर्वासु योनिषु सेक्ता। तस्मात्तदनुग्रहादेव सर्वस्याभीष्टपुत्रलाभः, 'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥' (भ० गी० १४।४) इति गीतोक्तेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाहाग्नीत् पात्नीवतस्य यजेति। वृषा वा अग्नीद् योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते स जुहोत्यग्ना ३॥ इ पत्नीवन्निति वृषा वा अग्निर्योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं प्रजननं क्रियते'

करतीं। अन्तरिक्ष शब्द का विज्ञान अर्थ मानने में क्या प्रमाण है? फिर अन्तःकरण का विज्ञान अक्षय नहीं होता, क्योंकि अन्तःकरण का परिणामभूत ज्ञान कार्य होने के कारण क्षयिष्णु है ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे पत्नीवत् अग्ने, आप त्वष्टा देवता के साथ सोम का पान कर इस आहुति को भली प्रकार ग्रहण करें। हे उद्गातः, प्रजाओं के पालक, सिंचन में समर्थ, वीर्य को धारण करने वाले प्रजापति! आपके अनुग्रह से प्रजा के उत्पादन में समर्थ वीर्यवान् पुत्र को मैं प्राप्त करूँ ॥ १० ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१९।६।१८-२०, १०।७।३) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार

(श० ४।४।२।१५)। प्रतिप्रस्थातुर्हस्तादादायाध्वर्युरग्नीध्रमाह। अग्नीत् पात्नीवतस्य यजेत्याश्रावणमप्यत्र द्रष्टव्यम्, प्रैषाङ्गत्वात्। पुरोवाचनप्रभृतिस्तुतशस्त्रं च, तस्याप्यङ्गत्वात्। मिथुनसम्पत्त्या तत्प्रशंसति—वृषा वा इति। 'सजूर्देवेन त्वष्ट्रेति। त्वष्टा वै सिक्तꣳ रेतो विकरोति तदेष एवैतत् सिक्तꣳ रेतो विकरोति सोमं पिब स्वाहेत्युत्तरार्धे जुहोति या इतरा आहुतयस्ते देवा अथैताः पत्न्य एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तमुत्तरतो हि स्त्री पुमाꣳसमुपशेत आहारत्यध्वर्युरग्नीधे भक्षꣳ स आहाध्वर्य उप माह्वयस्वेति तं न प्रत्युपह्वयेत् को हि हतस्य निरष्टस्य प्रत्युपहवस्तं वै प्रत्येवोपह्वयेत' (श० ४।४।२।१६)। जुहोत्यन्तं स्पष्टम्। या इतरा उपांश्वाज्याहुतयस्ते देवाः, देवान्नत्वाद् देवास्तद्वन्तः। अथैताः पत्न्यः, पत्नीदेवत्यत्वात् पात्नीवतस्येति। पत्नीनां चोत्तरतः स्थानमतस्तदन्तर्गताया अप्याहुतेरुत्तरत एव स्थानं युक्तमित्यर्थः। आहरत्यध्वर्युरिति प्रतिप्रस्थातृशङ्कानिवृत्त्यर्थमध्वर्युग्रहणम्। को हि हतस्येत्यनादरप्रकाशनार्थम्। एवं हि पत्न्यः सुतरामवीर्याः कृता भवन्ति। तत्र प्रत्युपह्वयेत उपह्वय इत्येव नु जानीतेत्यर्थः। किं कारणम्? यस्माज्जुहोति। अस्यैकदेशेऽग्नौ वषट् कुर्वन्ति।

'अथ सम्प्रेष्यति। अग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीद नेष्टः पत्नीमुदानयोद्गात्रा संख्यापयोन्नेतर्होतुश्चमसमनून्नय सोमं माऽतिरीरिच इति यद्यग्निष्टोमः स्यात्' (श० ४।४।२।१७)। हे अग्नीत्, नेष्टुरुपस्थमासीद। हे नेष्टः, पत्नीमुदानयोद्गात्रा संख्यापय। हे उन्नेतः, होतुश्चमसमनु सर्वांश्चमसाननून्नय। सोमं माऽतिरीरिचः सर्वमेव पूतभृतः सोममुन्नयन्ति, यद्यग्निष्टोमसंस्थाक्रतुः स्यात्। 'यद्युक्थ्यः स्यात्। सोमं प्रभावयेति ब्रूयात् स बिभ्रदेवैतत्पात्रमग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीदत्यग्निर्वा एष निदानेन यदाग्नीध्रो योषा नेष्टा वृषा वा अग्नीद्योषा नेष्टा मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियत उदानयति नेष्टा पत्नीं तामुद्गात्रा संख्यापयति प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहीति प्रजापतिर्वा उद्गाता योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते' (श० ४।४।२।१८)। एते च तेऽग्निष्टोमचमसाः, येषु द्वादशं स्तोत्रं यज्ञायज्ञियमाग्निमारुतं च शस्त्रं शस्यते। यद्युक्थ्यः स्यादिति। उक्थ्यग्रहणमुत्तराणां संस्थानामुपलक्षणार्थम्। उक्थ्यादिषु संस्थासु सोमं प्रभावय प्रभूतं कुरु, यथोत्तराण्यपि प्रदानानि सिद्ध्यन्तीत्यर्थः। सोऽग्नीदेतत्पात्नीवतपात्रं हस्ते धारयन्नेव नेष्टुरुत्सङ्गमध्यास्ते। योषा नेष्टा स हि पत्नी भवति वाचयति च। कात्यायनोऽपि तथैवाह—'प्रेष्यति चाग्नीन्नेष्टुरुपस्थमासीद नेष्टः पत्नीरुदानयोद्गात्रा संख्यापयोन्नेतर्होतुश्चमसमनून्नय सोमं माऽतिरीरिच इति' (का० श्रौ० १०।६।१९)। त्रय एते प्रैषाः सावसानाः कार्याः। सोमं सावशिष्टं मा कुरु, सर्वं सोममुन्नयेत्यर्थः। 'प्रभावयोक्थ्यादिषु' (का० श्रौ० १०।६।२०)। उक्थ्यषोडश्यतिरात्रवाजपेयाप्तोर्यामेषु सोमं प्रभावयेति प्रैषः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने रुद्ररूपाग्ने, त्वष्ट्रा देवेन सजूः समानप्रीतिः सोममस्मत्समर्पितं सोमोपलक्षितं निवेदनीयं हविः पिब भक्षय, स्वाहा सुहुतमस्तु। प्रजापतिः सर्वप्रजानां त्वं पालकोऽसि, वृषासि अभीष्टवर्षणशीलोऽसि, रेतोधाः सर्वप्राणिनां मूर्तिनिर्माणाय बीजधारकोऽसि। सोऽहं स्वभावत एव त्वां ब्रवीमि, रेतः-

---

'अग्ना३ ई' इस कण्डिका के मन्त्रों से पात्नीवत ग्रह का हवन तथा पत्नी द्वारा उद्गाता का अवलोकन आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे रुद्ररूप अग्निदेव, त्वष्टा देव के साथ समान प्रीतियुक्त हमारे द्वारा समर्पित सोम आदि नैवेद्य (हविर्द्रव्य) आप भक्षण करें, यह समर्पित है। आप समस्त प्रजाओं के पालनकर्ता हैं, अभीष्ट पदार्थों के वर्षक हैं, समस्त प्राणियों के शरीर के निर्माण के लिये बीज के धारणकर्ता हैं। स्वभावतः ही आपसे प्रार्थना

सामर्थ्यं मयि धेहि। वृष्णो वर्षणशीलस्य, रेतोधसः पराक्रमधारयितुस्तवानुग्रहेणैव रेतोधां वीर्यवत्तमविद्या-तत्कार्यात्मकप्रपञ्चापनोदकं परमानन्दलक्षणं मोक्षप्रापकं प्रबोधमशीय प्राप्नुयाम्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने स्वामिन्, मया सजूस्त्वं देवेन त्वष्ट्रा सर्वदुःखविच्छेदकेन गुणेन सोमं स्वाहा सत्यवाग्विशिष्टया क्रियया सोमवल्ल्यादिनिष्पन्नमासवविशेषं पिब। हे पत्नीवन् प्रशस्तयज्ञपत्नीयुक्त, त्वं वृषा रेतोधा प्रजापतिरसि, मयि रेतो धेहि। हे स्वामिन्नहं वृष्णो वीर्यवतो रेतोधसः पराक्रमधारकस्य रेतोधां वीर्यधारकं पराक्रमवन्तं पुरुषं पुत्रमशीय प्राप्नुयाम्' इति, तदपि न किञ्चित्, श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वात्, लौकिकस्य दम्पतीव्यवहारस्य लोकैकगम्यत्वेन श्रुतितात्पर्याविषयत्वात्, देवपदस्य दिव्यसुखप्रदार्थकत्वे मानाभावात्। त्वष्ट्रा सर्वदुःखविच्छेदकेन गुणेनेत्यपि कल्पनैव। गुणस्य सोमपानं प्रति कथं करणत्वं च? सत्यवाग्विशिष्टा का सा क्रिया, यया सोमपानं सम्पद्यते?॥ १०॥

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा। हर्योर्धानाः स्थ सहसोमा इन्द्राय॥ ११॥

'विमुच्य स्रुचौ द्रोणकलशे हारियोजनग्रहणमुपयामगृहीतोऽसि हरिरसीति' (का० श्रौ० १०।८।१)। व्यूहनादिस्रुग्विमोकान्तं कृत्वा द्रोणकलशे आग्रयणान्निःशेषं सोमं गृह्णीयात्। द्रोणकलशे आग्रयणाद् यो रसो गृहीतः, स एव हारियोजनसंज्ञको भवतीति वृत्तिकारः। हे सोम, त्वं हरिर्हरितवर्णोऽसि, 'हरी रश्मिर्हरिः सोमो हरिर्हरितवर्णवान्' इति कोषात्। हरी हरितवर्णौ इन्द्राश्वौ येन युज्येते प्रयुज्येते, स हरियोजन इन्द्रः, तस्यायं हारियोजनः, इन्द्रसम्बन्ध्यसि। तं त्वां हरिभ्यामृक्सामाभ्यां गृह्णामीति शेषः, 'ऋक्सामे वै हरी ऋक्सामाभ्याᳬ ह्येनं गृह्णाति' (श० ४।४।३।६) इति श्रुतेः। 'धानाश्चावपति हर्योर्धाना इति' (का० श्रौ० १०।८।२)। अत्र हारियोजने बह्वीभिर्धानाभिर्भृष्टयवैः श्रपणं (मिश्रणं) कार्यम्, 'तं बह्वीभिर्धानाभिः श्रीत्वा' (सत्या० श्रौ० ९।४) इति सूत्रात्। धानादेवत्यम्। सह सोमाः सोमेन सहिता धाना भृष्टयवा यूयमिन्द्राय इन्द्रस्य हर्योर्हरितवर्णयोरश्वयोः स्थ भवथ, इन्द्रतदश्वसम्बन्धिनो यूयमित्यर्थः।

करता हूँ, मुझमें सामर्थ्य का आधान करें। वर्षण करने वाले, पराक्रम के धारक आपके अनुग्रह से ही अत्यन्त बलवान् अविद्या तथा उसके कार्यरूपी प्रपंच का निराकरण करने वाले, परमानन्दरूपी, मोक्षप्राप्त कराने वाले ज्ञान को मैं प्राप्त करूं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्या श्रुति तथा सूत्रवाक्यों से विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है। लौकिक दम्पती का व्यवहार केवल लोक से ही ज्ञात होने के कारण वेद के तात्पर्य का विषय नहीं है। देव शब्द का अर्थ दिव्यसुखप्रद करने में कोई प्रमाण नहीं है। त्वष्टा का अर्थ सर्वदुःखविच्छेदक गुण है, यह भी केवल कल्पना ही है। सोमपान के प्रति गुण का करणत्व भी कैसे हो सकता है? सत्यवाणी से विशिष्ट वह क्रिया कौन-सी है, जिसके द्वारा सोमपान सम्पन्न होता है॥ १०॥

मन्त्रार्थ—हे पंचम ग्रह, तुम उपयाम पात्र द्वारा गृहीत हो, हारियोजन नाम वाले और हरित वर्ण की रश्मियों वाले हो। ऋक् और सामवेद की प्रीति के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। सोम के सहित हे धान्यसमूह, तुम इन्द्र देवता के दोनों हरित अश्वों की प्रीति के निमित्त इस हारियोजन नामक ग्रह स्थित सोम से मिश्रित हो जाओ॥ ११॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।१-२) तथा सत्याषाढ श्रौत्रसूत्र (९।४) में वर्णित याज्ञिक विनियोग

अत्र ब्राह्मणम्—'पशवो वै देवानां छन्दाᳪसि। ....देवान् समतर्पयन्नथ च्छन्दाᳪसि देवाः समतर्पयंस्तदतस्तत्प्रागमूयच्छन्दाᳪसि युक्तानि देवेभ्यो यज्ञमवाक्षुर्यदेनान् समतीतृपन्' (श० ४।४।३।१)। हारियोजनग्रहणब्राह्मणमेतत् कतिचित्कण्डिका वर्जयित्वा। यत्र काले अग्निष्टोमसंस्थे तूक्थ्यादिसंस्थे वा क्रतौ समाप्ते सति छन्दांसि देवान् स्तोत्रशस्त्रैः सन्तर्पितवन्ति, अथ कृतोपकाराणि छन्दांसि देवाः सन्तर्पितवन्त इतीतिहासः। अतो हारियोजनात् प्राक्स्रोतसि छन्दोभिर्देवास्तर्पिताः। तदेतदाह—पशवो वा देवानां छन्दांसीत्यादिना। छन्दांसि देवेभ्यो यज्ञं वहन्ति। 'अथ हारियोजनं गृह्णाति। छन्दाᳪसि वै हारियोजनश्छन्दाᳪस्येवैतत् सन्तर्पयति तस्माद्धारियोजनं गृह्णाति' (श० ४।४।३।२)। यथा संकलितयज्ञे छन्दोऽधिरूढे देवेषु तर्पितेषु पाशुकेऽपि वानुयाजादौ स्रुग्विमोकान्ते कृतेऽथ हारियोजनं गृह्णाति। हरियोजन इन्द्रस्तदीयौ हरी अश्वौ च देवता अस्येति हारियोजनो ग्रहः। 'छन्दाᳪसि वै हारियोजनः' तेन हारियोजनग्रहणेन छन्दांस्येव तर्पयति।

'तं वा अतिरिक्तं गृह्णाति। यदा हि शंयोराहाथैनं गृह्णातीदं वै देवा अथ छन्दाᳪस्यतिरिक्तान्यथ मनुष्या अथ पशवोऽतिरिक्तास्तस्मादतिरिक्तं गृह्णातीति' (श० ४।४।३।३)। देवदेवत्येभ्यो ग्रहेभ्यो देवयज्ञाद्वा अतिरिक्तं गृह्णाति, यदा हि शंयोराह होता। अथोत्तरकालक्रतौ विमुच्य तं गृह्णाति, तदा च देवानां यज्ञः सम्पन्नः समाप्तो भवति। किं कारणम्? यज्ञ एतदतिरिक्तं गृह्णाति यस्मादस्याधिदैवाधिभूते अतिरिक्ते। इदं वै देवाः सन्ति। छन्दांसि तेषामतिरिक्तानि। पशव उपकारकाणि। उपकार्यास्तु देवता एवमधिदैवतमतिरिक्ता दर्शिताः। अधिभूतमाह—अथ मनुष्याः। ते च देवानामान्तराः। अथ पशवोऽतिरिक्ताः। 'द्रोणकलशे गृह्णाति। वृत्रो वै सोम आसीत्तं यत्र देवा अघ्नंस्तस्य मूर्धोद्ववर्त स द्रोणकलशोऽभवत् तस्मिन् यावान् वा यावान् वा रसः समस्रवदतिरिक्तो वै स आसीदतिरिक्त एष ग्रहस्तदतिरिक्त एवैतदतिरिक्तं दधाति तस्माद् द्रोणकलशे गृह्णाति' (श० ४।४।३।४) ऊर्ध्वच्छिन्नो वृत्रस्य मूर्धा ऊर्ध्वमुद्गतो गत उद्ववर्त, तस्मिन् यावान् वा यावान् वा द्रोणकलशे यो रसः समस्रवद् अतिरिक्तो वै रसः स आसीत्, अधः स्पृष्टः शरीरे यस्तं देवाः पात्रे विगृह्णाना यत्र तेनातिरिक्तो यो द्रोणकलशे गृह्णाति तदतिरिक्तेनास्मिन् द्रोणकलशेऽतिरिक्तमिमं ग्रहं गृह्णाति। 'तं वा अपुरोरुक्कं गृह्णाति। छन्दोभ्यो ह्येनं गृह्णाति स यदेवैनं छन्दोभ्यो गृह्णाति तेनो हास्यैष पुरोरुङ्मान् भवति तस्मादपुरोरुक्कं गृह्णाति॥ अथातो गृह्णात्येव। उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वेत्यृक्सामे वै हरी ऋक्सामाभ्याᳪ ह्येनं गृह्णाति' (श० ४।४।३।५-६)।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। हरिरसि विष्णुरसि, युवयोरभिन्नत्वात्। हारियोजनः, इन्द्रस्य पालकत्वेनेष्टदेवत्वेन वा सम्बन्ध्यसि। हरिभ्यामिन्द्रविष्णुभ्यां त्वत्पार्षदाभ्यां सह त्वा त्वामहमाश्रये। हे सोमेन सहिता धानाः श्रद्धया युक्ताः पुष्पफलादयः! यूयमिन्द्राय इन्द्रस्य परमेश्वरस्य साम्बसदाशिवस्य सम्बन्धिनोर्हर्योरिन्द्रविष्ण्वोः स्थ शिवेन्द्रविष्णुसम्बन्धिनो भवथ। सोमः श्रद्धामयान्

के अनुसार 'उपयामगृहीतः' इस कण्डिका के मन्त्रों से हारियोजन नामक ग्रह का ग्रहण तथा उसमें धाना का मिश्रण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—हे साम्बसदाशिव, आप प्रेम के द्वारा वशीकृत हैं, विष्णुस्वरूप हैं, क्योंकि आप दोनों की अभिन्नता है। इन्द्र के पालनकर्ता अथवा इष्टदेव के रूप से सम्बद्ध हैं। आपके पार्षदों, इन्द्र तथा विष्णु के साथ मैं आपकी शरण लेता हूँ। सोमसहित श्रद्धा से युक्त हे धाना, पुष्प, फल आदि द्रव्य! तुम सब परमेश्वर साम्ब-

भक्तिपरिप्लुतपदार्थानेव भगवान् गृह्णातीति प्रसिद्धमेव गीतादौ—'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥' (भ० गी० ९।२६) इति।

दयानन्दस्तु—'हे पते, त्वमुपयामगृहीतोऽसि हारियोजन इव सारथिरिव हरिर्यथायोग्यं गृहाश्रम-व्यवहारनिर्वाहकोऽसि, अतो हरिभ्यां युक्तेन स्यन्दनेन विराजमानं त्वामहं सेवे। यूयं गृहाश्रमिणः सन्त इन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये सहसोमाः सन्तो हर्योर्धानाः स्थ हर्योरश्वयोर्धाना धारकाः स्थ। सोमेन श्रेष्ठगुणेन वर्तमानाः' इति, तदपि न किञ्चित्, 'पते' इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। सारथिरिवेति दृष्टान्तोऽपि न सम्भवति, सादृश्याभावात्। यत्किञ्चित् साधर्म्यं तु विसदृशेष्वपि भवत्येव। सोमपदस्य उत्तमगुणा इति न शक्यार्थः, निष्प्रमाणत्वात्। लक्षणयापि न सोऽर्थः सम्भवति, लक्षणाबीजाभावात् ॥ ११ ॥

यस्ते॑ अश्वस॒निर्भ॒क्षो यो गो॑स॒निस्तस्य॑ त इ॒ष्टय॑जुषः स्तु॒तस्तो॑मस्य श॒स्तोक्थ॒स्योप॑हूत॒-स्योप॑हूतो भक्षयामि ॥ १२ ॥

'उत्तरवेदौ वा निधाय विलाभम्, यस्ते अश्वसनिरिति प्राणभक्षं भक्षयित्वोत्तरवेदौ निवपन्तीति' (का० श्रौ० १०।८।६-७)। होमानन्तरं पात्राणां हविर्धानमण्डपे निधानं पूर्वमुक्तम् (का० श्रौ० ९।१२।७)। तेन सहोत्तरवेदिनिधानं विकल्प्यते। अथवा उत्तरवेदौ सदसि वा द्रोणकलशं निधाय धाना विलभ्य गृहीत्वा यस्ते अश्वसनिरिति मन्त्रेण सर्वे सयजमाना ऋत्विजः सदसि प्राणभक्षं भक्षयित्वा अवघ्राय कृतावघ्राणा धाना उत्तरवेदौ निवपेयुः। तिस्रस्तिस्रो धानाः। अत्रावघ्राणमेव भक्षणम्, तथैव ब्राह्मण उक्तत्वात्। भक्षद्रव्यदेवत्यं यजुः। हे धानासहितसोमरूपभक्षद्रव्य, यस्ते तव भक्षः, अश्वसनिः अश्वानां दाता, यो भक्षो गोसनिः गवां दाता, 'षणु दाने', अश्वान् सनोति ददातीत्यश्वसनिः, गाः सनोतीति गोसनिः, तस्य तादृशस्य ते त्वदीयं तादृशं भक्षम्, उपहूतोऽनुज्ञातोऽहं भक्षयामि। कीदृशस्य ते ? इष्टयजुषः, इष्टानि यजूंषि यस्य स तस्य, तथा स्तुतस्तोमस्य उद्गातृभिः स्तुताः स्तोमाः स्तोत्राणि यस्य स तस्य, तथा होतृभिः शस्तानि उक्थानि शस्त्राणि यस्य स

सदाशिव, इन्द्र तथा विष्णु से सम्बद्ध बनो। साम्बशिव भगवान् श्रद्धा से संयुक्त, भक्ति से ओतप्रोत पदार्थों का ही ग्रहण करते हैं, यह गीता आदि ग्रन्थों में प्रसिद्ध ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत अर्थ में 'हे पति' इस सम्बोधन पद के लिये कोई प्रमाण न होने के कारण व्यर्थता है। 'सारथि के समान' यह उदाहरण भी सादृश्य न होने के कारण सम्भव नहीं है। थोड़ी बहुत सधर्मता तो असदृश पदार्थों में भी होती ही है। सोम शब्द का शक्यार्थ 'उत्तम गुण' नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। लक्षणा के द्वारा भी ऐसा अर्थ संभव नहीं है, क्योंकि लक्षणा का कोई कारण यहाँ नहीं है ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, सिक्त धान्यरूप उत्कृष्ट खाद्य यजुर्मन्त्रों से इष्ट उद्गाता द्वारा, ऋक् मन्त्रों से स्तुत होताओं द्वारा, साम के उक्थ मन्त्रों से शस्त इस समय उपहूत हो। तुम्हारा जो भक्ष्य फल घोड़ों को देने वाला है, जो भक्ष्य गायों का दाता है, उस तुम्हारे भक्ष्यफल को आपकी **अनुज्ञा प्राप्त कर मैं भक्षण करता हूँ ॥ १२ ॥**

भाष्यसार—'यस्ते अश्वसनिः' इस यजुर्मन्त्र के द्वारा यजमान सहित सभी ऋत्विक् धाना का अवघ्राण करते हैं,

तस्य शस्तोक्थस्य। पुनः कीदृशस्य ? उपहूतस्य अभ्यनुज्ञातस्य तादृशस्य ते त्वदीयं भक्षमुपहूतोऽनुज्ञातोऽहं भक्षयामीति सम्बन्धः।

'अथ धाना आवपति। हर्योर्धानाः स्थ सहसोमा इन्द्रायेति तद्यदेवात्र मितं च छन्दोऽमितं च तदेवैतत्सर्वं भक्षयति' (श० ४।४।३।७)। यदेता धाना आवपति तदेवात्र यज्ञे मितं नियताक्षरपादमृङ्नाम, यद्वाऽनियताक्षरपादं यजुः, तदेवैतत्सर्वं छन्दः सोमं धानावन्तं भक्षयति। 'तस्योन्नेता आश्रावयति' (श० ४।४।३।८) इत्यादिना आश्रावणानुवाचनादौ होमान्ते सर्वत्रैवोन्नेता नाम विधीयते। भक्षः केवलं निवर्तते। किं कारणम्? यस्मादनुवाचनादिकमेव प्रतियज्ञमुपावर्तते। 'ता न दद्भिः खादेयुः'। धानारूपाः पशवः। दद्भिर्भक्षणे ते प्रमृद्यन्ते बाध्यन्ते, तस्माद् दद्भिर्न खादेयुर्भक्षमृत्विजः। नासिकाभिरेव जिघ्रन्तो भक्षयन्ति, अवघ्राणमेव भक्षणमित्यर्थः। अत्र ब्राह्मणम्—'पशवो वा एते नेत्पशून् प्रम्रदे करवामहा इति प्राणैरेव भक्षयन्ति यस्ते अश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिरिति पशवो ह्येते तस्मादाह यस्ते अश्वसनिर्भक्षो··· स्तुतस्तोमस्येतीष्टानि हि यजूंषि भवन्ति स्तुताः स्तोमाः शस्तोक्थस्येति शस्तानि ह्युक्थानि भवन्त्युपहूतस्योपहूतो भक्षयामी···' (श० ४।४।३।११)। सोमे यानि भक्षसम्बन्धीनि यजूंषि, तानीष्टानि। ये स्तोमास्ते स्तुताः, यान्युक्थानि शस्त्राणि तानि शस्तानि। द्रव्यदेवतारूपमेव यज्ञादिकर्म भवति। तत्रैव यजुरादीनामुपयोगः। तेन यजूंषीष्टानि भवन्ति, स्तोमाः स्तुता भवन्ति, शस्त्राणि शस्तानि भवन्ति। 'ता नाग्नौ प्रकिरेयुः। नेदुच्छिष्टमग्नौ जुहवाम···' (श० ४।४।३।१२)।

अध्यात्मपक्षे—अत्र भगवत्प्रसादभक्षणमुच्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव। हे भगवन्निवेदित दिव्यद्रव्य, ते त्वदीयो भक्षः, अश्वसनिः अश्वोपलक्षितसकलबाह्यभोगसामग्रीदाता, गोसनिरिति गवादिसकलजीवनोपयोगिपयोदधिघृतक्षुर्चान्नपानादिप्रदाता। कीदृशस्य? इष्टानि यजूंषि यस्य, यजुर्वेदेन वा यजनं यस्य तस्येष्टयजुषः, उद्गातृभिः स्तुताः स्तोमा यस्य तस्य उद्गातृगीतस्तोमैः स्तोत्रैः स्तुतस्य, होतृभिः शस्तानि उक्थानि यस्य तस्य होतृशस्तशस्त्रैः प्रशंसितस्य, तस्य तादृशस्य उपहूतस्य भगवताऽभ्यनुज्ञातस्य तदुक्तशास्त्रसङ्केतेन पूर्वाचार्येण दत्तस्य शास्त्राचार्यैरुपहूतोऽभ्यनुज्ञातोऽहं भक्षयामि।

अत्र दयानन्दः—'हे प्रिय वीरपते, यस्त्वं मयोपहूतोऽश्वसनिर्गोसनिरश्वादिपदार्थानां दाता, गोः संस्कृतवाचो भूमेर्विद्यादिप्रकाशादेर्दाता, तस्य शस्तोक्थस्येष्टयजुषः स्तुतस्तोमस्य उपहूतस्य सत्कारेणोपहूतस्योपस्थितस्य

तदनन्तर आघ्रात धानाओं को उत्तरवेदि में रखते हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।६-७, ९।१२।७) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—इस मन्त्र में भगवान् के प्रसाद का भक्षण निर्दिष्ट है। हे भगवन्निवेदित दिव्य द्रव्य, तुम्हारा भक्षण अश्वादि सम्पूर्ण बाह्य भोग की सामग्रियों को प्रदान करने वाला है। गौ आदि सभी जीवनोपयोगी दुग्ध, दधि, घृत, अन्न, पान आदि का दाता है। यजुर्मन्त्रप्रिय अथवा यजुर्वेद के द्वारा यजनीय, उद्गाताओं के द्वारा गीत, स्तोमों, स्तोत्रों से संस्तुत, होताओं के द्वारा वर्णित उक्थ-शस्त्रों से प्रशंसित, भगवान् के द्वारा अनुज्ञात, शास्त्राचार्यों से आज्ञा प्राप्त करके मैं प्रसाद का भक्षण करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में पति-पत्नी के परस्पर आह्वान के कथन की इच्छा का कोई हेतु इस मन्त्र में न होने के कारण अप्रामाणिकता है। परस्पर आह्वान के द्वारा गौ अथवा अश्व का प्रदान दृष्टिगोचर भी नहीं होता,

ते तव यो भक्षोऽस्ति, तमुपहूता सती अहं भक्षयामि। हे प्रिये सखि, या त्वमश्वसनिर्गोसनिरसि, तस्याः शस्तोक्थाया इष्टयजुषः स्तुतस्तोमाया उपहूतायास्ते तव यो भक्षोऽस्ति, तमहमुपहूतोऽहं भक्षयामि' इति, तदपि निर्मूलमेव, पतिपत्न्योः परस्पराह्वानस्यात्र मन्त्रे विवक्षणे हेत्वभावात्। न च परस्पराह्वानेन गोऽश्वदातृत्वं दृश्यते, तथाविधाह्वानस्य दैनन्दिनत्वात्। तस्य स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्येति पुल्लिङ्गश्रवणविरोधश्च। तद्व्याख्यानेऽश्वसनिरिति भक्षस्य विशेषणमिति तदपहाय तमित्यध्याहृत्य व्याख्यानं तु सर्वथा विसङ्गतमेव ॥ १२ ॥

दे॒वकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि मनु॒ष्यकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि पि॒तृकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमस्या॒त्मकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नम॒स्येन॑स एन॑सोऽव॒यज॑नमसि। यच्चा॒हमेनो॑ वि॒द्वांश्च॒कार॒ यच्चावि॑द्वांस्तस्य॒ सर्व॑स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि ॥ १३ ॥

'शाकलाधानं देवकृतस्येति प्रतिमन्त्रमिति' (का० श्रौ० १०।८।८)। शकलान्येव शाकलानि। षट् षड् यूपशकलानि आहवनीये सर्वे सयजमाना ऋत्विज आदध्युर्देवकृतस्येति प्रतिमन्त्रम्। हे शकल, त्वं देवकृतस्य देवविषये सम्पादितस्य एनसो यजनाभावलक्षणस्य पापस्य, अवयजनमसि नाशकं भवसि। उपसर्गवशादत्र यजेर्नाशोऽर्थः। मनुष्यकृतस्य मनुष्येषु सम्पादितस्य निन्दाद्रोहादिरूपस्य एनसोऽवयजनमसि। पितृषु कृतस्यैनसः श्राद्धतर्पणाद्यकरणादेर्नाशकमसि। आत्मविषये कृतस्य पापस्य आत्मनिन्दादेर्नाशकमसि। एनस एनसो यावन्ति पातकानि सन्ति, तावतां सर्वेषामपि नाशकमसि। किञ्च, विद्वान् जानानः, अविद्वान् अजानानश्च यदेनः पातकमहं चकार कृतवान्, तस्य सर्वस्य ज्ञानपूर्वकस्याज्ञानपूर्वकस्य च पापस्य नाशनमसि।

क्योंकि इस प्रकार का आह्वान तो दैनिक व्यवहार है। श्रुत्युक्त पुल्लिग पदों का भी विरोध अर्थ में है। 'अश्वसनि' यह भक्ष का विशेषण है, उसको छोड़कर 'तम्' पद का अध्याहार करते हुए व्याख्या करना तो सर्वथा असंगत है ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सकल अग्नि में आहूयमान यजन, तुम देवताओं के अभाव आदि को दूर करने वाले हो, पाप को दूर करने वाले हो। हे काष्ठखण्ड, तुम मनुष्यों के किये हुए द्रोह, निन्दा आदि पापों के निवारक हो, पितरों के निमित्त श्राद्ध न करने से उत्पन्न पापों का नाश करने वाले हो, अपनी आत्मा में किये निन्दा आदि पापों के नाशक हो, सब तरह के संसर्ग से उत्पन्न पापों के नाशक हो। हे हूयमान काष्ठखण्ड, जानबूझ कर मैंने जो पाप किया है और बिना जाने जो पाप किया है, उन सम्पूर्ण पापों को नष्ट करने वाले हो, आप हमारे सारे पापों का नाश कीजिये ॥ १३ ॥

भाष्यसार—'देवकृतस्यैनसः' इस कण्डिका के मन्त्रों से यजमानसहित सभी ऋत्विक् यूपखण्डों को आहवनीय अग्नि में समर्पित करते हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।८) में उपदिष्ट है। भाष्यकारों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप मन्त्रार्थ किया है।

अध्यात्मपक्षे—अत्र परमेश्वर एव सम्बोधनीयः। हे परमेश्वर, त्वं देवविषये मया कृतस्यावमानासत्कारादिलक्षणस्य, अवयजनमसि नाशको भवेत्यर्थः। तथा पितृषु कृतस्य श्राद्धाकरणादेरेनसोऽवयजनमसि परिहरणमसि, परिहर्ता भव। मनुष्येषु कृतस्य द्रोहादेः, आत्मविषये कृतस्यात्मनिन्दादेः, किं बहुना, एनस एनसो यावन्ति पातकानि सम्भवन्ति, तेषां समेषामेवैनसामवयजनमसि। यच्चाहं तेषु तेषु देवादिषु भवद्विषये च ज्ञानपूर्वकमज्ञानपूर्वकं वा एनः कृतवान् करिष्यामि करोमि वा, तेषां सर्वेषामवयजनं नाशनमसि स्वभावतः।

दयानन्दस्तु—'हे सर्वोपकारिन् सखे, त्वं देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि। दानशीलकृतस्य एनसः पापस्य पृथक्करणमसि। मनुष्यकृतस्य पापस्य दूरीकरणमसि। पितृकृतस्यैनसो विरोधाचरणस्य परिहरणमसि। आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि। एनस एनसोऽधर्मस्याधर्मस्य परिहरणमसि। विद्वानहं यच्चैनश्चकार, अविद्वानहं यच्चकार कृतवान् करोमि करिष्यामि वा, तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यस्य शास्त्रोक्तप्रायश्चित्तमन्तरा स्वकृतस्यापि पातकस्य परिहरणसामर्थ्यं नास्ति, किमुतान्यकृतस्य पातकस्य। दानशीलस्य धार्मिकत्वात् कथं पापकारित्वम्? न ह्येको मनुष्यो देवपितृमनुष्यपापानां दूरीकरणाय प्रार्थयितुं युज्यते, तस्य तथाऽसामर्थ्यात्। एनस एनस इत्यभ्यासस्य किं प्रयोजनमित्यपि नोक्तम्। अत्र व्याख्याने यत्तेनोक्तं यत् '४।३।६।१ शतपथेऽयं मन्त्रो व्याख्यातः' इति, तदशुद्धमेव, तृतीयेऽध्याये षष्ठब्राह्मणाभावात् ॥ १३॥

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १४ ॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—इस मन्त्र में परमेश्वर ही सम्बोध्य हैं। हे परमेश्वर, आप देवताओं के विषय में मेरे द्वारा किये गये अपमान, असत्कार आदि पाप के नाशक हो तथा पितरों के सम्बन्ध में श्राद्ध-अकरण आदि पापों का परिहार करने वाले हो। मनुष्यों के साथ किये गये द्रोह आदि तथा स्वयं के सम्बन्ध में किये गये आत्मनिन्दा आदि पापों के जितने भी भेद हो सकते हैं, उन सभी पातकों के विनाशक हो। उन उन देवताओं के तथा आपके विषय में ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञान से जो पाप मैंने किया है, मैं कर रहा हूँ तथा भविष्य में करूँगा, उन सबके आप स्वभावतः नाशक हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ अग्राह्य है। शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त के बिना तो मनुष्य का स्वयं किये गये पाप के परिहार का भी सामर्थ्य नहीं है। किसी अन्य के द्वारा किये गये पाप की तो कथा ही क्या है। दानशील व्यक्ति के धार्मिक होने के कारण पापकारित्व कैसे हो सकता है? एक ही मानव की देव, पितृ तथा मनुष्य के पापों के निराकरण-हेतु प्रार्थना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि उसका इस प्रकार का सामर्थ्य ही नहीं है। 'एनसः, एनसः' इस द्विरुक्ति का क्या प्रयोजन है, यह भी स्पष्ट नहीं किया गया। इसकी व्याख्या में कहा गया कि शतपथ (४।३।६।१) में यह मन्त्र व्याख्यात है। परन्तु यह भी अनुचित है, क्योंकि तृतीय अध्याय में षष्ठ ब्राह्मण है ही नहीं ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हम ब्रह्मवर्चस् तेज, क्षीरादि रस, अनुष्ठान के योग्य शरीर के अवयव और शान्त मन—इन सबसे युक्त हुए हैं। उत्तम दान देनेवाले त्वष्टादेव मुझे सम्पत्ति दें और मेरे शरीर में जो न्यूनता हो, उसे दूर करके उसका पोषण करें॥ यहाँ आहवनीय अग्नि की प्रदक्षिणा करके पूर्णपात्र का ग्रहण और 'सं वर्चसा' मन्त्र से मुखमार्जन किया जाता है ॥ १४ ॥

'आरेण चात्वालं यथास्वं चमसान् पूर्णपात्रानवमृशन्ति हरितकुशानवधाय सं वर्चसेति' (का० श्रौ० १०।८।९)। चात्वालात् पश्चिमस्यां दिशि होत्रादीनां क्रमेणोदक्संस्थं स्थापितानामुदकपूर्णानां दशानां चमसानामुपरि हरितदर्भान् स्थापयित्वा सर्वे चमसिनः स्वं स्वं चमसं स्पृशेयुः। त्वाष्ट्री त्रिष्टुप्। वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन वयं समगन्महि सङ्गता भवामः। पयसा क्षीरादिरसेन च सङ्गता भवामः। तनूभिस्तत्तत्कर्मानुष्ठानक्षमैरङ्गैः समगन्महि। शिवेन समीचीनेन श्रद्धायुक्तेन मनसाऽन्तःकरणेन समगन्महि। सुदत्रः शोभनदानस्त्वष्टा देवो रायो धनानि विदधातु मदर्थं सम्पादयतु। तन्वः शरीरस्य मामकस्य यद्विलिष्टं विच्छिन्नं विशेषेण न्यूनतामापन्नं वा, तद् अनुमार्ष्टु न्यूनतापरिहारेण शोधयतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पूर्णपात्रान् समवमृशन्ति। यानेकेऽप्सुषोमा इत्याचक्षते यथा वै युक्तो वहेदेवमेते य आर्त्विज्यं कुर्वन्त्युत वै युक्तः क्षणुते वा विवालिशते शान्तिरापो भेषजं तद्यदेवात्र क्षण्वते वा विवालिशन्ते शान्तिरापस्तदद्भिः शान्त्या शमयन्ते तदद्भिः सन्दधते तस्मात् पूर्णपात्रान् समवमृशन्ति' (श० ४।४।३।१३)। पूर्णान् पात्रानपाम्, शान्तिरापो भेषजमिति वाक्यशेषात्। सर्व ऋत्विजः, य आर्त्विज्यं कुर्वन्तीति वाक्यशेषाद् यजमानस्य युक्तत्वात् तुल्यन्यायत्वात्। कीदृशान् पूर्णपात्रान्? यानेके शाखिनोऽप्सुषोमाः (अबात्मकाः सोमाः) इत्याचक्षते। हरितदर्भवन्त उदकपूर्णपात्राः सोमचमसा अप्सुसोमा उच्यन्ते। तान् यथास्वं चमसिनोऽवमृशन्ति। यथा वै युक्तो गौरश्वो वा वहेदेवमेते पुरुषं वहन्ति य आर्त्विज्यं कुर्वन्ति। यद्यन्तर्गतो यदि युक्तः क्षणुते क्षिणुते हिनस्ति, विलिशते, 'लिश अल्पीभावे', विश्लेषयति, तस्य आपः शान्तिशमन्यो भेषजमिति प्रसिद्धम्, तद्वदत्र यज्ञेऽपि सयजमाना ऋत्विजो यदयज्ञियं नाम किञ्चिदुक्त्वा क्षिण्वते हिंसन्ति विश्लेषयन्ति वा, तदवमृश्यमानाभिरद्भिः शान्त्या शमनीभिः शमयन्ति सन्दधते च। 'ते समवमृशन्ति। सं वर्चसेति'''यद्विलिष्टमिति यद्विवृढं तत्सन्दधते' (श० ४।४।३।१४)। विवृढं विश्लिष्टमित्यर्थः। 'अथ मुखान्युपस्पृशन्ते। द्वयं तद्यस्मान्मुखान्युपस्पृशन्तेऽमृतं वा आपोऽमृतेनैवैतत् संस्पृशन्त एतदु चैवैतत् कर्मात्मन् कुर्वते तस्मान्मुखान्युपस्पृशन्ते' (श० ४।४।३।१५)।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वत्प्रसादात् सं वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन वयं सङ्गता भवामः। पयसा क्षीराद्यभीष्टरसेन त्वदुपासनक्षमैः शरीरावयवैः शिवेन समीचीनेन त्वदुपासनादिपरायणेन मनसान्तःकरणेन सङ्गताः स्याम। सुदत्रो भक्तिज्ञानस्वर्गापवर्गादिशोभनदानशीलस्त्वष्टा विश्वनिर्माणकुशलो भवान् रायोऽभीष्टलोकवेदप्रसिद्धधनानि विदधातु। तन्वो मामकस्य शरीरस्य यद्विलिष्टं न्यूनमङ्गं तन्मार्ष्टु न्यूनत्वपरिहारेण शोधयतु।

भाष्यसार—'सं वर्चसा' इस ऋचा के द्वारा सोमयाग में होता आदि सभी चमसी ऋत्विक् अपने-अपने चमस का स्पर्श करते हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।९) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आपके अनुग्रह से हम ब्रह्मवर्चस् से संयुक्त हों। दुग्ध आदि अभीप्सित रस से, आपकी उपासना के योग्य शरीरांगों से तथा आपकी उपासना में निरत शुद्ध अन्तःकरण से संयुक्त हों। भक्ति, ज्ञान, स्वर्ग तथा अपवर्ग आदि विशिष्ट दानों को प्रदान करने वाले, विश्वनिर्माण में कुशल आप लोक एवं वेद में प्रसिद्ध अभीष्ट धन का सम्पादन करें। मेरे शरीर का जो न्यून अंग है, उसको न्यूनता के निराकरण के द्वारा शुद्ध कीजिये।

दयानन्दस्तु—'हे अध्यापक, त्वष्टा सर्वव्यवहाराणां तनुकर्ता सुदत्रः सुदानो विद्वान् भवान् सं शिवेन मनसा सं वर्चसा अध्ययनाध्यापनप्रकाशेन पयसा जलेन अन्नेन वा, 'पय इत्युदकनामसु' (निघ० १।१२।३७), 'अन्ननामसु च' (निघ० २।७।३), तनूभिः शरीरैः, तन्वः शरीरस्य, यद् विलिष्टं विशेषेण न्यूनमङ्गम्, अनुमार्ष्टु पुनः पुनः शुन्धन्तु रायो विदधातु। तत् तानि च वयं तनूभिः समगन्महि ब्रह्मचर्यव्रतादिसुनियमैर्बलयुक्तैः शरीरैः प्राप्नुयाम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापको विद्यामध्यापयति, जलेनान्नेन शरीरस्य न्यूनतापूर्ति तु न्यूनाङ्ग एव भिषग्वरोपदेशेन कर्तुं शक्नोति। धननिधानमपि धनेप्सुरेव करोति नाध्यापकः। 'पूर्णताया उत्तमधनस्य धारणं ब्रह्मचर्यव्रतादिभिर्बलयुक्तशरीरैः प्राप्नुयाम' इत्यपि तथैव, 'अनुमार्ष्टु' इत्यस्मात् क्रियापदाद् धारणीयायाः पूर्णताया अनुक्तेः। ब्राह्मणं त्विमं मन्त्रं पूर्णपात्रस्पर्शने विनियुङ्क्ते। सूत्रमपि तदनुगुणमेव ॥ १४ ॥

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः सᳪ सूरिभिर्मघवन् सᳪ स्वस्त्या।
सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानाᳪ सुमतौ यज्ञियानाᳪ स्वाहा ॥ १५ ॥

'समिन्द्र ण इति नव समिष्टयजूंषि जुहोति प्रतिमन्त्रमिति' (का० श्रौ० १०।८।११)। नवभिर्मन्त्रैः समिष्टयजुःसंज्ञा नवाहुतीर्जुहुयात्। तत्राद्या विश्वेदेवादेवता त्रिष्टुप्, अत्रिदृष्टा। तत्र त्रिभिः परिधीनाप्याययति। त्रिभिर्देवता व्यवसृजति। हे मघवन्निन्द्र, नोऽस्मान् मनसा संनेषि संनयसि सङ्गमयसि। 'णीञ् प्रापणे' इत्यस्माद् व्यत्ययेन शपो लुकि रूपम्। समित्युपसर्गो नेषीति क्रियापदेन सम्बद्ध्यते। गोभिर्वाग्भिर्गवादिभिः पशुभिर्वा सङ्गमयसि। सूरिभिः पण्डितैर्हौत्रादिभिः स्वस्त्या अविनाशेन क्षेमेण च संनेषि। 'स्वस्ति' इत्यविनाशनाम। ब्रह्मणा सार्थज्ञानेनाधीतवेदेन संनेषि संगमयसि। देवकृतं देवार्थं कृतं कर्म यदस्ति यज्ञरूपं देवैः कृतं दृष्टं वा यत्कर्म, तेन संनेषि सङ्गमयसि। तथा यज्ञियानां यज्ञसम्बन्धिनां देवानां सुमतौ, सुमत्या इति तृतीयया विपरिणामः, अनुग्रहोपेतया बुद्ध्या संयोजयसि यस्त्वमस्मानेवं मनआदिभिः संनेषि, तस्मै तुभ्यं स्वाहा एतद्धविः सुहुतमस्तु। यद्वा हे मघवन्, विशिष्टधनसम्पन्नेन्द्र, त्वमनुग्रहयुक्तेन मनसा नोऽस्मान् गोभिः स्तुतिलक्षणाभिर्वाग्भिर्गवादिभिर्वा सन्नेषि सन्नय संयोजय। सूरिभिर्होतृप्रमुखैः पण्डितैः स्वस्त्या क्षेमेण संयोजय। अन्यत् पूर्ववत्।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ विसंगत है। अध्यापक विद्या का अध्ययन ही करता है। जल तथा अन्न से शरीर की न्यूनतापूर्ति तो अंगहीन ही श्रेष्ठ चिकित्सक के निर्देश से कर सकता है। धन का संगोपन भी धनाभिलाषी ही करता है, अध्यापक नहीं करता। ब्राह्मणोक्ति इस मन्त्र को पूर्णपात्र के स्पर्श में विनियुक्त करती है। सूत्र भी उसके अनुकूल है ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे धनवान् इन्द्रदेव, मन के अनुग्रह से हमें संयुक्त करो, वाणी प्राप्त कराओ, पण्डितों से संयुक्त करो, उत्कृष्ट कल्याण प्राप्त कराओ, परब्रह्म से संयुक्त करो। देवताओं के निमित्त किया हुआ कर्म हमें यज्ञसम्बन्धी देवताओं की अनुग्रह बुद्धि से संयुक्त करता है। इस प्रकार हम आपके निमित्त श्रेष्ठ आहुति प्रदान करते हैं ॥ १५ ॥

भाष्यसार—'समिन्द्र णः' इस ऋचा से प्रारम्भ करके क्रमशः नौ मन्त्रों से 'समिष्टयजुष्' नामक नौ आहुतियों

अत्र ब्राह्मणम्—'तानि वा एतानि । नव समिष्टयजूꣳषि जुहोति····नव वा अमूर्बहिष्पवमाने स्तोत्रिया भवन्ति सैषोभयतो न्यूना विराट् प्रजननायै तस्माद्वा उभयतो न्यूनात् प्रजननात् प्रजापतिः प्रजाः ससृजे इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीस्तथो एवैष एतस्मादुभयत एव न्यूनात् प्रजननात् प्रजाः सृजत इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीः' (श० ४।४।४।१)। अत्र समिष्टयजुर्धर्मका नव होमा ज्योतिष्टोमाङ्गभूता विधीयन्ते। अमू बहिष्पवमाने स्तोत्रिया भवन्ति। सैषा उभयतो न्यूना विराट् प्रजननायै। तस्माद्वा उभयतो न्यूनात् प्रजननात् प्रजापतिः प्रजाः ससृजे इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीः। इतस्त्रिपवनात्मकान्मुखाद् ऊर्ध्वाः ससृजे, इतश्चावाचीः समष्टियजुर्नवात्मकादवाचः प्राणान्। 'हिङ्कारः स्तोत्रियाणां दशमः। स्वाहाकार एतेषां तथो हास्यैषा न्यूना विराड् दशंदशिनी भवति' (श० १४।४।४।२)। दश दश परिमाणमस्येत्येतस्मिन्नर्थे दशदशशब्दादिनिप्रत्ययः, पूर्वपदस्य च नुमागमः।

'अथ यस्मात् समिष्टयजूꣳषि नाम। या वा एतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते सर्वा वै तत्ताः समिष्टा भवन्ति तद्यत्तासु सर्वासु समिष्टास्वथैतानि जुहोति तस्मात् समिष्टयजूꣳषि नाम' (श० ४।४।४।३)। ज्योतिष्टोमेऽस्मिन् यासां देवतानामाह्वानं भवति, यासां कृते यज्ञ एष तायते, ताः सर्वा एतास्वाहुतिषु समिष्टा भवन्ति। तस्मादेतासां समिष्टयजूंषीति नाम। 'अथ यस्मात् समिष्टयजूꣳषि जुहोति। रिरिचान इव वा एतदीजानस्यात्मा भवति यद्ध्यस्य भवति तस्य हि ददाति तमेवातस्त्रिभिः पुनराप्याययति' (श० ४।४।४।४)। 'अथ यान्युत्तराणि त्रीणि जुहोति। या वा एतेन यज्ञेन देवता ह्वयति याभ्य एष यज्ञस्तायते उप हैव ता आसते यावन्न समिष्टयजूꣳषि जुह्वतीमानि नु नो जुह्वत्विति ता एवैतद्यथायथं व्यवसृजति यत्र यत्रासां चरणं तदनु' (श० ४।४।४।५)। अत्र यानि मध्यमानि त्रीणि, तानि देवताविसर्गार्थानि। 'अथ यान्युत्तमानि त्रीणि जुहोति। यज्ञं वा एतदजीजनत यदेनमतत तं जनयित्वा यत्रास्य प्रतिष्ठा तत्प्रतिष्ठापयति तस्मात् समिष्टयजूꣳषि जुहोति' (श० ४।४।४।६)। अत्रोत्तमस्य त्रिकस्य यज्ञप्रतिष्ठापनं प्रयोजनम्।

'स जुहोति। समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिरिति मनसेति तन्मनसा रिरिचानमाप्याययति गोभिरिति तद् गोभी रिरिचानमाप्याययति सꣳसूरिभिर्मघवन् सꣳस्वस्त्या सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्तीति ब्रह्मणेति तद् ब्रह्मणा रिरिचानमाप्याययति सं देवानाꣳसुमतौ यज्ञियानाꣳ स्वाहा' (श० ४।४।४।७)। अत्र मन्त्राणां यथोक्तं प्रयोजनं सामर्थ्यं त्रिकाणां दर्शयति।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, सं मनसा सानुग्रहेण मनसा त्वं नोऽस्मान् गोभिः पशुभिर्वेदवेदान्तलक्षणाभिः स्तुतिलक्षणाभिर्वाग्भिः सन्नेषि संयोजय। सूरिभिर्ब्रह्मविद्वरिष्ठैर्भगवत्परायणैर्विद्वद्भिर्नः सङ्गमय। स्वस्त्या क्षेमेण प्राप्तरक्षणरूपेणाविनाशेन संयोजय। ब्रह्मणा वेदेन धर्मब्रह्मबोधकेनास्मान् सङ्गमय। देवकृतं

का हवन किया जाता है। समिष्टयजुर्होम का यह प्रथम मन्त्र है। शतपथ श्रुति में ज्योतिष्टोम की याज्ञिक विधि के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ यह है—हे परमेश्वर, आप कृपापूर्ण अन्तःकरण से हम लोगों को वेद-वेदान्तादिरूपिणी तथा स्तुति-आदिरूपिणी वाणियों से संयुक्त करें, वरिष्ठ ब्रह्मवेत्ताओं, भगवत्परायण विद्वानों से हमको संगत करें, प्राप्तरक्षणात्मक क्षेम, कल्याण से युक्त करें, धर्मब्रह्मबोधक वेद से युक्त करें, देवताओं के लिये अनुष्ठित यज्ञरूपी कर्म से

देवार्थं कृतं कर्म यज्ञाख्यं देवैः कृतं दृष्टं वा यत् कर्मास्ति, तेनास्मान् संयोजय । तथा यज्ञियानां यज्ञसम्बन्धिनां देवानां सुमतौ सुमत्याऽनुग्रहोपेतया बुद्ध्या नः सङ्गमय । तथा सर्वाभीष्टसम्पादयित्रे तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे मघवन्निन्द्र, विद्यादिपरमैश्वर्ययुक्ताध्यापकोपदेशक, यतस्त्वं सं मनसा सन्मार्गेण गोभिर्धेनुभिर्वाग्भिर्वा सं स्वस्त्या सुष्ठुवचनयुक्तैः सुखमयैः पुरुषार्थव्यवहारैः, सूरिभिः विद्वद्भिः सह ब्रह्मणा बृहता वेदज्ञानेन धनेन वा विद्यां प्रापयसि, यद् यज्ञियानां देवानामाप्तानां स्वाहा सुमतौ सत्यवाग्युक्तायां शोभनायां बुद्धौ देवकृतमिन्द्रियकृतं कर्म यज्ञकृतमस्ति, नोऽस्मान् सन्नेषि, तस्मात्त्वमस्माभिः सत्कर्तव्योऽसि' इति, तत्तु सर्वमप्यस्पष्टमेव । तद्भाषाभाष्ये तु—'हे मघवन्, सत्यविद्याद्यैश्वर्ययुक्तगृहपते अध्यापक उपदेशक, यतस्त्व-मुत्तमान्तःकरणेन सं सन्मार्गं गोभिः सं स्वस्त्या सुष्ठुवचनयुक्तैः सुखमयैर्व्यवहारैः सूरिभिर्विद्वद्भिः सह ब्रह्मणा वेदविज्ञानेन धनेन यज्ञपालनकर्तॄणां कर्तुं योग्यं विदुषां सत्यवाग्युक्तायां बुद्धौ देवकृतं विदुषां क्रिया कर्मास्ति, तत् सत्यवाचा नोऽस्मभ्यं सन्नेषि सम्यक् प्रापयसि । अत एवास्माभिः पूज्योऽसि' इति, तदपि परस्परमसम्बद्ध-मस्पष्टार्थमेव । 'यतस्त्वं नोऽस्मभ्यं मनसा सन्मार्गं प्रापयसि, गोभिर्धेनुभिः सुवाग्युक्तैर्व्यवहारैः पुरुषार्थं प्रापयसि, ब्रह्मणा वेदेन धनेन वा विद्यां प्रापयसि, यज्ञपालयितॄणामाप्तानां सत्यवाचा युक्तायां शोभनायां बुद्धौ यत् क्रिया कर्मास्ति तत्प्रापयसि, तस्मात्त्वं पूजनीयोऽसीति तु युक्तम्' इति कश्चिदाह, तदप्ययुक्तम्, अध्याहारबाहुल्यात् । 'न' इत्यव्ययेन 'सम्' इत्युपसर्गेण च ते तेऽर्था ग्रहीतुं शक्याः, किन्तु न तथात्वे किमपि प्रमाणम्, श्रुतिसूत्रविरोधश्च स्पष्टः ॥ १५ ॥

सं वर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १६ ॥

अथवा देवों के द्वारा दृष्ट अथवा अनुष्ठित जो कर्म हैं, उनसे हमें संयुक्त करें तथा यज्ञसम्बन्धी देवताओं की सुमति, अनुग्रहयुक्त बुद्धि से हमें संगत करें। इस प्रकार समस्त अभीष्टों का सम्पादन करने वाले आपके लिये सर्वस्व समर्पित है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित समस्त मन्त्रार्थ अस्पष्ट है। भाषा-भाष्य भी परस्पर असम्बद्ध तथा अस्पष्टार्थ है। अध्याहार की बहुलता के कारण यह अर्थ ग्राह्य नहीं है। 'न' इस अव्यय पद के द्वारा तथा 'सम्' इस उपसर्ग से वे अर्थ ग्रहण किये जा सकते हैं, किन्तु ऐसा करने में कोई प्रमाण नहीं है। श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोध तो स्पष्ट ही है ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हम ब्रह्मवर्चस् तेज, क्षीरादि रस, अनुष्ठान के योग्य शरीर के अवयव और शान्त मन—इन सबसे युक्त हुए हैं। उत्तम दान देने वाले त्वष्टादेव मुझे सम्पत्ति दें और मेरे शरीर में जो न्यूनता हो, उसे दूर करके उसका पोषण करें॥ यहाँ आहवनीय अग्नि की प्रदक्षिणा करके पूर्णपात्र का ग्रहण और 'सं वर्चसा' मन्त्र से मुखमार्जन किया जाता है ॥ १६ ॥

अथ द्वितीयः। प्रजापतिदृष्टा त्वाष्ट्री त्रिष्टुप्। (८।१४) स्थले व्याख्यातोऽयं मन्त्रः। अत्रत्यं च ब्राह्मणम्—'सं वर्चसा। पयसा सन्तनूभिरिति वर्चसेति तद्वर्चसा रिरिचानमाप्याययति पयसेति रसो वै पयस्तत्पयसा रिरिचानमाप्याययत्यगन्महि मनसा स१७ँ शिवेन त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति यद्विवृढं तत्सन्दधाति' (श० ४।४।४।८) इति।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वदीयेन सं मनसा सानुग्रहेण सङ्कल्पेन वयं वर्चसा ब्रह्मज्ञानेन समगन्महि सङ्गता भवेम। पयसा रसेन क्षीरादिरसेन भक्तिरसेन वा सङ्गताः स्याम। तनूभिर्ज्ञानध्यानसक्षमैः शरीराख्यैः सं शिवेन कल्याणमयेन मोक्षेण संगताः स्याम। भवान् सुदत्रो लोकोत्तरो दाता त्वष्टा अविद्याकामकर्मादिच्छेत्ताऽस्मभ्यं रायो शमदमादिलक्षणा देवीः सम्पत्तीर्विदधातु सम्पादयतु। तन्वः शरीरस्य मामकस्य यद्विलिष्टं रोगदोषादिना न्यूनत्वं तदनुमार्ष्टु तदपाकरणेन शोधयित्वा ज्ञानध्यानानुगुण्येनाप्याययतु।

दयानन्दस्तु—'हे आप्ता विद्वांसः, युष्माकं सुमतौ प्रवृत्ता वयं यो युष्माकं मध्ये श्रेष्ठः सुदत्रस्त्वष्टा विद्वानस्मभ्यं सं वर्चसा पयसा सं शिवेन मनसा यान् रायो विदधातु, यत्तन्वो विलिष्टमनुमार्ष्टु, तैस्तांस्तच्च तनूभिः समगन्महि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात्। 'आप्ताः' इति सम्बोधनमसङ्गतम्, मन्त्रबाह्यत्वात्। तथैव 'प्रवृत्ता वयम्' इत्यपि निर्मूलम्, वेदबाह्यत्वादेव, अध्याहारे मानाभावात्। 'युष्माकं मध्ये' इत्यपि स्वकपोलकल्पितमेव। 'सुदत्रः सं वर्चसा पयसा यान् रायो विदधातु' इत्यपि न सङ्गतम्, सावशेषत्वात्, सं वर्चसा पयसा विद्वान् कथं स्वस्य वान्यस्य वा रायः सम्पादयतीत्यस्य वक्तव्यत्वात्। अगन्महीत्यस्य कर्मतया 'तांस्तच्च' इत्यस्य योजनमपि निर्मूलमेव। 'सं वर्चसा अगन्महि' इति सरलमुपस्थितं चान्वयं परित्यज्य 'तांस्तच्च' इत्यध्याहृत्य कर्मयोजने श्रुतत्यागाश्रुतकल्पनादिदोषबाहुल्यात् सर्वमप्येतन्निर्मूलमेव ॥ १६ ॥

भाष्यसार—'सं वर्चसा' यह ऋचा भी ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत समिष्टयजुर्होम की द्वितीय आहुति के लिये विनियुक्त है। पूर्व में (८।१४) इसकी व्याख्या की जा चुकी है।

अध्यात्मपक्ष में ऋचा का अर्थ यह है—हे परमेश्वर, आपके कृपापूर्ण संकल्प से हम लोग ब्रह्मज्ञान से संयुक्त हों। दुग्ध आदि रसों से अथवा भक्तिरस से युक्त हों। ज्ञान एवं ध्यान में समर्थ शरीर तथा कल्याणमय मोक्ष से संगत हों। लोकोत्तर दाता, अविद्या, काम, कर्म आदि के विनाशक आप हमारे लिये शम, दम आदि दैवी सम्पत्तियों का सम्पादन करें। मेरे शरीर की जो रोग-दोष आदि के द्वारा न्यूनता है, उसका निराकरण कर उसे शुद्ध करके ज्ञान-ध्यान के गुणों से परिपूर्ण करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में 'हे आप्तों' यह सम्बोधन पद मन्त्र से बहिर्भूत होने के कारण असंगत है। अन्य अध्याहारों में भी प्रमाण नहीं है। अन्य भी वाक्य सावशेष (अपूर्ण) होने के कारण असंगत हैं। 'अगन्महि' इस क्रिया के कर्म के रूप में 'तांस्तच्च' इस प्रकार जोड़ना भी अप्रामाणिक है। फिर सरल तथा उपस्थित अन्वय का परित्याग करके अध्याहार से कर्म को संयुक्त करने में श्रुतत्याग तथा अश्रुतकल्पना आदि दोषों की अधिकता के कारण भी यह समस्त व्याख्यान निर्मूल है ॥ १६ ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः। त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणा यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहा ॥ १७ ॥

अथ तृतीयः। धातृसवितृप्रजापतिदेवाग्नित्वष्टृविष्णुदेवत्या त्रिष्टुप्। धाता, सविता, प्रजापतिः, अग्निः, त्वष्टा, विष्णुः—एते षड्देवा इदमस्मद्धविर्जुषन्तां प्रीत्या सेवन्ताम्। कीदृशो धाता ? रातिः, रातिं प्रयच्छतीति रातिर्दानशीलः, 'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१७४) इति क्तिच्प्रत्ययः। निधिपा निधीन् पातीति निधिपाः, शङ्खपद्ममहापद्मादिनिधीनां नवानां पालयिता। अग्निश्च कीदृशः ? देवो दीप्यमानः। त एते देवाः प्रजया यजमानसम्बन्धिन्या सन्तत्या सह संरराणाः सम्यग् रममाणाः सन्तो यजमानाय द्रविणं दधात दधतु स्थापयन्तु। व्यत्ययेन मध्यमपुरुषः। अत्र ब्राह्मणम्—'धाता रातिः। सवितेदं''''द्रविणं दधात स्वाहेति तद्वेव रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह यजमानाय द्रविणं दधात स्वाहेति' (श० ४।४।४।९)।

अध्यात्मपक्षे - स एकधा बहुधा भवतीति रीत्या परमेश्वर एवानेकरूपेण प्रार्थ्यते। धाता सर्वजगद्धारकः, रातिर्दानशीलः, परमात्मन एव सर्वजगदुत्पादकत्वेन धारकत्वात्, तस्यैव सर्वेश्वरत्वेन सर्वदातृत्वात्। सविता सर्वप्रेरकः, सर्वान्तिर्यामित्वात्। प्रजापतिः सर्वप्रजापालकः, निधिपा निधीनां नवानामान्तराणां ज्ञानविज्ञाननिधीनां पालकः, अग्निः सर्वाग्रणीः सर्वनेता, देवो दीव्यति जगन्निर्माणादिना क्रीडत इति देवः—इत्याद्यनेकरूपेण संस्तूयमाना भगवदादिप्रादुर्भावाः प्रजया पुत्रपौत्रादितुल्यया भक्तप्रजया संरराणाः सम्यग्रममाणा इदमस्मत्समर्पितं हविर्जुषन्तां प्रीत्या सेवन्ताम्। यजमानाय उपासकाय द्रविणमभीष्टं भौतिकमाध्यात्मिकं वा दधतु ददतु।

मन्त्रार्थ—दानशील धाता देवता, सविता देवता, पद्म, महाशंख आदि निधियों का पालन करने वाले प्रजापति, दीप्यमान अग्नि देवता, त्वष्टा देवता, भगवान् विष्णु—ये सब हमारी दी हुई आहुति को ग्रहण करें और ये सब देवता यजमान की सन्तति के साथ भली प्रकार रमण करते हुए यजमान के निमित्त धन और पुष्टि को प्रदान करें। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १७ ॥

भाष्यसार—'धाता रातिः' ऋचा से समिष्टयजुर्होम की तृतीय आहुति प्रदान की जाती है। शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में ऋचा का अर्थ यह है—वह एक ही बहुत रूपों में अभिव्यक्त होता है, इस रीति से परमेश्वर ही अनेक रूप से प्रार्थित किया जाता है। सम्पूर्ण जगत् का धारणकर्ता, दानशील, परमात्मा ही समग्र जगत् का उत्पादक होने के कारण धारक है। वही सर्वेश्वर होने के कारण सर्वदाता है। सर्वान्तिर्यामी होने के कारण सबका प्रेरक है। समस्त प्रजाओं का पालनकर्ता, नव निधियों तथा आन्तरिक ज्ञान-विज्ञान निधियों का पालक, सबसे अग्रणी, सबका नेता, जगत् के निर्माण आदि के द्वारा क्रीडाशील—इत्यादि अनेक रूप से संस्तुत भगवान् के आदि अवतार, पुत्र-पौत्रादि के समान भक्त प्रजा के द्वारा भली भाँति प्रसन्न होते हुए हमारे द्वारा समर्पित इस हविष्य का प्रीतिपूर्वक सेवन करें। उपासक को अभीष्ट भौतिक, आध्यात्मिक धन प्रदान करें।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थाः, भवन्तो धाता गृहाश्रमधर्ता, रातिः सर्वेभ्यः सुखदायकः, सविता सर्वैश्वर्यो-त्पादकः, प्रजापतिः सन्तानादिपालकः, निधिपा विद्यावृद्धिरक्षकः, देवोऽग्निः अविद्यान्धकारदाहकः, त्वष्टा सुखविस्तारकः, विष्णुः सर्वशुभगुणकर्मसु व्याप्त इवैतत्स्वभावा भूत्वा प्रजया स्वसन्तानादिना सह संरराणाः सम्यग्दातारः सन्तः स्वाहेदं जुषन्तां बलवन्तो भूत्वा यजमानाय स्वाहा द्रविणं दधात' इति, तदपि न किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यायुक्तत्वात् । गृहस्था इति सम्बोधनमपि निर्मूलमेव, श्रुतिसूत्रविरुद्धं च ॥ १७ ॥

सुगा वो॑ देवाः सद॑ना अकर्म॒ य आ॑ज॒ग्मेद॒ꣳ सव॑नं जुषा॒णाः । भर॑माणा॒ वह॑माना ह॒वीꣳ-ष्य॒स्मे ध॑त्त वसवो॒ वसू॑नि॒ स्वाहा॑ ॥ १८ ॥

अथ चतुर्थः । देवदेवत्या त्रिष्टुप् । तुर्यः पादो दशार्णः । हे देवाः, ये यूयमिदं सवनमिमं यज्ञं जुषाणाः सेवमाना आजग्म आजग्मुः, गमेर्लिटि मध्यमबहुवचनम्, तेषां वो युष्माकम् अस्मिन् यज्ञे सुगाः सुगमनीयानि, सुपूर्वाद् गमेर्डप्रत्यये सुगेति रूपम्, विभक्तेराकारः, सदना सदनानि स्थानानि, अकर्म वयमकार्ष्म, करोतेश्च्लिलोपे लुङि उत्तमबहुवचने अकर्मेति रूपम् । हे वसवः, निवासहेतवो हवींषि भरमाणा जोषयन्तो वहमाना रथादिभिश्च नयन्तो यूयमस्मे अस्मासु वसूनि धनानि धत्त स्थापयत । समाप्ते यज्ञे भरमाणा वहमाना ये रथिनस्ते रथेषु भरमाणा वहमाना हवींषि, ये तु अरथिनस्ते स्कन्धावसक्तिकासु हवींषि वहमाना अस्मासु धत्त दत्त । यद्वा भरमाणाः पुष्णन्तो वहमाना रथादिभिर्नमन्तस्तेभ्यो युष्मभ्यं स्वाहा ।

अत्र ब्राह्मणम्—'सुगावो देवाः । सदना अकर्म य आजग्मेदꣳ सवनं जुषाणा इति सुगानि वो देवाः सदनान्यकर्म य आगन्तेदꣳ सवनं जुषाणा इत्येवैतदाह भरमाणा वहमाना हवीꣳषीति तद्देवता व्यवसृजति भरमाणा अह ते यन्तु येऽवाहना वहमाना उ ते यन्तु ये वाहनवन्त इत्येवैतदाह तस्मादाह भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा' (श० ४।४।४।१०) । व्यवसृजति विमुञ्चति । भरमाणा अह एव ते यन्तु । येऽवाहना रथादिरहितास्ते वहमानाः स्कन्धावसिक्तिकासु, वहमाना ये वाहनवन्तस्ते तै रथादिभिर्नयन्तो यन्तु ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में गौण अर्थ का आश्रयण अनुचित होने के कारण अग्राह्यता है । 'हे गृहस्थों' यह सम्बोधन भी अप्रामाणिक तथा श्रुति एवं सूत्र के निर्देश से विरुद्ध है ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ – हे देवताओं ! आप लोग इस यज्ञ में आहुति ग्रहण करने के लिये यहाँ आये हो । आपके स्थान को हमने सुख से प्राप्त होने योग्य बना दिया है । हे सबमें निवास करने वाले देवताओं, यज्ञ की समाप्ति पर हवियों का भरण करने वाले रथ में बैठें और जिनके पास रथ नहीं है, वे स्वयं वहन करते हुए हमारे लिये धन-सम्पत्ति को धारण करें । आप लोगों के द्वारा यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १८ ॥

भाष्यसार—'सुगावो देवाः' इस ऋचा का विनियोग भी पूर्ववत् समष्टियजुर्होम की चतुर्थ आहुति के प्रदान में किया गया है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे—हे देवाः, हे राम कृष्ण शिव शक्ते विष्णो सूर्य गणपते ! अभिव्यक्तिभेदेन पूजायां वा बहुवचनम् । हे देव द्योतमान स्वप्रकाश परेश ! सुगा सुगमनीयानि वो युष्माकं सदनानि स्थानानि अकर्म कृतवन्तो वयम्, यूयं सवनं यज्ञमेतं सेवमाना आजग्म आगताः कृपयेति महत्प्रमोदास्पदम् । भगवन्मन्दिराणां निर्माणमेतेन संकेत्यते । सवनमिदं यज्ञमिममर्चनरूपं जुषाणाः सेवमानाः । किञ्च, हे वसवः सर्वेषां वासयितारः, अस्मे अस्मासु वसूनि धनानि धत्त स्थापयत । कीदृशा यूयम् ? यज्ञसमाप्तौ हवींषि समर्पितानि भरमाणाः पुष्णन्तो वहमाना रथादिभिर्नयन्तश्च । तेभ्योऽस्मत्समर्पितं हविः स्वाहा सुहुतमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे वसवो देवाः ! वसन्ति सद्गुणकर्मसु ते देवा व्यवहरमाणा ये वयं स्वाहा सत्क्रियया इदं सवनम् ऐश्वर्यं जुषमाणाः सेवमाना भरमाणा धरमाणा वहमानाः प्राप्नुवन्तः, वो युष्मभ्यं यानि सुगानि सुष्ठु गन्तुं प्राप्तुं योग्यानि सदनानि हवींषि दातुमादातुमर्हाणि वसूनि धनानि अकर्म कुर्याम, आजग्म प्राप्नुवन्तु, तेभ्योऽस्मभ्यं तानि यूयं धत्त । हे श्रेष्ठगुणेषु रममाणा देवाः, व्यवहारिणो ये वयं स्वाहा उत्तमक्रियया इदमैश्वर्यं जुषाणाः सेवमाना भरमाणा धरमाणा वहमानाः प्राप्नुवन्तो युष्मभ्यं सुगा सुष्ठु प्राप्तुं योग्यानि सदनानि गृहाणि दातुमादातुं योग्यानि वसूनि अकर्म अकार्ष्म प्रकटयामः, आजग्म प्राप्नुवन्तु, अस्मे अस्मभ्यं तानि वसूनि यूयमपि धत्त' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वसवो देवा इत्यादिशब्दानां त्वदुक्तेऽर्थे सङ्गतेरसंग्रहात् । न वा हवींषीत्यनेन दानादानयोग्यानि धनानि गृह्यन्ते, वसुशब्देनैव गतार्थत्वात् । दानादानयोग्यान्येव वसूनि भवन्ति । श्रुतिसूत्रविरोधश्च स्फुट एव ॥ १८ ॥

याँ२॥ आवह उशतो देव देवाँस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे । जक्षिवाᳪंसः पपिवाᳪंसश्च विश्वेऽसु घर्मᳪं स्वरातिष्ठतान् स्वाहा ॥ १९ ॥

अध्यात्मपक्ष में ऋचा का अर्थ यह है—हे राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य, गणपति ! हे देवों ! यहाँ मन्त्र में आदरार्थक अथवा अभिव्यक्तिभेद के कारण बहुवचन है । हे स्वप्रकाश परमेश्वर, आपके जो सुगमनीय स्थानों का सम्पादन हमने किया है, आप लोग उस यज्ञ को सेवित करते हुए कृपापूर्वक आये हैं, यह अत्यन्त आनन्दास्पद बात है । इसके द्वारा भगवान् के मन्दिरों का निर्माण संकेतित किया जा रहा है । इस अर्चनात्मक यज्ञ का सेवन करते हुए हे सबके वासकारक, आप हम लोगों में धन की स्थापना कीजिये । यज्ञ की समाप्ति में समर्पित हविर्द्रव्यों का धारण तथा रथादि के द्वारा उनका नयन करते हुए उनके प्रति हमारे द्वारा समर्पित हवि सुहुत हो ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अग्राह्य है, क्योंकि 'वसवः, देवाः' इत्यादि शब्दों के वर्णित अर्थ असंगत हैं । 'हवींषि' इस शब्द से दान तथा अदान के योग्य धन का ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वसु शब्द से ही यह गतार्थ है । दानादान-योग्य धन ही वसु होता है । श्रुति तथा सूत्र-वाक्यों का विरोध भी स्पष्ट है ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान अग्निदेवता, हवि की कामना करने वाले जिन देवताओं को तुम बुला कर लाये हो, अब उनको वापस अपने अपने **स्थानों में भेज दो । यज्ञ में सवनीय पुरोडाश** आदि **का भक्षण करते हुए और सोमपान करते हुए अब इस समय यज्ञसमाप्ति के अवसर पर हिरण्यगर्भ प्राणलक्षण वाले** वायुमण्डल में आदित्य **लोक का आश्रय करो, इस प्रकार निवेदन कर उनको** अपने-अपने **स्थानों में प्रेषित करो ।** यह आहुति **भली प्रकार गृहीत हो ॥ १९ ॥**

अथ पञ्चमः। आग्नेयी त्रिष्टुप्। देवान् विसृजति। हे अग्ने, हे देव दीप्यमान! उशतो हवींषि कामयमानान् देवान् कर्मफलप्रदातॄन् त्वमावह आहूतवानसि। तान् देवान् स्वे सधस्थे स्वकीये स्थाने गृहे प्रेरय प्रस्थापय, सह तिष्ठन्ति यस्मिंस्तत् सधस्थम्, 'सध मादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति स्थेपरे सहस्य सधादेशः। किं कथयित्वा प्रेरयामीति चेत्, अत आह—ये विश्वे सर्वे यूयं जक्षिवांसः सवनीयपुरोडाशादीनि हवींषि भक्षितवन्तः, तथा पपिवांसः सोमपानं कृतवन्तः, अनुयज्ञं यज्ञसमाप्तौ असुं हिरण्यगर्भप्राणलक्षणं वायुम्, वायुमण्डलमिति यावत्, घर्ममादित्यमण्डलं वा, स्वर् द्युलोकं वा तिष्ठत आश्रयत। यस्य यस्य यत्र यत्र गृहाः सन्ति तांस्तानन्वातिष्ठतेत्यर्थः। 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इत्युनोः क्रियापदस्य परत्वम्, 'अनुर्लक्षणे' (पा० सू० १।४।८४) इत्यनोः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा।

अत्र ब्राह्मणम्—'याँ२॥ आवह।... सधस्थ इत्यग्निं वा आहामून् देवानावहामून् देवानावहेति तमेवैतदाह यान् देवानावाक्षीस्तान् गमय यत्र यत्रैषां चरणं तदन्विति जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्व इति जक्षिवाꣳसो हि पशुं पुरोडाशं भवन्ति पपिवाꣳस इति पपिवाꣳसो हि सोमꣳ राजानं भवन्ति तस्मादाह जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्वेऽसुं घर्मꣳ स्वरातिष्ठतानु स्वाहेति तद्वेव देवता व्यवसृजति' (श० ४।४।४।११)। अग्निं वा आह अमून् देवानावह अमून् देवानावहेति तमेवैतदाह यान् देवानावाक्षीस्तान् गमय यत्र यत्रैषां चरणं तदन्विति जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्व इति जक्षिवांसो हि पशुं पुरोडाशं भवन्ति पपिवांसो हि सोमं राजानं भवन्ति। असुं घर्मं स्वरातिष्ठतानु स्वाहा तद्वेव देवता व्यवसृजति।

अध्यात्मपक्षे—हे देव दीप्यमान अग्ने स्वप्रकाशप्रत्यगात्मन्, यान् उशतः शब्दादिविषयान् कामयमानान् देवान् द्योतमानान् चक्षुरादीन्द्रियलक्षणान् स्वे स्वकीये सधस्थे देहलक्षणे समानस्थाने आवहः कर्मवशात् प्राप्तवानसि, तान् प्रेरय शुभकर्मोपासनादौ नियोजय। तादृशकर्मोपासनाद्यनुष्ठानेन ते देवा जक्षिवांसोऽन्नं जग्धवन्तः, पपिवांसः पयोदधिघृतसोमादिरसान् पीतवन्तो भुक्तभोगा असुं हिरण्यगर्भलक्षणं प्राणम्, घर्ममादित्यमण्डलं स्वर्द्युलोकं वा अन्वतिष्ठत्। त्वं तैर्मुक्तः परमात्मतादात्म्यापत्तिं प्राप्नुहीति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे देव दिव्यशीलयुक्त अध्यापक विज्ञानाढ्य अग्ने, त्वं स्वे सधस्थे सहस्थाने यानुशतो विद्यादिसद्गुणान् कामयमानान् देवान् विदुष आवहः प्राप्नुयास्तान् धर्मे प्रेरय नियोजय। हे गृहस्था जक्षिवांसोऽन्नं जग्धवन्तः, पपिवांसः पीतवन्तः, विश्वे सर्वे यूयं स्वाहा सत्यया वाचा घर्ममन्नं यज्ञम्, 'घर्म

भाष्यसार—'याँ२॥ आवह' इस ऋचा का विनियोग पूर्वोक्त मन्त्र की भाँति समिष्टयजुर्होम की पंचम आहुति में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे दीप्यमान स्वप्रकाश प्रत्यगात्मा! शब्द आदि विषयों की कामना रखने वाले जिन द्योतमान चक्षुरादि इन्द्रियों को अपने देहरूपी समान अधिकरण में कर्मवशात् तुमने प्राप्त किया है, उनको शुभ कर्म, उपासना आदि से संयुक्त करो। इस प्रकार के कर्मोपासनादि अनुष्ठान के द्वारा वे द्योतमान इन्द्रियाँ अन्न का भक्षण करके, दुग्ध, दधि, घृत तथा सोम आदि रसों का पान करके, भुक्तभोग होकर हिरण्यगर्भरूपी प्राण, आदित्यमण्डल अथवा द्युलोक को प्राप्त करें। तुम उनसे मुक्त होकर परमात्मा का तादात्म्य प्राप्त करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में देव तथा अग्नि शब्द की अध्यापकबोधकता में कोई प्रमाण न होने के

इत्यन्ननामसु' (निघ० १।९।७), यज्ञनामसु च (निघ० ३।१७।१५), असुं प्रज्ञाम्, 'असुरिति प्रज्ञानामसु' (निघ० ३।९।६) स्वः सुखमन्वातिष्ठत। यद्वा—हे देवाग्ने हे अध्यापक, त्वं स्वसदस्थे यानुशतो विद्यादिगुणान् कामयमानान् आवहः प्राप्नुयाः, तान् धर्मे प्रेरय। हे गृहस्थाः, खादन्तः पिबन्तो विश्वे सर्वे सत्यया वाचा अन्नं यज्ञं असुं श्रेष्ठबुद्धिं स्वः सुखं चान्वातिष्ठत, प्राप्य सुखी भव' इति, तदपि मन्दम्, देवाग्निशब्दयोरध्यापकपरत्वे मानाभावात्। न च विद्वांसो विद्यां कामयन्ते, तेषां विद्वत्त्वेन प्राप्तविद्यत्वात्। न च भोजनपानयोरन्नयज्ञश्रेष्ठबुद्धिप्राप्तिहेतुत्त्वम्, तयोः सर्वसाधारणत्वात्॥ १९॥

वयᳬं हि त्वां प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह।
ऋधगया ऋधगुताशमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान् स्वाहा॥ २०॥

अथ षष्ठः। आग्नेयी त्रिष्टुप्। अग्निं व्यवसृजति हि यस्मात् कारणाद् इहास्मिन् दिने अस्मिन् यज्ञे प्रयति प्रगच्छति प्रारभ्यमाणे वर्तमाने वा सति होतारं देवानामाह्वातारम्, 'अग्निर्वै दैव्यो होता' इति श्रुतेः। होमनिष्पादकं वा त्वां वयमवृणीमहि वृतवन्तः। तस्मात् कारणाद् ऋधक् समृद्धं यथा स्यात्तथा अया अयाजा इष्टवानसि यज्ञं कारितवानसि। यद्वा ऋध्नुवन्नयाक्षीः समर्धयन्निष्टवानसि। उतापि च ऋधक् समृद्धिं प्रजानन्नवगच्छन्नशमिष्ठा विघ्नशान्तिमकार्षीः। यद्वा ऋध्नुवन्नेव यज्ञप्रायश्चित्तं शमिष्ठाः। अतस्त्वं विद्वान् यज्ञसमाप्तिं प्रजानन् स्वाधिकारं वा जानान उपयाहि, स्वाभिप्रेतस्थानमिति शेषः। यद्वा कीदृशस्त्वम्? विद्वान् पण्डितः स्वाधिकारं जानन्नित्यर्थः। स्वाहा तुभ्यं सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'वयᳬं हि त्वा।...स्वाहेत्यग्निमेवैतया विमुञ्चत्यग्निं व्यवसृजति' (श० ४।४।४।१२)। अत्र श्रुत्यैवायं मन्त्रोऽग्निविसर्जने विनियुक्तः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, स्वप्रकाशपरमेश्वर! इहास्मिन् संसारे प्रयति प्रारभ्यमाणे यज्ञे क्रियामये ज्ञानमये वा भवदाराधनारूपे वा यज्ञे वयं त्वां होतारं यज्ञनिष्पादकम् अवृणीमहि वृतवन्तः, त्वत्कृपया

कारण अनौचित्य है। भोजन तथा पान का अन्न, यज्ञ, श्रेष्ठबुद्धि की प्राप्ति का हेतु होना भी संगत नहीं है, क्योंकि भोजन तथा पान सर्वसाधारण हैं॥ १९॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, जिस कारण से इस यज्ञ की प्रवृत्ति के अवसर पर देवताओं का आह्वान करने वाले आपको हमने वरण किया था, समृद्धिपूर्वक आपने उस यज्ञ को पूरा कराया है और यज्ञ की समृद्धि करते हुए सभी प्रकार के विघ्नों को शान्त किया है। आप ज्ञानी हैं। यह यज्ञ अब पूरा हो गया है, ऐसा जान कर आप अपने स्थान के लिये प्रस्थान कीजिये। यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो॥ २०॥

भाष्यसार—'वयं हि त्वा' यह ऋचा समष्टियजुर्होम की षष्ठ आहुति में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे स्वप्रकाश परमेश्वर! इस संसार में प्रारम्भ किये जाने वाले क्रियामय अथवा ज्ञानमय आपके आराधनरूपी यज्ञ में हमने आपका यज्ञनिष्पादक होता के रूप में वरण किया है, क्योंकि आपकी

त्वदाराधनोपपत्तेः। तस्माद् ऋधक् समृद्धं यथा स्यात्तद्यज्ञाख्यं कर्म तथा अयाः अयाक्षीः, इष्टवानसि। उतापि ऋधग् ऋध्नुवन्नेव अशमिष्ठाः सर्वविघ्नशान्तिमकार्षीः। स त्वं यज्ञं प्रजानन् यज्ञं सम्पन्नमवगच्छन् उपयाहि मामके हृदये विश्रान्तिं कुरु। कीदृशस्त्वम् ? विद्वान्, स्वकीयं परकीयं चाधिकारं कर्तव्यं च जानन्, तस्मै तुभ्यं स्वाहा।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विज्ञापक, वयं गृहाश्रमस्था हि यत इहास्मिन् संसारे प्रयति प्रयत्यते जनैर्यस्तस्मिन् प्रयत्नसाध्ये यज्ञे सम्यग् ज्ञातव्ये वा त्वा त्वां विद्वांसं होतारं यज्ञनिष्पादकमवृणीमहि स्वीकुर्वीमहि, लिङर्थे लङ्। विद्वान् वेत्ति यज्ञविद्यां क्रियां प्रजानंस्त्वमस्मानया यजेः सङ्गच्छस्व, लिङर्थे लङ्। ऋधक् समृद्धिर्यथा स्यात्तथा यज्ञं स्वाहा शास्त्रोक्तया क्रियया उपयाहि उपगतं प्राप्नुहि। उत अपि याहि, किन्त्वस्मिन् हि ऋधक् समृद्धिवर्धके, अशमिष्ठाः शमादिगुणान् गृहाण। हे अग्ने विद्वन्, वयमस्मिन् संसारे प्रयति प्रयत्नसाध्ये यज्ञे गृहाश्रमरूपे त्वां होतारं सिद्धिकारकं गृह्णीमः। विद्वान् सर्वविद्यायुक्तः प्रजानन् क्रियाणां ज्ञाता त्वम्, अया दानसत्समागमादिश्रेष्ठगुणानां सेवनं कारय। ऋधक् समृद्धिकारकं गृहाश्रमाख्यं यज्ञं स्वाहा शास्त्रोक्तक्रियया उपयाहि उतापि सम्यक् प्राप्नुहि। न केवलं प्राप्नुहि, किन्तु हि निश्चयेन अस्मिन् ऋधग् ऋद्धिसिद्धिवर्धके गृहाश्रमे शान्त्यादिगुणान् गृहीत्वा सुखी भव' इति (हिन्दीभाष्यसारः), तत्सर्वमपि निःसारम्, असम्बन्धात्। बहवो गृहस्थाः कञ्चिद् विद्वांसं होतारं गृहाश्रमयज्ञकारकं गृह्णन्ति। स च तान् दानादिश्रेष्ठगुणसेवने नियोजयति। ते च तं शास्त्रक्रियया शान्तिगुणग्रहणाय प्रेरयन्तीति केन किं श्लिष्यते ? ॥ २० ॥

देवा॑ गातुविदो॒ गा॒तुं वि॒त्त्वा गा॒तुमि॑त। मन॑सस्पत इ॒मं दे॑व य॒ज्ञꣳ स्वाहा॒ वाते॑ धाः ॥ २१ ॥

कृपा से ही आपकी आराधना सम्भव हो सकती है। अतः यज्ञकर्म जिस प्रकार समृद्ध हो, उस प्रकार यजन किया है। समृद्ध करते हुए ही समस्त विघ्नों की शान्ति आपने की है। इस प्रकार आप यज्ञ की सम्पूर्णता को जानते हुए मेरे हृदय में निवास करें। स्वकीय तथा परकीय अधिकार एवं कर्तव्य का परिज्ञान करते हुए आपके लिये हम सर्वस्व समर्पित करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी भाष्यसार सभी असम्बद्ध होने के कारण निस्तत्त्व हैं। 'बहुत से गृहस्थ किसी विद्वान् गृहाश्रमयज्ञ कराने वाले होता का ग्रहण करते हैं तथा वह उनको दानादि श्रेष्ठ गुणों के सेवन में नियुक्त करता है। वे उसको शास्त्रक्रिया के द्वारा शान्तिगुणग्रहण के लिये प्रेरित करते हैं' इत्यादि कथन के द्वारा किससे क्या सम्बद्ध होता है ? ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे यज्ञवेत्ता देवताओं, हमारा यह यज्ञ आरम्भ हो गया है, यह जान कर आप सब लोग इस यज्ञ में पधारें। हमारे यज्ञ से संतुष्ट होकर पुनः अपने-अपने स्थानों पर जावें। हे मन के अधिपति चन्द्ररूप परमेश्वर, मैं इस अधिष्ठित यज्ञ को आपके अधीन कर रहा हूँ। आप इसे वायुरूप देवता में स्थापित कर दें ॥ २१ ॥

अथ सप्तमः। वातदेवत्या विराट्, मनसस्पतिदृष्टा। (२।२१) इत्यत्र व्याख्याता। 'गीयते नानाविधैर्लौकिकैर्वैदिकैश्च शब्दैः प्रतिपाद्यत इति गातुर्यज्ञस्तं विदन्ति जानन्तीति गातुविदो देवाः, गातुं वित्त्वा अस्मदीयोऽयं यज्ञः प्रवृत्त इति ज्ञात्वा गातुमित यज्ञं गच्छत। एतेर्धातोर्गत्यर्थस्य ज्ञानार्थत्वम्। यज्ञं समाप्तं विदित्वा गातुमित, गायते गम्यते यत्र स गातुर्मार्गः, तं गच्छत यज्ञं समाप्तं ज्ञात्वा यज्ञेन तुष्टाः स्वकीयं मार्गं गच्छत। एवं देवानुक्त्वा प्रजापतिमाह—हे मनसस्पते मनसो यष्ट्रं प्रेरणेन पालक परमेश्वर हे देव, इममनुष्ठितं यज्ञं स्वाहा त्वद्धस्ते समर्पयामि, त्वं च वाते धा वायुरूपे देवे यज्ञं धेहि' इति सायणसम्मतं व्याख्यानम्।

शतपथे च—'देवा गातु''' गातुं वित्त्वेति यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह गातुमितेति तदेतेन यथायथं व्यवसृजति मनसस्पत इमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धा इत्ययं वै यज्ञो योऽयं पवते तदिमं यज्ञꣳ संभृत्यैतस्मिन् यज्ञे प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञꣳ सन्दधाति तस्मादाह स्वाहा वाते धा इति' (श० ४।४।४।१३)। गातुं वित्त्वा यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह मन्त्रभागः, तदेतेन यथायथं विसृजति मनसस्पत इति। अयं वै यज्ञो योऽयं पवते तदिमं यज्ञं संभृत्यैतस्मिन् यज्ञे प्रतिष्ठापयति यज्ञेन यज्ञं सन्दधाति तस्मादाह वाते धाः।

अध्यात्मपक्षे—गातुः परमात्मा, वेदशास्त्रैर्महातात्पर्येण तस्यैव गीयमानत्वात्, 'वै गै रै शब्दे' इति पाणिनिस्मरणात्। हे गातुविदः परमात्मविदो देवा ब्रह्मवर्चसिनः, प्रत्यक्चैतन्याभेदेन तं वित्त्वा विदित्वा गातुं परमात्मानं सर्वोपाधिपरित्यागेन इत गच्छत तत्स्वरूपं तादात्म्यं प्राप्नुत। हे मनसस्पते! मनसो धर्म-ब्रह्म-ज्ञानानुष्ठाननिष्ठादिषु प्रवर्तकत्वेन पालक, देव द्योतमान, इममनुष्ठितं कर्ममयं ज्ञानमयं च यज्ञं स्वाहा त्वय्येव दधामि। त्वं च वाते हिरण्यगर्भरूपे स्वकीये समष्टिज्ञानरूपे धेहि स्थापय, फलानपवर्गिणीषु कालान्तरफलासु क्रियासु स्वामिनां मनस्सु संस्काराधायकत्वेनैव फलवत्त्वसम्भवात्, भृत्यसेवादिवत्।

दयानन्दस्तु—'हे गातुविदो देवाः सत्यस्तावका गृहस्थाः, गातुविदः स्वस्वगुणकर्मस्वभावेन गातुं पृथिवीं विदन्तो भूगर्भविद्यान्वितं भूगोलं वित्त्वा विज्ञाय गातुं पृथिवीराज्यादिनिष्पन्नमुपकारम्, इत प्राप्नुत। मनसस्पते निगृहीतमना देव दिव्यविद्याव्युत्पन्न, सम्प्रति गृहस्थस्त्वं धर्म्यया क्रियया इमं प्राप्तं यज्ञं सर्वसुखावहं गृहाश्रमं वाते विज्ञातव्ये व्यवहारे धेहि' इति, तदपि विसङ्गतम्, 'गातुं वित्त्वा यज्ञं वित्त्वेत्येवैतदाह' (श० ४।४।४।१३) इति श्रुतिविरोधात्, गातुमितेति तदेतेन यथायथं विसृजतीति च तद्विरोधात्। 'देवाः सत्यस्तावकाः' इत्यपि

भाष्यसार—'देवा गातुविदो' यह ऋचा भी पूर्ववत् समिष्टयजुर्होम की सप्तम आहुति में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—वेदशास्त्रों के द्वारा महातात्पर्य के रूप में उसी का स्तवन होने के कारण परमात्मा ही 'गातु' है। हे परमात्मवेत्ता, ब्रह्मवर्चस्वी जन, प्रत्यक् चैतन्याभेदरूप से उसका ज्ञान करके परमात्मा को समस्त उपाधियों के परित्याग के द्वारा प्राप्त करें। उसके स्वरूप की, तादात्म्य की प्राप्ति करें। धर्म-ब्रह्मज्ञान अनुष्ठान-निष्ठादि में प्रवर्तक होने के कारण मन के पालक हे विद्योतमान, इस कर्ममय तथा ज्ञानमय अनुष्ठित यज्ञ को आप में ही प्रतिष्ठित करता हूँ। आप हिरण्यगर्भरूपी अपने समष्टिज्ञानरूप में इसे स्थापित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ शतपथ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण विसंगत है। 'देव' का सत्यस्तावक यह अर्थ कैसे हो सकता है? दिव् धातु के स्तुत्यर्थक होने पर भी सत्यस्तावक अर्थ कैसे होगा? यज्ञ शब्द का अर्थ

निर्मूलम्, दीव्यतेः स्तुत्यर्थत्वेऽपि सत्यस्तावकत्वमित्यर्थः कुतः ? गुरोः परमेश्वरस्यापि स्तुतिसम्भवात्। एवं गातुपदस्य निघण्टुरीत्या पृथिव्यर्थकत्वेऽपि गुणकर्मस्वभावेन पृथिवीं विदन्तो भूगर्भविद्यान्वितभूगोलं पृथिवी-राज्यनिष्पन्नमुपचारमित्यादिकं व्याख्यानमपि निर्मूलमेव, अपदार्थत्वात्। यज्ञपदस्य सर्वसुखावहो गृहाश्रमो-ऽर्थोऽपि निर्मूलः, सभादावपि सङ्गतिकरणस्य सम्भवात्। किञ्च, श्रौतसूत्रं श्रुतिसम्बद्ध आर्षग्रन्थः। तत्र कृतां यज्ञपरिभाषामुपेक्ष्यार्थान्तरलापनमपि विरुद्धमेव ॥ २१ ॥

यज्ञ॑ य॒ज्ञं ग॑च्छ य॒ज्ञप॑तिं गच्छ॒ स्वां योनिं॑ गच्छ॒ स्वाहा॑। ए॒ष ते॑ य॒ज्ञो य॑ज्ञपते स॒हसू॑क्त-वाकः॒ सर्व॑वीर॒स्तं जु॑षस्व॒ स्वाहा॑ ॥ २२ ॥

अष्टमः। यज्ञदैवतं यजुः। यज्ञं विसृजति—हे यज्ञ, त्वं यज्ञं विष्णुं गच्छ स्वप्रतिष्ठार्थं फलप्रदानार्थं वा। संस्कारात्मना यज्ञपतिं यजमानं गच्छ। स्वनिष्पत्त्यर्थं स्वां योनिं स्वकारणभूतां वायोः क्रियाशक्तिं गच्छ। यद्वा द्रव्यं देवता च यज्ञस्य योनिः, तां गच्छ, नहि त्वत्तोऽन्यदस्ति, सर्वात्मत्वात्। स्वाहा तुभ्यं सुहुतमस्तु। अथास्यामेव कण्डिकायां नवमः समिष्टयजुःसंज्ञको मन्त्रो यज्ञपतिदैवतः। हे यज्ञपते यजमान, एषोऽनुष्ठीयमानस्ते त्वदीयो यज्ञः, सूक्तवाकैः स्तोत्रैः सहितः, तथा सर्ववीरः सर्वे वीराः सवनीयचरुपुरोडाशा यस्मिन् स सोमः। ईदृशो यो यज्ञस्तं जुषस्व फलभोगेन सेवस्व। स्वाहा सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'यज्ञ यज्ञं गच्छ।····स्वाहेति तत्प्रतिष्ठितमेवैतद्यज्ञꣳ सन्तꣳ····सहसूक्तवाकꣳ सर्ववीरं यजमानेऽन्ततः प्रतिष्ठापयति' (श० ४।४।४।१४)। साङ्गोपाङ्गस्य यज्ञस्य यजमाने प्रतिष्ठापनम्। तस्यैव प्रयोक्तृत्वेन फलभागित्वम्।

अध्यात्मपक्षे—हे यज्ञ ज्योतिष्टोमादिलक्षण, भगवद्ध्यानादिलक्षण वा, त्वं यज्ञं विष्णुं परमात्मानं गच्छ, मया समर्पितस्तदधीनो भव। कीदृशम् ? यज्ञपतिं यज्ञानां पालकम्, यज्ञैस्तस्यैव समर्हणीयत्वेन तत्रैव

'सर्वसुखावह गृहाश्रम' करना निर्मूल है, क्योंकि संगतिकरण तो सभा आदि में भी सम्भव है। श्रौतसूत्र श्रुति से सम्बद्ध आर्ष ग्रन्थ है। उसमें निर्दिष्ट परिभाषा की उपेक्षा करते हुए अन्य अर्थ की कल्पना करना मर्यादा से विरुद्ध ही है ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—**हे यज्ञ! अपनी प्रतिष्ठा के निमित्त भगवान् विष्णु के पास जाओ और यजमान को यज्ञफल प्रदान करो, अपने कारणभूत वायु की क्रियाशक्ति को प्राप्त करो। यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो। हे यजमान, हमारे द्वारा अनुष्ठित यह यज्ञ तुम्हारा ही है। यह यज्ञ ऋग्वेद के सूक्त और सामवेदीय वाक्यों से युक्त है, सोमसवन, चरु, पुरोडाश आदि से पूर्ण है। इस यज्ञ के फल का आप सेवन कीजिये। यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो ॥ २२ ॥**

भाष्यसार—'यज्ञ यज्ञम्' यह मन्त्र समिष्टयजुर्होम की अष्टम आहुति के प्रदान में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—ज्योतिष्टोमादिरूपी अथवा भगवद्ध्यानादिरूपी हे यज्ञ, तुम विष्णु परमात्मा के प्रति गमन करो, मेरे द्वारा समर्पित होकर उनके अधीन होओ। यज्ञों के पालक तथा यज्ञों के द्वारा उसी के

समर्पणीयत्वात्। स्वां स्वकीयां योनिं प्रकृतिं गच्छ। द्रव्यं देवता च यज्ञस्य प्रकृतिः। तदपि परमात्मरूपम्, तत्प्रकृतिकत्वात्। हे यज्ञपते परमेश्वर, एष ते त्वदीयो यज्ञः सहसूक्तवाकः, तत्समवेतसूक्तवाकैः स्तोत्रैः सहितः। सर्ववीरः सर्वे वीरा यस्मिन् सः, अर्थात् सर्ववीर्यप्रापकशक्तियुतस्त्वदर्थमनुष्ठितस्तं जुषस्व सेवस्व।

दयानन्दस्तु –'हे यज्ञ, त्वं स्वाहा यज्ञं गच्छ, तद्रीत्या यो यजति सङ्गच्छते स यज्ञो गृहस्थः' इति, तच्च नातीव मनोज्ञम्, तथात्वे गृहस्थस्य यज्ञपर्यायवाचित्वापत्तेः, एवं च मनुष्याः सभासु, पशवो वने गोष्ठे च सङ्गच्छन्त इति तेष्वपि यज्ञपदप्रयोगापत्तेः। 'यज्ञं विद्वत्सत्काराख्यं गृहाश्रमधर्मं गच्छ प्राप्नुहि' इत्यपि निर्मूलमेव, देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागस्य यज्ञपदार्थत्वात्। 'यज्ञपतिं गच्छ सङ्गम्यानां गृहाश्रमिणां पतिं पालकं राजानं गच्छ' इत्यादिकं त्वत्यन्तनिर्मूलम्, अगृहाश्रमिणामपि राज्ञः पालकत्वाविशेषात्। 'स्वां स्वकीयां योनिं प्रकृतिं स्वात्मस्वभावं गच्छ' इत्यपि न सङ्गतम्, स्वात्मस्वभावस्य नित्यप्राप्तत्वात्, अन्यथा स्वभावत्वव्याहतेः। 'हे यज्ञपते राजधर्माग्निहोत्रपालक, ते तव य एष सहसूक्तवाक ऋग्यजुरादिलक्षणैः सूक्तैर्वाकैः सह वर्तमानः, सर्वे वीराः शरीरात्मबलसुभूषिताः सर्वे वीरा यस्मात् स सर्ववीरो यज्ञः, सम्पूजनीयः प्रजारक्षणनिमित्तो विचारप्रचारार्थो गृहाश्रमोऽस्ति, तं सत्यन्यायप्रकाशितया वाचा जुषस्व सेवस्व' इति, एवमेव हिन्द्यां तु 'सूक्तैरनुवाकैश्च कथितः सर्ववीरः, यत आत्मशरीरसम्बन्धिभिः पूर्णबलैः सम्पन्ना वीरा लभ्यन्ते, तादृशः प्रशंसनीयः प्रजारक्षको विद्याप्रचाराख्यो यज्ञोऽस्ति तं जुषस्व' इति, तदुभयमप्यसम्बद्धमेव, प्रमाणोपन्यासाभावात्। सर्ववीरा विद्याप्रचारेण कथं लभ्यन्ते ? कथं च विद्याप्रचारो यज्ञः ? प्रचारः कथं प्रजारक्षकः ? इत्येतत्सर्वमपि प्रमाणसापेक्षमेव। प्रचारेणैव तत्सिद्धौ तदर्थं महता द्रव्यव्ययेन सैनिकानां रक्षिसमूहस्य च सङ्कलनायासस्य वैयर्थ्यापातात्। न च सूक्तैरनुवाकैः स एव यज्ञः प्रतिपाद्यमानो दृश्यते, तैर्दर्शपूर्णमासचातुर्मास्यसोमादियज्ञानामेव प्रतिपादनात्॥ २२॥

माऽहिर्भूर्मा पृदाकुः। उरुꣳ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ। अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित्। नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः॥ २३॥

अर्चनीय होने के कारण वही समर्पणयोग्य है। अपनी प्रकृति को प्राप्त करो। द्रव्य तथा देवता ही यज्ञ की प्रकृति है। वह भी परमात्मरूप है, क्योंकि उसकी प्रकृति परमात्मा ही है। हे यज्ञपति परमेश्वर, आपका यह यज्ञ सूक्तवाकों, उनसे समन्वित स्तोत्रों से युक्त, समस्त वीर्यप्रापक शक्तिसहित आपके लिये अनुष्ठित है। इसका सेवन करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ उचित नहीं है। गृहस्थ का भी यज्ञ का पर्यायवाचित्व इसके अनुसार प्राप्त हो जायगा। तथा सभाओं में मनुष्य एवं वन, गोष्ठ आदि में पशु भी संगत होते हैं, अतः उनमें भी यज्ञ शब्द का प्रयोग आपतित हो जायगा। 'स्वात्मस्वभाव के प्रति जाओ' यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि स्वात्मस्वभाव तो नित्यप्राप्त है। ऐसा न होने पर उसका स्वभावत्व ही नष्ट हो जायगा। संस्कृत तथा हिन्दी के अन्य व्याख्यार्थ भी प्रमाण के अभाव के कारण असम्बद्ध ही हैं। प्रचार किस प्रकार प्रजा का रक्षक है ? यह सब प्रमाणसापेक्ष है। प्रचारमात्र से यह सम्पन्न हो जाय, तो उसके लिये बहुत द्रव्य के व्यय से सैनिक आदि एकत्रित करने का प्रयास व्यर्थ हो जायगा॥ २२॥

मन्त्रार्थ—हे मेखला रज्जु, तुम जल में भीग कर सर्पाकार मत बनना। हे कृष्ण विषाण, तुम अजगर के जैसे मत बनना। वरुण राजा ने सूर्य को प्रतिदिन गति देने के लिये आकाश में विस्तीर्ण मार्ग को बता कर चरण-

'कृष्णविषाणमेखले चात्वाले प्रास्यति माऽहिर्भूरिति' (का० श्रौ० १०।८।१५)। कृष्णकुरङ्गशृङ्गं यजमानहस्तस्थं मध्ये बद्ध्वा शरमयी मेखला चेत्युभे विस्रस्य चात्वाले क्षिपेत्, माऽहिर्भूरिति मन्त्रेण। रज्जुदेवत्यं यजुः। हे मेखलारज्जो, त्वम् अहिः सर्पो मा भूर्मा भूयाः। हे विष्णो, त्वं पृदाकुरजगरः स्थूलदीर्घकायः सर्पविशेषश्च मा भूर्मा भूयाः। 'उरुᳪ हीति वाचयति' (का० श्रौ० १०।८।१७)। अवभृथस्नानाय जिगमिषुरध्वर्युश्चात्वालसमीपस्थं प्राङ्मुखं यजमानं वाचयति। वरुणदेवत्या त्रिष्टुप् शुनःशेपदृष्टा। उशब्दोऽवधारणे। वरुण एव राजा, सूर्याय सूर्यस्य, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, अन्वेतवै अनुक्रमेणान्वहं गन्तुम्, अपदे निरालम्बेऽन्तरिक्षे, उरुं विस्तीर्णं पन्थां पन्थानं हि यस्माच्चकार, तस्मादस्माकमपि पादा प्रतिधातवे पादौ प्रक्षेप्तुं मार्गम् अकः करोतु। करोतेरदादित्वेन लङि शपो लुक्, अडभावश्च। पादा इति विभक्तेराकारः। उत् अपि च, यः शत्रुरपवक्ता निन्दकः, यश्च हृदयाविधो हृदयं विध्यतीति हृदयाविधः, हृदयोपलक्षितसर्वशरीरतापकः, चित् सोऽपि, प्रतिबन्धमकृत्वा मार्गं करोत्वित्यर्थः। अन्वेतवै प्रतिधातवै इत्यनुपूर्वादिणः प्रतिपूर्वाद्धधातेश्च 'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्' (पा० सू० ३।४।९) इत्यादिना क्रमात् तवै-तवे-प्रत्ययौ।

यद्वा—एकं तावदुरुं विस्तीर्णं हि वरुणो राजा चकार कृतवान्। किमिति चेत्? सूर्याय सूर्यस्य पन्थानम्। किमर्थम्? अन्वेतवा उ अन्वहमागमनाय। वरुणोऽत्र परमात्मैव ग्राह्यः, 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्' (ऋ० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। स एव सूर्यस्यान्वहं गमनाय मार्गं करोति, अन्तरिक्षनिर्माणेऽन्यस्यासामर्थ्यात्। अपरम् अपरे पादा प्रतिधातवेऽकः, यत्र पदं दत्तं प्रतिमुद्रान्यायेन नोपलक्ष्यते, तस्मिन्नपदेऽन्तरिक्षलोके पादा पादानाम्, षष्ठीबहुवचनस्थाने आकारः, प्रतिधातवे प्रतिनिधानाय पन्थानम् अकः कृतवान्, आलम्बनमिति शेषः। स्वर्गगमनाय मार्गं करोत्वित्यर्थः। उत हृदयाविधश्चित्, उत अपि च अपवक्ता अपवदिता आक्षेप्ता हृदयाविधश्चित् हृदयं यो विध्यति मर्मघातिभिर्वचनैः स पिशुनस्तस्याप्यपवदिता किमुतान्येषामयुक्तकारिणां स इत्थंभूतो वरुणः सोऽवभृथाय तीर्थं ददात्विति शेषः। हृदयं विध्यतीति हृदयावित्। 'नहिवृतिवृषि' (पा० सू० ६।३।११६) इत्यादिना क्विबन्ते व्यधौ परे हृदस्य दीर्घः। तस्य हृदयाविधोऽपवदिता पापतिरस्कर्ता।

यद्वा अपदे पादरहितेऽपि यजमाने प्रतिक्रमणे योऽलं स्यात्तादृशं पन्थानं वरुणः करोति। तथा यो वरुणो हृदयाविधः परकीयमर्मभिदः पिशुनस्यापि अपवक्ता तादृशपातकस्याप्याक्षेप्ता बाधकः, किमुतान्येषां पापानां बाधकः, ब्राह्मणेनैव तथा व्याख्याततत्वात्। 'नमो वरुणायेति वाचयत्यपोऽवक्रमयन्निति' (का० श्रौ० १०।८।२३)। अवभृथस्नानार्थमपः प्रवेशयन् यजमानं वाचयेद् वरुणस्य पाशोऽधिष्ठित आक्रान्तो बन्धनाक्षमः, तस्मै वरुणाय नमस्कारोऽस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'स वा अवभृथमभ्यवैति। तद्यदवभृथमभ्यैति यो वा अस्य रसोऽभूदाहुतिभ्यो वा अस्य तमजीजनदथैतच्छरीरं तस्मिन्न रसोऽस्ति तन्न परास्यंस्तदपोऽभ्यवहरन्ति रसो वा आपस्तदस्मिन्नेतᳪ रसं दधाति तदेनमेतेन रसेन सङ्गमयति तदेनमतो जनयति स एनं जात एव संजनयति तद्यदपोऽभ्यवहरन्ति तस्मादवभृथः' (श० ४।४।५।१)। अवभृथं कर्तुमभ्यवैति अप्स्ववतरति। तत्र ऋजीषस्याभ्यवहरणम्। यो वै अस्य सोमस्य रसोऽभूत् तमस्य सोमाहुत्यर्थं जनितवानध्वर्युरभिषवादिभिः। अथैतच्छरीरम् ऋजीषं

निक्षेप का मार्ग निश्चित कर दिया है। वरुण देवता हृदय की पीड़ा को देने वाले तथा निन्दक व्यक्ति का तिरस्कार करने वाले हैं। वरुण देवता के पाश अब हमें नहीं बाधेंगे। वरुण देवता को हम प्रणाम करते हैं॥ २३॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।१५, १७, २३) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'माऽहिर्भूः' इस

(भस्म) वर्तते। तस्मिन्न रसोऽस्ति। तथापि तद्देवा न परास्यन् न बहिः क्षिप्तवन्तः, तदृजीषमपोऽभ्यवहरन्ति। रसो वा आपः। तदस्मिन्नेतं रसं दधाति। तदेतेन रसेन सोमं सङ्क्रमयति यजमानः। तच्च एनं सोमवत् ततोऽद्भ्योऽनुनयति। स च सोमो जातः सन्नेनं यजमानं जनयति। तद्यदपोऽभ्यवहरन्ति तस्मिन्नवभृथयागे यस्मादपोऽभ्यवहरन्ति, तस्मादवभृथो नाम। अवपूर्वाद् हरतेस्थन् प्रत्ययः। हकारस्य भकारः। 'अथ समिष्ट-यजूꣳषि जुहोति। समिष्टयजूꣳषि ह्येवान्तो यज्ञस्य स हुत्वैव समिष्टयजूꣳषि यदेतमभितो भवति तेन चात्वालमुपसमायन्ति स कृष्णविषाणां च मेखलां च चात्वाले प्रास्यति' (श० ४।४।५।२)। समिष्टयजूंषि जुहोतीति क्रमार्थं पुनर्वचनम्। स हुत्वैव समिष्टयजूंषि बर्हिर्होममकृत्वा यत्किञ्चिदेव तं सोममभित उपकरणं भवति चमसादिकम्, तेन सह चात्वालमुपगच्छति। अध्वर्य्वादयः सकृष्णविषाणां च मेखलां च चात्वाले प्रास्यन्ति माऽहिर्भूर्मा पृदाकुरिति।

'असौ वा ऋजीषस्य स्वगाकारो यदेनमपोऽभ्यवहरन्त्यथैष एवैतस्य स्वगाकारो रज्जुरिव हि सर्पाः कूपा इव हि सर्पाणामापतनान्यस्ति वै मनुष्याणां सर्पाणां च विभ्रातृव्यमिव नेत्तदतः संभवदिति तस्मादाह माऽहिर्भूर्मा पृदाकुरिति' (श० ४।४।५।३)। स्वगाकारः स्वस्थाननयनम् ऋजीषस्याप्स्वभ्यवहरणम्। तदाह—असौ वा ऋजीषस्य स्वगाकारो यदेनमपोऽभ्यवहरन्तीति। अथ एतस्य कृष्णविषाणमेखलाद्वयस्य स्वगाकारः स्वस्थानोपनयनम्, यद्वा चात्वाले प्रासनम्। रज्जुरिव हि सर्पाः, कूपा इव हि सर्पाणामायतानि। मेखलारूपा रज्जुः कृष्णविषाणा चैतद्द्वयं सर्पाणां रूपम्। कूपाश्च सर्पाणामायतनानि। चात्वालश्च कूप इव भवति। तस्मात्तयोश्चात्वाले प्रासनम्। तयोः स्वस्थानोपनयनरूपः स्वगाकारः। अस्ति च मनुष्याणां सर्पाणां च विभ्रातृव्यमिव विरुद्धभ्रातृव्यभावः। ततश्च सर्परूपा मेखला कृष्णविषाणारूपा रज्जुर्यदि स्थाने क्रियते, तेन च मे माऽहिर्भूरित्येवमहिभावः प्रतिषिद्ध्यते। तेषु सम्बन्धिषु विभ्रातृव्यं सम्भवेत्, तच्चायुक्तम्। तन्न भवेदित्येवार्थं माऽहिर्भूरित्याह मन्त्रः। तत्र मेखलारज्ज्वां सर्पबुद्धिः, कृष्णविषाणायाः स्थूलत्वात् तत्र पृदाकु(अजगर)-बुद्धिः सम्भाव्यते।

'अथ वाचयति। उरुꣳ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ इति यथाऽयमुरुरभयोऽनाष्ट्रः सूर्याय पन्था एवं मेऽयमुरुरभयोऽनाष्ट्रः पन्था अस्त्वित्येवैतदाह' (श० ४।४।५।४)। वरुणो राजा सूर्याय सूर्यस्यान्वेतवेऽन्वहं गमनाय उरुं विस्तीर्णं पन्थां पन्थानं चकार। यथायं पन्था उरुर्विस्तीर्णः, अभयः अनाष्ट्रो नाशकासुरराक्षसादिरहितः, एवं मेऽयं मे स्वर्गगमनमार्ग उरुरभयोऽनाष्ट्रोऽस्त्वित्येवायं मन्त्र आह। 'अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरिति। यदि ह वा अप्यपाद् भवत्यलमेव प्रतिक्रमणाय भवत्युतापवक्ता हृदयाविधश्चिदिति तदेनꣳ सर्वस्माद्द्व्यादेनसः पाप्मनः प्रमुञ्चति' (श० ४।४।५।५)। अप्यपादिति वचनाद् यद्यप्यपादको यजमानस्तस्याप्यलं गमनाय पन्था भवति। वरुणकृतस्तु तस्य गुणो मन्त्रवाचनेनैव। यजमानोऽध्वर्युर्वाचं यच्छति। कथम्? उतापवक्ता हृदयाविधश्चिदिति। योऽप्ययुक्तवक्ताऽनृतवादी दुर्वचनैर्जनानां हृदयं विध्यति, तस्य पिशुनस्यापि पादप्रतिधान एव वरुणो योग्यं पन्थानं करोत्विति तस्य हृद्ये हृदयस्थस्यान्तःकरणस्य सर्वस्मिन्नेनस्यपनीते पथः प्रतिक्रमणो योऽथ पापकारी सोऽप्यलं स्यात्। तेनेदृशं पन्थानं वरुणः करोत्विति वचनेनैव सा वाग् मुञ्चति मोचयत्येनस इति। 'तमपोऽवक्रमयन् वाचयति। नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाश इति तदेनꣳ सर्वस्माद्वरुणपाशात् सर्वस्मात् वारुण्यात् प्रमुञ्चति' (श० ४।४।५।११)। अभिष्ठितोऽवभृथः। स वरुणस्य पाशानां च बन्धनायेत्यर्थः।

कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग कृष्णमृग के श्रृंग तथा मेखला के चात्वाल में प्रक्षेप एवं यजमान द्वारा मन्त्रवाचन में किया गया है। शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, त्वमहिः सर्प इव दीर्घमन्युर्मा भूयाः। पृदाकुर् अजगरः सर्वभक्षकोऽलसश्च मा भूयाः। वरुणः परमात्मा राजा राजमानः स्वप्रकाशः सूर्याय सूर्यस्यान्वहं गन्तुं हि यस्माद् अपदे निरालम्बेऽन्तरिक्षे उरुं विस्तीर्णं पन्थानं चकार, तस्माद्युष्माकं मार्गम् अकः करोतु। यद्वा अपदेऽदृश्येऽप्राप्ये निरालम्बने वा ब्रह्मणि पादौ निःक्षेप्तुं प्रवेष्टुं मार्गं करोतु। किञ्च, यो वरुणः परमेश्वरो ध्यातो ज्ञातश्च सन् हृदयाविधः परकीयमर्मभिदोऽपि पापं तिरस्करोति, किमुतान्येषां पापकारिणाम्, ईदृशो वरुणः पादौ प्रतिधातवे स्वस्मिन् प्रवेशाय मार्गं ददातु।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, त्वं वरुणाय प्रशस्तैश्वर्याय उरुं बहुगुणान्वितं न्यायं कुर्वन् अन्वेतवै अनुक्रमेण गन्तुं अपदे चौरादिनिष्पादितेऽप्रसिद्धे व्यवहारे पादा चरणौ प्रतिधातवे प्रतिधर्तुम् अकः कुरु। सूर्याय चराचरात्मेश्वरप्रकाशाय पन्थां न्यायमार्गं यथा, उ वितर्के, वरुणो वरः श्रेष्ठो राजा प्रशस्तगुणस्वभावैः प्रकाशमानश्चकार कुर्यात्, लिङर्थे लिट् पुरुषव्यत्ययश्च, तथा कुरु। उतापि अपवक्ता मिथ्यावादी हृदयाविधो यो हृदयमाविध्यति स चिद् इव मा न पृदाकुः कुत्सितवाक्, मा न अहिः सर्पवत् क्रुद्धो विषधरो भूः भवेः। यथा वरुणस्य वीरगुणोपेतस्य तव अभिष्ठितो जाज्वल्यमानो नभो वज्रं पाशो बन्धनं च प्रकाशेत, तथा सततं प्रयतस्व' इति, तदपि न मनोज्ञम्, शतपथव्याख्यानविरुद्धत्वात्, मन्त्रपदानां तेष्वर्थेष्वशक्तत्वाच्च। तथाहि—सूर्यायेत्यस्य चराचरात्मेश्वरप्रकाशायेत्यर्थे न किमपि मूलम्। सूर्यपदस्य प्रकाशमात्रपरत्वेऽपि चराचराद्याक्षेपस्य कामभाषित्वमेव पर्यवस्यति। तथैव वरुणपदेनापि यथेष्टार्थग्रहणम्। 'अपदे' 'राजा' इत्यादीनामपि स्वैरमेव व्याख्यानम्॥ २३॥

अ॒ग्नेरनी॑कम॒प आवि॑वेशा॒पान्नपा॑त् प्रति॒रक्ष॑न्नसु॒र्य॑म्। दमे॑दमे स॒मिधं॑ यक्ष्यग्ने॒ प्रति॑ ते जि॒ह्वा घृ॒तमुच्च॑रण्यत् स्वाहा॑॥ २४॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—हे साधक, तुम सर्प की भाँति अतिक्रोधवान् मत बनो, अजगर की भाँति सर्वभक्षी तथा आलसी मत बनो। स्वप्रकाश परमात्मा ने सूर्य के प्रतिदिन गमन के लिये निरालम्ब अन्तरिक्ष में विस्तीर्ण मार्ग का निर्माण किया है। अतः तुम्हारा भी मार्ग सम्पादित करें, अथवा अदृश्य, अप्राप्य अथवा निरालम्बन ब्रह्म में प्रवेश के लिये मार्ग निर्मित करें। परमेश्वर ध्यात तथा सुविज्ञात होकर दूसरों के मर्मभेदन करने वाले का भी पाप हटा देते हैं, अन्य पापियों की तो बात ही क्या है। ऐसे परमेश्वर स्वयं में प्रवेश के लिये मार्ग प्रदान करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या शतपथ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण तथा मन्त्रगत पदों की तदुक्त अर्थों में शक्ति न होने के कारण अग्राह्य है। उदाहरणार्थ—सूर्य का अर्थ 'चराचरात्मेश्वरप्रकाश' करने में कोई प्रमाण नहीं है। सूर्य शब्द का अर्थ 'प्रकाशक' होने पर भी चराचर आदि विशेषणों को आक्षिप्त करना स्वेच्छाभाषण ही है। इसी प्रकार 'वरुण' पद का तथा 'अपदे' 'राजा' आदि शब्दों का भी अर्थ स्वेच्छाचारपूर्ण ही है॥ २३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम्हारा अपान्नपात् नामक मुख गतिशील है, उसे जल में प्रवेश कराओ। उस उस यज्ञस्थान में असुरकृत यज्ञीय विघ्नों से रक्षा करते हुए समिधा के साधन घृत से संगति करो। हे अग्ने, तुम्हारी ज्वाला घृत के प्रति उद्यत हो, यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो॥ २४॥

'प्रास्य समिधं चतुर्गृहीतेनाभिजुहोत्यग्नेरनीकमिति' (का० श्रौ० १०।८।२४)। अप्सु समिधं प्रक्षिप्य चतुर्गृहीतेनाज्येन तदुपरि जुहुयात्। अग्निदेवत्या त्रिष्टुप्। अग्नेरनीकमिति परोक्षलिङ्गम्, दमे दमे समिधं यक्ष्यग्ने इति प्रत्यक्षलिङ्गमेकस्मिन् वाक्ये न सङ्गतम्, अतो यच्छब्दाध्याहारेण व्याख्येयम्। यस्य तवाग्नेरङ्गनशीलस्य अग्रे नयनशीलस्य वा सतोऽपान्नपात्संज्ञकमनीकं मुखमयमुदकमाविवेश प्रविवेश। यद्वा हे अपान्नपात्, तन्नामकाग्ने, स त्वं दमे दमे तत्तद्यज्ञगृहे। अश्वमेधविषया वीप्सा। तत्र हि नानावभृथान्यहानि भवन्ति। असुर्यम् असुराणां स्वभूतं मायादिकमसुरैः कृतं यज्ञविघ्नं वा, प्रतिरक्षन् निवर्तयन् सन् समिधं यक्षि यज, संगतां कुरु, आत्मसात्कुरु। यद्वा समिधं समिन्धनसाधनं घृतं यक्षि यज संगतं कुरु। यजतिरत्र संगतिकरणार्थः। शपो लुकि लटि रूपम्। ततोऽनन्तरं ते जिह्वा ज्वाला घृतं प्रति, उच्चरण्यद् उच्चरतु, समिधः सकाशाद् उद्युक्तास्तु, यद्वा उद्युक्ताः सन्तु स्वाहा सुहुतमस्तु। उत्पूर्वाच्चरतेर्लोडर्थे ण्यत्प्रत्यय औणादिकः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा। समिधं प्रास्याभिजुहोत्यग्नेरनीकमप आविवेशापान्नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यं दमे दमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहेति' (श० ४।४।५।१२)। अवतरणानन्तरमेवाज्यग्रहणम्। 'अग्नेर्ह वै देवाः। यावद्वा यावद्वाप्सु प्रवेशयाञ्चक्रुर्नेदतो नाष्ट्रा रक्षाꣳस्युपोत्तिष्ठानित्यग्निर्हि रक्षसामपहन्ता तमेतया च समिधैतया चाहुत्या समिन्धे, समिद्धे देवेभ्यो जुहवामीति' (श० ४।४।५।१३)। समिधं प्रास्य तामेवैतेन चतुर्गृहीतेनापि जुहोति। कुतः ? एतयाऽप्स्वग्निर्देवैः प्रवेशितः, तमेतया च समिधैतया चाहुत्या समिन्धे इति मन्त्रवाक्यशेषाभ्याम्।

अध्यात्मपक्षे हे अग्ने परमात्मन्, यस्य तवाग्नेः परमात्मनोऽनीकं सैन्यमिव अपः, अबुपलक्षितान् कर्मफलभूतान् लोकान् आविवेश आभिमुख्येन प्रविष्टवान्, हे अपान्नपात्, अपां लोकानां न पतनं यस्मात् सोऽपान्नपात्, परमात्मनो धारणशक्त्यैव लोकानां स्थितेः। 'येन द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः', 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (ऋ० १०।१२१।५) इति च श्रुतेः। स त्वं हे अग्ने, दमे दमे जनानां हृदयमेव त्वदीयं गृहम्, तस्मिन् प्रतिहृदयम् प्रत्यन्तःकरणमिति यावत्, तिष्ठन् असुर्यमसुराणां स्वभूतमज्ञानं तज्जन्यं मोहमदादिकं प्रतिरक्षन् निवर्तयन् समिधं ज्ञानवैराग्योद्दीपनसाधनं श्रवणमननादिकं यक्षि संगतं कुरु, त्वत्कृपयैव निर्विघ्नश्रवणाद्युपपत्तेः। ते तव जिह्वा रसग्राहकं सरसं मम इन्द्रियं घृतं प्रति घृतगन्धिसमुत्कृष्टं स्नेहं प्रति उच्चरण्यद् उद् ऊर्ध्वं चरण्यत् सव्यापारं भवतु।

भाष्यसार—'अग्नेरनीकम्' यह ऋचा जल में समिधा का प्रक्षेप करने के अनन्तर उस पर चतुर्गृहीत घृत की आहुति प्रदान करने हेतु विनियुक्त है। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।८।२४) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमात्मन्, आप परमात्मा की सेना की भाँति जो जलादि कर्मफलभूत लोकों में प्रविष्ट है, जिससे लोकों का पतन नहीं होता, अतः वह अपान्नपात् है, क्योंकि परमात्मा की धारणशक्ति के द्वारा ही लोकों की स्थिति है। ऐसे आप हे अग्निपरमात्मन्, प्राणियों का हृदय ही आपका आवास है। उस प्रत्येक गृह, प्रत्येक अन्तःकरण में रहते हुए असुरों के स्वभूत अज्ञान तथा उससे उत्पन्न मोह-मद आदि को निवृत्त करते हुए, ज्ञान-वैराग्य आदि उद्दीपनसाधन श्रवण-मनन आदि को संगत करें। आपकी कृपा से ही निर्विघ्न श्रवण आदि उपपन्न होते हैं। आपकी कृपा से मेरी जिह्वा रस, मेरी इन्द्रिय घृतगन्धि, समुत्कृष्ट स्नेह के प्रति उन्नत क्रियाशील बने।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने गृहस्थ, त्वमग्नेः पावकस्यानीकं सैन्यमिव ज्वालासमूहम् अपो जलानि विवेश। अपान्नपाद् आप्नुवन्ति याभिस्तासामुदकानां न पान्नाधः पतनशीलः, त्वमसुर्यमसुरेषु मेघेषु प्राणक्रीडासाधनेषु भवं द्रव्यं प्रतिरक्षन् दमे दमे दाम्यन्ति जना यस्मिन् तस्मिन् समिधम्, समिध्यते प्रकाश्यते तत्त्वमनया क्रियया, तां यजसि सङ्गच्छसे, ते जिह्वा रसनेन्द्रियं घृतमाज्यम् उत् चरण्यत् चरणमिवाचरेत्' इति, हिन्द्यां तु—'हे अग्ने विज्ञानयुक्त, त्वमन्नेर्ज्वालासमूहरूपमनीकस्य प्रभावं जलानि च सम्यग् ज्ञात्वा जानीहि अपामुत्तम-व्यवहारसाधकगुणान् ज्ञात्वा नपाद् अविनाशिस्वरूप, त्वम् असुर्यं मेघेभ्यः प्राणेभ्यश्च पदार्थेभ्य उत्पन्नं सुवर्णादिद्रव्यं प्रतिरक्षन् प्रत्यक्षं रक्षन् दमे दमे गृहे गृहे समिधं यया क्रियया सम्यक् प्रयोजनं सम्पद्येत, तां यक्षि प्रचारय। ते जिह्वा रसनेन्द्रियं घृतं स्वदतु स्वाहा। सत्यव्यवहारेण देवादिसाधनसमूहाः सर्वाणि कार्याणि कुर्वन्तु' इति, तदुभयमपि न क्षोदक्षमम्, अग्निशब्दस्य गृहस्थार्थत्वे मानाभावात्। विवेशेति क्रियापदस्य जानीहीत्यपि नार्थः, धात्वर्थविरोधात्। आप्नुवन्ति याभिरिति व्युत्पत्त्याऽप्युत्तमव्यवहारसाधकगुणा इत्यर्थः कथम्? असुर्यशब्दस्य सुवर्णद्रव्यमित्यर्थोऽपि कल्पनैव, प्रतिरक्षन्नित्यस्य प्रत्यक्षं रक्षन्नित्यर्थोऽपि प्रमाणापेक्ष एव। समिधमित्यस्य यया क्रियया प्रयोजनं सिद्धयति सा क्रियेत्यर्थोऽपि मूलमपेक्षते॥ २४॥

स॒मु॒द्रे ते॒ हृद॑यम॒प्स्व॒न्तः सं त्वा॑ विश॒न्त्वोष॑धीरु॒ताप॑ः। य॒ज्ञस्य॑ त्वा यज्ञपते सू॒क्तोक्तौ॑ नमोवा॒के वि॑धेम॒ यत् स्वाहा॑॥ २५॥

'समुद्रे त इति ऋजीषकुम्भं प्लावयतीति' (का० श्रौ० १०।९।१)। गतसारः सोम ऋजीषस्तेन पूर्णं कुम्भमप्सु क्षिपेत्। यथा जलोपरि कुम्भः प्लवेत्तथा कुर्यात्। सौमी विराड् दशाक्षरचतुष्पादा। यदित्ययं निपातो हृदयशब्देन सह सम्बद्धयते, समानलिङ्गत्वात्। हे सोम, यत् ते तव हृदयं समुद्रे समुद्रसमानास्वप्सु बहुलोदके-ष्वन्तर्मध्ये तिष्ठति वर्तते वा, तत्रैव प्रतितिष्ठत्विति शेषः। तत्रस्थं त्वां ओषधीर् ओषधयः सम्यग् विशन्तु। उतापि चापो जलानि त्वां विशन्तु। हे यज्ञपते, यज्ञस्य पालक! यज्ञस्य यजनीयं त्वां सूक्तोक्तौ शोभन-वचनोच्चारणेन नमोवाके नमस्कारवचनेन च विधेम स्थापयामः। यस्मादेवं तस्मात् स्वाहा सुहुतमस्तु। यद्वा शोभनवचनोच्चारणेन नमोवाकेन नमस्कारवचनेन त्वां विधेम परिचरेम।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत तथा हिन्दी दोनों ही अर्थ अग्राह्य हैं, क्योंकि अग्निशब्द का गृहस्थ अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'विवेश' इस क्रियापद का 'जानो' यह अर्थ भी धात्वर्थ से विरुद्ध होने के कारण अनुचित है। 'असुर्यं' शब्द का 'सुवर्ण द्रव्य' अर्थ करना भी केवल कल्पना ही है। 'समित्' शब्द का अर्थ 'जिस क्रिया के द्वारा प्रयोजन सिद्ध होता है, वह क्रिया' इस प्रकार करने में भी प्रमाण की अपेक्षा है॥ २४॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम्हारा हृदय समुद्र के जल में छिपा हुआ है, मैं तुम्हें वहाँ प्रेषित करता हूँ। वहाँ निवास करते समय तुम्हारे भीतर नाना प्रकार की औषधियाँ और पवित्र जल प्रवेश करें। हे यज्ञ के पालक सोम, यज्ञ के निमित्त मंगलमय शब्दों का उच्चारण करते हुए नमस्कार वचन में हम तुमको स्थापित करते हैं। यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो॥ २५॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।९।१) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'समुद्रे ते' इस ऋचा

अत्र ब्राह्मणम्—'अन्यतरत् कृत्वा यस्मिन् कुम्भ ऋजीषं भवति तं प्रप्लावयति समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तरित्यापो वै समुद्रो रसो वा आपस्तस्मिन्नेतꣳ रसं दधाति तदेनमेतेन रसेन संगमयति तदेनमतो जनयति स एनं जात एव संजनयति सं त्वा विशन्त्वोषधीरुताप इति तदस्मिन्नुभयꣳ रसं दधाति यश्चौषधिषु यश्चाप्सु यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहेति तद्यदेव यज्ञस्य साधु तदेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० ४।४।५।२०), 'ता वा एताः। षडाहुतयो भवन्ति षड्वा ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो वरुणस्तस्मात् षडाहुतयो भवन्ति' (श० ४।४।५।१८), 'एतदादित्यानामयनम्' (श० ४।४।५।१९) इति षडाहुतिकोऽवभृथपक्षः। 'आदित्यानीमानि यजूꣳषीति वा आहुः स यावदस्य वशः स्यादेवमेव चिकीर्षेद्यद्यु एनमितरथा यजमानः कर्तवे ब्रूयादितरथो तर्हि कुर्यादितानेव चतुरः प्रयाजानपबर्हिषो यजेद् द्वावाज्यभागौ वरुणमग्नीवरुणौ द्वावनुयाजावपबर्हिषौ तद्दश दशाक्षरा वै विराड् विराड् वै यज्ञस्तद्विराजमेवैतद् यज्ञमभिसम्पादयति' (श० ४।४।५।१९), 'एतदङ्गिरसामयनम्' (श० ४।४।५।२०) इति प्रोक्तयोः षडाहुतिकदशाहुतिकपक्षयोः षडाहुतिकं वा दशाहुतिकं वाऽवभृथं कृत्वा ऋजीषकुम्भं जले प्लावयेत्।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, उमया सहितो देवः सोमस्तत्सम्बुद्धौ, यत्ते तव हृदयं सारतमं रूपं देहस्य वा समुद्रे परमानन्दसुधासिन्धौ अप्सु लोकेष्वन्तः सर्वान्तर्यामितया सर्वाधिष्ठानतया च वर्तमाने स्वस्वरूपे वर्तते, तत्र स्थितं त्वां सर्वा ओषधीरोषधयः संविशन्तु, उतापि च आपो लोकाः संविशन्तु, सर्वेषां कार्याणां परमकारणपर्यवसायित्वात्। हे यज्ञपते, यज्ञस्य फलदातृत्वेन पालक सोम, यज्ञस्य यजनीयस्य तव सूक्तोक्तौ शोभनवचनोच्चारे नमोवाके नमस्कारवचने त्वां स्थापयामः, त्वामेव स्तौमि नौमि चेत्यभिप्रायः।

दयानन्दस्तु –'हे यज्ञपते ! गृहस्थाश्रमस्य रक्षक, यथा वयं स्वाहा प्रेमोत्पादयित्र्या वाण्या यज्ञस्य गृहाश्रमानुकूलव्यवहारस्य सूक्तोक्तौ सूक्तानां वेदस्थानां प्रामाण्यस्योक्तिर्यस्मिन् गृहाश्रमे, नमोवाके वेदस्थस्य नम इत्यन्नस्य सत्कारस्य च चकारवचनानि यस्मिन् तस्मिन् समुद्रे सम्यग् द्रवीभूते व्यवहारे ते तव यद् अप्सु प्राणेषु अन्तः अन्तःकरणं विधेम निष्पादयेम, तथा तेन विदिता ओषधीर्यवाद्यास्त्वां समाविशन्तु, उतापस्तव सुखकारिकाः सन्तु' इति, हिन्द्यां तु—'सूक्तोक्तौ तस्मिन् प्रबन्धे यत्र वेदवचनप्रमाणैः शोभना वार्ताः सन्ति, वेदप्रमाणसिद्धान्तानां सत्कारादिपदार्थानां च वादानुवादरूपे आर्द्रव्यवहारे सर्वेषां प्राणेषु च ते तव हृदयस्य मनसश्च सन्तुष्टिं विधेम' इत्यादिकम्, तत्सर्वमेव निरर्थकम्, अस्पष्टत्वात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च। विरोधश्च पूर्वव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ २५ ॥

के द्वारा सोमलता के रसविहीन अंश ऋजीष (खोई) से भरे हुए कलश को जल में बहाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे उमासहित महेश्वर, आपका जो सारभूत स्वरूप है, अथवा देह के परमानन्द सुधासिन्धु में है, समस्त लोकों में सर्वान्तर्यामित्व अथवा सर्वाधिष्ठानत्व के द्वारा विद्यमान स्वस्वरूप में स्थित है, उसमें अवस्थित आपके प्रति सम्पूर्ण ओषधियाँ निविष्ट हों तथा समस्त लोक निविष्ट हों, क्योंकि सभी कार्य परम कारण में ही पर्यवसित होते हैं। यज्ञ के फलदाता के रूप में हे यज्ञपालक, यजनार्ह आपके सुन्दर गुणोच्चारण में तथा नमस्कृति-वचनों में हम आपको प्रतिष्ठित करते हैं, अर्थात् आपका ही स्तवन, नमन करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित संस्कृत तथा हिन्दी दोनों ही व्याख्याएँ अस्पष्ट तथा श्रुतिवचनों एवं सूत्रवाक्यों से विरुद्ध होने के कारण असंगत हैं, यह पूर्वोक्त व्याख्या से स्पष्ट ही है ॥ २५ ॥

देवी॑राप एष वो॒ गर्भ॒स्तꣳ सुप्री॑तꣳ सुभृ॑तं बिभृत । देव॑ सोमै॒ष ते॑ लो॒कस्तस्मि॒ञ्छं च॒ वक्ष्व॒ परि॑ च वक्ष्व ॥ २६ ॥

'देवीराप इति विसृज्योपतिष्ठत इति' (का० श्रौ० १०।९।२)। आप्लावितमृजीषकुम्भं मुक्त्वोपस्थानं कुर्यात्। पङ्क्तिर्बृहती वा, अष्टात्रिंशदक्षरत्वात्। पूर्वार्धमब्दैवतमुत्तरार्धं सोमदेवत्यम्। हे आपो देव्यः, वो युष्माकमेष सोमो गर्भो गर्भस्थानीयः। तं तादृशं सोमं सुप्रीतं शोभनप्रीतियुक्तं सुभृतं सुपुष्टं बिभृत धारयत। हे देव दीप्यमान सोम, ते तव एष जललक्षणो लोकः स्थानम्, तत्रावस्थितस्त्वं शं सुखं वक्ष्व वह, अस्मान् प्रति प्रापय। परि च वक्ष्व परिवह निवर्तय च, अस्मत्तः सर्वा आर्तीः। तस्मिन्नः शं चैधि, 'सर्वाभ्यश्च न आर्तिभ्यो गोपाय' (श० ४।४।५।२१) इति श्रुतेः। वहतेर्लोट्, मध्यमैकवचने तङि शपि रूपम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथानुसृज्योपतिष्ठते। देवीराप एष वो गर्भ इत्यपाꣳ ह्येष गर्भस्तꣳ सुप्रीतꣳ सुभृतं बिभृतेति तदेनमद्भ्यः परिददाति गुप्त्यै देव सोमैष ते लोक इत्यापो ह्येतस्य लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्वेति तस्मिन्नः शं चैधि सर्वाभ्यश्च आर्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह' (श० ४।४।५।२१)। अनुसृज्य विसृज्य एनं सोममद्भ्यः परिददाति। गुप्त्यै रक्षायै आपः स्तूयन्ते। शेषं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे देव्यो द्योतमाना बुद्धयः, आपो दमादिगुणव्यापिन्यः, वो युष्माकमेष सोमो भक्तिज्ञानरूपः सोमवदाह्लादको गर्भो गर्भस्थानीयः। यूयं तं तादृशं गर्भं बिभृत धारयत। कीदृशं तम्? सुप्रीतं शोभना प्रीतिर्यस्मात्तं सुभृतं सुपुष्टम्। सोमं च वदति—हे सोम देव, एष बुद्धिलक्षणस्ते तव लोकः स्थितिः स्थानम्। तत्रावस्थितः सन् शं कल्याणं मोक्षं वक्ष्व प्रापय। सर्वा आर्तीर्जननमरणाविच्छेदलक्षणाः संसृतीर्निवर्तय।

दयानन्दस्तु—'हे आपो देवीर्देव्यो देदीप्यमाना आपः शुभगुणकर्मविद्याव्यापिन्यः, यूयं वो युष्माकं य एष प्रत्यक्षो गर्भो लोको लोकनीयः पुत्रपत्यादिसम्बन्धसुखकरो गृहाश्रमः, तं सुप्रीतं सुष्ठु प्रीतिनिबद्धं सुभृतं सुष्ठु धारितं यथा स्यात्तथा बिभृत धरत। हे देव सोम दिव्यगुणैः कमनीय सोम, ऐश्वर्याढ्य गृहस्थजन, य एष ते लोकोऽस्ति,

---

मन्त्रार्थ—हे दिव्य गुणयुक्त जल देवता, तुम्हारा यह सोमकुम्भ गर्भस्थानीय है। इसलिये इसको प्रीतिपूर्वक, पुष्टिपूर्वक धारण करो। हे सोम देव, यह जल तुम्हारा स्थान है, इसमें तुम सुखपूर्वक रहो और हमें भी सुख दो। हमारे सभी दुःखों को दूर कर हमारी रक्षा करो ॥ २६ ॥

भाष्यसार—'देवीरापः' इस ऋचा के द्वारा बहाये गये ऋजीषकुम्भ को विसर्जित करके उपस्थान किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।९।२) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—विद्योतमान तथा दमादिगुणव्यापिनी हे बुद्धियों, तुम लोगों का यह भक्तिज्ञानरूपी एवं सोम की भाँति आह्लादकारी रूप गर्भ की भाँति है। तुम लोग इस प्रकार के गर्भ को धारण करो। वह सुन्दर प्रीतियुक्त तथा सुपुष्ट है। उस सोम के प्रति उक्ति है कि हे सोमदेव! यह बुद्धिरूपी आपका लोक, स्थान है। उसमें अवस्थित होते हुए आप कल्याण, मोक्ष को प्राप्त करावें। जन्ममरण की निरन्तरता रूपी समस्त संसृतियों को निवृत्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या में गर्भ शब्द का अर्थ न होने के कारण न्यूनता है। पुत्र, पति आदि सम्बन्धों

तस्मिन् शं कल्याणकारकं ज्ञानं च शिक्षां वक्ष्व प्रापय, चाद्रक्ष परिवक्ष्व वह' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गर्भशब्दार्थानुक्तेः। नहि पुत्रपत्यादिसम्बन्धसुखकरो गृहाश्रम एव लोकनीयः, धर्मब्रह्मणोरपि लोकनीयत्वाविशेषात्। सोमशब्दस्य ऐश्वर्याढ्यो गृहस्थजनः कथमर्थ इत्यस्याप्यनुक्तेः ॥ २६ ॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि। देवानाᳩं समिदसि ॥ २७ ॥

'अवभृथेति मज्जयतीति' (का० श्रौ० १०।९।३)। ऋजीषकुम्भं जले प्रवेशयेत्। यज्ञदैवतम्। अवाचीनानि पात्राणि जलमध्ये भ्रियन्ते यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽवभृथ इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः। तत्सम्बुद्धौ हे अवभृथ, त्वं निचुम्पुण नितरां मन्दं गच्छ। 'चुपि मन्दायां गतौ' इति धातो रूपम्। यद्यपि त्वं निचेरुर्नितरां चरणशीलोऽसि, तथाप्यत्र निचुम्पुण मन्दं गच्छ। किं प्रयोजनमित्युच्यते—देवैर्द्योतनात्मकैरस्मदीयैरिन्द्रियैः, देवकृतं हविः, स्वामिषु देवेषु कृतमेनः पापं यदस्ति, तदवायासिषम् अस्मिन् जलेऽपनीतवानस्मि। अथ मर्त्यैर्मनुष्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिर्मर्त्यकृतं मर्त्येषु मनुष्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञादिरूपं यदेनोऽस्ति, तदप्यहमवायासिषमित्यनुवर्तनीयम्। अस्माभिः परित्यक्तमेनो यथा त्वां नावाप्नोति, तथा हे यज्ञ! त्वं मन्दं गच्छ। हे देव अवभृथाख्य यज्ञ, त्वं पुरुराव्णो बहुविधविरुद्धफलदायिनो रिषो वधात् पाहि पालय। 'रा दाने', रिष वधे', विरुद्धफलदायी वधस्त्वत्प्रसादादस्माकं मा भूदित्यर्थः। 'देवः गुरे धने राज्ञि देवमाख्यातमिन्द्रियम्' इति कोषाद् देवपदेनेन्द्रियाणि देवाश्च गृह्यन्ते। 'आहवनीये समिदाधानं देवानाᳩं समिदसीति (का० श्रौ० ५।५।३४)। स्नानानन्तरमाहवनीयमेत्य तस्मिन् समिधं दध्यात्। अग्निदैवतं यजुः। हे अग्ने, त्वं देवानां सम्बन्धिनी समिदसि इन्धनमसि, यद्वा देवभूतानामस्माकं समित् समिन्धनम्, असि भवसि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोपमारयति। अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतमित्यव ह्येतद्देवैर्देवकृतमेनोऽयासीत् सोमेन राज्ञाऽव मर्त्यैर्मर्त्यकृतमित्यव ह्येतन्मर्त्यैर्मर्त्यकृतमेनोऽयासीत् पशुना पुरोडाशेन पुरुराव्णो देव रिषस्पाहीति सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह' (श० ४।४।५।२२)। उपमारयति ऋजीषकुम्भं मज्जयति सोमेन राज्ञा देवैर्देवकृतमेनोऽयासीत्, पशुना पुरोडाशेन च मर्त्यैर्मर्त्यकृतमेनोऽयासीदिति पुरुराव्णो पाहीत्यनेन सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह। 'अथाभ्यवेत्य स्नातः।

से सुखकर होने के कारण केवल गृहस्थाश्रम ही अभीष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म तथा ब्रह्म में भी लोकनीयता समान ही है। सोम शब्द का अर्थ 'ऐश्वर्यसम्पन्न गृहस्थ' कैसे होगा, यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है। २६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अवभृथ यज्ञ, तुम धीरे-धीरे चलो। तुम अत्यन्त तीव्र गति से चलने वाले हो, तो भी हमारे यहाँ अतिमन्द गति से चलो। हमारी इन्द्रियों के द्वारा अज्ञानवश हवि के स्वामी देवताओं के प्रति जो अनजाने में पाप हो गये हैं, उन्हें हमने जल में छोड़ दिया है। हमारे सहायक ऋत्विजों ने यज्ञदर्शन के लिये आये हुए मनुष्यों के प्रति जो अवज्ञारूप पाप किया है, उसे भी हमने जल में छोड़ दिया है। हे अवभृथ यज्ञ, विपरीत फल देने वाले अनिष्ट से हमारी रक्षा करो। तुम्हारे प्रसाद से कोई दोष हमें न लगे। देवताओं के निमित्त दी गई समिधा दीप्तिमान् हो ॥ २७ ॥

भाष्यसार—'अवभृथ निचुम्पुण' इस कण्डिका के मन्त्रों से ऋजीष-कुम्भ को जल में डुबाया जाता है तथा आहवनीय

अन्योऽन्यस्य पृष्ठे प्रधावतस्तावन्ये वाससी परिधायोदेतः स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवꣳ सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते तस्मिन्न तावच्च नैनो भवति यावत्कुमारेऽदति स येनैव निष्क्रामन्ति तेन पुनरायन्ति पुनरेत्याहवनीये समिधमभ्यादधाति देवानाꣳ समिदसीति यजमानमेवैतया समिन्धे देवानाꣳ हि समिद्धिमनु यजमानः समिद्धयते' (श० ४।४।५।२३)। अथाभ्यवेत्य ऋजीषकुम्भं मज्जयति। ततो यजमानपत्न्यौ स्नातः, अन्योऽन्यस्य पृष्ठतो धावतः। तौ चान्ये वाससी परिधाय उदेतः। तेन यथाहिस्त्वचो निर्मुच्यते, तथैव सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते। तस्मिन्न तावच्चैनो भवति, यावददति कुमारे न भवति। स येनैव पथा निष्क्रामन्ति तेन पुनरायन्ति। पुनरेत्याहवनीये समिदमादधाति देवानां समिदसीति मन्त्रेण। तत्प्रयोजनं मन्त्रार्थं चाह—यजमानमेवैतयेति। एतया समिधा यजमानमेव समिन्धयति दीपयति। देवानां समिद्धिमनु यजमानः समिद्धयते दीप्तो भवतीति।

अध्यात्मपक्षे—हे अवभृथ, अवाचीनानि सर्वाणि महदादीनि कार्याणि भ्रियन्ते यस्मिन्नधिष्ठानभूते परमात्मनि सोऽवभृथस्तत्सम्बुद्धौ, त्वं यद्यपि निचेरुर्नितरां चरणशीलोऽसि, 'मनसो जवीयः' (वा० सं० ४०।४) इति श्रुतेः, तथापि निचुम्पुण नितरां मन्दं गच्छ। स्वानुगान् भक्तान् नयन् नितरां मन्दं गमनशीलो भव। वने गच्छन्तं रामं जनकनन्दिनी प्राह। अथवा वृन्दावनं गच्छन्तं श्रीकृष्णं गोपाङ्गनाः प्राहुः—हे भगवन्! यद्यपि त्वं निचेरुरसि, तथाप्यस्माभिः सार्धं मन्दं गच्छ। देवैरस्मदीयैरिन्द्रियैर्देवेषु हविःस्वामिषु कृतं मर्त्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिर्मर्त्येषु दर्शनार्थमागतेषु मनुष्येषु कृतमवज्ञादिकमेनस्त्वन्नामोच्चारणात् त्वत्स्मरणाच्चावायासिषम् अपनीतवानस्मि। हे देव जगदुत्पत्तिस्थितिलयलील क्रीडापरायण, त्वं पुरुराव्णो बहुविरुद्धफलदायिनो रिषो वधात् पाहि। त्वत्प्रसादाद्विरुद्धफलदायी वधो मा भूदित्यर्थः। त्वं देवानामिन्द्रादीनां समिदसि समिन्धनसाधनभूतोऽसि, त्वदनुग्रहेणैव देवानां दीप्तिमत्त्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे अवभृथ, यो निषेकेण गर्भं बिभर्ति तत्सम्बुद्धौ, निचुम्पुण नितरां मन्दगामिन् पते, त्वं निचुम्पुणो नित्यं कमनीयो निचेरुर्यो धर्मेण द्रव्याणि नित्यं चिनोति सोऽसि, देवानां समिदसि देवानां विदुषां मध्ये समित् सम्यग् दीप्तोऽसि। हे देव विजिगीषो, देवैर्विद्वद्भिर्मर्त्यैर्मृत्युधर्मैः सह वर्तमानस्त्वं यद्

अग्नि में समिदाधान किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१०।९।३, ५।५।३४) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सायणाचार्य आदि ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—अवाचीन सभी महदादि कार्य जिस अधिष्ठानभूत परमात्मा में अवस्थित होते हैं, वही अवभृथ है। उसको सम्बोधित किया गया है कि हे अवभृथ, आप यद्यपि अतिशय विचरणशील हैं, यह 'मनसो जवीयः' (वा० सं० ४०।४) आदि श्रुतियों से भी स्पष्ट है, तथापि आप अत्यन्त मन्द गति से चलें। अपने अनुगत भक्तों को ले चलते हुए बहुत धीमी गति से गमनशील हों, यह वन में जाते हुए श्रीराम के प्रति जनकात्मजा भगवती सीता के वचन हैं, अथवा वृन्दावन में संचरण करते हुए श्रीकृष्ण के प्रति गोपांगनाएँ कहती हैं कि हे भगवन्, यद्यपि आप अतिशय गतिवान् हैं, तथापि हमारे साथ धीरे चलिये। हमारी इन्द्रियों के द्वारा हविःस्वामी देवों के विषय में किये गये तथा हमारे सहायक ऋत्विजों के द्वारा दर्शनार्थ समागत मनुष्यों के सम्बन्ध में किये गये अवज्ञा आदि पाप को आपके नामोच्चारण तथा आपके स्मरण से हमने निराकृत कर दिया है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहृति की लीला में निरत हे देव, आप अतिशय विरुद्ध फल देने वाले वध से हमारी रक्षा करें। आपके अनुग्रह से विरुद्धफलदायी वध (हिंसा) न हो। आप इन्द्रादि देवों की भी प्रदीप्ति के साधन हैं, क्योंकि आपकी कृपा से ही देवगण दीप्तिमान् हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत एवं हिन्दी दोनों व्याख्याएँ अस्पष्ट हैं। अवभृथ शब्द यज्ञविशेष के अर्थ में प्रसिद्ध है, यह शतपथ आदि श्रुतियों से प्रमाणित है। ऐसे अर्थ को छोड़ कर गर्भधारण-पोषक-परक अर्थकल्पना निर्मूल ही

देवकृतं कामिभिरनुष्ठितम् एनो दुष्टाचरणम्, मर्त्यकृतमसाधारणमनुष्याचरितमपराधमयासिषं प्राप्तवती, तस्मात् पुरुराव्णो रिषो मां पाहि दूरे रक्ष। पुरवो बहवो रावाणोऽपराधदानशीला यस्मिन् तस्माद् रिषो धर्मस्य हिंसनाद् मां पाहि' इति, हिन्द्यां तु—'हे अवभृथ गर्भधारक तत्पोषक, मन्दगतिरसि नित्यं मनो हरसि। धर्मेण नित्यं धनसञ्चयशीलोऽसि, विदुषां मध्ये सम्यग् दीप्तोऽसि। हे देव विजिगीषो, देवैर्विद्वद्भिर्मर्त्यैः साधारणजनैः सह वर्तमानस्त्वं कामिभिरनुष्ठितं साधारणमनुष्यैः कृतमेनोऽपराधम् अवायासिषम् अहं प्राप्तवती, हिन्द्यां प्राप्तुमिच्छेयम्, तस्माद् बहूनामपराधानां दातुर्धर्महिंसनान्मां पाहि' इति, तत्सर्वमप्यस्पष्टमेव। अवभृथशब्दो यज्ञविशेषार्थे प्रसिद्धः, शतपथादिश्रुतिप्रमाणकश्च। तादृशमर्थमपहाय गर्भधारकपोषकपरत्व-कल्पनं निर्मूलमेव। न च धात्वर्थानुरोधेन तथा कल्पनं युक्तम्, तथात्वे गोशब्देन गमनशीलानां मनुष्यादीनामपि बोधप्रसङ्गात्, घटशब्दाच्चेष्टावतो मनुष्यपश्वादेश्च ग्रहणात्। किञ्च, कामिभिरनुष्ठितमपराधं प्राप्तुमिच्छेय-मित्यस्य कोऽर्थः? तस्मात् तथात्वे कथं पुरुराव्णो रिषः कामना? कथं च पत्युः सकाशात् तन्मुक्तिः? एवं भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः। यथाकथञ्चिद् यथेच्छमर्थाङ्गीकारेऽपि न चेष्टसिद्धिः। नहि वेदे प्राकृतदैनन्दिनस्त्रीपुरुषव्यवहारवर्णनं सप्रयोजनम्। निचुम्पुणो नित्यं कमनीय इत्यपि चिन्त्यम् ॥ २७ ॥

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथाऽयं वायुरेजति यथा समुद्र एजति। एवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह ॥ २८ ॥

'निरुह्यमाणमभिमन्त्रयत एजतु दशमास्य इति' (का० श्रौ० २५।१०।५)। यद्यनुबन्ध्याऽन्तर्वत्नी स्यात्, तत्र प्रायश्चित्तिरुच्यते—यथा येन प्रकारेणायं वायुरेजति चलति, यथा समुद्रश्चलति, एवमयं दशमास्यः सम्पूर्णावयवो गर्भो जरायुणा सह अस्रद् निर्गच्छतु। दश मासा जाता यस्य स दशमास्यः। यद्यपि दशमास्यो नापि स्यात्, तथापि सम्पूर्णस्यैव निर्गमनमाशास्यते।

शतपथे—'अथ मैत्रावरुणीं वशामनुबन्ध्यामालभते···' (श० ४।५।१।५) इत्युपक्रम्य '···यद्वा ईजानस्य स्विष्टं भवति मित्रोऽस्य तद् गृह्णाति यद्वस्य दुरिष्टं भवति वरुणोऽस्य तद् गृह्णाति' (श० ४।५।१।६)। वशाऽनुबन्ध्या। सा का इत्याह—'यत्र वै देवा रेतः सिक्तं···प्राजनयंस्ततोऽङ्गाराः समभवन्नङ्गारेभ्योऽङ्गिरसस्त-

---

है। केवल धात्वर्थ की सहायता से इस प्रकार की कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर गो शब्द से गमनशील मनुष्य आदि का बोधन भी आपतित हो जायगा, घट शब्द से चेष्टा से युक्त मनुष्य, पशु आदि का अर्थ ग्रहण होने लगेगा। 'कामियों के द्वारा अनुष्ठित अपराध को प्राप्त करने की इच्छा करूँ' इसका क्या अर्थ है? तथा ऐसा होने पद हिंसा से रक्षा की कामना किस प्रकार होगी? पति से उसकी कैसे मुक्ति संभव होगी? यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार लहसुन खाने पर भी रोग शान्त नहीं हुआ। स्वेच्छाचार से अर्थ स्वीकार करने पर भी अभीप्सित की सिद्धि नहीं हो सकी। वेद में सामान्य प्रति दिन के स्त्री-पुरुष व्यवहार का वर्णन मानना निरुद्देश्य है। 'निचुम्पुण' का 'नित्य कमनीय' अर्थ भी विचारणीय है ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—दस महीने का पूरा गर्भ गर्भवेष्टन जरायु के साथ अब अपने स्थान से चलायमान हो। जिस प्रकार यह पवन कम्पित होता है, जैसे समुद्र अपनी लहरों से कम्पित होता है, उसी तरह यह दस मास का पूर्ण गर्भ जरायु के साथ उदर से बाहर हो ॥ २८ ॥

भा०प्रसार—अनुबन्ध्या गौ यदि गर्भयुक्त हो, तो उसके प्रायश्चित्त कर्म में 'एजतु' यह मन्त्र विनियुक्त है। शतपथ

दन्वन्ये पशवः' (श० ४।५।१।८)। यत्र काले प्रजापतिना स्वस्यां दुहितरि सन्ध्यायां रेतः सिक्तम्, तस्मिन् काले रेतसः प्रजन्यमानादङ्गाराः सम्भूतास्तेभ्यश्चाङ्गिरसः, तदन्वन्ये पशवः, अन्ये वत्सा गर्दभादयः। 'अथ यदासाः पाᳪसवः पर्यशिष्यन्त। ततो गर्दभः समभवत्तस्माद्यत्र पाᳪसुलं भवति गर्दभस्थानमिव बतेत्याहुरथ यदा न कश्चन रसः पर्यशिष्यत तत एषा मैत्रावरुणी वशा समभवत् तस्मादेषा न प्रजापते रसाद्धि रेतः सम्भवति रेतसः पशवस्तद्यदन्ततः समभवत्तस्मादन्तं यज्ञस्यानुवर्तते तस्माद्वा एषाऽत्र मैत्रावरुणी'(श० ४।५।१।९)। यस्मिन् काले आसाः अस्याः पांसवः परिशिष्टास्तदा ततः पांसुभ्यो गर्दभः सम्भूतः। तस्मादेव यत्र पांसुलं स्थानं भवति तद् गर्दभस्थानमाहुः। अथ यदा न कश्चिदपि रससारो रेतसोऽवशिष्टः, तत एषा वशा सम्भूता। सा च मैत्रावरुणी। यस्माच्च क्षीणे रसे सूता, तस्मादेषा न प्रजायते। 'तं निरूह्यमाणमभिमन्त्रयते। एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सहेति स यदाहैजत्विति प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति दशमास्य इति यदा वै गर्भः समृद्धो भवत्यथ दशमास्यस्तमेतदप्यदशमास्यᳪ सन्तं ब्रह्मणैव यजुषा दशमास्यं करोति' (श० ४।५।२।४)। 'जरायुणा सहेति। तद्यथा दशमास्यो जरायुणा सहेयादेवमेतदाह यथाऽयं वायुरेजति यथा समुद्र एजतीति प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधात्येवायं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सहेति तद्यथा दशमास्यो जरायुणा सह स्रᳪसेतैवमेतदाह' (श० ४।५।२।५)।

अध्यात्मपक्षे हे बुद्धे, यथायं वायुः पवन एजति चलति, यथा चायं समुद्र एजति, तथा ते दशमास्यः सम्पूर्णावयवः प्रबोधचन्द्ररूपो गर्भः, जरायुणा जरायुवदावरकेण रक्षकेण दृढतर्केण मननाख्येन सह, अस्रत् स्रंसतु निर्गच्छतु, प्रकटो भवत्वित्यर्थः। अथवा सम्पूर्णावयवो गर्भः प्रबोधाख्यो जरायुणा गर्भवेष्टनेनेव दृढतर्करूपेण कवचेन सह एजतु सकामाया अविद्याया उन्मूलने व्यापृतो भवतु।

दयानन्दस्तु—'हे दम्पती, यथायं वायुरेजति, यथा समुद्र एजति, तथा जरायुणा सह दशमास्यो गर्भ एजतु, क्रमेण वर्धताम्, एवं वर्धमानोऽयं जरायुणा सह दशमास्य एव अस्रत् स्रंसताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे दम्पती! इति सम्बोधने मानाभावात्। 'क्रमेण वर्धताम्, एवं वर्धमानोऽयम्' इत्याद्यपि निर्मूलम्, कम्पनार्थस्यैजतेर्वर्धमानार्थत्वायोगात् ॥ २८ ॥

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी। अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमᳪ स्वाहा ॥ २९ ॥

ब्राह्मण में विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे बुद्धि, जिस प्रकार यह वायु संचरणशील है तथा जिस प्रकार यह समुद्र गति करता है, उसी प्रकार तुम्हारा यह सम्पूर्ण अंगों से युक्त प्रबोधचन्द्ररूपी शिशु जरायु की भाँति आवरणकर्ता रक्षक मननसंज्ञक दृढ तर्क के साथ निर्गत हो, अर्थात् प्रकट हो। अथवा सम्पूर्ण अवयवों से युक्त प्रबोधरूपी गर्भ दृढ तर्क रूपी गर्भावरण कवच के साथ सकाम अविद्या के उन्मूलन में व्यापृत हो।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में 'हे दम्पती' इस प्रकार सम्बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अग्राह्यता है। 'क्रम से वर्धित हो' इत्यादि अर्थ करना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि 'एज्' धातु केवल कम्पनार्थक होने के कारण वर्धन अर्थ में प्रयुक्त नहीं होती ॥ २८ ॥

'अवदानान्यनुजुहोति यस्यै त इति' (का० श्रौ० २५।१०।१९)। वशावदानानि हुत्वा प्रतिप्रस्थाता मेधं जुहुयात्। वशादेवत्याऽनुष्टुप्। हे वशे, यस्यास्ते तव गर्भो यज्ञियो यज्ञार्हः, यस्यै यस्याश्च तव योनिर्हिरण्ययी सुवर्णमयी, 'ऋत्व्यवास्त्व्य' (पा० सू० ६।४।१७५) इति निपातनान्मकारलोपः, ब्रह्मणा मन्त्रेण क्रियत इत्यर्थः, तादृशीं त्वां गर्भेण सङ्गमयामीति शेषः। यस्य गर्भस्याङ्गान्यह्रुता अकुटिलानि, 'ह्वृ कौटिल्ये', अखण्डितानि, तं गर्भं मात्रा अनुबन्ध्यालक्षणया समजीगमं सङ्गमयामि स्वाहा। 'ह्रु ह्वरेश्छन्दसि' (पा० सू० ७।२।३१) इति ह्रुरादेशो निष्ठायाम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'यस्यै ते यज्ञियो गर्भः। अयज्ञिया वै गर्भास्तमेद् ब्रह्मणैव यजुषा यज्ञियं करोति यस्यै योनिर्हिरण्ययीत्यदो वा एतस्यै योनिं विच्छिन्दन्ति यददो निष्कर्षन्त्यमृतमायुर्हिरण्यं तामेवास्या एतदमृतां योनिं करोत्यङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहेति यदि पुमान् स्याद्यद्यु स्त्री स्यादङ्गान्यह्रुता यस्यै तां मात्रा समजीगमꣳ स्वाहेति यद्यु अविज्ञातो गर्भो भवति पुꣳस्कृत्यैव जुहुयात् पुमाꣳसो हि गर्भा अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहेत्यदो वा एतं मात्रा विष्वञ्चं कुर्वन्ति यददो निष्कर्षन्ति तमेतद् ब्रह्मणैव यजुषा समर्ध्य मध्यतो यज्ञस्य पुनर्मात्रा सङ्गमयन्ति' (श० ४।५।२।१०), अयज्ञिया वै गर्भाः। ब्रह्मणैव यजुषा यजुर्मन्त्रेण ते यज्ञिया भवन्ति।

अध्यात्मपक्षे—हे बुद्धे, यस्यास्ते यज्ञियो यज्ञार्हो विष्णुपदप्राप्तियोग्यो गर्भः प्रबोधाख्यः, यस्यास्ते योनिरुत्पत्तिस्थानं हिरण्ययी ज्योतिर्मयी चित्प्रतिबिम्बोपेतत्वेन चित्सारत्वात्, यस्य गर्भस्य प्रबोधाख्यस्याङ्गानि साधनानि, अह्रुता अह्रुतानि अकुटिलानि सरलानि शमदमादीनि, तं प्रबोधाख्यं गर्भं मात्रा बुद्ध्या सह अहं समजीगमं सङ्गमयामि, वेदान्तश्रवणादिना बुद्धिं ब्रह्मप्रबोधवतीं सम्पादयामीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विवाहिते सुभगे, अहं ते पतिः। यस्यै यस्यास्ते तव हिरण्ययी रोगरहिता शुद्धा योनिरस्ति, यस्यास्ते यज्ञियो यज्ञयोग्यो गर्भोऽस्ति, तस्यां त्वयि यस्य गर्भस्य अह्रुतान्यकुटिलानि सरलान्यङ्गानि स्युस्तं मात्रा गर्भकर्त्र्या त्वया सह समागम्य स्वाहा धर्मयुक्तया क्रियया समजीगमं सम्यक् प्राप्नुयाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गर्भकामिन्या त्वया समागम्येत्यर्थस्य मूलबाह्यत्वात्। गर्भः कथं यज्ञियो भवतीत्यपि नोक्तम्। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—जिस श्रेष्ठ लक्षण वाले गर्भ का अधिपति यज्ञ देवता है, जिसका जन्मस्थान सुवर्ण के समान शुद्ध है, जिस गर्भ के अंग अकुटिल, अखण्डित और सरल हैं, उस गर्भ को मैं इस मन्त्र से माता के साथ संमानित करता हूँ। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २९ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।१०।१९) में निरूपित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'यस्यै ते' इस ऋचा से हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति यह है—हे बुद्धि, तुम्हारा जो यज्ञार्ह, विष्णुपद की प्राप्ति के योग्य प्रबोधसंज्ञक गर्भस्थ शिशु है, तुम्हारी उत्पत्तिस्थली चित्प्रतिबिम्ब से युक्त होने के कारण चित्सारत्व होने से ज्योतिर्मयी है, जिस प्रबोधरूपी गर्भशिशु के अंगरूपी साधन अकुटिल सरल शम-दम आदि हैं, उस प्रबोधशिशु की माता बुद्धि के साथ मैं संगत होता हूँ, अर्थात् वेदान्त-श्रवण आदि के द्वारा बुद्धि को ब्रह्मप्रबोध से युक्त करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्या में 'गर्भकामिनी, तुम्हारे साथ संगत होकर के' इत्यादि अर्थ मूल शब्दों से बहिर्भूत होने के कारण असंगत है। गर्भ किस प्रकार यज्ञिय होता है, यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है। श्रुति तथा सूत्र से विरोध तो स्पष्ट ही है ॥ २९ ॥

पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीरः । एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदी-मष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताᳪं स्वाहा ॥ ३० ॥

स्विष्टकृतमनुजुहोति पुरुदस्म इति' (का० श्रौ० २५।१०।१३)। स्विकृष्ट्यागात् पूर्वं प्रतिप्रस्थाता दक्षिणदेशे प्रत्यागत्य सर्वगर्भरसमवद्यति। अध्वर्युणा स्विष्टकृद्धोमे कृते प्रचरण्या जुहुयात्। गर्भदैवत्यं यजुः। इन्दुः क्लेदनरूपः सोमसदृशो गर्भो महिमानं महत्त्वम् आनञ्ज व्यक्तीकरोतु। कीदृशः ? पुरुदस्मो बहुदानयुक्तः, विषुरूपो बहुरूपः, अन्तरुदरेऽवस्थितो बहुरूपो हि गर्भो भवति, धीरो मेधावी, इत्थंरूपं महिमानमानञ्जेत्यर्थः। महिमवतो गर्भस्य मातरं वशां तादृशा भुवना, 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।१।७०) इति शेर्लुकि भुवना इति रूपम्, भुवनानि भूतजातानि, अनुप्रथन्तां प्रख्यातां कुर्वन्तु, वशां परगर्भं वा प्रख्यातं कुर्वन्तु। इयं वशा चतुष्पदी सती कथमेकपद्यादिभिरुच्यत इति, तत्राह—यदा वशासम्बन्धिन्यां वपायां जुहुयात् तदा एकपदी। यद् यदाङ्गैर्यागस्तदा द्विपदी। यदोपयद्धोमः कृतस्तदा त्रिपदी। यदा पत्नीसंयाजैर्जुहुयात्तदा चतुष्पदी, चतुर्भिः पदैर्युक्ता वा। एवं स्वपादैर्गर्भपादैश्चाष्टपादयुतामेवंभूतां वशां गणयित्वाऽनुप्रथन्तामिति सम्बन्धः। स्वाहा सुहुतमस्तु।

तत्रैव ब्राह्मणम् 'पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरिति। बहुदान इति हैतद्यदाह पुरुदस्म इति विषुरूप इति विषुरूपा इव हि गर्भा इन्दुरन्तर्महिमानमानञ्ज धीर इत्यन्तर्ह्येष मातर्यक्तो भवत्येकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताᳪं स्वाहेति प्रथयत्येवैनामेतत्सुभूयो ह जयत्यष्टापद्येष्ट्वा यदु चानष्टापद्या' (श० ४।५।२।१२)। पुरुदस्म इत्यस्य बहुरूप इत्यादिना मन्त्रपदानि व्याचष्टे।

अध्यात्मपक्षे—प्रबोधाख्यो गर्भः पुरुदस्मो बहुदानः, ब्रह्मप्रापयितृत्वात्। विषुरूपो बहुरूपः, बहूनि तत्त्वं-पदवाच्यलक्ष्यादीनि रूपाणि यस्य सः। इन्दुः सोमवत् परमाह्लादकारी। अन्तर्बुद्धेरुदरेऽवस्थितः। महिमानं महाभाग्यम्। आनञ्ज व्यक्तीकरोति। धीरो धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयति तत्त्वान्वेषणायेति धीरः, येन एनां बुद्धिम् एकपदीम् एकमेव परं ब्रह्म पदनीयं यया सा तामेकपदीम्, द्विपदीं द्वौ जीवेश्वरौ वाच्यार्थौ पदनीयौ यया ताम्। तत्साधनत्वेन दमदयादानानि पदनीयानि यया ताम्। त्रिपदीं त्रयो गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि

मन्त्रार्थ—बहुत दान से युक्त, बहुत रूप वाले, उदर में स्थित, बुद्धिशाली सोमसदृश हे क्लेदन रूप गर्भ, तुम गर्भ की महिमा को भुवनसमूह एक ब्रह्मवाचक अक्षर वाली, दो पद युक्त कर्म और उपासना से प्राप्त होने वाली, तीनों वेदों से प्राप्त होने वाली, चारों आश्रमों से प्राप्त होने वाली, चार वर्ण और चार आश्रम के अष्टांग योगरूप आठ पदों से युक्त कर विख्यात करो। उसको पाने के लिये यह श्रेष्ठ आहुति दी गई है ॥ ३० ॥

भाष्यसार—'पुरुदस्मः' इस मन्त्र से स्विष्टकृद् याग के अनन्तर आहुति प्रदान की जाती है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।१०।१३) में उल्लिखित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—प्रबोधात्मक शिशु ब्रह्मप्रापक होने के कारण बहुप्रद है, बहुरूप है, अर्थात् इसके 'तत् त्वम्' पदों के वाच्य, लक्ष्य आदि अनेक रूप हैं। चन्द्रमा की भाँति अत्यन्त आह्लादकारी है। बुद्धि के गर्भ में अवस्थित है। महान् सौभाग्य को अभिव्यक्त करता है तथा बुद्धि को तत्त्वान्वेषण के लिये प्रेरित करता है। इस एकपदी, अर्थात् एकमात्र परब्रह्म ही जिसके द्वारा गम्य है, द्विपदी अर्थात् जीव एवं ईश्वर दो वाच्यार्थ जिसके द्वारा गम्य हैं

पदनीयानि यया ताम्। चतुष्पदीं चत्वारो वेदाः पदनीया यया ताम्। अष्टापदीम् अष्टौ सिद्धयः प्राप्तव्या यया ताम्, अष्टापदीम् इत्येवंभूतां गणयित्वा प्रख्यातां कुर्वन्तु। भुवना भुवनानि भूतजातानि।

दयानन्दस्तु—'पुरुर्बहुर्दस्म उपक्षयो दुःखानां यस्मात् सः, विषूणि व्याप्तानि रूपाणि येन सः, इन्दुः परमैश्वर्यकारी, धीरः सर्वव्यवहारध्यानशीलः, गृहस्थो धर्मेण विवाहितायास्त्रिया अन्तः अभ्यन्तरे महिमानं पूज्यं ब्रह्मचर्यजितेन्द्रियत्वादिशुभकर्मसंस्कारजन्यम्, (गर्भम्) आनञ्ज अञ्जयेत् कामयेत्' इति। हिन्दी-भाषायामपि—'हे गृहस्थाः, यूयं सृष्ट्युन्नतिं विधाय यामेकपदीं एकम् ओमिति पदं यस्यां तामेकपदीम्, द्विपदीं द्वे अभ्युदयनिःश्रेयसे सुखे पदे यस्यां ताम्, त्रिपदीं त्रीणि वाङ्मनःशरीरस्थानि सुखानि यस्यां सा ताम्, चतुष्पदीं चत्वारि धर्मार्थकाममोक्षाः पदानि यस्यां ताम्, अष्टापदीं ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णा ब्रह्मचर्यादयश्चत्वारश्चाश्रमाः पदानि प्राप्तव्यानि यस्यां ताम्। स्वाहा सत्यां सकलविद्यायुतां वाचं विदित्वा भुवनानि गृहाणि प्रथन्तां प्रख्यान्तु, तथा सर्वान् मनुष्याननुप्रथन्ताम्' इति, तत्सर्वमेव यत्किञ्चित्, पुरुदस्मादीनि गृहस्थस्य विशेषणानीत्यत्र मानाभावात्, विशेषणानामन्यत्रापि सङ्गतेः। एवमेव एकपदीत्यादीन्यपि वाचो विशेषणानीत्यपि निर्मूलम्। सायणादिव्याख्यानं तु शतपथब्राह्मणं सूत्रं चानुसृत्य प्रवर्तते। तेन पूर्वाणि गर्भस्य विशेषणान्युत्तराणि वशाया इति ॥ ३० ॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवोविमहसः। स सुगोपातमो जनः ॥ ३१ ॥

'समिष्टयजुरन्ते शामित्र एव जुहुयात् तिष्ठन् मरुत इत्यस्वाहाकृत्येति' (का० श्रौ० २५।१०।१६)। समिष्टयजुर्होमान्ते शामित्राग्नावेव अस्वाहान्तेन मन्त्रेणोष्णीषवेष्टितं गर्भं जुहोति, मन्त्रान्ते स्वाहाकारमनुच्चार्य जुहुयादित्यर्थः। मारुती गायत्री गोतमदृष्टा। हे दिवोविमहसः, द्युलोकस्य सम्बन्धिना विशिष्टेन महसा तेजसा युक्ता हे मरुतः, यद्वा विशिष्टं पूजयन्ति ते विमहसः, द्युलोकस्य सम्बन्धिनः पूजयितारो हे मरुतः! यूयं यस्य यजमानस्य क्षये यज्ञगृहे पाथा पानं कुरुथ। 'पा पाने' इति धातोः शपो लुक्, पिबादेशाभावश्च छान्दसः, संहितायां दीर्घः। यस्मादेवं तस्मात् स यजमानाख्यो जनः सुगोपातमः सुगोप्तृतमो भवति। युष्मद्युक्तानामकुतोभयत्वेन परमबलवत्त्वात्, यद्वा सुगुप्ततमः शोभनो गोपा रक्षको यस्य सः।

तथा उसके साधन के रूप में दम, दया, दान जिसके द्वारा गम्य हैं, त्रिपदी अर्थात् सत्व, रज तथा तम तीन गुण जिसके द्वारा गम्य हैं, चतुष्पदी अर्थात् चार वेद जिसके द्वारा गम्य हैं, अष्टापदी अर्थात् आठों सिद्धियाँ जिसके द्वारा गम्य हैं, इस प्रकार की बुद्धि को संकलित करके सम्पूर्ण भूतप्राणी प्रख्यात करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या में 'पुरुदस्म' इत्यादि पदों को गृहस्थ के विशेषण के रूप में प्रयोग करने में कोई प्रमाण न होने के कारण असंगति है। इसी प्रकार 'एकपदी' इत्यादि वाणी के विशेषण हैं, यह मानना भी निर्मूल है। सायणाचार्य आदि को व्याख्या शतपथ ब्राह्मण तथा सूत्र के अनुसार हैं। तदनुसार पूर्ववर्ती पद गर्भ के विशेषण हैं तथा उत्तरवर्ती वशा के विशेषण हैं ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ- द्युलोक सम्बन्धी विशिष्ट तेज से युक्त हे मरुत् देवता, आपने जिस यजमान के यज्ञस्थान में सोमपान किया, उसकी आप निश्चय ही बहुत काल तक रक्षा करते रहेंगे ॥ ३१ ॥

भाष्यसार— कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।१०।१६) के अनुसार 'मरुतो यस्य' इस ऋचा के द्वारा समिष्ट यजुर्होम के

अत्रैव शतपथे—'स हुत्वैव समिष्टयजूꣳषि। प्रथमावशान्तेष्वङ्गारेष्वेतꣳ सोष्णीषं गर्भमादत्ते तं प्राङ्तिष्ठन् जुहोति मारुत्यर्चा मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवोविमहसः। स सुगोपातमो जन इति न स्वाहाकरोत्यहुतादो वै देवानां मरुतो विडहुतमिवैतद्यदस्वाहाकृतं देवानां वै मरुतस्तदेनं मरुत्स्वेव प्रतिष्ठापयति' (श० ४।५।२।१७)। समिष्टयजुर्होमानन्तरमेवोक्तमन्त्रेण हुत्वा मरुत्स्वेव प्रतिष्ठापयति।

अध्यात्मपक्षे—हे मरुतः, प्राणवन्तो हनुमत्प्रभृतयः, दिवो द्युलोकसम्बन्धिना विशिष्टेन महसा युक्ताः, दिवः स्वप्रकाशस्य परमात्मनो विमहसो विशेषेण पूजयितारः, यूयं यस्य यजमानस्यार्चकस्य भक्तस्य क्षये यज्ञगृहे हृदयभवने वा, पाथा सोमपानं कुरुथ, प्रेमरसपरिप्लुतं पत्रपुष्पफलादिनैवेद्यं स्वीकुरुथ, हि निश्चयेन, स जनः पूजकः सुगोपातमः। गोपायतीति गोपा रक्षकः, सुष्ठु अत्यन्तशोभनो गोपातमो रक्षको यस्य सः, युष्मद्गुप्तानां न भयमस्तीति। 'त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' (भा० पु० १०।२।३३) इति श्रीमद्भागवतवचनात्।

स्वामिदयानन्दस्तु—'हे कृतविवाहा विमहसो विविधतया पूजनीया मरुत ऋत्विजो गृहस्थाः, यूयं यस्य गृहस्थस्य क्षये गृहे हिरण्यानि सुरूपाणि दिवो दिव्या गुणाः स्वभावाः क्रिया वा पाथा प्राप्नुत, स हि सुगोपातमो जनः शोभनधर्मेण गां पृथिवीं वाचं च पाति, सोऽतिशयितः सुगोपातमो जनः प्रसिद्धः' इति, तदपि न, नैरर्थक्यात्॥ ३१॥

म॒ही द्यौः पृ॑थि॒वी च॑ न इ॒मं य॒ज्ञं मि॑मिक्षताम्। पि॒पृ॒तां नो॒ भरी॑मभिः॥ ३२॥

'मही द्यौरित्यङ्गारैरभ्यूहतीति' (का० श्रौ० २५।१०।१६)। शामित्रे क्षिप्तं गर्भमङ्गारैश्छादयेत्। द्यावापृथिवीदेवत्या गायत्री, मेधातिथेरार्षम्। मही महती द्यौः पृथिवी च द्युलोको भूलोकश्च, नोऽस्माकमिमं यज्ञं मिमिक्षतां सिञ्चतु, सेक्तुमिच्छतां वा। भरीमभिर्भरणैर्हिरण्यपशुधान्यादिभिरस्मान् अस्मदीयं गृहं वा स्वैः स्वैः भागैः पिपृतां परिपूरयतु। इत्यग्निष्टोममन्त्राः।

शतपथे—'अथाङ्गारैरभिसमूहति। मही द्यौः····पिपृतां नो भरीमभिरिति' (श० ४।५।२।१८)।

अनन्तर स्वाहाकाररहित आहुति शामित्र अग्नि में प्रदान की जाती है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे प्राणवान् हनुमान् आदि, द्युलोक से सम्बद्ध विशिष्ट बल से युक्त, स्वप्रकाश परमात्मा के विशेष उपासक, आप लोग जिस पूजक यजमान भक्त के यज्ञगृह में अथवा हृदय-सदन में सोमपान करते हैं, प्रेमरस से परिप्लुत पत्र-पुष्प-फल आदि नैवेद्य को स्वीकार करते हैं, निश्चय ही वह अर्चक व्यक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ रक्षा से युक्त होता है। श्रीमद्भागवत (१०।२।३३) के वचनानुसार आपसे संरक्षित जनों को कोई भय नहीं होता।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्यान सार्थकता से रहित होने के कारण अग्राह्य है॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—यह विस्तृत द्युलोक और भूलोक हमारे इस यज्ञ को अपने-अपने भागों से पूर्ण करें, कृपारूपी जल की वर्षा करें, हिरण्य, धनधान्य, पशु, प्रजा आदि सभी अभीष्ट वस्तुओं से हमारे घर को पूर्ण करें॥ ३२॥

भाष्यसार—'मही द्यौः' इस ऋचा के द्वारा पूर्व प्रदत्त हवि को अंगारों से ढका जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।१०।१६) में प्रतिपादित है। इस ऋचा तक अग्निष्टोम के मन्त्र पूर्ण हो गये। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—मही महीरूपा उमा, 'महीस्वरूपेण यतः स्थितासि' (सप्त० ११।३) इति वचनात्, द्यौः स्वप्रकाशमानरूपः शिवः, इममुपासनालक्षणं यज्ञमर्चनं मिमिक्षतां कृपासुधावृष्ट्या सेक्तुमिच्छताम्। नोऽस्मान् भक्तान् भरीमभिर्भरणैर्हिरण्यरत्नादिभिर्लौकिकैः, ज्ञानविज्ञानवैराग्यादिभिश्च पिपृतां परिपूरयताम्।

दयानन्दस्तु—हे दम्पती, भवन्तौ मही द्यौर्महान् प्रकाशः प्रकाशमानः पतिर्मही पृथिवी स्त्री च युवां भरीमभिर्धारणपोषणादिगुणयुक्तैर्व्यवहारैः पदार्थैर्वा सह नोऽस्माकमन्येषां चेमं यज्ञं विद्वत्पूज्यं गृहाश्रमं मिमिक्षतां सुखैः सेक्तुमिच्छताम्, पिपृतां पिपूर्तः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य स्वाभ्यूहितत्वेन वेदबाह्यत्वात्। मही दिव्याकृतिः पुरुष इत्यपि निर्मूलमेव। पृथिवी विस्तृतशीला क्षमा धारणादिशक्तिमती स्त्री चेत्यपि गौणार्थाश्रयणमेव। यज्ञं विद्वत्पूज्यं गृहाश्रममिति च काल्पनिकमेव ॥ ३२ ॥

आतिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी। अर्वाचीनꣳ सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३३ ॥

अथ षोडशी। 'अग्ने पवस्व' (वा० सं० ८।३८) इत्यस्मात् प्राक् तिस्र ऐन्द्र्योऽनुष्टुभः। 'प्रातःसवनेऽतिग्राह्यान् गृहीत्वा षोडशिनं खादिरेण चतुःस्रक्तिनातिष्ठ युक्ष्वा हीति वा' इति (का० श्रौ० १२।५।२)। षोडशं स्तोत्रमस्यास्तीति षोडशी, पृष्ठ्यस्य चतुर्थेऽहनि षोडशिनो ग्रहणकालः। प्रातःसवने आग्रयणग्रहणानन्तरमाग्नेयमतिग्राह्यमादाय चतुष्कोणेन खादिरोलूखलेनातिष्ठ युक्ष्वा हीति मन्त्रयोरन्यतरेण सोपयामेन षोडशिग्रहं गृह्णीयात्। अत्रातिग्राह्यस्यैकत्वेऽपि बहुवचनं विश्वजिदर्थम्। विश्वजिति हि त्रयाणां ग्रहणमुक्तम्। इन्द्रदेवत्यानुष्टुप्, गोतमदृष्टा। हे वृत्रहन्, वृत्राख्यस्यासुरस्य हन्तः! ते तव हरी हरितवर्णौ अश्वौ ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन इन्द्रागच्छेत्यादिमन्त्रेण युक्ता रथे संयुक्तौ, अतस्त्वं रथमातिष्ठ अधितिष्ठ आरोह। तौ हीन्द्रस्याह्वानान्युपश्रुत्य प्राप्त आवयोर्नियोजनकाल इति मन्यमानौ स्वयमेवात्मानं रथे युञ्जाते। अथेदानीं रथारूढस्य ते सु साधु मनः, हे

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—सप्तशती (११।३) आदि के अनुसार पृथ्वीरूपिणी उमा भगवती तथा स्वप्रकाशमानरूप भगवान् शिव इस उपासनारूपी यज्ञार्चन को कृपामृत की वृष्टि के द्वारा सिंचित करने की इच्छा करें। हम भक्तों को स्वर्ण, रत्न आदि लौकिक तथा ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य आदि भरणीय पदार्थों से परिपूर्ण करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ इस प्रकार का सम्बोधन स्वेच्छा से कल्पित किये जाने से वेद के शब्दों से बहिर्भूत होने के कारण अग्राह्य है। मही का अर्थ 'दिव्याकृति पुरुष' करना भी निर्मूल है। 'पृथिवी क्षमा-धारणादि शक्ति से युक्त स्त्री' यह भी गौण अर्थ का आश्रयण ही है। यज्ञ का 'विद्वत्पूज्य गृहाश्रम' अर्थ करना भी काल्पनिक ही है ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे वृत्रघाती इन्द्र, आपके हरित वर्ण वाले दोनों अश्व तीनों वेदों के 'इन्द्रागच्छ' आदि मन्त्रों से रथ में जोते गये हैं, अतः आप रथ पर बैठिये। सोमाभिषव में व्यवहार को प्राप्त हुआ यह पाषाण आपके मन को सोमाभिषव की वाणी द्वारा यज्ञाभिमुख करे। हे नवम ग्रह सोम, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। सोलह स्तोत्र वाले षोडशी याग में आहूत इन्द्र देवता के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ। हे ग्रह, यह तुम्हारा स्थान है, षोडशी याग में आहूत इन्द्र देवता के निमित्त तुमको पुनः ग्रहण करता हूँ ॥ ३३ ॥

भाष्यसार—'आतिष्ठ' इस ऋचा के द्वारा षोडशी नामक ग्रह का ग्रहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग

इन्द्र ग्रावा सोमाभिषवसाधनभूतः पाषाणोऽर्वाचीनमस्मदभिमुखं कृणोतु, सुतरां वा कृणोतु। केन? वग्नुना सोमाभिषवध्वनिना। वग्नुरिति वाङ्नामसु पठितम् (निघ० १।११।२५)। हे सोम त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। षोडशिन इन्द्राय षोडशस्तोत्रवत इन्द्राय त्वां गृह्णामीति शेषः। एष ते योनिः स्थानम्।

अत्र ब्राह्मणम् —'इन्द्रो ह वै षोडशी। तं नु सकृदिन्द्रं भूतान्यत्यरिच्यन्त प्रजा वै भूतानि ता हैनेन सदृग्भवमिवासुः' (श० ४।५।३।१)। षोडशीति ज्योतिष्टोमो ग्रहः काम्यो विधीयते, तदर्थमितिहासोपन्यासः। इन्द्रो देवराजः, षोडशावयववशाकर्षणश्चक्षुः षोडशः, सोऽस्यास्तीति षोडशी। योऽयं षोडशीन्द्रस्तं नु इन्द्रं प्राग् भूतानि तान्येवेच्छाकामाय अत्यरिच्यन्त ज्ञानैश्वर्यप्रभावैः। प्रजा वै भूतानि ताः प्रजा एनेन इन्द्रेण सदृग्भवमासुः सदृश्यो भूत्वा आसुः स्थिताः। 'इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे। कथं न्वहमिदꣳ सर्वमतितिष्ठेयमर्वागेव मदिदꣳ सर्वꣳ स्यादिति स एतं ग्रहमपश्यत् तमगृह्णीत स इदꣳ सर्वमेवात्यतिष्ठदर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वमभवत् सर्वꣳ ह वा इदमतितिष्ठत्यर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वं भवति यस्यैवं विदुष एतं ग्रहं गृह्णन्ति' (श० ४।५।३।२)। स एतं ग्रहमपश्यत्तमगृह्णीत, यदस्मादिन्द्रात् कर्मविद्याभावनाभिर्निकृष्टं तत्सर्वमतिक्रम्य अतिष्ठत्। यस्यैव विदुष एतं ग्रहं गृह्णन्ति स इदं सर्वमतिक्रम्य तिष्ठतीति फलवचनम्। 'तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तम्। न ते महित्वमनुभूदध द्यौर्यदन्यया स्फिग्या क्षामवस्था इति न ह वा अस्यासौ द्यौरन्यतरां च न स्फिगीमनुबभूव तथेदꣳ सर्वमेवात्यतिष्ठदर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वमभवत्····यस्यैवं विदुष एतं ग्रहं गृह्णन्ति' (श० ४।५।३।३)। मन्त्रेणैतदिन्द्रस्याधिष्ठातृत्वमभ्यनूक्तम्। इहाप्युच्यते—हे भगवन्निन्द्र, विजानतो बहूनि जातानि मरुदादीनि यस्य तव महित्वं नानुभवति, द्यौरधो न ह वा अस्यासौ द्यौरन्यतरां च न स्फिगीमनुबभूव, तमपि प्रदेशमुन्नततया द्यौर्न प्राप्तेत्यर्थः। एवमिन्द्रोऽत्यतिष्ठत्।

'तं वै हरिवत्यर्चा गृह्णाति। हरिवतीषु स्तुवते हरिवतीरनुशꣳसन्ति वीर्यं वै हर इन्द्रोऽसुराणाꣳ सपत्नानाꣳ समवृङ्क्त तथो एवैष एतद्वीर्यꣳ हरः सपत्नानाꣳ संवृङ्क्ते····' (श० ४।५।३।४)। 'तं वा अनुष्टुभा गृह्णाति····' (श० ४।५।३।५)। 'तं वै चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति। त्रयो वा इमे लोकास्तदिमानेव लोकांस्तिसृभिः स्रक्तिभिराप्नोत्येवैनं चतुर्थ्या स्रक्त्या रेचयति तस्माच्चतुःस्रक्तिना पात्रेण गृह्णाति' (श० ४।५।३।६)। 'तं वै प्रातःसवने गृह्णीयात्। आग्रयणं गृहीत्वा स प्रातःसवने गृहीत एतस्मात्कालादुपशेते तदेनꣳ सर्वाणि सवनान्यतिरेचयति' (श० ४।५।३।७)। इमान्येव श्रौतानि वचनान्यनुरुद्ध्य कात्यायनस्तदनुसारिणः सायणादयश्च मन्त्रमिमं व्याख्यातवन्तः। 'अथातो गृह्णात्येव। आतिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता····षोडशिन इति' (श० ४।५।३।९)।

अध्यात्मपक्षे—हे वृत्रहन्, वृत्रमावरकमज्ञानं हतवानिति वृत्रहा, तत्सम्बुद्धौ हे वृत्रहन्, ते तव हरी हरितवर्णौ अश्वौ, ब्रह्मणा वेदेन मन्त्रेणेत्यर्थः, युक्तौ रथे संयुक्तौ, अतस्त्वं तादृशं रथमातिष्ठ। रथारूढस्य ते तव मनो ग्रावा सोमाभिषवपाषाणो वग्नुना सोमाभिषवध्वनिनाऽर्वाचीनमस्मदभिमुखं सुष्ठु कृणोतु। एतेन

कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।२) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण के वचनों के अनुसार कात्यायन तथा उनके अनुयायी सायण आदि आचार्यों ने इस मन्त्र की व्याख्या की है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—आवरणकर्ता अज्ञानात्मक वृत्र को विनष्ट करने वाले हे वृत्रहन्ता, आपके हरित वर्ण के दो अश्व वेद-मन्त्रों से रथ में संयुक्त हैं, अतः इस प्रकार के रथ पर आप प्रतिष्ठित होइये। रथारूढ आपके चित्त को सोमकुट्टन का प्रस्तर खण्ड सोमाभिषव की ध्वनि के द्वारा भली-भाँति हमारे अभिमुख करे। इससे

सर्वेश्वरो भक्तानामाह्वानेन भक्तकृतार्चाग्रहणाय विग्रहवान् भूत्वा भक्तपूजास्थानं मायामयाभ्यां कल्पिताभ्यामश्वाभ्यां युक्तं मायामयं रथमारुह्यागच्छति। भगवतः समर्चनसाधनदिव्यनैवेद्यनिर्माणव्यापृतपाषाणादिध्वनिना तन्मनोऽर्चकाभिमुखं च भवति। हे सोम, निवेदनीयद्रव्य! त्वमुपयामगृहीतोऽसि। षोडशिने षोडशकलायुक्तायेन्द्राय परमेश्वराय त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिरासादनस्थानम्, षोडशिने त्वां समर्पयामि।

अत्र दयानन्दः—'हे वृत्रहन्, ग्रावा मेघ इव सुखवर्षिता गृहस्थोऽसि। ते तव यत्र रथं रथे रमणीयं विद्याप्रकाशमयं गृहाश्रमं यानं वा ब्रह्मणा जलेन धनेन वा हरी हरणशीलौ धारणाकर्षणगुणाविवाश्वौ युक्ता युक्तौ, तं त्वमातिष्ठ। अस्मिन् गृहाश्रमे ते तव यन्मनोऽर्वाचीनमधोगामि अनुकृष्टगति जायते, तद् वग्नुना वेदवाचा भवान् शान्तः सुकृणोतु। यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि षोडशिने षोडश कला विद्यन्ते यस्मिन् तस्मै इन्द्राय ऐश्वर्यप्रदाय गृहाय त्वामुपदिशामि। हे गृहाश्रममभीप्सो! ते तव एष गृहाश्रमो योनिर्गृहमस्ति, षोडशिन इन्द्राय त्वां नियुनज्मि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वृत्रहन्निति पदेन गृहस्थार्थबोधने प्रमाणाभावात्, शत्रुहन्तृत्वस्य सिंहादिपशूनामपि सम्भवात्, योद्धृणामपि सम्बोधनसम्भवाच्च। रथपदस्य रमणीयगृहाश्रमपरत्वकल्पनमपि बलात्कार एव। तथैव षोडशिपदं गृहाश्रमपरमित्यपि निर्मूलम्, कलानां व्यक्तिनिष्ठत्वात्॥ ३३॥

यु॒क्ष्वा हि के॒शिना॒ हरी॒ वृष॑णा कक्ष्य॒प्रा। अथा॑ न इन्द्र सोमपा गि॒रामुप॑श्रुतिं चर। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा षोड॒शिन॑ ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा षोड॒शिने॑॥ ३४॥

द्वितीयोऽयं षोडशिग्रहग्रहणमन्त्रः। इन्द्रदेवत्याऽनुष्टुब् मधुच्छन्दोदृष्टा। हे इन्द्र, हि निश्चयेन, केशिना केशिनौ प्रलम्बकेसरौ हरी हरितवर्णौ अश्वौ वृषणा सेक्तारौ तरुणौ कक्ष्यप्रा कक्ष्यप्रौ स्थूलावयवौ युक्ष्वा युङ्धि रथेन योजय, कक्षे भवा कक्ष्याऽश्वसन्नाहरज्जुः। कक्ष्यां प्रातः पूरयत इति कक्ष्यप्रौ। अथ समनन्तरमेव रथारोहणानन्तरं हे इन्द्र, सोमपाः सोमपानशीलः, गिरामुपश्रुतिं चर, स्तुतिलक्षणां गिरं वाचमुपश्रुत्य चर

सर्वेश्वर प्रभु भक्तों के आह्वान के द्वारा भक्तों द्वारा की गई अर्चना को स्वीकार करने के लिये मूर्तिमान् होकर भक्त की पूजास्थली में मायामय कल्पित अश्वों से युक्त मायामय रथ पर आरूढ होकर आते हैं। भगवान् की पूजा के साधन दिव्य नैवेद्य के निर्माण में लगे हुए पाषाण आदि की ध्वनि से उनका मन उपासक की ओर अभिमुख होता है। हे निवेदनीय द्रव्य, तुम प्रेम से संगृहीत हो। षोडश कलाओं से युक्त परमेश्वर के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह पूजास्थान तुम्हारा स्थापन-प्रदेश है, सोलह कलाओं से मण्डित होने के लिये तुमको समर्पित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में 'वृत्रहन्' शब्द से गृहस्थ अर्थ बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण असंगति है। शत्रुहन्तृत्व तो सिंह आदि पशुओं में भी सम्भव है तथा योद्धाओं का भी यह सम्बोधन हो सकता है। रथ शब्द का अर्थ 'रमणीय गृहाश्रम' करना भी शब्दों से बलात्कार है। इसी प्रकार षोडशी पद गृहस्थाश्रमपरक है, यह कहना भी निर्मूल है, क्योंकि कलाएँ व्यक्तिनिष्ठ होती हैं॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, तुम बहुत लम्बी केशर वाले, तरुण, सेचन में समर्थ, स्थूल अवयव वाले, कक्षा-बन्धन से संयुक्त दोनों अश्वों को दृढ़तापूर्वक निश्चय ही रथ में जोत लो। तदनन्तर सोमपान करते हुए हमारी ऋक् आदि वेदवाणी को कर्णगोचर करो॥ ३४॥

भाष्यसार—'युक्ष्वा हि' यह ऋचा भी षोडशी ग्रह के ग्रहण में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक

अस्मद्‌गृहमागच्छ। यद्वा गिरामस्मदीयानामृग्यजुःसामलक्षणानां वाचामुपश्रुतिमुपश्रवणं चर गच्छ प्राप्नुहि, श्रुत्वा चास्मद्‌गृहमागच्छेत्यर्थः। अन्यत् पूर्ववत्। 'अनया वा। युक्ष्वाहि ''षोडशिन' (श० ४।५।३।१०)। अत्रानया वेति स्पष्टतया विकल्प उक्तः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, हि निश्चयेनात्रागमनाय हरी हरितवर्णाविश्वौ युक्ष्व रथेन योजय। कीदृशौ तौ? केशिना प्रलम्बकेसरौ, वृषणा वर्षितारौ कामपूरकौ, कक्ष्यप्रा स्थूलावयवौ। अथानन्तरं सोमपाः सोमपानशीलः सन् गिरामस्मदीयां स्तुतिलक्षणां वाचमुपश्रुतिं चर वाचमुपश्रुत्य चर आगच्छ। श्रीरामं श्रीकृष्णं विष्णुं वा भक्तः प्रार्थयते। देवतानां माहाभाग्यात्तद्रूपा एवाश्वरथादयः परिकल्प्यन्ते।

दयानन्दस्तु—'हे सोमपा! ऐश्वर्यरक्षक इन्द्र, शत्रुविदारक सेनाध्यक्ष, त्वं केशिना प्रशस्तकेशवन्तौ, वृषणा वृषवद्बलिष्ठौ, कक्ष्यप्रा अभीष्टदेशप्रापकौ, हरो यानस्य हरणशीलौ हरी, रथे युक्ष्व। अथेत्यनन्तरं नोऽस्माकं गिरां वाचमुपश्रुतिमुपगतां श्रूयमाणां चर विजानीहि। अन्यत् पूर्ववत्' इति, तदपि विसङ्गतमेव, इन्द्रपदस्य सेनाध्यक्षार्थत्वे मानाभावात्। हिन्दीभाष्ये—'षोडशिने षोडशकलापरिपूर्णाय इन्द्राय परमैश्वर्यप्रदाय गृहाश्रमाय त्वामाज्ञापयामि' इत्युक्तम्, तत्तु निरर्थकमेव, सेनाध्यक्षाय कस्तादृशीमाज्ञां ददाति? कश्च कस्य तेन लाभः? कथं च सङ्गतिरित्यादिकं चिन्त्यमेव॥ ३४॥

इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिने एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने॥ ३५॥

षोडशिग्रहग्रहणे तृतीयो मन्त्रविकल्पः। इन्द्रदेवत्याऽनुष्टुप्। हरी हरितवर्णौ अश्वौ, ऋषीणां वशिष्ठादीनां स्तुतीरुप समीप इन्द्रमेव वहतः प्रापयतः। मानुषाणां च यजमानानां यज्ञमुप यज्ञसमीपे हरी इन्द्रं वहतः। किं भूतमिन्द्रम्? अप्रतिधृष्टशवसम्, प्रतिधर्षयितुं पराभवितुं शक्यं प्रतिधृष्टम्, न प्रतिधृष्टमप्रतिधृष्टम्, अप्रतिधृष्टं

प्रक्रिया के अन्तर्गत षोडशी ग्रह के ग्रहण में स्पष्टतः विकल्प से इसका विनियोग निरूपित है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, निश्चय ही यहाँ आने के लिये हरित वर्ण के अश्वों को रथ में संयुक्त कीजिये। वे अश्व दीर्घ केशों वाले, कामनाओं को पूर्ण करने वाले तथा पुष्ट अंगों से युक्त हैं। तदनन्तर आप सोमपानशील होते हुए हमारी स्तुत्यात्मिका बाणी को सुन कर आगमन करें। इस प्रकार भक्त श्रीराम, श्रीकृष्ण अथवा विष्णु से प्रार्थना करता है। देवताओं के महान् ऐश्वर्य के कारण अश्व, रथ आदि भी तद्रूप ही परिकल्पित किये जाते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्या में इन्द्र शब्द के 'सेनाध्यक्ष' अर्थ में कोई प्रमाण न होने के कारण विसंगति है। हिन्दी भाष्य में भी सेनाध्यक्ष को उस प्रकार की आज्ञा कौन देता है? उससे उसका क्या लाभ है? इसकी संगति कैसे होगी? यह सब चिन्ता के योग्य हैं॥ ३४॥

मन्त्रार्थ—हरित वर्ण के दोनों अश्व अप्रतिहत बल वाले इन्द्र देवता को ऋषियों के द्वारा की गई स्तुति को सुनाने के लिये उनके समीप ले जाते हैं और यजमानों के यज्ञ के समीप भी इन्द्र को पहुँचाते हैं॥ ३५॥

भाष्यसार—'इन्द्रमिद्' यह ऋचा भी याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत षोडशी ग्रह के ग्रहण में तृतीय विकल्प के

शवो बलं यस्य तं तथोक्तम्। 'ऋक्सामे वै हरी' (श० ४।४।३।६) इति श्रुत्या द्विवचनान्तहरिशब्दस्य ऋक्सामवाचकत्वात् सर्वत्र नानावर्णछन्दोमये ऋक्सामे वा ग्राह्ये, 'पशवो वै देवानां छन्दाᳪसि' (श० ४।४।३।१) इति श्रुतेः। हरितवर्णौ शक्राश्वौ।

अध्यात्मपक्षे—हरी, हरत इति हरी, हरणशीलावश्वाविव भक्तानां भगवदाकर्षकौ श्रद्धाविश्वासौ, उत्साहानुरागौ वा, ऋषीणां स्तुतीरुप ऋषिकल्पानां भक्तानां स्तुतिसमीपे इन्द्रमित भगवन्तमेव वहतः प्रापयतः। मानुषाणामुपासकानां यज्ञमुप यज्ञसमीपे च तमेव वहतः। कीदृशमिन्द्रम्? अप्रतिधृष्टशवसम् अप्रतिधृष्टबलम्, तादृशमपि तौ वहत इत्यभिप्रायः।

दयानन्दस्तु—'हे सोमपाः! ऐश्वर्यरक्षक इन्द्र, शत्रुनाशकसभाध्यक्ष, त्वं षोडशिन इन्द्राय यौ हरी सुशिक्षितावश्वा अप्रतिधृष्टशवसं प्रतिधृष्टं प्रगल्भं शवो बलं येन तद्रहितमिन्द्रमित इन्द्रमेव वहतः। ताभ्यामृषीणां चाद् वीराणां स्तुतीर्मानुषाणां च यज्ञसंगमनीयं व्यवहारं चात् पालनमुपचर' इति, हिन्दीभाष्ये तु—'हे इन्द्र सोमपाः, षोडशकलायुक्तायोत्तमैश्वर्याय यौ सुशिक्षितावश्वौ, येन सम्यक् स्वबलं वर्धितं तमिन्द्रं परमैश्वर्यवृद्धये सेनारक्षकं सेनाध्यक्षं च वहतः, ताभ्यां युक्तो वेदमन्त्रज्ञानां विदुषां वीराणां च स्तुतीर्गुणज्ञानं साधारणजनानां सङ्गमयोग्यं व्यवहारं तत्पालनं च कुरु समीपं च प्राप्नुहि। यस्य ते एष योनिर्निमित्तं राज्यधर्मः, यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि, सर्वसामग्रीयुक्तोऽसि, तं त्वा षोडशिन इन्द्राय प्रजा आश्रयेरन् वयं चाश्रयेम' इति, तत्सर्वं यत्किञ्चित्, सङ्गतिवैधुर्यात्। व्यक्तिविशेषाणां व्यवहारवर्णने वेदानामनित्यत्वापत्तेः। कोऽयमीदृशः सभाध्यक्षः क्वासीत्? कश्चैनं सम्बोधयति? कौ च तावश्वौ सुशिक्षितौ? तं च क्व नयतः? तयोश्च विदुषां वीराणां च गुणज्ञाने साधारणजनव्यवहारे तत्पालने च क उपयोगः? इत्यादिप्रश्नानामशक्यनिरूपणत्वात्, विप्रकृष्टगौणार्थाश्रयणस्य दूषणत्वाच्च ॥ ३५ ॥

यस्मा॒न्न जा॒तः परो॑ अ॒न्यो अस्ति॒ य आ॑वि॒वेश॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑। प्र॒जाप॑तिः प्र॒जया॑ सᳪर॒राणस्त्रीणि॒ ज्योती॑ᳪषि सचते॒ स षो॑ड॒शी ॥ ३६ ॥

रूप में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की अर्थसंगति इस प्रकार है—हरणशील अश्वों की भाँति भगवान् के आकर्षक श्रद्धा तथा विश्वास अथवा उत्साह एवं अनुराग दोनों ऋषिकल्प भक्तों की स्तुति के समीप भगवान् को ही पहुँचाते हैं। उपासकों के यज्ञ के समीप भी उनको ही लाते हैं। ऐसे अधर्षणीय बलशाली उनको भी वे ले आते हैं, यह अभिप्राय है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत तथा हिन्दी अर्थ संगतिविहीन होने के कारण अग्राह्य है। व्यक्तिविशेष आदि का व्यवहार वर्णित होने पर वेदों की अनित्यता भी संभावित हो जाती है। इस प्रकार का वर्णित कौन सभाध्यक्ष कहाँ था? इसको कौन सम्बोधित करता है? वे कौन से सुशिक्षित घोड़े हैं और उसको कहाँ ले जाते हैं? विद्वानों तथा वीरों के गुणज्ञान में, जनसामान्य के व्यवहार में तथा उसके पालन में उन दोनों का क्या उपयोग है? इत्यादि अनेक प्रश्नों का समाधान असम्भव है। दूरवर्ती गौण अर्थ के आश्रयण का दोष भी इसमें है ॥ ३५ ॥

'उपस्थायैनं यस्मान्न जात इति' (का० श्रौ० १२।५।२०)। यस्मान्न जात इति षोडशिग्रहमुपतिष्ठेत् । इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप् । अत्र षोडशी परब्रह्मरूपेण स्तूयते । यस्मादन्यः पर उत्कृष्टो देवादिर्न जातो नोत्पन्न , अस्ति विद्यते । यो विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि आविवेश अन्तर्यामिरूपेण प्रवेशं कृतवान्, 'यः सर्वभूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' (बृ० उ० ३।७।१४), स प्रजापतिः स्वस्मादुत्पन्नसमस्तप्रजानां पतिः पालकः प्रजया संरराणः स्वोत्पन्नप्रजाभिः सम्यग् रममाणः क्रीडन् त्रीणि ज्योतींष्यग्निवायुसूर्यलक्षणानि तेजांसि स्वस्वविषय-प्रकाशकानि सचते सेवते, स्वतेजसा तेषामुज्जीवनं करोति, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७), 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० उ० २।२।१०) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तथा षोडशी षोडशकलात्मकलिङ्गशरीरोपहितः । यद्वा प्रश्नोपनिषदुक्ताः षोडशकलाः सन्त्यस्मिन्निति षोडशी । ताश्च— प्राणः (१), श्रद्धा (२), आकाशः (३), वायुः (४), ज्योतिः (५), आपः (६), पृथिवी (७), इन्द्रियम् (८), मनः (९), अन्नम् (१०), वीर्यम् (११), तपः (१२), मन्त्राः (१३), कर्म (१४), लोकाः (१५), नाम (१६) चेति ।

अध्यात्मपक्षे –यस्मात् परमेश्वरादन्यः कश्चिदपि देवादिरन्यो वा न जातो विद्यते, यश्च विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि चेतनाचेतनात्मकान्याविवेश, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० उ० २।६) इति श्रुतेः, यश्च प्रजापतिः सर्वप्रपञ्चस्वामी प्रजया संरराणः प्रजारूपेण क्रीडमानः, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० उ० ३।१४।१) इति श्रुतेः, त्रीण्यग्निवाय्वादित्यात्मकानि सचते तेषु शक्तिप्रदातृत्वेन समवैति, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० उ० २।२।१०) इति श्रुतेः ।

दयानन्दस्तु—'यस्मात् परोऽन्यो न जातोऽस्ति, यो विश्वा भुवनानि आविवेश, स प्रजापतिः प्रजया संरराणः सम्यग्दानशीलः षोडशी, त्रीणि ज्योतींषि सूर्यविद्युदग्न्याख्यानि सचते सर्वेषु समवैति' इति, तदपि न युक्तम्, समवायस्य नित्यत्वेनान्यकर्तृकत्वायोगात् ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—जिस पुरुष से बढ़ कर दूसरा कोई उत्कृष्ट नहीं है, जो सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों में अन्तर्यामी के रूप में प्रविष्ट है, वह सोलह कला वाले लिंग शरीर से उपहित, जगत् का स्वामी, प्रजा के रूप में सम्यक् रमण करता हुआ प्रजा के पालन के लिये अग्नि, वायु और सूर्य नामक तेजों को अपने तेज से भर देता है ॥ ३६ ॥

भाष्यसार—'यस्मान्न' इस ऋचा के द्वारा षोडशी ग्रह का उपस्थान किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।२०) में निरूपित है। याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत इस मन्त्र में षोडशी की ही परब्रह्म के रूप में स्तुति है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—जिस परमेश्वर से अतिरिक्त कोई भी देव आदि उत्पन्न नहीं हुआ है और जो सम्पूर्ण जडचेतनात्मक भूतसमूह में प्रविष्ट है, वह प्रजापति समस्त सृष्टिप्रपञ्च का स्वामी प्रजा के रूप से क्रीडा करता है। अग्नि, वायु तथा आदित्य रूपी तीनों ज्योतियों में शक्तिप्रदाता के रूप से वह समन्वित रहता है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि समवाय नित्य होने के कारण उसका अन्यकर्तृक होना असंगत है ॥ ३६ ॥

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्र एतम् । तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥ ३७ ॥

इन्द्रश्च समाडिति भक्षणम्, षोडशिग्रहगतं सोमं भक्षयेत् । इन्द्रवरुणदेवत्या षोडशिदेवत्या वा त्रिष्टुब् यजुरन्ता । अन्त्यपादौ द्वादशार्णौ । सह प्राणेनेति यजुः । विवस्वत आर्षम् । हे षोडशिग्रह ! इन्द्रश्च सम्राड् यो वाजपेययाजी, वरुणश्च राजा यो राजसूययाजी, 'राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति सम्राड् वाजपेयेन' (श० ५।१।१।१३) इति श्रुतेः । ताविन्द्रवरुणौ द्वौ देवौ ते तवैतं सोमं भक्षं चक्रतुः कृतवन्तौ, अग्रे प्रथमम् । तयोः सम्बन्धिनं भक्षमनुकुर्वन्नहं भक्षयामि सोमं पिबामि । मदीयेन भक्षेण जुषाणा सेवमाना वाग्देवी सरस्वती प्राणेन प्राणदेवतया सह सोमस्य सोमेन तृप्यतु तृप्ता भवतु ।

अध्यात्मपक्षे— हे भगवत्प्रसादभूतद्रव्य, इन्द्रश्च सम्राट्, वरुणश्च राजा, तौ प्रसिद्धौ विशिष्टौ देवौ ते तव सम्बन्धि भक्षं प्रसादग्रहणं चक्रतुः । एतं तं भक्षमनुकुर्वन्नहमपि भक्षयामि । मदीयेन भक्षेण वाग्देवी सरस्वती प्राणेन प्राणदेवतया सह सोमस्य सोमेन सोमात्मकेन प्रसादेन तृप्ता भवतु ।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजाजन, य इन्द्रश्च परमैश्वर्ययुतः सम्राट् सम्यग् राजते स चक्रवर्ती वरुणः श्रेष्ठो माण्डलिकः प्रतिमाण्डलिकश्च राजा न्यायादिगुणैः प्रकाशमानः, ते तव प्रजाजनस्य भक्षं भजनं सेवनं चक्रतुः कुर्याताम्, एतं तयो रक्षकयो राज्ञोरहमनु पश्चाद् भक्षं सेवनं भक्षयामि पालयामि, या सोमस्य विद्यैश्वर्यस्य प्राप्तये जुषाणा देवी दिव्या वागस्ति, तया स्वाहा सत्यया वाचा प्राणेन बलेन सह सर्वो जनस्तृप्यतु' इति, तदपि विसङ्गतमेव, विरुद्धत्वात् । तथाहि राजा न्यायादिगुणैः प्रकाशमान इत्युक्तेः स्वारस्यासङ्गतिः, सम्राजोऽपि न्यायादिगुणैः प्रकाशमानत्वाविशेषात् । न च ताभ्यां प्रजासेवनं क्रियते, तयोः पालकत्वात् । न च पालनमेव सेवनम्, तथात्वे सेवकस्यापि राजत्वव्यपदेशापत्तेः । कश्चायं यस्ताभ्यां कृतस्य सेवनस्य पश्चात् कृतेन सेवनेन पिष्टपेषणं करोति ? श्रुतिविरोधश्च दुर्निवारः, तत्र वाजपेयराजसूययाजिनोरेव सम्राट्त्वराजत्वोक्तेः ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—हे षोडशी ग्रह, सम्यक् प्रकार से प्रकाशमान इन्द्र और वरुण राजा —इन दोनों ने ही तुम्हारे इस सोम का प्रथम भोजन किया था । उस इन्द्र और वरुण सम्बन्धी भक्ष को अब मैं भक्षण करता हूँ । मेरे सेवन से सरस्वती प्राण के साथ सोम द्वारा तृप्त हो । यह आहुति सम्यक् गृहीत हो ॥ ३७ ॥

भाष्यसार—'इन्द्रश्च सम्राट्' इस मन्त्र से षोडशी ग्रहपात्र में स्थित सोम का भक्षण किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अन्य आचार्यों ने मन्त्र की व्याख्या की है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—भगवान् के प्रसादभूत हे द्रव्य, सम्राट् इन्द्र तथा राजा वरुण इन दोनों विशिष्ट देवताओं ने तुम्हारा प्रसाद ग्रहण किया है । उस भक्षण का अनुकरण करते हुए मैं भी प्रसाद भक्षण करता हूँ । मेरे भक्षण के द्वारा वाग्देवी सरस्वती प्राण देवता के साथ सोमात्मक प्रसाद से तृप्त हो ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ विरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है । राजा, अर्थात् 'न्यायादि गुणों से प्रकाशमान' इस प्रकार कथन में कोई तात्पर्य संगत नहीं होता, क्योंकि सम्राट् में भी उसके समान ही न्यायादि गुणों से प्रकाशमानत्व है । उन दोनों के द्वारा प्रजासेवन भी नहीं किया जाता, क्योंकि वे दोनों पालक हैं । पालन ही सेवन है, यह भी अनुचित है । ऐसा मानने पर तो सेवक की भी संज्ञा राजा हो सकती है । वह कौन है, जो उनके द्वारा किये गये सेवन के बाद सेवन के द्वारा पिष्टपेषण करता है ? इस अर्थ में श्रुतिवाक्यों का विरोध तो अपरिहार्य है, क्योंकि श्रुति में वाजपेय तथा राजसूय यागों का अनुष्ठान सम्पन्न करने वाले के लिये ही सम्राट् तथा राजा विशेषण निर्दिष्ट हैं ॥ ३७ ॥

अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम् ॥ उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चस एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे । अग्ने वर्चस्विन् वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३८ ॥

अथ द्वादशाहमन्त्राः । 'पृष्ठ्यः षडहः प्रथमोऽग्निष्टोमश्चतुर्थः षोडश्युक्थ्या इतरे, तत्रातिग्राह्यग्रहणं त्र्यहे पूर्वेऽग्ने पवस्वोत्तिष्ठन्नदृश्रमित्यन्वहमेकैकम्' (का० श्रौ० १२।३।१-२) । 'अग्ने वर्चस्विन्निन्द्रौजिष्ठ सूर्य भ्राजिष्ठेति भक्षणं यजमानैः' (का० श्रौ० १२।३।६) इति । अतिरात्रादनन्तरं षडहः पृष्ठ्यसंज्ञको भवति । षण्णामह्नां समाहारः षडहः । तत्र षडहे प्रथमः क्रतुरग्निष्टोमसंस्थः, चतुर्थः क्रतुः षोडशिसंस्थः । द्वितीयतृतीयपञ्चमषष्ठाः क्रतव उक्थसंस्थाः कार्याः । पृष्ठ्ये षडहे प्रथमद्वितीयतृतीयेष्वहस्सु वैकङ्कतैः पात्रैरतिग्राह्यसंज्ञकान् ग्रहान् गृह्णीयात् । अग्ने पवस्वेति प्रथमे, उत्तिष्ठन्निति द्वितीये, अदृश्रमिति तृतीयेऽहन्येकैकं ग्रहं गृह्णाति । इतरग्रहानतिक्रम्य दुष्प्रापं फलं गृह्यत एभिरित्यतिग्राह्याः । अग्ने वर्चस्विन्नित्यादिमन्त्रैस्तद्ग्रहशेषं भक्षयेत् । अग्निदेवत्या गायत्री वैखानसदृष्टा । हे अग्ने, त्वमस्मे अस्मासु सुवीर्यं शोभनं वीर्यं यस्मिन् तद् वर्चः शोभनसामर्थ्योपेतं ब्रह्मवर्चसं पवस्व प्रवर्तयस्व, पवतिः प्रवृत्त्यर्थोऽन्तर्भावितण्यर्थः । 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेः शे आदेशे अस्मे इति रूपम् । कीदृशस्त्वम् ? स्वपाः सुकर्मा । अप इत्यस्य कर्मनामसु पाठात् शोभनान्यपांसि कर्माणि यस्य स तथोक्तः । एवमृत्विग्भिः प्रार्थयित्वा स्वयं प्रार्थयते यजमानः । मयि यजमाने रयिं दधद् धारयन् पोषं पुष्टिं पुत्रपश्वादिवृद्धिं पवस्व प्रवर्तयस्वेति । उपयामो ग्रहः । हे सोम, तेन त्वं गृहीतोऽसि । वर्चसे वर्चस्विने तेजस्विनेऽग्नये त्वां गृह्णामीति शेषः । एष खरप्रदेशस्ते तव योनिः स्थानम् । तादृशायाग्नये त्वां सादयामीति शेषः । हे अग्ने ! वर्चस्विन् विशिष्टतेजोयुक्त, त्वं सर्वदेवेष्विन्द्रादिषु मध्ये वर्चस्वानतिदीप्तिमान् भवसि । त्वत्प्रसादादहमपि मनुष्येषु मध्ये वर्चस्वान् ब्रह्मवर्चससम्पन्नो भूयासम् । 'ते माहेन्द्रस्यैवानु होमँ हूयन्ते । एष वा इन्द्रस्य निष्केवल्यो ग्रहः''''॥ अथातो गृह्णात्येव । अग्ने पवस्व''''वर्चसे' (श० ४।५।४।८-९) ।

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, अच्छे कर्म करने वाले आप मुझ यजमान के लिये धन और पुष्टि को धारण करो । मुझे और सभी ऋत्विजों को सुन्दर सामर्थ्य से युक्त ब्रह्मतेज दो । हे प्रथम अतिग्राह्य ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, कान्तिप्रद अग्नि देवता की प्रीति के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ । हे प्रथम अतिग्राह्य ग्रह, यह तुम्हारा स्थान है । तेजःप्रद अग्निदेवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें इस स्थान में स्थापित करता हूँ । हे विशिष्ट तेजोयुक्त अग्निदेव, आप देवताओं में अतिदीप्तिमान् हैं, इस कारण आपके प्रसाद से मैं मनुष्यों में कान्तियुक्त अतितेजस्वी हो जाऊँ ॥ ३८ ॥

भाष्यसार—'अग्ने पवस्व' इस कण्डिका से प्रारम्भ कर द्वादशाह के मन्त्र उपदिष्ट हैं । अतिरात्र के बाद ६ दिनों का समुदाय 'पृष्ठ्य षडह' कहा जाता है । उस षडह में पहला याग अग्निष्टोम संस्था वाला तथा चौथा याग षोडशी संस्था का होता है । द्वितीय, तृतीय, पञ्चम तथा षष्ठ याग उक्थ संस्था वाले करने चाहिये । पृष्ठ्य षडह में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय दिनों में विकंकत काष्ठ के पात्रों से अतिग्राह्य नामक ग्रहों का ग्रहण किया जाता है । उनमें प्रथम दिन 'अग्ने पवस्व' इस मन्त्र से अतिग्राह्य ग्रह का ग्रहण तथा 'अग्ने वर्चस्विन्' इस मन्त्र से ग्रहशेष का भक्षण किया जाता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।३।१-२, ६) में निर्दिष्ट है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे– हे अग्ने परमेश्वर ! त्वमस्मासु शोभनसामर्थ्यसम्पन्नं वर्चो ब्रह्मवर्चसं त्वत्प्राप्त्यनुगुणं ज्ञानं पवस्व प्रवर्तयस्व। कीदृशस्त्वम् ? स्वपाः शोभनान्यपांसि जगदुत्पत्ति-स्थिति-लयानुग्रहादीनि कर्माणि यस्य सः, तादृशस्त्वं हे भगवन् मयि रयिं ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपां सम्पत्तिं दधद् धारयन् पोषं तस्यैव पुष्टिं दृढतां च पवस्व। हे सोम, उपयामगृहीतोऽसि प्रेमवशीकृतोऽसि। वर्चसे तेजस्विनेऽग्नये परमात्मने त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्, वर्चस्विने तस्मै त्वां सादयामि। हे अग्ने वर्चस्विन् ! सूर्यचन्द्राग्निषु प्रकाशप्रद परमेश्वर, यथा त्वं देवेषु वर्चस्वान् लोकोत्तरसर्वातिशायिज्ञानविज्ञानलक्षणदीप्तियुक्तो भवसि, तथैव त्वत्प्रसादादहमपि मनुष्येषु ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भूयासम्।

दयानन्दस्तु –'हे स्वपा वर्चस्विन्नग्ने सभापते राजन् ! त्वमस्मेऽस्मभ्यं सुवीर्यं वर्चः सुष्ठु वीर्यं बलं यस्मात्तद् वर्चो वेदाध्ययनं मयि पालनीये जने रयिं धनं पोषं पुष्टिं दधद् धारयन् सन् पवस्व शुन्ध। त्वमुपयामगृहीतोऽसि राज्यव्यवहाराय स्वीकृतोऽसि। त्वां वर्चसे स्वप्रकाशायाग्नये वेदप्रवर्तकाय वयं स्वीकुर्मः। ते तव एष योनी राज्यभूमिर्वसतिः, वर्चसेऽग्नये त्वां सम्प्रेरयामः। हे अग्ने, यथा त्वं देवेषु विद्वत्सु वर्चस्वानसि, तथाहं मनुष्येषु मनस्विषु वर्चस्वान् भूयासम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थत्वात्, सम्भवति मुख्यार्थे गौणार्थाश्रयणायोगात्, वेदाध्ययनलक्षणब्रह्मवर्चसस्थापनायाचार्यः प्रार्थनीयो भवति, न राजा। न च कश्चिल्लोकेऽग्निपदेन न्यायव्यवहारं प्रत्येति। न च देवशब्दवाच्यो विद्वान् मनुष्याद्भिन्नो भवति, येन देवेषु त्वं मनष्येष्वहं वेदाध्ययनवान् स्यामित्यभ्यर्थनं युज्यते। यदि मनस्विनो मनुष्यपद-वाच्यास्तदा देवेषु तेषु च भेदो वाच्यः। देवशब्दो मनुष्येतरजातिविशेषपर इति तु साधितमेव भूयोभिः प्रमाणैर्भूमिकायाम् ॥ ३८ ॥

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः। सोममिन्द्र चमूसुतम् ॥ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजस एष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे। इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३९ ॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप हम लोगों में सुन्दर सामर्थ्य सम्पन्न ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति के योग्य ज्ञान को प्रवर्तित करें। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय, अनुग्रह आदि सुन्दर कर्मों वाले आप हे भगवन्, मुझमें ब्रह्मसाक्षात्काररूपी सम्पत्ति को धारण कराते हुए उसकी पुष्टि तथा दृढता को प्रवृत्त करें। हे सोम, तुम प्रेम से संगृहीत हो। तेजस्वी परमात्मा के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह पूजास्थल तुम्हारा स्थान है। उस तेजोमय के लिये तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ। हे तेजोमय सूर्य, चन्द्र और अग्नि में प्रकाश प्रदान करने वाले परमेश्वर, आप जिस प्रकार देवों में लोकोत्तर सर्वोत्कृष्ट ज्ञानविज्ञानात्मक दीप्ति से युक्त हैं, उसी प्रकार आपकी कृपा से मैं भी मनुष्यों में ज्ञानविज्ञान से सम्पन्न हो जाऊँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्यान गौणार्थपरक होने के कारण ग्राह्य नहीं है, क्योंकि मुख्य अर्थ के सम्भव होने पर गौण अर्थ का आश्रयण उचित नहीं होता। वेदाध्ययनरूपी ब्रह्मवर्चस् की प्रतिष्ठापना के लिये गुरु ही प्रार्थनीय होता है, राजा नहीं। देव शब्द संज्ञित विद्वान् मनुष्य से भिन्न नहीं होता, जिससे 'देवों में तुम तथा मनुष्यों में मैं वेदाध्ययनवान् होऊँ' यह अर्थ संगत हो सके। यदि मनुष्य शब्द से मनस्वी कहे जाते हैं, तो उनमें तथा देवों में भिन्नता भी निरूपित की जानी चाहिये। देव शब्द मनुष्य से भिन्न जातिविशेषपरक है, यह अनेक प्रमाणों के द्वारा भूमिका में सिद्ध कर दिया गया है ॥ ३८ ॥

अयं द्वितीयोऽतिग्राह्यग्रहणमन्त्रः। इयमिन्द्रदेवत्या गायत्री। कुरुस्तुतेरार्षम्। हे इन्द्र, त्वं सोमं पीत्वी पीत्वा, 'स्नात्व्यादयश्च' (पा० सू० ७।१।४९) इति निपातः। ओजसा बलेन सहोत्तिष्ठन् उत्सङ्गान्मातुरदित्या उद्गच्छन् सन् शिप्रे हनू अवेपयः कम्पितवानसि, 'टुवेपृ कम्पने'। कीदृशं सोमम्? चमूसुतं चम्वामधिषवणचर्मणि सुतमभिषुतं सोमं पीत्वा हर्षवशान्नासे कम्पितवानसि। हे सोम, त्वमुपयामेन दारुपात्रेण गृहीतोऽसि। ओजसे बलवते इन्द्राय त्वां गृह्णामि। तस्मा एव त्वां सादयामि। भक्षणमन्त्रः—हे इन्द्र, हे ओजिष्ठ, ओजो बलमस्यास्तीत्योजस्वी, अत्यन्तमोजस्वीत्योजिष्ठः, 'अतिशायने-तमबिष्ठनौ' (पा० सू० ५।३।५५)। त्वं यथा देवेष्वोजिष्ठोऽसि, एवमहं मनुष्येष्वोजिष्ठोऽतिबलो भूयासम्।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र! परमैश्वर्यशालिन् श्रीराम, त्वं सोमं कौशल्यायाः स्तन्यं पीत्वी पीत्वा ओजसा बलेन सह उत्तिष्ठन् मातुः कौसल्याया उत्सङ्गादुद्गच्छन् क्षिप्रे अवेपयो हर्षोद्रेकान्नासे हनू वा वेपयसि कम्पितवानसि। कीदृशं सोमम्? चमूसुतं चम्वा चोषणेन 'चमु अदने' सुतं प्रस्नुतम्। हे सोम! निवेदनीय मधुरान्नादिक, त्वमुपयामगृहीतोऽसि प्रेम्णा गृहीतोऽसि। ओजसे बलवते इन्द्राय भगवते श्रीरामाय त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। तत्र तस्मै रामाय त्वां सादयामि। हे ओजिष्ठ! अत्यन्तमोजस्विन्, भगवतोऽनन्तबलत्वात् त्वं देवेष्विन्द्रादिषु ओजिष्ठोऽसि। त्वत्प्रसादादहमपि मनुष्येषु ओजिष्ठो भूयासम्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सभापते! त्वं चमूसुतं सेनया निष्पादितं सोमं पीत्वी पीत्वा ओजसा प्रशस्तशरीरात्मसभासेनाबलेन सहोत्तिष्ठन् सद्गुणकर्मस्वभावेषूर्ध्वं तिष्ठन् युद्धादिकर्मसु शिप्रे हनुप्रभृत्यङ्गान्यवेपयो वेपय। त्वमुपयामगृहीतोऽसि। ते तवैष योनिरैश्वर्यकारणम्, त्वां स्वस्थतयेन्द्रायौजसे परिचरामः। ओजसे इन्द्राय परमेश्वराय त्वां प्रणोदयामः। हे ओजिष्ठेन्द्र! यथा त्वं देवेष्वोजिष्ठोऽसि, तथाहं मनुष्येषु भूयासम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सेनासम्पादितं सोमं पीत्वीत्यादिपदानां नैरर्थक्यात्। नहि सोमसम्पादनाय

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, आप अपने बल के साथ उठते हुए अधिषवण में अभिषुत हुए सोम का पान कर अपनी ठोढ़ी और नासिका को कम्पित करो। हे द्वितीय अतिग्राह्य ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, बलवान् इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे द्वितीय अतिग्राह्य ग्रह, यह तुम्हारा स्थान है, बलवान् इन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। हे बलवत्तम इन्द्रदेव, आप सब देवताओं में बलवान् हैं, आपके प्रसाद से मैं मनुष्यों में अतिबलवान् बनूँ॥ ३९॥

भाष्यसार—'उत्तिष्ठन्नोजसा' यह अतिग्राह्य ग्रहण का द्वितीय मन्त्र है। 'इन्द्रौजिष्ठ' यह भक्षण का मन्त्र है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुसार आचार्यों ने मन्त्रार्थ निरूपित किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमैश्वर्यशाली श्रीराम, आपने माता कौशल्या का स्तन्यपान करके सबल होकर माता कौसल्या की गोद से उठ कर अत्यन्त प्रसन्नता से नासिका अथवा ठोढी कम्पित की है। वह स्तन्य सोमपान करने के द्वारा प्रस्तुत हुआ है। हे मधुर अन्नादि नैवेद्य, तुम प्रेम से संगृहीत हो। बलशाली भगवान् श्रीराम के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह अर्चनास्थल ही तुम्हारा स्थान है, वहाँ भगवान् श्रीराम के लिये तुमको रखता हूँ। भगवान् के अत्यन्त बलशाली होने के कारण हे अत्यन्त ओजस्वी, आप इन्द्रादि देवों में अतिशय बलवान् हैं। आपकी कृपा से मैं भी मनुष्यों में बलिष्ठ हो जाऊँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ असंगत है। 'सेना द्वारा सम्पादित सोम को पीकर' यह कथन निरर्थक है। सोम के निष्पादन के लिये सेना अपेक्षित नहीं होती। अन्यत्र कहीं सोमपान के प्रसंग में इस प्रकार का वर्णन भी

सेनाऽपेक्षिता भवति, अन्यत्र सोमपानप्रसङ्गे तथानुक्तेश्च। तथैव ओजसेऽनन्तपराक्रमाय, इन्द्र दुःखविदारक, इत्यादिकमपि निर्मूलमेव ॥ ३९ ॥

अदृ॑श्रमस्य के॒तवो॒ वि र॒श्मयो॒ जनाँ॒२॥ अनु॑। भ्राज॑न्तो अ॒ग्नयो॑ यथा ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जायै॒ष ते॒ योनिः॒ सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जाय॑। सूर्य॑ भ्राजिष्ठ॒ भ्राजि॑ष्ठ॒स्त्वं दे॒वेष्व॑सि॒ भ्राजि॑ष्ठो॒ऽहं म॑नु॒ष्ये॒षु भूयासम् ॥ ४० ॥

द्वादशाहमन्त्राः समाप्ताः। अयं तृतीयोऽतिग्राह्यग्रहणमन्त्रः। सूर्यदेवत्या गायत्री प्रस्कण्वदृष्टा यजुरन्ता। अस्य सूर्यस्य केतवः प्रज्ञानहेतवः सर्वपदार्थज्ञापका रश्मयः किरणा जनान् अनुगता भ्राजन्तो देदीप्यमाना वि विशेषेण अदृश्रम् अदृश्यन्त, सूर्यरश्मयः सर्वजनानुगता व्यापका विशेषेण दृश्यन्त इत्यर्थः। कथम्भूताः ? अग्नयः, यथा भ्राजन्तो ज्वलन्तोऽग्नयो जनानुगता दृश्यन्ते, तद्वदित्यर्थः। 'दृशिर् प्रेक्षणे' इत्यस्य लुङि 'इरितो वा' (पा० सू० ३।१।५७) च्लेरङि, 'ऋदृशोऽङि गुणः' (पा० सू० ७।४।१६)। महीधराचार्यरीत्या तु उत्तमपुरुषैकवचने अदर्शमिति प्राप्ते 'शीङो रुट्, विभाषा, बहुलं छन्दसि' (पा० सू० ७।१।६-८) इति दृशेरुत्तरस्य मिबादेशस्यामो रुडागमो धातोर्गुणाभावश्च छान्दसः। एवमदृश्रमिति रूपं कर्मणि लुङि प्रथमपुरुषबहुवचनस्थानेऽदृश्यन्तेत्यर्थे द्रष्टव्यम्। कर्मणि प्रथमपुरुषबहुवचनस्थाने छान्दसं रूपमदृश्रमित्युव्वटाचार्यः। केतुरिति प्रज्ञानामसु। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। भ्राजाय भ्राजते दीप्यते योऽसौ भ्राजस्तस्मै सूर्याय त्वां गृह्णामि। खरप्रदेशस्ते योनिस्तत्र भ्राजाय सूर्याय त्वां सादयामि। अतिग्राह्यसोमभक्षणमन्त्रः। हे भ्राजिष्ठ! अत्यन्तं भ्राजोऽतिदीप्त सूर्य, त्वं यथा देवेषु भ्राजिष्ठस्तथाहमपि मनुष्येष्वतिदीप्तिमान् भूयासम्। 'इत्येतानि ह वै भ्राजाꣳस्येतानि वीर्याण्यात्मन् धत्ते यस्यैवं विदुष एतान् ग्रहान् गृह्णन्ति' (श० ४।५।४।१२)।

अध्यात्मपक्षे—अस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नस्य सूर्यवत् स्वप्रकाशस्य परमात्मनो ज्ञानविज्ञानलक्षणकेतवो ज्ञानहेतवो रश्मयो जनाननु सर्वजनानुगता व्यापकास्तथा दृश्यन्ते, यथा भ्राजन्तो ज्वलन्तोऽग्नयो जनानुगता

नहीं है। इसी प्रकार 'ओजसे' का अर्थ 'अनन्त पराक्रमशाली के लिये' तथा 'इन्द्र' का अर्थ 'दुःखविदारक' आदि भी अप्रामाणिक है ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—इस सूर्य की प्रज्ञा के लिये सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान कराने वाली सम्पूर्ण किरणें प्राणियों से अनुगत हो विशेष कर दिखती हैं, जैसे कि प्रज्वलित अग्नि सर्वत्र भासित होती है। हे तृतीय अतिग्राह्य ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, दीप्तिमान् सूर्य की प्रीति के लिये तुम्हें ग्रहण करता हूँ। हे तृतीय अतिग्राह्य ग्रह, यह तुम्हारा स्थान है। दीप्तिमान् सूर्य देव की तुष्टि के लिये तुमको इस स्थान में स्थापित करता हूँ। हे प्रदीप्त सूर्यदेव, आप सब देवताओं में अतिदीप्तिमान् हैं, आपके प्रसाद से मैं मनुष्यों में अतिशय दीप्तिमान् बनूँ ॥ ४० ॥

भाष्यसार—'अदृश्रमस्य' यह अतिग्राह्य ग्रहण का तृतीय मन्त्र है। अतिग्राह्य ग्रह के सोम का भक्षण 'सूर्य भ्राजिष्ठ' इस मन्त्र से किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—इस प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न, सूर्य की भाँति स्वप्रकाश परमात्मा की ज्ञानविज्ञानरूपी ज्ञान की हेतुभूत रश्मियाँ समस्त प्राणियों में अनुगत, व्यापक होकर इस प्रकार दृष्टिगत होती हैं,

दृश्यन्ते । हे सोम, त्वं प्रेम्णा गृहीतोऽसि । भ्राजाय देदीप्यमानाय सूर्यवत्प्रकाशमानाय परमात्मने त्वां गृह्णामि । एष तदाराधनप्रदेशस्तव योनिः स्थानम्, तत्र तस्मै त्वां सादयामि । हे सूर्य, त्वं यथा देवेष्वतिदीप्तिमानसि, तथाहं मनुष्येषु प्रभूतदीप्तिमान् भूयासम् ।

दयानन्दस्तु—'यथाऽस्य जगतः पदार्थान् भ्राजन्तो रश्मयः केतवोऽग्नयः सन्ति, तथैव जनानन्वहमहं पश्येयम् । अस्य जगतः पदार्थान् भ्राजन्तो रश्मयः केतवः पदार्थज्ञापका अग्नयः सूर्याग्निविद्युतः सन्ति, तथैवाहं जनानुकूलतया पश्येयम् । हे सभापते, त्वमुपयामगृहीतोऽसि । ते तवैष योनिः । त्वां भ्राजाय सूर्याय प्रचोदयामि, त्वां भ्राजाय सूर्याय परमात्मने नियोजयामि । हे भ्राजिष्ठ सूर्य, यथा त्वं देवेषु भ्राजिष्ठस्तथाहं मनुष्येषु भूयासम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राज्ञः सभापतेर्वा सम्बोध्यत्वे मानाभावात् । रश्मीनां जडत्वात् पदार्थानां प्रकाशकत्वेऽपि ज्ञापकत्वं न सम्भवति । तद्वदहं मनुष्याणामानुकूल्येन पश्येयमित्यपि न सङ्गतम्, दृष्टान्त आनुकूल्यप्रातिकूल्ययोर्विशेषाभावात् । 'त्वां भ्राजाय जीवनाय सूर्यवद्विद्यादिशुभगुणैः प्रकाशमानाय विदुषे प्रेरयामि' इत्यपि निरर्थकम्, प्रयोजनासिद्धेः । त्वं विद्वत्सु भ्राजिष्ठोऽहं साधारणमनुष्येषु भ्राजिष्ठः स्यामित्यपि निरर्थकम्, साधारणेषु मूर्खाणां दम्भिनामपि भ्राजिष्ठत्वसम्भवात् ॥ ४० ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय ॥ ४१ ॥

'उदु त्यमिति ग्रहग्रहणमिति' (का० श्रौ० १३।२।११) । गवामयनाख्यस्य संवत्सरसत्रस्य विषुवन्नामके मध्यमेऽहनि सौर्यपशूपालम्भादूर्ध्वमतिग्राह्यग्रहग्रहणमुदु त्यमिति मन्त्रेण । सौरी गायत्री देवदृष्टा । त्यं तं प्रसिद्धं जातवेदसं जातानां प्रजानां प्रज्ञातारम्, जाता सर्वविषयिणी प्रज्ञा यस्येति वा, तादृशं देवं देवनशीलं केतवः

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नियाँ जनानुगत दिखलायी देती हैं । हे सोम नैवेद्य, तुम प्रेमपूर्वक संग्रह किये गये हो । देदीप्यमान, सूर्य की भाँति प्रकाशित परमात्मा के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ । यह उसकी आराधना का प्रदेश ही तुम्हारा स्थान है । वहाँ उसके लिये तुमको स्थापित करता हूँ । हे सूर्य, आप जिस प्रकार देवों में अतिशय दीप्तिमान् हैं, उसी प्रकार मैं मनुष्यों में प्रभूत दीप्ति से युक्त हो जाऊँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ राजा अथवा सभापति को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण असंगत है । रश्मियाँ जड होने के कारण पदार्थों की प्रकाशक होने पर भी उनमें ज्ञापकत्व संभव नहीं है । 'मैं मनुष्यों की अनुकूलता से देखूँ' यह भी संगत नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त में आनुकूल्य तथा प्रातिकूल्य में कोई विशेष भेद नहीं है । 'तुमको''''विद्वान् के लिये प्रेरित करता हूँ' इत्यादि कथन भी निरर्थक है, क्योंकि इससे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती । 'मैं साधारण मनुष्यों में भ्राजिष्ठ होऊँ' यह भी निरर्थक है, क्योंकि जनसामान्य में तो मूर्ख-दंभियों का भी भ्राजमान होना सम्भव है ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—सभी मनुष्यों को प्रज्ञा देने वाले, सबको देखने वाले, जो सूर्यदेव की समस्त जगत् को दृष्टि देने वाली किरणों का उद्वहन करते हैं, उस सूर्य देवता के निमित्त तुम्हें इस स्थान में स्थापित करता हूँ । हे सूर्यदेव ! आप सभी देवताओं में अत्यन्त तेजस्वी हो, आपके प्रसाद से मैं मनुष्यों में तेजस्वी बनूँ ॥ ४१ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१३।२।२१) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार गवामयन नामक

प्रज्ञानहेतवो रश्मयः, उ आशु उद्वहन्ति उदयाचलादूर्ध्वं गमयन्ति। किमर्थम्? विश्वाय विश्वस्य, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, दृशे दर्शनाय, सर्वं जगद् द्रष्टुमित्यर्थः। विश्वकर्तृकसूर्यकर्मकदर्शनाय वा किरणाः सूर्यमूर्ध्वं नयन्ति। सर्वस्य लोकस्य दर्शनादिव्यवहारसिद्धयर्थं वा किरणाः सूर्यमुद्वहन्ति। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—त्यं तं परोक्षतया प्रसिद्धं जातवेदसं सर्वज्ञवेदप्रादुर्भावकारणं देवं जगदुत्पत्त्यादिक्रीडा-परायणं सूर्यं सूर्यवत् स्वप्रकाशं परमात्मानं विश्वस्य दर्शनाय केतवः प्रज्ञापका विद्वांस उद्वहन्ति। उदूर्ध्वं ब्रह्माकारवृत्तौ वेदान्तोपदेशेन प्रापयन्ति व्यञ्जयन्ति। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'यं जातवेदसं सूर्यं जगदीश्वरं विश्वाय सर्वजगदुपकाराय दृशे द्रष्टुं केतवो विद्वांस उद्वहन्ति तं वयं प्राप्नुयाम। हे जगदीश्वर, यस्त्वमस्माभिर्भ्राजाय सूर्यायोपयामगृहीतोऽसि, तं त्वा सर्वे तदर्थं गृह्णन्तु। यस्य ते तव एष योनिस्तं त्वा भ्राजाय सूर्याय कारणं विजानीमः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विश्वपदस्य जगदर्थत्वेऽपि जगदुपकारार्थतायोगात्। किरणानां तु तदवयवत्वात् तदुद्वहनमुपचर्यते॥ ४१॥

आजि॑घ्र क॒लशं॑ म॒ह्या त्वा॑ विश॒न्त्विन्द॑वः। पुन॑रू॒र्जा निव॑र्तस्व॒ सा नः॑ स॒हस्रं॑ धुक्ष्वो॒रुधा॑रा॒ पय॑स्वती॒ पुन॒र्मावि॑शताद्र॒यिः॥ ४२॥

'हविर्धानाग्नीध्रान्तराले द्रोणकलशमेनामाघ्रापयत्याजिघ्रेति' (का० श्रौ० १३।३।४३)। गर्गत्रिरात्रादावहीने त्रिसुत्ये गोसहस्रं दक्षिणास्ति, तत्र सहस्रसंख्यापूरणी रोहिणी धेनुः, तां हविर्धानाग्नीध्रयोर्मध्यस्थां द्रोणकलश-माघ्रापयेत्। गोदेवत्या पङ्क्तिः कुरुविन्ददृष्टा, अष्टार्णषट्पादा। हे महि धेनो 'महीति गोनामसु' (निघ० २।११।५)। त्वं कलशं द्रोणकलशाख्यं पात्रम् आजिघ्र आभिमुख्येनाघ्राणं कुरु। हे धेनो, त्वामिन्दवः कलशगताः सोमा आविशन्तु। ऊर्जा विशिष्टरसेन पयोभूतेनास्मान् पुनर्निवर्तस्व। मयैवं स्तुता सा त्वं नोऽस्माकं सहस्रं सहस्रसंख्याकं धेनुसहस्रं वा धुक्ष्व, देहीत्यर्थः। दुहतिरत्र दानार्थः। त्वत्प्रसादादुदकधारा बहुपयोयुक्ता

संवत्सर सत्र के विषुवत् संज्ञक मध्यम दिन में अतिग्राह्य ग्रह का ग्रहण 'उदु त्यम्' इस मन्त्र से किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ पूर्वाचार्यों ने उल्लिखित किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—उस परोक्षतया प्रसिद्ध, सर्वज्ञ वेद के प्रादुर्भाव के हेतुभूत, जगत् की उत्पत्ति आदि की क्रीडा में कुशल, सूर्य की भाँति स्वप्रकाश परमात्मा को विश्व के दर्शन के लिये प्रज्ञापक विद्वज्जन उन्नततया ब्रह्माकारवृत्ति में वेदान्त के उपदेश के द्वारा प्राप्त कराते हैं, अभिव्यञ्जित करते हैं। शेष अर्थ पूर्वोक्त की भाँति है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ अग्राह्य है। विश्व शब्द यद्यपि जगत् का वाचक है, परन्तु 'जगदुपकार' अर्थ उस शब्द से अप्राप्य है॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—हे पूजनीय गौ, तुम इस द्रोणकलश को सूंघो, यह सोम का सार तुम्हारे नासारन्ध्र में प्रवेश करे, यह तुम्हारे श्रेष्ठ दुग्ध रस के साथ फिर हमारे प्रति निवृत्त हो। हमारी इस स्तुति से प्रसन्न होकर हमें सहस्र संख्या के धन से पूर्ण करो, बहुत दूध की धारा वाली दुधारी गायें तथा धन-सम्पत्ति फिर हमारे घर में आवें॥ ४२॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१३।३।४३) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार गर्गत्रिरात्र आदि यागों में दातव्य सहस्र गायों की दक्षिणा में हजार संख्या की पूर्ति करने वाली रोहिणी गौ को 'आजिघ्र' इस ऋचा से द्रोणकलश

पयस्वती पयसा युक्ता धेनुर्मां पुनराविशताद् आगच्छतु। तथा रयिर्धनमपि मामाविशतादिति सायणी रीतिः। यां त्वामेवं स्तुमः, सा नोऽस्माकं सहस्रं गवां यदस्माभिर्दत्तं तद् धुक्ष्व पुनर्देहीत्युव्वटाचार्यः। अन्यत् समानम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'तामुत्तरेण हविर्धाने। दक्षिणेनाग्नीध्रं द्रोणकलशमवघ्रापयति यज्ञो वै द्रोणकलशो यज्ञमेवैनामेतद्दर्शयति' (श० ४।५।८।५)। अन्तरा शालासदसि नीत्वा द्रोणकलशमवघ्रापयति। यज्ञो वै द्रोणकलशः। स्पष्टमन्यत्। 'आजिघ्र कलशम्। मह्या त्वा विशन्त्विन्दव इति रिरिचान इव वा एष भवति यः सहस्रं ददाति तमेवैतद्रिरिचानं पुनराप्याययति यदाहाजिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दव इति' (श० ४।५।८।६)। गवां सहस्रदानेनैषां यजमानो रिरिचानो रिक्त इव भवति। आजिघ्र कलशमिति मन्त्रेण तं पुनराप्याययति। 'पुनरुर्जा निवर्तस्वेति। तद्वेव रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह पुनरूर्जा निवर्तस्वेति॥ सा नः सहस्रं धुक्ष्वेति। तत्सहस्रेण रिरिचानं पुनराप्याययति यदाह सा नः सहस्रं धुक्ष्वेति' (श० ४।५।८।७-८)। 'उरुधारा पयस्वती पुनर्माविशताद्रयिरिति' (श० ४।५।८।९)। एवं ब्राह्मणेन स्पष्टं व्याख्यातस्यापि मन्त्रस्य दयानन्दस्तद्विपरीतमर्थमाह। स चार्थोऽध्यात्मपक्षीयार्थविवरणानन्तरं विचार्यते।

अध्यात्मपक्षे - हे महि! महीयते पूज्यते या सा मही, तत्सम्बुद्धौ, हे राजराजेश्वरि, त्वं कलशं मया समर्पितं सौगन्ध्योपेतमभीष्टरसपूर्णं कलशम् आ आभिमुख्येन जिघ्र आघ्राणं कुरु। किञ्च, त्वा त्वां कलशसम्बन्धिन इन्दवः सोमरसा आविशन्तु। हे देवि, त्वं पुनरप्यूर्जाऽन्नेन सहिता निवर्तस्व। यां त्वामेव स्तुमः सा त्वं नोऽस्माकं गवाश्वरत्नादिसहस्रं पुनर्धुक्ष्व देहि। त्वत्प्रसादाच्च उरुधारा बहुपयोयुक्ता पयस्वती मां पुनराविशतात्। यद्वा ज्ञानविज्ञानभक्तिरसधारा पयस्वती स्वच्छसत्त्ववती बुद्धिर्मामाविशतात्।

दयानन्दस्तु—'हे महि पत्नि, या त्वमुरुधारा उर्वी धारा विद्यासु शिक्षाधारणा यस्याः सा, पयस्वत्यसि पयांस्यन्नान्युदकानि यस्यां सा, गृहस्थशुभकर्मसु कलशं नूतनं घटमाजिघ्र। पुनस्त्वां सहस्रमिन्दवः सोमाद्योषधिरसा आविशन्तु। यतस्त्वं दुःखान्निवर्तस्व। पुनरुर्जा नोऽस्मान् धुक्ष्व पुनर्मा रयिराविशतात्' इति, हिन्द्यां तु—'नवीनघटमाघ्राय तं जलेनापूर्य तत्सुगन्धिं प्राप्नुहि' इत्येतदेवं वेदव्याख्यानं दयानन्दस्य। नवीनघटमाघ्राय जलेनापूर्येत्यादिकं तदभ्यूहितमेव, मन्त्रे तादृशपदाभावात्। पूर्वं पत्नी सोमरसान् गृह्णीयादथ पत्ये समर्पयेत्, रीतिरेषा सामाजिकेष्वेव शोभते। किञ्च, सामान्यदम्पतीव्यवहारवर्णनं वेदे किमभिप्रेत्य सम्भवतीति सुधियो विदाङ्कुर्वन्तु। शतपथब्राह्मणं तदनुसारिव्याख्यानं चोक्तमेव॥ ४२॥

का आघ्राण कराया जाता है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुसार तथा शतपथ ब्राह्मण के अनुकूल मन्त्र की व्याख्या उव्वट आदि आचार्यों ने की है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार हैं—हे पूजनीया राजराजेश्वरी, आप मेरे द्वारा समर्पित, सुगन्धि से युक्त, अभीष्ट रस से परिपूर्ण कलश का आघ्राण करें, कलशसम्बद्ध सोमरस आपमें निविष्ट हो। हे देवि, आप अन्न से युक्त होकर पुनः निर्वर्तित हों। आपकी ही हम लोग स्तुति करते हैं। आप हमारे लिये गौ, अश्व, रत्नादि सहस्र पदार्थों को पुनः प्रदान करें। आपके अनुग्रह से अतिशय दुग्धादि से युक्त पयस्वती मुझे पुनः प्राप्त हो। अथवा ज्ञान-विज्ञान, भक्तिरस की धारा शुद्धसत्त्वमयी बुद्धि मुझमें प्रविष्ट हो।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्याओं में 'नवीन घड़ा सूंघ कर जल भर कर' इत्यादि केवल कल्पना है, क्योंकि मन्त्र में इस प्रकार के पद नहीं हैं। सामान्य पतिपत्नी के व्यवहार का वर्णन वेद में किस अभिप्राय से सम्भव है, यह विद्वान् ही जानें। शतपथ ब्राह्मण तथा तदनुसार व्याख्यान पूर्व में निरूपित कर दिया गया है॥ ४२॥

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति। एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥ ४३ ॥

'इडे रन्त इति दक्षिणेऽस्याः कर्णे यजमानो जपतीति' (का० श्रौ० १३।३।४४)। सहस्रसंख्यापूरण्या रोहिण्याः पूर्वोक्ताया धेनोर्दक्षिणे कर्णे यजमान 'इडे रन्ते' इति मन्त्रं जपेत्। गोदेवत्या प्रस्तारपङ्क्तिः कुसुरुबिन्दु-दृष्टा। आद्यौ पादौ द्वादशार्णौ अन्त्यावष्टार्णौ सा प्रस्तारपङ्क्तिरिति महीधराचार्यः। ईड्यते स्तूयत इति इडा, तत्सम्बुद्धौ हे इडे, तन्नाम्न्या मनोर्दुहित्रा तुल्ये। हे रन्ते, रमयतीति रन्ता, तत्सम्बुद्धौ हे रन्ते! हव्ये हूयते पयोदधिघृतादिकं यज्ञेषु यस्याः सा हव्या, तत्सम्बुद्धौ हे हव्ये, सर्वैराहूयते या सा हव्या तत्सम्बुद्धौ वा। हे काम्ये! सर्वैः काम्यते या सा काम्या, तत्सम्बुद्धौ हे काम्ये, 'मनुष्याणामेतासु कामाः प्रविष्टाः' इति श्रुतेः। हे चन्द्रे! चन्दयत्याह्लादयतीति चन्द्रा तत्सम्बुद्धौ, ज्वलति प्रकाशयतीति ज्योता तत्सम्बुद्धौ हे ज्योते, यद्वा द्योतयति प्रकाशयतीति ज्योता, दकारस्य जकारश्छान्दसः, तत्सम्बुद्धौ। अदिते अनवखण्डिते। सरस्वति सरः क्षीरं तद्वति, सर इत्युदकनाम। मही महती हे महि! विश्रुति विश्रूयत इति विश्रुति हे विश्रुते! हे अघ्न्ये सर्वथापि हन्तुमयोग्ये! एवंभूते हे धेनो! ते तवैतान्यतिशयगुणयुक्तानि नामानि। एतैर्नामभिरभिहिता सती देवेभ्यः सुष्ठु कर्म करोतीति सुकृतम्, तादृशशुभकर्मकारिणं मां ब्रूताद् ब्रूहि।

अत्र ब्राह्मणम् –'अथ दक्षिणे कर्णे आजपति। इडे रन्ते····सुकृतं ब्रूतादिति वोचेरिति वैतानि ह वा अस्यै देवत्रा नामानि सा यानि ते देवत्रा नामानि तैर्मा देवेभ्यः सुकृतं ब्रूतादित्येवैतदाह' (श० ४।५।८।१०)। ब्रूतादिति वोचेरिति, वोचेरित्येवैतत्तथाभूता ब्रूयात्। एतानि वै अस्यै गोर्देवत्रा देवेषु प्रसिद्धानि नामानि।

अध्यात्मपक्षे—हे इडे स्तुत्ये राजराजेश्वरि त्रिपुरसुन्दरि! हे रन्ते! रमयति स्वकृपाकटाक्षेण या सा रन्ता तादृशे, हव्ये हूयते भक्तैः स्वस्वाभीष्टसिद्धये या सा हव्या तत्सम्बुद्धौ, काम्ये काम्यते सर्वैर्या सा काम्या तत्सम्बुद्धौ, सर्वस्यात्मत्वेन सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात् काम्या, चन्द्रे चन्दयति स्वानुग्रहेणाह्लादयति या सा चन्द्रा तत्सम्बुद्धौ, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः। ज्योते द्योतयतीति ज्योता, सर्वस्य भासकत्वात्, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डक० २।२।१०) इति श्रुतेः, तत्सम्बुद्धौ, छान्दसो दकारस्य

मन्त्रार्थ—हे सबसे स्तुति पाने वाली धेनु! तुम सबकी दृष्टि में रमणीय हो, सभी मनुष्य यज्ञ में तुम्हारा आह्वान करते हैं, देव और मनुष्य तुम्हारी कामना करते हैं, तुमको देख कर सभी प्रसन्न होते हैं। प्रकाशमान पूर्ण अवयव वाली अहीन दुग्धवती महामान्य अनेक प्रकार की स्तुति वाली, मारने के अयोग्य हे धेनु! तुम्हारे ये अतिशय गुणयुक्त नाम हैं, इन नामों से पुकारी जाने पर तुम सब देवताओं के निमित्त हमारे इस सुन्दर कर्म को और इस कर्म को करने वाले मुझको देवताओं के सामने प्रस्तुत करो। देवता हमारे इस कार्य को जानें॥ ४३ ॥

भाष्यसार –'इडे रन्ते' इस ऋचा का जप पूर्वोक्त रोहिणी गौ के दाहिने कान में यजमान करता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१३।३।४४) में निरूपित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—हे स्तुत्य राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी! अपने कृपाकटाक्ष से हर्षित करने वाली, अभीष्ट की सिद्धि के लिये भक्तों के द्वारा आहूत की जाने वाली, सबके द्वारा वांछित, सबकी आत्मा होने के कारण समस्त प्राणियों की अतिशय स्निग्ध, अपने अनुग्रह से प्रमुदित करने वाली, विद्योतित करनेवाली, देश, काल तथा वस्तु

जकारः। अदिति अखण्डनीये, देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्यात्, 'अनन्तम्' (तै० उ० २।१) इति श्रुतेः। 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना विभक्तिलोपः। सरस्वति सर्रतीति सरो ज्ञानं सार्वज्ञ्यम्, तद्वति, महि महति, 'स एष महानज आत्मा' (   ) इति श्रुतेः। यद्वा महीयते पूज्यते या सा मही, परब्रह्ममहिषीत्वात् परब्रह्मरूपत्वाच्च, तत्सम्बुद्धौ। हे अघ्न्ये, सर्वविधविक्रियारहिते, हन्तिः सर्वविक्रियाणामुपलक्षणार्थकः, 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥' (भ० गी० २।२४) इति स्मृतेः। एता एतानि तव निरतिशयगुणप्रयुक्ताभि नामानि। सा त्वमेभिर्नामभिः स्तुता देवेभ्यस्त्वदनुग्रहेण द्योतमानेभ्यो भक्तेभ्यः सुकृतं त्वदाराधनलक्षणं पुण्यरूपं ब्रूताद् ब्रूहि, त्वदीयसाक्षात्कारोपायं वा ब्रूहि।

दयानन्दस्तु—'इडे स्तोतुमर्हे, रन्ते रमणीये, हव्ये स्वीकर्तुमर्हे, काम्ये कमनीये, चन्द्रे आह्लादकारिके, ज्योते सुशीलेन द्योतमाने, अदिति आत्मस्वरूपेणाविनाशिनि, सरस्वति प्रशस्तं सरो विज्ञानं यस्याः सा सरस्वती तत्सम्बुद्धौ, महि पूज्यतमे, विश्रुति विविधाः श्रुतयः श्रवणानि तद्वति, एता एतानि अघ्न्ये हन्तुं तिरस्कर्तुमयोग्ये नामानि गौणिक्य आख्या देवेभ्यो दिव्यगुणेभ्यो मा सुकृतं सुष्ठु कर्तव्यं कर्म ब्रूताद् ब्रूहि। अत्रैभिः शब्दैः पत्नी प्रशस्ता, पतिस्तस्याः सकाशाद् दिव्यगुणप्राप्तये उपदेशं प्रार्थयते' इति, तदेतदतीव साहसं दयानन्दस्य, यद् ब्राह्मणानि सूत्राणि लोकप्रसिद्धिं चातिक्रम्य तादृशमसङ्गतमर्थं परिकल्पयति—पत्या पत्नी स्तोतव्या, 'महि पूज्यतमे' इत्यपि पत्या सा सम्बोध्यते। वस्तुतस्त्वत्र तद्रूपव्याक्रियैव पराक्रिया॥ ४३॥

वि न॑ इन्द्र॒ मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः। यो अ॒स्माँ२॥ अ॑भि॒दास॒त्यध॑रं गमया॒ तम॑ः॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा वि॒मृध॑ ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा वि॒मृधे॑॥ ४४॥

'ग्रहं गृह्णाति वि न इन्द्र वाचस्पतिं विश्वकर्मन्निति वा' (का० श्रौ० १३।२।१७)। गवामयनस्योपान्त्ये महाव्रतेऽहनि प्राजापत्यपशूपालम्भादूर्ध्वमैन्द्रग्रहग्रहणे मन्त्रत्रयम्। इन्द्रदेवत्याऽनुष्टुप् शासदृष्टा। हे इन्द्र,

---

के परिच्छेद से रहित होने के कारण अखण्डनीय, सर्वज्ञतारूपी ज्ञान से युक्त, महती अथवा परब्रह्म की शक्ति होने के कारण, परब्रह्मस्वरूपिणी होने के कारण पूजनीय, सर्वविध विकारों से रहित—ये सब आपके निरतिशय गुणों के कारण प्रथित नाम हैं। आप इन नामों से संस्तुत होकर आपकी कृपा से विद्योतमान भक्तों के लिये अपने आराधनात्मक पुण्य रूप को उपदिष्ट करें, अथवा अपने साक्षात्कार के उपाय का उपदेश करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा ब्राह्मण-ग्रन्थों, सूत्र-ग्रन्थों तथा लोकप्रसिद्धि का भी अतिक्रमण करके असंगत अर्थ की परिकल्पना की गई है कि पति के द्वारा पत्नी की स्तुति की जानी चाहिये। 'हे पूज्यतमा' इस प्रकार भी पति के द्वारा वह सम्बोधित की जाती है। यह दुःसाहस ही है॥ ४३॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, तुम संग्राम में हमारे शत्रुओं को जीत लो, संग्राम की इच्छा से सेना का संग्रह करने वाले शत्रुओं को नीचों की तरह दण्ड दो। जो हमें क्लेश पहुँचाता है, उसे निकृष्ट अन्धकारमय नरक में डाल दो। हे महाव्रतीय इन्द्रग्रह, यह तुम्हारा स्थान है। विशिष्ट संग्राम करने वाले इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ॥ ४४॥

भाष्यसार—'वि न इन्द्र' यह मन्त्र गवामयन में ऐन्द्र ग्रह के ग्रहण में कात्यायन श्रौतसूत्र (१३।२।१७) द्वारा

नोऽस्माकं मृधः शत्रून् संग्रामान् वा, विजहि विशेषेण नाशय। किञ्च, पृतन्यतो नीचा यच्छ, पृतनां संग्रामं सेनां वेच्छन्तीति पृतन्यन्ति, पृतन्यन्तीति पृतन्यन्तस्तान्, पृतनाशब्दात् क्यचि 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इति टिलोपे शतृप्रत्यये च रूपम्। पृतन्यतः सेनामिच्छतः शत्रून् नीचा न्यग्भूतान् नीचैर्वा, यच्छ निगृह्णीष्व निगृहीतान् कुरु। किञ्च, यश्चान्योऽभिदासत्युपक्षयति, तं शत्रुमधरं निकृष्टमर्वाचीनं तमो गमया गमय प्रापय। संहितायां दीर्घः। हे ग्रह, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। विशिष्टो मृत् संग्रामो यस्यासौ विमृत्, तस्मै विमृधे विशिष्टसंग्रामाय इन्द्राय त्वां गृह्णामि। सादयति—एष ते योनिं विमृधे विमृद्गुणविशिष्टाय इन्द्राय त्वां सादयामि।

ब्राह्मणे च—'तं वा इन्द्रायैव विमृधे गृह्णीयात्। सर्वा वै तेषां मृधो हता भवन्ति सर्वं जितं ये संवत्सर-मासते तस्माद्विमृधे वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। यो अस्मां २॥ अभिदासत्यधरं गमया तमः॥ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृध एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे इति' (श० ४।६।४।४) इति सिद्धान्त-पक्षीयोऽर्थः समर्थितः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यशालिन् परमेश्वर, त्वं नोऽस्माकं विमृधो विशिष्टान् शत्रून् कामक्रोधादीन् विजहि विशेषेण नाशय। पृतन्यतः संग्राममिच्छून् तदधिष्ठातॄन् वा नीचा नीचान् यच्छ निगृह्णीष्व। यश्च महामोहो नोऽस्मानभिदासत्युपक्षयति, संसारपातनेन तमधरमवाचीनं तमो नाशलक्षणं गमय। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। इन्द्राय त्वा त्वां गृह्णामि। एष ते योनिरिन्द्राय विमृधे त्वां सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सेनापते, त्वं नोऽस्माकं मृधः शत्रून् विजहि। पृतन्यत आत्मनः सेनामिच्छतो नीचा नीचान् यच्छ निगृह्णीष्व। यः शत्रुरस्मानभिदासति तं तमः सूर्य इवाधरं गमय। यस्य ते तवैष योनिः स त्वमस्माभिरुपयामगृहीतोऽसि। अत एवेन्द्राय परमैश्वर्यप्राप्तये विमृधे विगतशत्रवे त्वां स्वीकुर्मः। विमृध इन्द्राय त्वां नियोजयामश्च' इति, तदपि न किञ्चित्, इन्द्रपदस्य सेनापत्यर्थकत्वे मानाभावात्। इन्द्रपदस्य परमानन्दप्राप्तिः, ऐश्वर्यप्रद इति चार्थौ चिन्त्यौ। अन्यत्तु महीधराद्यनुगुणमेव॥ ४४॥

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे॥ ४५॥

विनियुक्त किया गया है। ऐन्द्र ग्रह के ग्रहण में तीन मन्त्र विनियुक्त हैं, उनमें यह प्रथम मन्त्र है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप हमारे काम, क्रोध आदि विशिष्ट शत्रुओं को पूर्णतः विनष्ट कीजिये। युद्ध की इच्छा रखने वाले अथवा उनके निकृष्ट अधिष्ठाताओं को निगृहीत कीजिये। जो महामोह संसार में गिराने के द्वारा हम लोगों को क्षीण करता है, उसको तमोनाशरूपी अधोगति को प्राप्त करावें। शेष अर्थ पूर्व की भाँति ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या में इन्द्र शब्द का सेनापति अर्थ करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अग्राह्यता है। इन्द्र शब्द के 'परमानन्दप्राप्ति' तथा 'ऐश्वर्यप्रद' ये दोनों अर्थ चिन्तायोग्य हैं। शेष व्याख्या तो महीधरा-चार्य के अनुसार ही की गई है॥ ४४॥

अयं द्वितीयो मन्त्रो विश्वकर्मदेवत्यः, त्रिष्टुप्छन्दस्कः, शासदृष्टः। ईदृशमिन्द्रं वाजे महाव्रतीयलक्षणान्नविषये, अद्यास्मिन् दिने वयं हुवेम आह्वयामः। 'निपातस्य' (पा० सू० ६।३।१३६) इति दीर्घः। किमर्थम् ? ऊतये अवनाय रक्षणाय। किम्भूतम् ? विश्वकर्माणम्, विश्वानि सर्वाणि जगदुत्पत्त्यादीनि यस्य तम्, वाचस्पतिं वेदलक्षणानां वाचां पालयितारम्, 'तस्मादाहुरिन्द्रो वाक्' इति श्रुतेः। तथा मनोजुवं मनसो जूरिव जव इव जवो यस्य स मनोजूस्तं तथोक्तम्। 'जूरिति जवनाम'। स इन्द्रो नोऽस्माकं विश्वानि सर्वाणि हवनान्याह्वानानि, अवसेऽन्नायान्नसमृद्धौ रक्षणाय वा जोषद् जुषताम्, अस्मदाह्वानं साध्विति सेवताम्। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिप इलोपे जोषद् इति रूपम्। कीदृशः ? विश्वशम्भूर्विश्वस्य शं सुखं भवत्यस्मादिति विश्वशम्भूः, साधुकर्मा शोभनकर्मकर्ता। हे ग्रह ! उपयामगृहीतोऽसि विश्वकर्मणे विश्वकर्त्रे इन्द्राय त्वां गृह्णामि। सादयत्येष ते योनि····विश्वकर्मण इन्द्राय त्वां सादयामि। यं वाचस्पतिं वाचां पालकं प्राणरूपेणोन्द्ररूपेण वा। 'तस्मादाहुरिन्द्रो वाक्' इति श्रुतिर्वक्ति। यं च विश्वकर्माणं विश्वस्य सर्वस्य कर्तारं विश्वं सर्वं कर्म यस्य तम्, यं च ऊतये अवनाय रक्षणाय वा मनोजुवं मनोगतिम्, यं चान्नेऽस्मिन् महाव्रतीयलक्षणान्नविषये दिने हुवेम आह्वयामः। स आहूतो नोऽस्माकं विश्वानि हवनानि आह्वानानि जोषद् जुषतां सेवताम्। विश्वशम्भूः सर्वस्य शं सुखेनानायासेन भावयिता। अवसे 'अव इत्यन्ननाम' (निघ० २।७।९) अन्नाय साधुकर्मा, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तदः श्रवणाद् यदोऽध्याहारः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथो विश्वकर्मणे। विश्वं वै तेषां कर्म कृतꣳ सर्वं जितं भवति ये संवत्सरमासते तस्माद्विश्व····कर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम। स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा॥ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वां विश्वकर्मण एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मण इति' (श० ४।६।४।५)। विश्वं वैतेषां कर्म ये संवत्सरमासते।

अध्यात्मपक्षे—वयं वाचस्पतिं वाचां वेदलक्षणानां पालयितारं विश्वं कर्म कार्यं यस्य कारणस्य तं मनोजुवं मनोजूरिव मनोवेगवद् जूर्वेगो यस्य तम्, मनसोऽप्यधिकवेगवन्तं सर्वव्यापकम्, 'मनसो जवीयः' (वा० सं० ४०।४) इति मन्त्रवर्णात्, परमेश्वरमूतयेऽन्नायाभीष्टसिद्धये रक्षायै वा अद्य वाजे संसारसंग्रामे हवेम आह्वयामः। स प्रभुः नोऽस्माकं विश्वानि सर्वाणि हवनानि आह्वानानि प्रार्थनावचनानि जोषद् जुषतां प्रीत्या सेवताम्। कीदृशः सः ? साधुकर्मा, साधूनि पावनानि कर्माणि चरित्राणि यस्य सः। विश्वशम्भूः विश्वस्मै शं सुखं भवत्यस्मादिति सर्वसुखहेतुः, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः। हे सोम निवेदनीय

मन्त्रार्थ—आज हम महाव्रतीय अन्न के लिये वाणियों के पालक मन के समान वेग वाले सृष्टिकर्ता ईश्वर को रक्षा के लिये पुकारते हैं। वह संसार का कल्याण करने वाला सुन्दर कर्म करने वाला हमारी समस्त आहुतियों की रक्षा करे। हे इन्द्रग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, विश्वकर्मा इन्द्र की प्रसन्नता के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। विश्वकर्मा इन्द्र के निमित्त तुम्हारा यहाँ आसादन करता हूँ॥ ४५॥

भाष्यसार—'वाचस्पतिम्' यह ऐन्द्र ग्रह के ग्रहण का द्वितीय मन्त्र है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्र-व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—वेदात्मिका वाणी के पालक, विश्वरूपी कार्य के कारणभूत, मन के वेग के समान वेगवान्, अर्थात् मन से भी अधिक वेगशाली, सर्वव्यापक परमेश्वर को हम लोग अन्नादि अभीष्ट की सिद्धि के लिये अथवा रक्षा के लिये आज संसाररूपी संग्राम में बुलाते हैं। वे प्रभु हम लोगों के समस्त आह्वानों, प्रार्थनावचनों को प्रेम से सेवित करें। वे पावन कर्मों, चरित्रों से युक्त तथा सबके सुखहेतु हैं। हे नैवेद्य, प्रेम से सिक्त पत्र,

प्रेमपरिप्लुतपुत्रपुष्पफलादिपदार्थ ! त्वमुपयामगृहीतोऽसि, विश्वकर्मण इन्द्राय त्वां गृह्णामि। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। तस्मै त्वा सादयामि।

दयानन्दस्तु—'वयमद्य ऊतये रक्षायै वाजे विज्ञाने युद्धे वा निमित्ते वाचस्पतिं वेदवाचां रक्षितारं विश्वकर्माणं विश्वानि धर्म्याणि कर्माणि यस्य तं मनोजुवं मनोगतिं मनोभीष्टगतिज्ञातारं तं परमेश्वरं सभापतिं वा हुवेम आह्वयेम (कामये)। स त्वं साधुकर्मा विश्वशम्भूः समस्तसुखभावयिता ईश्वरः सभापतिर्वा नोऽस्माकमवसे प्रीतिवृद्धये विश्वानि हवनानि प्रार्थनावाग्दत्तानि सर्वप्रार्थनावचनानि जोषद् जुषेत, प्रेम्णा मन्येत। यस्य तव एष उक्तव्यापारो योनिरेकस्य प्रेमभावस्य कारणमस्ति, स त्वमुपयामगृहीतोऽसि यमनियमैर्गृहीतोऽसि, अतो विश्वकर्मणे समस्तकर्मसाधनायेन्द्राय शिल्पक्रियाकुशलतयोत्तमैश्वर्यवन्तं त्वां सेवेमहि' इति, तदपि क्लिष्टकल्पनामात्रम्, धर्म्याणीत्यस्योत्सूत्रत्वात्। मनोजुवमित्यस्याभीष्टगतिज्ञातारमिति व्याख्यानमपि चिन्त्यम्, आह्वये कामये हवनानीत्यस्य च व्याख्यानं निर्मूलमेव ॥ ४५ ॥

विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्। तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण एष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे ॥ ४६ ॥

तृतीयो मन्त्रः। अत्र मन्त्रे विकल्पः। ऐन्द्री वैश्वकर्मणी च त्रिष्टुप् शासदृष्टा। हे विश्वकर्मन्, अन्नेन हविषा महाव्रतीयलक्षणेन वर्धनेन वर्धमानेन वर्धयित्रा वा त्वमिन्द्रं त्रातारं सर्वस्य रक्षकमवध्यं हन्तुमशक्यमप्रतिभटं चाकृणोः कृतवानसि। तस्मै तादृशायेन्द्राय पूर्वीर्विशः प्रजाः पूर्वे वशिष्ठादयो मनुष्या वा समनमन्त सम्यक् प्रह्वाः सन्नताः, यथा यतः, पञ्चम्यर्थे थाल्प्रत्ययः, कारणादयमिन्द्र उग्र उद्गूर्णवज्रो विहव्यो विविधेषु कार्येष्वाहूयत इति विहव्यः, असद् अभूत्; तस्माद् विशः प्रजास्तस्मै नताः। हे विश्वकर्मन्, त्वद्दत्तवर्धमानहविःप्रभावादेवेन्द्रस्येदं सामर्थ्यमित्यर्थः। शेषं पूर्ववत्।

पुष्प, फल आदि पदार्थ ! तुम प्रेम से संगृहीत हो। शेष अर्थ पूर्व की भाँति ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ क्लिष्टकल्पना ही है। 'धर्म्याणि' यह पद मूल से बहिर्भूत है। 'मनोजुवम्' शब्द की व्याख्या 'अभीष्ट गति के ज्ञाता को' इस प्रकार करना चिन्ताजनक है। 'आह्वये' का अर्थ 'कामये' तथा 'हवनानि' पद की व्याख्या भी अप्रामाणिक है ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—हे विश्वकर्मन् परमात्मन्, बर्धमान हविष्प्रदान द्वारा वर्धन के वाक्यों से प्रीति करने वाले इन्द्र को आपने जगत् का रक्षक बनाया है। इसको कोई मार नहीं सकता। इस प्रकार के इन्द्र के लिये पूर्व काल की प्रजा महर्षि आदि प्रणाम करते हैं, जिससे कि शत्रुओं के नाश के लिये यह इन्द्र अपना वज्र उठावे। यह इन्द्र अनेक शुभ कार्यों में आह्वान के योग्य है, अतः इसको सब प्रणाम करते हैं। हे परमात्मन्, आपके द्वारा प्रदत्त हवि से इन्द्र को यह सामर्थ्य प्राप्त हुई है। हे ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, विश्वकर्मा इन्द्र का यह स्थान है, इनके लिये तुम्हारा यहाँ आसादन करता हूँ ॥ ४६ ॥

भाष्यसार—'विश्वकर्मन् हविषा' यह मन्त्र याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार ऐन्द्र ग्रह के ग्रहण का तृतीय मन्त्र है।

अत्र ब्राह्मणम्—'यद्यु ऐन्द्रीं वैश्वकर्मणीं विद्यात्। तयैव गृह्णीयाद् विश्वकर्मन्.... विश्वकर्मण इति' (श० ४।६।४।६)। पूर्वमन्त्रद्वयापेक्षयाऽस्योत्कर्षमाह—यद्यु ऐन्द्रीं वैश्वकर्मणीं विद्यात्तदा तयैव प्रकृतग्रहं गृह्णीयात्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वकर्मन् विश्वकारण परमेश्वर, वर्धनेन वर्धयित्रा हविषा अन्नेन त्वमिन्द्रं देवराजं जगतां त्रातारं रक्षकं कृतवानसि, अवध्यमप्रतिभटं च तेनैव कृतवानसि। तत एव तस्मै पूर्वीर्विशः पूर्वे प्रसिद्धा ऋषयः समनमन्त प्रह्वीभावमागताः। यथा यतः कारणादयमिन्द्र उग्रो दुष्टानां भयङ्करो विहव्यो जनैर्विविधेषु कार्येष्वाहूयते, तस्मादिदानीमपि सर्वे तस्मै नताः, सर्वत्र त्वदीयहविःप्रभाव एव तत्प्रभाव-कारणमित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विश्वकर्मन्, त्वं वर्धनेन हविषा यमवध्यमिन्द्रं त्रातारमकृणोः, तस्मै पूर्वीर्विशः समनमन्त, यथायमुग्रो विहव्यः, असत् तथा विधेहि, अन्यत् पूर्ववत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तद्विवरणस्य श्रुतिविरुद्धत्वात्॥ ४६॥

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णाम्यनुष्टुप्तेऽभिगरः॥ ४७॥

'अदाभ्यं गृह्णात्यासिच्य निग्राभ्याः पात्रे तस्मिंस्तूष्णीं त्रीनꣳशूनवधायाग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसमिति प्रतिमन्त्रमुपयामः सर्वत्राविशेषादिति' (का० श्रौ० १२।५।१३-१५)। यस्मिन्नौदुम्बरे पात्रेंऽशुर्गृहीतस्तस्मिन् होतृचमसस्था निग्राभ्यासंज्ञा अप आनीय तिस्रः सोमलताः प्रक्षिप्याग्नये त्वेत्यादिभिर्मन्त्रैः क्रमेणादाभ्यं ग्रहं गृह्णाति, मन्त्रैः सोमलताप्रक्षेपो वेति केचित्। उपयामगृहीतोऽसीत्येतत् त्रिष्वपि मन्त्रेष्वादौ योजनीयम्।

शतपथ श्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति यह है—हे विश्वकारण परमेश्वर, वृद्धि करने वाले अन्न से आपने देवराज इन्द्र को प्राणियों का रक्षक बनाया है तथा उसी के द्वारा अप्रतिभट किया है। इसी कारण उसके प्रति प्राचीन ऋषि आदि प्रणत हो गये, क्योंकि यह इन्द्र दुष्टों के लिये भयंकर है, प्राणियों के द्वारा विविध कार्यों में आहूत किया जाता हैं। अतः अभी भी सब उसके लिये प्रणत हैं, अर्थात् सर्वत्र आपकी हवि का प्रभाव ही उसके प्रभाव का हेतु है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्यान श्रुतिविरुद्ध होने के कारण अनुपयुक्त है॥ ४६॥

मन्त्रार्थ—हे प्रथम अदाभ्य ग्रह सोम, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। गायत्री छन्द द्वारा वरणीय तुमको अग्नि देवता की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ। उपयाम पात्र में गृहीत त्रिष्टुप् छन्द से वरणीय तुमको इन्द्र देवता की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ। हे तृतीय अदाभ्य ग्रह, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। जगती छन्द से वरणीय तुमको सम्पूर्ण विश्वेदेव देवताओं की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ। हे अदाभ्य नाम से गृहीत सोम, अनुष्टुप् छन्द तुम्हारी स्तुति के लिये है॥ ४७॥

भाष्यसार—'उपयामगृहीतः' इत्यादि कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।१३-१५, १७) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत जिस औदुम्बर पात्र में अंशु का ग्रहण किया गया है, उसमें होतृचमसस्थित

अदाभ्यदेवत्यानि त्रीणि यजूंषि देवदृष्टानि। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। हे ग्रह, गायत्रच्छन्दसं गायत्री छन्दो यस्य ग्रहस्य तं त्वामग्नयेऽग्निप्रीत्यर्थं गृह्णामि, अग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीत्येकं ग्रहणम्। हे सोम! त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। हे ग्रह, त्रिष्टुप्छन्दसं त्रिष्टुप् छन्दो यस्य तं त्वामिन्द्राय देवाय गृह्णामि। इन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसे गृह्णामीति द्वितीयं ग्रहणम्। हे सोम, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि। हे ग्रह, जगच्छन्दसं जगती छन्दो यस्य तादृशं त्वां विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय गृह्णामि। एवं सवनदेवताभ्यः स्वछन्दस्कं सोमं गृहीत्वाऽथेदानीमाह—'अनुष्टुप् त इत्युक्त्वा' (का० श्रौ० १२।५।१७)। एनं मन्त्रं पठेत्। अदाभ्यदेवत्यं देवदृष्टम्। हे सोम, अनुष्टुप्छन्दस्ते तव, अभिगरः अभिष्टवः, 'गृ स्तुतौ', 'ऊर्ध्वꣳ सवनेभ्यस्तदानुष्टुभम्' (श० ११।५।९।७) इति श्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'उपयामगृहीतोऽसि। अग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीति गायत्रं प्रातःसवनं तत्प्रातःसवनं प्रवृहतीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामीमि त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳसवनं····प्रवृहति विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णामीति जागतं तृतीयसवनं तत्तृतीयसवनं प्रवृहत्यनुष्टुप्तेऽभिगर इति यद्वा ऊर्ध्वꣳ सवनेभ्यस्तदानुष्टुभं तदेवैतत् प्रवृहति तन्नाभिषुणोति वज्रो वै ग्रावा वागदाभ्यो नेद्वज्रेण वाचꣳ हिनसानीति' (श० ११।५।९।७)। गायत्रीछन्दस्कं प्रातःसवनम्। तत्तेन गायत्रच्छन्दसमिति विशेषणेन प्रातःसवनात्मकं यज्ञस्य भागं प्रवृहत्यसुरेभ्यः सकाशाद् उद्यम्यति स्वीकरोति, 'बृह उद्यमने'। जगच्छन्दो जगतीछन्दस्कं जागतं तृतीयं सवनम्। यद्वा—ऊर्ध्वं त्रिभ्यः सवनेभ्य उक्थषोडशीसंस्थादिरूपं यदस्ति तत्सर्वमानुष्टुभम्, तदेवानेन मन्त्रेण असुरेभ्यः प्रवृहत्युपादत्ते। तेन वानुष्टुबाख्यं छन्दः, अभिगरोऽभिशंसनम्, स्तावकमित्यर्थः। ग्रहान्तरवत् प्राप्तमभिषवं निषेधति—नाभिषुणोतीति। तत्र कारणमाह—वज्रो वेति। ग्राव्णः कठिनत्वात् प्रहरणसाधनत्वाच्च वज्रत्वम्। अदाभ्यस्य वाग्रूपत्वम्। नेद्वज्रेण वाचं हिनसानीति।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम निवेदनीय भगवद्भोग्यपदार्थ, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। गायत्रीछन्दस्कैर्मन्त्रैः संस्तुतं त्वाम् अग्नये अग्रणीत्वादिगुणकाय परमेश्वराय गृह्णामि। इन्द्राय परमैश्वर्यगुणकाय परमात्मने त्रिष्टुप्छन्दस्कमन्त्रैः स्तुतं त्वां गृह्णामि। जगतीच्छन्दोमन्त्रसंस्तुतं त्वां विविधेभ्यो देवेभ्यः सर्वदेवरूपाय परमात्मने वा त्वां गृह्णामि। हे सोम अनुष्टुप्छन्दस्ते तव अभिगरोऽभिष्टवः। भगवद्भोग्यं सोमादिहविर्गायत्र्यादिछन्दोविशिष्टैस्तैस्तैर्मन्त्रैः स्तूयत इत्यर्थः।

निग्राभ्य संज्ञक जल को लेकर, तीन सोमलताओं को प्रक्षिप्त करके क्रमशः 'अग्नये त्वा' इत्यादि तीन मन्त्रों से अदाभ्य ग्रह का ग्रहण किया जाता है। अथवा मन्त्रों से सोमलता का प्रक्षेप किया जाता है, यह कुछ आचार्यों का मत है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे निवेदनीय भगवद्भोग्य पदार्थ, तुम प्रेम के द्वारा संगृहीत हो। गायत्री छन्द के मन्त्रों से संस्तुत तुमको अग्रणीत्व आदि गुणों से युक्त परमेश्वर के लिये ग्रहण करता हूँ। परमैश्वर्य गुणवाले परमात्मा के लिये त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्रों से संस्तुत तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। जगती छन्द के मन्त्रों से संस्तुत तुमको विविध देवताओं के लिये अथवा सर्वदेवरूपी परमात्मा के लिये ग्रहण करता हूँ। हे नैवेद्य, अनुष्टुप् छन्द तुम्हारा अभिष्टव, अर्थात् स्तावक है। भगवद्भोग्य सोम आदि हवि या गायत्री आदि छन्दों वाले तत्तत् मन्त्रों से स्तुति की जाती है, यह भाव है।

दयानन्दस्तु—'हे विश्वकर्मन्, अहं यस्य ते तव अनुष्टुप्, अनुष्टोभते स्तभ्नात्यज्ञानं यः सोऽभिगरोऽभिगतस्तवः, तं गायत्रछन्दस्कं त्वाग्नये गृह्णामि। त्रिष्टुप्छन्दसं त्वेन्द्राय गृह्णामि। जगच्छन्दसं विश्वेभ्यो देवेभ्यो गृह्णामि। तदर्थमस्माभिस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि। अग्निप्रभृतिपदार्थगुणवादिगायत्रीछन्दस्कमन्त्रज्ञं त्वामग्नयेऽग्न्यादिपदार्थगुणज्ञानाय स्वीकरोमि। परमैश्वर्यदायित्रिष्टुप्छन्दस्कमन्त्रज्ञं त्वा परमैश्वर्यप्राप्तये स्वीकरोमि। समस्तजगद्दिव्यगुणकर्मस्वभावबोधकमन्त्रज्ञं त्वा समस्तविश्वगतश्रेष्ठगुणकर्मस्वभावेभ्यः स्वीकरोमि। उक्तसर्वकार्यसिद्धयेऽस्माभिस्त्वं गृहीतोऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्नये गायत्रच्छन्दसमिति पदसन्दर्भेणाग्निगुणवादिगायत्रीछन्दस्कमन्त्रज्ञमित्यर्थस्य ग्रहणायोगात्। अग्नय इति चतुर्थ्यन्तस्याग्निपदस्य यथाश्रुतस्य कथं तद्गुणस्तुत्यर्थता? गायत्रच्छन्दसमित्यस्य तादृशमन्त्रज्ञपरत्ववर्णनमपि निर्मूलमेव, तद्रीत्यैवेतरयोर्वाक्ययोः कथं नार्थ उक्तः? तत्रापीन्द्रगुणवादित्रिष्टुप्छन्दस्कमन्त्रज्ञं त्वामिति कथं नार्थः? तृतीयपर्याये जगतीच्छन्दस्कमन्त्रज्ञं त्वामित्यनु त्वा जगद्गुणस्तावकमन्त्रज्ञं त्वामिति कथं ब्राह्मणेन जागतं छन्द इत्युक्तम्? ॥ ४७ ॥

व्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि भन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि मदिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि मधुन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि शुक्रं त्वा शुक्र आधूनोम्यह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु ॥ ४८ ॥

'आधूनोत्यꣳशुभिर्व्रेशीनां त्वेति गच्छन्नाहवनीयमिति' (का० श्रौ० १२।५।१७)। सोमांशुभिर्मध्ये प्रक्षिप्तैरदाभ्यग्रहस्था निग्राभ्या आधूनोत्याहवनीयं प्रति होमार्थं गच्छन्नध्वर्युः। व्रेशीनामित्येतदादीनि विश्वेषामित्यन्तानि सोमदेवत्यानि देवदृष्टानि यजूंषि। हे सोम, व्रेशीनां मेघोदरस्थानामपां पत्मन् पतने निमित्ते वृष्टिनिष्पत्त्यर्थं त्वा त्वामाधूनोमि कम्पयामि। व्रजतो मेघस्योदरे शेरते ता व्रेश्यो मेघोदरस्था आपः। कुकूननानामत्यर्थं कुवन्त्यः शब्दं कुर्वाणा नमन्ति प्रह्वीभवन्तीति कुकूनना मेघस्था आपः, तासां पत्मन् पतने निमित्तं

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या असंगत है, क्योंकि 'अग्नये' आदि पदसन्दर्भ के द्वारा 'अग्निगुणवादी गायत्री छन्दस्कमन्त्रज्ञ' इस अर्थ का ग्रहण अयुक्त है। 'अग्नये' इस प्रकार यथाश्रुत चतुर्थ्यन्त अग्नि पद की तद्गुणस्तुत्यर्थता कैसे है? 'गायत्रच्छन्दसम्' का अर्थ उस प्रकार से मन्त्रज्ञपरक वर्णित करना अप्रामाणिक ही है। अन्य दो वाक्यों का भी अर्थ इसी रीति से क्यों नहीं किया गया? उनमें भी 'इन्द्रगुणवादी त्रिष्टुप्छन्दस्क मन्त्रज्ञ' इस प्रकार अर्थ क्यों नहीं हुआ? तृतीय पर्याय में भी इसी प्रकार विसंगति है ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ— हे सोम, इधर-उधर धावमान मेघों के उदर में वर्तमान जलसमूह की वर्षा के लिये तुमको कम्पित करता हूँ। हे सोम, शब्द करते हुए जगत् के कल्याणकारी मेघों के उदर में वर्तमान जल के वर्षण के लिये तुम्हें कम्पित करता हूँ। हे सोम, हमको अत्यन्त प्रसन्न करने वाले मेघों के उदर में जल की वर्षा के लिये तुमको कम्पित करता हूँ। हे सोम, अत्यन्त तृप्तिकारी मेघों के उदर में वर्तमान जल के वर्षण के लिये तुमको कम्पित करता हूँ। अमृतरूप मेघोदक की भूमि पर वर्षा के लिये तुमको कम्पित करता हूँ। हे सोम, तुम अक्लिष्ट कर्मा और शुद्ध हो, तुम्हें शुद्ध उत्कृष्ट कर्म वाले निग्राभ्य लक्षण वाले जल में कम्पित करता हूँ। दिन के रूप में सूर्य की किरणों से कम्पित करता हूँ ॥ ४८ ॥

भाष्यसार—'व्रेशीनां त्वा' इत्यादि कण्डिका से अदाभ्य ग्रह में स्थित निग्राभ्या संज्ञक जल को अध्वर्यु हिलाता है।

त्वामाधूनोमि कम्पयामि, 'कुङ् शब्दे'। भन्दनानाम्, 'भदि कल्याणे सुखे च', भदन्तीति भदन्त्यः कल्याणकारिण्यः सुखयित्र्यो वा मेघस्था आपः, तासां पतने निमित्ते त्वां कम्पयामि। मदिन्तमानां मादयन्तीति मदिन्योऽतिशयितास्ता मदिन्तमाः, तमपि पुंवद्भावः, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० सू० ८।२।७) इति छान्दसो नुडागमः। अतितर्पयितृणामपां पतने त्वां धूनोमि। मधुन्तमानामत्यन्तं मधुस्वादोपेतानामपां पतने त्वां धूनोमि। शुक्रं शुद्धमक्लिष्टकर्माणं त्वां शुक्रेऽक्लिष्टकर्मणि निग्राभ्यालक्षण उदके त्वामाधूनोमि। किञ्च, अह्नो दिवसस्य रूपे सूर्यस्य रश्मिषु हे देव सोम! त्वामाधूनोमि, तेषामपि शुक्ररूपत्वात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अꣳशुनेवाधूनोति। व्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि ''''पत्मन्नाधूनोमीत्येता वै दैवीरापस्तद्याश्चैव दैवीरापो याश्चेमा मानुष्यस्ताभिरेवास्मिन्नेतदुभयीभी रसं दधाति' (श० ११।५।९।८)। अभिषवस्थाने आधवनं विधत्ते, ग्रहस्योपरि निहितान् त्रीनंशून् कम्पयति। व्रेश्यादयः शब्दा देवलोकस्थानामपां संज्ञाः। व्रेश्यन्ते सिच्यन्त आभिरिति व्रेश्यः, तासां पत्मन् पतने मार्गे हे सोम, त्वामाधूनोमि''''एता वै व्रेश्याद्या दैवीर्देवसम्बन्धिन्य आपः, तत्तथा सति दैवीभिरद्भिः पात्रगृहीताभिर्मानुषीभिश्चोभयीभिरेतस्मिन् ग्रहे रसं दधाति। एतावता व्रेशीनां पत्नीनामिति व्याख्यानमसङ्गतम्। कुत्सितं कुनन्ति शब्दायन्त इति कुक्ननाः। 'शुक्रं त्वा शुक्र आधूनोमीति''''(श० ११।५।९।९)। हे सोम शुक्रं रसवन्तं त्वां शुक्रे वसतीवर्याख्ये रसवत्युदके आधूनोमि। अह्नो रूपे अह्नो दिवसस्य सम्बन्धिनि रूपे वसतीवर्याख्ये सूर्यसम्बन्धिषु रश्मिषु किरणेषु त्वां कम्पयामि। सूर्यास्तमयात् पूर्वमेव औपवसथ्येऽहनि वसतीवरीणां ग्रहणादेवमुच्यते।

अध्यात्मपक्षे – हे सोम, भगवद्भोग्यपदार्थ, व्रजतो मेघस्योदरे वर्तमानानामपामिव ज्ञानविज्ञानानामपि वर्षणाय त्वामहमाधूनोमि, मुखे प्रवेशाय त्वां चालयामि। अत्यर्थं शब्दं कुर्वन्तीनां प्रह्वीभूतानां मेघस्थानामपामिव श्रुतीनां पत्मन् हृदये प्रक्षेपाय त्वामाधूनोमि। भन्दनानां कल्याणकारयितृणां सुखयितृणामपामिव भक्तीनां पतने निमित्ते त्वामाधूनोमि। तथैव मन्दितमानामत्यर्थं हर्षयितृणामपामिव भक्तीनां पतन(वर्षण)निमित्तं त्वामाधूनोमि व्यापृतं करोमि। मधुन्तमानामत्यन्तं मधुस्वादोपेतानामपामिव घृतगन्धीनां मधुगन्धीनां भक्तिविशेषाणां पत्मनि वर्षणनिमित्ते हे भगवत्प्रसाद, त्वामहं व्यापारयामि। कुक्ननानां शब्दवतां शब्दानुविद्धानां विचारप्रत्ययानां वर्षणे निमित्ते त्वामहं प्रेरयामि, 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥' (वा० प० १।११५) इत्यभियुक्तोक्तेः। भन्दनानां कल्याणकारिणीनां सुखयितृणां

यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।१७) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में कण्डिका का अर्थ इस प्रकार है—हे भगवद्भोग्य पदार्थ, मेघ के गर्भ में विद्यमान जल की भाँति ज्ञान-विज्ञान की वृष्टि के लिये मैं तुमको कम्पित करता हूँ, मुख में प्रवेश के लिये चलायमान करता हूँ। अतिशय शब्दकारी समीप में आगत मेघस्थ जल की भाँति श्रुतियों के हृदय में प्रक्षेप के लिये तुमको प्रकम्पित करता हूँ। कल्याणकारिणी, सुख प्रदान करने वाली जलराशियों की भाँति भक्ति के प्रक्षेपणार्थ तुमको हिलाता हूँ। इसी प्रकार अत्यन्त हर्षित करने वाली जलराशियों की भाँति भक्ति की वृष्टि के लिये तुमको कम्पित करता हूँ। अतिशय मधुर स्वाद से युक्त जल की भाँति घृतसुगन्धयुक्त, मधुसुगन्धयुक्त भक्तिविशेष की वृष्टि के निमित्त से हे भगवत्प्रसाद! मैं तुमको व्यापारवान् करता हूँ। शब्दयुक्त, शब्दों में ग्रथित विचार-प्रत्ययों के वर्षण के लिये मैं तुमको प्रेरित करता हूँ। 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके' इत्यादि वाक्यपदीय की उक्ति में भी आचार्यों ने इसको प्रतिपादित किया है। कल्याणकारिणी, सुखदायिनी श्रवणमननरूपी

श्रवणमननरूपाणां वृत्तिविशेषाणां वर्षणे निमित्ते त्वां चालयामि। तथैव मदिन्तमानां मधुन्तमानां घृतमधुगन्धीनां भक्तीनां वर्षणे निमित्ते त्वां प्रेरयामि। तथैव शुक्रं पवित्रदीप्तिमन्तं त्वां शुक्रे पवित्रे दीप्तिमति भक्तहृदये त्वामाधूनोमि व्यापारयामि। अह्नो दिवसस्य रूपे सूर्यरश्मिषु हे सोम, तादृशे काले त्वामाधूनोमि।

दयानन्दस्तु—'हे पत्मन्, व्रेशीनां दिव्यानामपामिव निर्मलविद्यासुशीलव्याप्तानां पत्नीनां मध्ये व्यभिचारे वर्तमानं त्वामहमाधूनोमि। हे पत्मन्, कुक्रननानां भृशं शब्दविद्यया नम्राणां पत्नीनां समीपे मौर्ख्येण वर्तमानं त्वामहमाधूनोमि। हे पत्मन्, भन्दनानां कल्याणाचरणानां सन्निधावधर्मचारित्वेन प्रवृत्तं त्वामहमाधूनोमि। मन्दितमानामतिशयितानन्दितानां परस्त्रीणां सनीडे दुःखदायित्वेन चरन्तं त्वामहमाधूनोमि। हे पत्मन्, मधुन्तमानामिवातिशयेन माधुर्यगुणोपेतानां समर्यादं समीपे कुचारिणं त्वामाधूनोमि। हे पत्मन्, अह्नो दिनस्य रूपे सूर्यस्य रश्मिषु तादृशसमये गृहे सङ्गतिकामिनं शुक्रं शुद्धवीर्यवन्तं त्वां शुक्रे वीर्यनिमित्तम् आ सम्यग् धूनोमि, ततस्त्वां मोचयामि' इति, तदपि न सङ्गतम्, पत्न्या वक्तृत्वे पतनशीलस्य पत्युः सम्बोध्यत्वे मानाभावात्, पत्मन्निति सम्बोधनस्यापि सम्भवात्। परस्त्रीणां बोधका व्रेश्यादिशब्दा इत्यपि निर्मूलम्, उव्वटादिरीत्या मेघस्थानामपामपि बोधकत्वसम्भवात्। तथा श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पदे पदे स्फुटः ॥ ४८ ॥

ककुभꣳ रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः। यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा ॥ ४९ ॥

हे सोम, वृषभस्य श्रेष्ठस्य वर्षणशीलस्य वा तव ककुभं महत् प्रभावत आदित्यलक्षणं रूपं रोचते दीप्यते। ककुभमिति महन्नामसु पठितम् (निघ० ३।३।१९)। बृहद् महान् शुक्रः शुद्ध आदित्यः शुक्रस्य शुद्धस्य सोमस्य तव पुरोगाः पुरोगामी, यतः सोमः सोमस्य पुरोगाः पुरोगामी भवितुमर्हति, तस्मात् ते तव हे सोम ! अदाभ्य-मनुपहिंसितं नाम जागृवि जागरणशीलं तस्मै त्वां गृह्णामि। 'तस्मै त इति जुहोतीति' (का० श्रौ० १२।५।१७)। अदाभ्यं जुहोति तस्मै त इति मन्त्रेण। हे सोम ! तस्मै तादृशाय तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु, 'तत्सोममेवैतत् सोमाय जुहोति' (श० ११।५।९।११) इति श्रुतेः।

विशेष वृत्तियों के लिये तुमको संचालित करता हूँ। पवित्र, दीप्तिमान् तुमको पावन तथा विद्योतमान भक्त के हृदय में व्यापृत करता हूँ। हे नैवेद्य, दिवस की रश्मियों के काल में तुमको संचालित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या पत्नी के वक्ता होने में तथा पतनशील पति के सम्बोध्य होने में कोई प्रमाण न होने के कारण असंगत है। 'व्रेशी' आदि परस्त्रियों के बोधक शब्द हैं, यह कहना भी निर्मूल है, क्योंकि उव्वट आदि आचार्यों के अनुसार मेघस्थ जल का भी बोधन इनसे सम्भव है। श्रुति तथा सूत्र-वचनों का विरोध तो पदे-पदे स्पष्ट ही है ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम, तुम्हारा श्रेष्ठ वर्षणकारी ककुद् महद् आदित्य लक्षण रूप में प्रदीप्त होता है। महान् शुद्ध आदित्य शुद्ध सोम का पुरोगामी है, सोम भी सोम का पुरोगामी है। तुम किसी की हिंसा नहीं करते, सदा जागते रहते हो। इसलिये मैं तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। हे सोम, आपके निमित यह श्रेष्ठ आहुति प्रदत्त है ॥ ४९ ॥

भाष्यसार—'ककुभं रूपम्' इस कण्डिका के मन्त्रों से अदाभ्य ग्रह का होम आदि विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं।

अत्र ब्राह्मणम्—'ककुभꣳ रूपं वृषभस्य रोचते बृहदिति। एतद्वै....तस्मै त्वा गृह्णामीत्येतद्ध वा अस्यादाभ्यं नाम जागृवि यद्वाक्तद्वाचमेवैतद्वाचे गृह्णाति' (श० ११।५।९।१०)। य एष सूर्यस्तपति, एतत्खलु बृहदधिकं ककुभं प्रशस्यं रूपं तद् वृषभस्य वर्षणशीलस्य सूर्यस्य रोचते। अतोऽयं शुक्रो देदीप्यमानः सोमः शुक्रस्य दीप्यमानस्य सूर्यस्य पुरोगाः। तथा होमानन्तरं सोमोऽमृतमयो भूत्वा सोमस्य दिवि चन्द्रात्मना वर्तमानस्य पुरोगामी भवति। मन्त्रस्योक्तार्थपरतामाह—तच्छुक्रमेवैतदिति। एवद्ध स्म अस्यादाभ्यं नामेत्यस्य सोमस्य वागित्येतद् अदाभ्यं नाम, तस्याः सर्वव्यवहारहेतुत्वेन बाधानर्हत्वाददाभ्यत्वम्। तथा च वागात्मकमेवादाभ्यग्रहरूपं वाग्देवतायै गृहीतवान् भवतीत्यर्थः। 'अथोपनिष्क्रम्य जुहोति। तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहेति तत्सोममेवैतत् सोमाय जुहोति तथो वाचमग्नौ न प्रवृणक्त्यथ हिरण्यमभिव्यनिति' (श० ११।५।९।११)। अथास्य ग्रहस्य समन्त्रकं होमं विधत्ते—अथोपनिष्क्रम्य जुहोतीति। हविर्धानान्निर्गत्य आहवनीयदेशं गत्वा तस्मै त इति मन्त्रेण जुहुयात्। तस्मै वागात्मकाय तुभ्यं रसात्मकं हविः सुहुतमस्तु। तदर्थपरतां व्याचष्टे—तत्सोममेवैतत् सोमाय जुहोतीति। एतेन मन्त्रेण सोमरसमेव सोमाय हुतवान् भवतीत्यर्थः। तथा च वागात्मकस्य सोमस्य देवतात्वेनावस्थितत्वादग्नौ प्रक्षिप्यमाणः सोमरसो न वागात्मक इति वाचमग्नौ न प्रवृणक्ति न दहतीत्यर्थः। अस्य ग्रहस्य होमकाले ध्रियमाणस्य प्राणवायोर्यदि बलान्निष्क्रमः स्यात्तदा हिरण्यस्योपरि प्रश्वासः कार्यः। अस्य स्तावकं वाक्यं चतुर्थकाण्डे (श० ४।६।१।६) इत्यत्र।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम भगवत्समर्पणीयात्मरूपसोम ! वृषभस्य श्रेष्ठस्य ते तव ककुभं महत् सूर्यमण्डलस्थमाधिदैविकं रूपं रोचते दीप्यते। बृहत् प्रभावतः, शुक्रः शुद्धः परमात्मस्वरूपः, शुक्रस्य शुद्धस्य तव पुरोगाः पुरोगामी। हे सोम ! यत्ते त्वदीयमदाभ्यमनुपहिंसितमविद्याकामकर्मभिरसंस्पृष्टं रूपं जागृवि जागरूकं स्वरूपमस्ति, तस्मै सोमाय तत्पदार्थाय त्वां त्वंपदार्थं स्वाहा समर्पयामि।

दयानन्दस्तु—'हे सोम प्राप्तैश्वर्यविद्वन्, यस्य वृषभस्य सुखवर्षणशीलस्य बृहत् ककुभं रूपं रोचते दिशामिव शुद्धं बृहद्रूपं सुन्दरं स्वरूपं रोचते, स त्वं शुक्रस्य शुद्धस्य धर्मस्य पुरोगा अग्रगामी शुक्रः शुद्धः, सोमस्यात्यन्तमैश्वर्यस्याग्रगन्ता सोम ऐश्वर्ययुक्तो भव, यतस्तवादाभ्यं नाम जागृव्यस्ति, तस्मै त्वां गृह्णामि। हे सोम ! तस्मै सोमाय श्रेष्ठकर्मसु प्रवृत्ताय स्वाहा सत्या वाक् प्राप्ताऽस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सोमशब्दस्य तादृगर्थत्वे मानाभावात्। ककुभमित्यस्यापि दिग्वच्छुद्धमित्यपि प्रमाणापेक्षमेव। तथैवान्यान्यपि पदानि गौणार्थान्येव व्याख्यातानि॥ ४९ ॥

यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।१७) में निरूपित है। शतपथ श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार है—हे भगवान् के प्रति समर्पणीय आत्मरूपी सोम ! तुम्हारा श्रेष्ठ, महान् सूर्यमण्डलस्थित आधिदैविक रूप प्रदीप्त होता है। बृहत्, शुद्ध, परमात्मस्वरूप, शुद्धात्मवान् तुम्हारा अग्रगामी है। हे सोम, तुम्हारा जो अनुपहिंसित, अविद्या-काम-कर्मों से अस्पृष्ट, जागरूक स्वरूप है। उस तत् पदार्थ के प्रति मैं त्वं पदार्थ को समर्पित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या में सोम शब्द का उस प्रकार अर्थ करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अनौचित्य है। 'ककुभम्' का 'दिशाओं की भाँति शुद्ध' यह अर्थ भी प्रमाण की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार अन्य शब्दों की भी गौण अर्थों के द्वारा ही व्याख्या की गई है॥ ४९ ॥

उ॒शिक् त्वं दे॑व सोमा॒ग्नेः प्रि॒यं पाथो॒ऽपी॑हि व॒शी त्वं दे॑व सोमे॒न्द्र॑स्य प्रि॒यं पाथो॒ऽपी॑ह्य॒स्मत्स॑खा त्वं दे॑व सोम॒ विश्वे॑षां दे॒वानां॑ प्रि॒यं पाथो॒ऽपी॑हि ॥ ५० ॥

'अꣳशून् सोमे निदधात्युशिक् त्वमिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १२।५।१८)। त्रिभिर्मन्त्रैरुलूखलमध्यस्थान् सोमांशूनधिषवणीयस्योपर्यद्रिषु निहितसोमे निदधात्येकैकम्। हे देव सोम, यतस्त्वमुशिक् कान्तो वल्लभोऽस्माकम्, अतोऽग्नेः प्रियं पाथोऽन्नमपि इहि अपि गच्छ। 'वश कान्तौ' वशी कान्तश्च त्वं हे सोम, इन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीहि प्राप्नुहि। हे देव सोम, अस्मत्सखा त्वस्माकं मित्रम्, अतस्त्वं विश्वेषां देवानां प्रियमभिरुचितमन्नं प्राप्नुहि, 'अग्निर्वै प्रातःसवनमिन्द्रो माध्यन्दिनꣳ सवनं विश्वेदेवास्तृतीयꣳ सवनम्' इति श्रुतेः। सवनं देवेभ्योऽर्पणम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाꣳशून् पुनरप्यर्जति। उशिक् त्वम्····प्रियं पाथोऽपीहीति सवनानि वा अदः प्रवृहति तान्येवैतत् पुनराप्याययत्ययातयामानि करोति तैरयातयामैर्यज्ञं तन्वते' (श० ११।५।१।१२)। अथैतेषां त्रयाणामंशूनां पुनस्त्रिभिर्मन्त्रैः संसर्जनं विधत्ते—अथांशून् पुनरप्यर्जतीति। एवं होमानन्तरमेतान् धृतानंशून् उशिक् त्वमित्यादिभिः प्रतिमन्त्रं राजासन्दीगते सोमे पुनरप्यर्जति संसृजेत्, निदध्यादित्यर्थः।

सायणाचार्यरीत्या मन्त्रार्थस्तु—हे देव दानादिगुणक सोम, उशिक् कामयमानस्त्वं प्रियं पाथः प्रातःसवनहवीरूपमन्नमपीहि गच्छ। वशी कामोऽस्यास्तीति वशी, इन्द्रस्य प्रियं पाथोऽपीहि गच्छ। अस्मत्सखा सखिभूतो विश्वेषां प्रियं पाथोऽपीहि। सवनार्थकथनव्याजेन मन्त्रान् व्याचष्टे श्रुतिः—सवनानि वा इति। अदोऽदाभ्यस्य ग्रहणकालेंऽशुत्रयरूपेण त्रीण्येव सवनानि प्रवृहति आदत्ते। तान्येव एतत्पुनः प्रक्षेपेणेदानीमाप्याययति वर्धयति, अयातयामानि च करोति। ततस्तैरगतसारैः रसवद्भिर्यज्ञं तन्वते विस्तारयन्ति यज्ञविदः।

अध्यात्मपक्षे—हे देव सोम सोमवत्प्रियदर्शन! उशिक् कामयमानः कान्तो वा, अग्नेरग्निवत् सर्वपापतापदाहकस्य परमेश्वरस्य प्रियं पाथः प्रीतिजनकं पाथोऽन्नमन्नभावं भोग्यत्वमपीहि प्राप्नुहि। त्वं वशी जितेन्द्रियो भूत्वा हे प्रियदर्शन, त्वमिन्द्रस्य परमैश्वर्यशालिनः परमेश्वरस्य प्रियं पाथो भोग्यभावं प्राप्नुहि। हे सोमदेव, त्वमस्मत्सखा वयं वेदाः सखायो यस्य स त्वम्, हे सोम! विश्वेषां देवानां तदुपलक्षितानां समेषां भूतानां प्रियं

मन्त्रार्थ—हे सोम देवता, तुमको पाने की सब कामना करते हैं, इस कारण तुम अग्नि के प्रिय खाद्य बनो। हे देदीप्यमान सोम, तुम अत्यन्त कान्तिमान् हो। तुम इन्द्र के प्रिय खाद्य बनो। हे सोम देव, तुम हमारे बन्धु हो, सम्पूर्ण विश्वेदेव देवताओं के तुम प्रिय खाद्य बनो ॥ ५० ॥

भाष्यसार—'उशिक् त्वम्' इस कण्डिका के तीन मन्त्रों से सोम-खण्डों को अधिषवण-प्रस्तरों पर रखा जाता है। यह याज्ञिक प्रक्रिया कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।५।१८) में वर्णित है। शतपथ श्रुति के याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान सायणादि द्वारा उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में कण्डिका का अर्थ यह है—सोम की भाँति प्रियदर्शन हे देव! तुम कमनीय हो, अग्नि के समान सम्पूर्ण पाप-ताप को जलाने वाले परमेश्वर के प्रिय हो, प्रीतिजनक अन्नभाव अर्थात् भोग्यत्व को प्राप्त करो। जितेन्द्रिय होकर हे प्रियदर्शन! तुम परमेश्वर के प्रिय भोग्यभाव को प्राप्त करो। हे सोम देव! वेद जिसके मित्र हैं, इस प्रकार के तुम हमारे सखा हो। हे सोम, समस्त देवों तथा तदुपलक्षित सम्पूर्ण जीवों के प्रिय भोग्यभाव को प्राप्त करो।

पाथोऽन्नभावं प्राप्नुहि। 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' (तै० उ० ३।१०) इत्यादिश्रुतौ साधकस्यान्नत्वमन्नादत्वं चोक्तम्। भगवतोऽन्नत्वेनात्मनो भोग्यत्वं भगवतो भोक्तृत्वम्, भगवतः परमानन्दरसात्मकस्य भोग्यत्वे भक्तस्यात्मनो भोक्तृत्वमन्नादत्वादिकमिष्यते।

दयानन्दस्तु—'हे देव सोम राजन्, त्वमुशिक् कामयमानमग्नेः सद्विदुषः प्रियं प्रीतिजनकं पाथो रक्षणीयमाचरणम्, पाथ इति पदनामसु पठितम्, अपीहि प्राप्नुहि जानीहि वा। हे देव सोम, त्वं वशी जितेन्द्रियो भूत्वा इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य धार्मिकस्य राज्ञः प्रियं सुखैस्तर्पकं पाथो ज्ञातव्यं कर्म अपीहि। हे सोम, त्वमस्मत्सखा वयं सखायो यस्य स अस्मत्सखा, विश्वेषां देवानां सर्वेषां धार्मिकाणामाप्तानां विदुषां प्रियं कमनीयं पाथो विज्ञानाचरणमपीहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शब्दार्थसाङ्कर्यात्, देवसोमादिशब्दानां विभिन्नार्थकत्वे नियामकाभावात्। पाथो रक्षणीयमाचरणम्, पाथः सुखैस्तर्पकम्, पाथो विज्ञानाचरणमित्यर्थभेदः किंमूलक इत्यस्य वक्तव्यत्वेऽप्यनुक्तत्वात्। तथैव प्रियशब्दस्यापि भिन्नार्थकत्वे हेतुर्वाच्यः स्यात्। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव॥ ५०॥

इ॒ह र॑ति॑रि॒ह र॑मध्वमि॒ह धृति॑रि॒ह स्वधृ॑ति॒: स्वाहा॑। उ॒प॒सृ॒जन् ध॒रुणं॑ मा॒त्रे ध॒रुणो॑ मा॒तरं॒ धय॑न्॥ रा॒यस्पोष॑म॒स्मासु॑ दीधरत् स्वाहा॑॥ ५१॥

सत्रोत्थानमन्त्राः। देवस्यार्षम्। 'शालाद्वार्येऽन्वारब्धेष्विह रतिरिति जुहोतीति' (का० श्रौ० १२।४।८)। दीक्षितेष्वध्वर्युमन्वारब्धेषु सत्स्वध्वर्युः सकृद्गृहीतमाज्यं जुहुयात्। पशुदैवतं यजुः। हे गावः, इह यजमानेषु युष्मदीया रतिः संयमनमस्तु। रम्णातिः संयमनकर्मा। यत एवमत इहैव रमध्वम्। युष्माकमिह यजमानेषु धृतिः सन्तोषोऽस्तु। युष्माकं स्वधृतिः स्वकीयानामपि धृतिरिहैवास्तु। स्वाहा सुहुतमस्तु। 'अपरामुपसृजन्निति' (का० श्रौ० १२।४।९)। सकृद्गृहीतेनाज्येन द्वितीयामाहुतिं शालाद्वार्येवाध्वर्युर्जुहोति। उष्णिक्,

---

'अहमन्नम्' इत्यादि श्रुति में साधक का अन्नत्व तथा अन्नादत्व उपदिष्ट किया गया है। आत्मा के भगवद्भोग्य होने के कारण भगवान् का भोक्तृत्व तथा परमानन्द रसात्मक भगवान् के भोग्य होने पर भक्तात्मा का भोक्तृत्व, अन्नादत्व आदि अभीप्सित हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ में शब्दार्थ की संकरता के कारण अनौचित्य है। देव, सोम आदि शब्दों के विभिन्न अर्थों में कोई नियामकता नहीं है। 'पाथः' शब्द के रक्षणीय आचरण, सुखों के द्वारा तर्पक तथा विज्ञानाचरण इन त्रिविध अर्थों में अर्थभेद किस कारण है, यह प्रतिपादनीय होने पर भी नहीं निरूपित किया गया। इसी प्रकार 'प्रिय' शब्द के भी विभिन्न अर्थों में हेतु आकांक्षित है। श्रुति तथा सूत्र-वचनों का विरोध तो स्पष्ट ही है॥ ५०॥

मन्त्रार्थ—**हे गोविन्द, तुम्हारी रति इस यजमान में हो, इस यजमान में तुम रमण करो, इस यजमान में तुम्हारा संतोष हो, इसी के स्थान में स्वजनों का संतोष हो, आपके द्वारा यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। धारक अग्नि पृथ्वी को धारण करने वाले अग्नि के समीप में आकर पृथ्वी को पीता हुआ हमें धन, पशु, पुत्र, सुवर्ण आदि की पुष्टि प्रदान करे। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो॥ ५१॥**

भाष्यसार—'इह रतिः' इत्यादि कण्डिकान्तर्गत सत्रोत्थान मन्त्र हैं। इनके द्वारा आज्यहोम आदि की विधियाँ

आद्यावष्टाक्षरौ तृतीयो द्वादशार्णः सोष्णिक्। धरुणः, धारयतीति धरुणोऽग्निः, अस्मासु रायस्पोषं रायो धनस्य पशुपुत्रसुवर्णादेः पुष्टिं दीधरद् धारयतु। धारयतेर्लुङि रूपम्, अडभाव आर्षः। कीदृशो धरुणः? मात्रे धरुणं मातुः पृथिव्या धरुणं धारयितारम्, अग्निमुपसृजन् समीपं प्रापयन् तथा मातरं पृथिवीं धयन् पिबन् तत्रोत्पन्नं हविर्भक्षयन्, स्वाहा तस्मै सुहुतमस्तु। यद्वा धरुणो धारयिताग्निः, धरुणं धारयितारमग्निं मात्रे पृथिव्यै उपसृजन् संसृजन् मातरं पृथिवीं धयन् पिबन् रायस्पोषं पशूनस्मासु दीधरद् धारयतु, 'पशवो वै रायस्पोषः' (श० ४।६।९।९) इति श्रुतेः। अत्राग्न्योराधिदैविकाधियाज्ञिकत्वभेदेन भेदः, एकत्रैव प्राप्य-प्रापकभावासम्भवात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'तेऽपराह्णे उपसमेत्य। अप उपस्पृश्य पत्नीशाल७ सम्प्रपद्यन्ते तेषु समन्वारब्धेष्वेते आहुती जुहोतीह रतिरिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहेति··· पशूनेवैतदात्मन्नियच्छन्ते' (श० ४।६।९।८)। अत्र स्पष्टं सूत्रोक्तविधानस्यैव समर्थनम्, मन्त्रस्य च होम एव विनियोगः। 'अथ द्वितीयां जुहोति। उपसृजन् धरुणं मात्र इत्यग्निमेवैतत् पृथिव्या उपसृजन्नाह धरुणो मातरं धयन्नित्यग्निमेवैतत्पृथिवीं धयन्तमाह रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहेति पशवो वै रायस्पोषः पशूनेवैतदात्मन्नियच्छन्ते' (श० ४।६।९।९)। अनेनापि पूर्वोक्तं मन्त्रव्याख्यानं समर्थितं भवति।

अध्यात्मपक्षे—हे मनश्चित्तबुद्धयः, युष्माकमिह परमात्मनि रतिः प्रीतिरस्तु। यद्वा युष्माकमिह परमात्मन्येव संयमनमस्तु। यूयमिहैव रमध्वम्। युष्माकमिह धृतिर्धारणमेकाग्रता भवतु। युष्माकमिह स्वधृतिः स्वकीयज्ञान-ध्यान-स्मरणादिधर्माणामपि धारणमस्तु। धरुणः सर्वधारकः परमेश्वरोऽस्मासु रायो ज्ञानध्यानादिधनस्य पोषं पुष्टिं दीधरद् धारयतु। कीदृशो धरुणः? मात्रे मातुः पृथिव्या धरुणं धारयितारं महावराहं तस्याः समीपं प्रापयन् स्वीयेन वराहरूपेण भूमिमुद्धरन् तथा मातरं पृथिवीं धयन् धापयन् जीवान् पाययन् तत्रोत्पन्नान् व्रीहियवहिरण्यरत्नादीन् भोजयन्।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थाः, युष्माकमिह गृहाश्रमे रती रमणमिह धृतिः सर्वेषां व्यवहाराणां धारणमिह स्वधृतिः सर्वेषां पदार्थानां धारणम्, स्वाहा सत्या वाक् क्रिया वास्तु, यूयमिह रमध्वम्। हे गृहिन्, त्वमपत्यस्य मात्रे मान्यकर्त्र्यै यं धरुणं धर्तव्यं पुत्रं गर्भमुपसृजन् स्वगृहे रमस्व, स धरुणो धर्ता मातरं मान्यप्रदां धयन्निव तस्याः पयः पिबन् अस्मासु रायस्पोषं धनस्य पुष्टिं स्वाहा सत्यया वाचा दीधरद् धारय' इति, तदपि यत्किञ्चित्,

---

अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।४।८-९) में वर्णित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे मन, चित्त तथा बुद्धि! तुम्हारी परमात्मा में ही प्रीति हो, अथवा इसी में प्रतिबद्धता हो। तुम लोग इसमें ही रमण करो। इसमें ही तुम्हारी धृति, एकाग्रता हो। इसमें तुम्हारे स्वकीय ज्ञान, ध्यान, स्मरण आदि धर्मों का धारण भी हो। सर्वधारक परमेश्वर हममें ज्ञान-ध्यान आदि धन की पुष्टि को धारण करें। माता पृथ्वी को धारण करने के निमित्त महावराह को उस पृथ्वी के समीप पहुँचाते हुए, अपने वराह रूप के द्वारा भूमि का उद्धार करते हुए, माता पृथ्वी को स्नेहार्द्र करते हुए एवं प्राणियों को उसमें उत्पन्न व्रीहि, यव, हिरण्य, रत्न आदि का उपभोग कराते हुए, वे सबको धारण करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में 'हे गृहस्थों' इस प्रकार के सम्बोधन के निर्मूल होने के कारण अनौचित्य है। 'अपत्य की माता के लिये' इत्यादि कथन अप्रामाणिक है, क्योंकि मूल मन्त्र में अपत्य शब्द नहीं है। 'धर्तव्य'

हे गृहस्था इति सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। अपत्यस्य मात्रे इत्यपि निर्मूलमेव, मूलेऽपत्यपदस्याभावात्। न च धर्तव्यो गर्भ एव भवति, विद्यादीनामपि धर्तव्यत्वाविशेषात्। क इमे येऽस्मासु रायस्पोषं दीधरद् इति प्रार्थयन्ते? न च गर्भे पुत्रे वा धनपुष्टेर्धारयितृत्वं सम्भवति, तस्याल्पशक्तित्वात्। उपपूर्वस्य सृजेर्नोत्पादनमर्थः, किन्तु संसर्जनमेवार्थः। श्रुतिसूत्रविरोधोऽपि स्पष्टः॥ ५१॥

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता अभूम। दिवम्पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः॥ ५२॥

'सत्रस्यर्द्धिं गायन्ति सत्रस्य ऋद्धिरिति' (का० श्रौ० १२।४।१०)। सर्वे दीक्षिता धिष्ण्याऽव्यवायेनाग्नीध्रीयमुत्तरेण गत्वाऽपरेण द्वारेण हविर्धानं प्रविश्योत्तरस्य हविर्धानस्यापरकूबरीम् (विष्कम्भिकाम्) आलभ्य सत्रस्य ऋद्धिरित्यस्यामृचि साम गायेयुः। बृहती सप्तैकादशनवार्णपादा। सत्रयजमानानामात्मस्तुतिः। हे साम! सत्रस्य ऋद्धिः समृद्धिरसि त्वम्। वयं यजमाना ज्योतिरादित्यलक्षणमगन्म प्राप्ताः। ततोऽमृता अमरणधर्माणः, अभूम भूताः। पृथिव्याः सकाशाद् दिवं द्युलोकमध्यारुहाम अध्यारूढाः। ततो देवान् इन्द्रादीन् अविदाम जानीमः पश्यामः, ज्योतिर्ज्योतीरूपं स्वः स्वर्गं चाविदाम।

अत्र ब्राह्मणम्—'त उत्तरस्य हविर्धानस्य। जघन्यायां कूबर्या॑ँ सामाभिगायन्ति सत्रस्य ऋद्धिरिति राद्धिमेवैतदभ्युत्तिष्ठन्त्युत्तरवेदेरुत्तराया॑ँ श्रोणावितरं तु कृततरम्' (श० ४।६।९।११)। कूबरी ईषाधारिणी विष्कम्भिका। सा चाग्रतः पृष्ठतश्च भवतीति विशिनष्टि—जघन्यायां कूबर्यामिति। तस्यां च बहूनामारोहणासम्भवात् तामालभ्य गायन्तीत्यर्थः। सत्रस्य ऋद्धिरिति मन्त्रे साम गायन्ति। इतरं तु कर्म कृततरमतिशयेन पूर्ववादिभिः कृतमिति तथोक्तम्। 'यदुत्तरस्य हविर्धानस्य। जघन्यायां कूबर्यामगन्म ज्योतिरमृता अभूमेति ज्योतिर्वा एते भवन्त्यमृता भवन्ति ये सत्रमासते ... अविदाम देवानिति विन्दन्ति हि देवान् स्वर्ज्योतिरिति त्रिर्निधनमुपावयन्ति स्वर्ह्येते ज्योतिर्ह्येते भवन्ति तद्यदेवैतस्य साम्नो रूपं तदेवैते भवन्ति ये सत्रमासते' (श० ४।६।९।१२)। उक्तब्राह्मणानुसार्येव पूर्वोक्तं व्याख्यानम्।

केवल गर्भ ही नहीं हो सकता, क्योंकि विद्या आदि में भी धर्तव्यत्व समान ही है। इसमें वे कौन हैं? जो प्रार्थित किये जा रहे हैं। गर्भ में अथवा पुत्र में अल्पशक्तित्व होने के कारण धनपुष्टि का धारयिता होना सम्भव नहीं है। उप उपसर्गपूर्वक सृज धातु का अर्थ उत्पादन नहीं है, अपितु संसर्जन ही अर्थ है। श्रुति तथा सूत्र का विरोध तो स्पष्ट ही है॥ ५१॥

मन्त्रार्थ—हे उत्तर हविर्धान, तुम यज्ञ की समृद्धि हो। तुम्हारे प्रसाद से ही हम यजमान आदित्य लक्षण वाली ज्योति को प्राप्त कर मृत्यु से दूर होने की आशा करते हैं। पृथ्वी से द्युलोक को गये हुए देवगण इन्द्र आदि के पास जाने की, ज्योतीरूप स्वर्ग को देखने की हम आशा करते हैं॥ ५२॥

भाष्यसार—'सत्रस्य ऋद्धिः' इस ऋचा पर साम का गायन सभी दीक्षित ब्राह्मणों द्वारा किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।४।१०) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—याज्ञिकाः सर्वेश्वरं प्रार्थयन्ते। हे भगवन्, त्वं सत्रस्यास्मत्कृतस्य बहुयजमानकर्तृकस्य यज्ञस्य ऋद्धिः समृद्धिरसि, त्वत्प्रसादादेव तत्समृद्धिसम्भवात्। वयं यजमानास्त्वत्प्रसादाज्ज्योतिर्विशिष्टमादित्यलक्षणं ज्योतिः प्राप्ताः। ततोऽमृता अमरणधर्माणः सञ्जाताः। पृथिव्याः सकाशाद् दिवमारूढा देवानिन्द्रादीन् स्वर्गं च पश्यामः। यद्वा ब्रह्मज्योतिः प्राप्ताः पृथिव्या मायाभूमेः सकाशाद् दिवं द्योतनात्मकं ब्राह्मं रूपं प्राप्तवन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं सत्रस्य संगतस्य राजप्रजाव्यवहाररूपस्य यज्ञस्य ऋद्धिः सम्यग् वृद्धिरस्ति। त्वत्सङ्गेन वयं ज्योतिरगन्म विज्ञानप्रकाशं प्राप्नुयाम। अमृता अभूम प्राप्तमोक्षा भवेम। दिवं पृथिव्या अध्यारुहाम सूर्यादिभूम्यादेर्जगतोऽधि उपरि आसमन्ताद् अरुहाम प्रादुर्भवेम। देवान् विदुषो दिव्यान् भोगान् वा। ज्योतिर्विज्ञानविषयं सुखमविदाम विन्देमहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सत्रपदेन ब्राह्मणेषु सूत्रेषु च प्रसिद्धं सत्रमनेकयजमानकर्तृकं विशिष्टं यज्ञमतिक्रम्य राजप्रजाव्यवहारग्रहणे मूलाभावात्। कश्चात्र प्रार्थनीयः? कश्च प्रार्थयिता? नहीश्वरोऽत्र वक्ता सम्भवति, तस्य नित्यमुक्तत्वेन मोक्षासम्भवात्॥ ५२॥

यु॒वं तमि॑न्द्रापर्वता पुरो॒युधा॒ यो नः॑ पृत॒न्याद॒प॒ तं तमिद्ध॑तं॒ वज्रे॑ण॒ तं तमिद्ध॑तम्। दू॒रे च॒त्ताय॑ छन्त्स॒द्गह॑नं॒ यदिन॑क्षत्। अ॒स्माक॑ᳪं॒ शत्रू॒न् परि॑ शूर वि॒श्वतो॑ द॒र्मा द॑र्षीष्ट वि॒श्वतः॑। भूर्भुवः॒ स्वः॒ सुप्र॒जाः प्र॒जाभिः॑ स्याम सु॒वीरा॑ वी॒रैः सु॒पोषाः॒ पोषैः॑॥ ५३॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—याज्ञिक सर्वेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन्, आप हमारे द्वारा सम्पादित किये गये, बहुत यजमानों द्वारा अनुष्ठीयमान यज्ञ की समृद्धि हैं, क्योंकि आपकी कृपा से ही उसकी समृद्धि सम्भव है। हम यजमानों ने भी आपके अनुग्रह से विशिष्ट आदित्यात्मक ज्योति को प्राप्त कर लिया है। तदनन्तर अमृतत्व धर्म से युक्त हो गये हैं। पृथिवी से द्युलोक की ओर आरूढ हो गये हैं तथा इन्द्रादि देवों एवं स्वर्ग का भी अवलोकन कर रहे हैं अथवा हमने ब्रह्मज्योति को प्राप्त कर लिया है। तदनन्तर मायाभूमि से उठ कर द्योतनात्मक ब्राह्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या अग्राह्य है, क्योंकि सत्र शब्द से ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्र-ग्रन्थों में सुप्रथित, अनेक यजमानों द्वारा किये जाने वाले विशिष्ट यज्ञ को छोड़ कर 'राजा-प्रजा का व्यवहार' इस अर्थ के ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है। यहाँ प्रार्थनीय कौन है? तथा प्रार्थना करने वाला कौन है? ईश्वर का यहाँ वक्ता होना सम्भव नहीं है, नित्य-मुक्त होने के कारण उसका मोक्ष असंगत है॥ ५२॥

मन्त्रार्थ—**युद्ध में सबसे आगे रहने वाले, शत्रुओं को युद्ध में ललकारने वाले हे इन्द्र और पर्वत, तुम दोनों हमारे सभी शत्रुओं का नाश कर दो। वज्र नामक अपने तीक्ष्ण आयुध से उन सभी शत्रुओं का नाश कर दो, जो सेना लेकर हमसे युद्ध करने आवें। हे शूरवीर इन्द्र, तुम्हारा वज्र दूर चले गये शत्रु को भी खोज कर उसका नाश कर दे, विदारण करने वाला तुम्हारा वज्र हमारे सभी शत्रुओं को विदीर्ण कर दे। हे अग्नि, वायु और सूर्य आदि देवताओं! आपके प्रसाद से हम अच्छी प्रजा वाले बनें। वीर पुत्रों से सुपुत्रवान् और उत्कृष्ट सम्पत्ति को प्राप्त कर हम आपके प्रसाद से सुसम्पत्तिवान् बनें॥ ५३॥**

'युवं तमिति दक्षिणस्याधोऽक्षं प्राञ्चो निष्क्रामन्तीति' (का० श्रौ० १२।४।१२)। सर्वे दीक्षिता यजमाना दक्षिणहविर्धानाक्षाधोमार्गेण चक्रयोरन्तरालेन नीचीभूय प्राङ्मुखा निःसरन्ति हविर्धानात्। इन्द्रदेवत्याऽत्यष्टिरवसानत्रयोपेता षट्षष्ट्यक्षरत्वाद् द्व्यूना। आद्योऽर्धर्च इन्द्रपर्वतदेवत्यः। हे इन्द्रापर्वतौ, युवं युवां तं यत्नमनुतिष्ठतम्, येन यत्नेन पुरोयुधा पुरो अग्रे युध्यतीति पुरोयुत्, तेन पुरोयुधा बलेन यो यः शत्रुर्नोऽस्मान् पृतन्यात् संग्रामयेद् योधयेत्, अप तं तं शत्रुं इद्धतम् अपहतं विनाशयतम्। तदो वीप्सा-श्रवणाद्यदोऽपि वीप्सा कर्तव्या। इच्छब्दोऽनर्थकः। वज्रेणेत्यायुधनियमः। इत उत्तरम् इन्द्रः प्रत्यक्षः, वज्रस्य तु कर्तृत्वं विवक्षितम्। परोक्षस्य सतो दूरे चत्ताय छन्त्सत्। चततिर्गतिकर्मा छन्दतिः कामार्थः। हे इन्द्र, त्वदीयो वज्रो दूरं गताय शत्रवे विनाशं कामयताम्। कथं परवशो वर्ततामिति चेत्, कथं च वज्रस्य जडस्य शत्रुविनाशकामना सम्भवतीति चेन्न, 'आत्मैवां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुधम्' इति निरुक्तरीत्या वज्रस्थदेवतायाः स्वात्मरूपत्वेन कामोपपत्तेः। गहनं वनमुदकं वा यद् यदि इनक्षत्, रूपसादृश्यादुदकं वनं वा व्याप्नोति, पलाय्य गच्छति शत्रुरथापि तं विनाशयति, इनक्षतिर्व्याप्तिकर्मा। ग्रहरूपेण तस्यापि विनाशं कामयतां त्वदीयो वज्रः। अस्माकं ये शत्रवस्तान् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट। हे शूर, त्वदीयो वज्रोऽस्माकं ये शत्रवस्तान् विश्वतः सर्वतोऽवस्थितान् शत्रून् परिदर्षीष्ट परिविदारयतु, 'दृ विदारणे'। कीदृशो वज्रः ? दर्मा विदारणशीलः।

महीधराचार्यस्तु सायणाचार्यरीत्या—हे शत्रूणां पुरतो युद्धस्य कर्तारौ इन्द्रापर्वतौ ! युवं युवां तं तं शत्रुमपहतं विनाशयतम्। आदरे वीप्सा। इदेवार्थकः। तमेव तत्तत्समानमेव सर्वमपि शत्रुं विनाशयतम्। केन ? वज्रेण, वज्राख्येनायुधेन तं तमित तं तमेव शत्रुं विनाशयतम्, यो यः शत्रुर्नोऽस्मान् पृतन्यात्, पृतनां सेनां कुर्याद् योधयेत्। हे शूर इन्द्र, त्वदीयो वज्रो यद् यदा ग्रहणमत्यन्तं गम्भीरं वनमुदकं प्रति दूरे चत्ताय दूरं गताय छन्त्सत् शत्रुं प्राप्तुं कामयते, तदा तमपि दूरगतमिनक्षत् प्राप्नुयात्, वनं दूरगतमपीच्छन् गृह्णात्येवेत्यर्थः। ततो दर्मा विदारणशीलो वज्रोऽस्माकमस्मदीयानां च विश्वतः सर्वतः स्थितान् सर्वान् शत्रून् परिदर्षीष्ट परितो विदारयतु। 'पृथक्कामेषु भूर्भुवःस्वरिति' (का० श्रौ० १२।४।२४)। नानाकामेषु दीक्षितेषु भूर्भुवःस्वरिति मन्त्रेण सर्वे वाग्विसर्जनं कुर्युः। हे भूर्भुवस्वः ! अग्निवायुसूर्याः, वयं प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः पुत्रैः सुवीराः स्याम, पोषैः पुष्टिभिः सुपोषाः स्याम भवेम।

अत्र ब्राह्मणम्--'ते दक्षिणस्य हविर्धानस्य। अधोऽधोऽक्षꣳ सर्पन्ति स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवꣳ सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यन्तेऽतिच्छन्दसा सर्पन्त्येषा वै सर्वाणि छन्दाꣳसि यदतिच्छन्दास्तथैनान् पाप्मा नान्वत्येति तस्मादतिच्छन्दसा सर्पन्ति' (श० ४।६।९।१३)। अत्यष्टिच्छन्दसा सर्पन्ते दीक्षितास्त्वचोऽहिरिव सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यन्ते। 'ते सर्पन्ति। युवं तमिन्द्रापर्वता····विश्वत इति' (श० ४।६।९।१४)।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्रापर्वतौ कृष्णार्जुनौ पुरोयुधौ अग्रे योद्धारौ, कामक्रोधादिभिरग्रे योद्धारौ ज्ञानविज्ञानौ ! युवं युवां तं कामादिकं शत्रुमपहतं विनाशयतम्। तमेव तं तं सर्वमपि शत्रुमुपहतम्। केन ?

भाष्यसार—'युवं तम्' इस मन्त्र से सभी दीक्षित यजमान हविर्धान से पूर्वाभिमुख होकर निष्क्रमण करते हैं। यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१२।४।१२) में प्रतिपादित है। शतपथ श्रुति के अनुसार सायण तथा महीधर आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ किया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे श्रीकृष्ण तथा अर्जुन अग्रणी शूरों, काम-क्रोध आदि से अग्रतः युद्ध करने वाले ज्ञान-विज्ञान ! आप दोनों उन कामादि शत्रुओं को विनष्ट करें। तत्तत् सम्पूर्ण शत्रुओं को विचाररूपी आयुधों

वज्रेण, विचाररूपेणायुधेन। यो यः शत्रुर्नः पृतन्याद् अस्मान् जेतुं पृतनां सेनासङ्घटनं कुर्यात्, हे शूर हे कृष्ण हे प्रत्यक्चैतन्याभिन्नब्रह्मसाक्षात्कार! त्वदीयो विचाराख्यो वज्रः, गहनमत्यन्तगम्भीरं वनं प्रति चत्ताय दूरे गताय छन्त्सत् शत्रुं प्राप्तुं कामयते, तमपि इनक्षद् व्याप्नुयात्, दूरगतमपि इच्छन् गृह्णात्येव। दर्मा विदारणशीलः, अज्ञानान्धकारोन्मूलनशीलः, विश्वतः स्थितान् सर्वान् शत्रून् विदारयतु। हे भूर्भुवःस्वः, उत्पादक-पालक-संहारका विधिहरिरुद्राः, युष्माकं कृपया वयं प्रजाभिर्ज्ञानविज्ञानवैराग्यरूपाभिः सुप्रजास्तैरेव वीरैः सुवीरास्तेषामेव पोषैः सुपोषा भवेम।

दयानन्दस्तु 'हे पुरोयुधेन्द्रपर्वताः, सूर्यसोमसदृशौ सेनापतिसेनाजनौ! युवां यो यो नः पृतन्यात् पृतनां सेनामिच्छेत्, तं तं वज्रेणैव शस्त्रास्त्रविद्याबलेन आहतमपहन्यातााम्। यद्गहनं शत्रुरलमस्माकं सैन्यमिनक्षद् व्याप्नुयात्, यच्च छन्त्सद् ऊर्जेत्, तं तं चत्ताय अस्माकमाह्लादाय इद्धतं दूरे प्रापयतम्। हे शूर सभापते, दर्मा शत्रुविदारयिता त्वमस्माकं शत्रून् विश्वतः परिदर्षीष्ट विदारय। यतो वयं भूर्भुवःस्वर्भूमा अन्तरिक्षे सुखे प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः सुवीराः, पोषैः सुपोषा विश्वतः स्याम' इति, तदपि मन्दम्, मुख्यार्थ-त्यागाद् गौणार्थश्रयणाच्च। किञ्च, सेनापतिसैनिकजनाभ्यां सुप्रजस्त्वादिकमपि कथं सम्पद्यते? इत्यपि चिन्त्यम् ॥ ५३ ॥

प॒र॒मे॒ष्ठ्य॒भिधी॑तः प्र॒जाप॑तिर्वा॒चि व्याहृ॑ताया॒मन्धो॒ अच्छे॑तः। स॒वि॒ता स॒न्यां वि॒श्वक॑र्मा दी॒क्षायां॑ पू॒षा सो॑मक्र॒यण्या॑म् ॥ ५४ ॥

'परमेष्ठ्यादींश्च चतुस्त्रिꣳशतं जुहोति, घर्मदुग्ध्वालेमे चादोहे च, उदीच्या दोहस्थानेऽन्यस्याः, शालाया वा पुरस्तात् प्राच्याः, पुच्छकाण्डाद् दक्षिणेऽस्थनि हुत्वा दोहयेत्, पृथदाज्यस्यन्दने चैके' (का० श्रौ० २५।६।१-६)। मृन्मयघर्मपात्रभेदे भिन्नमभिमृश्य परमेष्ठिने स्वाहा प्रजापतये स्वाहेत्यादीन् सलिलाय स्वाहेत्यन्ताद् चतुस्त्रिंशद्धोमान् जुहोति। घर्मदुहो गोर्मरणे तत्स्थान उदङ्मुख्याः स्थितायाः

से नष्ट करें, जो जो शत्रु हमको जीतने के लिये सेना का संगठन करता है। हे श्रीकृष्ण, हे प्रत्यक्चैतन्य से अभिन्न ब्रह्मसाक्षात्कार! आपका विचार रूपी वज्र अत्यन्त गम्भीर वन में सुदूर जाने वाले शत्रु को प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसको भी व्याप्त करे, अधिगत करे। अर्थात् सुदूर जा चुके शत्रु को भी इच्छा होने पर वह निगृहीत कर ही लेता है। अज्ञानान्धकार का उन्मूलन करने वाला, सर्वतः स्थित समस्त शत्रुओं को विनष्ट करे। हे उत्पादक, पालनकर्ता तथा संहृतिकर्ता ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर! आप लोगों की कृपा से हम ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य-रूपिणी प्रजाओं से सुप्रजावान्, उन्हीं सन्ततियों से सुसन्ततियुक्त तथा उनके ही पोषण से सुपोषित हों।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत व्याख्यान मुख्यार्थ के परित्याग तथा गौणार्थ के आश्रयण के कारण अग्राह्य है। सेनापति तथा सैनिक जनों से सुप्रजायुक्त आदि होना कैसे सम्भव होता है? यह भी विचारणीय है ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—जिस समय यजमान सोमयाग करने को प्रवृत्त होता है, उस समय यह सोम मन में परमेष्ठी के रूप में विराजमान हो जाता है। वाणी के उच्चारण में वह सोम प्रजापति बन कर बैठ जाता है। जिस काल में वह यजमान के संमुख आता है, तब वह अन्ध नाम वाला होता है। सोम के यथाभाग रक्षित होने पर वह सविता कहलाता है। दीक्षा के समय उसका नाम विश्वकर्मा होता है। सोमक्रयणी गाय को लाने में सोम पूषा नाम वाला होता है ॥५४॥

भाष्यसार— कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।६।१-६) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'परमेष्ठ्यभिधीतः'

पत्नीशालापूर्वभागे प्राङ्मुख्या वा पुच्छाद्दक्षिणेऽस्थनि परमेष्ठिने स्वाहेति चतुस्त्रिंशतमाज्याहुतीर्हुत्वा तां दोहयेत्। स्थालीस्थस्य स्रुक्स्थस्य वा पृषदाज्यस्य वा भ्रंशे एके आचार्या परमेष्ठ्यादीन् जुहोतीत्याहुरिति सूत्राणामर्थः। आध्यायाद्वशिष्ठ ऋषिः। यदा सोमो यजमानेनाभिधीतोऽभिध्यातः सङ्कल्पितो भवति, तदा स परमेष्ठी भवति। मनसा ध्यातः सोमो यदि नोपनमेत्, तदा परमेष्ठिने स्वाहेति जुहुयात्, 'स यद्येनं मनसाभिध्यातः। यज्ञो नोपनमेत् परमेष्ठिने स्वाहेति जुहुयात् परमेष्ठी हि स तर्हि भवत्यप पाप्मानꣳ हत उपैनं यज्ञो नमति' (श० १२।६।१।३) इति श्रुतेः। वाचि व्याहृतायां सोमेन यक्ष्य इति वचस्युच्चारिते सति सोमः प्रजापतिनामको भवति। तदा प्रायश्चित्तापत्तौ प्रजापतये स्वाहेति जुहुयादित्यर्थः। यदा सोमोऽच्छाभिमुख्येनेतः प्राप्तस्तदाऽन्धो भवति, 'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः' (निरु० ५।२८)। सोमं प्रति गतौ किञ्चिन्निमित्तं चेत्तदा अन्धसे स्वाहेति जुहुयात्। अन्धोऽन्नमिति। सन्यां सोमस्य सम्भक्तौ सोमः सवितृनामको भवति, तदा प्रायश्चित्तनिमित्ते सति सवित्रे स्वाहेति जुहुयात्, 'अथ यदि सातः। किञ्चिदापद्येत सवित्रे स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।६) इति श्रुतेः। दीक्षायां सत्यां सोमो विश्वकर्मा भवति, तदा विश्वकर्मणे स्वाहेति जुहुयात्। सोमक्रयण्यां सोमः क्रीयतेऽनया सा सोमक्रयणी गौस्तस्यामानीतायां सत्यां सोमः पूषा भवति, तदा निमित्ते सति पूष्णे स्वाहेति जुहुयात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिः। तस्यैतास्तन्वो या एता देवता या एता आहुतीर्जुहोति' (श० १२।६।१।१)। सोमप्रायश्चित्तब्राह्मणमेतत्। सोमोऽनन्तौषधीनां राजा देवराजश्चन्द्रमसो न न्यूनभूतः। तेनात्र यज्ञसामानाधिकरण्यान्मत्वर्थो लक्ष्यते। सोमसाधनको यज्ञः प्रजापतिः, तस्यैतास्तन्वः शरीराणि या एता देवता वक्ष्यमाणाः परमेष्ठ्यादयः, सोमद्रव्यात्मकस्य यज्ञस्य परमेष्ठ्याद्या देवतास्तन्वः, क्रियात्मकस्य यज्ञस्याहुतयस्तन्वः। 'स यद्यज्ञस्यार्छेत्। यां तत्प्रति देवतां मन्येत तामनुसमीक्ष्य जुहुयाद् यदि दीक्षोपसत्स्वाहवनीये यदि प्रसुत आग्नीध्रे एतद्यज्ञस्य पर्व स्रꣳसते यद् ह्वलति तर्हि तत्र देवता भवति तयैवैतद्देवतया यज्ञं भिषज्यति तया देवतया यज्ञं प्रति सन्दधाति' (श० १२।६।१।२)। किं पुनर्नित्या एवैतास्तन्वः? नेत्याह, यतः सोमो यज्ञस्याङ्गमार्च्छेद् विनश्येत्, तत्प्रति तस्मिन्नङ्गे यां देवतां परमेष्ठ्यादिकां मन्येत, 'परमेष्ठ्यभिधीतः' (वा० सं० ८।५४) इत्यादेरागमादवगच्छेत्, तामनु पूर्वं सम्यग् ज्ञात्वा तस्यै देवतायै आज्याहुतिं जुहुयात्। यदि दीक्षोपसत्सु यज्ञस्य किञ्चिदार्च्छेत्तदा आहवनीये जुहुयात्। यदि तु प्रसुत्यायां तत आग्नीध्रीये प्रायणीयादूर्ध्वं प्राक् सुत्याया होतव्यम्। आहवनीये कुतः? दीक्षोपसत्स्वाहवनीय इत्यनुवादत एव प्राप्तत्वाद् एतदेवानुविधीयते प्रसुत आग्नीध्रे जुहोतीति। ततश्च सुत्यायामेव आग्नीध्रता प्राप्नोति। विस्रंसते वै एतद्यज्ञस्य पर्व अङ्गं यद् ह्वलति स्वभावाद्विगुणं भवतीत्यर्थः। ततश्च या एव पर्व पर्वण्यभिध्यानादौ देवता परमेष्ठ्यादिर्भवति, तस्या देवताया एतदेव कुर्वन् यज्ञं भिषज्यति सन्दधाति। 'स यद्येनं मनसाऽभिध्यातः। यज्ञो नोपनमेत् परमेष्ठिने स्वाहेति जुहुयात् परमेष्ठी हि स तर्हि भवत्यप पाप्मानꣳ हत उपैनं यज्ञो नमति' (श० १२।६।१।३)। परमेष्ठी हि स यज्ञस्तदा भवति। अनया वाग्घुत्या प्रतिबन्धकं पाप्मानमपहन्ति। तस्मिन्नपहते एनं यजमानमुपनमति। 'अथ यद्येनं वाचाभिव्याहृतः। यज्ञो नोपनमेत् प्रजापतये स्वाहेति जुहुयात् प्रजापतिर्हि स तर्हि भवत्यप पाप्मानꣳ हत उपैनं यज्ञो नमति' (श० १२।६।१।४)। 'अथ यस्य राजानमच्छेत्वा। नाहरन्त एयुरन्धसे स्वाहेति जुहुयादन्धो हि स तर्हि भवत्यप पाप्मानꣳ हत उपैनं यज्ञो नमति' (श० १२।६।१।५)। 'अथ यदि सातः। किञ्चिदापद्येत सवित्रे स्वाहेति....' (श० १२।६।१।६)। 'अथ यदि दीक्षासु। किञ्चिदापद्येत विश्वकर्मणे स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।७)। 'अथ यदि सोमक्रयण्याम्।....पूष्णे स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।८)।

इत्यादि कण्डिकोपदिष्ट मन्त्रों से मृण्मय घर्मपात्र के टूट जाने आदि निमित्तों में घृताहुतियाँ प्रदान की जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—सोमः साम्बपरमेश्वरः, भक्तेनाभिधीतः सङ्कल्पितो मनसा ध्यातः परमेष्ठी भवति, अर्थात् परमेष्ठिवत् सर्वकामपूरको भवति। वाचि व्याहृतायां तदीयगुणनामकर्मविषयिण्यां वाचि व्याहृतायां प्रजापतिर्भवति, प्रजापतिर्भूत्वा पालयतीत्यर्थः। यदा सोमो भगवान् आप्तुमात्मानमभितः प्राप्तो भवति, तदा अन्धोऽन्नं साक्षादुपभोग्यं भवति, 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादः' (तै० उ० ३।१०) इति श्रुतेः। सन्यां तद्विषयिण्यां सम्भक्तौ सत्यां सविता भवति सर्वाभीष्टोत्पादको भवति, ज्ञानवैराग्यमोक्षादीनामप्राप्तप्रापकत्वेन प्राप्तरक्षकत्वेन च योगक्षेमनिर्वाहको भवति। दीक्षायां साम्बसदाशिवसम्बन्धिन्यां दीक्षायां जातायां विश्वकर्मा भवति सर्वाभीष्टसम्पादको भवति। सोमक्रयण्यां सोमः शिवः क्रीयते यया सा सोमक्रयणी परमानुरागरूपानुरक्तिस्तस्यां सत्यां पूषा भवति। स सोम आधिभौतिकस्याध्यात्मिकस्याधिदैविकस्य सर्वविधधनस्य पोषको भवति, तस्मात् सर्वभावेन स एवोपास्यो भवतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थाः, युष्माभिर्यदि व्याहृतायां वाचि वेदवाण्यां परमेष्ठी परमानन्दस्वरूपे स्थितः प्रजापतिः, अच्छेतः सम्यक् प्राप्तः, विश्वकर्मा सर्वविद्याकर्मज्ञानश्रेष्ठः सभापतिर्दीक्षायां सकलनियमानां धारणे सोमाद्योषधिग्रहणे च पूषा सर्वपुष्टिकारक उत्तमो वैद्यः, सविता जगदुत्पादकः, सन्यां सन्यं नीयते यया तस्यामभिधीतो निश्चितोऽन्धश्च प्राप्तम्, तर्हि सततं सुखिनः स्युः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, क्लिष्टकल्पनाबाहुल्यात्, पूर्वोक्तरीत्या श्रुतेरन्यथा व्याख्यातत्वाच्च। गृहस्थानां सम्बोधनमपि निर्मूलमेव, सोमक्रयणीशब्दस्य सोमक्रयसाधनभूतायां गवि प्रसिद्धत्वात्, तद्विरुद्धकल्पनानां निर्मूलत्वात् ॥ ५४ ॥

इन्द्र॑श्च म॒रुत॑श्च क्र॒यायो॒पोत्थि॑तोऽसु॑रः प॒ण्यमा॑नो मि॒त्रः क्री॒तो विष्णुः॑ शिपिवि॒ष्ट ऊ॒रावास॑न्नो॒ विष्णु॑र्न॒रन्धि॑षः ॥ ५५ ॥

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—साम्ब सदाशिव भक्त के द्वारा संकल्पित, मन से अनुध्यात होने पर परमेष्ठी के समान समस्त कामनाओं के पूर्तिकर्ता होते हैं। उनके गुण, नाम, कर्म-विषयक वाणी का उच्चारण करने पर वे प्रजापति बन कर पालन करते हैं। जब भगवान् साम्बशिव प्राप्ति के लिये आत्मा के सम्मुख आते हैं, तब वे साक्षात् उपभोग्य हो जाते हैं। तद्विषयिणी सद्भक्ति होने पर वे सविता, अर्थात् समस्त अभीष्टों के उत्पादक होते हैं। ज्ञान, वैराग्य, मोक्ष आदि के अप्राप्तप्रापक, तथा प्राप्त के रक्षक होते हुए योगक्षेम के सम्पादक होते हैं। साम्ब सदाशिव सम्बन्धी दीक्षा के सम्पन्न हो जाने पर वे सम्पूर्ण कामनाओं के पूर्तिकर्ता हो जाते हैं। साम्ब शिव जिसके द्वारा क्रीत हो जाते हैं, इस प्रकार की परमानुरागरूपिणी भक्ति ही सोमक्रयणी है। उसके प्राप्त हो जाने पर वे साम्ब शिव आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक, सर्वविध धन के पुष्टिकर्ता होते हैं। अतः समस्त भावों के द्वारा वही उपास्य होते हैं, यह तात्पर्य है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ क्लिष्ट कल्पनाओं की अधिकता के कारण तथा श्रुति की विपरीत व्याख्या के कारण अनुचित है। गृहस्थों को सम्बोधित करना भी अप्रामाणिक है। सोमक्रयणी शब्द सोमक्रय की साधनभूत गो के लिये प्रसिद्ध है। अतः उससे विरुद्ध कल्पना करना भी अप्रामाणिक है ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—सोम के विक्रय के लिये उपस्थित होने पर वह इन्द्र और मरुत् नाम वाला होता है। क्रय करते समय असुरसंज्ञक, खरीद लिये जाने पर मित्रसंज्ञक, यजमान की गोदी में स्थित सोम प्राणियों में प्रविष्ट विष्णु नाम वाला और शकट से वहन करते समय वह जगत् का संहर्ता और जगत् का पालक विष्णु नाम वाला होता है ॥ ५५ ॥

क्रयाय द्रव्यादिदानेनात्मसात्करणायोपोत्थित उपस्थापितः सोम इन्द्रामरुन्नामको भवति। तदा इन्द्राय मरुद्भ्यश्च स्वाहेति जुहुयात्। क्रीयमाणः सोमोऽसुरो भवति, असुरः प्राणवान् बलवान् भवति। तदानीमसुराय स्वाहेति जुहुयात्। यजमानेन क्रीतः सन् मित्रो भवति, मित्रो देवविशेषः। तदा मित्राय स्वाहेति जुहुयात्। ऊरौ यजमानोत्सङ्गे आसन्नः स्थितः सोमः शिपिविष्टो विष्णुर्भवति, शिपिषु प्राणेषु यज्ञेषु वा विष्टः प्रविष्टः, एतद्गुणको विष्णुरित्यर्थः। तदा विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहेति जुहुयात्। प्रोह्यमाणः शकटेनोह्यमानः सोमो विष्णुर्नरन्धिषो भवति, नरो धीयन्ते आरोप्यन्ते यस्मिन् स नरन्धिः संसारः, तं स्यति नाशयतीति नरन्धिषो जगत्संहर्तृत्वविशिष्टो विष्णुः, 'षोऽन्तकर्मणि', यद्वा रध्यति हिनस्तीति रन्धिषो हन्ता, न रन्धिष इति नरन्धिषः, नञो नकारस्यालुग् नलोपाभावश्छान्दसः, जगत्पालको वा विष्णुः, 'रध हिंसायाम्'। तदा विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहेति जुहुयात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यदि क्रयायोत्थितः। किञ्चिदापद्येतेन्द्राय च मरुद्भ्यश्च स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।९), 'अथ यदि पण्यमानः।····असुराय स्वाहेति जुहुयात्' (१२।६।१।१०), 'अथ यदि क्रीतः।···· मित्राय स्वाहेति' (श० १२।६।१।११), 'अथ यद्यूरावसन्नः।····विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१२), 'अथ यदि पर्युह्यमाणः। किञ्चिदापद्येत विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१३)।

अध्यात्मपक्षे—स एव सोमः साम्बशिवः सर्वात्मा सन् सोमयज्ञे सोमरूपेण क्रयाय उपस्थापित इन्द्रो मरुतश्च भवति। स एव पण्यमानः क्रीयमाणः सोमोऽसुरो भवति। क्रीतः सन् मित्रो भवति। ऊरौ आसन्नः स्थितः शिपिविष्टो विष्णुर्भवति। प्रोह्यमाणः शकटेनोह्यमानः सोमो विष्णुर्नरन्धिषो भवति, नरो धीयन्ते आरोप्यन्ते यस्मिन् स नरन्धिः संसारः, तं स्यतीति नरन्धिषो जगत्संहर्तृत्वविशिष्टो विष्णुर्भवति। यद्वा 'रध हिंसायाम्', रध्यति हिनस्तीति रन्धिषो हन्ता, न रन्धिषो जगत्पालको वा विष्णुर्भवति। यद्वा सोमो दिव्यो निवेदनीयः पदार्थः, तत्तदुक्तदशायां तत्तद्रूपो भवतीति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं विद्वद्भिर्यः क्रयाय व्यवहारसिद्धये इन्द्रो मरुतश्च विद्युद् वायवश्च असुरो मेघः पण्यमानः स्तूयमानो मित्रः सुहृत् शिपिविष्टः पदार्थेषु प्रविष्टो विष्णुर्धनञ्जयो नरन्धिषो नरान् दिधेष्टि शब्दयतीति नरन्धिषो विष्णुश्च व्याप्तः साक्षी, ऊरौ आच्छादने आसन्नः सर्वेषां निकट उपोत्थितः समीपे प्रकाशित इव क्रीतो व्यवहृतोऽस्ति, तं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वत्र गौणार्थाश्रयणात्, असम्बद्ध-

---

भाष्यसार—'इन्द्रश्च मरुतश्च' यह कण्डिका भी पूर्व की भाँति याज्ञिक प्रक्रिया में विनियुक्त है। शतपथश्रुति में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—वही साम्ब शिव सर्वात्मा होते हुए सोमयज्ञ में सोमरूप के द्वारा क्रय से उपस्थापित होकर इन्द्र एवं मरुद्गण होते हैं। वही खरीदे जाते हुए सोम असुर (प्राणवान्, बलवान्) होते हैं। क्रीत होकर मित्र हो जाते हैं। यजमान की गोद में अवस्थित होकर विष्णुस्वरूप होते हैं। शकट के द्वारा वहन किये जाने पर सोम नरन्धिष, अर्थात् जगत्संहर्तृत्वविशिष्ट विष्णु अथवा जगत्-पालक विष्णु होते हैं। अथवा सोम, अर्थात् दिव्य नैवेद्य पदार्थ उपर्युक्त तत्तद् अवस्थाओं में तत्तद् रूपों वाले हो जाते हैं, यह भाव है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या सर्वत्र गौण अर्थ के ग्रहण तथा असम्बद्ध होने के कारण असंगत है। 'ऊरु'

त्वाच्च। ऊरावित्यस्याच्छादनमर्थो निर्मूल एव। एवं च क्रीत इत्यादीनामर्थोऽपि निर्मूल एव, श्रुति-विरोधश्च ॥ ५५ ॥

प्रो॒ह्यमा॑णः सोम॒ आग॑तो॒ वरु॑ण आस॒न्द्यामास॑न्नो॒ऽग्निराग्नी॑ध्र॒ इन्द्रो॑ हवि॒र्धानेऽथ॑र्वो-पावह्रि॒यमा॑णः ॥ ५६ ॥

शकटादागतोऽवरूढः सोमनामको भवति, तदा सोमाय स्वाहेति जुहुयात्। आसन्द्यां मञ्चिकायामुपविष्टः सोमो वरुणो भवति, तदा वरुणाय स्वाहेति जुहुयात्। हविर्धाने वर्तमानः सोम इन्द्रो भवति, तदेन्द्राय स्वाहेति जुहुयात्। 'हृदे त्वा मनसे त्वा' इति मन्त्रेण कण्डनार्थमुपावह्रियमाण आनीयमानः सोमोऽथर्वनामको भवति, तदाथर्वणे स्वाहेति जुहुयात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यदि पर्युह्यमाण.। किञ्चिदापद्येत विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१३)। 'अथ यद्यागतः। किञ्चिदापद्येत सोमाय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१४)। 'अथ यद्यासन्द्यामासन्नः। किञ्चिदापद्येत वरुणाय स्वाहेति' (श० १२।६।१।१५)। 'अथ यद्याग्नीध्रगतः।.... अग्नये स्वाहेति' (श० १२।६।१।१६)। 'अथ यदि हविर्धानगतः।....इन्द्राय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१७)।

अध्यात्मपक्षे तु—प्रोह्यमाणो रथेन नन्दिगणेन वा प्रोह्यमाण आगतोऽवरूढः सोमो भवति सोमपदा-भिलप्यो भवति। आसन्द्यां मञ्चिकायां सिंहासने वा उपविष्टः सोमो वरुणः सर्वरोगदोषवारको भवति। आग्नीध्रे वर्तमानोऽग्नीत्सम्बन्धिनि कर्मणि इज्यमानोऽग्निर्भवति, अग्निवत् सर्वपापदाहको ज्ञानाग्निवद्वा अविद्यातत्कार्या-त्मकप्रपञ्चनिवर्तको भवति। हविर्धाने वर्तमानः शिव इन्द्रो भवति। परमैश्वर्यपूर्णः परमैश्वर्यप्रदो भवति। उपावह्रियमाणो हृदये सर्वोपसंहारेण चिन्त्यमानोऽथर्वा सन्नहिंसाप्रतिष्ठां सम्पादयति भक्तेषु।

का अर्थ 'आच्छादन' अप्रामाणिक है। इसी प्रकार 'क्रीतः' आदि पदों का अर्थ भी निर्मूल ही है। श्रुतिवचनों का विरोध भी इसमें है ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ शकट पर आरूढ़ सोम नाम वाला, सोम रखने के मंच पर रक्षित सोम वरुण संज्ञक, आग्नीध्र में विद्यमान सोम अग्निसंज्ञक, हविर्धान में विद्यमान सोम इन्द्रसंज्ञक और कूटने को लाया हुआ सोम अथर्वा नाम वाला होता है ॥ ५६ ॥

भाष्यसार—'प्रोह्यमाणः' इस कण्डिका का विनियोग भी पूर्व की भाँति याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—रथ से अथवा नन्दिगणों से वहन किये जाते हुए आगत वे सोम शब्द से अभिहित होते हैं। मंचिका अथवा सिंहासन पर आसीन होकर सोम समस्त रोग-दोष के निवारक होते हैं। अग्नीत्-सम्बन्धी कर्म में यज्ञिय अग्नि हैं। अग्नि के समान समस्त पापों को दग्ध करने वाले अथवा ज्ञानाग्नि की भाँति अविद्या तथा तत्कार्यात्मक प्रपंच के निवर्तक होते हैं, यह भाव है। हविर्धान में विद्यमान शिव इन्द्र, अर्थात् परमैश्वर्य से परिपूर्ण अथवा परमैश्वर्यप्रदाता होते हैं। हृदयप्रदेश में सबके चरम के रूप में ध्यान किये जाने पर वे अथर्वा होकर भक्तों में अहिंसा की प्रतिष्ठा करते हैं।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थाः, युष्माभिरस्यामीश्वरस्य सृष्टौवासन्द्यां यानासनविशेषे आसन्नः समीपस्थ इव प्रोह्यमाणः प्रकृष्टतर्केणानुष्ठितः सोम ऐश्वर्यसमूहः, वरुणो जलसमूहः, आग्नीध्रे प्रदीपनसाधन इन्धनादावग्निः, उपावह्रियमाणः क्रियाकौशलेनोपयुज्यमानः, अथर्वा अहिंसनीयः, हविर्धाने हविषां ग्रहीतुं योज्यानां पदार्थानां धारणे इन्द्रो विद्युत् सततमुपयोजनीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'वह प्रापणे, ऊह वितर्के' इत्युभयोरपि तथा प्रयोगसम्भवेन वितर्कार्थस्योहतेर्वहतेर्वा ग्रहणे विनिगमनाविरहात्। आगत इवेत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव, आगतः समन्तात् प्राप्तः सहायकारी पुरुष इवेत्येतादृशस्यार्थस्य ग्रहणे किं मूलमित्यनुक्तेश्च।

अत्र मन्त्रे भाष्यं वितन्वन् दयानन्दः प्राह—'प्रोह्यमाण इति पदं महीधरेण भ्रान्त्या पूर्वस्मिन् मन्त्रे पठितम्' इति, तत्तु तदज्ञानविजृम्भितमेव, बुद्धिवैक्लव्यात्। तथाहि—नहि महीधरेण स्वकीये भाष्ये प्रोह्यमाण इति पदं पञ्चपञ्चाशमन्त्रांशतया पठितम्, किन्तु शातपथी श्रुतिरेव तेन व्याख्याता—प्रोह्यमाणः शकटेनोह्यमानः सोमो विष्णुर्नरन्धिषो भवतीति। श्रुतिश्च—'अथ यदि पर्युह्यमाणः। किञ्चिदापद्येत विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहेति जुहुयाद् विष्णुर्हि स तर्हि नरन्धिषो भवत्यप पाप्मानꣳ हत उपैनं यज्ञो नमति' (श० १२।६।१।१३)। तदेतां श्रुतिमदृष्ट्वैव यत्किञ्चित् प्रलपति स्वामी दयानन्दः। किञ्च, पर्युह्यमाण इत्यस्याभावे तु विष्णुर्नरन्धिष इति मन्त्रेण कदा किं कुर्यादित्यनिश्चितमेव स्यात्। यथा ऊरौ आसन्नः सोमो विष्णुः शिपिविष्टो भवति, तथैव पर्युह्यमाणः शकटेनोह्यमानः सोमो विष्णुर्नरन्धिषो भवति। अत एव प्रोह्यमाण इति व्याख्यानावसरे प्रोह्यमाणः शकटादागतोऽवरूढः सोमनामको भवतीति व्याख्यातं महीधराचार्येण ॥ ५६ ॥

विश्वेदेवा अꣳशुषु न्युप्तो विष्णुराप्रीतपा आप्याय्यमानो यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः शुक्रः पूतः शुक्रः क्षीरश्रीर्मन्थी सक्तुश्रीः ॥ ५७ ॥

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में विसंगति है। प्रापणार्थक 'वह' धातु तथा वितर्कार्थक 'ऊह' धातु—इन दोनों से ही 'प्रोह्यमाण' शब्द का प्रयोग सम्भव होने पर 'ऊह' धातु अथवा 'वह' धातु की वितर्कार्थता के ग्रहण में कोई निश्चित तर्क नहीं है। 'आगत इव' इस प्रकार अध्याहार करना भी निर्मूल है। 'आगतः····पुरुष इव' इस प्रकार का अर्थ ग्रहण करने में क्या प्रमाण है? यह भी नहीं बताया गया है। इस मन्त्र में भाष्य का विस्तार करते हुए स्वामी दयानन्द ने कहा है कि महीधराचार्य ने भ्रान्ति से 'प्रोह्यमाण' शब्द को पूर्ववर्ती मन्त्र में पढ़ा है। परन्तु यह कथन अज्ञानमूलक ही है, क्योंकि आचार्य महीधर ने अपने भाष्य में 'प्रोह्यमाण' पद को पचपनवें मन्त्र के अंश के रूप में नहीं पढ़ा है, अपितु उन्होंने शतपथश्रुति की व्याख्या की है। इस श्रुति को न देखकर स्वामी दयानन्द ने अकारण सन्देह किया है। 'पर्युह्यमाण' इस पद के अभाव में तो 'विष्णुर्नरन्धिष.' इस मन्त्र से कब क्या करें? यह अनिश्चित ही रह जायगा। अतः 'महीधराचार्य ने उचित व्याख्या की है ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ सोम के खण्डों में कण्डन करके आरोपित किया हुआ सोम विश्वेदेव नाम वाला और वृद्धि को प्राप्त हुआ सोम सब प्रकार से अपने भक्तों की रक्षा करने वाला विष्णुसंज्ञक होता है। सोम का अभिषव करते समय इसका नाम यम और पुष्यमाण अभिषुत सोम विष्णुरूप है। पवित्र द्वारा छाना हुआ सोम वायु नाम का, पवित्र हुआ सोम शुक्र नाम का होता है। पूत सोम दूध से मिलाये जाने पर शुक्र नाम वाला और सत्तू से मिश्रित सोम मन्थी कहलाता है ॥ ५७ ॥

अंशुषु सोमखण्डेषु न्युप्तः कण्डनं कृत्वा रोपितः सोमो विश्वेदेवनामको भवति, तदा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात् । 'अ॑ꣳशुरꣳशुष्टे' (वा० सं० ५।७) इत्यादिमन्त्रेण आप्याय्यमानो वर्ध्यमानः सोम आप्रीतपा आसमन्तात् प्रीतान् स्वस्मिन् प्रीतिमतो भक्तान् पाति रक्षतीत्याप्रीतपास्तादृशगुणविशिष्टो विष्णुर्भवति, तदा विष्णवे आप्रीतपाय (आप्रीतये) स्वाहेति जुहुयात् । अभिषूयमाणः सोमो यमो भवति, तदा यमाय स्वाहेति जुहुयात् । सम्भ्रियमाणः पुष्यमाणः सोमो विष्णुर्भवति, तदा विष्णवे स्वाहेति जुहुयात् । दशापवित्रेण पूयमानः सोमो वायुर्भवति, तदा वायवे स्वाहेति जुहुयात् । पूतः सोमः शुक्रो भवति, तदा शुक्राय स्वाहेति जुहुयात् । सक्तुभिर्मिश्रितः सोमो मन्थी भवति, तदा मन्थिने स्वाहेति जुहुयात् ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यद्यंशुषु न्युप्तः । किञ्चिदापद्येत विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।१९), 'अथ यद्याप्यायमानः····विष्णवे आप्रीतपाय स्वाहेति जुहुयात्' (१२।६।१।२०), 'अथ यद्यभिषूयमाणः····यमाय स्वाहेति' (१२।६।१।२१), 'अथ यदि सम्भ्रियमाणः····विष्णवे स्वाहेति जुहुयात्' (१२।६।१।२२), 'अथ यदि पूयमानः····वायवे स्वाहेति जुहुयात्' (१२।६।१।२३), 'अथ यदि पूतः····शक्राय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।२४), 'अथ यदि क्षीरश्रीः····शक्राय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।२५), 'अथ यदि सक्तुश्रीः···· मन्थिने स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।२६) ।

अध्यात्मपक्षे—एष सोमः साम्बशिवः सर्वात्मा सन् सोमलतारूपेण सोमयज्ञेंऽशुषु सोमखण्डेषु न्युप्तः कण्डनं कृत्वा रोपितो विश्वेदेवनामको भवति । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे विश्वेदेवाः, युष्माभिरंशुषु विभक्तेषु सांसारिकेषु पदार्थेषु न्युप्तो नित्यं स्थापितो व्यवहार आप्रीतपा विष्णुर्व्यापि विद्युद् आप्याय्यमानो वृद्ध इव यमो यच्छति सोमं सूर्यः सूयमान उत्पद्यमानो विष्णुर्व्यापकः, सम्भ्रियमाणः सम्यक्पोषितो वायुः प्राणः, पूयमानः पवित्रीकृतः शुक्रो वीर्यसमूहः, पूतः शुद्धः शुक्र आशुकर्ता, मन्थी मथ्नातीति सेवमानः सन्, क्षीरश्रीर्यः क्षीरादीनि श्रृणाति, सक्तुश्रीर्यः सक्तूनि समवेतानि द्रव्याणि श्रयते जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टत्वात् । एतदीयं हिन्दीभाष्यमप्यव्यक्तमेव । 'हे विद्वांसः, युष्माभिः सांसारिकेषु विभक्तेषु पदार्थेषु नित्यं स्थापितो व्यवहारः' इत्यस्यार्थस्याङ्गीकारेऽपि न सङ्गतिः, मनुष्यैः स्थापितस्य व्यवहारस्य नित्यत्वायोगात् । अंशुपदस्य विभक्ताः पदार्था इत्यर्थस्तु निर्मूल एव । तथैव न्युप्त इत्यस्य स्थापितो नित्यो व्यवहार इत्यपि कल्पनाप्रसूत एवार्थः । शुक्रः पराक्रमसमूहः, शुक्रः शीघ्रचेष्टावान्, तथैव क्षीरश्रीः सक्तुश्रीरित्यनयोरपि व्याख्यानमनर्गलमसङ्गतं च ॥ ५७ ॥

भाष्यसार—'विश्वेदेवाः' इत्यादि कण्डिका भी याज्ञिक प्रक्रिया में पूर्व मन्त्रों की भाँति नैमित्तिक कर्म में विनियुक्त है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—ये साम्बशिव सर्वात्मा होते हुए सोमलता के रूप से सोमयाग में सोमखण्डों में कुट्टन के अनन्तर स्थापित होकर विश्वेदेव नाम के होते हैं । शेष अर्थ पूर्वोक्त याज्ञिक पक्ष की भाँति ही है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रदर्शित संस्कृत अर्थ अस्पष्ट होने के कारण ग्राह्य नहीं है । हिन्दी भाष्य भी स्पष्ट नहीं है । मनुष्यों के द्वारा स्थापित व्यवहार में नित्यत्व अयुक्त होने के कारण अर्थसंगति नहीं है । अंशु शब्द का अर्थ 'विभक्त पदार्थ' करना तो अप्रामाणिक ही है । इसी प्रकार 'न्युप्त' पद का 'स्थापित नित्य व्यवहार' यह अर्थ भी कल्पनाप्रसूत है । शक्र का अर्थ पराक्रमसमूह, शुक्र का अर्थ शीघ्र चेष्टावान् तथा इसी प्रकार क्षीरश्रीः, सक्तुश्रीः - इन पदों की व्याख्या भी अनर्गल तथा संगतिविहीन है ।। ५७ ।।

विश्वेदेवाश्चमसेषून्नीतोऽसुर्होमायोद्यतो रुद्रो हूयमानो वातोऽभ्यावृत्तो नृचक्षाः प्रतिख्यातो भक्षो भक्ष्यमाण पितरो नाराशꣳसाः ॥ ५८ ॥

चमसेषु ग्रहपात्रेषून्नीतो गृहीतः सोमो विश्वेदेवसंज्ञो भवति, तदा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्। होमार्थमुद्यतः सोमोऽसुसंज्ञो भवति, तदा असवे स्वाहेति जुहुयात्। हूयमानः सोमो रुद्रो भवति, तदा रुद्राय स्वाहेति जुहुयात्। अभ्यावृत्तो होमशेषीभूतः सदः प्रति भक्षणार्थमानीतः सोमो वातो भवति, तदा वाताय स्वाहेति जुहुयात्। प्रतिख्यातो ब्रह्मन्नुपह्वयस्वेत्यादिना भक्षणार्थं पृष्टः सोमो नृचक्षा भवति, नॄन् मनुष्यान् शुभाशुभकारिणश्चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः, मनुष्यकृतशुभाशुभकर्मद्रष्टा सूर्यो यमो वा भवति, तदा नृचक्षसे स्वाहेति जुहुयात्। भक्ष्यमाणः प्रीयमाणः सोमो भक्षो भवति, तदा भक्षाय स्वाहेति जुहुयात्। भक्षयित्वा सन्नः स्वखरेषु सादितः सोमो नाराशंसाः पितरो भवन्ति, नरोऽस्मिन्नासीनाः शंसन्तीति नाराशंसो यज्ञः, तत्र हिता योग्या वा नाराशंसाः, नाराशंसगुणविशिष्टाः पितरः, तदा निमित्तापत्तौ पितृभ्यो नाराशंसेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्।

अत्र ब्राह्मणम्--'अथ यदि चमसेषून्नीतः किञ्चिदापद्येत विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।२७), 'अथ यदि होमायोद्यतः किञ्चिदापद्येतासवे स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।२८), 'अथ यदि हूयमानः····रुद्राय स्वाहेति' (श० १२।६।१।२९), 'अथ यद्यभ्यावृत्तः····वाताय स्वाहेति····' (श० १२।६।१।३०), 'अथ यदि प्रतिख्यातः····नृचक्षसे स्वाहेति····' (श० १२।६।१।३१), 'अथ यदि भक्ष्यमाणः····'भक्षाय स्वाहेति' (श० १२।६।१।३२)। 'अथ यदि नाराशꣳसेषु सन्नः किञ्चिदापद्येत पितृभ्यो नाराशꣳसेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।३३)।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वदर्थं चमसेषून्नीतो गृहीतः सोमो विश्वेदेवसंज्ञको भवति। त्वदर्थं होमायोद्यतोऽसुसंज्ञको भवति। तुभ्यं हूयमानः स रुद्रो भवति। अभ्यावृत्तो होमशेषीभूतः सदः प्रति भक्षणार्थं नीतः सोमो वातो भवति। भक्षणार्थं प्रतिख्यातो नृचक्षा भवति। शेषं पूर्ववत्। त्वच्छेषत्वादेव सोमस्तत्तद्देवरूपो भवति।

मन्त्रार्थ—ग्रहपात्रों में ग्रहण किया गया सोम विश्वेदेव संज्ञक है। आहुति के लिये तैयार सोम असुसंज्ञक, हवन करते समय रुद्रसंज्ञक और हुतशेष भक्षणार्थ सदोमण्डप में लाया हुआ वातसंज्ञक है। हे ब्रह्मन्, हुतशेष का पान करो, इस तरह से बताया हुआ सोम मनुष्यों के शुभाशुभ को देखने वाला नृचक्ष है, भक्षण करते समय सोम भक्षसंज्ञक कहलाता है, भक्षण करने के अनन्तर खर पर रखा हुआ सोम नाराशंस और गुणविशिष्ट या यज्ञ का हितकारी पितर-संज्ञक होता है ॥ ५८ ॥

भाष्यसार--'विश्वेदेवाश्चमसेषु' इत्यादि कण्डिका भी पूर्व कण्डिका की भाँति याज्ञिक प्रक्रिया की नैमित्तिक विधि में विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आपके लिये चमस-पात्रों में गृहीत सोम 'विश्वेदेव' संज्ञक होता है। आपके लिये होमार्थ निष्पादित होने पर वह 'असु' संज्ञक होता है। आपके लिये हवन किया जाता हुआ वह 'रुद्र' हो जाता है। होम से बचा हुआ सोम सदोमण्डप में भक्षण के लिये ले जाया जाता हुआ 'वात' संज्ञक होता है। भक्षण के लिये आज्ञप्त सोम 'नृचक्षा' होता है। शेष मन्त्रार्थ याज्ञिक-व्याख्या के ही अनुसार है। आपका होने के कारण ही सोम तत्तद् देवों के रूप में होता है।

दयानन्दस्तु—'यैर्होमाय दानायादानाय वा यज्ञविधानेन चमसेषु मेघेषु सुगन्ध्यादिरुन्नीतोऽसुः प्राणः स्वीय उद्यतः प्रयत्नेन प्रेरितो रुद्रो जीवो हूयमानः स्वीकृतो नृचक्षा नॄन् मनुष्यान् चष्टे, प्रतिख्यातः ख्यातं ख्यातं प्रति वातो बाह्यो वायुः, अभ्यावृत्त आभिमुख्येनाङ्गीकृतस्तच्छोधितो भक्ष्यमाणो भुज्यमानो भक्षो भोज्यसमूहः पवित्रीकृतः। ते विश्वेदेवा नाराशंसा नराशंसानामिमे नाराशंसा उपदेशकाः पितरश्च वैद्याः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'यैर्विद्वद्भिः' इत्यस्योत्सूत्रत्वात्। न च प्रकृते चमसपदस्य मेघोऽर्थः। सुगन्ध्यादिरित्यपि निर्मूलम्, उदक्षरत्वात्। पवित्रीकृत इत्यपि निर्मूलमेव। श्रुतिविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेनोक्तप्राय एव ॥ ५८ ॥

सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः सलिलः प्रप्लुतो ययोरोजसा स्कभिता रजाᳬंसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा। या पत्येते अप्रतीता सहोभिर्विष्णू अगन् वरुणा पूर्वहूतौ ॥ ५९ ॥

अवभृथार्थमुद्यतः सोमः सिन्धुर्भवति, तदा सिन्धवे स्वाहेति जुहुयात्। जलमभिमुखं नीयमानः सोमः समुद्रो भवति सिन्धुनदीरूपः, स्यन्दमानत्वात्, समुद्रः समुद्रवमाणत्वात्, तदा समुद्राय स्वाहेति जुहुयात्। प्रप्लुतो निमग्नः सोमः सलिलो भवति, तदा प्रायश्चित्तापत्तौ सलिलाय स्वाहेति जुहुयात्। एताभिराहुतिभिर्यज्ञश्चिकित्सितो भवति, प्रतिसंहितश्च भवति, 'ता एताः' इति वक्ष्यमाणश्रुतेः। 'ययोरोजसेति चोदकेनोपसिञ्चेत्' (का० श्रौ० २५।२।९)। स्कन्नं रसरूपं सोमं जलेन सिञ्चेत् कालाहुतिहोमं वाचनं च कृत्वेति। सोम एव हविर्यज्ञियं स्कन्नमिति सोममिति देवयाज्ञिकाः। वरुणदेवत्या त्रिष्टुप्। पूर्वार्धे यच्छब्दोपादानात् तच्छब्दाध्याहारेण तौ विष्णू तौ वरुणौ। एकत्र विष्णुशब्दस्यैकशेषोऽन्यत्र वरुणशब्दस्य तुल्यकार्यत्वादुभावपि विष्णू, उभावपि वरुणौ, कर्मभूतौ प्रति अगन् गतं स्कन्नम्, यज्ञसाधनमिति शेषः। कदा ? पूर्वहूतौ पूर्वस्मिन्नाह्वाने। यावत् प्रधानं हूयते तावदेव विष्णुवरुणौ प्रति हविरगन्नित्यर्थः। विशेषणं वा पूर्वं हूयेते तौ पूर्वहूतौ विष्णुवरुणौ प्रति हविरगन्निति। तौ कौ ? ययोरोजसा बलेन रजांसि लोकाः स्कभिताः स्तम्भितानि, स्कभ्नोतिः स्तम्भनार्थः। किञ्च, या यौ विष्णुवरुणौ पत्येते ईशाते ऐश्वर्यं कुर्वाते, जगतामीश्वरावित्यर्थः। 'पत ऐश्वर्ये' दिवादिरात्मनेपदी। यद्वा पत्येते परसैन्येषु श्येनाविव पततः। पुनः कीदृशौ ? वीर्येभिर्बलैर्वीरतमा अत्यन्तं वीरौ तथा शविष्ठा अत्यन्तं बलवन्तौ, शव इति बलनाम। तथा सहोभिर्बलैरप्रतीता अप्रतिगतौ, न केनापि सम्मुखं गन्तुं शक्यौ, अनन्ययोध्यावित्यर्थः। न प्रतीयेते इत्यप्रतीतौ, एवंविधौ विष्णुवरुणौ प्रति स्कन्नं हविर्गतमित्यर्थ इति महीधरः।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ अग्राह्य है, क्योंकि 'यैर्विद्वद्भिः' इत्यादि पद निर्मूल हैं। इस प्रसंग में चमस शब्द का भी अर्थ मेघ नहीं है। 'सुगन्धि' आदि शब्द भी मन्त्राक्षरों से बहिर्भूत होने के कारण अमूल हैं। श्रुतिवचनों का विरोध तो प्रायः कहा ही जा चुका है ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—अवभृथ के निमित्त ले जाया जाता सोम सिन्धु है। जल के ऊपर ऋजीष कुम्भ को छोड़ते समय जल के अभिमुख ले जाया जाता हुआ सोम समुद्र है। जिन विष्णु और वरुण के प्रभाव से लोग ठहरे हुए हैं, जो विष्णु और वरुण अपने बल से अत्यन्त बलवान् हैं, जो अपने बल से अप्रतिम हैं, लोकत्रय का आधिपत्य करते हैं, उनका यज्ञ में प्रथम आह्वान कर उनके लिये यह सोम प्रदान किया जाता है ॥ ५९ ॥

भाष्यसार—'सन्नः' इस कण्डिका के मन्त्रों से पूर्व की भाँति होम, रसरूप सोम का जल से सेचन आदि

यद्वा ययोर्विष्णुवरुणयोरोजसा बलेन रजांसि लोकाः स्कभिताः स्कभितानि स्तम्भितानि न चलन्ति। किञ्च, यौ वीर्येभिर्वीर्यैर्वीरतमौ, यौ च शविष्ठौ बलिष्ठौ श्येनाविव परबलेषु पत्येते पततः। अप्रतीतौ अप्रतिगमनौ, अनन्यसाध्यौ विष्णुवरुणावुभौ अस्मदीये यज्ञे पूर्वहूतौ पूर्वाह्वाने अगन् अगच्छन् सहोभिः स्वकीयैरेव बलैः, तौ विष्णुवरुणौ तुल्यकार्यत्वादुभावपि विष्णू उभावपि वरुणौ अगन् गतो यज्ञः, यज्ञसाधनभूतं स्कन्नं द्रव्यमिह यज्ञशब्देनोच्यते। पूर्वहूतौ पूर्वस्मिन्नाह्वाने यावत् प्रधानं न हूयते, तावद्विष्णुवरुणौ प्रति यज्ञो गत इत्यर्थः। यद्वा पूर्वं हूयेते तौ प्रति अगन् गतो यज्ञ इति सम्बन्धः। एवमुव्वटसायणयोर्व्याख्यानम्।

'अथ यदि स्कन्देत्तदद्भिरुपनिनयेदद्भिर्वा इदꣳ सर्वमाप्तꣳ सर्वस्यैवाप्त्यै वैष्णववारुण्यर्चा यद्वा इदं किञ्चार्च्छति वरुण एवेदꣳ सर्वमार्पयति ययोरोजसा स्कभिता रजाꣳसि वार्येभिर्वीरतमा शविष्ठा या पत्येते अप्रतीता सहोभिर्विष्णू अगन् वरुणा पूर्वहूताविति यज्ञो वै विष्णुस्तस्यैतदार्च्छति वरुणो वार्पयिता तद्यस्याश्चैवैतद्देवताया आर्च्छति यो वा देवतार्पयति ताभ्यामेवैतदुभाभ्यां भिषज्यत्युभाभ्याꣳ सन्दधाति' (श० ४।५।७।७)। यदि सोमस्य रसः किञ्चित् स्कन्देत् तदद्भिरुपसिञ्चेत्। तदर्थमयं मन्त्रः ययोरोजसेति। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव। यज्ञो वै विष्णुरित्यादिना विष्णुवरुणयोः स्वरूपं कार्यं चोच्यते।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यद्यवभृथायोद्यतः किञ्चिदापद्येत सिन्धवे स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।३४), 'अथ यद्यभ्यवह्रियमाणः किञ्चिदापद्येत समुद्राय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।३५), 'अथ यदि प्रप्लुतः किञ्चिदापद्येत सलिलाय स्वाहेति जुहुयात्' (श० १२।६।१।३६), 'ता वा एताश्चतुस्त्रिꣳशतमाज्याहुतीर्जुहोति त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिꣳश एतद्‌ु सर्वैर्देवैर्यज्ञं भिषज्यति सर्वैर्देवैर्यज्ञं प्रतिसन्दधाति' (श० १२।६।१।३७)। प्रायश्चित्तब्राह्मणमिदम्। तत्र सोमयागीयकर्मसु व्यङ्गतायामेताभिराहुतिभिर्यज्ञं भिषज्यति प्रतिसन्दधाति।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मा शिवः सोमयागीयसोमः सन्नः सिन्धुर्भवतीत्यादिकं पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'यैरवभृथाय यज्ञान्तस्नानाय स्वात्मपवित्रीकरणाय वाऽभ्यवह्रियमाणो भुज्यमानः सलिलं शुद्धं जलं विद्यते यस्मिन् स व्यवहार उद्यत उत्कृष्टतया यतो नियमेन सम्पादितः, सिन्धुर्नदी, 'सिन्धव इति नदीनामसु' (निघ० १।१३।२१), सन्नोऽवस्थापितः समुद्रोऽन्तरिक्षम्, 'समुद्र इत्यन्तरिक्षनामसु' (निघ० १।३।१५), प्रप्लुतः प्रकृष्टगुणैः प्राप्तः क्रियते, ययोर्होतृयजमानयोरोजसा बलेन रजांसि लोकाः स्कभिताः स्तम्भितानि धृतानि, यौ वीर्येभिः पराक्रमैर्वीरतमा अत्यन्तवीरौ, शविष्ठा अतिशयेन नित्यबलसाधकौ, सहोभिर्बलादिभिरप्रतीतौ अप्रतिगुणौ विष्णू व्याप्तिशीलौ वरुणौ श्रेष्ठौ, पूर्वहूतौ पूर्वैः शिष्टैर्विद्वद्भिराहूतौ, पत्येते श्रेष्ठैः प्राप्येते, तावगन् ते गच्छन्तु प्राप्नुवन्तु सुखिनो भवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टत्वात्। तथाहि—यज्ञान्तस्नानाय कोऽयं व्यवहारः सम्पाद्यते? तत्र च जलं कीदृक्? कथं च तदुपयुज्यते? इत्यस्यास्पष्टत्वात्। स

विधियाँ अनुष्ठित की जाती हैं। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।२।९) में प्रतिपादित है। शतपथ श्रुति के अनुसार उव्वट, सायण, महीधर आदि आचार्यों ने याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ का व्याख्यान किया है।

अध्यात्मपक्ष में भी सर्वात्मक शिव सोमयागीय सोम होते हुए सिन्धु होते हैं, इत्यादि व्याख्या याज्ञिक पक्ष की भाँति ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या अस्पष्ट होने के कारण अग्राह्य है। यज्ञान्त स्नान के लिये यह कौन सा व्यवहार सम्पादित होता है? उसमें जल किस प्रकार का है? उसका उपयोग कैसे किया जाता है? यह सब अस्पष्ट है। गुणों के द्वारा समुद्र कैसे प्राप्त किया जाता है? होता एवं यजमान के बल से लोक किस प्रकार स्थित हैं? इत्यादि

व्यवहारः कथं भुज्यमानः स्यात् ? कथं च नद्योऽवस्थाप्यन्ते ? समुद्रश्च कथमु गुणैः प्राप्यते ? होतृयजमानयोर्बलेन कथं लोकाः स्थिताः ? किं तादृशौ तौ बलवन्तौ वीरतमौ सहोभिरप्रतीतौ व्याप्तावतिश्रेष्ठौ, याभ्यां लोका धार्यन्ते ? किं च तत्र मानम् ? सर्वथापि निरर्गलमेवैतत्। ब्रह्मदत्तोऽप्यस्पष्टोऽत्र भाषापदार्थ इत्याह। यत्तु दयानन्देन 'सन्नः' इति पदं महीधरेण भ्रान्त्या पूर्वस्य मन्त्रस्यान्ते स्वीकृतमिति, तदपि तदज्ञानमेव, 'अथ यदि नाराशꣳसेषु सन्नः किञ्चिदापद्येत' (श० १२।६।१।३३) इति ब्राह्मणेनैव तथा व्याख्यातत्वात् ॥ ५९ ॥

दे॒वान् दिव॑मगन् य॒ज्ञस्ततो॑ मा द्र॑विणमष्टु मनु॒ष्या॒नन्तरि॑क्षमगन् य॒ज्ञस्ततो॑ मा॒ द्रवि॑णमष्टु पि॒तॄन् पृ॑थि॒वीम॑गन् य॒ज्ञस्ततो॑ मा॒ द्रवि॑णमष्टु यं कं च॑ लो॒कमग॑न् य॒ज्ञस्ततो॑ मे भ॒द्रम॑भूत् ॥६०॥

'देवान् दिवमगन्निति सोमे' (का० श्रौ० २५।२।८)। सोमे हविर्यज्ञियं स्कन्नमभिमृशेत्। देवयाज्ञिकरीत्या रसरूपसोमद्रव्यस्कन्दनस्येदं प्रायश्चित्तम्। अत्यष्टिर्यज्ञदेवत्या। अयं यज्ञो देवान् आतिवाहिकान् वाय्वादीन् प्राप्य दिवं द्युलोकमगन् अगच्छत्। ततस्तत्र स्थिताद् यज्ञान्मां द्रविणं विशिष्टभोगसाधनभूतं धनमष्टु व्याप्नोतु। अनेन सुकृतिनामारोहक्रममभिधायेदानीमवरोहक्रममाह—ततो द्युलोकावरोहणकालेऽन्तरिक्षलोकमागत्य मनुष्यानगन्, यज्ञो मनुष्यलोकमगच्छत्। तत्र स्थिताद्यज्ञान्मां द्रविणमष्टु। दक्षिणायने गमनागमनमाह—अयं यज्ञो धूमादिक्रमेण पितॄन् प्राप्य पृथिवीमगन्। तत्र स्थिताद् यज्ञान्मां द्रविणमष्टु। यं कमपि लोकमयं यज्ञोऽगच्छत्, तस्माद्यज्ञान्मम भद्रं कल्याणमभूद् भूयादिति यजमानेनाशास्यते। यद्वा ततो द्युलोकाद् द्रविणं यज्ञफलमुत्पन्नं मामष्टु व्याप्नोतु। एवमेवान्यपर्यायेष्वपि व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथो अभ्येव मृशेत्। देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूदित्येवैतदाह' (श० ४।५।७।८)।

अध्यात्मपक्षे—अयं यज्ञो विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः, दिवमुपेन्द्ररूपेण प्राप्य, देवानिन्द्रादीन् कृतार्थयतीति शेषः। तत उपस्थितात् तस्मात् कृपाजनितं द्रविणं धनरत्नादिकं मामष्टु प्राप्नोति। अयं यज्ञोऽन्तरिक्षं प्राप्य

सब निरर्गल ही है। ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने भी कहा है कि यहाँ भाषा-पदार्थ अस्पष्ट है। स्वामी दयानन्द ने यह कहा है कि महीधर के द्वारा 'सन्नः' यह पद भ्रान्ति से पूर्व मन्त्र के अन्त के साथ जोड दिया गया है। यह कथन भी अज्ञानमूलक है, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थ द्वारा भी ऐसा ही व्याख्यान उपदिष्ट है ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—यह यज्ञ द्युलोक में देवताओं तक पहुँच गया है। उस स्वर्ग में स्थित यज्ञ से विशिष्ट भोगों का साधनभूत धन यज्ञ के फल के रूप में हमें प्राप्त हो। स्वर्ग से उतरते समय यह यज्ञ मनुष्य लोक में आता हुआ अन्तरिक्ष लोक में वृष्टि के रूप में बदल जाय, जिससे कि अनेक प्रकार की धन-सम्पत्ति हमें प्राप्त हो। यह यज्ञ धूम आदि मार्ग से पितरों तक पहुँच कर फिर भूलोक में आया है। उस स्थान में स्थित यज्ञ के फल से मुझे धन-सम्पत्ति प्राप्त हो। यह यज्ञ जिस किसी भी लोक में गया हो, उसके फल से मेरा कल्याण हो ॥ ६० ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।२।८) में वर्णित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'देवान् दिवम्' इस मन्त्र का विनियोग सोम द्रव्य के स्कन्दन के प्रायश्चित्त में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—यह यज्ञात्मक व्यापक परमेश्वर विष्णु उपेन्द्र के रूप से स्वर्ग को प्राप्त करके इन्द्रादि देवताओं को कृतार्थ करते हैं। उनकी उपस्थिति में उनकी कृपा से धन, रत्न आदि मुझे प्राप्त हों। ये

चन्द्ररूपेण मनुष्याननुगृह्णाति। ततोऽमृतादिकं द्रविणं मामष्टु। अयं यज्ञः पृथिवीं प्राप्य रामकृष्णरूपेण धर्मग्लानिं निवर्त्य **धर्मं** संस्थाप्य पितॄन् पित्रुपलक्षितान् देवान् पितॄन् मनुष्यांश्चानुगृह्णाति। अयं यज्ञो यं कं च लोकं गतस्तत एव मे भद्रं भवतु, सर्वान्तर्यामित्वात् सर्वव्यापकत्वात् तत्तद्रूपेण यज्ञस्तांस्ताननुगृह्णात्येव।

दयानन्दस्य तु—'यो यज्ञः पूर्वोक्तः सर्वैः सङ्गमनीयो दिवं देवान् प्रापयति, दिवं विद्याप्रकाशं दिव्यभोगान् प्रापयति, तं विद्वांसोऽगन् प्राप्नुयुः, ततस्तस्माद् मा मां द्रविणं विद्यादिकमष्टु प्राप्नोतु। यो यज्ञोऽन्तरिक्षं मेघमण्डलमगन् मनुष्यान् आप्नोति, यो यज्ञः पृथिवीं पितॄन् ऋतून् प्रापयति तमगन्, ततो मां द्रविणमष्टु। यो यज्ञो यं यं च लोकं प्राप्नोति, तमगन् ततो मे भद्रं भजनीयं कल्याणमभूद् भवतु, यो यज्ञः सर्वैः कर्तुं योग्यो विद्याप्रकाशं दिव्यभोगान् प्रापयति, यं विद्वांसः प्राप्नुवन्तु, ततो मां द्रविणं विद्यादिगुणः प्राप्नोतु। यो यज्ञो मेघमण्डलं मनुष्यांश्च प्राप्नोति, यं भद्रं मनुष्याः प्राप्नुवन्ति, ततो मां द्रविणं धनादिकमष्टु। यो यज्ञः पृथिवीं पितॄन् वसन्तादीनृतून् प्राप्नोति, यमाप्ताः प्राप्नुवन्ति, ततो मां द्रविणं प्रत्यृतु सुखमष्टु। यो यज्ञो यं कं च लोकं प्राप्नोति, यं धर्मात्मा प्राप्नोति, ततो मे भद्रं भवतु' इति हिन्दीभाष्यम्, तदेतत् सर्वमपि निरर्थकमसङ्गतं च, कोऽयं यज्ञो यः सर्वैः कर्तुं योग्य इत्यस्यानिरूपणात्। पूर्वमन्त्रोक्तसलिलो व्यवहार इति चेत्, तस्य विद्याप्रकाशदिव्यभोगानां प्रापकत्वे मानायोगात्। न वा तस्य मेघमण्डलस्य मनुष्याणां प्रापकत्वे मानमुपलभामहे। न वा तादृशयज्ञस्य पृथिव्या ऋतूनां च प्रापकत्वम्, प्रमाणाभावादेव। श्रुतिविरोधस्तु स्पष्टः॥ ६०॥

चतु॑स्त्रिꣳ॑श॒त्तन्त॑वो॒ ये वि॑तत्नि॒रे य इ॒मं य॒ज्ञꣳ स्व॒धया॒ दद॑न्ते।
तेषां॑ छि॒न्नꣳसम्वे॒तद्द॑धामि॒ स्वाहा॑ घ॒र्मो अप्ये॑तु दे॒वान्॥ ६१॥

यज्ञात्मक विष्णु अन्तरिक्ष को प्राप्त करके चन्द्रमा के स्वरूप से मनुष्यों को अनुगृहीत करते हैं। उनसे मुझे अमृत आदि धन प्राप्त हो। ये यज्ञस्वरूप विष्णु पृथिवी लोक को प्राप्त करके श्रीराम, श्रीकृष्ण के स्वरूप से धर्महानि को निराकृत करते हुए धर्म को स्थापित कर पितरों, देवों तथा मनुष्यों को अनुगृहीत करते हैं। यह यज्ञस्वरूप जिस किसी भी लोक में जाय, वहीं से मेरा कल्याण करे। सर्वान्तर्यामी तथा सर्वव्यापक होने के कारण तत्तद् रूप से यज्ञ उनको अनुगृहीत करता ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित व्याख्या निरर्थक तथा असंगत है, क्योंकि यह निरूपण नहीं किया गया है कि यह कौन सा यज्ञ है? जो सबके द्वारा करने योग्य है। यदि पूर्व मन्त्र में वर्णित सलिल व्यवहार है, तो उसके विद्या-प्रकाशक, दिव्य भोगों के प्रापक होने में कोई प्रमाण नहीं है। उस मेघमण्डल का मनुष्यों के प्रापक होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। श्रुतिविरोध तो स्पष्ट ही है॥ ६०॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ का विस्तार करने वाले प्रजापति आदि चौंतीस देवता इस यज्ञ का विस्तार करते हैं, अन्न आदि के द्वारा पुष्ट करते हैं। यज्ञ का विस्तार करने वाले इन देवताओं का जो अंश छिन्न हो गया है, उसे मैं इस घर्मपात्र में इकट्ठा करता हूँ। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। इस घृत से महावीर संगृहीत हो। महावीर देवताओं को प्राप्त हो॥ ६१॥

घर्मदेवत्या पङ्क्तिस्त्रिष्टुब् वा, द्वाचत्वारिंशदक्षरत्वात् । शाखान्तरे महावीरभेदे घृतहोमे विनियोगः । चतुस्त्रिंशत्तन्तवो यज्ञस्य ये परमेष्ठ्यादयो देवा यज्ञं वितत्निरे वितन्वन्ति प्रायश्चित्तशमनेन, तनोतेर्लिटि प्रथमबहुवचने 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।८) इति द्वित्वे, 'तनिपत्योश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।९९) इत्युपधालोपे 'तत्निरे' इति रूपम् । ये च इमं यज्ञं स्वधया अन्नेन ददन्ते धारयन्ति, 'दद दानधारणयोः', पुष्णन्ति वा, ददतिः पुष्यत्यर्थः, तेषां यज्ञं वितन्वतां देवानां यत्किमपि छिन्नं त्रुटितम्, तदेतदहमनेन होमेन सन्दधामि । उकारः पादपूरणः । स्वाहा सुहुतमस्तु । अनेन घृतहोमेन घर्मो महावीरः संहितो भवत्वित्यर्थः । घर्मो महावीरः सविता सन् देवानप्येतु देवान् प्रति गच्छतु ।

अध्यात्मपक्षे—चतुस्त्रिंशत्संख्याकाः पूर्वोक्तास्तन्तवो यज्ञविस्तारकाः सोमस्य साम्बशिवस्य सर्वात्मनोंऽशाः स्वरूपभूताः परमेष्ठ्यादयो यज्ञं वितन्वन्ति, ये चेमं स्वधया धारयन्ति, तेषां यत् त्रुटितम्, तदेतदहमनेन मन्त्रेण सन्दधामि । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'ये चतुस्त्रिंशद् अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः, प्रजापतिः, प्रकृतिश्चेति, तन्तवः सूत्रवत् समवेतुं शीला ये वितत्निरे, ये चेमं यज्ञं सौख्यजनकं स्वधयाऽन्नादिना ददन्ते, तेषां छिन्नं द्वैधीकृतं तदेतत् स्वाहा सत्यया क्रियया वाचा वा सन्दधामि । घर्मो यज्ञः, 'घर्म इति यज्ञनामसु' (निघ० ३।१७।१५), देवान् विदुषोऽप्येतु' इति, तदेतदसङ्गतमेव, शतपथोक्तरीत्या चतुस्त्रिंशद्देवानामेव प्रकृते विवक्षितत्वेन वस्वादीनां ग्रहणे मानाभावात् । 'चतुस्त्रिꣳशतमाज्याहुतीर्जुहोति····तत्र प्रजापतिश्चतुस्त्रिꣳशः' (श० १२।६।१।३७) इति श्रुत्या चतुस्त्रिंशत्त्वेन प्रजापतिरुक्तो न प्रकृतिः, प्रकृतेस्तथात्वे मानाभावाच्च, कोऽयं भागस्तेषां पृथक्कृतः ? कथं च सत्यया क्रियया वाचा सन्धीयते ? इत्यस्य वक्तव्यत्वात् । यज्ञश्च कथं विदुषो गच्छतीत्यप्यनिर्वाच्यमेव ॥ ६१ ॥

य॒ज्ञस्य॒ दोहो॒ वित॑तः पुरु॒त्रा सो अ॒ष्टधा॒ दिव॑म॒न्वात॑तान ।
स य॑ज्ञ धुक्ष्व॒ महि॑ मे प्र॒जाया॒ꣳ रा॒यस्पोषं॒ विश्व॒माय॑ुरशीय॒ स्वाहा॑ ॥ ६२ ॥

भाष्यसार—'चतुस्त्रिंशत्तन्तवः' इस ऋचा का विनियोग प्रायश्चित्तात्मक घृतहोम में याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत किया गया है । याज्ञिक विनियोगपरक अर्थ पूर्वतः उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थसंगति इस प्रकार है—चौंतीस संख्यावाले पूर्वोक्त यज्ञविस्तारक साम्ब शिव सर्वात्मा के अंश, स्वरूपभूत परमेष्ठी आदि यज्ञ को सुविस्तृत करते हैं । जो इसको स्वधा के द्वारा धारण करते हैं, उनकी जो त्रुटि है, उसको मैं इस मन्त्र से परिष्कृत करता हूँ ।

स्वामी दयानन्द द्वारा वर्णित अर्थ असंगत है, क्योंकि शतपथ श्रुति के अनुसार यहाँ चौंतीस देवताओं का ही कथन अभीष्ट होने के कारण वसु आदि के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है । उनका कौन-सा अलग किया गया भाग किस प्रकार सत्य वाणी से परिष्कृत किया जाता है ? इस विषय को स्पष्ट रूप से बताया जाना चाहिये था । यज्ञ विद्वानों के प्रति जाता है, यह भी अस्पष्ट ही है ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ में जो आहुतियाँ दी गई हैं, वे नाना प्रकार से विस्तार को प्राप्त होती हुई, आठों दिशाओं में फैलती हुई द्युलोक को व्याप्त कर लेती हैं । वह यज्ञ मुझे संतति और महिमा प्रदान करे । मैं धन, पुष्टि और पूरी आयु को प्राप्त करूँ । यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ६२ ॥

'सोमेज्योपपाते चैकैकां यथाकालꣳ हुत्वा यज्ञस्य दोह इति वाचयति' (का० श्रौ० २५।६।७)। सोमयागे यस्मिन् कस्मिंश्चित् कर्मणि सोमाङ्गे सोमाङ्गाङ्गे वा उपपाते परमेष्ठ्यादिचतुस्त्रिंशदाहुतीनां मध्ये 'अथ यदि पण्यमानः·····' (श० १२।६।१।१०-३६) इत्यादिश्रुत्युक्ते काले एकैकामाहुतिं सकृद्गृहीतेनाज्येन हुत्वा यज्ञस्य दोह इति मन्त्रं वाचयति यजमानः। अयं होमो ब्रह्मकर्तृकः, वाचनं च तत्कर्तृकम्, आज्यसंस्कारोऽपि तेनैव कार्यः। यज्ञदेवत्या त्रिष्टुप्। पूर्वार्धः परोक्षो द्वितीयः प्रत्यक्षः, अतो यत्तद्भ्यां वाक्यपूर्तिः। यस्य तव यज्ञस्य दोह आहुतिपरिणामो विततः प्रसारितः, पुरुत्रा बहुधा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तो भूतग्रामो यज्ञपरिणाम इत्याशयः। य एव दोहो दिग्भेदेनाष्टधा भिद्यमानो दिवं द्युलोकमाततान भूमिमन्तरिक्षं च व्याप्य दिवमाततान व्याप्तवान्, स त्वं हे यज्ञ, मे मम प्रजायां महि महान्तं दोहं धुक्ष्व प्रक्षर देहि। अहं च त्वत्प्रसादाद् रायस्पोषं धनस्य पुष्टिं विश्वं सम्पूर्णमायुश्चाशीय प्राप्नुयाम्।

अध्यात्मपक्षे—यज्ञस्य विष्णोः परमेश्वरस्य क्रियात्मकस्य वा दोहः, विवर्तः परिणामभूतो वा दोहः, पुरुत्रा बहुधा विततः प्रसृतः, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य यज्ञदोहत्वात्। य एवं दोहो दिग्भेदेनाष्टधा भिद्यमानो भूमिं चान्तरिक्षं च व्याप्य दिवमाततान द्युलोकं व्याप्तवान्, स त्वं हे यज्ञ! महान्तं दोहं मे मम प्रजायां पुत्रादिपरम्परायां शिष्यपरम्परायां च धुक्ष्व प्रक्षर देहि।

दयानन्दस्तु—'हे यज्ञसम्पादक विद्वन्, यो यज्ञस्य पुरुत्रा विततोऽष्टधा दोहः सामग्रीप्रपूर्णोऽस्ति, दिवं सूर्यप्रकाशमन्वाततान आच्छाद्य विस्तारयति, स सूर्यप्रकाशः, त्वं तं यज्ञं धुक्ष्व, यो मम प्रजायां विश्वं महि रायस्पोषमायुश्चान्वाततान, तमहं स्वाहाशीय' इति, तदपि तुच्छम्, अस्पष्टत्वात्। तथाहि कोऽयं यज्ञो यो बहुषु पदार्थेषु विततः? के च ते पदार्थाः? अष्टासु दिक्ष्वष्टप्रकाराश्च के दोहाः? कथं च सूर्यप्रकाशमाच्छाद्य किं विस्तारयति? 'सूर्यप्रकाशे यज्ञानुष्ठायिन्, त्वं यज्ञं धुक्ष्व परिपूरय' इति हिन्दीव्याख्यानम्, तदपि निःसारं पदार्थभाष्यासंस्पर्शि च। सूर्यप्रकाश इति पदकृत्यमिति तु नोक्तम् ॥ ६२ ॥

आप॑वस्व॒ हिर॑ण्यव॒दश्व॑वत् सोम वी॒रव॑त्। वाजं॒ गोम॑न्त॒माभ॑र॒ स्वाहा॑ ॥ ६३ ॥

इति माध्यन्दिनसंहितायामष्टमोऽध्यायः ॥

भाष्यसार—'यज्ञस्य दोहः' इस मन्त्र का वाचन में विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।६।७) द्वारा किया गया है। याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—यज्ञस्वरूप परमेश्वर अथवा क्रियात्मक विष्णु का विवर्त रूप अथवा परिणामभूत दोह बहुधा विस्तृत है, क्योंकि ब्रह्मा से प्रारम्भ करके तृण पर्यन्त समस्त प्रपंच यज्ञदोह ही है। इस प्रकार यह दोह दिशाओं के भेद से आठ प्रकारों में विभक्त होते हुए भूमि तथा अन्तरिक्ष को व्याप्त करके द्युलोक में भी व्याप्त है। इस प्रकार के हे यज्ञ! आप इस महान् दोह को मेरी पुत्रादि-परम्परा में तथा शिष्य-परम्परा में प्रवाहित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अस्पष्ट होने के कारण अग्राह्य है। वह कौन-सा यज्ञ है, जो बहुत पदार्थों में विस्तृत है? वे पदार्थ क्या हैं? आठों दिशाओं में आठ प्रकार के दोह कैसे हैं? किस प्रकार सूर्य के प्रकाश को आच्छादित करके यज्ञ किसका विस्तार करता है? इत्यादि सारे प्रश्नों का उत्तर अपेक्षित है। हिन्दी-भाष्य भी सारहीन तथा पदार्थ-भाष्य से असम्बद्ध है ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम यहाँ आकर इस यूप (स्तम्भ) को पवित्र करो। तुम सुवर्णयुक्त, अश्वयुक्त और वीरयुक्त होकर धेनुयुक्त अन्न हमें सब तरह से प्रदान करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ६३ ॥

'आपवस्व हिरण्यवदित्युद्गातृहोमो ध्वाङ्क्षारोहणे यूपस्य' (का० श्रौ० २५।६।९)। सोमे च यूपस्य काकारोहणे उद्गात्रा होमः कर्तव्यः। पश्वादौ तु ब्रह्मकर्तृको होमः। हे सोम ! आपवस्व प्रक्षर, हिरण्यवद् हिरण्यसंयुक्तम्, वीरवद् वीरैः संयुक्तम्, क्रियाविशेषणान्येतानि पदानि, वाजमन्नं गोमन्तं गोभिः संयुक्तम् आभर अकृपणं यथा स्यात्तथा आहर। स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम ! साम्बशिव, त्वं मह्यमापवस्व प्रदेहि। किं प्रदेहीत्याकाङ्क्षायामाह—वाजमन्नं लौकिकज्ञानविज्ञानलक्षणं वा। कीदृशं तत् ? गोमन्तम्, गौर्वेदवाणी प्रमाणं यस्मिन् तादृशम्, हिरण्यवद् ज्योतिर्मयम्, अश्ववत् तद्वद् बलिष्ठं संशयविपर्ययानाक्रान्तम्। तस्मै तुभ्यं स्वाहा स्वसर्वस्वमहं समर्पयामि।

दयानन्दस्तु—'हे सोम, ऐश्वर्यं कामयमान गृहिन् ! त्वं सत्यया वाचा स्वर्णाश्ववीरतुल्यमुत्तमेन्द्रिय-सम्बन्धिनमन्नमयं यज्ञमाश्रय। तेन संसारं सम्यक् पवस्व पवित्रं कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशान्नमय-यज्ञस्य विधानादर्शनात्। तस्मिन् स्वर्णतुल्यता कथम् ? कथं चाश्वतुल्यता ? वीरतुल्यता च कथमुपपद्यते ? कथं चेन्द्रियसम्बन्धः ? विशेषणस्य प्रयोजनं च वक्तव्यम्, इन्द्रियसम्बन्धमन्तरा कस्यापि यज्ञस्यानिष्पत्तेः॥ ६३॥

इति माध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्येऽष्टमोऽध्यायः॥

भाष्यसार—'आपवस्व' इस मन्त्र से सोमयाग में यूप पर काक का आरोहण होने पर उद्गाता के द्वारा हवन किया जाता है। पश्वादियाग में यह हवन ब्रह्मा द्वारा करणीय है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (२५।६।९) में प्रतिपादित है। याज्ञिक पक्षीय मन्त्रार्थ भी आचार्यों के द्वारा किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना यह है—हे साम्ब शिव, आप मुझे वेदवाणी से प्रमाणित, ज्योतिर्मय, बलिष्ठ, संशय-विपर्यय से रहित अन्न, अर्थात् लौकिक ज्ञान-विज्ञान प्रदान करें। आपके लिये मैं सर्वस्व समर्पित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में इस प्रकार के अन्नमय यज्ञ का विधान दृष्टिगोचर न होने के कारण असंगति है। उसमें स्वर्णतुल्यता, अश्वतुल्यता तथा वीरतुल्यता कैसे संगत होती है ? इन्द्रय-सम्बन्ध भी किस प्रकार उपपन्न होगा ? विशेषण का कारण भी निर्दिष्ट करना चाहिये, क्योंकि इन्द्रिय-सम्बन्ध के अभाव में किसी भी यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता॥ ६३॥

अथ नवमोऽध्यायः

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा ॥ १ ॥

नवमेऽध्याये वाजपेयमन्त्रा उच्यन्ते चतुस्त्रिंशत्कण्डिकापर्यन्तम्। तेन बृहस्पतीन्द्रावृषी। 'देव सवितरिति जुहोति यजत्यादिषु' (का० श्रौ० १४।१।११)। वाजपेयाङ्गभूतानां दीक्षणीयाप्रायणीयातिथ्यादीनामादिषु यजत्यादिषु कर्मणः पुरस्तात् सकृद्गृहीतमाज्यं जुहुयात्। वाजपेयकर्म प्रारभमाणः प्रथममनेन मन्त्रेण सकृद्-गृहीतमाज्यं गृह्णीयादित्यर्थः। हे सवितः! देव सर्वस्य प्रेरकान्तर्यामिन् दीव्यमान! यज्ञं वाजपेयलक्षणं प्रसुव प्रवर्तय। इमं यजमानं भगाय भजनीयायानुष्ठानरूपायैश्वर्याय, भजनीयाय यज्ञफलाय वा प्रसुव प्रेरय। अथ मण्डलमाह—त्वत्प्रसादान्मण्डलरूप आदित्यो दिव्यो दिवि भवो गन्धर्वो गवां रश्मीनां धारयिता, केतपूरन्नस्य पालयिता, केतशब्दस्यान्नपरत्वात्। सूर्यमण्डलवर्ती देवो नोऽस्माकं केतमन्नं पुनातु शोधयतु। यद्वा केतान् प्राणिनां विज्ञानानि पुनातु शोधयतु। वाचस्पतिः प्रजापतिरपि त्वत्प्रसादादस्मान् दिने दिने नोऽस्मदीयं वाजमन्नं हविर्लक्षणं स्वदतु आस्वादयतु, स्वाहा सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। सम्राड् वाजपेयेनावरᳬ हि राज्यं परᳬ साम्राज्यं कामयेत वै राजा सम्राड् भवितुं....' (श० ५।१।१।१३), 'कर्मणः पुरस्तादेताᳬ सावित्रीमाहुतिं जुहोति' (श० ५।१।१।१४), 'देव सवितः.... स्वदतु स्वाहेति प्रजापतिर्वै वाचस्पतिरन्नं वाजं प्रजापतिर्न इदमद्यान्नᳬ स्वदत्वित्येवैतदाह स एतामेवाहुतिं जुहोत्या श्वः सुत्याया एतद्ध्यस्यै तत्कर्मारब्धं भवति प्रसन्न एतं यज्ञं भवति' (श० ५।१।१।१६)। मन्त्रस्य कानिचित् पदानि व्याख्यातानि। सावित्रहोमस्य संकुचद्वृत्तितां दर्शयति—आ श्वः सुत्यायाः श्वः सुत्यायाः सुत्यादिनात् पूर्वम्।

मन्त्रार्थ—हे दीप्यमान सबके प्रेरक परमात्मन्! वाजपेय यज्ञ को प्रवृत्त करो, यजमान को अनुष्ठान रूप ऐश्वर्य के निमित्त प्रेरित करो। दीप्यमान अन्न को पवित्र करने वाली रश्मियों को धारण करने वाले सूर्यमण्डल में वर्तमान नारायण हमारे अन्न को पवित्र करें। वाक्य के अधिपति प्रजापति हमारे हविरूप अन्न का आस्वादन करें। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १ ॥

भाष्यसार—नवम अध्याय में चौंतीसवीं कण्डिका तक वाजपेय याग के मन्त्र निरूपित हैं। बृहस्पति तथा इन्द्र इनके ऋषि हैं।

कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।१।११) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार वाजपेय याग के अंगभूत दीक्षणीया, प्रायणीया, आतिथ्या आदि इष्टियों के प्रसंग में 'देव सवितः' इस मन्त्र से घृत का हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे—हे देव जगदुत्पत्त्यादिक्रीडापरायण ! सवितः सर्वप्रेरक परमेश्वर ! प्रसुव प्रेरय प्रवर्तय यज्ञं वाजपेयाख्यमुपासनज्ञानादिलक्षणं वा। प्रसुव यज्ञपतिं यजमानमुपासकं वा। किमर्थम् ? भगाय भजनीयाय कर्मफलाय निरावरणब्रह्मरूपाय मोक्षाय, दिव्यो दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशे चिदात्मके ब्रह्मणि भवो दिव्यः सविशेषः परमात्मा, गन्धर्वो गवां वेदलक्षणानां वाचां धारकः। केतपूः केतमन्नं ज्ञानं वा पुनाति शोधयतीति केतपूः, नः केतं ज्ञानं पुनातु शोधयतु संशयविपर्ययादिशून्यं करोतु। वाचस्पतिः प्रजापतिः, नोऽस्माकमन्नं निवेदितं नैवेद्यं स्वदतु आस्वादयतु।

दयानन्दस्तु—'देव दिव्यगुणसम्पन्न, सवितः सकलैश्वर्यसंयुक्त सम्राट् ! त्वं भगाय समग्रैश्वर्याय स्वाहा वेदवाचा यज्ञं सर्वसुखदं राजधर्मं प्रसुव प्रचारय। यज्ञपती राजधर्मरक्षकं पुरुषं प्रसुव प्रेरय, येन दिव्यः प्रकाशमानो दिव्यगुणेषु स्थितः, गन्धर्वः पृथिव्या धारकः, केतपूः बुद्धिशोधको वाचस्पतिः पठनपाठनोपदेशादिभिर्विद्यारक्षकः सभापतीः राजपुरुषोऽस्ति, सोऽस्माकं बुद्धिं पुनातु, नोऽस्माकं वाजमन्नं स्वाहा सत्यवाचा स्वदतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, क्लिष्टकल्पनाबाहुल्यात्। यज्ञपदस्य राजधर्मोऽर्थः, यज्ञपतिशब्दस्य राजधर्मपालकपुरुषोऽर्थ इत्यत्र मानाभावात्, यज्ञयज्ञपतिशब्दयोस्तत्रागृहीतशक्तिकत्वात्। एवं दूषणान्तरमप्यूह्यम्॥ १॥

ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनःसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्॥ अप्सुषदं त्वा घृतसदं व्योमसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्॥ पृथिवीसदं त्वाऽन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्॥ २॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है हे जगत् की उत्पत्ति आदि क्रीडाओं के कर्ता, सबके प्रेरक परमेश्वर ! आप सेवनीय कर्मफल के लिये, आवरण से रहित ब्रह्मस्वरूप मोक्ष के लिये, उपासना, ज्ञान आदि के रूप में यज्ञ को प्रवर्तित कीजिये तथा यजमान, उपासक को भी प्रेरित कीजिये। द्योतनात्मक स्वप्रकाश चिदात्मक ब्रह्म में स्थित सविशेष परमात्मा, वेदवाणियों के धारणकर्ता, अन्न अथवा ज्ञान को शुद्ध करने वाले आप हमारे ज्ञान को संशय, विपर्यय आदि से रहित कर शुद्ध करें। प्रजापति हमारे निवेदित नैवेद्य का आस्वादन करें।

स्वामी दयानन्द का अर्थ क्लिष्ट कल्पनाओं की अधिकता के कारण ग्राह्य नहीं है। यज्ञ शब्द का 'राजधर्म' अर्थ है तथा यज्ञपति शब्द का अर्थ राजधर्मपालक पुरुष है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि यज्ञ तथा यज्ञपति शब्दों की इस प्रकार के अर्थ के ग्रहण की शक्ति नहीं है। इसी प्रकार अन्य दोष भी समझने चाहिये॥ १॥

मन्त्रार्थ—हे प्रथम ग्रह ! तुम इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त उपयाम पात्र में गृहीत हो। इस स्थिर लोक में स्थित मनुष्यों के मन में स्थित तुमको इन्द्र देवता की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र देवता को तुम अत्यन्त प्रिय हो, तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। हे द्वितीय ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। जल में, घृत में और आकाश में स्थित इन्द्र देवता के प्रीतिपात्र तुमको ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र देवता की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। हे तृतीय ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में स्थित देवताओं के दुःखरहित स्थान में तुमको इन्द्र की प्रीति के लिये ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ॥ २॥

'प्रातःसवनेऽतिग्राह्यान् गृहीत्वा षोडशिनं पञ्च चैन्द्रान्, ध्रुवसदमिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १४।२।१)। प्रातःसवने आग्रयणग्रहणानन्तरं त्रीनप्यतिग्राह्यान् क्रमेण पूर्ववद् गृहीत्वा पूर्ववत् षोडशिनं गृह्णीयात्। पञ्चसंख्यान् इन्द्रदेवत्यान् ग्रहान् ध्रुवसदमिति पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं गृह्णीयात्। त्रीणि यजूंषि इन्द्रदेवत्यानि। पञ्च वाजपेयिका ग्रहा गृह्यन्ते। हे सोम, त्वमुपयामयतीत्युपयामो ग्रहस्तेन गृहीतोऽसि। इन्द्राय जुष्टं प्रियं त्वां गृह्णामि। कीदृशं त्वाम्? ध्रुवसदं ध्रुवे स्थिरे ग्रहे ध्रुवे स्थिरे मूले सीदतीति ध्रुवसदम्। सोमाहुतिपरिणामभूतो रस एषु लोकेष्वावर्तमान इह गृह्यते सोमाध्यस्तः। नृषदं नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषदम्, मनसि सीदतीति मनःसदमिति। हे ग्रह, एष खप्रदेशस्ते स्थानम्। इन्द्राय जुष्टतमं प्रियतमं त्वां सादयामीति शेषः। अथ द्वितीयम्—अप्सुषदमुदकसदम्, घृते सीदतीति घृतसदम्, व्योम्नि सीदतीति व्योमसदं त्वां गृह्णामि। अथ तृतीयम्—पृथिव्यां सीदतीति पृथिवीसदम्, अन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसदम्, नाकसदं कं सुखम्, न कम् अकं दुःखम्, न अकं यस्मिन् तन्नाकं सततसुखान्वितः स्वर्गविशेषः, तस्मिन् सीदतीति नाकसदम्, त्वां गृह्णामीत्यादिकं पूर्ववत्। एतद् इति सादनम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पृष्ठ्यान् गृह्णाति। तद्यदेवैतैर्देवा उदजयंस्तदेवैष एतैरुज्जयति' (श० ५।१।२।२)। पृष्ठ्यान् अतिग्राह्यान्। ते हि पृष्ठस्तोत्रसम्बन्धात् पृष्ठ्या उच्यन्ते। 'अथ षोडशिनं गृह्णाति। तद्यदेवैतेनेन्द्र उदजयत्तदेवैष एतेनोज्जयति' (श० ५।१।२।३), 'अथैतान् पञ्च वाजपेयग्रहान् गृह्णाति। ध्रुवसदं त्वा⋯ जुष्टतममिति सादयत्येषां वै लोकानामयमेव ध्रुव इयं पृथिवीममेवैतेन लोकमुज्जयति' (श० ५।१।२।४)। ध्रुवे स्थिरे भूलोके सीदन्तं नृषु नेतृषु सीदन्तं मनःसदं मनसि वर्तमानं त्वां ग्रहम् इन्द्राय जुष्टम् अभिरुचितं गृह्णामि। त्वमुपयामगृहीतोऽसि पृथिव्यात्मकेन पात्रेण गृहीतोऽसि, 'इयं वा उपयामः' (श० ४।१।२।७) इति श्रुतेः। ध्रुवपदं व्याचष्टे—एषां वै लोकानामिति। एषां लोकानामयं दृश्यमानो लोकोः ध्रुवः। इदंशब्दस्यार्थमाह—इयं वै पृथिवीति। 'अप्सुसदं त्वा। घृतसदं⋯जुष्टतममिति सादयत्येषां वै लोकानामयमेव व्योमेदमन्तरिक्षमन्तरिक्षलोकमेवैतेनोज्जयति' (श० ५।१।२।५), 'पृथिवीसदं⋯' (श० ५।१।२।६)। विशेषेण ओम् अवनं व्याप्तिर्यस्य तद् व्योम।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, निवेदनीयद्रव्य! त्वमुपयामगृहीतोऽसि यमसमीपस्थया श्रद्धया गृहीतोऽसि। इन्द्राय परमेश्वराय तं प्रीणयितुं त्वां गृह्णामि। कीदृशं त्वाम्? ध्रुवसदं ध्रुवाख्यपात्रस्थितम्। पुनः कीदृशम्? नृषदं नृषु सीदन्तं त्वां मनःसदम्। एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थितिस्थानम्। इन्द्राय त्वां प्रियतमं सादयामि। हे सोम, त्वमुपयामगृहीतोऽसि। इन्द्राय त्वां जुष्टमभिरुचितं गृह्णामि। कथंभूतं त्वाम्? घृतसदं घृत उदके सीदतीति घृतसदस्तम्। व्योमसदं व्योम्नि सीदतीति व्योमसदस्तम्। इन्द्राय त्वां जुष्टमभिरुचितं गृह्णामि। शेषं पूर्ववत्। पृथिवीसदमन्तरिक्षसदं दिविसदं देवसदं नाकसदं त्वां गृह्णामि। एष ते योनिः, इन्द्राय त्वां सादयामि। 'चित्पात्रे सद्धविःसौख्यं विविधानेकभक्षणम्। निवेदयामि ते देवि सानुगायै जुषाण तत्॥' इति

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।२।१) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'ध्रुवसदं त्वा' इत्यादि कण्डिका के मन्त्रों से प्रातःसवन में ग्रहों का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक-प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे निवेदनीय द्रव्य सोम, तुम अत्यन्त श्रद्धा से ग्रहण किये गये हो। परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। तुम ध्रुव पात्र में स्थित, मानवों में निवास करने वाले तथा मन में अवस्थित हो। यह उपासनास्थल तुम्हारा निवासस्थान है। परमेश्वर के अत्यन्त प्रिय तथा रुचिकर, तुमको ग्रहण करता

रीत्या सत्सौख्यमेव हविः। तच्च चित्सौख्यरूपत्वात् सर्वव्यापकम्। ध्रुवसदादि विशेषणं भवति। तत एवान्तरिक्षसदं व्योमसदं वाक्सदं त्वां सर्वात्मरूपमहं गृह्णामि परमेश्वराय तस्मा एव त्वामासादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे सम्राट्, अहमिन्द्राय परमात्मने यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि योगविद्याप्रसिद्धयमसेविभिर्गृहीतोऽसि, तं ध्रुवसदं निश्चलविद्याविनययोर्धर्मेषु स्थितं नृषदं नेतृष्ववस्थितं त्वां मनःसदं विज्ञाने स्थितं जुष्टं प्रीतियुतं त्वां गृह्णामि। यस्य ते तव एष योनिः सुखनिमित्तमस्ति, तं जुष्टतममत्यन्तसेवनीयं त्वामिन्द्राय राज्यैश्वर्ययोः प्राप्त्यै गृह्णामि धारयामि। हे राजन्नहम् इन्द्राय ऐश्वर्यधारणाय यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि प्रजाराजपुरुषाभ्यां गृहीतोऽसि, तमप्सुसदं जलमध्ये चलन्तं घृतसदं घृतादिपदार्थान् प्राप्नुवन्तं व्योमसदं विमानादिभिराकाशे चलन्तं जुष्टं सर्वप्रियं त्वां गृह्णामि। हे सर्वरक्षक सभाध्यक्ष, यस्य ते एष योनिः सुखदायकं गृहमस्ति, तमतिप्रसन्नं त्वामिन्द्राय दुष्टशत्रुदमनाय गृह्णामि। हे सार्वभौम, अहं यस्त्वमिन्द्राय विद्यायोगमोक्षैश्वर्यादिप्राप्तये यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि साधनोपसाधनादिभिर्युक्तोऽसि, तं पृथिवीसदं पृथिव्यां भ्रमणशीलम् अन्तरिक्षे चलन्तं दिविसदं न्यायप्रकाशे नियुक्तं देवसदं धार्मिकेषु विद्वत्सु स्थितम्, नाकसदं सर्वदुःखरहिते परमेश्वरे धर्मे च स्थिरं जुष्टं सेवनीयं त्वां गृह्णामि। हे सर्वसुखप्रद राजपुरुष प्रजापते! यस्य ते एष योनिर्वसतिः, तं त्वामतिप्रियमिन्द्राय सर्वैश्वर्यसुखप्राप्तये गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्यैतस्यार्थस्य लौकिकत्वेन शास्त्रविषयत्वायोगात्, सम्राडादीनां सम्बोधने मानाभावाच्च। इन्द्रादिपदानामपि यथेष्टविभिन्नार्थकरणं निर्मूलम्। दिवीत्यस्य प्रकाशार्थत्वे सत्यपि न्यायप्रकाशत्वं त्वदभ्यूहितमेव ॥ २ ॥

अपाꣳ रसमुद्वयसꣳ सूर्ये सन्तꣳ समाहितम्। अपाꣳ रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थम्। रसदेवत्याऽनुष्टुप्। हे तुरीयग्रह, सूर्ये समाहितं समारोपितं स्थापितं सन्तमुदकानां रसं सारं वायुमहं गृह्णामि, 'एष वा अपाꣳ रसो योऽयं पवते' (श० ५।१।२।७) इति श्रुतेः। कीदृशम्? उद्वयसम्, उद्गतं वयोऽन्नं यस्मात् स वायुरुद्वयास्तम्, वायुनैव धान्यानां निष्पत्तेः। अपां रसस्य वायोर्यो रसः सारः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः, स हि यज्ञो लोक-कालाग्नि-वायु-सूर्यर्ग्यजुःसामादिवपुः। हे देवाः, वो युष्मभ्यं तं प्रजापतिग्रहं गृह्णामि। कीदृशम्? उत्तमम्, उत्कृष्टतमम्। वःशब्दोऽनर्थको वा। सोमरूपेण वायुं तदभिमानिनं

हूँ। उदय में स्थित, आकाश में स्थित, पृथिवी में स्थित, अन्तरिक्ष में स्थित, द्युलोक में स्थित, देवों में स्थित तथा स्वर्ग में स्थित तुमको ग्रहण करता हूँ, अर्थात् सर्वात्मरूप चित्सौख्यस्वरूप तुम्हारा ग्रहण परमेश्वर के लिये करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ संगत नहीं है। यह सम्पूर्ण अर्थ लौकिक होने के कारण शास्त्रविषयकत्व से रहित है और सम्राट् आदि सम्बोधन में कोई प्रमाण भी नहीं है। इन्द्र आदि पदों का स्वेच्छानुसार विविध अर्थ करना भी मूलरहित है। 'दिवि' इस पद के प्रकाशार्थक होने पर भी 'न्यायप्रकाश' यह अर्थ करना स्वेच्छाचारिता ही है ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ – **हे चतुर्थ ग्रह! सूर्य में समाहित समस्त अन्न के उत्पादक जल का जो सार है, हे देवताओं! उस श्रेष्ठ उत्कृष्ट प्रजापति का मैं ग्रहण करता हूँ। हे चतुर्थ ग्रह! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। तुम इन्द्र देवता के प्रीतिपात्र हो। यह तुम्हारा स्थान है। इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३ ॥**

भाष्यसार – चतुर्थ ग्रहपात्र में सोमग्रहण आदि कर्म में 'अपां रसम्' इस कण्डिका का विनियोग याज्ञिक प्रक्रियानु-

प्रजापतिं च गृह्णामि। उपयामेत्यादि पूर्ववत्। हे तुरीयग्रह, अपां रसस्योदकस्य सारभूते सोमवल्लीरूपेण परिणते यो रसोऽस्ति, तस्यापि रसस्य यो रसः सारः, दशापवित्रात् पवमानः स्रवति, तं तादृशमुत्तममुत्कृष्टतमं स्वरसं वो युष्मदर्थं गृह्णामि। व इति प्रजार्थं बहुवचनम्। यद्वा वो युष्माकमपां सम्बन्धिनम् उद्वयसमुद्गच्छन्तम्, 'वी गति-व्याप्ति-प्रजन-कान्त्यसन-खादनेषु'। यद्वा उद्गतं वयोऽन्नमपां सारं यस्मात्, 'वय इत्यन्ननाम' (निघ० २।७।३), उद्गतमन्नं जीवनं वा यस्मिन्। सोमरसोऽन्नभूतो जीवनहेतुश्च, 'अपाम सोमममृता अभूम' (ऋ० सं० ८।४८।३) इति मन्त्रवर्णात्। सूर्ये सन्तं सम्यगाहितमिन्द्राय जुष्टं गृह्णामि, उदकादिरूपस्य रसस्यादित्येऽवस्थानात्।

अत्र ब्राह्मणम् 'अपाᳬ रसस्य''''जुष्टतममिति सादयत्येष वा अपाᳬ रसो योऽयं पवते स एष सूर्ये समाहितः सूर्यात् पवत एतमेवैतेन रसमुज्जयति' (श० ५।१।२।७)। मन्त्रं व्याचष्टे—एष वा अपां रसः, योऽयं पवते दशापवित्रात् स्रवति, सोऽपां रस एव सूर्ये समाहितः सम्यगवस्थितः। स एष खलु सोमरस उदकात्मना पूर्वं सूर्ये समाहितः सम्यगवस्थितः, इदानीं सूर्यात् सूर्यात्मकाद् दशापवित्रात् पवते स्रवति।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम निवेदनीय द्रव्य! इन्द्राय परमात्मने जुष्टमभिरुचितं त्वां गृह्णामि। कीदृशम्? अपां रसम् अपां लोकानां रससारभूतम्, 'आपो वै लोकाः' इति श्रुतेः। उद्वयसम् उत्कृष्टं वयो जीवनं यस्माद् यस्मिन् वा, वायुं बलरूपं वा, सूर्ये समाहितं सम्यगाहितम्। सर्वासाम् अपां रसो वायुस्तस्यापि रसः प्रजापतिस्त-मुत्तममुत्कृष्टतमम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्नहमिन्द्राय ऐश्वर्यप्राप्तये वो युष्मभ्यं सूर्ये सवितृप्रकाशे सन्तं समाहितं सम्यक् सर्वतो धृतमुद्वयसमुत्कृष्टं वयो जीवनं यस्मात् तमपां रसं सारं गृह्णामि। योऽपां जलानां रसस्य सारस्य रसो वीर्यं धातुः, तमुत्तमं श्रेयांसं वो युष्मभ्यं गृह्णामि। यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि साधनोपसाधनैः स्वीकृतोऽसि, तमिन्द्राय जुष्टतमं त्वां गृह्णामि' इति, तदपि विसङ्गतमेव, इन्द्रायेति पदयोः समानत्वेऽपि कथमेकत्रैश्वर्यप्राप्तिरर्थः, अन्यत्र परमेश्वरप्राप्तिरर्थ इत्यत्र विनिगमनाविरहात्, सूर्यप्रकाशे वर्तमानमिति विशेषणस्य कृत्याभावाच्च। वीर्यस्य कथमपां रसत्वम्? तस्य च राज्ञे किमर्थं धारणम्? ॥ ३ ॥

सार किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे निवेदनीय द्रव्य, परमात्मा के लिये अत्यन्त प्रिय तुमको मैं ग्रहण करता हूँ। लोकों के रससारभूत उत्कृष्ट जीवन के साधक अथवा उत्कृष्ट जीवन में अवस्थित, बलरूप, सूर्य में सम्यक् स्थित तुम्हारा ग्रहण करता हूँ, इत्यादि। अवशिष्ट अर्थ पूर्व मन्त्र में निरूपित है।

स्वामी दयानन्द ने—'हे राजन्, मैं ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये सूर्य के प्रकाश में समाहित जल के सार का ग्रहण करता हूँ' इस प्रकार अर्थ किया है, यह विसंगत ही है, क्योंकि मन्त्र में दो स्थानों पर 'इन्द्राय' पद समान रूप से पठित है। फिर भी एक जगह ऐश्वर्य-प्राप्ति अर्थ किया गया है और दूसरे स्थान पर परमेश्वर-प्राप्ति अर्थ है। इस प्रकार परस्पर भेद है। 'सूर्यप्रकाश में वर्तमान' इस विशेषण का भी कोई प्रयोजन नहीं है। वीर्य किस प्रकार जल के सार का रस है? यह भी अस्पष्ट है। राजा के लिये उसका धारण क्यों किया जाता है?

अध्यात्मपक्ष के अनुसार प्रतिपादित अर्थ शतपथश्रुति आदि से सम्मत है ॥ ३ ॥

ग्र॒हा॑ ऊर्जाहुतयो॒ व्यन्तो॒ विप्रा॑य म॒तिम् । तेषां॒ विशि॑प्रियाणां॒ वो॒ऽहमिष॒मूर्ज॒ꣳ सम॑ग्रभ-मुपया॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा॒ जुष्टं॒ गृह्णा॒म्येष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा॒ जुष्ट॑तमम् । सम्पृ॒चौ॑ स्थ॒: सं मा॑ भ॒द्रेण॑ पृङ्क्तं॒ विपृ॒चौ॑ स्थो॒ वि मा॑ पा॒प्मना॑ पृङ्क्तम् ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमम् । ग्रहदेवत्याऽनुष्टुप् । हे ग्रहाः, गृह्यन्त इति ग्रहाः सोमाः, तेषां वो युष्माकं सम्बन्धिनमूर्जं रसं चाहं समग्रभं समग्रहं सम्यग् गृह्णामि । कीदृशानाम् ? विशिप्रियाणां शिप्रियोर्हन्वोः कर्म चलनरूपं शिप्रियं हनूचलनम्, विगतं शिप्रियं येषु तेषां ग्रहाणां ग्रहरसानाम्, 'शिप्रे हनू नासिके वा' (निरु० ६।१७), प्रकृते तु हनू, सम्यगभिषुताः सुपूताश्च ग्रहाः सुपेयत्वाद् हन्वोर्व्यापारानपेक्षणात् विशिप्रिया उच्यन्ते । तेषां केषाम् ? ये यूयम् ऊर्जाहुतय ऊर्जमन्नरसमाह्वयन्ति ये यैर्वा ते ऊर्जाहुतयः । तथा विप्राय मेधाविन इन्द्राय मतिं विशिष्टबुद्धिं व्यन्तो जानन्तो गमयन्तो वा । वीत्यस्य गतिकर्मणो रूपम् । उपयाम एष ते इति व्याख्याते । 'उपर्युपर्यक्षमध्वर्यु-र्धारयत्यधोऽधो नेष्टा सम्पृचाविति' (का० श्रौ० १४।२।६) । अध्वर्युः सोमग्रहं गृहीत्वा अक्षस्योपरिष्टात् समीप एव तं धारयेत्, नेष्टा च सुराग्रहं गृहीत्वा अक्षस्याधस्तात् समीप एव तं धारयेत् । सहैव धारणं मन्त्रपाठश्च । हे सोमसुराग्रहौ, यौ युवां सम्पृचौ सम्पृक्तौ स्थो भवथः, तौ युवां मा मां भद्रेण भन्दनीयेन कल्याणेन सम्पृक्तं संसृजतम् । 'विपृचावित्याहरते' (का० श्रौ० १४।२।७) । ततोऽध्वर्युनेष्टारौ स्वं स्वं ग्रहं खरे सादनाय आहरेतां स्वसमीपमानयतः । हे ग्रहौ, यतो युवां विपृचौ स्थः, ततो मां पाप्मना विपृक्तं वियोजयतम् ।

यद्वा—हे ग्रहाः, गृह्यन्त इति ग्रहाः सोमाः, ऊर्जाहुतय ऊर्जमन्नं सवनीयं पुरोडाशमभिलक्ष्य हूयमानाः ! यद्वा –अन्नाहुतिभूता यूयं विप्राय मेधाविने स्वापेक्षितफलपूरकाय वा यजमानाय मतिं विवक्षितां बुद्धिं व्यन्तः पश्यन्तोऽनुजानन्तः, भवतेति शेषः । विशिप्रियाणां शोभनाभिषवसंस्कारत्वेन हनुव्यापारानपेक्षणात् सोमात्मका ग्रहा विशिप्रियाः, यद्वा—विविधानि शिप्रियाणि हनूस्थानीयानि पात्राग्राणि, तत्पर्यन्तं तेषां वो युष्माकमिष-मन्नमूर्जं बलप्रदं सोमरसं समग्रभं समग्रहं संगृह्णामि । 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ३।१।८४, वा०) इति हस्य भः । शेषं पूर्ववत् । इति सायणाभिप्रायानुसारि व्याख्यानम् । पूर्वं तूव्वटमहीधरानुसारि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ग्रहा ऊर्जाहुतयः ।''''इन्द्राय त्वा जुष्टतममिति सादयत्यूर्ग्वै रसः' (श० ५।१।२।८) । ऊर्क्पदसूचितमर्थमाह—ऊर्ग्वै रस इति ।

मन्त्रार्थ—हे सम्पूर्ण ग्रहों ! अन्न रस का आह्वान करने वाले तुम लोग बुद्धिमान् यजमान को विशिष्ट बुद्धि को प्राप्त कराने वाले हो । यजमानों के प्रिय अन्नरस को तुम्हारी प्रीति के लिये भली प्रकार ग्रहण करता हूँ । हे पंचम ग्रह ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ । हे पंचम ग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है । तुम इन्द्र देवता के अत्यन्त प्रिय हो, अतः तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ । हे सोम और सुरा के ग्रहों ! तुम दोनों मिले हुए हो । तुम दोनों मुझे कल्याण से संयुक्त करो । हे सोम और सुराग्रहों ! तुम दोनों वियुक्त हो, अतः मुझे पापाचरण से पृथक् करो ॥ ४ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।२।६-७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'ग्रहा ऊर्जाहुतयः' इस कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग सोमरस के ग्रहण, सोम एवं सुराग्रहों का अक्ष के समीप स्थापन तथा अध्वर्यु और नेष्टा ऋत्विजों के द्वारा अपने अपने ग्रहपात्रों का समीप में आनयन आदि कर्मों में किया गया है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्षे—हे ग्रहा ग्रहगतसोमरसाः ! ऊर्जमन्नरसमाह्वयन्ति ये ते यूयं विप्राय मेधाविने सर्वज्ञाय इन्द्राय परमेश्वराय मतिं विशिष्टां बुद्धिं व्यन्तो जानन्तो गमयन्तो वा विशिप्रियाः सम्यगभिषुताः सुपूताश्च हनुव्यापारानपेक्षा भवत। हे नरनारायणौ, यौ युवां सम्पृचौ स्थः सम्पृक्तौ भवथः, तौ युवां मा मां भन्दनीयेन कल्याणेन सम्पृक्तं संयोजयतम्। हे कृष्णार्जुनौ, युवां पाप्मना विपृचौ वियुक्तौ स्थः, मामपि पाप्मना वियोजयतम्।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजाराजपुरुष ! यथाहं विप्राय मेधाविने मतिं ददामि, तथा त्वमपि कुरु। ये व्यन्तो वेदविद्यासु व्याप्नुवन्तः, ऊर्जाहुतयो ऊर्जा बलप्राणनकारिका आहुतयो ग्रहणानि दानानि वा येषां ते ग्रहा ग्रहीतारो गृहाश्रमिणः सन्ति, यथा तेषां विशिप्रियाणां विविधे धर्मे कर्मणि हनुनासिके येषां तेषां मतिमिषमूर्जं च बुद्धिमन्नं पराक्रमं च समग्रभं गृहीतवानस्मि, तथा त्वमपि गृहाण। हे विद्वन्, यथा त्वमुपयामगृहीतोऽसि राज्यगृहाश्रमसामग्रीसम्पन्नोऽसि, तथाऽहमपि भवेयम्। यथाऽहमिन्द्रायोत्तमैश्वर्याय जुष्टं प्रसन्नं त्वां गृह्णामि, तथा त्वमपि मां गृहाण। यस्यैष ते योनिरस्ति सुखनिमित्तं गृहमस्ति, तमिन्द्राय जुष्टतमं शत्रुनाशायातिप्रसन्नं त्वामहं यथा गृह्णामि, तथा त्वमपि मां गृहाण। यथा स च त्वं च युवां धर्म्ये व्यवहारे सम्पृचौ स्थस्तथा भद्रेण सेवनयोग्येन सुखदायकैश्वर्येण मा मां सम्पृक्तं संयोजयतम्। यथा युवां विपृचौ स्थोऽधर्मिपुरुषेभ्यो वियुक्तौ स्थः, तथानेन मामपि विपृक्तं तेभ्यो वियोजयतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजप्रजापुरुषस्य सम्बोध्यत्वे मानाभावात्। यथाहं करोमि तथा त्वमपि कुरु—इति कथं कश्चिद् गृहस्थः प्रजाराजपुरुषं प्रति वक्तुं शक्नोति। व्यन्त इत्यस्य सर्वविद्यासु व्याप्नुवन्तः' इति कथमर्थः ? तेषां विशिप्रियत्वं कथम् ? 'तेषां धर्मयुक्तकर्मसु मुखनासिकावतां बुद्धिमन्नं पराक्रमं च युष्मभ्यं गृहीतवानस्मि' इति हिन्दीभाष्येणाप्यस्यार्थो न व्यज्यते। स च त्वं चेत्यत्र तत्पदवाच्यः कः ? कथं चोभयोः सम्पर्कः ? भावार्थस्तु प्रायेण सर्वत्रैव मन्त्रतद्भाष्यसम्बन्धशून्य एव ॥ ४ ॥

इन्द्रस्य वज्रोऽसि वाजसास्त्वयायं वाजꣳ सेत्। वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे। यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ॥ ५ ॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे ग्रहगत रसों, अन्नरस का आनयन करने वाले आप लोग मेधावी, सर्वज्ञ परमेश्वर के लिये विशिष्ट बुद्धि का परिज्ञान करते हुए भलीभाँती पिष्ट तथा पवित्र होकर मुखचालन की क्रिया से निवृत्त हों। हे नर तथा नारायण, आप दोनों सम्पृक्त हों। आप दोनों मुझे कल्याण से संयुक्त करें। हे कृष्ण और अर्जुन, आप दोनों पाप से वियुक्त हैं, मुझे भी पाप से विरहित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ युक्त नहीं है। राजप्रजापुरुष का सम्बोधन करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'जैसा मैं करता हूँ, वैसा तुम भी करो' इस प्रकार कोई गृहस्थ प्रजाजन राजपुरुष के प्रति कैसे कह सकता है ? 'व्यन्तः' इस पद का 'सर्वविद्याओं में व्याप्त होते हुए' यह अर्थ कैसे हो सकता है ? हिन्दीभाष्य के द्वारा भी इसका अर्थ व्यक्त नहीं होता। मन्त्रार्थ में 'स च त्वं च' इसमें 'तत्' पद से किसका बोधन है ? तथा दोनों का सम्पर्क भी किस प्रकार का है ? स्वामी दयानन्दोक्त भावार्थ तो प्रायः सर्वत्र ही मन्त्र और उसके भाष्य से सम्बन्ध नहीं रखता ॥ ४ ॥

'मरुत्वतीयान्त इन्द्रस्य वज्र इति रथावहरणम्' (का० श्रौ० १४।३।१)। महामरुत्वतीयग्रहप्रचारान्ते माहेन्द्रग्रहग्रहणात् पूर्वं रथावहरणात् शकटाद् रथस्यावतारणमध्वर्युः कुर्यात्, इन्द्रस्य वज्र इति मन्त्रेण। रथदेवत्यं यजुः। इन्द्रेण यदा वृत्राय वज्रं प्रहृतं तत् त्रिधा जातम्, तस्यैको भागो रथ इति। हे रथ रथाभिमानिदेव, त्वमिन्द्रस्य वज्रोऽसि। वज्र एव स्फ्य-रथ-यूपरूपेण त्रिधा विभक्तः। तथा च श्रुतिः—'इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्। तत् त्रेधा व्यभवत्। स्फ्यस्तृतीयं रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयम्' (तै० सं० ५।२।६।१-२) इति। कीदृशस्त्वम् ? वाजसाः, वाजमन्नं सनोति ददातीति वाजसाः, अन्नदाता भवसि। 'षणु दाने' इत्यस्य 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० सू० ६।४।४१) इत्याकारः। अयं यजमानस्त्वया वज्रीभूतेन सहायेन वाजमन्नं सेत् सनुयात् सिनुयाद् बध्नीयात् सम्भजेत् साधयेद्वा। सनोतेः सिनोतेः सेधतेर्वा रूपम्। 'चात्वालमावर्तयति वाजस्येति धूर्गृहीतम्' (का० श्रौ० १४।३।२)। अवतारितं रथं धुरि गृहीत्वा चात्वालाद्दक्षिणेनानीय वेद्यां स्थापयेद् वाजस्येति मन्त्रेण। पृथिवीदेवत्याऽतिजगती। अन्त्यः पादः सवितृदेवत्यः। वाजस्यान्नस्य प्रसवेऽनुज्ञायां वर्तमाना वयं मातरं जगतो निर्मात्रीं महीं वेदिरूपां महनीयामदितिमदीनामखण्डितां वा भूमिं नाम प्रसिद्धं यथा स्यात्तथा वचसा मन्त्रेण करामहे अनुकूलां करवामहे, स्तुम इत्यर्थः। वेदमन्त्रेण पृथिवीमन्नप्रदात्रीं वा करवामहे। यस्यां भूमाविदं विश्वं सर्वं भुवनं भूतजातमाविशेषाविष्टम्, तस्यां भूमावेव नोऽस्माकं धर्मं धारणमवस्थानमनुष्ठानं सविता देवः साविषत् प्रसवमनुज्ञां करोतु। 'षू प्रसवे' इति धातोर्णिजन्तस्य विचि रूपम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अगृहीते माहेन्द्रे। एष वा इन्द्रस्य निष्केवल्यो ग्रहो यन्माहेन्द्रोऽपि''''निष्केवल्यꣳ शस्त्रमिन्द्रो वा यजमानस्तदेनꣳ स्व एवायतनेऽभिषिञ्चति तस्मादगृहीते माहेन्द्रे' (श० ५।१।४।२)। महेन्द्रदेवत्ये ग्रहेऽगृहीते माहेन्द्रात् पूर्वमेष इन्द्रस्य निष्केवल्यो ग्रहः। 'अथ रथमुपावहरति। इन्द्रस्य वज्रोऽसीति वज्रो वै रथ। इन्द्रो वै यजमानस्तस्मादाहेन्द्रस्य वज्रोऽसीति वाजसा इति वाजसा हि रथस्त्वयाऽयं वाजꣳ सेदित्यन्नं वै वाजस्त्वयाऽयमन्नमुज्जयत्वित्येवैतदाह' (श० ५।१।४।३)। रथवाहने काष्ठविशेषे स्थापितमाजिधावनाय सज्जीकर्तुम्, तस्मात् काष्ठादवरोहणं समन्त्रकं विधत्ते—अथ रथमुपावहरतीति। उपावहरत्यूर्ध्वदेशादवतारयेत्। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव। 'तं धूर्गृहीतमन्तर्वेद्यभ्यवर्तयति। वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमित्यन्नं वै वाजोऽन्नस्य नु प्रसवे मातरं महीमित्येवैतदाहादितिं नाम वचसा करामह इतीयं वै पृथिव्यदितिस्तस्मादाहादितिं नाम वचसा करामह इति यस्यामिदं विश्वं''''भुवनमाविष्टं तस्यां नो देवः सविता''''यजमानꣳ सुवतामित्येवैतदाह' (श० ५।१।४।४)। धूर्गृहीतस्य रथस्य वेदिमध्येऽभ्यावर्तनं विधत्ते—अन्तर्वेद्यभ्यववर्तयतीति। धूरित्यश्वबन्धनस्थानं युगम् अन्तर्वेदि सौमिकवेदिमध्ये प्रादक्षिण्येनानयेदित्यर्थः। मन्त्रं व्याचष्टे—महीमित्यन्नं वै वाज इत्यादिना। पूर्वोक्तव्याख्यानेन श्रुतिरपि व्याख्यातप्राया।

मन्त्रार्थ—हे रथ ! तुम अन्न देने वाले हो, इन्द्र के वज्र हो, यह यजमान तुम्हारी वज्रतुल्य सहायता से अन्न को प्राप्त करे। अन्न की अनुज्ञा में वर्तमान हम जगत् का निर्माण करने वाली अदीन पूजनीय माता भूमि की वेदवाक्यों द्वारा स्तुति करते हैं। जिसमें यह सम्पूर्ण संसार निविष्ट है, वह सबका प्रेरक प्रकाशात्मक परमात्मा इस भूमि के प्रति हमारी दृढ़ आस्था को बनाये रखें ॥ ५ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।१-२) में निर्दिष्ट याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार महामरुत्वतीय ग्रह प्रचार के अनन्तर माहेन्द्र ग्रह के ग्रहण से पूर्व अध्वर्यु शकट से रथ का अवतारण 'इन्द्रस्य वज्रः' इस मन्त्र के द्वारा करता है। तथा 'वाजस्य' इस मन्त्र से अवतारित रथ को चात्वाल के दक्षिण भाग से ले जाकर वेदि पर स्थापित करता है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्षे – हे हनुमन्, त्वमिन्द्रस्य रामस्य वज्रोऽसि वज्रवच्छत्रुविदारकोऽसि। त्वं वाजसा अन्नदातासि। वज्रीभूतेन त्वयाऽयं साधको वाजमन्नं सेत् साधयेत् सम्भजेद् वा। वाजस्य ज्ञानरूपस्यान्नस्य प्रसवे उत्पादनाय वयं यां बुद्धिलक्षणां भूमिं नाम प्रसिद्धां यथा स्यात्तथा वचसा वेदवाक्येनानुकूलां करामहे कृतवन्तः। कीदृशीं तां मातरम्? ज्ञानविज्ञानजननीं महीं महनीयामदितिमदीनाम् इदं विश्वं सर्वं भुवनं यस्यां भूमावाविष्टम्, सर्वस्यैव शब्दसमूहस्यार्थसमूहस्य च बौद्धत्वात्। सविता परमेश्वरो देवस्तस्यां भूमौ नोऽस्माकं धर्मं धरणं ज्ञानोत्पादनानुष्ठानं साविषत् प्रेरयतु।

दयानन्दस्तु – 'हे वीर, यस्यां त्वमिन्द्रस्य राज्ञो वाजसाः संग्रामस्य विभाजको वज्रो वज्रवच्छत्रुच्छेदकोऽसि, तेन त्वया रक्षकेण सेनापतिना सह स पुरुषो वाजं संग्रामं सेत् सिनुयात् संग्रामस्य प्रबन्धं कुर्यात्, यत्रेदं विश्वं प्रविष्टमस्ति यत्र च सर्वप्रकाशकः सविता जगदुत्पादकः परमात्मा नोऽस्माकं धारणं कुर्यात्, तस्यां वाजस्य संग्रामस्य प्रसवे ऐश्वर्ये मातरमदितिमखण्डनीयां पृथिवीं वचसा वेदोक्तन्यायोपदेशवाक्येन वयं नु शीघ्रं करामहे कुर्याम' इति, तदपि स्वाभ्यूहितमात्रम्, श्रुतिसूत्रसमन्वयाभावात्, 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥' इति भट्टपादोक्तदिशा प्रत्यक्षादिसिद्धार्थप्रतिपादने वेदत्वानुपपत्तेः। अस्पष्टार्थश्चैष मन्त्रः। तथाहि न्यायोपदेशवचनेन पृथिव्याः कथं ग्रहणम्? वज्रो वज्रवच्छेदक इत्यादौ गौणार्थाश्रयणे किं बीजम्॥ ५॥

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः। देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाजꣳ सेत्॥ ६॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे हनुमन्, आप राम के वज्र के समान शत्रुओं के विनाशक हैं तथा अन्नदाता हैं। आपके द्वारा यह उपासक बल का साधन करे। ज्ञानात्मक अन्न के उत्पादन के लिये हम लोगों ने बुद्धिरूपी भूमि जैसे प्रथित हो जाय, उस प्रकार वेदवाक्यों से ज्ञानविज्ञान की जननी, महनीया तथा दैन्य से रहित बुद्धि को अनुकूल बना लिया है। शब्दार्थरूपी सम्पूर्ण विश्व जिस भूमि में निविष्ट है, उस ज्ञानभूमि पर सविता देव ज्ञानोत्पादन के अनुष्ठान को प्रेरणा प्रदान करें।

स्वामी दयानन्द का अर्थ श्रुति एवं सूत्रों से असम्बद्ध होने के कारण स्वेच्छाप्रेरित ही है, क्योंकि 'प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा जिस उपाय का ज्ञान नहीं होता, उसको वेद के द्वारा जाना जाता है, यही वेद का वेदत्व है' भट्टपाद द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन होने पर वेदत्व ही असम्भव हो जायगा। इस मन्त्र का अर्थ भी स्पष्ट नहीं किया गया है, क्योंकि न्यायोपदेश वचन से पृथिवी का ग्रहण कैसे हो सकता है? 'वज्र' शब्द से 'वज्र के समान छेदनकर्ता' इस गौण अर्थ का ग्रहण करने में मूल क्या है?॥ ५॥

मन्त्रार्थ – जल में अमृत का निवास है, उसमें आरोग्य और पुष्टिकारक औषधियाँ स्थित हैं। हे अश्वो! इस प्रकार के अमृतमय भेषज से युक्त जल को पीकर वेगवान् बनो तथा जल के प्रशस्त भाग में स्नान के लिये प्रवेश करो। हे दीप्यमान जलदेवता! तुम्हारी शीघ्र चलने वाली ककुद् के समान ऊँची अन्न को देने वाली तरंगों से सिक्त हुआ यह अश्व यजमान की इच्छा के अनुसार अन्न को देने में समर्थ हो॥ ६॥

'अश्वान् प्रोक्षत्यपोऽवनीयमानान् स्नातान् वा गतानप्स्वन्तरिति देवीराप इति वा समुच्चयो वेति' (का० श्रौ० १४।३।३-५)। स्नानार्थमप्सु प्रविष्टान् अथवा स्नात्वा समागतान् चतुरोऽश्वानध्वर्युरद्भिः प्रोक्षेत अप्स्वन्तरिति मन्त्रेण, देवीराप इति मन्त्रेण वा, उभाभ्यां मन्त्राभ्यां वा। अश्वदेवत्या अवसानरहिता पुरउष्णिक्। अस्याः पाद आद्यो द्वादशाक्षरः, द्वावष्टाक्षरौ। अप्सु उदकेषु, अन्तर्मध्येऽमृतमवस्थितमप्सु भेषजमारोग्यं पुष्टिकरमौषधं चावस्थितम्। अप्सु मध्येऽपमृत्युनिवारकं रोगनिवारकं च वीर्यं वर्तते। हे अश्वाः ! यूयं तत्रामृतभेषजयुतास्वप्सु वाजिनोऽन्नवन्तो भवत, वाजमन्नं येषु ते वाजिनः। उतापि च अपां प्रशस्तिषु प्रशस्तेषु पवित्रेषु भागेषु यूयं स्तुता भवत। वाजमन्नं येषु ते वाजिनः। उतापि च अपां प्रशस्तिषु प्रशस्तेषु पवित्रेषु भागेषु यूयं स्तुता भवत। अपां सम्बन्धिषु प्रशस्तिष्वमृतत्वे भेषजत्वेन सह सतीष्वन्यास्वपि गुणवत्त्व-प्रशंसासु प्रशंसाप्रदेषु वा यूयं सम्बद्धा भवतेत्यर्थः। द्वितीयः प्रोक्षणमन्त्रोऽब्दैवत्यः, यजुः। देवीः देव्यो द्योतमाना हे आपः, वो युष्माकं य ऊर्मिः कल्लोलस्तेन सिक्तोऽयमश्वो वाजमन्नं सेत् सनुयाद् बध्नीयाद्वा। कीदृश ऊर्मिः ? प्रतूर्तिः प्रकृष्टा तूर्तिर्वेगो यस्य सः, प्रत्वरणशीलः प्रसरणशीलो वा, निमज्जनेन प्रसक्तस्योपद्रवस्य प्रकर्षेण हिंसकः। तथा ककुद्मान्, ककुदिति वृषभस्योन्नतः स्कन्धप्रदेशः, तत्सामान्यादुदकसङ्घातोऽप्युन्नततमः ककुच्छब्देनोच्यते। बहुभिरुदकनिचयैः संयुक्तो महाप्राग्भार उदकसङ्घातवानूर्मिः कल्लोलः ककुद्मान्। वाजसोऽन्नस्य प्रदाता। तादृशेनोदकसङ्घातवतोर्मिणायं प्रोक्षितोऽश्वो वाजमन्नं सेत् सनुयात् संभजेत्, सिनुयाद् बध्नीयाद्वा, साधयतु वा।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाश्वानद्भिरभ्युक्षति। स्नपनायाभ्यवनीयमानान् स्नपितान् वोदानीतानद्भ्यो ह वाऽग्रेऽश्वः सम्बभूव सोऽद्भ्यः समभवन्न सर्वः समभवदसर्वो हि वै समभवत्तस्मान्न सर्वैः पद्भिः प्रतितिष्ठत्ये-कैकमेव पादमुदच्य तिष्ठति तद्यदेवास्यात्राप्स्वहीयत तेनैवैतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादश्वानद्भिरभ्युक्षति स्नपनायाभ्यवनीयमानान् स्नपितान् वोदानीतान्' (श० ५।१।४।५)। अथाश्वानां प्रोक्षणं तत्कालं च विधत्ते—अथाश्वानिति। स्नपनाय जलाशयमभिलक्ष्य नीयमानान्, स्नपितान् कृतस्नानान्, उदानीतान् आगतान् वा प्रोक्षेत। स्नपनार्थं गमनकाले तदुत्तरकाले वा प्रोक्षणम्। प्रोक्षणं प्रशंसति—अद्भ्यो ह वेति। अद्भ्योऽश्वोत्पत्तिः प्रसिद्धा, 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' (श० १३।२।२।१९)। यस्मादप्सु प्रतिष्ठितोऽश्वस्तस्मादिदानीं भूमावश्वो न सर्वैः पादैरवतिष्ठते। एकैकं पादमुदच्य उद्यम्य तिष्ठति। तत् तत्राप्सु कारणभूतासु अप्सु यदेवाङ्गमहीयत हीनमवशिष्टमभूत्, तेनाङ्गेन एनमश्वमेतद् एतेन प्रोक्षणेन कृत्स्नं सर्वपादयुक्तं करोति कृतवान् भवति। 'सोऽभ्यु-क्षति। अप्स्वन्तः····वाजिन इत्यनेनापि देवीरापो यो व ऊर्मिः····सेदित्यन्नं वै वाजस्तेनायमन्नमुज्जयत्वित्येवैतदाह' (श० ५।१।४।६)। प्रोक्षणविधिमनूद्य तत्र मन्त्रद्वयं विधत्ते—अप्स्वन्तः····वाजिन इत्यनेनापीति। अपिशब्दः समुच्चयवाची। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—अप्सु अप्समवेतेषु कर्मसु तत्फलेषु लोकेषु वा अन्तर्मध्ये अमृतमपमृत्युनिवारकं वीर्यमस्ति। तथाप्सु भेषजमारोग्यवर्धकं भेषजं वीर्यं चास्ति। हे अश्वाः ! तेषु तेषु लोकेषु फलभोगाय व्याप्नुवन्त

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।३-५) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार अध्वर्यु स्नान के लिये जल में प्रविष्ट अथवा स्नान के बाद आये हुए चार अश्वों का 'अप्स्वन्तः' अथवा 'देवीरापः' मन्त्र से या दोनों मन्त्रों से प्रोक्षण करता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—जलादि साधनों से समन्वित कर्मों में उनके फलरूपी लोकों के मध्य अपमृत्यु का निवारक बल विद्यमान है तथा जल में रोग का निवारण करने वाला भेषज-बल है। लोकों में फलभोग

आत्मानो यूयं तेषां कर्मणां लोकानां वा प्रशस्तिषु प्रशस्तेषु तेषु तेषु कर्मसु लोकेषु कर्मोपासनादिभिः सम्बद्धा भवथ। तत्र चान्नवन्तस्तत्तल्लोकोचितफलभोगभाजो भवन्तु। हे द्योतमाना आपः, यो वः कर्मणां लोकानां वा ऊर्मिः कल्लोकरूपः परिणामः, प्रत्तूर्तिः प्रत्वरणशीलः ककुद्मान् महासुखप्राग्भारस्तेनायमुपोद्बलितः साधको वाजमन्नं तदुचितमन्नं भोगं सेत् सम्भजेत।

दयानन्दस्तु—'हे देवीरापः, दिव्यगुणवत्योऽन्तरिक्षव्यापिन्यः स्त्रियो देवा विद्वांसः पुरुषाश्च यूयं यो वः समुद्रस्य सागरतुल्यः ककुद्मान् प्रशस्ताः ककुदो लौल्या गुणा विद्यन्ते यस्मिन्। वाजसाः वाजान् संग्रामान् सनन्ति सम्भजन्ति येन सः। प्रत्तूर्तिः प्रकृष्टा तूर्णगतिर्यस्य सः। ऊर्मिराच्छादकस्तरङ्ग इव पराक्रमोऽस्ति, यदप्सु प्राणेषु, अन्तर्मध्ये, अमृतं मरणधर्मरहितं कारणम् अपमृत्युनिवारकं वा, अप्सु जलेषु भेषजं रोगनाशकमौषधं चास्ति, येनायं सेनापतिर्वाजं संग्राममन्नं च सेत् सम्बध्नीयात्, तेनापां प्रशस्तिषु गुणानां प्रशंसासु वाजिनोऽश्वा इव भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च। 'अन्नं वै वाजः' (श० ५।१।४।६) इति श्रुतिस्तु वाजपदेनान्नं गृह्णाति, त्वया तु संग्रामो गृह्यते। किञ्च, मूलमन्त्रे 'ऊर्मिः' इत्येव पदमस्ति, नोर्मिरिवेति। तथैव 'वाजिनः' इति पाठोऽस्ति, न 'वाजिन इव' इति॥ ६॥

वातो॑ वा॒ मनो॑ वा ग॒न्ध॒र्वाः स॒प्तवि॑ꣳशतिः।
ते अग्रेऽश्व॑मयुञ्जँ॒स्ते अ॑स्मिन् ज॒वमाद॑धुः॥ ७॥

'दक्षिणं युनक्ति वातो वेति' (का० श्रौ० १४।३।६)। वातो वेति मन्त्रेण रथे दक्षिणमश्वं युनक्ति। अश्वदेवत्या उष्णिक्। वाशब्दौ समुच्चयार्थौ। हे वाजिनः, वातो वायुर्मन इन्द्रियं गन्धर्वा गोर्भूमेर्धातारः सप्तविंशतिर्नक्षत्राणि, ते अग्रे पूर्वम् अश्वम् अयुञ्जन् योजितवन्तः। ते च वातादयोऽस्मिन् रथे जवं वेगमादधुः धारितवन्तः।

अथ ब्राह्मणम् 'अथ रथं युनक्ति। स दक्षिणायुग्यमेवाग्रे युनक्ति सव्यायुग्यं वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा' (श० ५।१।४।७)। अथाश्वेन रथयोजनं विधत्ते—अथ रथं युनक्तीति। अग्रे प्रथमं दक्षिणा दक्षिणतो युग्यं युगस्य वोढारमश्वं युञ्ज्यात्। सव्यायुग्यमिति मानुषे कर्मणि सव्यभागयोजनीयमश्वमेवाग्रे प्रथमं युञ्जन्ति। एवं देवत्रा देवयोग्यमेव कर्म कृतवान् भवति दक्षिणस्य प्रथमयोजनेन। 'स युनक्ति। वातो वा मनो

के लिये व्याप्त हे जीवात्मा, आप उन कर्मों अथवा लोकों के प्रशस्त कर्मों में कर्म, उपासना आदि के द्वारा सम्बद्ध हों तथा उन उन लोकों के समुचित फलभोग के पात्र बनें। हे विद्योतमान जल, आपके कर्मों अथवा लोकों का कल्लोलरूपी सत्वर परिणाम महासुखरूपी है। उससे परिपुष्ट यह साधक अन्न-भोगादि का सेवन करे।

स्वामी दयानन्द का अर्थ गौण अर्थ के आश्रयण तथा श्रुति एवं सूत्र-वाक्यों से विरुद्ध होने के कारण अयुक्त है। 'अन्नं वै वाजः' यह श्रुति वाज पद से अन्न का अर्थ ग्रहण उपदिष्ट करती है, परन्तु उस व्याख्या में 'संग्राम' अर्थ किया गया है। इसी प्रकार ऊर्मि की भाँति, अश्वों की भाँति इत्यादि गौण अर्थ करना मन्त्रोक्त पदों से सिद्ध नहीं है॥ ६॥

मन्त्रार्थ—वायु देवता, मन, गन्धर्व आदि २७ नक्षत्र—ये सब अश्व को रथ में युक्त करते हुए इस अश्व में अपने-अपने वेग के अंश का आधान करते हैं॥ ७॥

भाष्यसार—'वातो वा' इस मन्त्र से रथ में दाहिने अश्व को लगाया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन

वेति न वै वातात् किञ्चनाशीयोऽस्ति न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति तस्मादाह वातो वा मनो वेति गन्धर्वाः सप्तविंशतिस्ते अग्रेऽश्वमयुञ्जन्निति गन्धर्वा ह वा अग्रे अश्वं युयुजुस्तद्येऽग्रेऽश्वमयुन्जंस्ते त्वा युञ्जन्त्वित्येवैतदाह ते अस्मिन् जवमादधुरिति तद्येऽस्मिन् जवमादधुस्ते त्वयि जवमादधत्वित्येवैतदाह' (श० ५।१।४।८)। योजनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते वातो वा मनो वेतीति। वाशब्दः समुच्चयार्थः। वायुश्च मनश्च सप्तविंशति-संख्याका गन्धर्वा नक्षत्राणीत्यर्थः। ते सर्वे अग्रे अस्मत्तः पुरा रथे अश्वं योजितवन्तः। ते पुनरस्मिन्नश्वे जवं वेगमादधुः स्थापितवन्तः। लोडर्थे लिट्। अस्मिन्नश्वे त्वयि जवमादधत्विति व्याचष्टे—न वै वाताद् वायोर्मनसश्च अशीय आशुतरम्, अतिवेगवदित्यर्थः, किञ्चिदपि वस्तु वायोर्मनोर्वाऽतिवेगवन्नास्ति। तस्मादाह वातो वा मनो वेति। पुरा वातादयोऽश्वं युयुजुः, ते त्वयि जवमादधत्विति।

अध्यात्मपक्षे—असुररक्षसां विजयायोद्यतस्य भगवतो रथेऽश्वं योजयन्तो देवा आहुः—पुरा वातादयः सप्तविंशतिनक्षत्रान्ता देवा वेगवन्तो भगवतो रथेऽश्वं योजितवन्तः, त एवाद्यास्मिन्नश्वे जवं वेगमादधुः स्थापितवन्त इति पूर्ववदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु 'ये विद्वांसो वातो वा वायुरिव मनो वा स्वान्तमिव यथा सप्तविंशतिर्गन्धर्वा ये वायून् इन्द्रियाणि भूतानि च धरन्ति, तेऽस्मिन् जगत्यग्रेऽश्वं व्यापकत्ववेगादिगुणसमूहम् अयुञ्जन् युञ्जन्ति, ते खलु जवं वेगमादधुर् आदधति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वातमनसोरपि सप्तविंशत्यन्तर्गतत्वेन तयोः पृथगुल्लेखानुपपत्तेः। किञ्च, अश्वपदेन व्यापकत्ववेगवत्त्वादिगुणसमूहो गृह्यत इत्यपि निर्मूलम्, तथात्वे जवस्य पृथगुल्लेखायोगात्। 'जगति तेऽपूर्वं दधति' इत्यनेन किं समष्टिभूते जगति व्यष्टिभूते वा व्यापकत्ववेगवत्त्वाद्याधानम्? नोभयथापि सङ्गतिः, वेगवत्त्वायोगात्, परिच्छिन्नेषु व्यापकत्वायोगाच्च। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु सर्वत उपरि विद्योतते॥ ७॥

वातंरꣳहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु॥ ८॥

श्रौतसूत्र (१४।३।६) में निर्दिष्ट है। शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—असुर-राक्षसों पर विजय के लिये सन्नद्ध भगवान् के रथ में घोड़ों को जोतते हुए देवगण कहते हैं कि प्राचीन काल में वायु, मन, गन्धर्वगण आदि सत्ताईस नक्षत्रों तक के वेगवान् देवों ने भगवान् के रथ में अश्वों का संयोजन किया था। वे ही आज इस अश्व में वेग का आधान करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ विसंगत है, क्योंकि वायु तथा मन भी सत्ताईस के अन्तर्गत होने के कारण उनका पृथक् उल्लेख असंगत है। इसी प्रकार अश्व शब्द से व्यापकत्व, वेगवत्त्व आदि गुणसमूह का बोध मानना भी निर्मूल है, क्योंकि ऐसा होने पर जव (वेग) का मन्त्र में पृथक् उल्लेख युक्त नहीं हो सकेगा। इस मन्त्रार्थ में समष्टीभूत जगत् में अथवा व्यष्टीभूत जगत् में, किसमें व्यापकत्व, वेगवत्त्व आदि का आधान अभिप्रेत है? क्योंकि दोनों ही प्रकार से संगति नहीं होगी। वेगवत्त्व व्यापक में उपपन्न नहीं होगा तथा परिच्छिन्न पदार्थों में व्यापकत्व सिद्ध नहीं है। श्रुति तथा सूत्र का विरोध तो इस अर्थ में सर्वाधिक है॥ ७॥

मन्त्रार्थ—हे वेगवान् अश्व! जोते जाने पर तुम वायु के समान वेगवान् हो जाओ, दक्षिण भाग में स्थित इन्द्र से तुम्हारी शोभा में वृद्धि हो। सर्वज्ञ मरुत् देवता तुमको रथ में जोतें, त्वष्टा देवता तुम्हारे चरणों को तीव्र गति प्रदान करें॥ ८॥

'उत्तरं वातरंहा इति' (का० श्रौ० १४।३।७)। उत्तरमश्वं युनक्ति। अश्वदेवत्या त्रिष्टुप्। हे वाजिन् वेगवन् अश्व, उत्तरभागे युज्यमानस्त्वं वातरंहा वायुवद् वेगयुक्तो भव। दक्षिणो दक्षिणभागे स्थितोऽश्वो दक्षिणः प्रवृद्धः पुष्टाङ्गः, इन्द्रस्याश्व इव श्रिया शोभया युक्त एधि भव। यद्वा श्रीशब्दात् परस्य सोर्यादेशः। यथेन्द्रस्य अश्वस्य श्रीर्भवति, एवं यजमानस्य श्रीर्भव। विश्ववेदसः सर्वज्ञाः सर्वधना वा मरुतस्त्वां युञ्जन्तु। त्वष्टा देवो हे अश्व, तव पत्सु पादेसु जवं वेगमादधातु स्थापयतु।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ सव्यायुग्यं युनक्ति। वातर ँ हा भव वाजिन् युज्यमान इति वातजवो भव वाजिन् युज्यमान इत्येवैतदाहेन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधीति यथेन्द्रस्य दक्षिणः श्रियैवं यजमानस्य श्रियैधीत्येवैतदाह युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस इति युञ्जन्तु त्वा देवा इत्येवैतदाहा ते त्वष्टा पत्सु जवं दधात्विति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ दक्षिणाप्रष्टिं युनक्ति सव्याप्रष्टिं वा अग्रे मानुषेऽथैवं देवत्रा' (श० ५।१।४।९)। अथ सव्यस्याश्वस्य रथे योजनं समन्त्रकं विधत्ते—अथ सव्यायुग्यं युनक्तीति। सव्ये भागे योजनीयं सव्यायुग्यम्।

अध्यात्मपक्षे—द्वितीयोऽपि वाजी प्रशस्यते—इन्द्रस्येव दक्षिण इति। हे वाजिन्! त्वं दक्षिणो दक्षिणभागे युज्यमान इन्द्रस्येव परमात्मन एव श्रिया शोभया युक्त एधि भव। विश्ववेदसः सर्वज्ञा मरुतस्त्वां भगवतो रथे युञ्जन्तु। त्वष्टा देवस्ते तव पत्सु जवं स्थापयतु।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन् शास्त्रोक्तक्रियाकुशलबोधयुक्त राजन्, यं त्वां विश्ववेदसः सकलविद्यावेत्तारो मरुतो विद्वांसो मनुष्या राजशिल्पकार्येषु युञ्जन्तु, त्वष्टा वेगादिगुणविद्यावित् ते तव पत्सु पादेषु जवं वेगं दधातु, स त्वं वातरंहा भव। युज्यमानस्त्वं समाहितः सन् इन्द्रस्येव परमैश्वर्ययुक्तस्य राज्ञ इव श्रिया शोभायुक्तया राज्यलक्ष्म्या दीप्यमानया राज्या वा एधि समृद्धो भव' इति, तदपि न सङ्गतम्, वाजिन्निति शब्दस्य तादृशार्थे सङ्गत्यग्रहणात्। तथैव मरुत्पदस्य विद्वांसो मनुष्या अर्थ इत्यपि निर्मूलमेव। 'राज्यशिल्पकार्येषु' इत्यपि निर्मूलम्, मूले तादृशार्थप्रतिपादकपदाभावात्॥ ८॥

ज॒वो यस्ते॑ वाजि॒न्निहि॑तो॒ गुहा॒ यः श्ये॒ने परी॑त्तो॒ अच॑रच्च॒ वाते॑। तेन॑ नो वाजि॒न् बल॑वान् बले॑न वाज॒जिच्च॒ भव॒ सम॑ने च पारयि॒ष्णुः॥ वाजिनो वाजजितो॒ वाज ँ सरि॒ष्यन्तो॒ बृह॒स्पते॑र्भा॒गमव॑जिघ्रत॥ ९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'वातरंहा' इस मन्त्र के द्वारा रथ के वाम भाग में अश्व का संयोजन किया जाता है। शतपथ श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—'इन्द्रस्येव दक्षिणः' इत्यादि पदों से द्वितीय अश्व की भी प्रशंसा की जाती है। हे अश्व, तुम दक्षिण भाग में संयुक्त होते हुए परमात्मा की ही शोभा से युक्त रहो। सर्वज्ञ मरुद्गण तुमको भगवान् के रथ में नियुक्त करें तथा त्वष्टा देव तुम्हारे पैरों में वेग का संस्थापन करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ संगत नहीं होता, क्योंकि वाजी शब्द का 'शास्त्रोक्त क्रियाकुशल बोधयुक्त राजा' इस प्रकार का अर्थ निरूपित करने में संगति नहीं है। इसी प्रकार 'मरुत्' पद का 'विद्वान् मनुष्य' यह अर्थ करना भी मूलरहित ही है। 'राज्य शिल्पकार्यों में' (नियुक्त करें), यह व्याख्यान भी निर्मूल है, क्योंकि मूल मन्त्र में इस अर्थ का प्रतिपादक शब्द नहीं है॥ ८॥

'दक्षिणाप्रष्टिं जवो यस्त इति' (का० श्रौ० १४।३।८)। रथे व्यवहितयोरीषयोर्मध्ये दक्षिणाप्रष्टि तृतीयमश्वं नियुञ्ज्यात्। धुर्यापेक्षया प्रकृष्टदेशमश्नोतीति प्रष्टिः। प्राष्टिरिति प्राप्ते छान्दसो ह्रस्वः। दक्षिणस्यां धुरि प्रष्टिः दक्षिणाप्रष्टिर्बाह्यो युग्यः। अश्वदेवत्या जगती। प्रष्टिर्नाम पादत्रयोपेतो भोजनपात्रादेराधारः। तद्वत् अश्वैस्त्रिभिर्युक्तं रथं कुर्यात्। पूर्वमश्वद्वयस्य युक्तत्वात् तृतीयस्य प्रष्टित्वमुक्तम्। हे वाजिन्, ते तव गुहा गुहायां गूढप्रदेशे हृदयप्रदेशे यो जवो वेगो निहितोऽवस्थापितः, श्येने श्येनाख्ये पक्षिणि यो जवः परीत्तः प्राप्तस्त्वयैव दत्तोऽचरद् वर्तते, वाते वायौ च यो जवोऽचरत् चरति वर्तते। हे वाजिन्, तेन बलेन बलवांस्त्वं नोऽस्माकं वाजजिद् वाजस्यान्नस्य जेता दाता वा एधि भव, अन्नस्य धाता भव। समने यज्ञरूपे संग्रामे च पारयिष्णुः पारयिता पारङ्गमनशीलो भव। 'बार्हस्पत्यमेनानाघ्रापयति वाजिन इति' (का० श्रौ० १४।३।१०)। रथे युक्तानेनानश्वान् बार्हस्पत्यं चरुमवघ्रापयेद् वाजिन इति मन्त्रेण। प्रत्यश्वं मन्त्रावृत्तिः। अश्वदेवत्यं यजुः। वाजजितोऽन्नस्य जेतारो वाजमन्नमन्नसाधनमाजिं प्रति सरिष्यन्तो गमिष्यन्तो वाजिनोऽश्वा यूयं बृहस्पतेर्भागं चरुमवजिघ्रत, अवाङ्मुखा भूत्वा गन्धोपादानं कुरुतेत्यर्थः। गुहा इति। गुहाशब्दात् 'सुपां सुलुक्....' (पा० सू० ७।१।३९) इति ङेर्लुक्, विभक्तिव्यत्ययो वा। परीत्त इति परिपूर्वस्य तनोते रूपम्, परितदिति। परिपूर्वाद् ददातेर्निष्ठायाम् 'अच उपसर्गात्तः' (पा० सू० ७।४।४७) इति तादेशे, 'दस्ति' (पा० सू० ६।३।१२४) इति दादेशे तकारे परे इगन्तोपसर्गस्य दीर्घे परीत्त इति वा।

तत्र ब्राह्मणम्—'स युनक्ति। जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तो अचरच्च वात इति जवो यस्ते वाजिन्नप्यन्यत्रापनिहितस्तेन न इमं यज्ञं प्रजापतिमुज्जयत्येवैतदाह तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुरित्यन्नं वै वाजोऽन्नजिच्च न एध्यस्मिंश्च नो यज्ञे देवसमन इमं यज्ञं प्रजापतिमुज्जयत्येवैतदाह' (श० ५।१।४।१०) इति। मन्त्रार्थस्तु व्याख्यातः। श्रुतिश्च व्याचष्टे—अप्यन्यत्रापनिहित इत्यादिना। अन्यत्रेत्यनेन गुहाशयेत्याद्युपलक्ष्यते, प्रदेशान्तरेऽपनिहितो निक्षिप्तः। पूर्वार्धस्य तात्पर्यमाह—तेन न इत्यादिना। यज्ञप्रजापत्योस्तादात्म्यं युक्तम्। समने पारयिष्णुरित्यस्याभिप्रायमाह। समनमिति संग्रामनाम (निघ० २।१७।१६), देवसभाजनलक्षणेऽस्मिन्—'यज्ञे ते वा एत एव त्रयो युक्ता भवन्ति। त्रिवृद्धि देवानां तद्धि देवत्राधिप्रष्टियुग एव चतुर्थोऽन्वेति मानुषो हि स तं यत्र दास्यन् भवति तच्चतुर्थमुपयुज्य ददाति....' (श० ५।१।४।११)। उक्तानामश्वानां त्रित्वसंख्यामनूद्य प्रशंसति—ते वा एत इति। त्रिवृत्त्वं त्रिरावृत्तिः। सा च दैवे कर्मणि प्रोक्षणादौ प्रसिद्धेति हिशब्दार्थः। चतुर्थस्याश्वस्यानुगमनं विधत्ते—मानुषो हि स इति। मानुषे कर्मणि चतुर्णां वाहनानां योजनं दृष्टम्। अत्र मानुषरूपव्युदासाय तस्यायोजनम्, 'अयुक्तश्चतुर्थोऽनुगच्छति' (का० श्रौ० १४।३।९) इति कात्यायनश्रौतसूत्रात्। यदैव चतुर्युक्तो रथोऽध्वर्यवे दीयते, तदानीं चतुर्थस्य रथे योजनं दर्शयति—तं च दास्यन्निति। 'अथ बार्हस्पत्यं चरुं नैवारꣳ सप्तदशशरावं निर्वपति।....' (श० ५।१।४।१२)। अत्र द्रव्यदेवताविशिष्टबार्हस्पत्यचरुविधानम्। पुरा बृहस्पतिरेतं चरुं

मन्त्रार्थ—हे अश्व ! तुम्हारा जो वेग हृदय में स्थापित है, जो तुम्हारा वेग बाज पक्षी में दिया गया है और जो वेग वात में स्थित है, उस वेग से वेगवान् होते हुए तुम हमारे लिये अन्न को जीत कर लाओ, संग्राम में शत्रु की सेना को परास्त कर हमारे लिये प्रचुर अन्न जीतो। हे अन्न को जीतने वाले अश्व, अन्न को जीतने के लिये जाते समय तुम बृहस्पति के भाग चरु को सूँघो ॥ ९ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'जवो यस्ते' इत्यादि कण्डिका के मन्त्रों से रथ में तृतीय अश्व का संयोजन तथा रथ में नियुक्त अश्वों को बार्हस्पत्य चरु का अवघ्रापन (सुँघाना) क्रियाएँ अनुष्ठित की जाती हैं। याज्ञिक विनियोग

साधितवानतोऽस्य चरोर्बृहस्पतिर्देवतेत्यप्युच्यते—'अथ यद्बार्हस्पत्यो भवति। बृहस्पतिर्ह्येतमग्रे उदजयत्तस्माद् बार्हस्पत्यो भवति' (श० ५।१।४।१३)। 'तमश्वानवघ्रापयति। वाजिन इति वाजिनो ह्यश्वास्तस्मादाह वाजिन इति वाजजित इत्यन्नं वाजोऽन्नजिति इत्येवैतदाह वाजꣳ सरिष्यन्त इत्याजिꣳ हि सरिष्यन्तो भवन्ति ....बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रतेति तद्यदश्वानवघ्रापयतीममुज्जयानीति तस्माद्वा अश्वानवघ्रापयति' (श० ५।१।४।१५)। तं चरुं रथे नियुक्तानश्वानवघ्रापयेत्। अन्नवाची वाजशब्दस्तत्साधने आजौ वर्तते। अवघ्रापणस्य प्रयोजनमाह--- तद्यदश्वानिति। इमं यज्ञं साधयामीति बुद्ध्या अश्वानवघ्रापयेत्।

अध्यात्मपक्षे— हे वाजिन् भगवद्रथवाहक, भगवद्वाहनो भगवद्रूप एव। तस्य सर्वाधारत्वेन निराधारत्वेन स्वस्मिन्नेव प्रतिष्ठितत्वात्। अत एव भगवद्रूपेण बुद्धिरूपायां गुहायामवस्थितत्वात् स एव च जवो वाते स्थितः, स एव श्येनाख्ये पक्षिणि चरति वर्तते। परीत्तः परिदत्तः सन् स त्वं त्रिविधेन वेगबलेन बलवान् सन्नोऽस्माकं वाजजिद् अन्नस्य लौकिकस्य ज्ञानानन्दलक्षणस्य वा जेता प्रापको भव। समने संग्रामे भौतिके आध्यात्मिके वा सङ्घर्षे पारप्रापको भव। वाजजितः पूर्वोक्तस्यान्नस्य जेतारो वाजमन्नं प्रति सरिष्यन्तो गमिष्यन्तो यूयं बार्हस्पत्यं बृहस्पतेर्बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पते परमेश्वरस्य भागं सेवनीयं स्वरूपमवजिघ्रत स्वात्माभेदेनानुभवत।

दयानन्दस्तु—'हे वाजिन् सेनाध्यक्ष, प्रशस्तशास्त्रयोगाभ्यासकृत्यसहित ! ते तव यो जवो वेगो गुहायां बुद्धौ स्थितः, यश्च श्येने पक्षिणीव परीत्तः सर्वतो दत्तो वा, ते वायाविव अचरत् चरति, तेन बलेन नोऽस्माकं बलवान् भव। हे वाजिन् वेगवन् राजपुरुष, तेन बलेन सैन्येन पराक्रमेण वा समने संग्रामे पारयिष्णुः दुःखात्पारयिता वाजजिच्च संग्रामं विजयमानो भव। हे वाजिनो योद्धारः, यूयं बृहस्पतेर्महतां वीराणां पालयितुः सेनाध्यक्षस्य भागं सेवनं प्राप्य वाजं बोधमन्नादिकं च सरिष्यन्तः प्राप्स्यन्तः सन्तो भवत। सुगन्धानवजिघ्रत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदबाह्यत्वात्। नहि वाजिन्निति शब्दस्य श्रुति-स्मृति-पुराणादिषु तादृशोऽर्थः समर्थितः। एवमेव 'प्रशस्तशास्त्रयोगाभ्यासकृत्यसहित' इत्यपि वाजिशब्दस्य व्याख्यानं निर्मूलमेव। तथैव बृहस्पतिशब्दस्य न सेनाध्यक्षोऽर्थः, प्रमाणाभावात्। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वोक्तव्याख्यानेनैव स्पष्टः ॥ ९ ॥

कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।८-१०) में निर्दिष्ट है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ शतपथ श्रुति में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे भगवान् के रथ के वाहन ! भगवद्वाहन भगवत्स्वरूप ही हैं, इसी कारण भगवद्रूप से वही वेग वायु में विद्यमान है तथा वही विचरणशील श्येन (बाज) पक्षी में भी अवस्थित है। इस प्रकार त्रिविध वेगबल से बलवान् होकर तुम हमारे लौकिक भोग्य अथवा ज्ञानानन्दस्वरूप भोग्य को प्राप्त कराने वाले बनो। भौतिक अथवा आध्यात्मिक संघर्ष में पार कराने वाले बनो। हे भोग्य को प्राप्त कराने वाले ! अन्न के प्रति गमन करते हुए आप लोग वेदवाणी के पालक परमेश्वर के सेवनीय स्वरूप को स्वात्माभेद से अनुभूत करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ वेदबहिर्भूत होने के कारण ग्राह्य नहीं है, क्योंकि श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में वाजी शब्द का वैसा अर्थ (सेनाध्यक्ष) समर्थित नहीं है। इसी प्रकार 'वाजी' शब्द की 'प्रशस्तशास्त्रयोगाभ्यासकृत्य सहित' यह व्याख्या भी मूलरहित है। बृहस्पति शब्द का 'सेनाध्यक्ष' अर्थ करना भी प्रमाणशून्य होने के कारण अनुचित है। श्रुति तथा सूत्र-वाक्यों का विरोध तो स्पष्ट ही है ॥ ९ ॥

दे॒वस्या॒हᳫँ स॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यस॑वसो॒ बृह॒स्पते॑रुत्त॒मं नाक॑ᳫँ रुहेयम् । दे॒वस्या॒हᳫँ स॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यस॑वस॒ इन्द्र॑स्योत्त॒मं नाक॑ᳫँ रुहेयम् । दे॒वस्या॒हᳫँ स॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यप्र॑सवसो॒ बृह॒स्पते॑रुत्त॒मं नाक॑मरुहम् । दे॒वस्या॒हᳫँ स॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यप्र॑सवस॒ इन्द्र॑स्योत्त॒मं नाक॑मरुहम् ॥ १० ॥

'देवस्याहमिति ब्रह्मा रथचक्रमारोहत्युत्करे नाभिमात्रे स्थाणौ स्थितम्' (का० श्रौ० १४।३।१२)। उत्करसमीपे नाभिप्रमाणे स्थाणौ समारोपितमौदुम्बरं सप्तदशारं चक्रं रथं ब्रह्मारोहेद् देवस्याहमिति मन्त्रेण। लिङ्गोक्तदेवत्यं यजुः। ब्राह्मणकर्तृके वाजपेये सत्यसवसः सत्याभ्यनुज्ञस्य सवितुः सर्वप्रेरकस्य देवस्य सवेऽभ्यनुज्ञायां वर्तमानोऽहं बृहस्पतेः सम्बन्धि उत्तममुत्कृष्टं नाकं स्वर्गं रुहेयम् आरोहामि स्वर्गारोहणं करोमि। तथेन्द्रस्योत्तमं स्वर्गमारुहेयम्, क्षत्रियकर्तृके वाजपेये इन्द्रस्योत्तमं नाकं रुहेयमिति शेषः। 'आगतेषु ब्रह्मावरोहति देवस्याहमिति' (का० श्रौ० १४।४।८)। यजमानादीनां सप्तदशरथेषु सप्तदशशरप्रक्षेपप्रदेशे निखातामौदुम्बरीं शाखां प्रदक्षिणीकृत्य सर्वेषु देवयजनमागतेष्वादौ ब्रह्मा औदुम्बराद्रथचक्रादवरोहति देवस्याहमिति मन्त्रेण। विप्रयज्ञे पूर्वेण मन्त्रेण, क्षात्रे उत्तरेण मन्त्रेण। सत्यसवसः सत्यं प्रकृष्टं सवोऽभ्यनुज्ञा यस्यासौ सत्यसवास्तस्य। सवितुर्देवस्य प्रसवे वर्तमानोऽहं बृहस्पतेरिन्द्रस्य सम्बन्धि नाकमरुहम् आरूढवानस्मीति।

अत्र ब्राह्मणम्—'तद्यदाजिं धावन्ति' (श० ५।१।५।१) इति। आजिधावनेन भूलोकं जितवान् भवति। तत्र ब्रह्मा नाभिमात्रे उन्नते रथचक्रे स्थित्वा साम गायेत्। एतेन भूम्यूर्ध्वप्रदेशयोर्मध्ये गीयमानेन साम्ना अन्तरिक्षलोकं जितवान् भवति। चक्रादुन्नतस्य सप्तदशारत्निपरिमितस्य यूपस्यारोहणेन तृतीयलोकं जितवान् भवति। 'स ब्रह्मा रथचक्रमधिरोहति। नाभिदघ्न उद्धितं देवस्याहᳫँ ....रुहेयमिति यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणः' (श० ५।१।५।२)। ब्रह्मणो रथचक्रे सामगानं विहितम्। तदारोहणमन्तरेण न सम्भवतीति तद्विधत्ते—स ब्रह्मा रथचक्रमधिरोहतीत्यादिना। वाजपेये ब्राह्मणो राजन्यश्चेति द्वावधिकारिणौ। तद्भेदेन मन्त्रभेदः। ब्रह्म हि देवानां मध्ये बृहस्पतिर्ब्राह्मणजातिः। 'अथ यदि राजन्यो यजते। देवस्याहᳫँ सवितुः

मन्त्रार्थ – **सत्यप्रेरक सविता देवता की अनुज्ञा में वर्तमान मैं बृहस्पति सम्बन्धी श्रेष्ठ स्वर्ग में आरोहण करूँ। अनुल्लंघनीय प्रेरणा वाले सविता देव की अनुज्ञा में वर्तमान मैं इन्द्र सम्बन्धी उत्कृष्ट स्वर्ग की कामना से रथचक्र पर आरोहण करता हूँ। अनुल्लंघनीय सविता देव की प्रेरणा से मैं बृहस्पति से उत्कृष्ट स्वर्ग की कामनावश इस रथचक्र पर आरूढ़ हुआ हूँ। अनुल्लंघनीय सविता देव की आज्ञा में वर्तमान मैं इन्द्र से उत्कृष्ट स्वर्गलाभ की कामना से इस रथ पर चढ़ा हूँ ॥ १० ॥**

भाष्यसार —वाजपेय यज्ञ में उत्कर स्थान के पास स्थापित सत्रह अरों (तीलियों) से युक्त उदुम्बर (गूलर) के काष्ठ से बनाये गये रथचक्र पर ब्रह्मा नामक ऋत्विक् 'देवस्याहम्' इस प्रथम मन्त्र से आरोहण करता है। वाजपेय याग के अनुष्ठान में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय द्विज का अधिकार है। ब्राह्मणकर्तृक वाजपेय में ही प्रथम मन्त्र का विनियोग है। क्षत्रियकर्तृक वाजपेय में 'इन्द्रस्य' पद वाले द्वितीय मन्त्र से आरोहण किया जाता है। तदनन्तर यजमानादि जब औदुम्बरी शाखा की प्रदक्षिणा सम्पन्न करके वापस लौट आते हैं, तब ब्रह्मा कण्डिकोक्त तृतीय मन्त्र 'देवस्याहम्' द्वारा अवरोहण करता (उतरता) है। पूर्व की भाँति अवरोहण में भी ब्राह्मणकर्तृक वाजपेय में तृतीय मन्त्र का विनियोग है। परन्तु क्षत्रिय द्वारा अनुष्ठीयमान वाजपेय में कण्डिका के 'इन्द्रस्य' पद वाले चतुर्थ मन्त्र से अवरोहण किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग

सवे सत्यसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकᳬ रुहेयमिति क्षत्रᳬ हीन्द्रः क्षत्रᳬ राजन्यः' (श० ५।१।५।३)। राजन्यपक्षे मन्त्रं पठति—इन्द्रस्योत्तममिति। बृहस्पतेरित्यस्य स्थाने इन्द्रस्येति विशेषः। अर्थस्तु पूर्ववदेव। देवानां मध्ये इन्द्रः क्षत्रियजातिः।

अध्यात्मपक्षे—सत्यसवसोऽबाधितैश्वर्यस्य सवितुः सर्वप्रसवितुः परमेश्वरस्य सवे प्रेरणे वर्तमानोऽहं बृहस्पतेः सम्बन्धि उत्तमं नाकं स्वर्गं मोक्षं वा रुहेयम् आरोहामि। तथैव सत्यसवस इन्द्रस्य परमैश्वर्यशालिन ईश्वरस्य सवे प्रसवे उत्तमं नाकमरुहम् आरूढवानस्मीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु 'हे प्रजाराजजनाः, यथाहं सभाध्यक्षः सत्यसवसः सत्यं सव ऐश्वर्यं जगतः कारणं कार्यं च यस्य तस्य बृहस्पतेः, बृहतां प्रकृत्यादीनां पालकस्य देवस्य सकलविद्यादिशुभगुणद्योतकस्य सवितुर्जगदीश्वरस्य सवे प्रसूते जगति उत्तमं प्रशस्तं नाकं निर्दुःखं भोगं मोक्षपदं वा रुहेयम्। हे अध्येत्रध्यापका विद्याप्रिया जनाः, यथाहं विद्यामभीप्सुः सवितुः समग्रविद्याबोधप्रसवितुर्देवस्य सवे विद्याप्रचारैश्वर्ये सर्वोत्तमं नाकमरुहम् आरूढोऽस्मि, हे विजयाभिकाङ्क्षिणो जनाः! यथा योद्धा मनुष्यः सत्यसवसः सत्यन्यायविजयादिप्रसवितुरिन्द्रस्य शत्रुविदारयितुः सवे उत्तमं विजयरूपं नाकमारूढोऽस्ति, तथा यूयं सर्वे नाकमारूढा भवन्तु' इत्यादि, तदपि यत्किञ्चित्, कल्पनामात्रसारत्वात्, तत्तत्सम्बोधनानां निर्मूलत्वात्। तथैव देवेन्द्रनाकादिपदानामपि काल्पनिक एव तस्यार्थः॥ १० ॥

बृह॒स्पते॒ वाजं॑ जय॒ बृह॒स्पत॑ये॒ वाचं॑ वदत॒ बृह॒स्पतिं॒ वाजं॑ जापयत। इन्द्र॒ वाजं॑ जये॒न्द्राय॒ वाचं॑ वद॒तेन्द्रं॒ वाजं॑ जापयत॥ ११ ॥

'बृहस्पते वाजमित्येकं दुन्दुभिमाहन्ति तूष्णीमितरान्' (का० श्रौ० १४।३।१५)। अध्वर्युरनुवेद्युच्छ्रितस्थाणुस्थापितानां सप्तदश दुन्दुभीनां मध्ये एकं बृहस्पत इति मन्त्रेण वादयेत्। अन्यांश्च षोडश तूष्णीमन्तरैव मन्त्रं वादयेत्। विप्रयज्ञे मन्त्रः—हे दुन्दुभयः, यूयं बृहस्पतये वाचं वदत। हे बृहस्पते! त्वं वाजमन्नं जय स्वायत्तं कुरु। हे दुन्दुभयः, यूयमेव बृहस्पतिं वाजमन्नं जापयत, बृहस्पतिनाऽन्नजयं कारयतेत्यर्थः। 'जि जये'

कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।१२, १४।४।८) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट व्याख्यान भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—अबाधित ऐश्वर्य से युक्त, सबके प्रेरक परमेश्वर की प्रेरणा में वर्तमान मैं बृहस्पति देव से सम्बद्ध उत्तम स्वर्ग अथवा मोक्ष के पद पर आरोहण करता हूँ। इसी प्रकार परमैश्वर्यशाली ईश्वर की प्रेरणा के अन्तर्गत उत्तम स्वर्ग पर आरूढ हो गया हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्यान मात्र कल्पना के बल पर आधृत होने के कारण अग्राह्य है। इस व्याख्यान में प्रदर्शित विभिन्न सम्बोधन पदों के लिये कोई मूल प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार देव, इन्द्र, नाक आदि शब्दों के अर्थ भी काल्पनिक ही हैं॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे दुन्दुभियों! तुम बृहस्पति के लिये इस प्रकार के वचन कहो कि हे बृहस्पते! तुम अन्न पर विजय प्राप्त करो। हे दुन्दुभियों! तुम बृहस्पति को अन्न पर विजय प्राप्त कराओ। हे दुन्दुभियों! तुम इन्द्र के निमित्त इस प्रकार वाणी कहो कि हे इन्द्र तुम अन्न को जीतो। हे दुन्दुभियों! तुम भी इन्द्र को अन्न की जय कराओ॥ ११ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'बृहस्पते वाजम्' इस मन्त्र से सत्रह दुन्दुभियों में से एक को

इत्यस्य लोण्मध्यमबहुवचने जापयतेति रूपम्। यद्वा हे देवदुन्दुभयः, यूयमुच्यध्वं बृहस्पतये वाजमन्नं जय इत्थम्भूतां वाचं बृहस्पतयेऽर्थाय वदत। बृहस्पतिं च वाजमन्नं जेष्यामीति जापयत उद्वादयत। 'जप जल्प व्यक्तायां वाचि' इति धातो रूपम्। क्षत्रयज्ञे दुन्दुभिवादनमन्त्रः हे दुन्दुभयः, यूयमिन्द्रायेति वाचं वदत। त्वं वाजं जय, इन्द्रं वाजं जापयतेति पूर्ववत्। यद्वा हे बृहस्पते देव, त्वं वाजमन्नं जय इति वाचं हे दुन्दुभयः, यूयं बृहस्पतयेऽर्थाय वदत ब्रूत बृहस्पतिं वाजमन्नं जापयत उद्वादयत।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ सप्तदश दुन्दुभीननुवेद्यन्तं समभिघ्नन्ति। प्रतीच आग्नीध्रात् प्रजापतिं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते वाग् वै प्रजापतिरेषा वै परमा वाग् या सप्तदशानां दुन्दुभीनां परमामेवैतद्वाचं परमं प्रजापतिमुज्जयति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति' (श० ५।१।५।६), 'ब्रह्मा त्रिः सामानि गायति, दुन्दुभीन् वादयति, एष स्य इति प्रत्यृचं जुहोति' (का० श्रौ० १४।४।१-३), 'प्रदक्षिणं कृत्वा-यान्ति, आगतेषु ब्रह्मावरोहति' (का० श्रौ० १४।४।७-८)। अनुवेदि वेदिसमीपे प्रतीच आग्नीध्रीयपश्चिमप्रदेशे स्थितान् सम्भिघ्नन्ति वादयितुमाघ्नन्तीत्यर्थः। दुन्दुभीनां नादस्य महत्त्वात् परमवाक्त्वम्, अतो वाग्रूपप्रजापत्युज्जयहेतुत्वाद् दुन्दुभिवादनम्। 'अथैतेषां दुन्दुभीनामेकं यजुषाहन्ति तत्सर्वे यजुषाहता भवन्ति' (श० ५।१।५।७)। तेष्वेकं बृहस्पते वाजमिति मन्त्रेण समाहन्यादितरान् षोडश तूष्णीं वादयेत्। एकस्य समन्त्रकाहननेन सर्वेऽपि दुन्दुभयश्छत्रिन्यायेन समन्त्रकमेव वादिता भवन्ति। 'स आहन्ति बृहस्पते वाजं जय बृहस्पतये वाचं वदत बृहस्पतिं वाजं जापयतेति यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणः ॥ अथ यदि राजन्यो यजते....' (श० ५।१।५।८-९)।

अध्यात्मपक्षे—हे साधकाः ! यूयं बृहस्पतये वेदलक्षणाया वाचः पालकाय परमात्मने वाचं वदत। किमिति चेत्, हे बृहस्पते परमात्मन्, त्वं वाजमन्नं ज्ञानविज्ञानलक्षणं मोक्षलक्षणं वा जय, स्वायत्तं कृत्वास्मभ्यं प्रयच्छेति शेषः। हे साधकाः ! यूयमेव बृहस्पतिमन्नं जापयत बृहस्पतिना तादृशमेवान्नं सम्पादयतेत्यर्थः। तथैव हे साधकाः, यूयमिन्द्राय परमैश्वर्ययुक्ताय परमेश्वराय वाचं वदत यद् हे इन्द्र परमैश्वर्यविशिष्ट परमेश्वर ! त्वं वाजं संग्रामं कामक्रोधादिभिः संघर्षलक्षणं जय, तत्र विजयं प्राप्नुहि। तेनास्मान्निःसपत्नान् सम्पादय। हे साधकाः, यूयं वाजं जापयत इन्द्रेण जयं कारयतेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे बृहस्पते सर्वविद्याध्यापकोदेशक ! त्वं वाजं जय विज्ञानं संग्रामं वा जय। हे विद्वांसः, यूयमस्मै बृहस्पतये वाचं वेदोक्तसुशिक्षया प्रसिद्धां वाचं वदत पाठयत उपदिशत वा। बृहस्पतिं संम्राजमनूचान-मध्यापकं वा वाजं विद्याबोधं युद्धं वा जापयत उत्कर्षेण बोधयत। हे इन्द्र विद्यैश्वर्यप्रकाशक शत्रुविदारक वा,

---

बजाया जाता है। ब्राह्मणकर्तृक याग में दुन्दुभिवादन 'बृहस्पति' पद से युक्त मन्त्र द्वारा किया जाता है तथा क्षत्रियकर्तृक याग में 'इन्द्र' पद से युक्त मन्त्र से दुन्दुभिवादन किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।१५) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ शतपथ ब्राह्मण में भी उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे साधकगण, आप लोग वेदात्मिका वाणी की रक्षा करने वाले परमात्मा के लिये इस प्रकार वाणी बोलिये—हे परमात्मन्, आप ज्ञानविज्ञानरूपी अथवा मोक्षरूपी अन्न को स्वाधीन करके हमें प्रदान करें। हे साधकगण, आप लोग बृहस्पति के द्वारा उसी प्रकार के अन्न का सम्पादन करें। इसी प्रकार हे साधकों, आप लोग परमैश्वर्य से सम्पन्न परमेश्वर के प्रति प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर, आप काम-क्रोधादि से संघर्षात्मक संग्राम में विजय प्राप्त करावें तथा उससे हम लोगों को शत्रुरहित बनावें। हे साधकों, आप लोग इन्द्र के द्वारा विजय सम्पादित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ साररहित है, क्योंकि बृहस्पति शब्द का अन्य अर्थ करने में कोई प्रमाण

वाजं परमैश्वर्यं शत्रुविजयाख्यं युद्धं वा जय उत्कर्षं प्राप्नुहि । हे युद्धविद्याकुशला विद्वांसः, यूयमस्मै इन्द्राय वाचं राजधर्मप्रचारिणीं वाणीं वदत । इन्द्रं वाजं जापयत उत्कृष्टतां प्रापयत' इति, तदपि निःसारम्, बृहस्पतिशब्दस्य तादृशार्थकत्वे मानाभावात् । के वा अन्ये विद्वांसो ये बृहस्पतये उपदेक्ष्यन्ति ? तथैव इन्द्रपदस्यापि तादृशार्थताऽप्रसिद्धा । तदुपदेष्टारश्च नहि मन्त्रपदैरवगम्यन्ते । स्वेच्छयाऽध्याहारस्तु निर्मूल एव ॥ ११ ॥

एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजयताजीजयत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम् । एषा वः सा सत्या संवागभूद्ययेन्द्रं वाजमजीजयताजीजयतेन्द्रं वाजं वनस्पतयो विमुच्यध्वम् ॥ १२ ॥

'एषा व इति मन्त्राहतमवहरते, तूष्णीमितरान्' (का० श्रौ० १४।४।९-१०)। अध्वर्युः सप्तदशसंख्याकेषु दुन्दुभिषु मन्त्रेण वादितं दुन्दुभिं स्थाणुतो नीचैरवतारयति । तत इतरान् षोडश दुन्दुभीन् स्थाणुभ्यस्तूष्णीमवतारयेदध्वर्युः । अत्रापि पूर्वो मन्त्रो विप्रयज्ञे, उत्तरस्तु क्षात्रे प्रयोक्तव्यः । हे दुन्दुभयः, वो युष्माकमेषा वाक् सत्या समभूत् तथ्या संवृत्ता, यया वाचा बृहस्पतिं वाजमजीजयत बृहस्पतिं वाजजितं कृतवन्तः । बृहस्पतिमजीजयतेति पुनरुक्तिस्तु भूयसोऽर्थस्य ग्रहणाय, 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरु० १०।४२) इति यास्कोक्तेः । अत्यन्तं बृहस्पतिमन्नजयं कारितवन्तो यूयं यया वाचा, सा सत्या जातेत्यर्थः । णिजन्तस्य जयतेर्लुङि मध्यमबहुवचने रूपम् । हे वनस्पतयः, वनस्पतिविकारा दुन्दुभयः, यूयं विमुच्यध्वं कृतकृत्याः सन्तो विमोचनं कुरुत । यया वाचा इन्द्रं वाजमजीजयत सा सत्याऽभूदतो विमुच्यध्वम् । यद्वा— एषा युष्माकं सत्याऽवितथा यथार्थवादिनी संगतवादिनी वागभूत्, यया वाचा बृहस्पतिं वाजमन्नं जेष्यामीति, इत्थमीदृशमजीजयत । जयतेर्णिचि लङि चङि तादृशं रूपम्, जापितवन्तः, उद्घादितवन्त इत्यर्थः । यूयमजीजयत बृहस्पतिं वाजमन्नं जेष्यामीति, तच्च बृहस्पतिना जितम्, अतो यूयं कृतकृत्या विमुच्यध्वम् । उत्तरोऽपि मन्त्रस्तथैव व्याख्येयः, देवतामात्रस्य विशेषत्वात् ।

'अथैतेष्वाजिसृत्सु रथेषु । पुनरासृतेष्वेतेषां दुन्दुभीनामेकं यजुषोपावहरति तत्सर्वे यजुषोऽपावहृता भवन्ति' (श० ५।१।५।१०) । रथेषु आजिसृत्सु लक्ष्यस्थानं प्रति गतवत्सु पुनरासृतेषु पुनरागतेषु सत्स्वेतेषां मध्ये एकं

नहीं है । दूसरे कौन विद्वान् हैं, जो बृहस्पति को उपदेश देंगे । इसी प्रकार इन्द्र शब्द का भी प्रतिपादित अर्थ अप्रसिद्ध है । मन्त्र के पदों से उसके उपदेशक बोधित नहीं होते । अपनी इच्छा के अनुसार अध्याहार करना तो अप्रामाणिक ही है ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे दुन्दुभियों ! तुम्हारी यह वाणी सत्य हुई, बृहस्पति ने अन्न पर विजय प्राप्त कर ली । हे वनस्पति के काष्ठ से निर्मित दुन्दुभियों ! अब कृतकृत्य हो कर अनुमति दो कि बृहस्पति का रथ दौड़ने लगे । हे दुन्दुभियों ! तुम्हारा दिया हुआ वह आशीर्वाद सत्य हुआ, जिससे इन्द्र को अन्न पर विजय प्राप्त हुई । तुम्हारे वचन से इन्द्र अन्न पर विजय प्राप्त कर सका । हे काष्ठनिर्मित वनस्पतियों ! अब कृतकृत्य होकर अनुमति दो कि इन्द्र का रथ गतिशील हो जाय ॥ १२ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।९-१०) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'एषा वः' इस कण्डिका के मन्त्र से बजाये गये दुन्दुभिवाद्य को खम्भे से अध्वर्यु उतारता है । इस कण्डिका में भी 'बृहस्पति' पद वाले प्रथम मन्त्र का विनियोग ब्राह्मणकर्तृक यज्ञ के लिये है तथा 'इन्द्र' पद वाले द्वितीय मन्त्र का विनियोग क्षत्रियकर्तृक

प्राग्यजुषाऽवरोहयेत् । 'स उपावहरति । एषा वः····विमुच्यध्वमिति । यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म हि बृहस्पतिः·····' (श० ५।१।५।११)। 'अथ यदि राजन्यो यजते ·· ' (श० ५।१।५।१२)।

अध्यात्मपक्षे – हे साधकाः, वो युष्माकमेषा वाक् सत्या अवितथा जाता, यया वाचा बृहस्पतिं वेदलक्षणाया वाचः पालकं परमेश्वरं ज्ञानभक्तिलक्षणान्नजयं कारितवन्तः । हे वनस्पतयः, वनानां ज्ञानकिरणानां स्वामिनः, साधका विमुच्यध्वं पूर्वोक्तज्ञानभक्तिलक्षणान्नप्राप्त्या विमुच्यध्वम्, कृतकृत्या भूत्वा सर्वसंसारदुःखेभ्यो विमुक्ता भवत । एवमेवोत्तरोऽपि मन्त्रो व्याख्येयः । तत्र तु परमैश्वर्यविशिष्ट ईश्वरस्तादृशान्नजयाय प्रार्थितः ।

दयानन्दस्तु—'हे वनस्पतयः, यूयं यया बृहस्पतिं वेदशास्त्रपालकं वाजं वेदशास्त्रबोधम् अजीजयत उत्कर्षयत, सैषा वः संवाग् विनयपुरुषार्थयोः सम्यक् प्रकाशिनी वाणी सत्याभूद् भवेत्, तया यूयं विमुच्यध्वं दुःखमुक्ता भवत । हे वनस्पतयः, वनानां जङ्गलानां पालकाः, यूयं ययोक्तपरमैश्वर्ययुक्तं वाजं युद्धमजीजयत सम्यक् प्रापयत, वाजमुत्तमश्रीप्रापकमुद्योगं सैषा वः संवाक् सत्याभूत्, यूयं विमुच्यध्वं दुःखमुक्ता भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राजपुरुषा इति वक्तव्ये तदपहाय वनस्पतय इत्युक्तेः प्रयोजनानुपपत्तेः । न च तेषां वाक्षु तादृशी शक्तिः सम्प्रतिपन्ना, यया वेदशास्त्रबोधवृद्धिः स्यात्, यया च बृहस्पतेर्महतो राज्यस्य राजपुरुषस्य संग्रामे विजयः स्यात्, यया च सर्वेषां दुःखेभ्यो मुक्तिः स्यात् । श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वाच्चैषा कुकल्पना त्याज्यैव । श्रुतौ तु स्पष्टं दुन्दुभयोऽनेन मन्त्रेणावतार्यन्ते ॥ १२ ॥

दे॒वस्या॒हᳬं स॑वि॒तुः स॒वे स॒त्यप्र॑सवसो॒ बृह॒स्पते॑र्वाज॒जितो॒ वाजं॑ जेषम् । वाजि॑नो वाज॒जितोऽध्व॑नः स्कभ्नु॒वन्तो॒ योज॑ना॒ मिमा॑नाः॒ काष्ठां॑ गच्छत ॥ १३ ॥

'देवस्याहमिति यजुर्युक्तमारोहति यजमानः' (का० श्रौ० १४।३।१८)। यो रथः पूर्वं मन्त्रैर्योजितः, तं रथं यजमानो देवस्याहमिति मन्त्रेणारोहति । देवस्य दीव्यमानस्य सत्यसवसः सत्याभ्यनुज्ञस्य सवितुः सवेऽनुज्ञायां

यज्ञ के लिये है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे साधकगण, आप लोगों की वह वाणी सार्थक हो गई, जिसके द्वारा आपने वेदवाणी के रक्षक परमेश्वर की ज्ञानभक्तिरूपी जय सम्पादित की । हे ज्ञानकिरणों के स्वामी साधकगण, ज्ञानभक्तिरूपी प्राप्तव्य की प्राप्ति के द्वारा कृतकृत्य होकर समस्त सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाओ । इसी प्रकार द्वितीय मन्त्र की भी व्याख्या करनी चाहिये । उसमें परमैश्वर्य से युक्त ईश्वर की प्रार्थना है ।

स्वामी दयानन्द का व्याख्यान संगत नहीं है, क्योंकि मन्त्र में यदि 'हे राजपुरुषों' यही वक्तव्य था, तो 'वनस्पतयः' इस पद के कथन का कोई प्रयोजन संगत नहीं होता । फिर उनकी वाणी में ऐसी शक्ति नहीं है, जिससे वेदशास्त्रबोध की वृद्धि हो तथा जिससे महान् राज्य की, राजपुरुष की संग्राम में विजय हो सके एवं जिससे सबकी दुःखों से मुक्ति हो सके । यह वृथा कल्पना श्रुति तथा सूत्र से विरुद्ध होने के कारण परित्याग के योग्य ही है । श्रुतिवाक्य में तो स्पष्ट ही इस मन्त्र से दुन्दुभि का अवतारण निर्दिष्ट है ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—मैं सत्य आज्ञा वाले सबके प्रेरक सविता देव की आज्ञा में वर्तमान हूँ । अन्न जीतने वाले बृहस्पति सम्बन्धी अन्न को प्राप्त करूँ । हे घोड़ों ! अन्न को जीतने वाले तुम मार्गों को क्षुब्ध करते हुए योजनों दूर गन्तव्य स्थल को अतिशीघ्र अठारह क्षणों में ही प्राप्त कर लो ॥ १३ ॥

वर्तमानोऽहं वाजजितोऽन्नजितः संग्रामजितो वा बृहस्पतेः सम्बन्धिनं वाजमन्नं संग्रामं वा जेषं जयेयम्। जयतेर्लेटि रूपम्। हे वाजिनः, अश्वाः! यूयं वाजजितोऽश्वस्य जेतारः, तथाऽध्वनो मार्गान् स्कभ्नुवन्तो रुन्धन्तः क्षोभयन्तः, स ह्यश्वस्वभावः। तथा योजना योजनानि मिमाना अतिशीघ्रतया परिच्छिन्दन्तः काष्ठामाज्यन्तमुत्कर्षं प्राप्नुत, आज्यन्तोऽपि काष्ठोच्यते, 'क्रान्त्वा स्थिताः' (निरु० २।१५) इत्युक्तेः। हे वाजिनः शीघ्रगामिनोऽश्वाः, यूयं वाजमन्नं जयत वशीकुरुत। अध्वनो मार्गान् स्कभ्नुवन्तः स्तम्भयन्तः पीडयन्तो योजना योजनानि मिमानाः परिच्छिन्दन्तः शीघ्रगत्याऽल्पानीव कुर्वन्तो यूयं काष्ठामध्वसमाप्तिं लक्ष्यस्थानं गच्छत, प्राप्नुतेति यावत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ यं यजुषा युनक्ति। तं यजमान आतिष्ठति देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषमिति' (श० ५।१।५।१५)। अश्वैर्युक्तस्य रथस्य यजमानकर्तृकं समन्त्रकमारोहणं विधत्ते अथेति। उक्तसप्तदशप्रव्याधान्ते पथाजिधावनं कर्तुमातिष्ठति, आरोहेदित्यर्थः। यथार्थप्रसवस्य सवितुर्देवस्य सवेऽभ्यनुज्ञायां वर्तमानोऽहं वाजजितोऽन्नस्य जेतुर्बृहस्पतेः सम्बन्धि वाजमन्नं जेषं जीयासमिति। सवितुरनुज्ञयैव प्रवर्तने वाजोज्जयो भवतीत्यर्थः। 'तद्यथैवादो बृहस्पतिः। सवितारं प्रसवायोपाधावत् सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुव त्वत्प्रसूत इदमुज्जयानीति तदस्मै सविता प्रसविता प्रासुवत् तत्सवितृप्रसूत उदजयत्' (श० ५।१।५।१६)। उपर्युक्तमर्थं बृहस्पतिदृष्टान्तेन द्रढयति—तद्यथैवाद इति। अदोऽमुष्मिन् विप्रकृष्टे काले आजिधावनकाले बृहस्पतिः सवितारमनुससार। 'एवमेवैष एतत्सवितारमेव प्रसवायोपधावति... तदस्मै सविता प्रसौति तत्सवितृप्रसूत एव उज्जयति', 'अथ यदध्वर्योरन्तेवासी वा ब्रह्मचारी वैतद्यजुरधीयात् सोऽन्वास्थाय वाचयति वाजिन इति वाजिनो ह्यश्वास्तस्मादाह वाजिन इति वाजजित इत्यन्नं वै वाजोऽन्नजित इत्येवैतदाहाध्वनः स्कभ्नुवन्त इत्यध्वनो हि स्कभ्नुवन्तो धावन्ति योजना मिमाना इति योजनशो हि मिमाना अध्वानं धावन्ति काष्ठां गच्छतेति यथैवैनानन्तरा नाष्ट्रा रक्षाꣳसि न हिꣳस्युरेवमेतदाह धावन्त्याजिमाघ्नन्ति दुन्दुभीनभि साम गायति' (श० ५।१।५।१६-१७)। अथ यजमानस्य रथारोहणानन्तरमध्वर्योः शिष्यो वाऽन्यो ब्रह्मचारी एतद्वक्ष्यमाणं मन्त्रमधीयात् स्मरेत्। स तमेव रथमन्वास्थाय तूष्णीमारुह्य वाजिन इति मन्त्रं वाचयति, यजमानमिति शेषः। स्कम्भनं नाम वेगेनाक्रमणं मार्गान् पृष्ठतः कृत्वा पुरो धावनम्, तत्कुर्वन्तः क्षोभयन्तो योजनानि मिमानाः शीघ्रगत्या परिच्छिन्दन्तः काष्ठामाजिधावनस्यावधिभूतां सप्तदशप्रव्याधान्ते निर्मितामौदुम्बरीं शाखां लक्ष्यभूतस्वर्गात्मिकाम्, 'स्वर्गो वै लोकः काष्ठा' (तै० १।३।६।५) इति श्रुतेः। श्रुतिरेव व्याचष्टे—वाजिनोऽश्वा योजनशो हीति। लोके हि अध्वगा योजनश एकैकं योजनं मिमानाः परिच्छिन्दन्तो महान्तमध्वानं धावन्ति, एवमश्वा अपि। यथैवैनानन्तरा नाष्ट्रा इति। अन्तरा आजिधावनमध्ये नाष्ट्रा नाशकानि रक्षांसि, एनानश्वान् यथा न हिंस्युस्तथा लक्ष्यस्थानं गच्छतेति। विहितानामाजिधावनदुन्दुभ्याहननब्रह्मकर्तृकसामगायनानां प्रयोगकालं विधत्ते—धावन्त्याजिमाघ्नन्ति दुन्दुभीनभि साम गायतीति।

अध्यात्मपक्षे—देवस्य जगदुत्पत्त्यादिभिः क्रीडमानस्य सवितुर्जगत्कारणस्य सत्यसवसः अवितथैश्वर्यस्य परमेश्वरस्य सवे प्रेरणायां वर्तमानोऽहं साधको बृहस्पतेः बृहत्या वाचो वेदलक्षणायाः पालकस्य सम्बन्धि वाजं

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।३।१८) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'देवस्याहम्' इस मन्त्र से यजमान पूर्वोक्त विधि से संयोजित रथ पर चढ़ता है। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय श्रुति में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्र का व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है - जगत् की उत्पत्ति आदि के द्वारा क्रीडा करने वाले, जगत् के कारणभूत,

भक्तिज्ञानलक्षणमन्नं कामादिभिः संग्रामं वा जेषं जयेयम्। हे वाजिनो भगवद्रथस्याश्वाः, वाजजितो वाजस्याभीष्टान्नस्य संग्रामस्य वा जेतारो यूयं भक्तानां रक्षणाय अध्वनो मार्गान् स्कभ्नुवन्तः क्षोभयन्तो योजनानि अतिशीघ्रतया मिमानाः परिच्छिन्दन्तः काष्ठामुत्कर्षं गच्छतेति।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, यथाऽहं सत्यसवसः सवितुर्देवस्य वाजजितो विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्य बृहस्पतेरुत्तमाया वेदवाण्याः पालकस्य जगदीश्वरस्य सवे समुत्पन्ने ऐश्वर्ये वाजं संग्रामं जयेयम्, तथा यूयमपि जयत। हे वाजिनः, वाजजितो विज्ञानवेगयुक्ता वाजजितः संग्रामं जेतुं शीला योजना योजनानि बहून् क्रोशान् मिमानाः शत्रून् प्रक्षेपमाणाः, अध्वनः शत्रोर्मार्गान् स्कभ्नुवन्तः प्रतिष्टम्भनं कुर्वन्तः काष्ठां गच्छत दिशं गच्छत, तथा वयमपि गच्छेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'वाजिनो ह्यश्वाः' (श० ५।१।५।१७) इति श्रुतिविरोधात्। हे वीरा इति सम्बोधनमपि निर्मूलमेव। 'मिमानाः' इत्यस्य प्रक्षेपमाणा अर्थ इत्यपि निर्मूलम्। 'सत्यानि प्रसवांसि जगत्स्थानि कारणरूपेण नित्यानि यस्य' इत्यपि न सङ्गतम्, प्रसवस्य क्रियारूपत्वेन नित्यत्वासम्भवात्॥ १३॥

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि। क्रतुं दधिक्रा अनु सꣳसनिष्यदत् पथामङ्काꣳस्यन्वापनीफणत् स्वाहा॥ १४॥

'एष स्य इति प्रत्यृचं जुहोति, अनुमन्त्रयते वा' (का० श्रौ० १४।४।३-४)। मन्त्रद्वयेनाज्यं जुहोत्यनुमन्त्रयते वा। अश्वदेवत्ये जगत्यौ दधिक्रावदृष्टे। स्य इति तच्छब्दपर्यायस्य त्यच्छब्दस्य छान्दसं रूपम्। 'स्यश्छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।१।१३३) इति विभक्तेर्लुक्। ग्रीवायां कक्षे, असनि आस्ये च तत्तदुचितरज्जुविशेषबद्धः, ग्रीवायामुरोवध्रेण बद्धः, अपिकक्षं कक्षयोः समीपे पर्याणदेशस्तत्र सन्नाहरज्ज्वा बद्धः, कक्षमूले वा बद्धः, आस्ये कविकया बद्धः, एष स्य वाजी वेजनवान् सोऽयमश्वः क्षिपणिं क्षिप्यते प्रेर्यतेऽनयेति क्षिपणिः

सत्यैश्वर्य से युक्त परमेश्वर की प्रेरणा में रहता हुआ मैं साधक वेदवाणी के रक्षक परमेश्वर से सम्बद्ध भक्ति, ज्ञानरूपी भोग्य को अथवा कामादि शत्रुओं से संग्राम को जीत लूँ। हे भगवान् के रथ के अश्वों, अभीष्ट भोग्य अथवा संग्राम को जीतने वाले आप लोग भक्तों की रक्षा के लिये मार्गों को कँपाते हुए तथा कोसों की दूरी को भी अतिशीघ्र नापते हुए श्रेष्ठता प्राप्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ 'वाजी अश्व ही है' इस शतपथ श्रुतिवाक्य से विपरीत होने के कारण अग्राह्य है। 'हे वीरों' यह सम्बोधन भी प्रमाणरहित है। 'मिमानाः' का 'प्रक्षेपण करते हुए' अर्थ करना भी निर्मूल है। 'प्रसव' क्रियात्मक होने के कारण उसकी नित्यता का प्रतिपादन भी असम्भव है॥ १३॥

मन्त्रार्थ—इस घोड़े की ग्रीवा, कक्ष और मुह में लगाम बँधी हुई है। यह घुड़सवार को लेकर मार्ग के अवरोधक पत्थर, गड्ढे और कांटे आदि को अतिक्रमण करता हुआ घुड़सवार के अभिप्राय को जान कर उसके निर्देश के अनुसार दौड़ता हुआ मार्गों के ऊबड़-खाबड़ को पहचानता हुआ, मार्गों के ऊँचे-नीचे चिह्नों को अतिशीघ्र गति से लांघता हुआ, चाबुक के आघात की अपेक्षा किये बिना इशारे मात्र से तेजी से दौड़ता है। यह आहुति अश्व द्वारा भली प्रकार गृहीत हो, यह उसी के लिये दी गई है॥ १४॥

भाष्यसार—'एष स्य' इस मन्त्र से आज्य का हवन अथवा अनुमन्त्रण किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया का यह

कशा, तां तुरण्यति त्वरयति बहुधा बहुत्वाद्रथं भञ्जयितुमितस्ततो न गच्छति, कशायास्त्वरया शीघ्रं धावतीत्यभिप्रायः। यद्वा कशावातमनु तुरण्यति तूर्णमध्वानमश्नुते। दधिक्रा दधीन् धारकान् मार्गविरोधान् पाषाणादीनप्यतिक्राम्यन्नश्वः। यद्वा दधात्यश्ववारमिति दधिः, 'आदृगम·····' (पा० सू० ३।२।१७१) इति किप्रत्ययः, दधिः सन् क्राम्यत्यध्वानमिति दधिक्राः, विटि क्रमतेराकारः। दधिक्रा इत्यश्वनामसु (निघ० १।१४।७)। क्रतुं सादिनोऽभिप्रायं संसनिष्यदत् सम्यगनुसन्दधानः, अर्थात् सादिसङ्कल्पानुसारेण गच्छन्। यद्वा स्यन्दतेस्तनोत्यर्थे वर्तमानात् सनिष्यददिति रूपम्। तथा च स्वकीयं कर्म प्रज्ञां दधिक्रा अत्यर्थमनुसन्तनोति। पथां मार्गाणां कुटिलानि चक्राण्यतिशीघ्रगत्या क्षिप्रं प्राप्नोति। पथां मार्गाणामङ्कांसि लक्षणानि कुटिलानि निम्नोन्नतानि वा अन्वापनीफणद् अतिशीघ्रेण प्राप्नुवन् अनुक्रमेण ऋजुत्वं समत्वं वाऽऽपादयन् तुरण्यतीति पूर्वेण सम्बन्धः। अनु आ पूर्वस्य गत्यर्थस्य फणतेर्यङ्लुकि निपातः -अन्वापनीफणदिति। स्वाहा सुहुतमस्तु। वषट्कारनिवृत्त्यर्थं स्वाहाशब्दप्रयोगः।

'अथैताभ्यां जगतीभ्यां जुहोति वाऽनु वा मन्त्रयते···' (श० ५।१।५।१८)। 'स जुहोति। एष स्य वाजी·····' (श० ५।१।५।१९)।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरस्य रामकृष्णादिरूपधारिणोऽश्वस्य गुणवर्णनपरोऽयं मन्त्रः। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'एष वीरो वाजी वेगवान् क्षिपर्णि क्षिपन्ति शत्रून् यया तां सेनाम्, यथैव स्योऽसौ वाजी आसनि ग्रीवायां बद्धः क्रतुं कर्म गतिमनुसंसनिष्यदद् अतिशयेन प्रस्रवन्नपि कक्षे निश्चितपार्श्वावयवे पथां मार्गाणामङ्कांसि लक्षणानि अन्वापनीफणद् अतिशयेन गच्छन् दधिक्रा अश्वः क्षिपर्णि सेनां गच्छति, तथा सेनेशः स्वसेनां तुरण्यति स्वाहा सत्यया वाचा तुरण्यति पराक्रमयेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एष इति वीरार्थक इत्यत्र मानाभावात्, सेनेशः स्वसेनां पराक्रमयेत्, इत्यंशस्य निर्मूलत्वात्। श्रुत्या त्वस्य मन्त्रस्य होमेऽनुमन्त्रणे विनियोग उक्तः॥ १४॥

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।३-४) में निर्दिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—यह अश्व गरदन पर, काँख पर तथा मुख पर, इन तीनों स्थानों पर रज्जु से कसा हुआ चाबुक की प्रेरणा से शीघ्रतया दौड़ता है। मार्ग के अवरोधों का अतिक्रमण करने वाला यह अश्व अपने सारथि के मन्तव्यों के अनुसार गमन करता हुआ अथवा अपनी बुद्धि से अन्वेषण करता हुआ मार्गों के टेढ़े-मेढ़े अथवा ऊँचे-नीचे स्थानों को शीघ्र पार करता हुआ वेगपूर्वक जाता है। यह पूर्णतः समर्पित हो। यह मन्त्रार्थ याज्ञिक विनियोग के अनुकूल ही शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में भी राम-कृष्ण आदि अवतार धारण करने वाले परमेश्वर के अश्व के गुणों का वर्णन यह मन्त्र करता है। मन्त्र की व्याख्या तो पूर्व की भाँति ही है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि 'एष' यह पद 'वीर' अर्थ का वाचक है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'सेनापति अपनी सेना का पराक्रमण करे' यह व्याख्यांश भी निर्मूल है। श्रुति के द्वारा तो इस मन्त्र का हवन तथा अनुमन्त्रण कार्यों में विनियोग उपदिष्ट है॥ १४॥

उत स्मा॑स्य द्रव॑तस्तुरण्य॒तः प॒र्णं न वेर॒नु॑वाति प्रग॒र्धिन॑: । श्ये॒नस्ये॑व॒ ध्रज॑तो अङ्कसं परि॑ दधि॒क्राव्ण॑: स॒होर्जा तरि॑त्रत॒: स्वाहा॑ ॥ १५ ॥

अश्वदेवत्या विराड् वसिष्ठदृष्टा दशाक्षरचतुष्पादा। उत स्म अपि चास्य यजमानस्य रथे नियुक्तस्य द्रवतो गच्छतस्तुरण्यतस्तूर्णमध्वानमश्नुवानस्य प्रगर्धिनः प्रगृध्यतीति प्रगर्धी तस्य, अवधिं प्राप्नुमभिकाङ्क्षमाणस्याश्वस्याङ्कसं शृङ्गारचिह्नं वस्त्रचामरादिकं परि सर्वस्मिन्नपि देहे वर्तमानमनुगच्छन्तमश्वमनु उत्क्षिप्तत्वेन दृश्यमानं गच्छति। तत्र दृष्टान्तः—वेः पक्षिणः पर्णं न वातोद्गतं पत्रमिव, यथा त्वरया गच्छतः पक्षिणः पक्ष उत्क्षिप्तो गच्छन्नवलोक्यते, तथा धावतोऽश्वस्याङ्कसं रूपं वस्त्रचामरादिकं स्पष्टमवलोक्यते। तथा शीघ्रधावने श्येनो दृष्टान्त्यते। ध्रजतः परिधावतः। 'ध्रज गतौ' श्येनस्येव दधिक्राव्णो दधीन् क्रमते यस्तस्य धारकपर्वताद्यतिक्रामिणोऽश्वस्य ऊर्जा बलेन सह तरित्रतो भृशं तरतोऽश्वस्याङ्कसमनुवातीति सम्बन्धः। इति सायणानुसारि व्याख्यानम्।

उव्वटरीत्या तु यजमानरथस्यायुक्तश्चतुर्थोऽश्वोऽनुगच्छति कविकापर्याणयुक्त इति तत्परत्वेन पूर्वमन्त्रव्याख्यानम्। अथेदानीं रथयुक्तानश्वानेकशः स्तौति—उत स्म अपि चास्य रथयुक्तस्य द्रवत आज्यन्तं गच्छतः, तुरण्यतस्तूर्णमध्वानमश्नुवानस्य वेः शकुनेः पर्णं पत्रं न इव शकुनेः पत्रमिव वातोद्धतो रथः, अनुवाति अश्वं गच्छन्तमनुगच्छति। कथंभूतस्याश्वस्य? प्रगर्धिनः, आजिं जेतुं प्रगर्धोऽभिलाषोऽस्यास्तीति प्रगर्धी तस्य। यद्वा प्रगर्धिन इति शकुनिविशेषणम्। आमिषं प्रगर्धिनः शकुनेः पत्रमिवेति। स ह्यामिषग्रहणार्थमतिशयेन धावति, तस्मात् तेनोपमीयते। दक्षिणाप्रष्टिमश्वमुत्तरार्धर्चेन स्तौति—श्येनस्येति। श्येनस्येव ध्रजतोऽतिशयेन गच्छतः। अङ्कसं शरीरासक्तम्, अङ्कशब्दः शरीरवचनस्तत्र सक्तमङ्कसं परिपश्यन्ति। भक्षणाय गृहीतं पक्षिणं यथा तदीयशरीरासक्तं परिपश्यन्ति जनाः, तथा तस्य दधिक्राव्णोऽश्वस्य रथं तदीयशरीरासक्तं परिपश्यन्ति। कीदृशस्य? सहोर्जा तरित्रतः सहान्नेनाध्वानमतिशयेन तरतः। नैवारं चरुमवजिघ्रत्यश्वः, तदभिप्रायेण सहोर्जेत्युक्तम्।

मन्त्रार्थ—पहाड़, पत्थर, गड्ढे, कण्टक आदि को लांघकर तीव्र गति से दौड़ता हुआ यह अश्व अपने शिकार के प्रति तेजी से दौड़ते हुए बाज पक्षी के समान बल को धारण करता हुआ लम्बे मार्ग को त्वरित गति से लाँघ जाता है। इस अश्व की सजावट के चिह्न वस्त्र, चामर आदि वर्तमान हैं। दौड़ते समय भी यह साफ उसी प्रकार दिखाई देते हैं, जैसे कि उड़ते हुए पक्षी के पंख दिखाई पड़ते हैं ॥ १५ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत पूर्व मन्त्र में उल्लिखित विनियोग के अनुसार 'उत स्माऽस्य' इस मन्त्र के द्वारा भी हवन अथवा अनुमन्त्रण किया जाता है।

सायणाचार्य ने इस मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार किया है—इस यजमान के रथ में संयुक्त तथा दौड़ने वाले, शीघ्र मार्ग को पूरा करने वाले, लक्ष्य तक पहुँचने की आकांक्षा वाले घोड़े के वस्त्र, चामर आदि शृंगार के शरीर पर प्रसारित चिह्न अश्व के चलने पर उड़ते हुए से उसी प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं, जिस प्रकार शीघ्रतापूर्वक उड़ते हुए पक्षी के पंख उड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। बाज पक्षी के समान तेजी से दौड़ते हुए, पर्वत आदि का अतिक्रमण करने वाले, बल के कारण निरन्तर चलने वाले ये अश्व के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं।

उव्वटाचार्य के अनुसार इस मन्त्र के विभिन्न विशेषणों के द्वारा रथ में जुते हुए विभिन्न अश्वों की पृथक्-पृथक् स्तुति की गई है।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे राजजनाः, य ऊर्जा पराक्रमेण स्वाहा सत्यक्रियया च सहास्य द्रवतो रसप्रदवृक्षस्य पत्रमिव, तुरण्यतः शीघ्रं गच्छतः पक्षिणश्च पत्रमिव, प्रगर्धिनः प्रकर्षेणाभिकाङ्क्षिणः, ध्रजत ऊर्ध्वगत्या गच्छतः श्येनस्येव तरित्रतोऽतिक्षिप्रं गच्छतो दधिक्राव्णोऽश्वस्येव अङ्कसं शुभलक्षणयुक्तं मार्गम्, अनुवाति सर्वप्रकारेणानुकूलं चलति स्म। स एव पुरुषो दुष्टशत्रून् जेतुं शक्नोति' इति, तदपि बालभाषितम्, दार्ष्टान्तिकस्य मन्त्रेऽनुपलम्भात् ।। १५ ।।

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः ।

जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳ रक्षाꣳसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ।। १६ ।।

'उत्तरेण च त्र्यृचेन' (का० श्रौ० १४।४।५)। शन्न इति ऋक्त्रयेणाज्यहोमोऽश्वाभिमन्त्रणं वा। हे वाजिनोऽश्वाः, हवेषु यज्ञेषु संग्रामेषु वा नोऽस्माकं शं भवन्तु सुखप्रापका भवन्तु, देवताता देवयोग्याः, यद्वा देवास्तन्यन्ते विस्तार्यन्ते यत्र स देवतातिर्यज्ञः, तस्मिन् देवतातौ; यद्वा देवानां कर्म देवतातिः, देवशब्दात् कर्मणि तातिल्प्रत्ययः, तस्मिन् देवतातौ हवेषु आह्वानेषु शं भवन्तु। मितद्रवो मितमल्पं द्रवन्ति गच्छन्तीति मितद्रवः। तुगभाव आर्षः। स्वर्काः शीघ्रधावनेन सु अर्चनीयाः, शोभनोऽर्को रुग् येषां ते स्वर्काः सुरुचः स्वर्चना वा। अहिं वृकं रक्षांसि च सर्पवद् आरण्यश्ववद् बाधकान् राक्षसान् जम्भयन्तो जम्भन्तः, वर्णव्यत्ययः, क्षोभयन्तः। सनेमि शीघ्रम् अमीवा रोगान् अस्मद् अस्मत्तः, युयवन् वियोजितवन्तः। 'यु पृथग्भावे' इत्यस्य ह्वादित्वे लङि रूपम्, गुणाडभावावार्षौ। सनेमीति पुराणनाम, प्रकृते तु क्षिप्रवाचकः। यद्वा- अहिं वृकं रक्षांसि जम्भयन्तः सनेमि क्षिप्रमस्मत्सकाशाद् अमीवा रोगान् युयवन्।

अध्यात्मपक्षेऽपि पूर्ववदेव व्याख्यानम्। परमेश्वरस्य कृष्णस्य शैव्य-सुग्रीव-बलाहकादयोऽश्वा अपि देवतारूपा इति तेषां सम्बोधनीयत्वं सुखकरत्वं च श्लिष्टतरम्।

अध्यात्मपक्ष के व्याख्यान में भी अर्थयोजना पूर्वोक्त प्रकार से ही है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में मूल उपमेय के ही मन्त्रगत पदों में अनुपलब्ध होने के कारण प्रौढ़ता नहीं मानी जा सकती ।। १५ ।।

मन्त्रार्थ—देवताओं के कार्य के निमित्त यज्ञ में बुलाने पर बड़ी तेजी से दौड़ने वाले, श्रेष्ठ प्रकाश वाले, सांप, भेड़िये और राक्षसों का नाश करने वाले घोड़े हमारे लिये कल्याणकारी हों, हमारी सब प्रकार की दीर्घ काल की बीमारियों को दूर भगा दें ।। १६ ।।

भाष्यसार—'शं नो भवन्तु' इत्यादि तीन (९।१६-१८) मन्त्रों के द्वारा घृत से हवन अथवा अश्वों का अभिमन्त्रण किया जाता है । याज्ञिक प्रक्रिया का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।५) में प्रतिपादित है ।

मन्त्र की अर्थयोजना इस प्रकार है—हे अश्वों, तुम लोग यज्ञों में अथवा संग्रामों में हमारे लिये सुख प्रदान करने वाले हो । हे देवताओं के योग्य, अथवा देवताओं के कर्म में शीघ्र गमनकारी तथा पूजनीय अथवा सुन्दर कान्ति से युक्त अश्वों ! आप लोग सर्प तथा भेड़ियों की भाँति कष्टप्रद राक्षसों को विनष्ट करते हुए अतिशीघ्र रोगों को हमसे दूर करो ।

अध्यात्मपक्ष में भी उपर्युक्त प्रकार से ही व्याख्या है । परमेश्वर श्रीकृष्ण के शैव्य, सुग्रीव, बलाहक आदि घोड़े भी देवतारूप हैं । अत एव उनका पूजनीय तथा सुखप्रद होना युक्तियुक्त है ।

दयानन्दस्तु—'ये मितद्रवो नियमेन द्रवन्ति चलन्ति ते, स्वर्काः शोभनोऽर्कोऽन्नं सत्कारो वा येषां ते योद्धारः, अहिं मेघमिव चेष्टमानमुन्नतं वृकं चोरं रक्षांसि हिंसकान् जम्भयन्तो गात्राणि विनिमयन्तो हस्तपादादीनि त्रोटयन्तः, वाजिनो युद्धविद्याकुशला वीरा नोऽस्माकं देवतातौ विदुषां कर्मणि हवेषु संग्रामेषु सनेमि सनातनं शं सुखं भवन्तु, तेऽस्मदमीवा ये रोगवद् वर्तमानाः शत्रवस्तान्, युयवन् युवन्तु पृथक्कुर्वन्तु। लेटि शपः श्लुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, योद्धॄणां विशेष्याणां मूलेऽभावात् ॥ १६ ॥

ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः ।
सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनँ समिथेषु जभ्रिरे ॥ १७ ॥

अश्वदेवत्या जगती नाभानेदिष्टदृष्टा। विश्वे सर्वे वाजिनोऽश्वा नोऽस्माकं हवमाह्वानं शृण्वन्तु। कीदृशास्ते ? अर्वन्तः, इर्यति कुटिलं गच्छन्तीत्यर्वन्तः । 'ऋ गतौ' इत्यस्माद् वनिप्, 'अर्वणस्त्रसावनञः' (पा० सू० ६।४।१२७) इति त्रन्तादेशे रूपम् । हवनश्रुतः, हवनमाह्वानं शृण्वन्तीति हवनश्रुतः । मितद्रवः, यजमान-चित्तानुकूल्येन परिमितगामिनः । सहस्रसाः, सहस्रस्य अनेकजनतृप्तिक्षमस्य महतोऽन्नराशेः सनितारो दातारः । मेधसाता, मेधो यज्ञः सन्यते सम्भज्यते यत्र सा मेधसातिर्यज्ञशाला, ङेर्डाकारः, तस्यां सनिष्यवः संविभक्तारः पूरयितारः । ते के ? येऽश्वाः समिथेषु संग्रामेषु महो महत् पूज्यं वा धनं जभ्रिरे आहृतवन्तः । अमितद्रवो वा, अमितमपरिच्छिन्नं यजमानं ये द्रवन्ति गच्छन्ति ते अमितद्रवः । यद्वा मितद्रवः शोभनगमनाः । यद्वा अर्वन्तो गतिकुशलाः । हवनश्रुतः, आह्वानं शृण्वन्तः । वाजिनोऽन्नवन्तः । ते अश्वा नोऽस्माकमाह्वानं शृण्वन्तु । मेधसाता मेधो यज्ञो सीयते सेव्यते यत्र सा मेधसातिर्यज्ञशाला, मेधसाता इव तस्यां सनिष्यवः संभक्तारः पूरयितारः, समिथेषु संग्रामेषु महो महद्धनं जभ्रिरे आहृतवन्तः, तेऽस्मदीयमाह्वानं शृण्वन्त्विति सम्बन्धः । यद्वा मेधसाता यज्ञे सनिष्यवः सनिं द्रव्यदानमस्माकमिच्छन्तोऽश्वाः समिथेषु संग्रामेषु महो महतः शत्रोर्धनम्, मह इति धनविशेषणं वा, महद् धनं जभ्रिरे आहृतवन्तस्ते शृण्वन्त्विति सम्बन्धः ।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ संगत नहीं है, क्योंकि विशेष्य योद्धागण का उल्लेख मूल मन्त्र में नहीं है ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ— वे सब यजमान के चित्त के अनुसार चलने वाले, हमारे बुलावे को सुनने वाले, कुटिल गति वाले, अनेक जनों को तृप्त करने वाले यज्ञशाला के पूरक घोड़े हमारी आवाज को सुनें, जो संग्राम में हमारे लिये विपुल धन को ले आते हैं ॥ १७ ॥

भाष्यसार—पूर्व मन्त्र के भाष्य में उल्लखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार ही 'ते नः' मन्त्र भी याज्ञिक प्रक्रिया में विनियुक्त है ।

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—उत्प्लवन करते हुए दौड़ने वाले अथवा गतिकुशल, आह्वान को सुनने वाले, रथी के मनोनुकूल सीमित गति वाले अथवा अपरिमित गति वाले, हजारों प्राणियों को तृप्त करने योग्य अन्न के प्रदाता, यज्ञशाला को परिपूर्ण करने वाले तथा संग्रामों में प्रचुर अथवा श्रेष्ठ धन का आहरण करने वाले वे अश्व हमारे आह्वान को सुनें ।

अध्यात्मपक्षे तु पूर्ववदेव व्याख्यानम्। ते भगवदीयरथयुजोऽश्वास्तादृग्विशेषणा ऋतं सत्यं गन्तव्यदेशं जानन्तो वा अस्माकं हवमाह्वानं शृण्वन्तु।

दयानन्दस्तु—'येऽर्वन्तो ज्ञानवन्तः, हवनश्रुतो ये हवनानि ग्राह्याणि शास्त्राणि शृण्वन्ति, वाजिनः प्रशस्तप्रज्ञाः, मितद्रवो ये मितं शास्त्रप्रमितं विषयं द्रवन्ति प्राप्नुवन्ति, सहस्रसा ये सहस्रं विद्याविषयान् सनन्ति सेवन्ते ते, मेधसाता सनिष्यवो आत्मनः सनिं संविभागमिच्छवः, लालसायां सुक्, आत्मनः सुन्दरीं भक्तिं कुर्वन्ति वा ते, मेधसाता मेधानां सङ्गमानां सातिर्दानं येषु, सप्तमीबहुवचनस्य 'सुपां सुलुक्.....' (पा० सू० ७।१।३९) इति डादेशः, उत्तमसङ्गतिप्रापिकारका राजपुरुषाः समिथेषु संग्रामेषु नोऽस्माकं महद्धनं जभ्रिरे भरेयुः, वर्णव्यत्ययेन वस्य जः, ते विश्वे सर्वेऽस्माकं हवम् अध्ययनाध्यापनजन्यं बोधशब्दसमूहम् अर्थिप्रत्यर्थिविवादं च शृण्वन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, क्लिष्टकल्पनाबाहुल्यात्। 'अर्वन्तो ज्ञानवन्तः' इति च निर्मूलम्। 'हवनश्रुतो ग्राह्यशास्त्रश्रोतारः' इत्यपि निर्मूलम्, शास्त्रातिरिक्तानां धनसुखादीनां बहूनामपि ग्राह्यत्वसम्भवेन शास्त्रग्रहणे विनिगमनाविरहात्। न च शास्त्रमग्राह्यं भवति, येन तद्विशेषणं सङ्गतं स्यात्। हवमिति शब्दस्यापि बोधसमूहार्थबोधनेऽर्थिप्रत्यर्थिविवादरूपार्थबोधने च नास्ति सामर्थ्यम्, सङ्गतिग्रहाभावात्। न च यौगिकरीत्यापि तद्बोधनं सम्भवति, अनेकार्थसम्भवेन तादृशार्थे विनिगमनाविरहात्। न च राजपुरुषेषु तानि विशेषणानि सङ्गच्छन्ते ॥ १७ ॥

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः ॥ १८ ॥

अश्वदेवत्या त्रिष्टुप्, वशिष्ठदृष्टा। वाजे वाजे सर्वस्मिन्नन्ने उपस्थिते धनेषूपस्थितेषु सत्सु तत्तदन्ननिमित्तं धननिमित्तं चेति वा। हे वाजिनोऽश्वाः, नोऽस्मान् अवत पालयत। कथम्भूताः ? विप्रा मेधाविनो बुद्धिपूर्वकारिणः,

---

अध्यात्मपक्ष में भी अर्थयोजना इसी प्रकार है—वे भगवान् के रथ में जुते हुए उपर्युक्त विशेषणों से युक्त तथा सत्य, गन्तव्य स्थान को जानने वाले अश्व हमारे आह्वान को सुनें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ क्लिष्ट कल्पनाओं की बहुलता के कारण अप्रामाणिक है। 'अर्वन्तः' का अर्थ 'ज्ञानवान्' करना मूलरहित है। 'हवनश्रुतः' का अर्थ 'ग्राह्यशास्त्रश्रोतारः' करना भी उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्र के अतिरिक्त धन, सुख आदि बहुत से पदार्थों का ग्राह्य होना सम्भव है, अतः शास्त्र के ही ग्रहण में कोई निश्चित युक्ति नहीं है। फिर शास्त्र तो अग्राह्य होता ही नहीं, जिससे उसमें ग्राह्यत्व का विशेषण लगाना उचित हो सके। राजपुरुषों में मन्त्रोक्त विशेषण संगत भी नहीं होते ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वों! तुम बुद्धिमान्, दीर्घजीवी, सत्य को जानने वाले हो। सब प्रकार के धन और अन्न से हमारा पालन करो। यहाँ से जाने से पहले हमारी दी हुई इस मधुर हवि को नौ बार सूंघ कर उसका पान करो और तृप्त हो जाओ। तृप्त होने के उपरान्त देवयान में अधिष्ठित मार्गों से गमन करो ॥ १८ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत 'वाजेवाजे' मन्त्र का विनियोग पूर्वोक्त मन्त्रों के भाष्य में प्रतिपादित है। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—सर्वविध अन्न के विद्यमान रहने पर तथा धन के विद्यमान रहने पर, हे बुद्धिशाली,

अमृता अमरणधर्माणः, ऋतज्ञाः सत्यज्ञा यज्ञज्ञा वा, यूयमस्य मध्वो मधुनः, कर्मणि षष्ठ्यौ, इदं मधु धावनात्पूर्वं पश्चाच्चावघ्रायमाणं नैवारचरुलक्षणं मधुरं हविरिति सायणः। पिबत पीत्वा च मादयध्वं तृप्यध्वं तृप्ता भवत। ततस्तृप्ताः सन्तो देवयानैर्देवाधिष्ठितैः पथिभिर्मार्गैर्यात। आजि प्रतीति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—भगवदीयरथयुजोऽश्वाः सुतरां विप्रा अमृता भक्तदत्तैर्हविर्भिस्तृप्यन्ति। अन्यत् पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे ऋतज्ञा अमृताः स्वस्वरूपेण नाशरहिताः प्राप्तजीवन्मुक्तिसुखा विप्रा विद्यासुशिक्षाजातप्रज्ञाः! यूयं वाजे वाजे संग्रामे संग्रामे नो अवत पालयत। अस्य मध्व इदं मधु पिबत। अस्माकं धनैस्तृप्ताः सन्तो मादयध्वं हृष्यत। तृप्ताः प्रीणिता यात गच्छत। देवयानैः पथिभिः, देवा विद्वांसो यैर्धर्म्यैर्यान्ति तैः सततं यात' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विसङ्गतेः। नहीश्वरकर्तृकोऽयमुपदेशः सम्भवति, रक्षणप्रार्थनानुपपत्तेः। नापि प्रजाकर्तृकः, तत्रानधिकारात् प्रजानाम्, राज्ञ एव तत्राधिकारनियतत्वात्, अन्यथाऽव्यवस्थापत्तेः। न च राजपुरुषाः प्रजाधनैस्तृप्ता भवन्ति, स्वोपार्जितैरेव तेषां तृप्त्युपपत्तेः॥ १८॥

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे। आ मा गन्तां पितरा मातरा चा मा सोमो अमृतत्वेन गम्यात्॥ वाजिनो वाजजितो वाजꣳ ससृवाꣳसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत निमृजानाः॥ १९॥

प्रजापतिदेवत्या त्रिष्टुप्, वसिष्ठदृष्टा। 'अवरुह्य नैवारमालभते तीर्थे स्थितमा मा वाजस्येति' (का० श्रौ० १४।४।११)। यजमानो रथादवरुह्य चात्वालोत्करयोर्मध्ये स्थापितं नैवारं चरुं स्पृशेत्। वाजस्यान्नस्य

अमृतत्व से युक्त तथा सत्य अथवा यज्ञ के ज्ञाता अश्वों! आप हमारा पालन करें। आप लोग दौड़ने से पूर्व तथा धावन के पश्चात् नीवार धान्य के चरुरूपी मधु का पान कीजिये तथा तृप्त होइये। तदनन्तर सन्तृप्त होकर देवताओं द्वारा अधिष्ठित मार्गों से गमन कीजिये।

अध्यात्मपक्ष में भी अन्य व्याख्या पूर्व की भाँति ही है। भगवान् के रथ में संयुक्त अश्व विशेष बुद्धिशाली हैं, अमर हैं, तथा भक्तों द्वारा दिये गये हविर्द्रव्यों से सन्तृप्त होते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ विसंगति के कारण ग्राह्य नहीं है। यह उपदेश ईश्वर द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि तब रक्षा की प्रार्थना संगत नहीं होती। इसका प्रजाजनों के द्वारा किया जाना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रजा का इस विषय में अधिकार नहीं है। इस विषय में राजा का ही अधिकार नियत है। अन्यथा अव्यवस्था दोष प्राप्त हो जायगा। राजपुरुष प्रजा के धन से तृप्त भी नहीं होते। अपने द्वारा उपार्जित धन से ही उनकी तृप्ति उचित है॥ १८॥

मन्त्रार्थ—हे अश्वों! हमारे यहाँ ढेर सारा अन्न उत्पन्न हो, यह सर्वरूपात्मक स्वर्ग और पृथ्वी हमारे माता और पिता के रूप में सब प्रकार से हमारी रक्षा और पालन करें। सोमरस हमारे प्रति अमृत भाव से प्राप्त हो। हे अश्वों! अन्न को जीतने के लिये प्रतिक्षण गमन करने वाले तुम इस चरु और यजमान का शोधन करते हुए बृहस्पति सम्बन्धी हमारे भाग को सूंघो॥ १९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।११-१२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'आ

प्रसवोऽभ्यनुज्ञा उत्पत्तिर्वा मा मां प्रति आजगम्याद् आगच्छतु, गमेर्व्यत्ययेन ह्लादित्वे लिङि रूपम्। विश्वरूपे नानारूपे सर्वरूपे वा द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ प्राजापत्यात्मिके, तत्सृष्टत्वात्, आगन्ताम् आगच्छेताम्। 'पितरा-मातरा च छन्दसि' (पा० सू० ६।३।३३) इति द्विरूपैकशेषो निपात्यते। अस्मदीयः पिता माता च मां प्रत्यागतम्, चिरं जीवित्वा आगच्छताम्। यद्वा द्यावापृथिव्योः पितेति मातेति च परोक्षनाम्ना निर्देशः। तत्र पितृरूपा द्यौः, मातृरूपा पृथिवी, 'द्यौर्वः पिता पृथिवी माता' (ऋ० सं० १।१९१।६)। सोमश्च अमृतत्वेन मां प्रति आजगम्याद् आगच्छतु, 'अपाम सोमममृता अभूम' (ऋ० सं० ८।४८।३) इति मन्त्रवर्णात्। अमृतत्वेन सहितः सोमः, आजगम्याद् आगच्छेत्। चतुर्थ्यर्थे वा तृतीया, अमृतत्वाय मम देवत्वजन्मने सोमो मामागच्छेत्। 'यजुर्युक्ता-नाघ्रापयति वाजिन इति' (का० श्रौ० १४।४।१२) मन्त्रेण युक्तानश्वान् नैवारं चरुमवघ्रापयेत्। अश्वदेवत्यं यजुः। हे वाजिनोऽश्वाः, यूयं वाजजितो वाजस्यान्नस्य जेतारः, वाजमन्नं जेतुं ससृवांसः सृतवन्त आजिसरणं कृतवन्तः सन्तो बृहस्पतेः सम्बन्धिनं भागमन्नशेषमवजिघ्रत अवघ्राणं कुरुत। निमृजानाश्चरुलेपनिमार्जनं कुर्वाणा एनं चरुं यजमानं च शोधयन्तः। ससृवांस इति सर्तेः क्वसुप्रत्यये रूपम्। निमृजाना इति मार्ष्टेः शानचि रूपम्।

अत्र ब्राह्मणम्--'अथ बार्हस्पत्येन चरुणा प्रत्युपतिष्ठते। तमुपस्पृशत्यन्नं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजतेऽन्नपेयꣳ ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्नमुदजैषीत्तेनैवैतदेतां गतिं गत्वा सꣳस्पृशते तदात्मन् कुरुते' (श० ५।१।५।२५)। आजिधावनं कृत्वा तीर्थदेशं प्रत्यागच्छतोऽश्वान् प्रति नैवारचरुणा सह गच्छेत्। तस्य चरोः स्पर्शनं विधत्ते--तमुपस्पृशतीति। तदेव प्रशंसति--अन्नं वा एष इति। एषोऽन्नमुज्जयति यो वाजपेयेन यजते। अन्नपेयत्वादेवास्य वाजपेयेति नामनिर्वचनम्। वाजपेयेनान्नमुदजैषीत्तेनैतां गतिमाजिधावनरूपां गत्वा नैवारं चरुं स्पृशते। तेन संस्पर्शनेन तदाजिधावनोज्जितमन्नमेवात्मनि निहितवान् भवतीत्यर्थः। 'स उपस्पृशति। आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादित्यन्नं वै वाज आ माऽन्नस्य प्रसवो जगम्यादित्येवैतदाहेमे द्यावा-पृथिवी विश्वरूपे इति द्यावापृथिवी हि प्रजापतिरा मा गन्तां पितरा मातरा चेति मातेव च हि पितेव च प्रजापतिरा मा सोमो अमृतत्वेन गम्यादिति सोमो हि प्रजापतिः' (श० ५।१।५।२६)। मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य द्यावापृथिव्यादिके प्रजापत्यात्मना स्तौति--आ मा वाजस्येति। तदनुसारेणैव व्याख्यातो मन्त्रः। 'तमश्वानव-घ्रापयति। वाजिन इति वाजिनो ह्यश्वास्तस्मादाह वाजिन इति वाजजित इत्यन्नं वै वाजोऽन्नजित इत्येवैतदाह वाजꣳ ससृवाꣳस इति सरिष्यन्त इति वा अग्र आह सरिष्यन्त इव हि तर्हि भवन्त्यथात्र ससृवाꣳस इति ससृवाꣳस इव ह्यत्र भवन्ति तस्मादाह ससृवाꣳस इति बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रतेति....निमृजाना इति तद्यजमाने वीर्यं दधाति तद्यदश्वानवघ्रापयतीममुज्जयानीति वा अग्रेऽवघ्रापयत्यथात्रेममुदजैषमिति तस्माद्वा अश्वानवघ्रापयति' (श० ५।१।५।२७)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। श्रुतिश्च पादशोऽनूद्य व्याचष्टे--वाजिनो हीति। ससृवांस इति भूतार्थविहितक्वस्वन्तत्वेन प्रयोगस्याभिप्रायमाह--सरिष्यन्त इति। पूर्वमाजिधावनप्राक्काले चरोरश्वैरवघ्रापणं विहितम्। तन्मन्त्रे वाजं सरिष्यन्त इति भविष्यार्थप्रयोग उक्तः, आजिधावनस्य करिष्यमाणत्वात्। अत्र त्वस्य कृतत्वात् तदन्ते विधीयमाने मन्त्रे भूतार्थकत्वेन ससृवांस इति प्रयोगो युक्त एव। निमृजाना इत्यस्य तात्पर्यमाह--तद्यजमाने वीर्यं दधातीति। अन्नरसनिमार्जनस्य वीर्यहेतुत्वात् तत् तेन निमृजाना इति पदेन यजमाने वीर्यं स्थापितवान् भवति। आजिधावनस्यादौ तदन्ते च विहितचर्वाघ्रापणस्य प्रयोजनभेदं दर्शयति-- तद्यदश्वानिति।

मा वाजस्य' इस कण्डिका के मन्त्रों से यजमान द्वारा रथ से उतर कर नीवार से निर्मित चरु का स्पर्श तथा रथ में संयुक्त

अग्रे पूर्वं वाजोज्जित्यर्थमत्र तूज्जितस्य वाजस्य स्वाधीनकरणार्थम्, अतः पूर्वमिममुज्जयानीति, अत्रेममुदजैषमित्याशीर्वदर्थवाचि भूतार्थवाचि च पदं युक्तमेवेति सायणाचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—वाजस्य ज्ञानलक्षणस्यान्नस्य प्रसव उत्पत्तिर्मा मामागच्छेत् । विश्वरूपे द्यावापृथिव्यौ मा मां प्रत्यनुग्राहकत्वेनागच्छेताम् । तद्रूपौ मातापितरौ गौरीशङ्करौ सीतारामौ राधाकृष्णौ वा आगच्छेताम् । सोमः साम्बसदाशिवश्च नोऽमृतत्वायागच्छतु । भगवतो वाजिनो वाजजितोऽन्नजितः संग्रामजितो वा वाजं जेतुं ससृवांसो बृहस्पतेः परमेश्वरस्य सम्बन्धिनं भागमवशिष्टं प्रसादमवजिघ्रत आघ्राणं पानं कुरुत, भक्तं निमृजानाः शोधयन्तः सन्तः ।

दयानन्दस्तु—'हे पूर्वोक्ता विद्वांसः, येषां भवतां सहायेन वाजस्य प्रसवो वेदादिशास्त्रार्थप्रसूतज्ञानबोधस्य प्रसवः प्रकृष्टैश्वर्यसमूहः, आजगम्यात् समन्तात् प्राप्नुयात्, विश्वरूपे विश्वानि सर्वाणि रूपाणि ययोस्ते इमे द्यावापृथिवी प्रकाशभूमी अमृतत्वेन सर्वरोगनिवारकत्वेन सह सोमः सोमवल्ल्याद्योषधिगणः, आजगम्यात् प्राप्नुयात् । पितरा मातरा च पिता च माता च आगन्तां मां प्राप्नुतः । वाजिनः प्रशस्तबलिनः, वाजजितो विजितसंग्रामा वाजं संग्रामं ससृवांसः प्राप्तवन्तो निमृजाना नितरां शुन्धन्तो यूयं बृहस्पतेर्बृहत्याः सेनायाः स्वामिनो भागं भजनीयमवजिघ्रत सततं प्राप्नुत' इति, तदपि व्यामोहमूलकम्, श्रुतिविरोधात् । श्रुतौ तु स्पष्टमेव वाजिनो ह्यश्वा इति वाजिशब्दोऽश्वपरत्वेन व्याख्यातः । वाजस्येति शब्दस्य वेदशास्त्रप्रसूतो बोधोऽर्थः कया युक्त्या सिद्ध्यतीत्यस्य निरूपणसापेक्षत्वात् । तथैव बृहस्पतिः सेनापतिरित्यपि शिष्टाप्रयोगादसङ्गत एवार्थः । प्रसव ऐश्वर्यसमूह इत्यपि निर्मूल एव ॥ १९ ॥

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिन आन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा ॥ २० ॥

अश्वों के सम्मुख चरु का प्रदर्शन किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में भी याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—ज्ञानरूपी अन्न की उत्पत्ति मेरे प्रति आवे । विश्वरूप द्युलोक तथा पृथिवी अनुग्रहकर्ता के रूप में मेरे प्रति आवें । पार्वती तथा शिव अथवा सीता एवं राम या राधा और कृष्ण रूपी माता एवं पिता भी मुझे प्राप्त हों । साम्ब सदाशिव हमारे अमृतत्व के लिये आवें । अन्न के स्वामी अथवा युद्धों को जीतनेवाले, अन्न के स्वामित्व के लिये आगमन करने वाले भगवान् परमेश्वर के अवशिष्ट प्रसाद का भक्तों को शुद्ध करते हुए ग्रहण तथा पान करें ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ श्रुतिवाक्यों से विरुद्ध होने के कारण व्यामोह से परिपूर्ण है । श्रुति में स्पष्ट रूप से वाजी शब्द की अश्व अर्थ में व्याख्या की गई है । वाज शब्द का अर्थ 'वेदशास्त्रप्रसूत बोध' यह किस प्रकार सम्भव है, इसका भी निरूपण अपेक्षित है । इसी प्रकार बृहस्पति शब्द का 'सेनापति' अर्थ करना प्राचीन आचार्यों और विद्वानों द्वारा अप्रयुक्त होने के कारण असंगत ही है । प्रसव का अर्थ ऐश्वर्यसमूह करना प्रमाणरहित है ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—व्यापक संवत्सर कालात्मक आदित्यस्वरूप प्रजापति देवता की प्रीति के लिये यह आहुति दी जाती है, वह भली प्रकार गृहीत हो । सर्वव्यापी प्रजापति की प्रीति के निमित्त पुनः पुनः प्रकट होने के लिये यह आहुति दी जाती है ।

'द्वादश स्रुवाहुतीर्जुहोत्यापये स्वाहेति प्रतिमन्त्रं वाचयति वा' (का० श्रौ० १४।४।१९)। तत आयुर्यज्ञेनेति (९।२१) षड्भिर्मन्त्रैः स्रुवाहुतीर्जुहोति वाचयति वा। संवत्सरात्मकस्य प्रजापतेर्यज्ञरूपस्य द्वादश यजूंषि। आपये स्वाहा, आप्नोतीत्यापिः प्रजापतिस्तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु। तस्यैवैतानि नामानि। स्वापये सुष्ठु शोभनमाप्नोतीति स्वापिस्तस्मै स्वापये नमः स्वाहा सुहुतमस्तु। अपिजाय जगद्रक्षणायाप्सु कर्मसु लोकेषु वा पुनः पुनरुत्पद्यत इत्यपिजस्तस्मै अपिजाय स्वाहा। क्रतुः सङ्कल्पो भोगादिविषयो यज्ञो वा, तस्मै क्रतवे स्वाहा। वसुर्वासयिता तस्मै वसवे निवासहेतवे। अह्नां दिवसानां पतिरहर्पतिः संवत्सरस्तस्मै। अतः परं चत्वारि नामान्युभयविशेषणविशिष्टानि। अह्ने दिनाय मुग्धाय मुह्यतीति मुग्धस्तस्मै मोदकायेत्यर्थः। अह्ने मुग्धायेत्येकं नाम, मुग्धाय मोदकाय। वैनंशिनाय विनश्यन्तीति विनंशिनो विनाशशीलाः पदार्थाः, 'मस्जिनशोर्झलि' (पा० सू० ७।१।६०) इति छान्दसत्वाद् अझल्यपि नुमागमः, विनंशिषु पदार्थेषु भवो वैनंशिनस्तस्मै स्वाहा। विनंशिने आन्त्याय अन्ते भवाय स्वाहा। अन्त्यं च तदयनं च अन्त्यायनमन्त्यं स्थानम्, तत्र भव आन्त्यायनस्तस्मै विनंशिने विनाशशीलाय स्वाहा। अन्ते भवोऽन्त्यः, भुवने भवो भौवनस्तदुभयविशिष्टाय स्वाहा। भुवनस्य जगतः पतये पालयित्रे नमः स्वाहा। अधिपतये सर्वलोकानां स्वामिने स्वाहा सुहुतमस्तु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्रुवं चाज्यविलापनीं चादाय। आहवनीयमभ्यैति स एता द्वादशाप्तीर्जुहोति वा वाचयति वा....' (श० ५।२।१।१)। आप्तिहोमं विधित्सुराह—अथ स्रुवमिति। आज्यं विलाप्यतेऽस्यामित्याज्यविलापनी स्थाली, तां स्रुवं चादाय, स्रुवशब्दो जुहूपभृन्निवृत्त्यर्थः, आहवनीयमभ्येत्य द्वादशसंख्याका आप्तिसाधनत्वादाप्त्याख्या आज्याहुतीर्जुहुयात्। विकल्पेन यजमानवाचनं च विधीयते। उभयत्रार्थवादवाक्यशेषः समानः। 'स जुहोति। आपये स्वाहा....स्वाहेत्येता द्वादशाप्तीर्जुहोति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तद्यैवास्याप्तिर्या संपत्तामेवैतदुज्जयति तामात्मन् कुरुते' (श० ५।२।१।२)। संवत्सरस्य यज्ञात्मकस्य प्रजापतेरेतानि नामानि। स्वकार्यव्यापकत्वात् प्रजापतिरापिः, शोभनप्रापकत्वात् स एव स्वापिः। विनाशयुक्तेषु हितकारित्वेन वसतीति वैनंशिनः, विनंशिनः पुत्रो वा वैनंशिनस्तस्मै वैनंशिनाय शत्रुविनाशकाय। अन्त्येऽयने भव आन्त्यायनस्तस्मै आन्त्यायनाय, अन्त्याख्यस्य पुत्राय वा। अन्त्याय अन्ते भवाय। भुवनस्य पतिः प्रजापतिः, 'प्रजापतिर्वै भुवनस्य पतिः' (तै० ब्रा० १।३।७) इति सायणः। आहुतिगतां द्वादशसंख्यां प्रशंसति—तद्यैवास्याप्तिर्या सम्पदिति। अस्य संवत्सरस्य प्राजापत्यात्मकस्य यज्ञस्य या आप्तिः सर्वात्मकत्वेन व्यापनशक्तिः, या सम्पत् संवत्सरसमृद्धिस्तामेतामुभयीमेतेनाप्तिहोमेन जितवान् भवति। 'द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासोऽध्वरे। यज्ञेषु देवमीळते ॥' (ऋ० सं० १।१५।७) इति मन्त्रे द्रविणोदसमिति पाठाभावेन तत्प्रयुक्तदोषानापत्तेः। अत्र तु द्रविणोदा इत्यस्यैव देवमित्यस्य विशेषणत्वे द्वितीयान्तत्वमुपपादितमेव। दुर्गाचार्यस्तु द्रविणोदा इत्येतस्य प्रथमैकवचनान्तत्वे 'ईळते' इत्यस्य बहुवचनान्तत्वेन वचनभेदादसामर्थ्यमपेक्ष्य स्तोतृत्वे चासम्भवं द्रविणसो देवात् स्तुत्यत्वे सामर्थ्यमुन्नीय द्रविणसो यद्वृत्तमध्याहृत्य द्रविणोदस्यर्थपतावभिसम्बन्धात् स्तुतेरेकवाक्यतायां

संकल्प, भोगविषय आदि के निमित्त यह आहुति दी जाती है। जगत् की स्थिति के लिये यह आहुति दी जाती है। दिवस के निमित्त यह आहुति दी जाती है। विनाशशील मुग्ध नामक इन्द्र के निमित्त यह आहुति दी जाती है। सीमावान् वैनंशिन के लिये यह श्रेष्ठ आहुति दी जाती है। त्रिभुवन के सीमावान् के निमित्त, सम्पूर्ण भुवन के पति के निमित्त और समस्त प्राणी वर्ग के उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के कारणभूत परमेश्वर के निमित्त यह आहुति दी जाती है। यह सम्यक् प्रकार से स्वीकृत हो ॥ २० ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।१९) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'आपये

सामर्थ्यमुन्निनीषन् स्तुत्ये द्रविणोदःशब्दे कर्मत्वेन नमयाञ्चकार—द्रविणोदा यो देवस्तं द्रविणोदसमिति। तथापि निखिलानुसारी एकोऽर्थः कर्तव्य इति नैव राजाज्ञा, सायणरीत्या विभक्तिविपरिणमनमन्तरापि कर्मत्वोक्तेः। मन्त्रे द्रविणस इत्यस्य ग्रावहस्तास इत्यनेन ऋत्विग्विषयेणासन्दिग्धेन प्रथमाबहुवचनेन स्तुतिकर्तृत्वेन विशेषणविशेष्यभावेन सामानाधिकरण्येऽपि तथाऽर्थोपपत्तिः। सामर्थ्यादेकवाक्यतयाऽभिसम्बध्नाति। तथा च यं द्रविणोदसं देवम् अध्वरे अग्निष्टोमादौ यजतिषु हविःसम्प्रदानेषु सवनेषु वा द्रविणस ऋत्विज ईळते। तत्र ऋत्विक्षु कया व्युत्पत्त्या द्रविणसशब्दः प्रयुज्यत इत्याशङ्कायामाह— द्रविणस इति। ते हि द्रविणं लप्स्यामह इति सीदन्ति कर्मणि। द्रविणनिमित्तेन सीदन्तीति द्रविणसः। यद्वा द्रविणस्य गवादेर्हविषां देवतार्थस्य सम्भक्तारः, 'षणु सम्भक्तौ'।

अध्यात्मपक्षे—आपये, आप्नोतीत्यापिः परमात्मा, तस्मै स्वाहा सर्वस्वमर्पितमस्तु। स्वापये शोभनमभीष्टमाप्यते येन तस्मै शोभनसुखप्रापकाय परमात्मने स्वाहा। अपिजाय अप्सु जाताय महामत्स्यावतारधारिणे कूर्मावतारधारिणे वा भगवते सुहुतमस्तु। क्रतवे यज्ञरूपाय यज्ञावताराय वा स्वाहा। अहर्पतये सूर्यरूपाय भगवते स्वाहा। मुग्धाय तमःप्रायाय अह्ने तदन्तर्यामिणे स्वाहा। विनाशिपदार्थेषु व्यापकायाविनाशिने मोहकाय परमात्मने स्वाहा। अन्ते प्रलये भवमन्त्यम्, तच्च तदयनं स्थानमन्त्यायनम्, तत्र भव आन्त्यायनो रुद्रस्तस्मै स्वाहा। विनंशिने विनाशिने संहारकाय स्वाहा। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्। आन्त्याय प्रलयकालव्यापिने भौवनाय भुवनस्थितिकालव्यापिने च परमात्मने स्वाहा। भुवनस्य पतये परमात्मने, अधिपतये सर्वलोकानां चाधिपतये स्वाहा सुहुतमस्तु।

दयानन्दस्तु 'हे विद्वांसः, यूयं यथा माम् आपये सकलविद्यावाप्तये स्वाहा सत्या क्रिया, स्वापये सुखानां सुष्ठु प्राप्तये स्वाहा धर्म्या क्रिया, अपिजाय निश्चयेन जायमानाय स्वाहा पुरुषार्थयुक्ता क्रिया, क्रतवे प्रज्ञायै स्वाहा अध्ययनाध्यापनप्रवर्तिका क्रिया, वसवे विद्यानिवासाय स्वाहा सत्या वाणी, अहर्पतये पुरुषार्थेन गणितविद्यया दिवसपालकाय स्वाहा कालविज्ञापिका वाणी, अह्ने दिनाय मुग्धाय प्राप्तमोदनिमित्ताय स्वाहा विज्ञानयुक्ता वाक्, मुग्धाय मूर्खाय वैनंशिनाय विनष्टशीलाय आन्त्यं नीचमयनं प्रापणं यस्य तस्मै स्वाहा नष्टकर्मनिवारिका वाणी, आन्त्याय अन्ते भवाय भौवनाय भुवनेषु प्रभवाय स्वाहा पदार्थविज्ञापिका वाणी, भुवनस्य संसारस्य पतये स्वामिने स्वाहा योगविद्याजनिता प्रज्ञा, अधिपतये सर्वाधिष्ठातॄणामुपरि वर्तमानाय स्वाहा सर्वव्यवहारविज्ञापिका

स्वाहा' इस कण्डिका के मन्त्रों से स्रुव द्वारा आहुति प्रदान की जाती है। शतपथ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—व्याप्त करने वाले परमात्मा के लिये समर्पण हो, जल में प्रादुर्भूत महामत्स्यावतार धारण करने वाले या कूर्मावतार धारण करने वाले भगवान् के लिये समर्पण हो, यज्ञरूपी अथवा यज्ञावतार के लिये समर्पण हो, सूर्यरूपी भगवान् के लिये समर्पण हो, तमःप्राय दिवसों में अन्तर्हित भगवान् के लिये समर्पण हो, नश्वर पदार्थों में व्यापक अविनश्वर मोहक परमात्मा के लिये समर्पण हो, प्रलय के काल में अवस्थित रुद्र परमात्मा के लिये समर्पण हो, संहारक भगवान् के लिये समर्पण हो, प्रलयकाल व्यापी तथा स्थितिकाल व्यापी परमात्मा के लिये समर्पण हो, ब्रह्माण्ड के स्वामी परमात्मा के लिये समर्पण हो, सर्वलोकाधिपति भगवान् के लिये समर्पण हो।

स्वामी दयानन्द का अर्थ कल्पनामात्र पर अवलम्बित होने के कारण प्रमाणरहित है। 'आपिः' इसका धातु के अर्थ के अनुसार 'व्याप्ति' यह सामान्य अर्थ है। वहाँ विद्याव्याप्ति, धनप्राप्ति, अथवा व्यापक प्रजापति इत्यादि अर्थों में सुनियत एक अर्थ के न होने के कारण 'विद्याव्याप्ति' अर्थ भी सम्भव है। परन्तु श्रौतसूत्र के अनुसार होम में विनियुक्त

वाक् प्राप्नुयात्, तथा प्रयतध्वम्' इति, तदपि न किञ्चित्, कल्पनामात्रसारत्वेनाप्रामाणिकत्वात्। तथाहि— आपिरिति धात्वर्थानुसारेण व्याप्तिसामान्योऽर्थो विद्याव्याप्तिर्धनप्राप्तिर्वा व्यापकः प्रजापतिर्वा सम्भवति। तत्र विनिगमनाविरहेण विद्याव्याप्त्यर्थः सम्भवति। सूत्रानुसारेण होमे विनियुक्तानि प्राजापत्यानि यजूंषीति प्रजापतिपरकमेव व्याख्यानं युक्तम्। स्वाहाशब्दस्यापि विविधार्थाः काल्पनिका एव, प्रमाणशून्यत्वात्। सूपसर्गस्य शोभनार्थतैव प्रसिद्धा, सुखार्थता तु प्रमाणापेक्षैव। अहर्पतय इत्यस्य पुरुषार्थो गणितविद्या वा नार्थः, तस्य अन्यत्रैव शक्तिग्रहात्॥ २०॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। प्रजापतेः प्रजा अभूम स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम॥ २१॥

'षड् वोत्तराः' (का० श्रौ० १४।४।२०) उत्तराः षड् आयुर्यज्ञेनेत्याद्यांश्च शब्दान् जुहोति वाचयति वा। प्राजापत्यानि षड् यजूंषि। आयुर्जीवनं मदीयमनेन यज्ञेन वाजपेयाख्येन कल्पतां क्लृप्तं समर्थं भवतु। प्राणो मुखनासिकाप्रभवो वायुः पञ्चवृत्तिको यज्ञेन कल्पताम्। चक्षुः, चष्टेऽनेनेति चक्षुः, रूपदर्शनसाधनमिन्द्रियं यज्ञेन कल्पताम्। श्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दज्ञानसाधनमिन्द्रियं यज्ञेन कल्पताम्। पृष्ठं रथन्तरादिकं शरीरस्य पृष्ठं वा यज्ञेन कल्पताम्। यद्वा आयुःप्राणादेराधारभूतो मध्यदेहपृष्ठं यज्ञेन मदीयेन वाजपेयेन यज्ञो यज्ञाधिष्ठाता विष्णुः कल्पताम्। 'प्रजापतेरित्यारोहतः' (का० श्रौ० १४।४।२४)। प्रजापतेरिति मन्त्रेण पत्नीयजमानौ निःश्रेण्या यूपमारोहतः। यजमानदेवत्यानि त्रीणि यजूंषि। अस्य यज्ञस्यानुष्ठानाद् वयं प्रजापतेः सम्बन्धिन्यः प्रजा अपत्यानि अभूम जातानि। 'स्वरिति गौधूममालभते' (का० श्रौ० १४।४।२५)। आरुह्य यजमानो गौधूमं चषालमालभेत। गौधूमश्चषालः, 'उत्कीर्णसमाग्रो गौधूमचषालः' (का० श्रौ० १४।१।२२)। स्वरिति गोधूमनिर्मितं चषालं यजमानः स्पृशेत्। हे देवाः, वयं स्वः स्वर्गम्, अगन्म प्राप्ताः। 'शिरसा यूपमुज्जिहीतेऽमृता इति' (का० श्रौ० १४।४।२६)। यूपादूर्ध्वं शिरः करोति वयममृता अमरणधर्माणः, अभूम सम्भूताः।

प्रजापति देवता वाले मन्त्र होने के कारण इसका प्रजापतिपरक अर्थ ही उचित है। स्वाहा शब्द के भी विभिन्न अर्थ प्रमाणरहित होने के कारण काल्पनिक ही हैं। 'सु' उपसर्ग शोभनार्थक ही प्रसिद्ध है, इसको सुखार्थकता मानना प्रमाण-सापेक्ष है। 'अहर्पतयः' इस शब्द का पुरुषार्थ अथवा गणितविद्या यह अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इस पद से दूसरे ही अर्थ में शक्तिग्रह होता है॥ २०॥

मन्त्रार्थ—**इस वाजपेय याग से हमारी आयु में वृद्धि हो, इस यज्ञ के फल से पाँचों प्राण बलवान् हों, चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्र इन्द्रिय बल को प्राप्त करें, हमारा पृष्ठ बल वृद्धिगत हो। इस वाजपेय यज्ञ के फल से यज्ञ के अधिष्ठाता विष्णु हमारे ऊपर प्रसन्न हों और हमारी यज्ञ करने की क्षमता बढ़े। इस यज्ञ को करके प्रजापति की सन्तति बनने की क्षमता मैंने प्राप्त कर ली है। हे ऋत्विक् गण! हमें स्वर्ग प्राप्त हो गया है, हम दीर्घायु, अमर और चिरकीर्ति वाले हो गये हैं॥ २१॥**

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।२०,२४-२६) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार

अत्र ब्राह्मणम्--'अथ षट्क्लृप्तीर्जुहोति वा वाचयति वा' (श० ५।२।१।३)। क्लृपिधातुर्निष्पन्नशब्द-युक्तमन्त्रकरणिका आहुतीः क्लृप्तीर्जुहुयात्। 'स वाचयति। आयुर्यज्ञेन कल्पतां' कल्पतामित्येताः षट्क्लृप्ती-र्वाचयति षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तद्यैवास्य क्लृप्तिर्या सम्पत् तामिवैत-दुज्जयति तामात्मन् कुरुते' (श० ५।२।१।४)। वाचनमन्त्रान् विधत्ते—स वाचयतीत्यादिना। अत्र वाचनविवक्षया मन्त्रान्ते स्वाहाशब्दो न प्रयुक्तः। वचनबलाद्धवनं वा कार्यम्। तदा स्वाहाशब्दः प्रयोक्तव्यः। तामिमां षट्संख्यां प्रशंसति - षड् वा ऋतव इति। 'अष्टाश्रिर्यूपो भवति। अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्रमग्नेश्छन्दो देवलोकमेवैतेनोज्जयति सप्तदशभिर्वासोभिर्यूपो वेष्टितो वा विग्रथितो वा भवति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापति-मुज्जयति' (श० ५।२।१।५)। क्लृप्तिवाचनमन्त्रतदर्थाभिज्ञस्य यजमानस्य यूपारोहणं विवक्षुरादौ स्वर्गत्वेन निरूपयिष्यमाणस्य यूपस्य प्राकृतं गुणमनुवदति--अष्टाश्रिर्यूपो भवतीति। अश्रिगतामष्टसंख्यां प्रशंसति-- अष्टाक्षरा वै गायत्रीति। यतोऽग्नेश्छन्दो गायत्रम्, ततस्तद्रूपत्वाद् देवलोकजयहेतुरष्टाश्रिर्यूप इत्यर्थः। यूपस्य वेष्टनं विधत्ते—सप्तदशभिर्वासोभिरिति। वेष्टितो यूपो यथा न दृश्यते, तथाच्छादनं कार्यम्। विग्रथितो वेति यूपस्यैकत्र प्रदेशे वाससां ग्रथनं वा कार्यम्। वासोगतां संख्यां प्राजापत्यात्मना स्तौति- सप्तदशो वै प्रजापतिरिति।

'गौधूमं चषालं भवति। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठꣳ सोऽयमत्वगेते वै पुरुषस्यौषधीनां नेदिष्ठतमां यद्गोधूमास्तेषां न त्वगस्ति मनुष्यलोकमेवैतेनोज्जयति' (श० ५।२।१।६)। चषालनामकस्य यूपशकलस्य दारुमयत्वापवादाय विधत्ते—गौधूमं चषालं भवतीति। गोधूमपिष्टमयं चषालं कुर्यात्। अस्यायमभिप्रायः— पुरुषो नु प्रजापतेर्नेदिष्ठम् अन्तिकतमं वस्तु, पुरुषसृष्टेः प्रथमभावित्वात्। सोऽयमत्वग् अश्वत्थवृक्ष इव बाह्य-त्वग्रहितः। ओषधीनां मध्ये एते गोधूमा अपि पुरुषस्य सन्निहिततमं वस्तु, बलकारित्वात्। तेषां तु त्वगभावः प्रसिद्धः। अतो गोधूमचषालकरणेन मनुष्यलोकमेव जितवान् भवतीति। 'गर्तन्वान् यूपोऽतीक्ष्णाग्रो भवति। पितृदेवत्यो वै गर्तः पितृलोकमेवैतेनोज्जयति सप्तदशारत्निर्भवति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति' (श० ५।२।१।७)। तत्र यूपे गुणविशेषं विधत्ते—गर्तन्वानिति। गर्तवान् यूपस्याग्रे निम्नप्रदेशो गर्तन्वान्, 'अनो नुट्' (पा० सू० ८।२।१६) इत्यन्नात्परस्य मतुपो नुडागमो भवति। व्यत्ययेनाकारान्तादपि भवति। अतीक्ष्णाग्रः अतनूकृताग्रः स्थूलाग्रप्रदेशो भवेत्। गर्तं पितृलोकात्मना प्रशंसति—पितृदेवत्य इति, 'पितॄणां सदनमसि' (तै० सं० ६।३।४।२) इति मन्त्रवर्णाद् यूपावटस्य पितृदेवतास्थानत्वं प्रतीयते। 'पितॄणां निखातं मनुष्याणामूर्ध्वं निखातात्' (तै० सं० ६।३।४।६) इति गर्तावच्छिन्नस्य यूपभागस्य पितृदेवत्यत्वम्। तादृशी प्रसिद्धिर्वैशब्देन द्योत्यते। आरोहणीययूपस्य चोदकप्राप्तं प्रमाणमपवदितुं परिमाणान्तरं विधत्ते— सप्तदशेति। चतुर्विंशत्यङ्गुलोऽरत्निः। सप्तदशारत्नयः प्रमाणं यस्य यूपस्य स तथोक्तो यूपो भवति। सप्तदशो वै प्रजापतिः। तेन प्रजापतिमेवोज्जयति।

'अथ नेष्टा पत्नीमुदानेष्यन्। कौशं वासः परिधापयति कौशं वा चण्डातकमन्तरं दीक्षितवसनाज्जघनार्धो वा एष यज्ञस्य यत् पत्नी तामेतत् प्राचीं यज्ञं प्रसादयिष्यन् भवत्यस्ति वै पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेर्मेध्या वै दर्भास्तद्यदेवास्या अमेध्यं तदेवास्या एतद्दर्भैर्मेध्यं कृत्वाऽथैनां प्राचीं यज्ञं प्रसादयति तस्मान्नेष्टा पत्नीमुदानेष्यन् कौशं वासः परिधापयति कौशं वा चण्डातकमन्तरं दीक्षितवसनात्' (श० ५।२।१।८)। नेष्टा पत्नीं यजमान-पत्नीम् उदानेष्यन् यज्ञशालातो निर्गमयिष्यन् कौशं दर्भमयं वासः पत्नीं परिधापयेत्, 'क्षत्रस्य योनिरसीति दर्भमयं पत्नीम्' (आश्व० श्रौ० १८।५।७) इति सूत्रात्, 'दर्भमयं परिधापयति' (तै० ब्रा० १।८।५।७) इति

'आयुर्यज्ञेन' इस कण्डिका के मन्त्रों से हवन अथवा वाचन, पत्नी तथा यजमान द्वारा यूप पर आरोहण, चषाल का स्पर्श

श्रुतेश्च । यद्वा कृमिकोशविकारभूतं वासः कौशम्, तेन परित आच्छादयेत् । यद्वा कौशं कुशमयं चण्डातकमर्धोरुकं परिधापयेत् । 'अर्धोरुकं विलासिन्या वासश्चण्डातकं स्मृतम्' (अ० को० २।६।११९) । नृत्तोपयिकत्वेनाच्छादनीयमुरुकञ्चुकमर्धोरुकं वासः । वसनस्य प्रदेशं विधत्ते—अन्तरमिति । दीक्षाकाले यद् वस्त्रं परिहितं तस्माद् बहिःप्रदेश इत्यर्थः । अन्तरशब्दो बहिर्योगे वर्तते । दर्भैरेव वासः कर्तव्यमित्यत्रोपपत्ति दर्शयति—जघनार्ध इत्यादिना । पूर्वदेशस्याहवनीयसाध्यत्वाद् यज्ञः प्राच्यां दिश्यवस्थितः, तस्य यज्ञस्य पश्चिमभागे पत्नीशालायामवस्थानात् पत्नी यज्ञस्य जघनार्ध इति निरूप्यते । तां पत्नीम् एतर्हि प्राचीं प्राङ्मुखां पूर्वदिगवस्थितं यज्ञं प्रापयिष्यन् भवति । तदुपायत्वेन दर्भमयवासःपरिधापनस्य मेध्यत्वाद् मेध्यत्वापादकत्वम् । पत्नीसम्बन्धिनाभेर्यदवाचीनमङ्गं तद् अमेध्यमपवित्रम्, तत्प्रदेशे मेध्यदर्भमयवासःपरिधापनेन तदङ्गं परिशुद्धं कृत्वा एतां प्राचीं यज्ञं प्रापितवान् भवति । दर्भाणां मेध्यत्वं 'पवित्रं वै दर्भाः पुनात्येवैनम्' (तै० ब्रा० १।३।७।१) इति श्रुतिराह । तस्मान्नेष्टा पत्नीमुदानेष्यन् कौशं वासः परिधापयति ।

'अथ निःश्रयणीं निःश्रयति । स दक्षिणत उदङ्रोहेदुत्तरतो वा दक्षिणा दक्षिणतस्त्वेवोदङ्रोहेत्तथा ह्युदग् भवति' (श० ५।२।१।९) । निःश्रयणी यूपारोहणार्थं सोपानसदृशः काष्ठनिर्मितपदार्थः, तं निःश्रयति यूपे निदध्यात् । तथा साधनेन यजमानो यूपमारोहेत् । यूपारोहणे कञ्चिद्विशेषं विधत्ते—स दक्षिणत इति । दक्षिणप्रदेशादुदङ्मुखो यूपमारोहेत्, उदक्प्रदेशाद् दक्षिणमुखो वा आरोहेदिति विकल्पः । तत्रैकं पक्षं सिद्धान्तयति—दक्षिणत इति । तुशब्दः पक्षान्तरव्यावृत्त्यर्थः । तथाहि—एवं कृते सति, उदग्भवति कर्मण उदगपवर्गता सिद्ध्यति । तस्मादयमेव पक्षः श्रेयान् । 'स रोक्ष्यञ्जायामामन्त्रयते ।····अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायतेऽसर्वो हि तावद् भवत्यथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति सर्व एतां गतिं गच्छानीति तस्माज्जायामामन्त्रयते' (श० ५।२।१।१०) । रोहणकाले जायामन्त्रणं विधत्ते—स रोक्ष्यञ्जायामिति । रोक्ष्यन् रोहणं करिष्यन् हे जाये, एहि आगच्छ स्वः स्वर्गं रोहाव आरोहणं करवाव । जायाया प्रत्युक्ति दर्शयति—रोहावेत्याहेति । अथान्वयव्यतिरेकाभ्यां जायासहितस्य पूर्णावयवत्वं प्रतिपादयन्नाह असर्व इति । असम्पूर्ण इत्यर्थः । ह यस्माद्यजमानस्य अर्ध एष यज्जाया, आत्मनस्तदभावे प्रजोत्पत्त्यभावात् । यदा जायासाहित्यं तदा प्रजोत्पादनक्षमत्वम् । तथा च सर्वः सम्पूर्णावयवः । एतां यूपारोहणलक्षणां गतिं गच्छानि प्राप्नवानीत्यभिप्रायेण जायामन्त्रणं कार्यम् ।

'स रोहति । प्रजापतेः प्रजा अभूमेति प्रजापतेर्ह्येष प्रजा भवति यो वाजपेयेन यजते' (श० ५।२।१।११) । यूपारोहणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—प्रजापतेः प्रजा अभूमेति । प्रजा अपत्यभूता अभूमेति । 'अथ गोधूमानुपस्पृशति । स्वर्देवा अगन्मेति स्वर्ह्येष गच्छति यो वाजपेयेन यजते' (श० ५।२।१।१२) । गोधूममयचषालस्पर्शनं समन्त्रकं विधत्ते—गोधूमानिति । वयं देवाः सन्तः स्वः स्वर्गमगन्म गतवन्तः । 'तद्यद् गोधूमानुपस्पृशति । अन्नं वै गोधूमा अन्नं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते अन्नपेयꣳ ह वै नामैतद् यद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्नमुदजैषीत्तेनैवैतदेतां गतिं गत्वा सꣳस्पृशते तदात्मन् कुरुते तस्माद् गोधूमानुपस्पृशति' (श० ५।२।१।१३) । गोधूमस्पर्शनेन वाजपेयजिन्मन्त्रं स्वाधीनं कृतवान् भवतीति । 'अथ शीर्ष्णा यूपमत्युज्जिहीते । अमृता अभूमेति देवलोकमेवैतेनोज्जयति' (श० ५।२।१।१४) । शीर्ष्णा शिरसा यूपमत्युज्जिहीते यूपं शिरसा स्पृशन् तमतिक्रम्य स्वशिर उन्नमयेत् । अमृता अमरणधर्माणः । अभूम सम्भूताः । एतेन यूपाग्रात् शिरउन्नमनाद् यूपस्यातिक्रान्तत्वाद् देवलोकजयः ।

तथा यूप से ऊपर शिर का उन्नयन इत्यादि कार्य सम्पादित किये जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय संहिता में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है । आश्वलायन श्रौतसूत्र में भी मन्त्रसम्बन्धी याज्ञिक प्रक्रिया निरूपित है ।

अध्यात्मपक्षे—यज्ञेन विष्णुनाऽऽयुरादीनां समर्थत्वं स्वकार्यकरणक्षमत्वमिति। यथाग्निनैवायःपिण्डस्य दाहकत्वादिकम्, तथैव सर्वसत्तास्फूर्तिप्रदेनाधिष्ठानभूतेन व्यापनशीलेन परमात्मनैवायुःप्राणचक्षुरादीनां स्वकार्यकरणक्षमत्वं सार्थकत्वं वा। यज्ञोऽपि तत्रैव समर्पितस्तेनैव साफल्यमुपगच्छति, तत्फलस्य तदायत्तत्वात्। वयं सर्वेऽपि जीवाः प्रजापतेः परमेश्वरस्य प्रजा अपत्यानि अभूम, 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० सं०१०।१३।१) इति मन्त्रवर्णात्। हे देवा इन्द्रियाद्यधिष्ठातारः, युष्माकमनुमत्याऽनुग्रहेण वा वयं स्वो दुःखासम्भिन्नं सुखं ब्रह्मात्मकमगन्म प्राप्ताः। अमृता जरामरणादिदुःखमुक्ता ब्रह्मभावापन्ना जाता इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, युष्माकमायुः सततं यज्ञेन धर्म्येणेश्वराज्ञापालनेन कल्पतां समर्थताम्। प्राणो जीवनहेतुर्बलकारी यज्ञेन धर्म्येण विद्याभ्यासेन कल्पताम्। चक्षुः चष्टेऽनेन तत्, यज्ञेन शिष्टाचरितेन प्रत्यक्षविषयेण कल्पताम्। श्रोत्रं शृणोत्यनेन तत्, यज्ञेन शब्दप्रमाणाभ्यासेन कल्पताम्। पृष्ठं प्रच्छनं यज्ञेन संवादाख्येन कल्पताम्। यज्ञो यजधातोरर्थः, यज्ञेन ब्रह्मचर्याद्याचरणेन कल्पताम्। यथा वयं प्रजापतेर्विश्वम्भरस्य जगदीश्वरस्येव धार्मिकस्य राज्ञः प्रजास्तदधीनपालना अभूम भवेम। देवाः सन्तो अमृताः प्राप्तमोक्षसुखा भवेम स्वरगन्म सुखं प्राप्नुयाम तथा यूयं निश्चिनुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यज्ञेन धर्म्येणेश्वराज्ञापालनेनेत्यस्य निर्मूलत्वात्। न च 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (तै० सं० ३।२।१।४) इति वचनं प्रमाणम्, तदर्थानवबोधात्। तत्र तु प्रसिद्धस्यैव यज्ञस्य श्रेष्ठतमकर्मत्वाभिधानम्। किञ्चेश्वराज्ञापालनस्य धर्म्येणेति व्यर्थविशेषणता, व्यावर्त्याभावात्। तस्य धर्मरूपत्वादपि धर्म्यत्वानुपपत्तिः। धर्म्येण विद्याभ्यासेनेत्यपि न युक्तम्, निर्मूलत्वादेव। न च तत्र 'सैषा त्रयी विद्या यज्ञः' (श० १।१।४।३) इति वचनं मूलम्, त्रयीविद्याया यज्ञसाधनत्वेन यज्ञत्वोपचारात्। न च विद्याभ्यास एव त्रयी, तस्या अभ्यासविषयत्वेनाभ्यासरूपत्वाभावात्। यज्ञेन शब्दप्रमाणाभ्यासेनेत्यपि निस्तत्त्वम्। न च 'वाग्वै यज्ञः' (ऐ० ब्रा० ५।२४) इत्यादि मूलम्, यज्ञस्य वैदिकवाक्साध्यत्वेनोपचारिव्यावृत्त्या वाक्परत्वेन तदभ्यासस्य तद्भिन्नत्वेनानुपपत्तेः। 'ब्रह्म वै यज्ञः' (ऐ० ब्रा० ७।२२) इति च न ब्रह्मचर्याद्याचरणस्य यज्ञत्वे मूलम्, तस्य ब्रह्मभिन्नत्वात्। तथैव यज्ञशब्दसंवादार्थतापि प्रत्याख्याता वेदितव्या। भावार्थस्तु सर्वत्रैव निरर्थको मन्त्रासम्बद्ध एवेति न तन्निराकरणायादरः॥ २१॥

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—यज्ञरूपी विष्णु के द्वारा आयुष्य आदि की समर्थता तथा कार्यक्षमता प्रतिपादित है। जिस प्रकार अग्नि के द्वारा ही लौहपिण्ड में दाहकत्वादि आता है, उसी प्रकार समस्त सत्त्वों को स्फूर्ति देने वाले, अधिष्ठानभूत, व्यापक परमात्मा के द्वारा ही आयु, प्राण, नेत्र आदि की अपने-अपने कार्यों की क्षमता अथवा सार्थकता है। यज्ञ भी उसमें ही समर्पित होने पर उसके द्वारा ही सफलता को प्राप्त करता है, क्योंकि यज्ञ का फल उस परमात्मा के ही अधीन है। हम सभी जीव प्रजापति परमेश्वर की सन्ततियाँ हैं। हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवगण! आपकी अनुमति अथवा अनुग्रह से हम लोग दुःख से असंश्लिष्ट ब्रह्मात्मक सुख को प्राप्त करते हैं, अर्थात् जरामरण आदि दुःखों से रहित हो ब्रह्मभाव से सम्पन्न एवं अमृतत्व से युक्त हो गये हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ विसंगत है। 'यज्ञ' पद का 'धर्मयुक्त ईश्वराज्ञापालन' अर्थ करना प्रमाणरहित है। ईश्वराज्ञापालन के साथ 'धर्म्य' विशेषण लगाना भी व्यर्थ है, क्योंकि ईश्वर के धर्मरूप होने के कारण पुनः धर्म्यत्व की संगति नहीं होती। 'धर्म्य विद्याभ्यास के द्वारा' यह कहना भी प्रमाणरहित होने के कारण उचित नहीं है। यहाँ पर 'सैषा त्रयी विद्या यज्ञः' यह श्रुतिवाक्य प्रमाण के रूप में उपस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस वचन में त्रयी विद्या में यज्ञसाधनत्व होने कारण यज्ञत्व का लाक्षणिक कथन है। फिर विद्याभ्यास ही त्रयी नहीं हो सकता। त्रयी तो अभ्यास का विषय है, अतः उसका अभ्यासरूप होना असंगत है। इसी प्रकार यज्ञ शब्द के निरूपित अर्थ की स्थिति ही निरस्त माननी चाहिये। भावार्थ तो सभी स्थलों पर अर्थविहीन तथा मन्त्र से असम्बद्ध है, अतः उसके खण्डन में हमारी विशेष रुचि नहीं है॥ २१॥

अस्मे वो॑ अस्त्विन्द्रि॒यम॒स्मे नृ॒म्णमु॒त क्रतु॑र॒स्मे वर्चा॑ᳪ᳭सि सन्तु वः । नमो॑ मा॒त्रे पृ॑थि॒व्यै नमो॑ मा॒त्रे पृ॑थि॒व्या इ॒यं ते॒ राड् य॒न्तासि॒ यम॑नो ध्रु॒वोऽसि ध॒रुणः॑ । कृ॒ष्यै त्वा॑ क्षेमा॑य त्वा र॒य्यै त्वा॒ पोषा॑य त्वा ॥ २२ ॥

'अस्मे व इति दिशो वीक्षते' (का० श्रौ० १४।४।२७) । यूपारूढो यजमानो दिशः पश्येत् । दिग्देवत्यं यजुः । हे दिशः, अस्मे अस्मासु वो युष्मत्सम्बन्धि इन्द्रियं सामर्थ्यमस्तु भवतु । नृम्णं धनं युष्मत्सम्बन्धि अस्मे अस्मासु भवतु । उत अपि च क्रतुः कर्म युष्मत्सम्बन्धि अस्मास्वस्तु । वो युष्माकं वर्चांसि तेजांसि अस्मे अस्मासु सन्तु, युष्मत्सामर्थ्यमस्मत्सम्बन्ध्यस्त्वित्यर्थः । 'नमो मात्र इति भूमिमवेक्षते' (का० श्रौ० १४।४।३०) । यूपारूढ एव यजमानो भूमिं पश्यति नमो मात्र इति मन्त्रेण । पृथिवीदेवत्यं यजुः । नमो मात्रे पृथिव्यै इति द्विरुक्तिरभ्यासेनार्थस्य भूयस्त्वाय । मात्रे सर्वस्य निर्मातृत्वाद् मातृरूपायै पृथिव्यै नमः पुनः पुनर्भूयान् प्रह्वीभावोऽस्तु । 'उत्तरवेदिमपरेणौदुम्बरीमासन्दीं बस्तचर्मणा स्तृणातीयं त इति' (का० श्रौ० १४।४।३१) । अध्वर्युरौदुम्बरीमासन्दीं निधाय तत्र प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम अजचर्मास्तृणीयात् । आसन्दीदेवत्यं यजुः । हे आसन्दि, ते तव, इयं राड् इदं राज्यम्, राजनं राट्, लिङ्गव्यत्ययः, सम्पदादित्वाद् भावे स्त्रियां क्विप् । अभिषिक्तासि त्वमित्यर्थः । 'सुन्वन्तमस्यामुपवेशयति यन्तासीति' (का० श्रौ० १४।४।३२) । बाहुगृहीतं यजमानमासन्द्यामुपवेशयति यन्तासीति मन्त्रेणाध्वर्युः । यजमानदेवत्यं यजुः । हे यजमान, त्वं यन्ता सर्वस्य नियन्तासि । यमनः स्वयं संयमनकर्तासि । अनवच्छिन्नं तव नियमनमिति । तथा ध्रुवः स्थिरोऽचलोऽसि । धरुणो धारकोऽसि । कृष्यै कर्षणाय कृषिसिद्ध्यर्थं वा त्वा त्वामुपवेशयामीति शेषः । क्षेमाय प्राप्तस्य रक्षणाय त्वामुपवेशयामि । रय्यै त्वां पोषाय पशुपुत्रादिपुष्ट्ये त्वामुपवेशयामीति ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दिशोऽनुवीक्षमाणो जपति । अस्मे वो अस्त्विन्द्रियं····सन्तु व इति सर्वं वा एष इदमुज्जयति यो वाजपेयेन यजते प्रजापतिᳪ᳭ ह्युज्जयति सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः सोऽस्य सर्वस्य यश इन्द्रियं वीर्यᳪ᳭ संवृज्य तदात्मन् धत्ते तदात्मन् कुरुते···' (श० ५।२।१।१५) । यूपे तिष्ठन्नेव यजमानो दिशोऽनुक्रमेण पश्येद् अस्मे इति मन्त्रं जपन् । इन्द्रियादीनामाशासनं युक्तमित्याह—सर्वं वा । प्रजापतेः सर्वात्मकत्वाद् वाजपेयेन च प्रजापतिप्राप्तित्वाद् अस्य सर्वस्य जगतो यशआदिकं संवृज्य विभज्य तत्स्वात्मनि धारयति स्वात्मनि कुरुते आत्मसात्कृतवान् भवति । शेषोऽर्थ उक्त एव । 'अथैनमूषपुटैरनूदस्यन्ति । पशवो वा ऊषा अन्नं वै पशवोऽन्नं वा एष उज्जयति···' (श० ५।२।१।१६) । ऊषाः क्षेत्रपांसवः, तानश्वत्थपत्रैः पुटीकृत्य तैः पुटैर्यूपेऽवस्थितं यजमानमभिलक्ष्य, उदस्यन्ति अध्वनि प्रतिदिशः प्रक्षिपेयुः । ऊषाणां यज्ञद्वारा पशुसाधनत्वात्ताच्छब्द्यम् । पशूनां चान्नत्वं क्षीरादिसाधनत्वेन प्रसिद्धम् । अतः पशुद्वारा ऊषाणामन्नत्वाद् ऊषपुटहननेन यजमानेऽन्नमेव निहितवान्

मन्त्रार्थ—हे दिक्चतुष्टय ! तुम्हारा वीर्य हमें प्राप्त हो, तुम्हारा धन और तुम्हारे लिये किया गया यज्ञानुष्ठान का फल तुम्हारे तेज के साथ हमें प्राप्त हो, अर्थात् हम इस जगत् में अग्रगण्य हों । मातारूप पृथ्वी को हमारा बार-बार नमस्कार है । हे आसन्दी ! यह तुम्हारा राज्य है । हे यजमान ! तुम सबके नियामक हो । कृषि कार्य की उन्नति के लिये, राज्य में स्थिरता और शान्ति के लिये, धन-सम्पत्ति की वृद्धि के लिये और प्रजा का पालन करने के लिये तुम्हारे उपवेशनार्थ यह आसन्दी है ॥ २२ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।२७-३२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'अस्मे

भवति। 'आश्वत्थेषु पलाशेषूपनद्धा भवन्ति। स यदेवादोऽश्वत्थे तिष्ठत इन्द्रो मरुत उपामन्त्रयत तस्मादाश्वत्थेषु पलाशेषूपनद्धा भवन्ति विशोऽनूदस्यन्ति विशो वै मरुतोऽन्नं तस्माद्विशोऽनूदस्यन्ति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिः·····' (श० ५।२।१।१७)। अश्वत्थपलाशेषूपनद्धान् कुर्यात्। आश्वत्थैरेव करणे हेतुमाह— स यदेवाद इति। अदोऽमुष्मिन् विप्रकृष्टे काले अश्वत्थेऽवस्थितान् मरुत इन्द्र आह्वयत। एवमयमश्वत्थो देवविशां मरुतामाश्रयभूतः, अतस्तदीयेषु पत्रेषु अन्नसंस्तुतानामूषाणामुपनिबन्धनं प्रशस्तमित्यर्थः। ऊषपुटेषु क्षेपणकर्तॄन् विधत्ते –विशोऽनूदस्यन्तीति। विशो वैश्या अर्पयेयुः। मरुतां विट्त्वमिन्द्रप्रजात्वात्। अतो मनुष्यविशामपि तत्साजात्येन तदात्मकत्वम्, तेषां वैश्यानां कृषीवलत्वात्। ऊषपुटानां संख्यां विधत्ते– सप्तदशेति।

'अथेमामुपावेक्षमाणो जपति। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इति बृहस्पतेर्ह वा अभिषिषिचानात् पृथिवी बिभयाञ्चकार महद्वा अयमभूद्योऽभ्यषेचि यद्वै माऽयं नावदृणीयादिति बृहस्पतिर्ह पृथिव्यै बिभयाञ्चकार यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयमकुरुत नहि माता पुत्रᳪ हिनस्ति न पुत्रो मातरम्' (श० ५।२।१।१८)। यजमानस्य भूम्यवेक्षणं समन्त्रकं विधत्ते—अथेमामिति। सर्वस्य निर्मातृत्वान्मातृरूपायै पृथिव्यै नमः। मन्त्रगतस्य मातृशब्दस्य जननीवाचकत्वं विवक्षितमिति वदन् भूम्यवेक्षणं बृहस्पतिदृष्टान्तमुखेन प्रशंसति—बृहस्पतेरिति। पूर्वं वाजपेययज्ञे बृहस्पतेरभिषिक्ताद् भूमिर्बिभेति स्म। भयकारणमाह— महद्वा इति। यद् अयमभिषिक्तः पुरुषो महदभूत्। यद् यस्माद् अभिषेकेण महत्त्वगुणवान् अयं बृहस्पतिर्मां भूमिं न अवदृणीयाद् नावदारयेत्, अतो हेतोः, मित्रधेयं कुरुत इति सम्बन्धः। तथा बृहस्पतिरपि भूम्याः सकाशाद्बिभेति स्म यद् इयं भूमिर्मामभिषिक्तं नावधून्वीत न विचालयेत्। तत् तस्मादनया पृथिव्या सह एव एतद् निरीक्षणरूपं मित्रधेयं मैत्रीमकुरुत, भूमिरपि तेन सख्यमकरोदित्यर्थः। यदुपक्रमे तावदुभयोर्भीतिरुक्ता, अवदारणपरिहाराय मित्रधेयकरणमुक्तम्, उपसंहारेऽपि नहि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो मातरमिति परस्परहिंसननिषेध उक्तः। 'बृहस्पतिसवो वा एष यद्वाजपेयम्। पृथिव्यु हैतस्माद्बिभेति महद्वा अयमभूद्योऽभ्यषेचि यद्वै माऽयं नावदृणीयादित्येष उ हास्यै बिभेति यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयं कुरुते नहि माता पुत्रᳪ हिनस्ति न पुत्रो मातरम्' (श० ५।२।१।१९)। इदानीमनुष्ठानेऽपि भूम्यवेक्षणं मित्रत्वप्रयोजनम्। शिष्टं पूर्ववत्।

'अथ हिरण्यमभ्यवरोहति। अमृतमायुर्हिरण्यं तदमृत आयुषि प्रतितिष्ठति' (श० ५।२।१।२०)। हिरण्यमभिलक्ष्य यूपादवरोहेत्, यतो हिरण्यं मरणरहितायुरात्मकम्। तत्रावरोहणेन तथाविध आयुषि एव प्रतिष्ठितो भवति। 'अथाजर्षभस्याजिनमुपस्तृणाति। तदुपरिष्टाद् रुक्मं निदधाति तमभ्यवरोहति' (श० ५।२।१।२१)। हिरण्यनिधानार्थं बस्ताजिनास्तरणं विधत्ते—अथाजर्षभस्येति। तत्रास्यास्तीर्णाजचर्मण उपरिष्टाद् रुक्मं निदध्यात्। हिरण्येऽवरोहणं वैकल्पिकमाह— रुक्मे वावरोहेदिति। 'सरुक्मे बस्तचर्मण्यवरोहति भूमौ वा' (का० श्रौ० १४।४।३०)। 'अथास्मा आसन्दीमाहरन्ति। उपरिसद्यं वा एष जयति यो जयत्यन्तरिक्षसद्यं तदेनमुपर्यासीनमधस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादस्मा आसन्दीमाहरन्ति' (श० ५।२।१।२२)। अस्मै यूपादवरोहायासन्दीमाहरन्ति। उपरिसद्यं वाजपेयेन यागेनोपरिसदनं जयति भद्रपीठादेरुपर्यवस्थानं प्राप्नोति। तदेवोपपादयति—यो यूपारोहणेनान्तरिक्षसद्यं आकाश उपवेशनं जयति, एष उपरिसद्यं जयति। तदेनमुपर्यासीनमधस्तादिमाः प्रजाः उपासते। 'औदुम्बरी भवति। अन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरी भवति तामग्रेण हविर्धाने जघनेनाहवनीयं निदधाति' (श० ५।२।१।२३)। यदेतद् ऊर्ग् बलकरमन्नं तदात्मक उदुम्बरो वृक्षः, तज्जन्यत्वात्, 'देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठत' इति श्रुतेः। तामग्रेण हविर्धानेन

वः' इस कण्डिका के मन्त्रों से यजमान द्वारा दिशाओं का निरीक्षण, भूमि का निरीक्षण, अध्वर्यु द्वारा चर्मास्तरण तथा

जघनेनाहवनीयम् आहवनीयं जघनेन आहवनीयाग्रे पश्चिमप्रदेशे हविर्धानयोरग्रप्रदेशे । हविर्धान इति द्वितीयाद्विवचनान्तम् । तामासन्दीं निदध्यात् । 'अथाजर्षभस्याजिनमास्तृणाति । प्रजापतिर्वा एष यदजर्षभ एता वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां यदजास्तस्मादेतास्त्रिः संवत्सरस्य विजायमाना द्वौ त्रीनिति जनयन्ति तत्प्रजापति-मेवैतत्करोति तस्मादजर्षभस्याजिनमास्तृणाति' (श० ५।२।१।२४)। आसन्द्या अजाजिनेनाच्छादनं विधत्ते—अजर्षभस्याजिनमास्तृणातीति । बस्तप्रजापत्योर्बहुप्रजोत्पादकत्वेनैकरूप्यं समर्थयते—एता वा इत्यादि । एता अजाः प्रजापतेरतिशयेन प्रत्यक्षं रूपम् । यस्मादेवं तस्मात् संवत्सरमध्ये त्रिवारं द्वौ त्रीन् वा पुत्रान् विजायमानाः सुवाना भवन्ति ।

'स आस्तृणाति । इयं ते राडिति राज्यमेवास्मिन्नेतद्दधात्यथैनमासादयति यन्तासि यमन इति यन्तार-मेवैनमेतद्यमनमासां प्रजानां करोति ध्रुवोऽसि धरुण इति ध्रुवमेवैनमेतद्धरुणमस्मिँल्लोके करोति कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वेति साधवे त्वेत्येवैतदाह' (श० ५।२।१।२५)। आस्तरणमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—इयं ते राडिति । हे अभिषिच्यमान वाजपेययाजिन्, ते तव इयमासन्दी, राट् राज्यसाधनम् । पीठादेरुपरि सदनमेव राज्यम् । तस्याभिप्रायमाह—राज्यमेवास्मिन्नेतद्दधातीति । यदेतेनास्तरणेन यजमाने राज्यमेव निहितवान् भवति । आसन्द्यामुपवेशनं विधत्ते—अथैनमासादयतीति । एनं यजमानमस्यामासन्द्यामुपवेशयेत् । यन्तासि सर्वस्य नियन्तासि । यमनः प्रजानां नियमिता । ध्रुवः स्थिरः । धरुणो धारकः । कृष्यै कर्षणाय, त्वामुपवेशयामि । कृष्यादिपदानामर्थं सङ्कलय्याह—साधवे श्रेयसे त्वामुपवेशयामि ।

अध्यात्मपक्षे हे विराड्हिरण्यगर्भेश्वराः, वो युष्माकमिन्द्रियं सामर्थ्यम्, अस्मे अस्माकमस्तु । युष्माकं नृम्णं धनं भौतिकमधिदैवं ज्ञानविज्ञानलक्षणं यदस्ति, तदप्यस्माकमस्तु । वो युष्माकं वर्चांसि तेजांसि अस्मासु सन्तु । मात्रे सर्वनिर्मात्र्यै पृथिव्यै विस्तृतायै परमेशशक्त्यै नमोऽस्तु । हे परमेश्वर, इयं महाशक्तिस्ते राज्यं राज्यवत् सुखप्रापयित्री । तत्प्रसादादेव त्वं यन्तासि सर्वस्य नियन्तासि, स्वतो निर्विशेषत्वात् । यमनः स्वयं यमनकर्तासि । स्वयं तु ध्रुवोऽसि अचलोऽसि । धरुणोऽसि सर्वस्य धारकोऽसि । त्वा कृष्यै कर्षणाय अभीष्टा-कर्षणाय, क्षेमाय प्राप्तरक्षणाय, रय्यै दैवीसम्पत्तये, पोषाय ज्ञानविज्ञानपुष्ट्यै त्वामाश्रये ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अहमीश्वरः कृष्यै त्वा क्षेत्राय त्वा रय्यै सम्पत्तये त्वा पोषाय त्वा नियुनज्मि । यस्त्वं ध्रुवो निश्चलः, यन्ता नियन्ता, यमन उपयन्ता, धरुणो धर्तासि । यस्य ते इयं राट् शोभायुक्ता नीतिरस्ति, अस्यै मात्रे मान्यनिमित्तायै पृथिव्यै विस्तृतायै भूम्यै नमो विधेहि । अस्याः सकाशादन्नादिपदार्थाः प्राप्नुवन्तु ।

उस पर यजमान का उपवेशन आदि कर्म किये जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर ! आप लोगों का सामर्थ्य हममें हो, आपका आधिभौतिक तथा आधिदैविक ज्ञानविज्ञान रूपी धन भी हमारा हो, आपका तेज हममें हो । सबकी निर्मात्री, विस्तीर्ण परमेश्वर की शक्ति के लिये नमस्कार है । हे परमेश्वर ! यह महाशक्ति आपके राज्य के समान सुखकारिणी है । उसके प्रसाद से ही आप सबके नियन्ता हैं, क्योंकि आप स्वयं निर्विशेष हैं । स्वयं आप शास्ता हैं, स्वयं अचल हैं तथा सबके धारणकर्ता हैं । अभीप्सित की प्राप्ति के लिये, प्राप्त के रक्षण के लिये, दैवी सम्पत्ति के लिये तथा ज्ञानविज्ञान की पुष्टि के लिये आपका आश्रय ग्रहण करता हूँ ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ शतपथ श्रुति आदि के वचनों से विरुद्ध होने के कारण कल्पनामात्र ही है । मनुष्यों की मन आदि इन्द्रियां परस्पर बदली नहीं जा सकतीं । मानवों में इस प्रकार की शक्ति प्रसिद्ध नहीं है । देवताओं में तो

भूगर्भविद्यां ज्ञात्वा नृम्णम् अन्नजलादिपदार्थान् प्राप्य सर्वे यूयम् एवं वदत वर्तध्वम्, यदस्मे अस्माकमस्मभ्यं वा इन्द्रियं मनआदीनि, तद्वो युष्माकं युष्मभ्यं वास्तु, यदस्मे नृम्णं धनं तद्वोऽस्तु, उतापि योऽस्मे क्रतुः प्रज्ञा कर्म वा स वोऽस्तु। यान्यस्माकं वर्चांसि प्रकाशमानान्यध्ययनाध्यापनान्यन्नानि च, तानि वः सन्तु। यदेतत्सर्वं वोऽस्ति सोऽस्माकमप्यस्तु—इत्येवं परस्परं यूयमाचरत' इति, तदपि कल्पनामात्रम्, पूर्वोक्तशतपथादिवचनविरोधात्। न च मनुष्याणां मनआदीनि इन्द्रियाणि परस्परं परिवर्तयितुं शक्यानि। न च मनुष्येषु तादृशी शक्तिः प्रसिद्धा। देवतासु तु तादृशं सामर्थ्यं भवत्येव। युष्माभिस्तु विशिष्टैश्वर्यवद् देवतात्वं नाभ्युपगम्यते। ननु युष्मभ्यं सन्त्विवति पक्षे नोक्तदोष इति चेन्न, मनआदीनामात्मशेषत्वादन्यशेषत्वानुपपत्तेः। शतपथश्रुतिषु तु स्पष्टमेव सिद्धान्त-पक्षपोषकाणि वचनानि दृश्यन्ते। तस्मात्तद्विरुद्धा कल्पना असंगतैव ॥ २२ ॥

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमँ राजानमोषधीष्वप्सु। ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयँ राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥ २३ ॥

'स्रुवेण सम्भृताज्जुहोति वाजस्येममिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १४।४।३९)। प्रत्यौदुम्बरपात्रे एकत्र कृतादुदकदुग्धसर्वान्नादेः सकाशात् स्रुवेणाहवनीये सप्त मन्त्रैर्जुहोति। तिस्रस्त्रिष्टुभः प्रजापतिदेवत्याः। अग्रे पूर्वं सृष्ट्यादौ वाजस्येमं प्रसवः सुषुवे। वाजस्यान्नस्य सम्बन्धी प्रसव ईश्वर उत्पादकः प्रजापतिः, ओषधीषु अप्सु सारभूतं वर्तमानमिमं सोमवल्लीरूपं राजानं दीप्तिमन्तं पदार्थं सुषुवे उत्पादयामास, 'षूङ् प्राणिप्रसवे', ता इत्थंभूताः सोमस्य जनयित्र्य ओषधय आपश्च अस्मभ्यं मधुमतीर्मधुमत्यो रसवत्यो माधुर्योपेता भवन्तु भोगयोग्या भवन्तु। वयं च ताभिरभिषिक्ता राष्ट्रे स्वकीये देशे पुरोहिता यागानुष्ठानादौ पुरोगामिनः प्रधाना जागृयाम जागरूका अप्रमत्ता भवाम। स्वाहा सुहुतमस्तु। सर्वत्र स्वाहाशब्दो हवनलिङ्गम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'बार्हस्पत्येन चरुणा प्रचरति। तस्यानिष्ट एव स्विष्टकृद् भवत्यथास्मा अन्नँ सम्भरन्त्यन्नं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते' (श० ५।२।२।१)। प्रधाननैवाराहुतेरनन्तरं कर्तव्यं वाजप्रसवीयं होमं विधातुं कालं विधत्ते—तस्यानिष्ट एवेति। तस्य नैवारस्य स्विष्टकृद् अनिष्टोऽनिष्टकृद् भवति। प्रधानयागादूर्ध्वं स्विष्टकृतः प्रागित्यर्थः। होमार्थमन्नसम्भरणं विधत्ते—अन्नं सम्भरन्तीति। अथास्मै यजमानाय अभिषेकार्थमन्नं सम्भरेत्। 'औदुम्बरे पात्रे। अन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरे पात्रे सोऽप एव प्रथमाः सम्भरन्त्यथ पयो अथ यथोपस्मारमन्नानि' (श० ५।२।२।२)। अन्नसम्भरणार्थं पात्रविशेषं विधत्ते—औदुम्बर इति। तत्र प्रथममपां संभरणं विधत्ते—सोऽप एवेति। अपो

ऐसा सामर्थ्य होता ही है, किन्तु आपके मत में विशिष्ट ऐश्वर्य से युक्त देवत्व नहीं माना जाता। शतपथ श्रुति में तो हमारे सिद्धान्त पक्ष के पोषक वचन दृष्टिगोचर होते हैं, अतः उनके विरुद्ध कल्पना असंगत हो है ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—अन्न को उत्पन्न करने वाले प्रजापति ने सबसे पहले आदि सृष्टि में औषधि और जल के बीच में सबसे उत्तम इस सोमवल्ली रूप दीप्तिमान् पदार्थ को उत्पन्न किया था। वे सोम के उत्पादक औषधि और जल हमारे लिये माधुर्य रस से भरे हों। याग, अनुष्ठान आदि में इनकी प्रधानता रहती है। हम इनसे अभिषिक्त होकर, अपने राज्य में सर्वसाधारण के हित के लिये अप्रमत्त होकर काल यापन करें ॥ २३ ॥

भाष्यसार—'वाजस्येमम्' इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में स्रुव द्वारा आहुति दी जाती है। याज्ञिक प्रक्रिया का

जलानि सम्भरेत्, अथ क्षीरम्, तदनन्तरं यथोपस्मारम् उपस्मृतिमनतिक्रम्य यानि तदा स्मृतिपथमवतरन्ति, तानि 'तिलमाषा व्रीहियवाः प्रियङ्ग्वणवो गोधूमा वेणुश्यामाकनीवारा जर्तिलाश्च गवेधुका अरण्यजा मर्कटका विज्ञेया गार्मुतसप्तमाः कुलत्थसप्तमा वा' इत्यापस्तम्बेन सूत्रितानि सम्भरेत्।

'तद्धैके। सप्तदशान्नानि सम्भरन्ति सप्तदशः प्रजापतिरिति वदन्तस्तदु तथा न कुर्यात् प्रजापतेर्न्वेव सर्वमनवरुद्धं क उ तस्मै मनुष्यो यः सर्वमन्नमवरुन्धीत तस्मादु सर्वमेवान्नं यथोपस्मारँ सम्भरन्नेकमन्नं न सम्भरेत्' (श० ५।२।२।३)। यथोपस्मारमन्नानि संबिभृयाद् इत्यत्र संख्याया अनुक्तेर्यावन्ति स्मर्यमाणानि तावन्ति सम्भरेत्। पूर्वपक्षे सप्तदशसंख्याकान्यन्नानि सम्भरेत्, प्रजापतेः सप्तदशत्वात्, तन्निराकरोति—प्रजापतेरिति। पूर्वं प्रजापतेरपि सकलमन्नं न वशीकृतम्। इदानीं तस्मै प्रजापत्यर्थं मनुष्यः कः समर्थः? तस्माद्यथोपस्मारं सम्भरन्नेकमन्नं न सम्भरेत्। सप्तदशान्नानि तु—(१) व्रीहयः, (२) यवाः, (३) मसूराः, (४) गोधूमाः, (५) मुद्गाः, (६) माषाः, (७) तिलाः, (८) चणकाः, (९) अणवः, (१०) प्रियङ्गवः, (११) कोद्रवाः, (१२) मकुष्ठकाः, (१३) कलायाः, (१४) कुलित्थाः, (१५) मठाः, (१६) सर्षपाः, (१७) अतस्यः। पातञ्जलभाष्ये सप्तदश शणाः। तत्र व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्चेति दश ग्राम्याणि, शेषाण्यारण्यानि। 'स यन्न सम्भरति। तस्योद्ब्रुवीत तस्य नाश्नीयाद्यावज्जीवं तथा नान्तमेति तथा ज्योग्जीवति स एतस्य सर्वस्यान्नाद्यस्य सम्भृतस्य स्रुवेणोपघातं वाजप्रसवीयानि जुहोति तद्याभ्य एवैतद्देवताभ्यो जुहोति ता अस्मै प्रसुवन्ति ताभिः प्रसूत उज्जयति तस्माद्वाजप्रसवीयानि जुहोति' (श० ५।२।२।४)। यद् अन्नं न सम्भरेत् तस्य उद्ब्रुवीत, न संभृतमित्युच्चैस्तन्नाम ब्रूयात्, यथाऽसम्भृतस्यान्नस्य यावज्जीवमभोजनेन अन्तं विनाशं न एति, ज्योक् चिरकालं जीवति, भोक्तव्यस्य सर्वस्य भोगे सति विनाशो भवति, अतस्तदेकमवशिष्य भुञ्जीतेति तात्पर्यम्। मिलितस्य एतस्य सर्वस्यान्नस्यैकदेशं स्रुवेण उपहत्योपहत्य गृहीत्वा वाजप्रसवीयानि जुहोति, वाजप्रसवशब्दयुक्तमन्त्रकारणकहोमान् कुर्यादित्यर्थः। तद् याभ्य इति। मान्त्रवर्णिकीभ्यो याभ्योऽग्न्यादिदेवताभ्यो हूयते, तदैव ता अस्मै यजमानाय एतद्यागफलभूतमन्नमवरोद्धुं प्रसुवन्ति, ताभिरनुज्ञातः पश्चात् स्वाधीनं करोतीत्यर्थ इति सायणः। 'स जुहोति। वाजस्येमं प्रसवः....स्वाहा' (श० ५।२।२।५)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव।

अध्यात्मपक्षे—वाजस्यान्नस्य प्रसव उत्पादक ईश्वरः, अग्रे सृष्टिकाले ओषधीष्वप्सु च वर्तमानं सोमं राजानं सुषुवे जनितवान्, 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इति सिद्धान्तेन यद्यपि सर्वत्रैव अग्नीषोमयोः स्थितिस्तथापि कठोरेषु तीक्ष्णेषु पदार्थेष्वग्नेः कोमलेषु सोमस्य स्थितिर्भवति। तस्मादोषधीषु जलेषु च सोमस्य राज्ञः सत्ता मन्तव्या। सोमस्याधारभूतास्ता आप ओषधयश्च मधुमत्यो रसवत्यो यागाद्युपयोग्या भवन्तु। तदाप्यायिताश्च वयं पुरोहिता यागाद्यनुष्ठानप्रधाना राष्ट्रे जागृयाम अनलसाः पुरुषार्थसाधने जागरूका भवेम।

यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।५।२१) में उल्लिखित है। शतपथ श्रुति के द्वारा याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—अन्न को प्रादुर्भूत करने वाले ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में ओषधियों में तथा जल में विद्यमान सोम राजा को उत्पन्न किया। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि सर्वत्र ही अग्नि तथा सोम का अस्तित्व है, तथापि कठोर, तीक्ष्ण पदार्थों में अग्नि तथा कोमल पदार्थों में सोम की स्थिति होती है। अत एव ओषधियों में तथा जल में राजा सोम की सत्ता समझनी चाहिये। सोम की आधारभूत ओषधियाँ तथा जल रसयुक्त यागादि के लिये उपयोगी हों। उनके द्वारा आप्यायित होकर हम पुरोहित यागादि अनुष्ठानों के कर्ता, राष्ट्र में आलस्यरहित तथा पुरुषार्थ के साधन में जागरूक हों।

दयानन्दस्तु —'हे मनुष्याः, यथाहमग्रे प्रसव ऐश्वर्यवान् वाजस्य वैद्यकशास्त्रबोधस्य इमं सोमं सोममिव सर्वदुःखप्रणाशकं राजानं विद्यान्यायविनयैः प्रकाशमानं स्वामिनं सुषुवे प्रसुवे उत्पादये। यथा तद्रक्षणेन या ओषधीष्वप्सु पृथिवीस्थासु यवादिषु अप्सु जलेषु वर्तमाना ओषधयः सन्ति, ता अस्मभ्यं मधुमत्यो भवन्तु, यथा स्वाहा सत्यक्रियया सह पुरोहिताः सर्वेषां हितकारिणो वयं सभापत्यादयो राष्ट्रे सततं जागृयाम सचेतना अनलसाः सन्तो वर्तेमहि, तथा यूयमपि वर्तध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशार्थबोधनाय शास्त्राप्रवृत्तेः। अज्ञातज्ञापकत्वेन खलु प्रमाणानां प्रामाण्यम्, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामज्ञातार्थबोधनेनैव वेदानां वेदत्वात्। नीतिशास्त्रे सम्भवन्ति चैतानि प्रजोपदेशवचनानि। वाजशब्दस्य वैद्यकशास्त्रसम्बन्धिबोधोऽर्थ इति सर्वथैव निर्मूलम्। सोमसमभिव्याहृतस्य राजशब्दस्य वेदे सोमलताया एव बोधः प्रायेण। ओषधीष्वप्सु ता इत्यस्यांशस्य व्याख्याने यदुक्तम् —'पृथिवीस्थासु यवादिषु जलेष्वोषधयः सन्ति' इति, कथमयमर्थः ? मन्त्रे ओषधय इति पदस्याभावात्। न चौषधीष्वोषधयः सम्भवन्ति, आत्माश्रयत्वापातात्।

यत्तु 'वाजस्येमं प्रसवः' (वा० सं० ९।२३) इति मन्त्रे व्याकरणप्रक्रियां प्रदर्शयन्नसूयकः पुरोभागी सनातनधर्मे दृढद्वेषो देवतासु तीर्थेषु शास्त्रेषु च असूयाकषायान्तःकरणत्वाद् गालिदाने दृढबद्धादरः कश्चनाह— 'सायणेनर्ग्वेदभाष्ये (ऋ० सं० १।१।१) पक्षान्तरे गतिसंज्ञामकृत्वैव 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' (पा० सू० ६।२।२) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः प्रदर्शितः, सोऽयुक्तः, गतिसंज्ञामन्तरेण समास एव न प्राप्नोति, कुतोऽव्ययस्वर इति सायणस्य स्वभाष्यारम्भ एव प्रथमे ग्रासे मक्षिकापातो विभावनीयः स्वरशास्त्रज्ञैः' इति, तदतिमन्दम्, पुरोहितमित्यत्र 'सह सुपा' (पा० सू० २।१।४) इति योगविभागात् 'अव्ययं विभक्ति' (पा० सू० २।१।६) इति सूत्रेऽव्ययमित्यस्य योगविभागाच्चोभयथा समासस्य साधुत्वात्, अव्ययीभाव-तत्पुरुष-कर्मधारय-द्विगु-बहुव्रीहि-द्वन्द्वेति षट्समासाभिमानिनां तत्पुरुषेतरपञ्चसमासानाक्रान्तः सर्वोऽपि प्रयोगस्तत्पुरुषसमासान्तर्गत इति हृदयमभिलक्ष्य सायणेन 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' (पा० सू० ६।२।२) इत्यादिना पूर्वपदप्रकृतिस्वरसमर्थनात्। स्वमनीषितं तु सायणेन यद्वेति कृत्वाभिहितम्। तदेव त्वयाऽप्यनुसृतम्। तथापि सायणभाष्योपरि कटुकोल्बणमुद्वमन्न जिह्रेषीति 'किमाश्चर्यमतः परम्' ?॥ २३॥

स्वामी दयानन्द का अर्थ इस कारण से अग्राह्य है कि इस प्रकार के अर्थबोधन के लिये शास्त्र का प्रयोजन नहीं है। प्रमाणों का प्रामाण्य अज्ञातार्थ के बोधन से ही होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से अज्ञात अर्थ का बोधन कराने से ही वेद का वेदत्व है। प्रजा के प्रति उपदेश के ये वाक्य नीतिशास्त्र में सम्भव है। वाज शब्द का 'वैद्यकशास्त्र-सम्बन्धी बोध अर्थ है' यह कथन सर्वथा अप्रमाण है। सोम पद के साथ कथित 'राजा' शब्द से सोमलता का ही बोध वेद में प्रायः होता है। ओषधियों में ओषधियों का होना भी आत्माश्रयत्व दोष प्राप्त होने के कारण संभव नहीं है।

'वाजस्येमं प्रसवः' इस मन्त्र में व्याकरण प्रक्रिया का प्रदर्शन करते हुए किसी दोषद्रष्टा ने सायण की आलोचना की है, वह अत्यन्त निरर्थक है। 'पुरोहितम्' पद में 'सह सुपा' इस सूत्र द्वारा योगविभाग से और 'अव्ययं विभक्ति' इस सूत्र में 'अव्ययम्' इस योगविभाग से, दोनों ही प्रकार से समास ठीक हैं। जो व्यक्ति अव्ययीभाव, तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु, बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व ये ६ समास मानते हैं, उनके लिये तत्पुरुष से अतिरिक्त पांचों समासों में जो प्रयोग अन्तर्भुक्त नहीं होते, वे सभी तत्पुरुष के अन्तर्गत आते हैं। इस विचार को दृष्टिगत रखते हुए सायणाचार्य ने 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' इस सूत्र के द्वारा पूर्वपद प्रकृतिस्वर का समर्थन किया है। अपना अभिमत तो सायणाचार्य ने 'यद्वा' इत्यादि के द्वारा निरूपित किया है। दोषद्रष्टा ने भी उसी का अनुसरण किया है, फिर भी सायणभाष्य पर कटु आक्षेप करना आश्चर्यजनक ही है॥ २३॥

वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट् । अदित्सन्तं दापयति प्रजानन् स नो रयिं सर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा ॥ २४ ॥

वाजस्यान्नस्य प्रसव ईश्वर इमां पृथिवीं दिवं द्युलोकं च इमा इमानि विश्वानि अखिलानि भुवनानि भुवनजातानि शिश्रिये आश्रितवान् । स च सम्राट् सर्वेषां भुवनानां राजा भूत्वा अदित्सन्तं हविर्भोग्यं वा दातुमनिच्छन्तं मां प्रजानन् अवगच्छन् मदीयबुद्धिप्रेरणेन हविर्दापयति । नोऽस्मभ्यं सर्ववीरं सर्वैः पुत्रभृत्यादिभिर्युक्तं रयिं धनं नियच्छतु नियमेन ददातु, 'दाण् दाने' इत्यस्य यच्छादेशे रूपम् ।

अध्यात्मपक्षे—वाजस्यान्नस्य प्रसव उत्पादकः परमेश्वरः । नु विस्मये । इमां भूमिं दिवं द्युलोकं विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतानि जनान् लोकान् वा शिश्रिये पालनेन सेवते । स सम्राड् भुवनानां राजा भूत्वा प्रजाभ्योऽवश्यदातव्यमदित्सन्तं दापयति । दातृबुद्धिप्रेरणया परलोकभयोत्पादकशास्त्रेण दापयति । स नोऽस्मभ्यं सर्वैरभीष्टैर्युक्तं रयिं ज्ञानविज्ञानलक्षणं धनं नियमेन ददातु । तस्मै स्वाहा सुहुतस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वाजस्य राज्यस्य मध्ये प्रसव उत्पन्नः सम्राट् सम्यग् राजधर्मे वर्तमानोऽहम्, इमां भूमिं दिवं प्रकाशितां राजनीतिम्, तथा इमानि विश्वानि भुवनानि गृहाणि शिश्रिये आश्रये, तथैव यूयमपि तानि चाश्रयत ।•यः स्वाहा धर्म्यया वाचा प्रजानन् प्रज्ञावान् सन् अदित्सन्तं राजकरं दातुमनिच्छन्तं दापयति, स नो सर्ववीरं सर्वे वीरा यस्मात् तद् रयिं धनं नियच्छतु नितरां गृह्णातु' इति, तदपि यत्किञ्चिन्, शब्दार्थयोरसम्बन्धात् । तथाहि—वाजस्येति पदस्य राज्यस्य मध्य इति कथमर्थः ? दिवमित्यस्य प्रकाशितां राजनीतिमित्यर्थोऽपि कामवाद एव । कथञ्चित् प्रकाशार्थत्वे उचितेऽपि नीत्यर्थता तु दुर्लभैव,

---

मन्त्रार्थ—पृथ्वी पर नाना प्रकार के अन्न को उत्पन्न करने वाले परमात्मा ने द्युलोक के साथ इन समस्त भुवनों की सृष्टि की है। सबका अधिपति वह परमात्मा हवि न देने की इच्छा वाले में भी हवि देने के लिये पवित्र बुद्धि को जगा कर आहुति देने के लिये प्रेरित करता है । वह पुत्र, भृत्य आदि से सम्पन्न कर हमें धन भी प्रदान करता है । हमारी यह आहुति प्रजापति परमात्मा के द्वारा भली प्रकार गृहीत हो ॥ २४ ॥

भाष्यसार—'वाजस्येमाम्' इस मन्त्र का याज्ञिक विनियोग भी पूर्व मन्त्र के विनियोग के अनुसार हवन में किया गया है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—अन्न का उत्पादनकर्ता परमेश्वर इस भूमि को, द्युलोक को, समस्त लोकों को तथा प्राणियों को पालन के द्वारा सेवन करता है । 'नु' पद विस्मयबोधक है । वह परमेश्वर लोकों का स्वामी होकर प्रजाओं के लिये अवश्य प्रदेय पदार्थ देने की इच्छा न रखने वाले से भी दिलवाता है । दाता की बुद्धि में प्रेरणा से, परलोक का भय उत्पन्न करने वाले शास्त्र के द्वारा भी प्रदान कराता है । वह हमारे लिये सभी अभीप्सितों से युक्त ज्ञान-विज्ञानात्मक धन निरन्तर प्रदान करे, उसके लिये समर्पण हो ।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या शब्द तथा अर्थ में सम्बन्धराहित्य होने के कारण असंगत है । 'वाजस्य' इस पद का 'राज्य के मध्य में' यह अर्थ कैसे होगा ? 'दिवम्' इस शब्द का 'प्रकाशित राजनीति को' यह अर्थ करना भी स्वेच्छाचार ही है । यदि किसी प्रकार प्रकाशार्थक होना उचित भी हो, तो भी इस पद की नीत्यर्थकता असंभव ही है, क्योंकि भूमि शब्द के साथ पठित 'दिवः' पद की द्युलोकवाचकता स्पष्ट है । इसी प्रकार 'जो नहीं देने वाले को कर दिलवाता है, वह मन्त्री हो;

भूमिसमभिव्याहृतस्य दिवो द्युलोकवाचित्वदर्शनात् । एवमेव योऽदित्सन्तं करं दापयति स मन्त्री भवतु, यः शत्रून्निगृह्णाति स सेनापतिः स्यादित्यादिकमपि बालभाषितम्, हिन्दीभाष्यविरुद्धत्वात् । न च करदानं दापयित्रधीनम्, तस्य शक्तिसाध्यत्वात् । यश्च सर्वाणि भुवनानि आश्रयति, स सम्राडित्यपि निर्मूलम् ॥ २४ ॥

वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒व आब॑भूवे॒मा च॒ विश्वा॒ भुव॑नानि स॒र्वतः॑ । सने॑मि॒ राजा॒ परि॑याति वि॒द्वान् प्र॒जां पुष्टिं॑ व॒र्धय॑मानो अ॒स्मे स्वाहा॑ ॥ २५ ॥

वाजस्य प्रसवो नु खलु इमानि विश्वा सर्वाणि भुवनानि सर्वत आबभूव व्याप्नोत् सम्भावितवान् उत्पादितवान् वा । स सनेमि चिरन्तनो राजा दीप्तः सन् परियाति सर्वतः स्वेच्छया सञ्चरति । विद्वाननुष्ठीयमानं कर्म जानन् अस्मे अस्मदर्थं प्रजां पुष्टिं च वर्धयमानो वर्धयन् परियातीति सम्बन्धः । स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अध्यात्मपक्षे—वाजस्यान्नस्योत्पादकः परमेश्वरः प्रजापतिः, इमानि विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतानि सर्वतोऽवस्थितानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि, आबभूव सम्भावितवान् । स सनेमि चिरन्तनो राजमानः परियाति व्याप्नोति । प्रजानन् स्वकर्तव्यमस्मदादिदैन्यं च जानन् अस्मे अस्मासु प्रजां पुत्रशिष्यादिसन्ततिं पुष्टिं भौतिकाध्यात्मिकधनपोषं च वर्धयमानो वर्धयन् परियातीति सम्बन्धः । तस्मै सुहुतमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'यो वाजस्य वेदादिशास्त्रबोधस्य स्वाहा सत्यया नीत्या प्रसवो यः प्रसूयते स विद्वान् सकलविद्यावित्, आबभूव आसमन्ताद् भवेत्, इमा इमानि च विश्वानि सर्वाणि भुवनानि माण्डलिकराजनिवासस्थानानि सनेमि सनातनेन नेमिना धर्मेण सदा वर्तमानं राजमण्डलं प्रजां पालनीयां पुष्टिं पोषणं नु शीघ्रं वर्धयमानः सर्वतः परियाति प्राप्नोति, स अस्मे अस्माकं राजा भवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वात् । वाजपदस्य

जो शत्रुओं को निगृहीत करता है, वह सेनापति हो' इत्यादि अर्थ भी हिन्दी-भाष्य से विपरीत होने के कारण अविचारितरमणीय ही है । कर देना दिलाने वाले के अधीन नहीं है, वह तो शक्ति द्वारा साध्य है । जो समस्त लोकों का आश्रय लेता है, वह सम्राट् है, यह कथन भी अप्रामाणिक है ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—यह कैसे विस्मय की बात है कि नानाविध अन्न की सृष्टि करने वाले प्रजापति ने ही इन सम्पूर्ण भुवनों को, ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों को उत्पन्न कर उनको चारों तरफ से भर दिया है । यह पुरातन पुरुष सब कुछ जानने वाला है और सब जगह प्रकाशमान है । यह हमारे लिये सन्तति, धन और पुष्टि की वृद्धि करता है । उस परमात्मा के लिये हम यह आहुति देते हैं ॥ २५ ॥

'वाजस्य नु' इस मन्त्र का विनियोग भी पूर्व मन्त्रों की भाँति हवन में किया गया है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की अर्थयोजना इस प्रकार है—अन्न के उत्पादनकर्ता परमेश्वर प्रजापति ने समस्त लोकों को, तृणपर्यन्त सर्वत्र स्थित भूत पदार्थों को संस्थापित किया है । वह चिरन्तन राजा सर्वत्र व्याप्त है । वह परमेश्वर अपने कर्तव्य तथा हमारे दैन्य को जानते हुए हमारे लिये पुत्र-शिष्यादि सन्ततियों तथा भौतिक-आध्यात्मिक पुष्टि में वृद्धि करते हुए संचरण करता है । उसके लिये समर्पण हो ।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ प्रमाणरहित होने के कारण ग्राह्य नहीं है । वाज पद के 'वेदादि शास्त्रों से उत्पन्न बोध' इस अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है । इस प्रकार का बोध नीति से उत्पन्न नहीं होता । यथार्थ बोध नियमतः प्रमाण से उत्पन्न होता है । फिर यह प्रार्थना किसके प्रति की गई है ? राजा के प्रति करना अयुक्त है, क्योंकि वह मात्र

वेदादिशास्त्रोत्पन्नबोधार्थत्वे मानाभावात्। न च तादृशो बोधो नीत्योत्पद्यते, सुबोधस्य प्रमाणजन्यत्वनियमात्। किञ्च, कं प्रतीदं प्रार्थनम्? न च राजानं प्रति, तस्य प्रार्थनामात्रसाध्यत्वाभावात्। सनेमि सनातनेन धर्मेण सह वर्तमानं राज्यमण्डलमिति व्याख्यानं त्वपव्याख्यानमेव, सनेमिपदस्य पुरावाचकत्वेऽपि नेमिपदस्य धर्मार्थत्वानुपपत्तेः ॥ २५ ॥

सोमँ॒ राजा॑नमव॑से॒ऽग्निम॒न्वार॑भामहे। आ॒दि॒त्यान् विष्णुँ॒ सूर्यं॑ ब्र॒ह्माणं॑ च॒ बृह॒स्पति॒ँ स्वाहा॑ ॥ २६ ॥

तिस्रोऽनुष्टुभस्तापसदृष्टाः। तत्र प्रथमा सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्यबृहस्पतिदेवत्या। वयम् अवसे रक्षणाय तर्पणाय वा सोमं राजानं वैश्वानरमादित्यान् विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं बृहस्पतिं च अन्वारभामहे आह्वानं कुर्महे। ते सर्वे तत्त्वज्ञानाय, अनुगृह्णन्त्विति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—वयम् अवसे रक्षणाय तर्पणाय वा सोमादिरूपेण वर्तमानं परमेश्वरमन्वारभामहे आह्वयामः। सोमादीनां श्रीमद्भगवद्गीतादिरीत्यापि भगवद्विभूतित्वं प्रसिद्धमेव। अनेकविशेषणविशिष्टं सोमं साम्बसदाशिवं वा आकारयामः। कीदृशं तम्? राजानम्, अनन्तगुणै राजमानम्, अग्निं जीवानां मोक्षसुखायाग्रे नेतारम्, आदित्यान् गमनागमनादिभिर्जनानामायूंष्याददानान् द्वादशादित्यात्मना वर्तमानान्, स्वप्रकाशं ब्रह्माणं चतुर्मुखरूपेण वर्तमानं बृहतां पालकम्। तस्मै देवाय स्वाहा सर्वस्वमर्पयामः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं स्वाहा सत्यया वाण्या अवसे रक्षणाद्याय सह वर्तमानं विष्णुं व्यापकं परमेश्वरं सूर्यं सूरिषु विद्वत्सु भवं ब्रह्माणम् अधीतसाङ्गोपाङ्गचतुर्वेदम्, बृहस्पतिं बृहतामाप्तानां पालकम्, अग्निम्

प्रार्थना से साध्य नहीं है। 'सनेमि' अर्थात् 'सनातन धर्म के साथ' इस प्रकार व्याख्या करना भी सदोष है, क्योंकि 'सनेमि' पद के प्राचीनता वाचक होने पर भी 'नेमि' पद का धर्म अर्थ अयुक्त है ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ— सर्वविध अन्न के उत्पादक प्रजापति ने हम सब प्रजाओं के पालन के लिये राजा सोम को, वैश्वानर अग्नि को, बारह आदित्यों को, ब्रह्मा और बृहस्पति को नियुक्त किया है। हम उन सबका आह्वान करते हैं। उनके उद्देश्य से दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २६ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत 'सोमं राजानम्' इस मन्त्र का विनियोग भी पूर्व की भाँति हवन में किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार है—हम लोग रक्षा अथवा तर्पण के लिये सोम आदि के रूपों में विद्यमान परमेश्वर का आह्वान करते हैं। सोम आदि का भगवद्विभूतिमान् होना श्रीमद्भगवद्गीता आदि के प्रतिपादन से भी प्रसिद्ध ही है। अथवा अनेक विशेषणों से युक्त साम्ब सदाशिव का आह्वान करते हैं। किन विशेषणों युक्त से साम्ब सदाशिव का? अनन्त गुणों से प्रकाशित, जीवों को मोक्षसुख के लिये आगे ले जाने वाले, द्वादश आदित्यों के रूप में वर्तमान, स्वप्रकाशात्मक चतुर्मुख ब्रह्मा के रूप में विद्यमान, वाणियों के रक्षक उस देव के लिये हम सर्वस्व अर्पित करते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ मुख्यार्थ को छोड़ कर गौण अर्थ का आश्रय लेने के कारण विडम्बनामात्र ही है। प्राचीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में इस प्रकार के अर्थ का आश्रय नहीं लिया है। फिर इसमें उपदेशकर्ता कौन

अग्निमिव शत्रुदाहकम्, सोमं सोमगुणसम्पन्नम्, राजानं धर्माचरणेन प्रकाशमानम्, आदित्यांश्च विद्यार्जनाय कृताष्टचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्यान् विदुषः संसेव्य गृहाश्रममन्वारभामहे, तथा यूयमप्यारभध्वम्' इति, तदपि विडम्बनामात्रम्, मुख्यार्थपरित्यागगौणार्थाश्रयणस्यानौचित्यात् । कैश्चिदार्षैः केषुचिद् ग्रन्थेषु तादृशार्थस्यानाश्रयणात् । किञ्च, कोऽयमुपदेष्टा ? न तावत् कश्चिदाचार्यः, तथात्वे वेदस्येतिहासत्वापत्तेः । न चेश्वरः, तस्य विष्ण्वादिसेवकत्वानुपपत्तेः, गृहाश्रमानारम्भकत्वाच्च ॥ २६ ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय । वाचं विष्णुꣳ सरस्वतीꣳ सवितारं च वाजिनꣳ स्वाहा ॥ २७ ॥

अर्यमबृहस्पतीन्द्रवाग्विष्णुसरस्वतीसवितृदेवत्या । हे वाजस्य प्रसव ईश्वर, त्वमर्यमादीन् देवान् दानाय चोदय प्रेरय । धनदानार्थमिन्द्रं देवेशं वाचं वागधिष्ठात्रीं सरस्वतीं ज्ञानाधिष्ठात्रीं विष्णुं व्यापनशीलं यज्ञाधिष्ठातारम्, सवितारं सर्वस्य प्रसवितारम्, वाजिनमन्नवन्तमिति सर्वेषां विशेषणम् । देवाश्वं वा ज्ञानप्राप्तौ साहाय्यार्थं स्वाहा, अनुगृह्णन्त्विति शेषः ।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वत्प्राप्तये प्रस्थिताय प्रयतमानाय मह्यं स्वांशभूतान् देवान् स्वांशभूतान् दानाय साहाय्यदानाय चोदय प्रेरय । यथाऽर्यमौजोदानेन, बृहस्पतिर्बुद्धिदानेन, इन्द्र ऐश्वर्यदानेन, वाक् स्वार्थावभासनेन, विष्णुर्ज्ञानवैराग्यपालनेन, सरस्वती वेदतात्पर्यप्रकाशनेन, सविता ज्ञानोत्पादनेन, वाजी देवाश्वः साधनानुष्ठाने वेगदानेन चानुगृह्णातु ।

है ? कोई आचार्य उपदेष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि तब वेद के इतिहास होने का दोष प्राप्त होगा । ईश्वर भी उपदेष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विष्ण्वादिसेवकत्व युक्त नहीं हो सकता, गृहस्थाश्रम का आरम्भ भी उसके द्वारा करणीय नहीं है ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमात्मन् ! अर्यमा देवता को, बृहस्पति और इन्द्र को, वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को और सबके प्रसवकर्ता सूर्य को आपने उत्पन्न किया है । ये हमको अन्न और धन से परिपूर्ण कर दें, इसके लिये आप इन्हें प्रेरित कीजिये । आपकी प्रीति के लिये दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २७ ॥

भाष्यसार—'अर्यमणं बृहस्पतिम्' इस मन्त्र का याज्ञिक विनियोग भी पूर्व मन्त्रों की भाँति हवन के लिये उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आपकी प्राप्तिहेतु अग्रसर तथा प्रयत्नशील मेरे लिये अपने अंशभूत देवताओं को सहायता प्रदान करने हेतु आप प्रेरित करें । जैसे अर्यमा बलप्रदान के द्वारा, बृहस्पति बुद्धिदान के द्वारा, इन्द्र ऐश्वर्य-प्रदान के द्वारा, वाग्देवी अपने अर्थ को प्रकट करने के द्वारा, विष्णु ज्ञान-वैराग्य की पुष्टि तथा रक्षा के द्वारा, सरस्वती वेद के तात्पर्य के प्रकाशन के द्वारा, सूर्य ज्ञान के उत्पादन द्वारा अनुग्रह करते हैं, वैसे ही देवताओं के अश्व भी साधनानुष्ठान में वेग प्रदान करने के द्वारा अनुग्रह करें ।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, त्वं स्वाहा सत्यया नीत्या विद्यादिदानाय अर्यमणं पक्षपातराहित्येन न्यायकर्तारम्, बृहस्पतिं सकलविद्याध्यापकम्, इन्द्रं परमैश्वर्ययुक्तम्, वाचं वेदवाणीम्, विष्णुं सर्वाधिष्ठातारम्, सरस्वतीं बहुविधं सरो वेदादिशास्त्रविज्ञानं विद्यते यस्यां तां विज्ञानयुक्तामध्यापिकां स्त्रियं सवितारं वेदविद्यैश्वर्योत्पादकम्, वाजिनं प्रशस्तबलवेगादियुक्तं शूरवीरं सदा चोदय' इति, तदपि निरर्थकम्, प्रमाणशून्यत्वात्। अर्यमशब्दस्य पक्षपातराहित्येन न्यायकर्तार्थः, इत्यत्र प्रमाणाभावात्। किञ्च, वेदविद्यैश्वर्यस्य नहि मनुष्यः सम्भवत्युत्पादयिता, ईश्वरकर्तृकत्वाभ्युपगमविरोधात्। लोके संविधानेन नियुक्ता एव जनाः कर्तव्येषु प्रवर्तन्ते, राज्ञः प्रत्येकं प्रति चोदकत्वायोगात्। न च वेदवाणीं राजा प्रेरयितुं शक्नोति, तस्या एव राज्ञो नियामकत्वात्, जडत्वे निष्क्रियत्वेन णिचोऽविषयत्वात्, 'सक्रियस्य च यः प्रैषः स प्रैषो विषयो णिचः' इति शब्दशास्त्रनियमात्॥ २७॥

अग्ने॒ अच्छा॑ वदे॒ह नः॒ प्रति॑ नः॒ सु॒मना॑ भव। प्र नो॑ यच्छ सहस्रजि॒त् त्वꣳ हि ध॑न॒दा अ॒सि॒ स्वाहा॑॥ २८॥

अग्निदेवत्या। हे अग्ने, इहास्मिन् कर्मणि नोऽस्माकं अच्छ आभिमुख्येन वद हितं कथय। नोऽस्मान् प्रति सुमनाः करुणार्द्रचेता भव। हे सहस्रजित्, सहस्रसंख्याकस्य धनस्य जेतः, हि यतस्त्वं स्वभावतो धनदा असि, अतोऽस्मभ्यं प्रकृष्टं धनं प्रयच्छ। सहस्राणां योद्धॄणां वा जेतः! स्वाहा तुभ्यं सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, इहास्मिन् साधनमार्गे नोऽस्माकमच्छ वद आभिमुख्येन हितं ब्रूहि। संहितायां 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इत्यच्छशब्दस्य दीर्घः। हे परमेश्वर, नोऽस्मान् प्रति सुमनाः करुणार्द्रचेता भव। हे सहस्रजित्, अनन्तजित्, सहस्रशब्दस्य अनन्तवाचित्वात्, अथवा अज्ञानादिजित्।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या प्रमाण से रहित होने के कारण अर्थहीन है। अर्यमा शब्द का अर्थ 'पक्षपातरहित होकर न्याय करने वाला' करने में कोई प्रमाण नहीं है। वेदविद्यारूपी ऐश्वर्य का उत्पादन करने वाला मनुष्य नहीं हो सकता, क्योंकि इससे ईश्वरकर्तृकत्व पक्ष का विरोध होता है। जगत् में संविधान के द्वारा नियुक्त व्यक्ति ही कर्तव्यों का पालन करते हैं, क्योंकि राजा प्रत्येक के प्रति प्रवर्तक नहीं हो सकता। राजा वेदवाणी को प्रेरणा प्रदान नहीं कर सकता, अपि तु वेदवाणी ही राजा की नियामिका है॥ २७॥

मन्त्रार्थ—हे अग्नि के अधिष्ठाता देव! आप इस यज्ञ में उपस्थित होकर हमारे कल्याण के लिये करुणा से ओतप्रोत हो जाँय। हे सबको जीतने वाले! आप स्वभाव से ही सबको धन-धान्य से परिपूर्ण करने वाले हैं। आप हमें भी धन दीजिये। एक मात्र आप ही हमारी प्रार्थना पूरी करने में समर्थ हैं। इस आहुति को स्वीकार कर आप हमारी प्रार्थना को सफल बनाइये। यह आहुति आपके द्वारा भली प्रकार गृहीत हो॥ २८॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'अग्ने अच्छा' इस मन्त्र का विनियोग भी आहुतिप्रदान में किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्र की अर्थसंगति इस प्रकार है—हे परमेश्वर, इस साधना के मार्ग में हमारे संमुख रहकर हित का उपदेश करें। हे परमेश्वर, हमारे प्रति करुणा से स्निग्ध हृदय वाले आप हों। हे अनन्तों पर विजय प्राप्त करने वाले, अथवा अज्ञानादि पर विजय प्राप्त करने वाले! इस सम्पूर्ण जगत् के नियामक होने के कारण परमेश्वर का अनन्तजेता

सर्वस्यैव तन्नियम्यत्वात् सुतरां परमेश्वरस्यानन्तजेतृत्वम् । हि यस्मात् त्वं स्वभावतो धनदा भौतिकाभौतिक-सर्वविधस्यैश्वर्यस्य दातासि, तस्मान्नोऽस्मभ्यं त्वत्कृपाकाङ्क्षिभ्योऽभीष्टत्वत्प्राप्तिरूपैश्वर्यं प्रयच्छ । स्वाहा तुभ्यं वयं सर्वस्वमर्पयामः ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, त्वमिहास्मिन् समये स्वाहा सत्यया वाण्या नोऽस्मान् प्रति अच्छ सम्यग् वद सत्यमुपदिश । नोऽस्मान् प्रति सुमनाः सुहृद्भावो भव । त्वं हि यतः सहस्रजिद् असहायः सन् सहस्रं योद्धन् जेतुं शीलः, धनदा ऐश्वर्यदातासि, तस्मान्नः सुखं प्रयच्छ' इति, तदपि तुच्छम्, असम्भवात् । तथाहि--कश्चिदपि मनुष्यो विद्वानपि नैवं सर्वैः प्रार्थयितुं शक्यः, तस्यानित्यत्वेनासार्वदिक्त्वात् । न चासौ सहस्रजित् सम्भवति, न वा सर्वेभ्य ऐश्वर्यदाता सम्भवति । राजापि संविधानबद्धो नैवं कर्तुं शक्नोति ॥ २८ ॥

प्र नो॑ यच्छत्वर्य॒मा प्र पू॒षा प्र बृ॒हस्पतिः॑ । प्र वाग्दे॒वी द॑दातु नः॒ स्वाहा॑ ॥ २९ ॥

गायत्री, अर्यम-पूष-बृहस्पति-वाग्देवत्या । अर्यमादयो देवा नोऽस्मभ्यं धनं प्रयच्छन्तु, पूषादिदेवतान्तर-वाचकपदेऽपि क्रियापदस्यानुषङ्गं द्योतयितुं प्रोपसर्गप्रयोगः, प्रददतु । अर्यमा सूर्यविशेषः, नोऽस्मभ्यं प्रयच्छत्व-भीष्टं ददातु । पूषा प्रयच्छतु । उपसर्गावृत्त्या क्रियापदावृत्तिः । बृहस्पतिः प्रयच्छतु । देवी दीप्यमाना वाग् नोऽस्मभ्यं ददातु स्वाहा ।

अध्यात्मपक्षे हे परमेश्वर, त्वया प्रेरितः, अर्यमा सूर्यविशेषः, नोऽस्मभ्यमभीष्टं तेजः प्रयच्छतु । पूषा देवो ज्ञानादिपोषणं प्रयच्छतु । बृहस्पतिर्बुद्ध्यधिष्ठाता देवः सद्बुद्धिं प्रयच्छतु । देवी देदीप्यमाना वेदलक्षणा वाग् नोऽस्मभ्यं वेदतात्पर्यज्ञानं प्रददातु । हे ईश्वर, तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु ।

होना स्पष्ट है, यतः आप स्वभावतः भौतिक, अलौकिक सभी प्रकार के ऐश्वर्य को देने वाले हैं, अतः आपके कृपाकांक्षी हम लोगों को भी आपकी प्राप्ति हो, ऐसा अभीष्ट ऐश्वर्य प्रदान करें । आपके लिये हम सर्वस्व अर्पित करते हैं ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में असम्भव दोष होने के कारण वह अग्राह्य है । कोई भी मनुष्य, विद्वान् भी सबके द्वारा इस प्रकार प्रार्थित नहीं हो सकता, क्योंकि उसके अनित्य होने के कारण सर्वत्र स्थिति सम्भव नहीं है । वह सहस्रजित् नहीं हो सकता । उसका सबके लिये ऐश्वर्य प्रदान करने वाला होना भी सम्भव नहीं है । संविधान से प्रतिबद्ध राजा भी ऐसा नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमात्मन् ! आपके प्रसाद से अर्यमा देवता हमें अभीष्ट प्रदान करें । पूषा देवता और बृहस्पति देवगुरु हमारी मनोकामना पूरी करें । वाणी की अधिष्ठात्री देवी हमारी सारी अभिलाषाओं को पूर्ण करें ॥ २९ ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'प्र नो यच्छतु' यह मन्त्र भी आहुति-प्रदान में विनियुक्त किया गया है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आपके द्वारा प्रेरित सूर्य अर्यमा हमको अभीष्ट तेज प्रदान करें । पूषा देव ज्ञानादि पोषण प्रदान करें । बुद्धि के अधिष्ठाता बृहस्पति देव सद्बुद्धि प्रदान करें । विद्योतमाना वेदरूपी वाणी हमारे लिये वेद का तात्पर्यज्ञान दे । हे ईश्वर, आपके लिये समर्पण हो ।

दयानन्दस्तु 'यथार्यमा न्यायाधीशो नोऽस्मभ्यं सुशिक्षां प्रयच्छतु, यथा पूषा पोषकः पुष्टिं प्रददातु, यथा बृहस्पतिर्विद्वान् स्वाहा सत्यविद्यायुक्तां वाणीं प्रापयतु, वाग् विद्या सुशिक्षितवाणीयुक्ता, देवी देदीप्यमानाऽध्यापिका माता अस्मभ्यं विद्यां प्रददातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यथापदस्य नित्यं तथापदसापेक्षत्वात्, तस्य चात्रानुक्तत्वात्। पूषा कः ? इत्यस्य चानुक्तत्वात्। यत्तु 'पूषा विशां विट्पतिः' (तै० २।५।७।४), 'पूषा वै पथीनामधिपतिः' (श० १३।४।१।१४) इति श्रुतिभ्यां तदुक्तमिति, तदपि पूतिकूष्माण्डायितम्, विट्पत्यादिशरीरात्मनां पोषकत्वानुपपत्तेः। न च विट्पतयोऽध्यापकत्वेन नियुज्यन्ते। न च वाक्पदमाञ्जस्येन विद्यासुशिक्षितवाणीयुक्तायां मानुष्यां वर्तते, निष्प्रमाणत्वात् ॥ २९ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभि षिञ्चाम्यसौ ॥ ३० ॥

'शेषेणाभिषिञ्चति यजमानं देवस्य त्वेति' (का० श्रौ० १४।४।४०)। होमानन्तरमौदुम्बरपात्रस्थेन हुतशेषेण सप्तदशान्नपयोमिश्रोदकशेषेण यजमानमभिषिञ्चेत् शिरसि। यजमानदेवत्यम्। सवितुः, सूते इति सविता तस्य, देवस्य द्योतमानस्य प्रसवे प्रेरणे वर्तमानोऽहमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां त्वां वाचो वाण्या यन्तुरन्तर्यामिणो वा यन्तुर्नियन्त्र्याः, पुस्त्वं छान्दसम्, सरस्वत्यै षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, सरस्वत्या वाग्देवताया यन्त्रिये नियमने ऐश्वर्ये दधामि स्थापयामि। बृहस्पतेः साम्राज्येन सम्राड्भावेन त्वा त्वामभिषिञ्चामि। अनेनाभिषेकेण यजमाने वाग्देवताया ऐश्वर्यं बृहस्पतेः साम्राज्ये स्थापयामीत्यर्थः। मन्त्रान्ते असावित्यस्य स्थाने यजमानस्य सम्बुद्ध्यन्तं नाम गृह्णीयात्। यथा हे देवदत्तेति।

अत्र ब्राह्मणम् – 'अथैनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति। अन्नाद्येनैवैनमेतदभिषिञ्चत्यन्नाद्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मादेनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति' (श० ५।२।२।१२)। हुतशेषस्यान्नस्य विनियोगं दर्शयति—अथैनमिति। अथ एनं सुन्वन्तं यजमानं परिशिष्टेनान्नेनाभिषिञ्चेत्। हुतशेषाभिषेकेण यजमानेऽन्नमेव निहितवान् भवति। 'सोऽभिषिञ्चति। देवस्य त्वा ... दधामीति वाग् वै सरस्वती तदेनं वाच एव यन्तुर्यन्त्रिये दधाति' (श० ५।२।२।१३)। अभिषेकमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—सोऽभिषिञ्चति देवस्य त्वेति। 'तदु हैक आहुः। विश्वेषां त्वा देवानां यन्तुर्यन्त्रिये दधामीति सर्वं वै विश्वे देवास्तदेनं सर्वस्यैव यन्तुर्यन्त्रिये दधाति तदु तथा न ब्रूयात् सरस्वत्यै त्वा वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामीत्येव ब्रूयाद्वाग्वै सरस्वती तदेनं वाच एव यन्तुर्यन्त्रिये दधाति बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभि-

---

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ असंगत है, क्योंकि 'यथा' शब्द सर्वदा 'तथा' शब्द की अपेक्षा रखता है और इस अर्थ में 'तथा' पद कहीं निरूपित नहीं है। पूषा कौन है ? यह भी नहीं कहा गया है और वाक् शब्द सामान्य रूप से विद्या से सुशिक्षित वाणी से युक्त मानव महिला में प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि एतदर्थ कोई प्रमाण नहीं है ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ सविता देवता के द्वारा प्रेरित होकर दो अश्विनीकुमारों की भुजाओं से, पूषा देवता के हाथों से, बृहस्पति के साम्राज्य भाव में तुम्हारा अभिषेक करता हूँ। हे यजमान ! मैं तुम्हें सरस्वती के ऐश्वर्य से परिपूर्ण करता हूँ। तुम्हारी वाणी में वागधिष्ठात्री देवी सरस्वती विराजमान हो। मैं अमुक नाम के यजमान का अभिषेक करता हूँ (यहाँ यजमान का नाम लिया जाता है) ॥ ३० ॥

भाष्यसार—हवन के बाद गूलर के काष्ठ से निर्मित पात्र में रखे हुए हवनावशिष्ट पदार्थों से यजमान के सिर पर

षिञ्चाम्यसाविति नाम गृह्णाति तद् बृहस्पतेरेवैनमेतत्सायुज्यँ सलोकतां गमयति' (श० ५।२।२।१४)। अत्र तु सरस्वत्यै वाच इत्यस्य स्थाने सरस्वत्यै त्वा वाच इति युष्मच्छब्दं प्रक्षिप्य प्रयोक्तव्यमिति विधातुं पूर्वपक्षं सोपपत्तिकमुद्भावयति —तदु हैक इति। केचिच्छाखिनः सरस्वत्यै वाच इत्यस्य स्थाने विश्वेषां त्वा देवानामिति प्रक्षिप्य 'यन्तुः' इत्यादि पूर्ववत् प्रयोक्तव्यमिति स्वमतं दर्शयितुमुक्तम्। परमतं निराकरोति— तदु तथा न ब्रूयादिति। तस्यापि स्वपक्षस्तुतावेव तात्पर्यं वेदितव्यम्, शाखान्तरनिन्दने तात्पर्याभावात्।

'अथाह। सम्राडयमसौ सम्राडयमसाविति निवेदितमेवैनमेतत्सन्तं देवेभ्यो निवेदयत्ययं महावीर्यो योऽभ्यषेचीत्ययं युष्माकैकोऽभूत् तं गोपायतेत्येवैतदाह त्रिष्कृत्व आह त्रिवृद्धि यज्ञः' (श० ५।२।२।१५)। अत्राप्यसावित्यस्य स्थाने प्रथमान्तं यजमाननाम ग्रहीतव्यम्। एतन्नामाऽयमभिषिक्तः सम्राड् महावीर्यो जातः। आवेदनवाक्यावृत्तेरभिप्रायमाह—निवेदितमिति। एवं नामग्रहोक्त्या प्रथमं मनुष्येभ्यो निवेदितमेव सन्तम् एनं द्वितीयेन सम्राडयमसावित्यनेन देवेभ्यो निवेदयति। यो यजमानोऽभ्यषेचि, अयं महावीर्यः सम्पन्नः। पर्यवसित-मर्थमाह अयं युष्माकेति। अयमभिषिक्तो यजमानः, युष्माकं मध्ये एकोऽभूत्। हे देवास्तं गोपायत। तदेतस्य त्रित्वं विधत्ते—त्रिष्कृत्व इति। यज्ञस्य सवनत्रयात्मकत्वात् त्रिवृत्त्वम्।

अध्यात्मपक्षे —साधको भगवत्पूजार्थं प्रतिमां स्थापयति—हे भगवन्, त्वं तु दिव्योऽप्राकृतो न मनुष्यस्य बाहुभ्यां हस्ताभ्यां स्प्रष्टुमपि शक्यः, अतो भावनाविशेषेण अश्विनोर्दिव्याभ्यां बाहुभ्यां पूष्णो हिरण्यमयाभ्यां हस्ताभ्यां त्वां पूजायै दधामि स्थापयामि। तथैव यन्तुर्यन्त्र्या वाचो वेदलक्षणाया यन्त्रिये नियमने तद्वशंवदतया, बृहस्पतेर्वेदवाण्याः पत्युः पालकस्य सम्राट्त्वेन असावहं त्वामभिषिञ्चामि, तवैव सर्वपूज्यत्वात्। अथवा—सवितुर्जगदुत्पादकस्य परमेश्वरस्य प्रेरणे वर्तमानोऽहमाचार्यस्त्वां साधकं भगवद्भक्तमश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां सरस्वत्या ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्र्या वेदलक्षणाया वाचो यन्तुर्नियन्त्र्या यन्त्रिये नियन्त्रणे त्वां दधामि स्थापयामि। बृहस्पतेः साम्राज्येन सम्राड्भावेन त्वामभिषिञ्चामि। सम्यग् राजते दीप्यत इति सम्राट् स्वप्रकाश आत्मा। तद्रूपेण देहेन्द्रियभावापनोदनेन ब्रह्मात्मभावेन त्वां ब्रह्मपदेऽभिषिञ्चामि।

दयानन्दस्तु—'हे अखिलशुभगुणकर्मस्वभावयुक्त विद्वन्, असावहं सर्वजगदुत्पादयितुः प्रकाशमानस्य उत्पन्ने संसारे सरस्वत्यै विज्ञानसुशिक्षायुक्ताया वाचो मध्ये वेदवाण्याः, अश्विनोः सूर्याचन्द्रमसोर्बलाकर्षणाभ्यां

'देवस्य त्वा' इत्यादि मन्त्र से अभिषेक किया जाता है। यह याज्ञिक प्रक्रिया का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।४०) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—साधक भगवान् की पूजा के लिये प्रतिमा की स्थापना करता है। हे भगवन्, आप तो दिव्य हैं, अप्राकृत हैं, अतः मनुष्य की भुजाओं तथा हाथों से नहीं स्पर्श किये जा सकते। इस कारण विशेष भावना के द्वारा अश्विनीदेवों की दिव्य भुजाओं से, पूषा देवता के स्वर्णमय हाथों से आपको पूजा के लिये स्थापित करता हूँ। इसी प्रकार वेदात्मिका वाणी के अनुगत होकर वेदवाणी के पालक आपका सम्राट् रूप से मैं अभिषेक कर रहा हूँ, क्योंकि आप ही सबके पूज्य हैं।

अथवा जगदुत्पादक परमेश्वर की प्रेरणा के अन्तर्गत अवस्थित मैं आचार्य साधक भगवद्भक्त तुमको अश्विनीदेवों की भुजाओं से, पूषा देव के हाथों से, ज्ञान-विज्ञान की अधिष्ठात्री वेदरूपिणी वाणी नियामिका के अनुशासन में तुमको स्थापित करता हूँ। बृहस्पति के सम्राट् रूप से, अर्थात् स्वप्रकाश आत्मस्वरूप से तुम्हारा अभिषिंचन करता हूँ। तद्रूप के द्वारा, अर्थात् देहेन्द्रियभाव का निराकरण करते हुए ब्रह्मात्वभाव के द्वारा तुमको ब्रह्मपद पर अभिषिक्त करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ श्रुतिवाक्यों से विरुद्ध है। शतपथ श्रुति में हवन से अवशिष्ट अन्नादि के

भुजाभ्याम्, पूष्णः पोषकस्य वायोर्धारणपोषणाभ्यां हस्ताभ्यां त्वां दधामि। यन्तुर्नियन्तुर्बृहस्पतेः परमविदुषः यन्त्रिये शिल्पविद्यासिद्धानां यन्त्राणामर्हे योग्ये निष्पादने साम्राज्येन सम्राजो भावेन त्वामभिषिञ्चामि। सुगन्धेन रसेन मार्ज्मि। असौ अदोनाम' इति, तदपि श्रुतिविरुद्धमेव, 'अथैनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति' (श० ५।२।२।१२) इति पूर्वोद्धृतश्रुतौ हुतशिष्टैरन्नैरभिषेक उक्तः। नह्यत्र सम्बोधनीयो विद्वान् प्रमाणसिद्धः। नहि सूर्यचन्द्रमसोर्बलाकर्षणाभ्यां वायोर्धारणपोषणाभ्यां परमविदुष एव धारणम्, तेषां सर्वान् प्रति समत्वात्। नहि बृहस्पतिपदस्य शिल्पपरत्वम्, न वा यन्त्रिय इत्यस्य शिल्पपरत्वं प्रामाणिकम्, कल्पनामात्रत्वात् ॥ ३० ॥

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतां तानुज्जेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रींल्लोकानुदजयत् तानुज्जेषꣳ सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत् तानुज्जेषम् ॥ ३१ ॥

'अग्निरेकाक्षरेणेत्यनुवाकं द्वादशवत् कृत्वेति' (का० श्रौ० १४।४।४४)। चतुःकण्डिकात्मकमनुवाकं द्वादशवद् द्वादशस्रुवाहुतीर्जुहोत्याग्नये स्वाहेति प्रतिमन्त्रं वाचयति वेति। यत्पूर्वमुक्तं तद्वदित्यर्थः। तेन तैर्मन्त्रैर्जुहोति सप्तदश मन्त्रान् वाचयति वेत्यर्थः। एते मन्त्रा उज्जितिसंज्ञकाः। सप्तदश यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। तत्र अग्निरेकाक्षरेण····प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेणेत्याद्यन्तयोर्ग्रहणेन सप्तदश मन्त्राः सर्वेऽपि गृह्यन्ते। तेषां संग्रहेणायमर्थः —ओश्रावयेति चतुरक्षरम्, अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम्, यजेति द्व्यक्षरम्, ये यजामह इति पञ्चाक्षरम्, 'द्व्यक्षरो वषट्कारः स एष सप्तदशः प्रजापतिः' (तै० सं० १।६।११।२-३) तथा (श० ५।२।२।१६-१७)। तत्राग्न्यादिसप्तदश देवा एकाक्षरप्रभृत्येकैकाक्षरवृद्धियुक्तैः प्राणमनुष्यादीन् जितवन्तः। तानग्न्यादिभिर्जितान् प्राणनरादीनहमिदानीमुज्जेषम् उज्जीयासम्। अश्विदेवतादिभिर्मन्त्राक्षरसंख्यानुसारेण द्विपान्मनुष्यत्रिलोकादेर्जयो विज्ञेयः। त्रिवृत्स्तोमगतानामृचां नवसंख्योपेतत्वान्नवाक्षरेण तज्जयः। त्रयोदशस्तोमादावपि तिसृणां स्तोत्रियाणामृचामावृत्तिविशेषेण तत्संख्या द्रष्टव्या।

द्वारा अभिषेक विहित है। इसमें सम्बोधित किया जाने वाला विद्वान् प्रमाण से सिद्ध नहीं है। सूर्य तथा चन्द्रमा के बल और आकर्षण से एवं वायु के धारण तथा पोषण से परम विद्वान् का ही धारण होता है, यह उचित नहीं है, क्योंकि वे तो सबके लिये समान हैं। बृहस्पति शब्द का अथवा यन्त्रिय शब्द का शिल्प अर्थ करना प्रामाणिक नहीं है, यह तो केवल काल्पनिक है ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—अग्नि देवता ने एक अक्षर वाले छन्द के प्रभाव से उत्कृष्टतम प्राण को जीत लिया है, मैं भी इस प्राण को एक अक्षर के प्रभाव से जीत लूँ। अश्विनीकुमारों ने दो अक्षरों वाले छन्द के प्रभाव से दो पैरों वाले मनुष्यों को जीत लिया है, मैं भी दो अक्षरों के प्रभाव से उनको जीत सकूँ। विष्णु देव ने तीन अक्षर के छन्द से तीनों लोकों को जीत लिया है, मैं भी उनके प्रभाव से तीनों लोकों को जीत सकूँ। सोम देवता ने चार अक्षर वाले मन्त्र के प्रभाव से चौपायों को जीत लिया है, मैं भी उस मन्त्र के प्रभाव से चार पैरों वाले सभी पशुओं को जीत सकूँ ॥ ३१ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१४।४।४४) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अग्निरेकाक्षरेण' इस कण्डिका के मन्त्रों से स्रुव के द्वारा आहुति दी जाती है, अथवा इनका वाचन किया जाता है। इन चार कण्डिकाओं

तदेवोक्तं ब्राह्मणेन—'तद्यदेवैताभिरेता देवता उदजयंस्तदेवैष एताभिरुज्जयति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति' (श० ५।२।२।१७)। अग्निरेकाक्षरेण छन्दसा प्राणं पञ्चवृत्तिकमुदजयद् उत्कृष्टं जितवान्, तथाहमपि तादृशं प्राणमुज्जेषमुत्कृष्टं जयेयं वशीकुर्याम्। अश्विनौ द्व्यक्षरेण अक्षरद्वयात्मकेन छन्दसा द्विपदः पादद्वयोपेतान् मनुष्यानुदजयतां जितवन्तौ, तथाहमपि तेनैव द्व्यक्षरेण छन्दसा द्विपदो मनुष्यानुज्जेषमधिकं जयेयम्। विष्णुस्त्र्यक्षरेणाक्षरत्रयात्मकेन छन्दसा त्रीन् भूरादीन् लोकानुदजयत्, अहमपि तांल्लोकानुज्जेषम्। सोमोऽक्षरचतुष्टयात्मकेन छन्दसा चतुष्पदः पादचतुष्टयोपेतान् पशूनुदजयत्, अहमपि तेन पशूनुज्जेषम्। अत्र ब्राह्मणम्—'अथोज्जितीर्जुहोति। वाचयति वा....' (श० ५।२।२।१६)। उज्जयलिङ्गयुक्तमन्त्रकरणिका आहुतय उज्जितयः, ता जुहोति वाचयति वा। 'स वाचयति। अग्निरेकाक्षरेण.... तद्यदेवैताभिरेता देवता उदजयंस्तदेवैष एताभिरुज्जयति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत्प्रजापतिमुज्जयति' (श० ५।२।२।१७)।

अध्यात्मपक्षे—साधकः परमात्मानं प्रार्थयते, हे भगवन्! यथा अग्निर्देव एकाक्षरेण छन्दसा प्राणमुदजयत्, तथाहमपि त्वत्प्रसादात् प्राणं जयेयम्। अश्विनौ यथा द्व्यक्षरेण छन्दसा मनुष्यानुदजयताम्, तथाहमपि तान् जयेयम्। यथा विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रींल्लोकानुदजयत्, तथाहं तान् जयेयम्। यथा सोमश्चतुरक्षरेण छन्दसा पशूनुदजयत्, तथाहमपि त्वत्प्रसादात् सर्वानतिक्रम्य ब्रह्मभावेन प्रतिष्ठास्यामीत्यभिप्रायः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, अग्निर्भवान् यथा एकाक्षरेण प्रणवेन प्राणमिव शरीरस्थं वायुमिव प्रजाजनमुदजयत्, तथाहमप्युज्जेषं जयेयम् उत्कर्षेयम्। हे अश्विनौ राजजनौ, सूर्यचन्द्राविव भवन्तौ यथा द्व्यक्षरेण यान् द्व्यक्षरेण दैव्युष्णिक्छन्दसा द्विपदो मनुष्यानुदजयताम्, तथा तानहमप्युज्जेषम्। हे विष्णो सर्वप्रधानपुरुष, विष्णुरिव भवान् यथा त्र्यक्षरेण त्रींल्लोकान् जन्मस्थाननामात्मकान् उत्कृष्टानकरोत्, तथाहमपि तानुज्जेषम्। हे न्यायाधीश, सोम इव भवान् यथा चतुरक्षरेण दैव्या बृहत्या चतुष्पदः पशून् हरिणादीन् आरण्यानुदजयद् उत्कृष्टानकरोत्, तथाहमपि तानुदजेषम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एकाक्षरादिभिः कथं प्रजाजनादीनामुत्कृष्टत्वापादनमित्यस्यास्पष्टत्वात्। द्विपदां जन्मकर्मनामात्मकानां लोकानां हरिणादीनां तैस्तैश्छन्दोभिः कथमुत्कृष्टत्वापादनं मनुष्यैः क्रियते? इत्यस्यावर्णनात् सारशून्यत्वात्। सिद्धान्ते तु देवा दिव्यशक्तिमन्तोऽतश्छन्दोभिः समेषामुज्जयः सम्भवत्येव ॥ ३१ ॥

का एक अनुवाक है। इस अनुवाक के सत्रह मन्त्रों की संज्ञा 'उज्जिति' है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—साधक परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे भगवन्, जिस प्रकार अग्नि देव ने एकाक्षर छन्द से प्राण को वश में कर लिया, मैं भी आपकी कृपा से प्राण को वश में करूँ। जिस प्रकार अश्विनीदेवों ने द्व्यक्षर छन्द के द्वारा मनुष्यों को वशीभूत किया, उसी प्रकार मैं भी मनुष्यों को वशीभूत करूँ। जिस प्रकार विष्णु ने त्र्यक्षर छन्द से तीनों लोकों को जीता, उसी प्रकार मैं भी उनको जीतूं। जैसे सोम ने चतुरक्षर छन्द से पशुओं को विजित किया, उसी प्रकार मैं भी आपके अनुग्रह से सबको अतिक्रान्त करके ब्रह्मभाव के द्वारा प्रतिष्ठित होऊँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में एकाक्षर आदि के द्वारा प्रजाजन आदि की उत्कृष्टता-प्राप्ति कैसे हुई? यह अस्पष्ट होने के कारण संगति नहीं है। दो पादों वाले, जन्म, कर्म, नाम से युक्त प्राणियों, हरिण आदि का उन उन छन्दों से कैसे उत्कर्ष साधन मनुष्यों के द्वारा किया गया, इसका निरूपण न होने के कारण व्याख्यान निस्तत्त्व है। हमारे अभिमत पक्ष में तो देवता दिव्य शक्तिमान् हैं, छन्दों से सबका उत्कर्ष सम्भव ही है ॥ ३१ ॥

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिश उदजयत् ता उज्जेषᳬं सविता षडक्षरेण षडृतूनुदजयत् तानुज्जेषं मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् पशूनुदजयँस्तानुज्जेषं बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत् तामुज्जेषम् ॥ ३२ ॥

पूषा देवः पञ्चाक्षरेण छन्दसा पञ्च संख्याः पूर्वाद्याश्चतस्रोऽवान्तरदिशश्चेति पञ्च दिश उदजयत्, अहमपि तेन ता जयेयम्। सविता सर्वस्य प्रेरको देवः षडक्षरेण छन्दसा षट्संख्यान् ऋतूनुदजयत्, तानृतूनहमुज्जेषम्। मरुतो देवाः सप्ताक्षरेण छन्दसा सप्तसंख्याकान् ग्राम्यान् पशून् गवादीनुदजयन्, अहं तानुज्जेषम्। बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीछन्दोऽभिमानिनीं देवतामुदजयत्, तां तादृशीं गायत्रीं जयेयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन्, पूषा देवः पञ्चाक्षरेण छन्दसा यथा पञ्च दिश उदजयत्, तथैवाहं तां भवदनुकम्पया जयेयम्। सविता यथा षडक्षरेण छन्दसा षडृतूनुदजयत्, तथैवाहं तानुज्जयेयम्। मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान् गवादीन् यथोदजयन्, तथाहं भवतः प्रसादात् तानुज्जयेयम्। बृहस्पतिर्यथाऽष्टाक्षरेण छन्दसा गायत्रीं गायत्रीच्छन्दोऽभिमामिनीं देवतामुदजयत्, तथा तामहमुज्जेषम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, पूषा भवान् यथा पञ्चाक्षरेण याः पञ्च दिश उदजयत्, तथाहमपि ता उज्जेषम्। सविता भवान् यथा षडक्षरेण ऋतूनुदजयत्, तथा तानहमप्युज्जेषम्' इत्यादिकं तु पूर्ववदेवासङ्गतम्। न च कोऽपि मनुष्यो राजा वाऽमात्यो वा छन्दोभिः सर्वा दिश उत्तमयति। 'उत्तमकीर्त्या बिभर्ति' इति तु निर्मूलमेव। तथैव ऋतूनां शोधनमपि निर्मूलम् मन्त्रे तादृशपदाभावात्। शोधनमपि प्रकृत्यैव भवति, न मनुष्येण। छन्दसां

मन्त्रार्थ—पूषा देवता ने पंचाक्षर छन्द के प्रभाव से पाँच दिशाओं को जीत लिया है, उसी के प्रभाव से मैं भी उन दिशाओं को जीत सकूँ। सविता देवता ने षडक्षर छन्द के प्रभाव से छः ऋतुओं को पूरी तरह से जीत लिया है, उसी के प्रभाव से मैं भी छः ऋतुओं को जीत सकूँ। मरुद् देवताओं ने सप्ताक्षर मन्त्र के प्रभाव से सात प्रकार के ग्रामीण गो आदि पशुओं को जीत लिया है, मैं भी उनको जीत सकूँ। बृहस्पति ने अष्टाक्षर मन्त्र के प्रभाव से गायत्री छन्द के अभिमानी देवताओं को अपने वश में कर लिया है, मैं भी अष्टाक्षर मन्त्र के प्रभाव से उनको अपने वश में कर सकूँ॥ ३२॥

भाष्यसार—**'पूषा पञ्चाक्षरेण' इस** कण्डिका के मन्त्र भी उज्जिति संज्ञक हैं, इनका याज्ञिक विनियोग भी पूर्ववत् **आहुति या वाचन** में किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—पूषा देव ने पंचाक्षर छन्द के द्वारा पाँचों दिशाओं पर विजय प्राप्त की। सविता देव ने षडक्षर छन्द से छः ऋतुओं को जीता। मरुद्गणों ने सप्ताक्षर छन्द से सात ग्राम्य पशुओं को वशीभूत किया तथा बृहस्पति देव ने अष्टाक्षर छन्द के द्वारा गायत्री छन्द की अधिष्ठात्री देवी को प्राप्त किया। उसी प्रकार मैं भी आपकी कृपा से उनको अधिगत करूँ, सबका अतिक्रमण करके ब्रह्मभाव से प्रतिष्ठित होऊँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ पूर्व की भाँति संगतिरहित है। कोई भी मनुष्य राजा अथवा मन्त्री छन्दों से सभी दिशाओं को उत्तम नहीं करता। इसी प्रकार ऋतुओं का शोधन करना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि मन्त्र में एतदर्थ कोई पद नहीं है। शोधन भी प्रकृति से ही होता है, मनुष्य के द्वारा नहीं होता। छन्दों का उनमें उपयोग तो असिद्ध ही है। गौ आदि ग्राम्य पशुओं का वर्धन ही उज्जिति है, यह भी निर्मूल है। गायत्री पद का 'गान करने वाले की

तु तत्रोपयोगोऽसिद्ध एव। गवादीनां ग्राम्याणां पशूनां वर्धनमुज्जितिरित्यपि निर्मूलम्। गायत्रीपदस्य गानकर्तुः पालयित्री नीतिरित्यपि निर्मूलमेव। नहि नीतिर्गातुरेव पालयित्री भवति। उदजयदित्यस्य न प्रतिष्ठार्थः, बीजाभावात् ॥ ३२ ॥

मि॒त्रो नवा॑क्षरेण त्रि॒वृत॒ꣳ स्तोम॒मुद॑जय॒त् तमुज्जे॑ष॒ वरु॑णो दशा॑क्षरेण वि॒राज॒मुद॑जय॒त् तामुज्जे॑ष॒मिन्द्र॒ एका॑दशाक्षरेण त्रि॒ष्टुभ॒मुद॑जय॒त् तामुज्जे॑ष॒ विश्वे॑दे॒वा द्वाद॑शाक्षरेण॒ जग॑तीमुद॑जय॒ꣳस्तामुज्जे॑षम् ॥ ३३ ॥

मित्रो देवो नवाक्षरेण छन्दसा त्रिवृतं स्तोममुदजयत्, तं तादृशं स्तोममहमुज्जेषम्। वरुणो देवो दशाक्षरेण छन्दसा विराजम् 'दशाक्षरा विराट्' इति श्रुतिप्रसिद्धां तदभिमानिनीं देवतामुदजयत्, तामहमुज्जेषम्। इन्द्रो देव एकादशाक्षरेण छन्दसा त्रिष्टुप्छन्दोऽभिमानिनीं देवतामुदजयत्. तामहमुज्जेषम्। विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयन्त, तामहमुज्जेषम्।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन्नित्यादि पूर्ववद् योजना कर्तव्या। सर्वानतिक्रम्य ब्रह्मभावेन प्रतिष्ठास्यामीति सर्वेषामेषां मन्त्राणामभिप्रायः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, मित्रो भवान् यथा नवाक्षरेण यं त्रिवृतं सोपासनज्ञानयुक्तं स्तोमं स्तुतियोग्यमुदजयद् उत्तमत्वेन जानाति' इति, तदप्यसङ्गतमेव, शाब्दमर्यादातिक्रमणात्, उज्जितेर्ज्ञानार्थत्वे बीजाभावात्। त्रिवृतमित्यस्य सोपासनयुक्तमिति कथमर्थः? तत्रास्य शक्तेरभावात्। नापि लक्षणया तादृशार्थबोधः? लक्षणायां बीजाभावात्। स्तोममित्यस्य स्तुतियोग्यमित्यपि नार्थः, तत्र शक्तेरभावात्। किञ्च, कोऽयं तादृशः? किञ्च

पालयित्री नीति' यह अर्थ करना भी अप्रामाणिक है। नीति केवल गान करने वाले का ही पालन नहीं करती। 'उदजयत्' पद का प्रतिष्ठा अर्थ करना भी प्रमाणरहित है ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—मित्र देवता ने नवाक्षर छन्द से त्रिवृत् स्तोम को जीता है, उसी प्रकार मैं भी उसको जीत सकूँ। वरुण देवता ने दशाक्षर छन्द से दशाक्षरा विराट् के अभिमानी देवताओं को जीता है, मैं भी उसी प्रकार उनको जीत सकूँ। इन्द्र ने एकादश अक्षर से त्रिष्टुप् छन्द के अभिमानी देवताओं को जीता है, मैं भी उनको जीत सकूँ। विश्वेदेव देवताओं ने बारह अक्षरों से जगती छन्द के अभिमानी देवताओं को जीता है, मैं भी उनको जीत सकूँ ॥ ३३ ॥

भाष्यसार—'मित्रो नवाक्षरेण' यह कण्डिका भी पूर्व के मन्त्रों की भाँति हवन अथवा वाचन में विनियुक्त है। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार इस कण्डिका के मन्त्र भी उज्जितिसंज्ञक हैं। इस कण्डिका का अर्थ इस प्रकार है—हे भगवन्, मित्र देव ने नवाक्षर छन्द से त्रिवृत् स्तोम को अधिकृत किया, मैं भी उसी प्रकार अधिकृत करूँ। वरुण देव ने दशाक्षर छन्द से विराडधिष्ठात्री देवता को प्राप्त किया, मैं भी प्राप्त करूँ। इन्द्रदेव ने एकादशाक्षर छन्द से त्रिष्टुप् छन्द की अधिष्ठात्री देवता को प्राप्त किया, मैं भी उसे प्राप्त करूँ। विश्वेदेव देवगणों ने द्वादशाक्षर छन्द के द्वारा जगती को प्राप्त किया, मैं भी उसे प्राप्त करूँ।

अध्यात्मपक्ष में भी अर्थयोजना इसी प्रकार होगी।

स्वामी दयानन्द का अर्थ शब्दों की सीमा का उल्लंघन करने के कारण असंगत है। उज्जिति का ज्ञान अर्थ निर्मूल है। 'त्रिवृत्' शब्द का 'सोपासन (ज्ञान) युक्त' यह अर्थ कैसे होगा? क्योंकि यह शब्द इस अर्थ को प्रकाशित करने

तज्ज्ञाने फलम् ? 'हे वरुण, त्वं यथा दशाक्षरेण छन्दसा यं विराटछन्दःप्रतिपादितं प्राप्तवानसि, तमहमपि प्राप्नुयाम्' इत्यपि निरर्थकमेव । कोऽयं विराटछन्दःप्रतिपाद्योऽर्थः ? किञ्च तत्प्राप्त्या पुरुषार्थ इत्यादेर्वक्तव्यत्वात् । एवं त्रिष्टुप्छन्दोवाच्यमित्यपि तादृगेव । 'जगतीमेतच्छन्दोऽभिहितां नीतिमुदजयन् प्रचारयन्ति' इत्यादिकमपि सर्वतन्त्रस्वातन्त्र्यमेव, सर्वमर्यादाभञ्जनात् । तथा स्वातन्त्र्ये जगतीशब्देन लुलाय्या अपि बोधसम्भवात् ॥ ३३ ॥

वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषꣳ रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमादित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशꣳ स्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमदितिः षोडशाक्षरेण षोडशꣳ स्तोममुदजयत् तमुज्जेषं प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳ स्तोममुदजयत् तमुज्जेषम् ॥ ३४ ॥

वसवस्त्रयोदशाक्षरेण छन्दसा त्रयोदशं स्तोममुदजयन्, तं स्तोममहं जयेयम् । रुद्रा देवाश्चतुर्दशाक्षरेण छन्दसा चतुर्दशं स्तोममुदजयन्, तमहमुज्जेषम् । आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण छन्दसा पञ्चदशं स्तोममुदजयन्, तमहमुज्जेषम् । अदितिः षोडशाक्षरेण छन्दसा षोडशं स्तोममुदजयत्, तमहमुज्जेषम् । प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण छन्दसा सप्तदशं स्तोममुदजयत्, तमप्यहं तेनैव सप्तदशाक्षरेण छन्दसा जयेयम् । एतान् मन्त्रान् जपेदेतैर्जुहुयाद्वा ।

अध्यात्मपक्षे - हे भगवन्, यथा वसवस्त्रयोदशाक्षरेण छन्दसा त्रयोदशं स्तोममुदजयन्, तं स्तोममहं भवतः कृपया जयेयम् । आदित्या देवा यथा चतुर्दशाक्षरेण छन्दसा चतुर्दशं स्तोममुदजयन्, तथाहमपि तमुज्जेषम् । यथा अदितिर्देवमाता षोडशाक्षरेण छन्दसा षोडशाख्यं स्तोममुदजयत्, तथाहमपि जयेयम् । प्रजापतिर्यथा सप्तदशाक्षरेण छन्दसा सप्तदशाख्यं स्तोममुदजयत्, तथाहमपि तं भवदनुग्रहाज्जयेयमिति ।

की शक्ति नहीं रखता । लक्षणा के द्वारा भी ऐसा अर्थबोध नहीं हो सकता, क्योंकि लक्षणा के लिये भी कोई मूल प्रमाण नहीं है । 'स्तोम' का अर्थ 'स्तुति के योग्य' भी नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ भी शक्ति का अभाव है । फिर इस प्रकार का कौन है ? उसके ज्ञान का क्या फल है ? ये भी प्रश्न हैं । इस प्रकार शब्द के अर्थ की मर्यादा को तोड़ने के कारण पूरा अर्थ उच्छृंखल है । इस प्रकार स्वातन्त्र्य होने पर तो जगती शब्द से लुलायी (भैंस) का भी बोधन संभव होगा ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—वसु नामक देवताओं ने तेरह अक्षर वाले छन्द से त्रयोदश स्तोम को पूरी तरह से अपने वश में कर लिया है, मैं भी ऐसा कर सकूँ । रुद्रों ने चौदह अक्षर वाले छन्द से चतुर्दश स्तोम को अपने वश में कर लिया है, मैं भी ऐसा ही कर सकूँ । आदित्यों ने पन्द्रह अक्षर के छन्द से पंचदश स्तोम को जीत लिया है, मैं भी उसको सम्यक् प्रकार से जीत सकूँ । अदिति ने सोलह अक्षर के छन्द से षोडश स्तोम को जीता है, मैं भी उसे जीत सकूँ । प्रजापति ने सत्रह अक्षर वाले छन्द से सप्तदश स्तोम को जीत लिया है, मैं भी उसको जीत सकूँ ॥ ३४ ॥

भाष्यसार—'वसवस्त्रयोदशाक्षरेण' यह कण्डिका भी पूर्वोक्त कण्डिकाओं की भाँति 'उज्जिति' मन्त्रों से युक्त तथा याज्ञिक प्रक्रिया में हवन अथवा वाचन में विनियुक्त है ।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे भगवन्, जिस प्रकार वसुगणों ने त्रयोदशाक्षर छन्द के द्वारा त्रयोदश स्तोम को अधिगत किया, उस स्तोम को मैं आपकी कृपा से अधिगत करूँ ।.... आदित्य देवों ने जिस प्रकार चतुर्दशाक्षर छन्द से चतुर्दश स्तोम को अधिगत किया, उसी प्रकार मैं भी उसे अधिगत करूँ । जैसे देवमाता अदिति ने षोडशाक्षर छन्द से षोडश स्तोम को प्राप्त किया, उसी प्रकार मैं भी उसे प्राप्त करूँ । जिस प्रकार प्रजापति ने सप्तदशाक्षर छन्द से सप्तदश स्तोम को प्राप्त किया, उसी प्रकार मैं भी आपके अनुग्रह से उसे प्राप्त करूँ ।

दयानन्दस्तु—हे राजादिसभ्यजना वसवश्चतुर्विंशतिवर्षब्रह्मचर्येण गृहीतविद्या भवन्तो यथा त्रयोदशाक्षरेणासुर्यानुष्टुभा त्रयोदशं दशप्राणजीवमत्तत्त्वानां संख्यापूरकमव्यक्तं कारणं स्तोमं स्तुतियोग्यम् उदजयन् श्रेष्ठत्वेन ज्ञातवन्तः, हे बलवीर्यवन्तः पुरुषार्थिनश्च रुद्राश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्येणाधीतविद्याः ! चतुर्दशाक्षरेण साम्न्युष्णिहा चतुर्दशं दशेन्द्रियमनोबुद्धिचित्तानां पूरकमहङ्कारं स्तोमं स्तवनीयमुदजयन् प्रशंसन्ति, तथाहमपि तमुज्जेषं प्रशंसेयम् । हे समाचरिताष्टचत्वारिंशद्वर्षपरिमितब्रह्मचर्येण गृहीतविद्याः ! पञ्चदशाक्षरेण आसुर्या गायत्र्या पञ्चदशं चत्वारो वेदाश्चत्वार उपवेदाः षडङ्गानि च मिलित्वा चतुर्दशविद्यास्तासां संख्यापूरकं क्रियाकौशलं स्तोमं स्तोतुमर्हमुदजयन् सम्यग् जानन्ति, तथैवाहमपि तमुज्जेषम् । हे सभाध्यक्षस्य पत्नि अदिति ! अविद्यमाना दितिर्नाशो यस्याः सा अखण्डितैश्वर्या भवती, यथा षोडशाक्षरेण साम्न्यानुष्टुभा षोडशं प्रमाणादिसमूहं स्तोमं स्तुत्यं षोडशाक्षरेण षोडशं स्तोममुदजयत् श्रेष्ठतया जानाति, तथाहमप्युज्जेषम् । हे प्रजापते सर्वाभिरक्षक सज्जन नरेश ! भवान् प्रजापतिर्यथा सप्तदशाक्षरेण निचृदार्च्या गायत्र्या सप्तदशं चत्वारो वर्णाश्चत्वार आश्रमाः श्रवणमनननिदिध्यासनानि कर्माणि, अलब्धस्य लिप्सा, लब्धस्य प्रयत्नेन रक्षणम्, रक्षितस्य वृद्धिः, वृद्धस्य सर्वोपकारके सत्कर्मणि व्ययकरणमेवं चतुर्विधः पुरुषार्थः, मोक्षानुष्ठानं चेति सप्तदशं स्तोममतिप्रशंसनीयमुदजयद् उत्कर्षात्, तथाहमुत्कर्षेयम्' इति, तदपि बालजनप्रतारणमेव, निर्मूलत्वात्, वस्वादिपदानां तादृशार्थबोधने मानाभावात् । त्रयोदश-स्तोमपदयोरपि न त्वदुक्तोऽर्थः, दशेन्द्रियमनोबुद्धिचित्तैरपि त्रयोदशसंख्योपपत्त्या त्वदीयार्थे विनिगमनाविरहात् । तथैव पञ्चदश-षोडश-सप्तदशसंख्येयानामपि अन्यथा सम्भवेन तदयोगात् । 'उदजयत्' इति क्रियापदस्यापि क्वचित्प्रशंसनं क्वचिज्ज्ञानमित्यादयोऽर्थभेदा निर्मूला एव । पञ्चदशेत्यनेन दशेन्द्रियाणि पञ्च प्राणाः कुतो न गृह्येरन् ? षोडशेति षोडशविकाराः कुतो न गृह्येरन् ? सप्तदशेति सूक्ष्मदेहगतसप्तदशतत्त्वानि कुतो न गृह्येरन्नित्यादिपर्यनुयोगस्य सम्भवात् ॥ ३४ ॥

एष ते॑ निर्ऋते भागस्तं जु॑षस्व॒ स्वाहा॒ऽग्निने॑त्रेभ्यो दे॒वेभ्यः॑ पु॒रःस॒द्भ्यः॒ स्वाहा॑ य॒मने॑त्रेभ्यो दे॒वेभ्यो॑ दक्षिणा॒सद्भ्यः॒ स्वाहा॑ वि॒श्वदे॑वनेत्रेभ्यो दे॒वेभ्यः॑ पश्चात्स॒द्भ्यः॒ स्वाहा॑ मि॒त्रावरु॑णनेत्रेभ्यो वा म॒रुन्ने॑त्रेभ्यो वा दे॒वेभ्य॑ उत्त॒रा॒सद्भ्यः॒ स्वाहा॒ सोम॑नेत्रेभ्यो दे॒वेभ्य॑ उप॒रि॒सद्भ्यो॒ दुव॑स्व॒द्भ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ३५ ॥

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्यान मूलरहित होने के कारण बालविनोद की भाँति है । वसु आदि शब्दों के द्वारा उन-उन अर्थों का बोध करने में कोई प्रमाण नहीं है । त्रयोदश स्तोम आदि पदों का भी प्रतिपादित अर्थ युक्त नहीं है, क्योंकि दस इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा चित्त इस प्रकार भी तेरह संख्या की युक्ति सिद्ध हो जाने पर उस अर्थ में निश्चित युक्तिप्रामाण्य नहीं है । इसी प्रकार पञ्चदश, षोडश, सप्तदश आदि शब्दों की उपपत्ति भी दूसरे प्रकार से की जा सकती है । 'उदजयत्' इस क्रियापद के भी अर्थ कहीं प्रशंसा, कहीं ज्ञान इत्यादि करना अप्रामाणिक है । 'पञ्चदश' शब्द से दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण क्यों नहीं ग्रहण किये जायँ ? षोडश शब्द से सोलह विकार क्यों न माने जाँय ? सप्तदश शब्द से सूक्ष्म देश के सत्रह तत्त्व क्यों न समझे जाँय ? इत्यादि जिज्ञासाएँ सम्भव हैं ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! यह तुम्हारा भाग है, इसको प्रीतिपूर्वक स्वीकार कीजिये । यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो । जिन देवताओं का अग्नि नेता है, पूर्व दिशा में बसने वाले उन देवताओं की प्रीति के निमित्त यह आहुति दी जा रही है, यह भली प्रकार गृहीत हो । जिनका यम नेता है, उन दक्षिण दिशा में बसने वाले देवताओं की प्रीति के

अथ राजसूयप्रकरणम्

'राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत' (आप० १८।८।१-४) इति तं प्रकृत्यामनन्त्यवेष्टिम्— 'आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा' इत्येवमादि। तां प्रकृत्याधीयते—'यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेत्, यदि वैश्यो वैश्वदेवम्, यदि राजन्य ऐन्द्रम्' इति, तत्र सन्दिह्यते—किं ब्राह्मणादीनां प्राप्तानां निमित्तार्थेन श्रवणमुत ब्राह्मणादीनामयं भागो विधीयत इति ? अत्र यदि प्रजापालनकण्टकोद्धरणादिकर्म राज्यम्, तस्य कर्ता राजेति राजशब्दस्यार्थस्ततो राजा राजसूयेन यजेतेति राज्यस्य कर्तू राजसूयेऽधिकारः, तदा सम्भवन्त्यविशेषेण ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्या राज्यस्य कर्तार इति सिद्धं सर्व एवैते राजसूये प्राप्ता इति। 'यदि ब्राह्मणो यजेत' इत्येवमादयो निमित्तार्थाः श्रुतयः। अथ राज्ञः कर्म राज्यमिति राजकर्तृयोगात् तत्कर्म राज्यम्, ततः को राजेत्यपेक्षायामार्येषु तत्प्रसिद्धेरभावात् पिक-नेम-तामरसादिशब्दार्थावधारणाय म्लेच्छप्रसिद्धिरिवान्ध्राणां क्षत्रियजातौ राजशब्दप्रसिद्धिस्तदवधारणे कारणमिति क्षत्रिय एव राजेति न ब्राह्मणवैश्ययोः प्राप्तिरस्तीति राजसूयप्रकरणं भित्त्वा ब्राह्मणादिकर्तृकाणि पृथगेव कर्माणि प्राप्यन्त इति न नैमित्तिकानीति। तत्र राज्यस्य कर्ता राजेत्यार्याणामान्ध्राणां चाविवादः। तथाहि—ब्राह्मणादिषु प्रजापालनकर्तृषु कनकदण्डातपत्रश्वेतचामरादि-लाञ्छनेषु राजपदमान्ध्राश्चार्याश्चाविवादं प्रयुञ्जाना दृश्यन्ते, तेनाविप्रतिपत्तिः। विप्रतिपत्तावप्यार्यान्ध्रप्रयोगयो-र्यववराहवद् आर्यप्रसिद्धेरान्ध्रप्रसिद्धितो बलीयस्त्वादार्यबलप्रदार्यप्रसिद्धिविरोधे त्वतन्मूलायाः पाणिनीयप्रसिद्धेः 'विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्' (मी० सू० १।१।३) इति न्यायेन बाधनात् तदनुगुणतया कथञ्चिन्नखनकुलादिवदन्वा-ख्यानमात्रपरतया नीयमानत्वाद् राज्यस्य कर्ता राजेति सिद्धे निमित्तार्थाः श्रुतय इति। तथा च यदिशब्दोऽ-प्याञ्जसः स्यादिति पूर्वपक्षय्य वाचस्पतिमिश्रेणोक्तम्—'रूपतो न विशेषोऽस्ति ह्यार्यम्लेच्छप्रयोगयोः। वैदिका-द्वाक्यशेषात्तु विशेषस्तत्र दर्शितः॥' इति।

तदिह राजशब्दस्य कर्मयोगाद्वा कर्तरि प्रयोगः, कर्तृप्रयोगाद्वा कर्मणीति संशये वैदिकवाक्यशेषवदभियुक्त-तरस्यात्रभवतः पाणिनेः स्मृतेर्निर्णीयते—प्रसिद्धिरान्ध्राणामनादिरादिमती चार्याणां प्रसिद्धिः, गोगाव्यादिशब्दवत्। न च सम्भावितादिमद्भावा प्रसिद्धिः पाणिनिस्मृतिमपोद्यानादिप्रसिद्धिमादिमतीं कर्तुमुत्सहते, गाव्यादिप्रसिद्धे-रनादित्वेन गवादिप्रसिद्धेरप्यनादिमत्त्वोपपत्तेः। तस्मात् पाणिनीयस्मृत्यनुमतान्ध्रप्रसिद्धेर्बलीयस्त्वेन क्षत्रियत्वजातौ राजशब्दे मुख्ये राज्यकर्तर्यजातौ राजशब्दो गौण इति क्षत्रियस्यैवाधिकाराद् राजसूये तत्प्रकरणमपोह्या-वेष्टेरुत्कर्ष इत्यन्वयानुरोधी यदिशब्दो न त्वपूर्वविधौ तदन्यथयितुमर्हतीति (३।३।५२) भामत्याम्। तदेतत् स्पष्टयन्ति कल्पतरुकाराः—पिकः कोकिलः, नेमोऽर्धः, तामरसं पद्ममिति म्लेच्छप्रसिद्धया यथा पिकादिशब्दार्थावधारणम्, तथैवान्ध्राणां प्रसिद्धया राजशब्दस्य क्षत्रियजातिरर्थो निर्धार्यते। यद्यपि तत्र राज्यकर्तृमात्रे राजशब्द आर्यैर्म्लेच्छैश्च प्रयुज्यते, राज्यमकुर्वति क्षत्रियजातिमात्रे राजशब्दमार्या न प्रयुञ्जते,

---

निमित्त यह आहुति दी जा रही है, यह भली प्रकार गृहीत हो। विश्वेदेव देवता जिनके नेता हैं, उन पश्चिम दिशा में निवास करने वाले देवताओं की प्रीति के निमित्त यह आहुति दी जा रही है, यह भली प्रकार गृहीत हो। जिनके नेता मित्रावरुण हैं, या जिनके नेता मरुद्देवता हैं, उत्तर दिशा में निवास करने वाले उन देवताओं की प्रीति के निमित्त दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। जिनका नेता सोम है, ऐसे परिचर्या वाले ऊर्ध्व दिशा अन्तरिक्ष में निवास करने वाले देवताओं की प्रीति के निमित्त दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो॥ ३५॥

भाष्यसार—'एष ते' इस कण्डिका से राजसूय यज्ञ का विषय प्रारम्भ होता है। राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान राजा के द्वारा किया जाता है, अतः राजपद पर अभिषिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि किसी भी वर्ण के यजमान द्वारा यह यज्ञ

म्लेच्छास्तु प्रयुञ्जत इति विप्रतिपत्तिः। अविप्रतिपत्तिस्थले विरोधाभावाद् राज्यस्य कर्ता राजेति त्रैवर्णिकानां राजत्वेऽवेष्टौ प्राप्तिः, प्राप्तौ च सत्यां निमित्तार्थत्वं 'यदि ब्राह्मणः' इत्यादेः स्यात्। या तु क्षत्रियमात्रे राजशब्दप्रयोगे म्लेच्छानामार्यैः सह विप्रतिपत्तिः, तत्र शास्त्रसहितार्थप्रसिद्ध्या तद्विहीनम्लेच्छप्रसिद्धिबाधान्न जातिमात्रं राजशब्दार्थः, किन्तु राज्यकर्तैव तदर्थ इति।

क्व शास्त्रसहितार्थप्रसिद्ध्या म्लेच्छप्रसिद्धिबाधः? इत्यपि कल्पतरौ स्पष्टम्। तथा हि—'यवमयश्चरुर्भवति', 'वाराही उपानहौ' इत्यत्र यववराहशब्दयोर्म्लेच्छैः पियङ्गुवायसयोः प्रयोगात्, आर्यैश्च दीर्घशूकसूकरयोः प्रयोगादुभयोश्च प्रयोगयोरनादित्वेन तुल्यबलत्वाद्विकल्पेनाभिधानं प्राप्तमिति। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे जैमिनिना—'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' (मी० सू० १।३।८)। तत्र सिद्धान्तसूत्रम्—'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' (मी० सू० १।३।९)। यवमय इत्यस्य वाक्यशेषः—'यदान्या ओषधयो म्लायन्तेऽथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति' इति, 'यवाश्चान्यौषधिम्लानौ मोदन्ते न प्रियङ्गवः। फाल्गुने ह्यौषधीनां हि जायते पत्रशातनम्॥ मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः॥ प्रियङ्गवः शरत्पक्वास्तावद् गच्छन्ति हि क्षयम्। यदा वर्षासु मोदन्ते सम्यग्जाताः प्रियङ्गवः। तदा नान्यौषधिग्लानिः सर्वासामेव मोदनात्॥' (त० वा० १।३।९) इति, 'वाराही उपानहौ' इत्यस्य च वाक्यशेषे—'वराहं गावोऽनुधावन्ति' (मै० सं० १।६।३) इति श्रूयते। सूकरं च गावोऽनुधावन्ति न काकम्। तस्माद्यववराहशब्दयोर्दीर्घशूकसूकरावर्थाविति। इत्थं म्लेच्छार्ययोरनादिप्रसिद्धिसाम्येऽपि शास्त्रसहितप्रसिद्धेर्बलीयस्त्वेन शास्त्रहीनप्रसिद्धिबाधः, नानादिम्लेच्छप्रसिद्धिबाधे किञ्चिन्मूलम्। ननु म्लेच्छप्रसिद्धिमात्रेण क्षत्रियजातौ राजशब्दार्थ इति न ब्रूमः, किन्तु—'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि ष्यञ्' (पा० सू० ५।१।१२४) इति पाणिनिना गुणवचनेभ्यः शुक्लादिशब्देभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च ष्यञ्प्रत्ययस्मरणाद् राज्ञः कर्म राज्यमिति सिद्ध्यति। ततश्च क्षत्रियो राजा, ततः क्षत्रियस्यैव राज्यपरिपालनं कण्टकाद्युद्धरणं धर्मः, तथाप्युल्लङ्घितमर्यादौ ब्राह्मणवैश्यावपि राज्यं कुर्वाणौ दृश्येते इति तावपि राजशब्दवाच्यौ, शब्दवाच्यतायां प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावमात्रस्यापेक्षितत्वात्' इति परिमलकाराः।

ननु प्रयोगमूला हि पाणिनिस्मृतिः। आर्यप्रयोगविरोधेऽतन्मूला म्लेच्छप्रयोगमूला स्यात्। तेन मूलबाधेन बाध्या पाणिनिस्मृतिः। यथा खं न भवतीति नखः, कुलं न भवतीति नकुलमिति रूढावेव शब्दौ व्युत्पाद्येते, एवं राजशब्दोऽपि। पाणिनिर्हि—'नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या' (पा० सू० ६।३।७५) इति नखादिशब्दानां नञ्समासमङ्गीकृत्य नलोपाभावसिद्ध्यर्थं प्रकृतिभावं सस्मार।

यदुक्तम्—'यववराहादिशब्देष्विव राजशब्देऽपि क्षत्रियमात्रविषयत्वगोचरा म्लेच्छप्रसिद्धिरार्यप्रसिद्ध्या बाध्या' इति, तदसङ्गतम्, अनादिवृद्धव्यवहाररूढत्वादार्यम्लेच्छप्रयोगयोरुभयोरपि स्वरूपतो विशेषाभावात्। यवादिशब्देषु तु वैदिकवाक्यशेषानुगृहीतार्यप्रसिद्धेर्बलवत्त्वम्। राजशब्दे त्वार्यप्रसिद्धौ नास्ति वेदानुग्रह इति द्वयोः प्रसिद्ध्योरविशेष एव। म्लेच्छप्रसिद्धौ राजशब्दविषये वैदिकवाक्यशेषवदभियुक्ततरस्य तत्रभवतः पाणिनेः स्मृतेरस्त्येवानुग्रहः। प्रयोगो हि नानादेशेषु नानापुरुषैर्विरच्यत इति सम्भवेद्विप्लवः, स्मृतिस्तु शिष्टपरिगृहीता व्यवस्थिता। ततश्च तदनुगृहीतम्लेच्छप्रयोग आर्यप्रयोगाद् बलीयानेव—'आचारयोर्विरोधेन सन्देहे सति निर्णयः। सनिबन्धनया स्मृत्या बलीयस्त्वादवाप्यते॥' इति।

नन्वनादिवृद्धव्यवहाररूढत्वादार्यम्लेच्छप्रयोगयोः स्वरूपतस्तावन्न विशेषः, इति चेन्न, तथात्वे स्वरवर्णादिभ्रंशे प्रत्यवायमनुसन्दधानानामार्याणां प्रसिद्धेराप्तिमूलत्वाद् बलवत्त्वेन तदपेक्षया म्लेच्छानां तु गवादि-

---

किया जा सकता है, अथवा केवल क्षत्रिय ही इसका अधिकारी है? यह जिज्ञासा उदित होती है। इसके सम्बन्ध में प्रथमतः

विषये गाव्यादिशब्दमपभ्रंशं प्रयुञ्जानानां प्रसिद्धेरनामिमूलत्वेन दुर्बलत्वात्। राजशब्दे तु आर्यप्रसिद्धेर्नास्ति वेदानुग्रह इत्यप्यसङ्गतम्, 'विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना७ राजा' (वा० सं० ९।४०), 'सोम ओषधीना७ राजा', 'इन्द्रो राजा' ( ), 'जगतश्चर्षणीनाम्' ( ) इत्यादिवेदानुग्रहसद्भावात्, तदभावेऽपि स्वत एवार्यप्रसिद्धेर्बलवत्त्वविशेषसद्भावाच्च। स्मृत्यनुग्रहोऽप्युभयत्र समान एव। तेन स्मृत्यनुगृहीतो म्लेच्छप्रयोग आर्षप्रयोगाद् बलीयानित्यप्ययुक्तम्, राज्यशब्दे गुणवचनादिसूत्रेण विधीयमानष्यञ्प्रत्ययप्रकृतिभूतस्य ब्राह्मणादिगणपठितस्य राजशब्दस्य क्षत्रियार्थताया इव पालकार्थताया अपि उपपन्नतया स्मृतेरुभयसाधारण्यात्। नहि विधीयमानप्रत्ययार्थादन्यदेव प्रकृत्यर्थप्रवृत्तिनिमित्तं ग्राह्यमिति नियमोऽस्ति, काठकशब्दे कठप्रोक्तशाखाध्यायिनामाम्नाय इत्यर्थके गोत्रचरणादिसूत्रविधीयमानप्रत्ययार्थस्य कठप्रोक्ताम्नायस्य कठप्रोक्तशाखाध्यायिवाचककठशब्दरूपप्रकृत्यर्थप्रवृत्तिनिमित्तान्तर्भावात्, घटस्य शौक्ल्यमित्यत्र वर्णदृढादिसूत्रविधीयमानस्य ष्यञ्प्रत्ययार्थस्य शुक्लगुणस्यैव शुक्लगुणविशिष्टद्रव्यविषयकशुक्लशब्दरूपप्रकृत्यर्थप्रवृत्तिनिमित्तत्वस्य दर्शनात्।

किञ्च, ब्राह्मणादिगणपठितस्य राजशब्दस्य पालकार्थत्वमेव ग्राह्यम्, अन्यथा 'यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत् प्रीत्या महीपतिः' (वा० रा० १।१।२१) इत्यादिप्रयोगेषु ष्यञ्प्रत्ययो न स्यात्, तत्र राजशब्दस्य क्षत्रियार्थत्वे युवत्वराजत्वयोः प्रागेव सिद्धतया संयोक्तुमिष्यमाणस्यालाभात्। न च तत्र मा भूत् ष्यञ्प्रत्ययः, 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' (पा० सू० ५।१।१२८) इति भावकर्मणोरेव विहितो यक्प्रत्ययोऽस्तु, पुरोहितादिगणेऽपि राजशब्दस्य पाठादिति वाच्यम्, तत्र 'राजा' इत्येतदसमासगतस्य राजशब्दस्य पाठेन ततो युवराजशब्दाद्यप्राप्त्या ष्यञ एवान्वेषणीयत्वात्, ब्राह्मणादिगणपठितस्यैतस्यापि पालकार्थत्वोपपत्तेश्च, जनपदविशेषवाचिनो विदेहपञ्चालादिशब्दात् तस्य राजेत्यर्थेऽपत्यार्थकप्रत्ययातिदेशे 'तस्य राजन्यपत्यवत्' (पा० सू०) इति वार्तिके राजशब्दस्य पालकार्थतायाः सम्प्रतिपन्नत्वाच्च। विदेहानां राजा वैदेहः, पञ्चालानां राजा पाञ्चाल इत्यादि हि तदुदाहरणम्। राजपदस्य पालकत्वाध्यवसाये सति 'यत्कर्मधारय' इति, 'ब्राह्मणकुमारयोः' (पा० सू० ६।२।५७-५८) इति चानुवृत्तौ राजेति पूर्वपदं ब्राह्मणकुमारयोरन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरो भवति। पूर्वपदप्रकृतिस्वरविधायकस्य 'राजा च' (पा० सू० ६।२।५९) इति सूत्रस्योदाहरणं राजब्राह्मण इति, तदपि राजत्वब्राह्मणत्वयोर्युगपत् सामानाधिकरण्यादाञ्जस्यं लभते।

ननु मा भूद् राज्यशब्दव्युत्पादकस्मृत्या म्लेच्छप्रसिद्धेरनुग्रहः, 'राजश्वसुराद्यत्' (पा० सू० ४।१।१३७) इति स्मृत्या राजशब्दादपत्यार्थे यत्प्रत्ययविधानार्थतया तु स्यात्, क्षत्रियापत्य इव जनपदपालकब्राह्मणाद्यपत्ये राजन्यशब्दप्रयोगाभावेन तत्र प्रकृतिभूतस्य राजशब्दस्य क्षत्रियार्थकताया एव ग्राह्यत्वादिति चेत्, तथाभ्युपगमेऽप्यार्यप्रसिद्धेरपि पाणिन्यनुग्रहस्य तुल्यत्वेन राजसूयवाक्ये क्षत्रियग्रहे विनिगमनाविरहात्।

यत्तु—'स्मृतिशब्देन आर्षं धर्मशास्त्रादिकमनुग्राहकत्वेन विवक्षितम्, गौतमीये हि धर्मशास्त्रे द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानमिति त्रैवर्णिकानां साधारणधर्मोक्त्यनन्तरम् –'ब्राह्मणास्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः' इत्यादिना ब्राह्मणवैशेषिका धर्मा उक्ताः। क्षत्रियवैश्यवैशेषिकधर्मोक्तिप्रस्तावे राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानामिति राजशब्दः प्रयुक्तः। न च तस्य पालनार्थग्रहणं युक्तम्, प्रकरणानुरोधात् पालकमेवोद्दिश्य पालनविधानायोगात्। नहि यः पालकस्तेन पालनं कर्तव्यमित्यन्वयो युक्तः। स्मृतिग्रहणं श्रुतेरप्युपलक्षणम्। अस्ति म्लेच्छप्रसिद्धेरनुग्राहिका राजानमभिषेचयेति श्रवणेन वेति श्रुतिः। अत्र हि राज्ञः सतोऽभिषेको विधीयते। न च क्षत्रियत्वमिव

श्रुतिवाक्य, जैमिनिसूत्र, ब्रह्मसूत्र, पाणिनिसूत्र, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, भामती टीका, परिमल-कल्पतरु

पालकत्वं प्राक् सिद्धमस्ति, अभिषिक्तस्य स्मृतिषु पालनविधानात्। न च 'यूपं तक्षति' ( ) इत्यत्र तक्षणेन यूपं कुर्यादितिवद् अभिषेकेण राजानं कुर्यादिति क्लिष्टकल्पनं युक्तम्, यूपशब्दार्थस्येव राजशब्दार्थस्य प्राक्सिद्धस्य सत्त्वाभावात्, म्लेच्छप्रयोगप्रसिद्धस्य क्षत्रियस्य सत्त्वात्' इति, तदपि न युक्तम्, विनिगमनाविरहस्य तादवस्थ्यात्, आर्यप्रसिद्धेरपि श्रुत्यनुग्रहस्य दर्शितत्वात्, 'नगरस्थो वनस्थो वा त्वं नो राजा जनेश्वरः। विविक्ते देवराजानमिदं वचनमब्रवीत्॥' इत्यादिस्मृत्यनुग्रहस्यापि सत्त्वात्। 'राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते तेनैतान् राजेत्याचक्षते' ( ) इति श्रुतेः, 'रञ्जनात् खलु राजत्वं प्रजानां पालनादपि' ( ) इति भारतवचनात् पालकत्वं राजशब्दार्थ इति साक्षात्प्रतिपादनाच्च। एतेनैव क्षत्रियवाचिनो राजशब्दस्य पालकत्वसादृश्याद् आर्याणां जनपदपरिपालके ब्राह्मणादौ प्रयोग इत्येतदर्थकाग्रिमग्रन्थस्याप्ययुक्तं व्याख्यानम्, पालकवाचिन एव पालकत्वयोग्यक्षत्रिये गौणतेति वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात्। तस्मात् सर्वोऽयं भामतीकल्पतरुसिद्धान्तग्रन्थोऽयुक्त इति चेदत्रोच्यते, विनिगमनाविरहादर्थद्वयसत्त्वेऽपि राजसूयवाक्ये राजशब्दस्य क्षत्रिय एवार्थो ग्राह्यः, सप्रतियोगिकौपाधिकधर्मरूपपालकत्वापेक्षया निष्प्रतियोगिकाखण्डरूपधर्मक्षत्रियत्वजातेर्लघुत्वेनासति बाधके लघुप्रवृत्तिनिमित्तकार्थग्रहणौचित्यात्। न चावेष्टिवाक्यगतत्रैर्वर्णिकप्राप्तिद्योतकयदिशब्दस्वारस्याद् गुरोरप्यर्थकस्य ग्रहणं युक्तमिति वाच्यम्, द्योतकनिपातस्वारस्यानुरोधेन वाचकानां स्वारस्यायोगात्।

वस्तुतस्तु श्रुतिस्मृतिप्रयोगवैयाकरणव्यवहाराणामुभयत्र साम्येऽपि क्षत्रियेष्वेव शक्तिः, तेषु क्षत्रियत्वजातेरिव पालकेष्वनुगतानतिप्रसक्तशक्यतावच्छेदकरूपाभावात्। तथाहि—न च पालनमात्रं निमित्तम्, सर्वसाधारण्यप्रसङ्गात्। सर्वेषां पुत्रदारधनादिविषयमन्ततः स्वशरीरविषयं वा पालनम्। नापि जनपदपालनं निमित्तम्, राज्ञा नियुक्ते तत्तत्पदाधिकारिणि सत्यपि तत्र राजपदप्रयोगायोगात्। नापि स्वतन्त्रपालनं निमित्तम्, साम्राजा नृपतिना देशविशेषे राजभावेनाभिषिक्ते तदभावात्। किञ्च, विनापि पालकत्वं श्रैष्ठ्यमात्रेण राजपदप्रयोगो भवति मृगराज-पक्षिराज-वृक्षराजादिशब्देषु। तस्य 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० सू० २।२।३१) इत्युपसर्गपरनिपातविधायकपाणिनिस्मृत्यनुग्रहोऽप्यस्ति, तस्मादनुगतानतिप्रसक्तजातिमित्तकः क्षत्रियार्थ एव राजशब्दः, क्षत्रियेषु प्रायेण पालकत्वस्य तत्कृतस्य श्रैष्ठ्यस्य च सद्भावात्। क्वचित्पालके केनचिद् गुणेन श्रैष्ठ्ये च तस्य निरूढा लक्षणेत्येव युक्तम्। तत्तु स्मृत्याद्यनुगृहीतम्लेच्छप्रसिद्धिप्रसादलभ्यमिति। स्वरूपतस्तावन्न विशेषोऽस्तीत्यस्य तु राजशब्दगोचरयोरार्यम्लेच्छप्रयोगयोर्गोगावीशब्दप्रयोगयोरिव स्वरूपतो वर्णविकाररूपश्रुतिस्मृत्यनुग्रहसदसद्भावकृतो वा विशेषो नास्तीत्येवार्थः। एवमिह म्लेच्छप्रसिद्धेरपभ्रंशत्वादिमूलकदौर्बल्यशङ्कापि निरस्ता। तदनन्तरवाक्येन यववराहादिशब्देष्वार्यप्रसिद्धेरेव वाक्यशेषानुग्रहः, अतस्तत्र तदादर इति प्रकृताद्वैषम्यमुक्तम्। अत एव नास्ति वेदानुग्रह इत्यस्य वाक्यशेषानुग्रहो नास्तीत्येवार्थः। यदि राजसूयवाक्यशेषानुग्रहः स्यादार्यप्रसिद्धेस्तदा तद्वाक्यगतराजशब्दस्य वक्ष्यमाणरीत्या प्रवृत्तिनिमित्तगौरवं गौणवृत्त्यापत्तिं चाविगणय्य पालक एवार्थो ग्राह्यः स्यात्, 'गौण्या लक्षणया वापि वाक्यशेषेण वा पुनः। वेदोक्तमाश्रयत्यर्थं को नु तं प्रतिकूलयेत्॥' इति न्यायात्। अतो वाक्यशेषाभाव उक्तः। विशेषमाहेत्यस्य राजसूयवाक्ये राजशब्दस्य क्षत्रियार्थग्रहणे प्रवृत्तिनिमित्तलाघवरूपं मुख्यवृत्तिलाभरूपं वा विशेषमाहेत्यर्थः।

आदि के उद्धरणों की विशद विवेचना करते हुए अनेक प्रमाण, तर्क तथा युक्तियों के आधार पर शास्त्रीय निष्कर्ष के रूप में यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय ही अधिकारी है।

अथ राजसूयमन्त्राः। राजसूयमन्त्राणां वरुण ऋषिः। 'अष्टाकपालोऽनुमत्यै, शम्यायाः पश्चाद्धविष्यमन्नꣳ स्रुवे कृत्वा दक्षिणाग्न्युल्मुकमादाय दक्षिणा गत्वा स्वयं प्रदीर्णे ईरिणे वाग्नौ जुहोत्येष ते निर्ऋत इति' (का० श्रौ० १५। १।९-१०)। फाल्गुनाद्यदशम्यामनुमत्यै अष्टाकपालः पुरोडाशः कार्यः। पौर्णमास्यभिमानिनी देवता काचिदनुमतिः। 'चक्षुषे त्वेतीक्षते' (का० श्रौ० २।५।८) पेषणोत्तरं हविरीक्षणम्, तदन्ते तण्डुलरूपं पिष्टरूपं वा हविष्यं पेषणे क्रियमाणे दृषदधस्तान्निहितशम्यायाः पश्चात् कृष्णाजिनस्योपरि यत् पतितं भवेत्, तत् खादिरे स्रुवे निधाय दक्षिणाग्नेरुल्मुकमादाय दक्षिणस्यां दिशि गत्वा स्वयं प्रदीर्णे स्फुटिते ईरिणे ऊषरे वा भूभागे उल्मुकं संस्थाप्य तद्धविर्जुहुयात्। पृथिवीदेवत्यं यजुः। हे निर्ऋते पृथिवि पापदेवते वा, एष पिष्टरूपस्ते भागो भजनीयोऽशस्तं जुषस्व सेवस्व स्वाहा तुभ्यं सुहुतमस्तु। भूमिर्द्विविधा—शालिगोधूमादिसस्याढ्या, तदयोग्या च। तत्राद्यभूमिरूपाऽनुमतिः, द्वितीयभूमिरूपा निर्ऋतिः (तै० सं० १।८।१।१)। सैवानिष्टकारिणी पापदेवता। पञ्चवातीयमाह—'पञ्चवातीयमाहवनीयं प्रतिदिशं व्युह्य मध्ये च स्रुवेणाग्निषु जुहोत्यग्निनेत्रेभ्य इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।१।२०)। ततः कस्मिंश्चिद्दिने पञ्चवातीयाख्यं होमं कुर्यात्। तत्राहवनीयखरमध्य एवाग्नेश्चतुर्दिक्षु प्रेरणं कृत्वा मध्ये चावशिष्य स्रुवेणाज्यं पञ्चस्वग्निषु यथालिङ्गं जुहुयात्। इतः परमध्यायसमाप्तिपर्यन्तं देवानामार्षम्। दश यजूंषि देवदेवत्यानि। अग्निर्नेता येषां तेऽग्निनेत्रास्तेभ्यः, पुरः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि सीदन्तीति पुरःसदस्तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु। अथ दक्षिणे जुहोति—यमो नेता येषां तेभ्यो यमनेत्रेभ्यः, दक्षिणस्यां दिशि सीदन्तीति दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा। अथ पश्चाज्जुहोति—विश्वे देवा नेतारो येषां तेभ्यः, पश्चात् सीदन्ति ये तेभ्यः स्वाहा। अथोत्तरार्धे जुहोति—मित्रावरुणौ नेतारौ येषां तेभ्यो मित्रावरुणनेत्रेभ्यः, मरुतो नेतारो येषां तेभ्यो वा उत्तरस्यां सीदन्तीति तेभ्य उत्तरासद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा। अत्र मित्रावरुणनेत्रेभ्य उत्तरासद्भ्यः, मरुन्नेत्रेभ्य उत्तरासद्भ्य इति मन्त्रयोर्विकल्पः। मध्ये जुहोति—सोमनेत्रेभ्यः सोमो नेता येषां तेभ्यः, उपरिसद्भ्य उपरि सीदन्ति ये तेभ्यः, दुवस्यद्भ्यः परिचर्यावद्भ्यः, अथवा दुवो हव्यं येषां तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा।

अत्र ब्राह्मणम्—'पूर्णाहुतिं जुहोति। सर्वं वै पूर्णꣳ सर्वं परिगृह्य सूया इति तस्यां वरं ददाति सर्वं वै वरः सर्वं परिगृह्य सूया इति स यदि कामयेत जुहुयादेतां यद्यु कामयेतापि नाद्रियेत' (श० ५।२।३।१)। ब्रह्मक्षत्रोभयकर्तृको यागो वाजपेय उक्तः। क्षत्रकर्तृको राजसूयः, अकृतवाजपेयस्य राजन्यस्यैव तत्राधिकारात्, वाजपेयेनेष्टवतो राज्यफलादपि साम्राज्यफलस्यातिशयितत्वादुत्तमफलसाधनयागानन्तरमवरफलहेतुक्रतुकरणस्यायुक्तत्वात्। 'राज्ञो राजसूयोऽनिष्टिनो वाजपेयेन' (का० श्रौ० १५।१।१-२)। इष्टि-पशु-सोम-दर्वीहोमशतप्रधानो राजसूयः। 'श्वोभूतेऽनुमत्यै अष्टाकपालम्' ( ) इत्यादिना विहिता इष्टयः, 'अथ श्येनीं विचित्रगर्भामदित्याऽऽलभते' इत्यादिना विहिताः पशवः। पवित्राभिषेचनीयदशपेयकेशवपनीयव्युष्टिद्विरात्रक्षत्रधृतिसंज्ञकाः सप्त सोमयागाः। पञ्चवातीयादयो दर्वीहोमाः। तत्र पवित्रनामके प्रथमसोमयागे प्रकृतिसमानत्वेन वक्तव्याभावात् तं परित्यज्य तदवसाने कर्तव्यं पूर्णाहुतिप्रभृति वैशेषिकमुत्तरतन्त्रमभिधीयते (तै० सं० १।८।१९)। पूर्णाहुतेः कालं कात्यायनः सूत्रयामास—'पवित्रश्चतुर्दीक्षः, सहस्रदक्षिणः,''''दीक्षा, तदन्ते पूर्णाहुतिर्गृहेष्विच्छतः' (का० श्रौ० १५।१।४-७)। आज्यपूर्णया जुह्वा हूयत इति पूर्णाहुतिः। सा चानाम्नातमन्त्रत्वात् प्राजापत्या, 'यत् तूष्णीं तत्प्राजापत्यम्' (श० ६।२।२।२०) इति श्रुतेः। तां जुहुयात्। पूर्णपदेन सर्वं गृह्यते। सर्वं जगत् स्वाधीनीकृत्य पश्चाद् राजसूयानुष्ठानेन सूयै अभिषिक्तो भूयासम्, इत्यभिप्रायेण पूर्णाहुतिं कुर्यात्। तस्यां दक्षिणां विधत्ते—वरं ददाति सर्वं वै वरः। तस्यां हुतायां पूर्णाहुतिकरणेच्छायां तदनुष्ठानम्, विपर्यये विपर्ययः।

कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।१।९-१०) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'एष ते' कण्डिका के

'अथ श्वोभूते। अनुमत्यै हविरष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति स ये जघनेन शम्यां पिष्यमाणानामवशीयन्ते पिष्टानि वा तण्डुला वा तान् स्रुवे सार्धꣳ संवपत्यन्वाहार्यपचनादुल्मुकमाददते तेन दक्षिणा यन्ति स यत्र स्वकृतं वेरिणं विन्दति श्वभ्रप्रदरं वा' (श० ५।२।३।२)। ब्राह्मणानुसारेणैव सूत्रं तद्व्याख्यानं चोक्तमेव। 'तदग्निꣳ समाधाय जुहोति। एष ते निर्ऋते ... जुषस्व स्वाहेतीयं वै निर्ऋतिः साऽयं पाप्मना गृह्णाति तं निर्ऋत्या गृह्णाति तद्यदेवास्या अत्र नैर्ऋतꣳ रूपं तदेवैतच्छमयति तथो हैनꣳ सूयमानं निर्ऋतिर्न गृह्णात्यथ यत् स्वकृते वेरिणे जुहोति श्वभ्रप्रदरे वैतदु ह्यस्यै निर्ऋतिगृहीतम्' (श० ५।२।३।३)। उल्मुकाग्निमाधाय स्रुवपूरितेन जुहुयात्। तत्र मन्त्रं विधत्ते—तदग्निं समाधाय जुहोत्येष त इति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। निर्ऋतिः पापदेवता, तथा भूमिः पापिष्ठं जनं पीडयितुं गृह्णाति। तत् तथा सति, अस्या भूमेरत्र राजसूयानुष्ठानप्रदेशे नैर्ऋतं रूपमेतेन होमेन शमितवान् भवति। तथो हैनमित्यादिना नैर्ऋतहोमस्य प्रयोजनकथनम्। एतदु ह्यस्या ईरिणप्रदरात्मकं स्थानमस्यै अस्या भूमेः सम्बन्धि निर्ऋतिगृहीतम्, निर्ऋत्या पापदेवतया आश्रयत्वेन गृहीतम्। अतस्तत्र नैर्ऋतहोमानुष्ठानं युक्तमिति।

'अथाप्रतीक्षं पुनरायन्ति। अथानुमत्याऽष्टाकपालेन पुरोडाशेन प्रचरतीयं वा अनुमतिः स यस्तत्कर्म शक्नोति कर्तुं यच्चिकीर्षतीयꣳ हास्मै तदनुमन्यते तदिमामेवैतत् प्रीणात्यनयाऽनुमत्याऽनुमतः सूया इति' (श० ५।२।३।४)। ततः पुनरागमनं विधत्ते—अथाप्रतीक्षमिति। यत्र निर्ऋत्यै होमः कृतस्तं प्रदेशमनमीक्षमाणा एव पुनर्गच्छेयुः। अथानुमतस्य हविषः प्रचारं विधत्ते—प्रचरन्तीति। आनुमतहविषः संवपनादिकं कुर्युः। इयं वा भूमिरनुमतिः, यत् कर्तुमिच्छति तदनुमन्यते। तयाऽनुमतया भूम्याऽनुमतं राजसूयाख्यं कर्म करवाणीत्यभिप्रायेणानुमतहविर्निर्वापः। तत् तेन हविषा भूमिमेव प्रीणितवान् भवति। 'अथ यदष्टाकपालो भवति। अष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्री वा इयं पृथिव्यथ यत्समानस्य हविष उभयत्र जुहोत्येषा ह्येवैतदुभयं तस्य वासो दक्षिणा यद्वै सवासा अरण्यं नोदाशꣳसते निधाय वै तद्वासोऽतिमुच्यते तथो हैनꣳ सूयमानमासङ्गो न विन्दति' (श० ५।२।३।५)। हविःश्रपणसाधनकपालगतामष्टसंख्यां गायत्रीद्वारा पृथिवीयोग्यत्वेन प्रशंसति—गायत्री वा इयं पृथिवीति। यत्समानस्य एकमेव हविरुभयत्र अनुमत्यै निर्ऋत्यै च हूयते, उभयोरपि पृथिव्यात्मकत्वादिति। तस्य वासो दक्षिणेति। यथा लोके पुरुषो वस्त्रसहितः सन्नरण्ये गमनं चौरादिभयान्न कामयते। तद्वस्त्रं भयरहिते स्थाने निधाय चेद् गच्छति तदा अतिमुच्यते भयाद्विमुक्तो भवति, तद्वद् वासोदानेन सूयमानमेनं यजमानमासङ्गो भयं न प्राप्नोति। 'स पूर्वार्ध्ये जुहोति। अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्य ... दक्षिणार्ध्ये जुहोति ... पश्चार्ध्ये ... उत्तरार्ध्ये ... मध्ये जुहोति' (श० ५।२।४।५) इति सायणादिव्याख्यानं सर्वथापि श्रौतमेव।

अध्यात्मपक्षे तु—हे निर्ऋते पापदेवते, एष ते भागो भजनीयोंऽशस्तं जुषस्व, तत्र तत्रार्चासु तादृशबलिदेवतानां स्मरणात्। यथा श्रीविद्यायां सर्वविघ्नकृद्भ्यो भूतेभ्यो हुँ फड् इति, यथा वा शिवाराधने चण्डाद्यंशः, यथा वा वासुदेवाराधने विष्वक्सेनाद्यंशः, तथैवात्र राजसूयप्रसङ्गे निर्ऋतिदेवतायै वल्युपहरणम्। पुरःसदोऽग्नि-

---

मन्त्रों से अग्नि में हवन आदि क्रियाएँ अनुष्ठित की जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय संहिता में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे पापदेवता निर्ऋति, यह आपका सेवनीय अंश है, इसको ग्रहण करें। विभिन्न पूजाओं में इस प्रकार के बलिभाजन देवताओं का स्मरण किया जाता है। जैसे कि श्रीविद्या में सर्वविघ्नकृद् भूतों के लिये 'हुँ फट्' है, अथवा शिव की आराधना में चण्डांश आदि हैं, अथवा जैसे वासुदेव की उपासना में विष्वक्सेनांश आदि होते हैं, उसी प्रकार यहाँ राजसूय के प्रसंग में निर्ऋति देवता के लिये बलिप्रदान विहित है। संमुख स्थित अग्निनेत्र

नेत्रादयो देवा राजसूयसम्बन्धिनो भगवतः कार्यत्वाद् भगवदभिन्नतयैव संसाधनीया इति तत्तद्रूपेण भगवत एवाराधनं सम्पद्यत इति पूर्वोक्ता एवार्था इहापि ग्राह्याः ।

दयानन्दस्तु—'हे निर्ऋते, नितरामृतं सत्याचरणं यस्मिन् तत्सम्बुद्धौ हे राजन्, ते तव य एष भागो भजनीयो न्यायोऽस्ति, तमग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः, अग्नेः प्रकाश इव नेत्रं नयनं येषां तेभ्यो देवेभ्यो धार्मिकेभ्यो विद्वद्भ्यः स्वाहा सत्यां वाचम्, पुरःसद्भ्यो देवेभ्यो ये पुरः पूर्वं सभायां राष्ट्रे वा सीदन्ति तेभ्यः स्वाहा धर्म्यां क्रियाम्, यमनेत्रेभ्यो यमस्य• वायोर्नेत्रं नयनमिव नीतिर्येषां तेभ्यः, ये दक्षिणायां सीदन्ति तेभ्यो देवेभ्यो विपश्चिद्भ्यः स्वाहा दानक्रियाम्, विश्वदेवनेत्रेभ्यो विश्वेषां देवानां विदुषां नेत्रं नीतिरिव नीतिर्येषां तेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः पश्चात् सीदन्ति ये तेभ्यो देवेभ्यो दिव्यसुखप्रदेभ्यः स्वाहा उत्साहकारिकां वाचम्, मित्रावरुणयोः प्राणोदानयोर्नयनमिव नीतिर्येषां तेभ्यो वा, पक्षान्तरे मरुतामृत्विजां प्रजास्थानानां सज्जनानां वा नेत्रमिव नायकत्वं येषां तेभ्यो देवेभ्यो दिव्यन्यायप्रकाशकेभ्य उत्तरासद्भ्यो य उत्तरस्यां दिशि सीदन्ति तेभ्यः स्वाहा दौत्यकुशलताम्, सोमनेत्रेभ्यः सोमस्य चन्द्रस्य नेत्रं नयनमिव नीतिर्येषां तेभ्य उपरिसद्भ्यः सर्वोपरि विराजमानेभ्यो दुवस्यद्भ्यो विद्याविनयधर्मेश्वरान् सेवमानेभ्यो देवेभ्यः सकलविद्याप्रचारकेभ्यः स्वाहा आप्तवाणीं प्राप्य त्वं धर्मेण राज्यं सदा भुङ्क्ष्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कल्पनामात्रसारत्वात्, तत्तच्छब्दार्थानां निर्मूलत्वात् । यथा व्याघ्रशब्दस्य कश्चित् शुष्कवैयाकरणो विशेषेण आसमन्ताद् जिघ्रतीति व्याख्याय व्याघ्राभिमुखं प्रवृत्तो विनाशं लेभे, तथैव निर्ऋतिशब्दस्यापि नितरामृताचरणवानर्थः । श्रुतौ सायं पाप्मना गृह्णाति तं नैर्ऋत्या गृह्णातीति तद्यदेवास्य नैर्ऋते रूपं तदेवैतच्छमयतीति पापदेवतायास्तदर्थत्वोक्तेः । अग्नेः प्रकाशस्य कीदृशं नयनं कीदृशी वा नीतिः ? न च तद्वत् प्रकाशो विवक्षितः, सर्वासामपि तासां प्रकाशस्वाभाव्यादिति विशेषायोगात् । तथैव देवशब्दानामपि ते तेऽर्थाः काल्पनिका एव । स्वाहाशब्दार्था अपि निर्मूला एव । किञ्च, विशिष्टदेवानां यद्येकरूपैव नीतिस्तदान्येषामपि नीतिस्तत्रैवान्तर्भूतेति तेषां पृथगुल्लेखो व्यर्थ एव स्यात् । किञ्च, यो राजा नितराम् ऋताचरणशीलस्तस्य तेषां तेषां देवानां स्वाहा धर्म्यादिक्रियासेवनोपदेशः पिष्टपेषणमेव स्यात् । किञ्च, स्वाहापदवाच्यास्तास्ताः क्रियाः कथं राज्ञ एव भागः, सर्वेषामपि तद्भागत्वाविशेषात् । किञ्च, मन्त्रे पूर्वं तु न्यायं जुषस्वेत्युक्तम्, पश्चात् स्वाहार्थास्तास्ताः क्रियाः प्राप्य राज्यं जुषस्वेत्युक्तम् । प्राप्य राज्यमित्यादिकं तु मूलमन्त्रे नास्त्येव ।। ३५ ।।

आदि राजसूय सम्बन्धी देवगण भगवान् के कार्य होने के कारण भगवदभिन्न रूप से उपास्य हैं । इस रीति से उन-उन रूपों से भगवान् की ही आराधना सम्पन्न होती है । इस कारण इन मन्त्रों के याज्ञिक प्रक्रिया में वर्णित अर्थ ही अध्यात्म-पक्ष में भी ग्रहण करने चाहिये ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ कल्पनाप्रधान होने के कारण तथा उन शब्दार्थों के प्रमाणरहित होने से ग्राह्य नहीं है । जिस प्रकार कोई शुष्क वैयाकरण व्याघ्र शब्द के अर्थ की व्याख्या 'आ समन्ताद् जिघ्रति' (चारों ओर से सूंघता है), इस प्रकार समझ कर बाघ की ओर जाकर मृत्यु को प्राप्त हो गया, इसी प्रकार निर्ऋति शब्द का 'अत्यन्त सत्याचरण सम्पन्न' अर्थ करना भी हानिकर है । अग्नि के प्रकाश का नयन कैसा है ? तथा किस प्रकार की नीति है ? इसी प्रकार देव शब्द के भी विभिन्न अर्थ काल्पनिक ही हैं । 'राज्य प्राप्त करके' इत्यादि पद तो मन्त्र में हैं ही नहीं ।। ३५ ।।

ये दे॒वा अ॒ग्निने॑त्राः पु॒रः॒सद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॒ ये दे॒वा य॒मने॑त्रा दक्षिणा॒सद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॒ ये दे॒वा वि॒श्वदे॑वनेत्राः पश्चा॒त्सद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॒ ये दे॒वा मि॒त्रावरु॑णनेत्रा वा म॒रुन्ने॑त्रा वोत्तरा॒सद॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॒ ये दे॒वाः सोम॑नेत्रा उप॒रि॒सदो॒ दुव॑स्वन्त॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ३६ ॥

'उत्तराः समस्य ये देवा इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।१।२१)। पञ्चधा विभक्तमाहवनीयमेकीकृत्य ये देवा इति पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रत्येकं जुहुयात् । ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा । ये देवा मित्रावरुणनेत्रा ये देवा मरुन्नेत्रा इति मन्त्रयोरत्रापि विकल्पः । ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसदो दुवस्यन्तो हव्यवन्तस्तेभ्यः स्वाहा ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ सार्द्धं समुह्य जुहोति । ये देवा अग्निनेत्रा''''स्वाहेति तद्यदेवं जुहोति' (श० ५।२।४।६)। इत्थं पञ्चभिर्मन्त्रैः कृतेष्वग्निषु हुत्वा पुनस्तानेकीकृत्य समन्त्रकं तादृशैरेव मन्त्रैर्हवनं विधत्ते—समुह्य जुहोतीति । पञ्चाप्यग्नीन् समुह्य समस्य एकीकृत्य जुहुयादिति ।

अध्यात्मपक्षे—आध्यात्मिकोऽर्थः पूर्ववदेव योज्यः ।

दयानन्दस्तु—'हे सभाध्यक्ष राजन्, त्वं येऽग्निनेत्रा विद्युदादिविज्ञानवन्तः पुरःसदो देवाः सन्ति, तेभ्यः स्वाहा सत्यां वाचं जुषस्व । ये देवा योगिनो न्यायाधीशा यमनेत्रा यमेष्वहिंसादिषु योगाङ्गेषु नीतिषु वा नेत्रं प्रापणं येषां ते दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा सत्यां क्रियाम्, ये पश्चात्सदो विश्वेदेवनेत्रा विश्वेषु देवेषु नेत्रं प्रज्ञानं येषां ते देवाः सर्वविद्याविदः, तेभ्यः स्वाहा, आन्वीक्षिकीं विद्यां जुषस्व । ये देवाः सर्वेभ्यः सुखदातारो मित्रावरुणनेत्राः प्राणोदानवत् सर्वान् धर्मं नयन्तो वा मरुन्नेत्रा मरुति ब्रह्माण्डस्थे वायौ नेत्रं नयनं येषां ते उत्तरासदः

मन्त्रार्थ—अग्नि देवता के नेतृत्व में रहने वाले जो देवता पूर्व दिशा में निवास करते हैं, उन देवताओं के निमित्त यह आहुति दी जा रही है। यम के नेतृत्व में जो देवता दक्षिण दिशा में निवास करते हैं, उनके निमित्त यह आहुति दी जा रही है। विश्वदेव देवताओं के नेतृत्व में पश्चिम दिशा में निवास करने वाले देवताओं के निमित्त यह आहुति दी जा रही है। मित्रावरुण अथवा मरुत् देवताओं के नेतृत्व में उत्तर दिशा के निवासी देवताओं के लिये यह आहुति दी जा रही है। सोम के नेतृत्व में हवि को स्वीकार करने वाले द्युलोकवासी देवताओं के निमित्त दी गई यह आहुति उनको भली प्रकार प्राप्त हो ॥ ३६ ॥

भाष्यसार—'ये देवाः' इस कण्डिका के मन्त्रों से भी आहवनीय अग्नि में आहुति दी जाती है। याज्ञिक प्रक्रिया का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।१।२१) में उल्लिखित है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—अग्निरूपी नेत्रों वाले पूर्व में स्थित देवों के लिये आहुति हो। यमरूपी नेत्रों वाले दक्षिण में स्थित देवों के लिये आहुति हो। विश्वदेवरूपी नेत्रों वाले पश्चिम में स्थित देवों के लिये आहुति हो। मित्रावरुणरूपी नेत्रों वाले अथवा मरुद्गणरूपी नेत्रों वाले उत्तर में स्थित देवों के लिये आहुति हो। सोमरूपी नेत्रों वाले ऊपर स्थित हविष्य से युक्त देवों के लिये आहुति हो।

अध्यात्मपक्ष में भी अर्थयोजना इसी भाँति होगी।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ असंगत है, क्योंकि श्रुतिवाक्य द्वारा एकीकृत अग्नि में तत्तद् विशिष्ट देवताओं के लिये हविर्दानात्मक हवन का ही विधान किया गया है। वे सभी गौण अर्थ वेद को चार्वाक मत के रूप में

प्रश्नोत्तराणि समादधाना उत्तरस्यां दिशि सीदन्ति, तेभ्यः स्वाहा सर्वोपकारिणीं विद्यां जुषस्व। ये देवा आयुर्वेदविदः सोमनेत्राः सोमलतादिष्वोषधीषु नेत्रं नयनं येषां ते उपरिसद उत्कृष्ट आसने व्यवहारे वा सीदन्ति, दुवो बहुविद्याधर्मपरिचरणं विद्यते येषु तेभ्यः स्वाहा। धर्मौषधिविद्यां जुषस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुत्या एकीकृताग्नौ तेभ्यस्तेभ्यो विशिष्टदेवेभ्यो हविर्दानलक्षणस्य होमस्य विधानात्। सर्वे च ते गौणार्था वेदस्य लोकायतीकरणाय कल्पन्ते, सभाध्यक्षादीनां सम्बोद्धयत्वे मानाभावात्। सिद्धान्तोक्ता अर्थास्तु श्रुति-सूत्रसम्मता इति त एव ग्राह्याः। तथैव देवपदानामपि काल्पनिका एवार्थाः, तादृशार्थेषु तेषु तेष्वार्षग्रन्थेष्वप्रयुक्तत्वात्॥३६॥

अग्ने॒ सह॑स्व॒ पृत॑ना अ॒भिमा॑ती॒रपा॑स्य। दु॒ष्टर॒स्तर॒न्नरा॑ती॒र्वर्चो॑धा य॒ज्ञवा॑हसि॥ ३७॥

'अग्ने सहस्वेत्युल्मुकादानम्' (का० श्रौ० १५।२।१५)। अपामार्गतण्डुलहोमार्थं दक्षिणाग्नेरुल्मुकमादद्यात्। देवश्रवस आर्षम्। अग्निदेवत्याऽनुष्टुप्। हे अग्ने, त्वं पृतनाः शत्रुसम्बन्धिनीः सेनाः सहस्व अभिभव पराभव। तथा अभिमातीः सपत्नान्, सपत्नोऽभिमातिरुच्यते, स्त्रीत्वमार्षम्, कर्मविघ्नकारिणः, अपास्य अपनुद निरासय, 'असु क्षेपणे' इत्यस्य लोटि रूपम्। यज्ञवाहसि यज्ञं वहति निर्वहतीति यज्ञवाहास्तस्मिन् यज्ञवोढरि यज्ञसम्पादके यजमाने वर्चोऽन्नम्, वर्च इत्यन्ननामसु पठितम्, धाः धेहि। यद्वा वर्चसोऽन्नस्य ओजसो वा धाता धारयितासि, दधातेर्लुङि. 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडभावः। कथम्भूतस्त्वं दुष्टरः दुस्तरः, तरतेः स्तृणातेर्वा। केनापि तर्तुं स्तरीतुं वा अशक्यः, अशक्यप्रतिक्रियो दुर्निवारः। किं कुर्वन्? अरातीः सपत्नान् तरन् विनाशयन् तिरस्कुर्वन् वा। यद्वा हे अग्ने, पृतनाः संग्रामान् सहस्व। अभिमातीः अभिमन्यमानान् सपत्नानपास्य अपनुद। अनिष्टनिवृत्तिं मुक्त्वेष्टप्राप्तिं प्रार्थयते। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथापामार्गहोमं जुहोति। अपामार्गैर्वै देवा दिक्षु नाष्ट्रा रक्षाᳪंस्यपामृजत ते व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्तां तथो एवैष एतदपामार्गैरेव दिक्षु नाष्ट्रा रक्षाᳪंस्यपमृष्टे तथो एव विजयते विजितेऽभयेऽनाष्ट्रे सूया इति' (श० ५।२।४।१४)। अपामार्गहोमं विधत्ते—अथापामार्गहोमं जुहोतीति। विजितिसाधनत्वेन तं प्रशंसति—अपामार्गैर्वै देवा इति। देवा दिक्षु नाष्ट्रा नाशकानि रक्षआदीनि अपामृजत अपमार्जनं कृतवन्तः। तत एव ते व्यजयन्त। इदानीं मनुष्योऽप्यपामार्गहोमैस्तत्सर्वं करोति विजयते च। ततोऽभयेऽनाष्ट्रे राजसूयं निर्वर्तयन्ति। 'स पालाशे वा स्रुवे वैकङ्कते वा। अपामार्गतण्डुलानादत्तेऽन्वाहार्यपचनादुल्मुकमाददते तेन प्राञ्चो वोदञ्चो वा यन्ति तदग्निᳪं समाधाय जुहोति' (श० ५।२।४।१५)। तस्यानुष्ठानं सविशेषमाह—स पालाश इति। पलाशवैकङ्कतयोरन्यतरवृक्षनिर्मिते स्रुवेऽपामार्गतण्डुलानादाय अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादाय प्राङ्मुखा उदङ्मुखा वा यन्ति। तत्राग्निं प्रतिष्ठाप्य होमः कार्यः। 'स उल्मुकमादत्ते। अग्ने सहस्व पृतना''''पृतना युधः सहस्वेत्येवै-

---

निरूपित करने वाले हैं। सभाध्यक्ष आदि को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण नहीं है। हमारे सिद्धान्त पक्ष के अर्थ श्रुति एवं सूत्रवचनों से सम्मत हैं, अतः वे ही ग्राह्य हैं। इसी प्रकार आपके द्वारा किये गये देव आदि शब्दों के अर्थ भी काल्पनिक हैं, क्योंकि आर्ष ग्रन्थों में उन अर्थों में वे शब्द प्रयुक्त नहीं मिलते॥ ३६॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! तुम शत्रु की सेनाओं को पराजित करो, शत्रुओं को विदारित करो। हे दुर्निवार! तुम शत्रुओं का तिरस्कार करते हुए यज्ञ करने वाले इस यजमान को धन-धान्य से समृद्ध कर दो॥ ३७॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।२।१५) में उल्लिखित विनियोग के अनुसार

तदाहाभिमातीरपास्येति सपत्नो वा अभिमातिः सपत्नमपजहीत्येवैतदाह दुष्टरस्तरन्नरातीरिति दुस्तरो ह्येष रक्षोभिर्नाष्ट्राभिस्तरन्नरातीरिति सर्वᳪ᳭ ह्येष पाप्मानं तरति तस्मादाह तरन्नरातीरिति वर्चो धा यज्ञवाहसीति साधु यजमाने दधदित्येवैतदाह' (श० ५।२।४।१६)। मन्त्रं प्रतिपादमनूद्य व्याचष्टे—पृतना युध इति। युधः संग्रामान्। सपत्नो वा अभिमातिः। सपत्नानपजय जहीत्येवार्थः। रक्षोभिर्नाष्ट्राभिर्दुष्टरोऽरातीस्तरन् पाप्मनस्तरति यज्ञवाहसि साधु यजमाने दधदित्येवाह मन्त्रः।

अध्यात्मपक्षे - हे अग्ने परमेश्वर, कामक्रोधादिपृतनाः सेनाः सहस्व विनाशय। अभिमातीः सपत्नान् विघ्नरूपान् अपास्य अपनुद। ननु मामेव तेऽभिभविष्यन्तीति चेन्न, त्वं दुष्टरः सर्वैस्तैर्दुर्निवारः, अशक्यप्रतिक्रियश्च। नहि शीतेनाग्निरन्धकारेण वा सविता प्रधृष्यो भवति। अरातीः लौकिकानाध्यात्मिकांश्च शत्रून् तरन् विनाशयन् यज्ञवाहसि अर्चनोपासनलक्षणस्य यज्ञस्य निर्वाहके मयि भक्ते वर्चो ज्ञानलक्षणं तेजो भजनीयास्वादलक्षणमन्नं वा, धाः धेहि।

दयानन्दस्तु—'यज्ञान् संगतान् राजधर्मादीन् वहन्ति यस्मिन् राज्ये तस्मिन्' इत्याह, तच्च यज्ञवाहसि साधु यजमाने दधदिति श्रुतिविरुद्धमेव। 'अभिमातीरभिमानहर्षयुक्ताः' इत्यपि न युक्तम्, 'सपत्नो वा अभिमातिः' (श० ५।२।४।१६) इति श्रुतिविरोधात्॥ ३७॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम्। उ॒पा॒ᳪ᳭शोर्वी॒र्ये॑ण जुहोमि ह॒तᳪ᳭ रक्षः॒ स्वाहा॒ रक्ष॑सां त्वा व॒धायाव॑धिष्म॒ रक्षोऽव॑धिष्मा॒मु॒मसौ ह॒तः॥ ३८॥

'अग्ने सहस्व' इस ऋचा के द्वारा अग्नि से उल्मुक (जलती लकड़ी) का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे अग्नि परमेश्वर! काम, क्रोध आदि की सेना को विनष्ट करें, विघ्नरूपी शत्रुओं को निवारित करें। वे केवल मुझे ही पीड़ित करेंगे, आप उन सबके लिये अपराजेय तथा अकाट्य हैं। शीत से, अग्नि तथा अन्धकार से सूर्य दबाये नहीं जा सकते। लौकिक तथा आध्यात्मिक शत्रुओं को नष्ट करते हुए पूजा-उपासनारूपी यज्ञ का सम्पादन करने वाले मुझ भक्त में ज्ञानात्मक तेज तथा सेव्य के आस्वादनरूपी अन्न को स्थापित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित 'यज्ञवाहसि' अर्थात् 'अच्छे यजमान में' इत्यादि अर्थ श्रुतिवाक्यों से विरुद्ध है। 'अभिमातीः' का 'अभिमान हर्ष से युक्त' अर्थ करना भी अनुचित है, क्योंकि 'शत्रु ही अभिमाति है' यह शतपथ श्रुति इससे विरुद्ध है॥ ३७॥

मन्त्रार्थ—जिस देवता ने इस समस्त जगत् को अपने-अपने कर्म में प्रेरित किया है, उस सविता देवता की आज्ञा में वर्तमान मैं अश्विनीकुमारों के बाहुयुगल से, पूषा देवता के दोनों हाथों से तुमको उपांशु नामक प्रथम ग्रह के पराक्रम से आहुति प्रदान करता हूँ। राक्षसकुल इस आहुति के प्रभाव से नष्ट हो गया है। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे स्रुव! राक्षसों के वध के निमित्त तुमको मैं अग्नि में प्रक्षिप्त करता हूँ। राक्षसों का और शत्रुओं का वध हो चुका है, ये सभी मारे गये हैं॥ ३८॥

'देवस्य त्वेति जुहोति' (का० श्रौ० १५।२।६)। देवस्येति मन्त्रेण स्रुवस्थानपामार्गतण्डुलान् उल्मुकमुपसमाधाय जुहुयात् प्रागुदग् वा गत्वा। देवस्य द्योतमानस्य सवितुर्जगदुत्पादयितुः परमेश्वरस्य प्रेरणे वर्तमानोऽहं हे अपामार्गहविः! त्वामश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां गृह्णामि। उपांशोस्त्रीणि यजूंषि रक्षोघ्नदैवत्यानि। उपांशुर्नाम प्रथमो ग्रहस्तस्य वीर्येण सामर्थ्येनाहं जुहोमि। अत एव रक्षो हतं हिंसितं निहतम्, सुहुतं चैतद्धविर्भवतु। **'रक्षसां त्वेति स्रुवमपास्यति तां दिशं यस्यां जुहोति'** (का० श्रौ० १५।२।७)। यस्यां दिशि होमं कुर्यात्, तां दिशं प्रति स्रुवं प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। रक्षसां राक्षसानां वधाय विनाशाय हे स्रुव, त्वां प्रक्षिपामीति शेषः। **'अवधिष्म इत्यायन्त्यनपेक्षम्'** (का० श्रौ० १५।२।७)। पश्चादनवलोकयन्त इमं मन्त्रमुच्चार्य अध्वर्य्वादयो देवयजनं प्रत्यागच्छन्ति। रक्षो राक्षसजातिं वयमवधिष्म हतवन्तः। अमुमिति शत्रुनामग्रहणम्, असाविति च। यथा अमुं क्रूरकर्माणं हतवन्तो वयम्, असौ क्रूरकर्मा हतोऽस्माभिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'तदग्निꣳ समाधाय जुहोति। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे····उपाꣳशोर्वीर्येण जुहोमीति यज्ञमुखं वा उपाꣳशुर्यज्ञमुखेनैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति हतꣳ रक्षः स्वाहेति तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति' (श० ५।२।४।१७)। हवनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—जुहोति देवस्य त्वेति। उपांशुर्नाम यज्ञमुखं प्रथमो ग्रहः, तस्य वीर्येण जुहोति। तेन हवनेन रक्षो हतं नष्टं भवतु। 'स यदि पालाशः स्रुवो भवति। ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति यद्यु वैकङ्कतो वज्रो वै विकङ्कतो वज्रेणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति रक्षसां त्वा वधायेति तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति' (श० ५।२।४।१८)। पालाशवैकङ्कतयोरन्यतरस्य स्रुवस्य क्षेपणं सार्थवादं विधत्ते— ब्रह्म वै पलाश इति। 'स यदि प्राङ्क्त्वा जुहोति। प्राञ्चꣳ स्रुवमस्यति यद्युदङ्ङित्वा जुहोत्युदञ्चꣳ स्रुवमस्यत्यवधिष्म रक्ष इति तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति' (श० ५।२।४।१९)। यद्यध्वर्युः प्राङ्मुखः पूर्वस्यां दिशि गत्वा जुहुयात्, तर्हि स्रुवं प्राञ्चं प्राग्दिकसम्बद्धमस्यति क्षिपति। उदङ्ङित्वेत्यादावप्येवं योज्यम्। हवनप्रदेशात्तन्निवर्तनं विधित्सुरादौ तन्मन्त्रं पठित्वा व्याचष्टे—अवधिष्मेति। अनेनापामार्गहोमेन रक्षोऽवधिष्मेति।

'अथाप्रतीक्षं पुनरायन्ति। सहैतेनापि प्रतिसरं कुर्वीत स यस्यां दिशि भवति तत्प्रतीत्य जुहोति प्रतीचीनफलो वा अपामार्गः स यो हास्मै तत्र किञ्चित्करोति तमेवैतत् प्रत्यग्धूर्वति तस्य नामादिशेदवधिष्मामुमसौ हत इति तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳसि हन्ति' (श० ५।२।४।२०)। अप्रतीक्षमनपेक्ष्य प्रतिनिवर्तन्ते, एतेन अपामार्गहोमेनापि। न केवलं पञ्चवातीयहोमेन, एतेनापि प्रतिसरं स्वरक्षामभिचार्यमाणोऽपामार्गहोमं कुर्यात्। हवने कश्चिद्विशेषं विधत्ते—स यस्यामिति। स अभिचारको यस्यां दिशि भवेत्, तां दिशं प्रतीत्य गत्वा जुहुयात्। प्रतीचीनफल इति। यतोऽपामार्गमञ्जर्यः प्रतीचीनफला भवन्ति, स्वात्मानं प्रतिगतैरवाङ्मुखैः फलैर्युक्ताः, अतो योऽभिचारकोऽस्मै यजमानाय पीडादिकं कुर्यात्, तमेवैतेनापामार्गहोमेन प्रतिमुखं धूर्वति हिनस्ति। तत्कृतोऽभिचारस्तमेव प्रतिनिवृत्य हन्तीत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवत्समर्पणीयहविः, त्वामहं सवितुर्देवस्य प्रसवे प्रेरणे, अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां गृह्णामि। उपांशोस्त्वदीयरश्मिसामीप्यवीर्येणाहं जुहोमि त्वयि स्वात्मसमर्पणं करोमि। तस्मादेव

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।२।६-७) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'देवस्य त्वा' कण्डिका के मन्त्र हवन, स्रुवप्रक्षेप तथा अध्वर्यु आदि के पुनरागमन इत्यादि कार्यों में विनियुक्त हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे भगवान् के लिये समर्पित किये जाने वाले हविर्द्रव्य ! मैं तुमको सविता देव की प्रेरणा से, अश्विनो देवों की भुजाओं से तथा पूषा देवता के हाथों से ग्रहण करता हूँ। तुम्हारे रश्मि-सामीप्य के

रक्षो विघ्नकारकवस्तुजातं हतम्, त्वयि हविरिदं स्वाहा समर्पितमस्तु। रक्षसां विघ्नानां वधाय प्रसादलेशं शिरसि धारयामि। तेनैव रक्षोऽवधिष्म अमुं शत्रुं कामं क्रोधं वा वयं नाशितवन्तः। असौ कामः क्रोधो वा शत्रुर्हतोऽस्माभिः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, अहं स्वाहा सत्यक्रियया सवितुर्देवस्य सेनापतेः प्रसवे उपांशोः समीपस्थसेनायाः सामर्थ्येन अश्विनोः सूर्यचन्द्रतुल्ययोः सभासेनापत्योर्बाहुभ्यां पूष्णो वैद्यस्य हस्ताभ्यां रक्षसां वधाय त्वां जुहोमि गृह्णामि। यथा त्वया रक्षो हतम्, तथा वयमप्यवधिष्म' इति, तदपि श्रुतिविरुद्धमेव, श्रुतावुपांशुपदेन यज्ञ-मुखात्मकस्य प्रथमग्रहस्य ग्रहणात्, अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादाय पूर्वादिदिक्षु गत्वा समाधाय तत्रापामार्ग-तण्डुलहोमस्य विधानात्। तेनात्र सभा-सेनापत्योः प्रसङ्ग एव नास्ति। अत एव स्वाहेत्यस्य सत्यक्रियेत्यप-व्याख्यानमेव, श्रुतिवचनविरोधात्॥ ३८॥

सविता त्वा सवानांᳪं सुवतामग्निर्गृहपतीनाᳪं सोमो वनस्पतीनाम्। बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्॥ ३९॥

'उत्तमेन चरित्वा सविता त्वेत्याह यजमानबाहुं दक्षिणं गृहीत्वा नामास्य गृह्णाति मन्त्रे यथास्थानम्, मातापित्रोश्च, यस्याश्च जाते राजा भवति' (का० श्रौ० १५।४।१४-१६)। अष्टानां देवसूहविषां मध्येऽष्टमेन वरुणाय धर्मपतय इति वारुणेन चरुणा चरित्वाह—स्रुचौ सव्ये पाणौ कृत्वा यजमानबाहुं दक्षिणं गृहीत्वा सविता त्वेति मन्त्रमाह। नामास्य यथास्थानं गृह्णीयात्। यस्मिन् स्थाने अमुमिति सर्वनाम तत्र नामग्रहणम्। यथास्थानं यजमानस्य मातापित्रोश्च नाम गृह्णीयात्। जातिग्रहणं जनपदोपलक्षणार्थम्। यस्मिन्

बल से मैं तुम्हारे प्रति स्वात्मसमर्पण करता हूँ। इसी से विघ्नकारक वस्तुएँ नष्ट हो गईं। तुम्हारे प्रति यह हविर्द्रव्य समर्पित हो। विघ्नों के नाश के लिये यह प्रसादकण सिर पर धारण करता हूँ। इसी के द्वारा हमने काम-क्रोधादि शत्रुओं को नष्ट किया है। यह काम अथवा क्रोधरूपी शत्रु हमारे द्वारा मार दिया गया है।

स्वामी दयानन्द का अर्थ श्रुतिविरुद्ध होने के कारण अग्राह्य है। श्रुति में उपांशु पद के द्वारा यज्ञमुखात्मक प्रथम ग्रह का ही ग्रहण है। अन्वाहार्यपचन अग्नि से प्रज्वलित समिधा लेकर पूर्वादि दिशाओं में जाकर वहाँ उसे स्थापित करके उसमें चिविडा और तण्डुल के हवन का विधान किया गया है। यहाँ सभा, सेनापति आदि का प्रसंग ही नहीं है। स्वाहा शब्द का सत्यक्रिया अर्थ अपव्याख्यान ही है, क्योंकि यह श्रुतिवाक्य से विरुद्ध है॥ ३८॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! जगत् के नियन्ता परमात्मा की आज्ञा से तुम सब तरह के ऐश्वर्य के अधिपति बनने के लिये प्रेरणा प्राप्त करो। अग्निदेवता गृहस्थगण के उपास्यदेव गृहस्थों के आधिपत्य के लिये तुम्हें प्रेरणा दें। वनस्पतियों में प्रधान सोम देवता तुमको वनस्पतिविषयक आधिपत्य प्रदान करें। वाणी के अधिपति बृहस्पति देवता वाणी के आधिपत्य के लिये, इन्द्र देवता ज्येष्ठता-सर्वश्रेष्ठता के लिये, पशुपति (पशुगणों के, जीवों के रक्षक) रुद्र देवता पशुसमूह के आधिपत्य के लिये, सत्यस्वरूप मित्र देवता सत्य व्यवहार के आधिपत्य के लिये और धर्मरक्षक वरुण देवता तुमको धर्म के आधिपत्य के लिये प्रेरित करें॥ ३९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।४।१४-१६) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'सविता त्वा'

जनपदे राजा भवति, तस्य च नाम गृह्णीयात्। यथा एष वः कुरवो राजा। कुतः ? देशस्यानवस्थितत्वात्। नहि शास्त्रे देशव्यवस्था, कुरुपाञ्चालजातीयैरेव राजसूयः कर्तव्य इति। अतिजगती यजमानदेवत्या। हे यजमान, त्वा त्वां यजमानं सविता प्रसविता सर्वप्रेरकः सवानां प्रसवानामाज्ञानामाधिपत्ये सुवतां प्रसुवतां प्रेरयतु, त्वामभ्यनुज्ञातुं सर्वप्राणिनामान्तरं करोतु वा, सर्वेषामाज्ञादानेऽधिकारी भवेत्यर्थः। अग्निर्देवः, गृहपतीनां गृहस्थानां तदुचितश्रौतस्मार्तकर्मणां चाधिपत्ये त्वां सुवताम्। सोमो देवो वनस्पतीनां वृक्षाणामाधिपत्ये त्वां सुवताम्। सर्वे गृहस्थाः सर्वे च वनस्पतयो वशंवदास्त्वदनुगुणाश्च भवन्त्वित्यर्थः। बृहस्पतिर्देवगुरुः, वाचे वागर्थं सुवतां पाण्डित्याय प्रेरयतु, यद्वा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, वाचे वाचः परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीलक्षणाया नामोपसर्गनिपाताख्यातलक्षणाया वा चतुर्विधाया आधिपत्ये सुवताम्, वेदादिविविधवाङ्मयप्रपञ्चे तव पूर्णं स्वातन्त्र्यमस्तु। वाग्देवता त्वदीयजिह्वाग्रे नरीनृत्यताम्। इन्द्रो देवो ज्यैष्ठ्याय ज्येष्ठभावाय सर्वोत्कर्षत्वाय त्वां सुवताम्। रुद्रो देवस्त्वां पशुभ्यः पश्वर्थं पश्वाधिपत्ये सुवताम्। मित्रो देवः सत्यः सत्याय सत्यवाक्याय सत्यं वदितुं त्वां सुवताम्। 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यादिना चतुर्थ्याः स्वादेशः। वरुणो धर्मपतीनां धर्मपालकानामाधिपत्ये सुवताम्। सवित्रादयोऽष्टौ देवसूहविषां देवतास्त्वां नानाधिपत्यानि ददत्विति समष्ट्यर्थः।

सवित्रादयो विशिष्टा देवा ब्राह्मणे यजनीयत्वेनोक्ताः। 'द्वादशकपालं वाऽष्टकपालं वा पुरोडाशं निर्वपति सवित्रे सत्यप्रसवाय' (श० ५।३।३।२) इत्यादिना सावित्रहविर्विधानम्। 'अथाग्नये गृहपतये अष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति' (श० ५।३।३।३), 'अथ सोमाय वनस्पतये श्यामाकं चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।४), 'अथ बृहस्पतये वाचे नैवारं चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।५), 'अथेन्द्राय ज्येष्ठाय हायनानां (संवत्सरपक्वानां रक्तशालीनाम्) चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।६), 'अथ रुद्राय पशुपतये रौद्रं गवेधुकं चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।७) 'अथ मित्राय सत्याय नाम्बानां चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।८), 'अथ वरुणाय धर्मपतये वारुणं यवमयं चरुं निर्वपति' (श० ५।३।३।९), 'अथैनं दक्षिणे बाहावभिपद्य जपति। सविता त्वा सवानाᳫं वरुणो धर्मपतीनाम्' (श० ५।३।३।११)। एवं देवस्वां हविर्यागानन्तरं स्विष्टकृतः पूर्वमेनं यजमानं दक्षिणे बाहावभिपद्य गृहीत्वा जपत्यध्वर्युः। सर्वत्रैव श्रौतसूत्राणि श्रुतिमूलकान्येव।

अध्यात्मपक्षे—आचार्यः साधकं शिष्यमभिषिच्याशीर्भिर्योजयति—हे साधक, त्वा त्वां सविता देवः सर्वोत्पादयितृत्वगुणविशिष्टः परमेश्वरः सवानामैश्वर्याणामाधिपत्ये वशीकाराय सुवतां प्रेरयतु। अग्निरग्रणीत्वगुणविशिष्टः स गृहपतीनामाधिपत्ये त्वां सुवताम्। सोमः साम्बसदाशिवो वनस्पतीनामाधिपत्ये त्वां सुवताम्। बृहस्पतिः तन्नाम्ना प्रसिद्धो देवः, अथवा बृहत्या वेदलक्षणाया वाचोऽधिपतिः परमेश्वरः, इन्द्रः प्रसिद्धः परमैश्वर्यविशिष्टः परमेश्वरो वा, रुद्रः रुतो रोगान् द्रावयतीति रुद्रः, अथवा रुतो द्रवन्ति पलायन्ते

इस मन्त्र का पाठ अध्वर्यु करता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—गुरु अपने साधक शिष्य का अभिषेक करके उसको आशीर्वाद से संयुक्त करता है कि हे साधक, तुमको सर्वोत्पादयिता परमेश्वर ऐश्वर्यों के आधिपत्य, वशीकरण के लिये प्रेरणा दे। अग्रणीत्व आदि गुणों से युक्त वह तुमको गृहपतियों के आधिपत्य के लिये प्रेरणा दे। साम्ब सदाशिव तुमको वनस्पतियों के आधिपत्य के लिये प्रेरणा दे। वेदवाणी का पालक परमेश्वर परमैश्वर्ययुक्त, रोगों का नाश करने वाला, सब प्राणियों से स्नेह करने वाला,

यस्मात् सः, मित्रः सूर्यः, सर्वभूतेषु मिद्यते स्निह्यते यः स परमेश्वरः, वरुणः प्रसिद्धो देवो मोक्षार्थिभिर्व्रियमाणः परमेश्वरो वा, सर्वे चैते देवाः स्वस्वाधिष्ठेयेषु तवाधिपत्यं वशीकारत्वं सम्पादयन्तु हविर्भिराराधनैर्वा तुष्टाः।

दयानन्दस्तु—'हे सभेश, यस्त्वं सवानामैश्वर्याणां सविता सूर्य इव प्रेरको गृहपतीनामुपकारकोऽग्निः पावकतुल्यः, वनस्पतीनां सोमसदृशः, धर्मपालकानां वरुणः, शुभगुणश्रेष्ठमित्र इव वाचे वेदवाण्यै बृहस्पतिवद् महाविद्वानिव ज्येष्ठतायै परमैश्वर्ययुक्ततुल्यो गवादिपशुभ्यो रुद्रतुल्यः शुद्धवायुतुल्योऽसि, तं त्वां धर्मात्मानं सत्यवादिनं धर्मेण प्रजारक्षाया उपदेष्टा प्रेरयेत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागगौणार्थाश्रयणाभ्याम्। तुल्यार्थतायोजनेऽपि सूर्यादिवत् प्रसिद्धपदार्थस्यैवोपमानत्वं सम्भवति। वरुणपदेन प्रसिद्धस्य देवस्य त्यागे श्रेष्ठगुणयुक्तस्य कस्योपमानत्वम्। सख्यर्थमित्रशब्दस्य नपुंसकत्वं प्रसिद्धम्। एवं बृहस्पतिर्महाविद्वानित्यपि नोपमानमर्हति, तथैव श्रेष्ठतायै परमैश्वर्ययुक्ततुल्य इत्यपि न प्रसिद्धम् ॥ ३९ ॥

इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ ४० ॥

इति माध्यन्दिनसंहितायां नवमोऽध्यायः ॥

अत्यष्टिर्यजमानदेवत्या। हे देवाः सवित्रादयः, इमं राजानम् असपत्नं शत्रुकण्टकशून्यं सुवध्वं प्रेरयध्वम्। महते क्षत्राय महत्यै क्षत्रपदव्यै, महते ज्यैष्ठ्याय ज्येष्ठभावाय, महते जानराज्याय जनानामिदं जानं तच्च तद्राज्यं च जानराज्यं तस्मै जनानामाधिपत्याय। यद्यपि जनताकर्तृकं राज्यमपि जानराज्यं सम्भवति, परन्तु राजसूयप्रकरणे राजसूयफलत्वेन क्षत्रत्वजातिविशिष्टस्य व्यक्तिविशेषस्यैव राज्यं प्रकृतम्। आत्मन इन्द्रियाय वीर्याय

मोक्षार्थी जनों के द्वारा वांछित परमेश्वर—ये सभी अपने-अपने अधिष्ठानों में तुम्हारा आधिपत्य हविर्द्रव्यों से अथवा आराधना से सन्तुष्ट होकर सम्पन्न करें।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या मुख्य अर्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के अंगीकार के कारण अग्राह्य है। तुल्यार्थता के निरूपण में भी सूर्य आदि के समान प्रसिद्ध पदार्थों की ही उपमानता संभव होती है। वरुण शब्द से प्रसिद्ध देवता का अर्थ छोड़ने पर श्रेष्ठ गुण से युक्त कौन उपमान होगा ? सखा अर्थ वाला मित्र शब्द तो नपुंसक लिंग का ही प्रसिद्ध है। इसी प्रकार बृहस्पति महाविद्वान् है, यह भी उपमान नहीं हो सकता। श्रेष्ठता के लिये 'परमैश्वर्य युक्त से तुल्य' यह भी प्रसिद्ध नहीं है ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर हवि को स्वीकार करने वाले हे देवगणों ! तुम अमुक महाशय के पुत्र, अमुक देवी के पुत्र इस यजमान को महान् क्षत्रधर्म के निमित्त, महती ज्येष्ठता के निमित्त, महान् जनों के आधिपत्य में आत्मज्ञान के सामर्थ्य के निमित्त शत्रुशून्य बना कर प्रेरित करो। अपने प्रसाद से इस यजमान को अमुक जाति का राजा बना दो। हे अमुक जाति के प्रजागण ! यह अमुक नाम का क्षत्रिय तुम्हारा राजा हो, हम ब्राह्मणों का राजा तो सोम देवता ही है ॥ ४० ॥

भाष्यसार—याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत 'इमं देवाः' यह मन्त्र भी पाठ के लिये विनियुक्त है। शतपथ ब्राह्मण में

आत्मज्ञान इमं यजमानं सुवध्वं प्रेरयध्वम् । अमुष्य पुत्रम्, अत्र षष्ठ्यन्तम् अमुष्येति षष्ठ्यन्तं पितुर्नाम ग्राह्यम् । तथा अमुष्यै इति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । अमुष्या देव्याः पुत्रम् । अमुष्या इति यजमानमातुर्नाम ग्रहणम् । अस्यै विशः कौरव्या विशः प्रजायाः, अधिपतिरिति शेषः । अस्या इति षष्ठ्यन्तं नाम ग्राह्यम् । अमी इति प्रथमान्तं देशनाम ग्राह्यम् । अमी हे कुरवः पञ्चालाः, वो युष्माकमेष खदिरवर्मा राजाऽस्तु । अस्माकं ब्राह्मणानां सोमश्चन्द्रो वल्लीरूपो वा सोमो राजाऽस्तु । ब्राह्मणेतरेषामेव राजा प्रभुः कश्चिद् भवति । ब्राह्मणानां तु सोमो राजा भवति । यद्वा हे सवित्रादयो देवाः, यूयं यजमानमसपत्नं सुवध्वं निःसपत्नो भूयादित्यभ्यनुजानीत । किमर्थम् ? महते प्रभूताय क्षत्रायै क्षत्रियधर्माय महते ज्यैष्ठ्याय । अतः पूर्वं पश्चाच्च तत्सदृशो नास्तीत्येतदर्थम् । शेषं पूर्ववत् ।

अत्र ब्राह्मणम् – 'इमं देवाः । असपत्नꣳ सुवध्वमितीमं देवा अभ्रातृव्यꣳ सुवध्वमित्येवैतदाह महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्यायेति नात्र तिरोहितमिवास्ति महते जानराज्यायेति महते जनानाꣳ राज्यायेत्येवैतदाहेन्द्रस्येन्द्रियाय वीर्यायेत्येवैतदाह यदाहेन्द्रस्येन्द्रियायेतीमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमिति तद्यदेवास्य जन्म तत एवैतदाहास्यै विश इति यस्यै विशो राजा भवत्येष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजेति तदस्मा इदꣳ सर्वमाद्यं करोति ब्राह्मणमेवापोद्धरति तस्माद् ब्राह्मणोऽनाद्यः सोमराजा हि भवति' (श० ५।३।३।१२) । पूर्वमन्त्रे परोक्षवदुक्तमिह तु प्रत्यक्षवदाह—हे सवित्रादयो देवाः, इमं यजमानं शत्रुरहितं सुवध्वमनुजानीत । तथा महते क्षत्राय अतिप्रभूताय क्षत्रियकुलाय, महते ज्यैष्ठ्याय अप्रतिहतनियमनसामर्थ्याय, महते जानराज्याय जनसम्बन्धि यद्राज्यं तत्र सागरपर्यन्तभूमिविषयत्वाद् महते सार्वभौमत्वाय, इन्द्रसम्बन्धिन इन्द्रियाय वीर्याय एतन्नामानं यजमानम् अमुष्य पितुः पुत्रम् अमुष्या मातुः पुत्रं सुवध्वमित्यनुषज्यते । अस्यै अस्या विशः प्रजाया राजा एष यजमान इत्यर्थः । प्रजा अपि सम्बोध्याः, अमी इति सम्बोधनप्रथमाबहुवचनान्तं गृह्णीयादित्यर्थः । यथा—'एष वो भरता राजेत्येष वः कुरवो राजेति कौरव्यम्, एष वः पञ्चाला राजेति पाञ्चालम्, एष वः कुरुपञ्चाला राजेति कुरुपाञ्चालमेष वो जनता राजेत्यन्यान् राज्ञः' (आप० श्रौ० १८।१२।७) इत्यापस्तम्बः । कात्यायनेन तु—'यस्याश्च जाते राजा भवति, देशस्यानवस्थितत्वात्' (का० श्रौ० १५।४।१६-१७) । हे प्रजाः, वो युष्माकमेष राजा, एनं स्वामिनं सेवध्वम् । ब्राह्मणानामस्माकं सोमो राजा न क्षत्रिय इति सायणाचार्यः । मन्त्रं भागशोऽनूद्य व्याचष्टे श्रुतिः—इममिति भ्रातृव्यः शत्रुः, 'भ्रातुर्व्यन् सपत्ने' (पा० सू० ४।१।१४४-१४५) । अमुष्य अमुष्या इत्यनयोः स्थाने तस्य मातापित्रोर्नामग्रहणं कार्यम् । अस्मै राज्ञे इदं दृश्यमानं सर्वं ब्राह्मणव्यतिरिक्तमाद्यं भोग्यं करोति । ब्राह्मणजातिः सोमस्वामित्वेन पृथक्कृता । तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियेण नाद्यः, हि यस्माद् ब्राह्मणः सोमराजा सोमो राजा यस्य स सोमराजा, समासान्तविध्यभावः ।

अध्यात्मपक्षे—आचार्यः शिष्यं स्वाराज्ये ब्रह्मात्मनाऽवस्थानमभिषिच्य वक्ति—हे देवाः ! इमं प्रत्यग्ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारेण ब्रह्मात्मभावापन्नमसपत्नं सुवध्वमनुजानीत, अद्वितीयात्मबोधेन द्वैतनिवृत्त्या सपत्नासम्भवात् । किमर्थम् ? महते क्षत्राय क्षतात् त्राणाय महते प्रभूताय ज्यैष्ठ्याय सर्वज्येष्ठब्रह्मरूपत्वात्, महते जानराज्याय महते

याज्ञिक विनियोग के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है । बौधायन तथा आपस्तम्ब सूत्रों में मन्त्र के सर्वनाम पदों के स्थान पर स्थानादि का उल्लेख करने का विधान किया गया है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—आचार्य अपने शिष्य को ब्रह्मात्मभाव में प्रतिष्ठित तथा अभिषिक्त करके कहता है कि हे देवगण, इसको प्रत्यग् ब्रह्मात्मतत्त्व के ऐक्य के साक्षात्कार के द्वारा ब्रह्मात्मभाव में अवस्थित अपना ही स्वरूप मानें । अद्वितीय आत्मबोध के द्वारा द्वैतभाव के निवृत्त हो जाने से परत्व की सम्भावना समाप्त हो गई है । महान् हानि से

जनेषु राज्याय स्वात्मरूपेण दीप्यमानाय इन्द्रस्य परमैश्वर्योपेतस्य परमात्मन इन्द्रियाय सामर्थ्यायाऽबाधितचिद्रूपाय अमुष्य व्यावहारिकस्य पितुः पुत्राय परमात्मनो वा पुत्राय, 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० सं०१०।१३।१) इति मन्त्रवर्णात्। अमुष्या मातुः पुत्राय प्रकृतेर्वा पुत्राय पुत्ररूपेण प्रतीयमानाय साम्प्रतं तद्बाधने ब्रह्मभावापन्नाय अस्यै विशः सर्वस्यैव दृश्यस्य एष सर्वाधिष्ठानभूतो राजा नियामकः। हे अमी चेतनाचेतनात्मकाः पदार्थाः, वो युष्माकमयं राजा अधिष्ठानभूतत्वान्नियामकः, सर्वस्याधिष्ठानसत्ताधीनसत्ताकत्वात्। अस्माकं ब्राह्मणानां ब्रह्मविदां गुरूणां तु सोमः साम्बशिवो भूत्वा राजा भवति। संन्यासे गुरुरपि ब्रह्मभावापन्नं शिष्यं परमेश्वररूपेण प्रणमति।

दयानन्दस्तु 'हे प्रजास्था देवा धार्मिका विद्वांसः, य एष सोमः सोमतुल्यः प्रजासु प्रियो वो युष्माकं क्षत्रियादीनामस्माकं च इमं ब्राह्मणानां राजा ये चामी परोक्षं वर्तमानास्तेषां च राजा तममुष्योत्तमपुरुषस्य पुत्रम् अमुष्यै विद्यादिगुणैः श्रेष्ठाया विदुष्याः पुत्रम् अस्यै विश अस्याः प्रजाया इमं महागुणैर्युक्तं क्षत्रियाणां पालनाय महते ज्यैष्ठ्याय प्रशंसायोग्याय धार्मिकजनानां राज्यकरणाय इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य इन्द्रियाय धनाय असपत्नम्' इति, तच्च श्रुतिविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव, पूर्वोक्ते ब्राह्मणे 'ब्राह्मणः सोमराजा' इत्यादिभिर्ब्राह्मणातिरिक्तस्यैव तदाद्यत्वोक्तेः। किन्तु प्रकृते न प्रजास्था विद्वांस एव देवा उक्ताः, किन्तु सवित्रे सत्यप्रसवाय, अग्नये गृहपतये, सोमाय वनस्पतये, रुद्राय पशुपतये, मित्राय सत्याय, वरुणाय धर्मपतय इति पूर्वोद्धृतेषु ब्राह्मणेषु सवित्रादयो मनुष्यभिन्ना देवजातीया एव देवा उक्ताः। नास्तिक्यादेव तदनादरः ॥ ४० ॥

इति वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां नवमोऽध्यायः ॥

त्राण के लिये, महान् सर्वज्येष्ठ ब्रह्मरूपता के लिये, महान् जनों में स्वात्मस्वरूप से विद्योतित होने के लिये, परमैश्वर्य से युक्त परमात्मा के सामर्थ्य के लिये, अबाधित चिद्रूप के लिये, इस परमात्मा के पुत्र के लिये, इस प्रकृतिरूपिणी माता के पुत्र के लिये तथा सम्प्रति उसके बाध के द्वारा ब्रह्मभावापन्न हुए इसके लिये अनुमति करे। सभी दृश्य जगत् का यह सर्वाधिष्ठानभूत नियामक है। हे चेतन-अचेतन पदार्थों! तुम्हारा यह नियामक है। हम ब्रह्मविद् गुरुओं का तो शिवात्मक होकर राजा होता है। संन्यासाश्रम में गुरु भी ब्रह्मभाव को प्राप्त शिष्य को प्रणाम करता है।

स्वामी दयानन्द का अर्थ श्रुति से विरुद्ध होने के कारण उपेक्षा के योग्य है। इस मन्त्र के प्रसंग में प्रजा में स्थित विद्वान् ही देवता नहीं कहे गये हैं, किन्तु सत्यप्रसव सविता, गृहपति अग्नि, वनस्पति सोम, पशुपति रुद्र, सत्यस्वरूप मित्र, धर्मपति वरुण—इत्यादि ब्राह्मण-वाक्यों में सविता आदि मनुष्य से भिन्न देवजातीय देवता ही कहे गये हैं। उनका अनादर तो आस्तिकता के विपरीत है ॥ ४० ॥

दशमोऽध्यायः

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः ।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः ॥ १ ॥

नवमेऽध्याये वाजपेयराजसूयसम्बन्धि कियदपि कर्मोक्तम् । दशमेऽभिषेकार्थं जलादानादिराजसूयशेषः सौत्रामणिविशेषश्चोच्यते । तत्र—'इडान्तेऽपो गृह्णाति, यूपमुत्तरेण नैमित्तिकीरसम्भवात्, गत्वेतराः पृथक्-पात्रेष्वौदुम्बरेषु' (का० श्रौ० १५।४।२१-२३), 'सरस्वतीर्गृह्णात्यपो देवा इति' (का० श्रौ० १५।४।३४) । इडान्तग्रहणं देवसूहविषां शेषकार्योपलक्षणार्थम् । तेन देवसूहविषां भागपरिहरणान्ते कृते वक्ष्यमाणा अभिषेकार्था अपो वक्ष्यमाणप्रकारेण गृह्णीयात् । या आपो निमित्तेनातपवर्षणादिना प्राप्यन्ते ता नैमित्तिक्यः । तादृशीरपो राजसूयारम्भात् प्रागेव सम्पाद्येदानीं यूपमुत्तरेण गृह्णीयात् । कुतः ? इदानीमातपवर्षणादेर्निमित्तस्यासम्भवात् । इतरा अनैमित्तिकीरपः प्रति इदानीमेव गत्वा ता गृह्णामीति । उदुम्बरवृक्षनिर्मितेषु भिन्नभिन्नपात्रेषु ता ग्रहीतव्याः । सरस्वतीनद्युद्भवा अपः प्रथमं गृह्णीयात्, अपो देवा इति मन्त्रेण । वरुणस्यार्षम् । प्राक् चरक-सौत्रामण्या अब्देवत्या त्रिष्टुप् । देवा इन्द्रादयो या अपो मधुमतीर्मधुरस्वादोदकाः, ऊर्जस्वतीर्विशिष्टान्नरसवतीः, राजस्वः, राज्ञः सूयन्ते जनयन्ति यास्ता राजोत्पादिकाः । चितानाः, चेतयमानाः चेतनदेवतायुक्तत्वात् परिदृष्टकारिणीः, अपः अगृभ्णन् गृहीतवन्तः । ता एवापः पुनर्विशिनष्टि—याभिरद्भिर्देवा मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् तयोरभिषेकं कृतवन्तः, याभिरद्भिर्देवा इन्द्रदेवमरातीः शत्रून् अदनवतीः शत्रुसेना वा अत्यनयन् अतीत्य नीतवन्त इन्द्रशत्रून् अत्यक्रामितवन्तः, 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इत्येतेरुपसर्गस्य क्रियापदात् परत्वम् । ता अपो गृह्णामीति शेषः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'स वा अपः संभरति । तद्यदपः संभरति वीर्यं वा आपो वीर्यमेवैतद्रसमपाᳪ संभरति' (श० ५।३।४।१) । यजमानाभिषेकार्थं सप्तदशसंख्याकानामपां संभरणं चतुर्थब्राह्मणप्रोक्तम् । आतपवर्ष्याद्या-न्युदकानि यूपस्योत्तरप्रदेशे निधाय गृह्णीयात् । इतराः सम्भविनीरपस्तु तत्र तत्र गत्वा गृह्णीयात् । तदिदमप्-संभरणं विधत्ते—स वा अप इति । उदकसंभरणं वीर्यात्मना प्रशंसति—वीर्यं वा आप इति । अपां वीर्यरूपं रसमेव संभृतवान् भवति । 'औदुम्बरे पात्रे । अन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्जोऽन्नाद्यस्यावरुद्ध्यै तस्मादौदुम्बरे पात्रे' (श० ५।२।४।२) । पात्रविशेषं विधत्ते—औदुम्बर इति । पात्र इति जातावेकवचनम् । सर्वाणि सप्तदश पात्राण्यौ-दुम्बराणि भवन्ति । औदुम्बरत्वमन्नावरोधकत्वेन प्रशंसति—अन्नं वा इति ।

मन्त्रार्थ—इन्द्र आदि देवताओं ने मधुर स्वाद से युक्त, विशिष्ट अन्नरस से युक्त, राज्याभिषेक करने वाले, विशिष्ट ज्ञान के सम्पादक जिस जल को ग्रहण किया, मित्रावरुण देवताओं ने शत्रुओं का तिरस्कार कर जिस जल से इन्द्र का राज्याभिषेक किया, उस जल को मैं ग्रहण करता हूँ ॥ १ ॥

भाष्यसार—नवम अध्याय में राजसूय यज्ञ से सम्बद्ध कुछ कर्म प्रतिपादित किये गये हैं । दशम अध्याय में राजसूय यज्ञ के अवशिष्ट कर्म तथा सौत्रामणी यज्ञ के कुछ विशिष्ट कर्म उल्लिखित किये जाते हैं । कात्यायन श्रौतसूत्र

'स सारस्वतीरेव प्रथमं गृह्णाति। अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नित्यपो देवा रसवतीरगृह्णन्नित्येवैतदाहोर्जस्वती राजस्वश्चिताना इति रसवतीरित्येवैतदाह यदाहोर्जस्वतीरिति राजस्वश्चिताना इति याः प्रज्ञाता राजस्व इत्येवैतदाह याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्नित्येताभिर्हि मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीरित्येताभिर्हीन्द्रं नाष्ट्रा रक्षाᳬस्यत्यनयंस्ताभिरभिषिञ्चति वाग् वै सरस्वती वाचैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वा एका आपस्ता एवैतत् सम्भरति' (श० ५।३।४।३)। जलसंभरणे क्रमं विधत्ते—सारस्वतीरिति। सरस्वत्यां नद्यां भवा अपः प्रथमं गृह्णीयात्। एवशब्दोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः। तत्र मन्त्रं विधत्ते—अपो देवा इति। मधुमतीः मधुररसवतीः। ऊर्जस्वतीः विशिष्टान्नरसवतीः। राजस्वः राजानं सुवते जनयन्तीति राजसुवः, छान्दस उकारलोपः। चितानाः चेतयन्तेऽनुजानन्तीति चिताना देवतात्वेन चेतयमानाः, अपः उदकानि देवा अगृह्णन्, अत्यनयन् अतिक्रम्य नीतवन्तः। मन्त्रं व्याचष्टे—अपो देवा इति। चिताना इत्यस्य प्रज्ञाता इत्यर्थः। शेषं स्पष्टम्। एतासामभिषेकार्थत्वं प्रशंसति—याभिर्मित्रावरुणाविति। यस्या आपो गृह्यन्ते, तां सरस्वतीं नदीं वागात्मना प्रशंसति—वाग् वै सरस्वतीति। सारस्वतीभिरद्भिरभिषेककरणेन वाचैवाभिषेकं कृतवान् भवति। एता वा एका''''सारस्वत्य आप''''एवं सारस्वतीरपो गृहीत्वा षोडशापो गृह्णीयात्।

अध्यात्मपक्षे—अभिषेकोपयोगिनीरपो विशिनष्टि—अपो देवा इति। याभिर्देवाः पूर्वकाले मित्रावरुणावभिषिक्तवन्तः, याभिश्च इन्द्रं शत्रूनतिक्रामितवन्तः, ता मधुररसवतीरपोऽभिषेकार्थं गृह्णामीत्येव युक्तम्, पूर्णाभिषेकादौ तासामुपयोगदर्शनात्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं विपश्चितो देवा याभिः क्रियाभिर्मित्रावरुणौ प्राणोदानौ 'प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ' (श० १।८।३।१२), अभ्यषिञ्चन् अभिषिञ्चन्ति, याभिरिन्द्रं स्तनयित्नुं प्राप्नुवन्ति, अरातीः शत्रूंश्च अनयन् जयन्ति, ताभिर्मधुमतीः प्रशस्तमधुरादिगुणयुक्ताः, ऊर्जस्वतीः बलपराक्रमप्रदाः, राजस्वो राजजनिका अपो जलानि प्राणान् वा अगृभ्णन् गृह्णीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, याभिः क्रियाभिः प्राणोदानौ सिञ्चन्ति, याभिश्चेन्द्रं शत्रून् जयन्ति तासामनिरूपणात्, ताभिश्च माधुर्यादिगुणविशिष्टा अपः प्राणांश्च कथङ्कारं गृह्णीयुरित्यस्याप्यनिरूपणात्। किञ्च, मन्त्रे ताभिरिति पदस्याभावात् ता मधुमतीरपो गृह्णीयाद् याभिरद्भिरित्येव युक्तम् ॥ १ ॥

(१५।४।२१-२३, ३४) में निर्दिष्ट याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'अपो देवाः' इस ऋचा से नदी के जल का ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—इन्द्र आदि देवताओं ने जिन मधुर सुस्वादु रसवाली, राजोत्पादक, चेतनात्मिका जलधाराओं को ग्रहण किया था, जिनके द्वारा देवों ने मित्रावरुणों का अभिषेक किया था तथा जिनके द्वारा देवगणों ने इन्द्रदेव को शत्रुसेनाओं से अतिक्रान्त किया था, उन जलधाराओं को मैं ग्रहण करता हूँ।

अध्यात्मपक्ष में भी—'जिन जलों के द्वारा पूर्व काल में देवों ने मित्रावरुणों को अभिषिक्त किया था और जिनके द्वारा इन्द्र को शत्रुओं से अतिक्रान्त किया था, उन मधुर रसवान् जलों को अभिषेक के लिये ग्रहण करता हूँ' यह अर्थ ही उपयुक्त है। पूर्णाभिषेक आदि कर्मों में इसका उपयोग दृष्टिगोचर होता है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ अग्राह्य है, क्योंकि जिन क्रियाओं के द्वारा प्राण तथा उदान दोनों का अभिषेक करते हैं और जिनके द्वारा इन्द्र को शत्रुओं से जिताते हैं, उनका यहाँ कोई निरूपण नहीं किया गया है। उनके द्वारा माधुर्य आदि गुणों से युक्त जल तथा प्राण कैसे ग्रहण करें, इसका भी निरूपण नहीं हो सका है। मन्त्र में 'ताभिः' पद न होने के कारण 'उन जलधाराओं का ग्रहण करें, जिनके द्वारा' इस प्रकार व्याख्या करना ही उचित है ॥ १ ॥

वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ २ ॥

अनेन मन्त्रेण सारस्वतीरपो गृहीत्वाऽनन्तरं हुत्वा षोडशापो गृह्यन्ते । 'जुहोत्युत्तरासु चतुर्गृहीतानि वृष्ण ऊर्म्यादिभिः स्वाहाकारान्तैः पूर्वैः पूर्वैः प्रतिमन्त्रमुत्तरैरुत्तरैर्गृह्णाति' (का० श्रौ० १५।४।३५), 'अवगाह्यावगाढात् पशोः पुरुषाद्वा पूर्वापरा ऊर्मीः' (का० श्रौ० १५।४।२४)। सारस्वतीरप आदाय उत्तरासु षोडशस्वप्सु वृष्णा ऊर्मिरित्यादिभिः स्वाहान्तैः पूर्वपूर्वमन्त्रैश्चतुर्गृहीतान्याज्यानि गृह्यमाणास्वप्सु जुहुयात् । उत्तरैः स्वाहाहीनैर्मन्त्रैस्ताः क्रमेण गृह्णाति । उत्तरमन्त्रेषु 'अमुष्मै' इति पदस्थाने यजमानस्य चतुर्थ्यन्तं नाम ग्राह्यम् । वृष्ण ऊर्मिरित्यादयो विश्वसृजः स्थेत्यन्ता मन्त्राः संहितायां द्विशः पठिताः । तेषां पूर्वः पूर्वः स्वाहान्तः, तेनाज्यहोमः । उत्तर उत्तरः स्वाहाहीनः, तेनापामादानम् । अध्वर्युस्तत्र जले प्रविश्य एकं पशुं पुरुषं वा प्रवेश्य तत्र जले प्रविष्टात् पशोः पुरुषाद्वा यौ पूर्वापरौ कल्लोलौ तौ हुत्वा गृह्णाति । वृष्ण ऊर्मिरसीत्यादीनि आपः स्वराज इत्यन्तानि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि । हे कल्लोल ! त्वं वृष्णो वर्षितुः सेक्तुः सम्बन्धी ऊर्मिः कल्लोलो भवसि, राष्ट्रदा राष्ट्रं जनपदं ददातीति राष्ट्रदाः स्वभावत एव देशप्रदो भवसि, अतो राष्ट्रं मे मह्यं देहि स्वाहा तुभ्यमिदं हविर्दत्तमस्तु । एवं हुत्वाऽथ गृह्णाति वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहीति मन्त्रेण । अमुष्मै इति स्थाने चतुर्थ्यन्तं यजमाननाम ग्राह्यम् । तथैवोपरितना अपि मन्त्रा व्याख्येयाः । अपरोर्मिं गृह्णाति वृषसेनोऽसि, वृषा सेचनसमर्था सेना जलराशिरूपा यस्य स वृषसेनः । यद्वा सेनो नाम संहतिः, वर्षणशीलजलसङ्घो भवसीति । राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा इत्याज्यहोमः । वृषसेनोऽसीत्यादिनापोग्रहणम् । शेषं पूर्ववत् । सर्वमेतद् ब्राह्मणसम्मतमेव ।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथाध्वर्युश्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वापोऽभ्यवैति तद्या ऊर्मी व्यर्दतः पशौ वा पुरुषे वाऽभ्यवेते तौ गृह्णाति' (श० ५।३।४।४)। तत्र प्रथममूर्मिद्वयस्य ग्रहणं विधत्ते—अथाध्वर्युरिति । चतुर्गृहीतेनाज्येनापो वक्ष्यमाणा अभिलक्ष्य अवैति गच्छतीति सर्वशेषः । तत् तत्र नद्यां पशुपुरुषयोरन्यतरस्मिन् अभ्यवेते निमग्ने सति यौ ऊर्मी व्यर्दतो विविधतया पूर्वापरीभावेन गच्छतः, तौ गृह्णीयात् । 'स यः प्राङुदर्दति । तं गृह्णाति वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहीति ॥ अथ यः प्रत्यङ्ङुदर्दति'''

मन्त्रार्थ—हे जलकल्लोल ! तुम सेचन करने वाले मनुष्य सम्बन्धी तरंग हो, स्वभाव से ही राष्ट्र-सम्पत्ति को देने वाले हो । मुझे तुम राष्ट्र का अधिपति बनाओ । तुम्हारी प्रसन्नता के लिये यह आहुति मैं समर्पित करता हूँ । हे कल्लोल ! तुम अमुक यजमान को राज्य प्रदान करो । हे वृषसेन ! तुम सेचनसमर्थ जल की तरंग हो, मुझे राष्ट्र प्रदान करो । यह आहुति तुमको समर्पित है । हे वृषसेन ! तुम राष्ट्र के दाता हो, अमुक यजमान को इसका अधिपति बनाओ ॥ २ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।४।३५, २४) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार इस कण्डिका के मन्त्रों से जल का ग्रहण तथा चतुर्गृहीत आज्य का हवन किया जाता है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे जलदेवता, तुम वर्षणकर्ता से सम्बद्ध कल्लोल हो, स्वभावतः ही देश के प्रदानकर्ता हो, अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करो । तुम्हारे लिये हवि प्रदान हो । इसी प्रकार इस यजमान के लिये राष्ट्र प्रदान करो । तुम सिंचन

राष्ट्रममुष्मै देहीति ताभिरभिषिञ्चति वीर्यं वा एतदपामुदर्दति पशौ वा पुरुषे वाऽभ्यवेते वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वा एका आपस्ता एवैतत् सम्भरति' (श० ५।३।४।५-६)। तत्रोर्मिद्वयस्यानियमेन समस्य वा ग्रहणे प्राप्ते क्रमं विधत्ते—स यः प्राङिति। य ऊर्मिः प्राङ्मुख उद्गच्छेत् तं गृह्णीयात्। हवनमन्त्रं ग्रहणमन्त्रं च विधत्ते—वृष्ण ऊर्मिरसीति। स्वाहान्तो हवनमन्त्रः, द्वितीयो ग्रहणमन्त्रः। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव। ऊर्मिद्वयं जलवीर्यात्मना प्रशंसति—वीर्यं वा इति। उभयोरप्यूर्म्योरेकत्वेन परिगणनमाह—एता वा एका आप इति।

अध्यात्मपक्षे—राजसूयतदङ्गोपाङ्गरूपेणाविर्भूतस्य ब्रह्मण एवाभिषेकार्थं कल्लोलरूपेण स्तवनं प्रार्थनं चेति पूर्ववदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यस्त्वं वृष्णः सुखवर्षकस्य विज्ञानस्य ऊर्मिः प्रापको राष्ट्रदा असि, स्वाहानीत्या राज्यं मे मह्यं देहि। वृष्ण ऊर्मिः सुखवर्षकस्य राज्यस्य ऊर्मिर्ज्ञाता राष्ट्रदा चासि, अमुष्मै राज्यपालकाय न्यायेन प्रकाशितं राज्यं देहि। राष्ट्रदा राज्ञां कर्मप्रदो वृषसेनोऽसि हृष्टपुष्टसेनोऽसि, मे प्रत्यक्षाय मह्यं स्वाहा सुवाण्या राष्ट्रं देहि। राष्ट्रदा वृषसेनोऽसि त्वममुष्मै राष्ट्रं देहि' इति, तदेतत् सर्वं बालक्रीडामात्रम्, परोक्षाय प्रत्यक्षाय च जनाय राज्यदाने सति दाता राज्यहीन एव स्यात्। कथं च याच्ञामात्रेण राज्यप्राप्तिः सम्भवति ? दिव्यैश्वर्यसम्पन्नासु देवतासु राज्यदानसामर्थ्ये सत्यपि मनुष्येषु तदसम्भवात्॥ २॥

अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहाऽर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देह्यपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ ३ ॥

करने में समर्थ जलराशिरूपी सेना वाले हो। अथवा वर्षणशील जल के संघात (समूह) हो, राष्ट्र के प्रदानकर्ता हो। अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करो। इसी प्रकार इस यजमान के लिये राष्ट्र प्रदान करो।

अध्यात्मपक्ष में भी राजसूय यज्ञ के अंग-उपांग के रूप में आविर्भूत ब्रह्म के ही अभिषेक के लिये कल्लोलरूप से स्तुति तथा प्रार्थना है। अतः पूर्वोक्त प्रकार की ही व्याख्या होगी।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ बालकों की क्रीडा की भाँति है। परोक्ष तथा प्रत्यक्ष व्यक्ति के लिये राज्य का दान देने पर तो देने वाला राज्यहीन ही हो जायगा। फिर केवल याचना से राज्य की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? दिव्य ऐश्वर्य सम्पन्न देवताओं में राज्य प्रदान की शक्ति होने पर भी मनुष्यों में तो यह असम्भव है॥ २॥

मन्त्रार्थ—नदी आदि के प्रवाह में स्थित हे जलदेवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य को देने वाले हो, उस राज्य को मुझ यजमान के निमित्त प्रदान करो। तुम्हारी प्रीति के निमित्त दी हुई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे जलदेवता, तुम स्वभाव से ही राज्य को देने वाले हो, मुझे राज्य प्रदान करो। हे बलयुक्त जलदेवता, तुम स्वभाव से ही राज्य को देने वाले हो, इस यजमान के निमित्त राज्य प्रदान करो। हे परिवाही जलदेवता ! तुम स्वभाव से राज्य को देने वाले हो, इस यजमान के लिये राज्य प्रदान करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे सागर स्थित जल-

'स्यन्दमाना इति नद्यादिप्रवाहस्था अपो गृह्णाति' (का० श्रौ० १५।४।२५)। अर्थेत, अर्थं निष्पादयितुम् अर्थं प्रयोजनमुद्दिश्य वा नद्यादेः सकाशाद् यज्ञदेशं यन्ति गच्छन्तीति अर्थेतः, इणः क्विपि तुकि रूपम्। तथाविधा यूयं राष्ट्रदा जनपददात्र्यः स्थ भवथ, मे मह्यं राष्ट्रं दत्तेति बहुवचनम्, प्रयच्छतेत्यर्थः। कुल्यादिरूपेण बहुविधसस्योपकारकत्वादपां राष्ट्रप्रदत्वमस्तीति काण्वसंहिताभाष्ये सायणः। अन्यत् पूर्ववत्। 'प्रतिलोमाः' (का० श्रौ० १५।४।२६) नदीस्था वहन्त्य आपः स्यन्दमाना उच्यन्ते। स्यन्दमानानां याः प्रतिलोमं वहन्ति ता गृह्णीयात्, वहन्तीनां याः प्रतिगच्छन्ति तासु होम आदानं चेत्यर्थः। हे आपः, यूयम् ओजस्वतीः ओजसा बलेन युक्ता भवथ। 'अपयतीः' (का० श्रौ० १५।४।२७) इति याः प्रवाहादपसृत्य मार्गान्तरेण गत्वा तस्मिन् प्रवाहे पुनरपि प्रविशन्ति ता अपयत्यस्ता गृह्णीयात्। हे आपः ! यूयं परिवाहिणीः सर्वतो वहनशीलाः स्थ। 'नदीपतिꣳ सूद्याः' (का० श्रौ० १५।४।२८)। नदीपतिः समुद्रः, तत्रापि याः सुष्ठु ऊर्ध्वं यन्ति उच्छ्रयन्तीति सूद्याः, ता वीचिस्था आपो ग्रहीतव्याः, तासामपि होमादाने। अपांपतिः जलानां पालकः स्वामी भवसि। 'निवेष्याः' (का० श्रौ० १५।४।३०)। नद्यादौ यत्र प्रदेशे उदकानां भ्रमिर्भवति, तत्रस्था अपो गृह्णीयात्। निवेष्यते आवर्त्यते तृणादिकमस्मिन्निति निवेष्य आवर्तस्तद्भवाः। हे जलभ्रम ! त्वमपां गर्भो मध्यवर्ती भवसि। परितः सर्वतो वाहो यासा ताः परिवाहण्यस्ताः।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ स्यन्दमाना गृह्णाति। अर्थेत स्थ राष्ट्रदा····ताभिरभिषिञ्चति वीर्येण वा एताः स्यन्दन्ते तस्मादेनाः स्यन्दमाना न किञ्चन प्रतिधारयते वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वा एका आपस्ता एवैतत् सम्भरति' (श० ५।३।४।७)। प्रवहन्तीनामपां वीर्यात्मकत्वमाह—वीर्येणेति। यत आपो वीर्येणैव स्यन्दन्ते, तस्मात् स्यन्दमाना एना अपः किञ्चन वस्त्वपि प्रतिमुखं न धारयते, प्रवहन्तीरपो न कश्चिदपि धारयितुं शक्नोतीत्यर्थः। 'अथ याः स्यन्दमानानां प्रतीपꣳ स्यन्दन्ते। ता गृह्णात्योजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति वीर्येण वा एताः····प्रतीपꣳ स्यन्दन्ते····' (श० ५।३।४।८)। प्रतिलोमं प्रवहन्तीनामपां ग्रहणं विधत्ते—ता गृह्णातीति। अपां मध्ये प्रतीपं प्रतिकूलं स्यन्दन्ते ता गृह्णाति। ओजस्वतीः बलवत्यः स्थ। 'अथापयतीर्गृह्णाति। आपः परिवाहिणी स्थ····ताभिरभिषिञ्चत्येतस्यै वा एषाऽपरिच्छिद्यैषैव पुनर्भवत्यपि ह वा अस्यान्यराष्ट्रीयो राष्ट्रे भवत्यन्यराष्ट्रीयमवहरते तथास्मिन् भूमानं दधाति भूम्नैवैनमेतदभिषिञ्चत्येता वा एका आपः····' (श० ५।३।४।९)। नद्याः सकाशादपच्छिद्य गच्छन्तीनामपां ग्रहणं विधत्ते—अथापयतीर्गृह्णातीति। नदीप्रवाहं परित्यज्य पृथक् प्रवाहरूपेण याः स्यन्दन्ते ता अपयत्यस्ता गृह्णीयात्। परिवाहिणीभिरद्भिरभिषेकं प्रशंसति—एतस्यै वा एषेति। एतस्या महानद्याः सकाशाद् अपच्छिद्य

देवता ! तुम मुझे राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे अपांपति ! तुम स्वभाव से राज्य के दाता हो, अमुक यजमान के निमित्त राज्य प्रदान करो। हे भँवर के जलदेवता ! तुम स्वभाव से राज्य को देने वाले हो, मुझे राज्य प्रदान करो। यह आहुति तुम्हारी प्रीति के निमित्त दी जा रही है। हे भँवर के जलदेवता, तुम स्वभाव से राज्य के दाता हो, अमुक यजमान के निमित्त राज्य प्रदान करो ॥ ३ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।४।२५-३०) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'अर्थेत स्थ' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों से भी पूर्व मन्त्रों की भाँति विभिन्न जलों का ग्रहण तथा हवन किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे प्रयोजन की पूर्ति के लिये गमन करने वाली जलराशियों, आप लोग जनपद को देने वाली हैं, अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करें। इसी प्रकार इस यजमान के लिये भी राष्ट्र प्रदान करें। हे जलधाराओं, आप लोग बल

पृथक्कृत्य परिवहति, एषैव पुनर्भवति संसृष्टा परिणदी पुनरेषैव महानदी भवतीत्यर्थः। यस्मादपच्छिद्य नदी पुनस्तां महानदीं प्राप्नोति, तस्मादस्यैताभिरभिषिक्तस्यान्यराष्ट्रीयः पुरुषः राष्ट्रे स्वराष्ट्रे भवति। अन्यराष्ट्रीयमवहरते वशयति। यथा महानदी परिणदीसंसर्गेण भूयसी भवति, तथा तस्मिन् राजनि अन्यराष्ट्रीयसमवधानेन भूयस्त्वं दधाति। 'अथ नदीपतिं गृह्णाति। अपांपतिरसि''''ताभिरभिषिञ्चत्यपां वा एष पतिर्यन्नदीपतिर्विशामेवैनमेतत्पतिं करोति एता वा एका आपः' (श० ५।३।४।१०)। समुद्रोदकग्रहणं विधत्ते—अथ नदीपतिं गृह्णातीति। तत्रापि नाविशेषेण ग्रहणम्, किन्तु स्यन्दमानामुच्छलन्तीनामपां ग्रहणं कर्तव्यमित्याह—एता वा इति। 'अथ निवेष्यं गृह्णाति। अपां गर्भोऽसि''''ताभिरभिषिञ्चति गर्भं वा एतदाप उपनिवेष्टन्ते विशामेवैनमेतद् गर्भं करोत्येता वा एका''''' (श० ५।३।४।११)। आवर्तोदकग्रहणं विधत्ते—अथ निवेष्यं गृह्णातीति। निवेष्यते आवर्त्यते तृणादिकमस्मिन्निति निवेष्य आवर्त उदकानां गर्भोऽपत्यं भवति। गर्भं वा एतत्, तथैव विशामेवैतद् गर्भं करोति।

अध्यात्मपक्षे—स्वान्तःशुद्धिक्रमेण समेषां तत्कर्मबोधकानां मन्त्राणां ब्राह्मणानां च ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे पर्यवसानात् कर्मपरा अपि मन्त्रा ब्रह्मपरा भवन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! ये यूयमर्थेतः, अर्थयन्ति श्रेष्ठपदार्थलब्धारो भवत ते मे राष्ट्रं दत्त स्वाहा सत्यनीत्या राष्ट्रदाः सभासदः स्थ। ये यूयमर्थेतः पदार्थज्ञातारो राष्ट्रदा राज्यदातारः स्थ, तेऽमुष्मै राज्यपालकाय राष्ट्रं दत्त। या यूयं स्वाहा सत्यया वाचा ओजस्वतीः विद्याबलपराक्रमयुक्ता राजस्त्रियः सत्यो राष्ट्रदाः स्थ ता अमुष्मै राष्ट्रं दत्त। या यूयं स्वाहा न्याययुक्तया नीत्या परिवाहिणीः स्वसदृशान् पतीन् परिवोढुं शीला राष्ट्रदाः स्थ ता मे राष्ट्रं दत्त। यूयं परिवाहिणीरापो राष्ट्रदाः स्थ ता अमुष्मै राष्ट्रं दत्त। यस्त्वं राष्ट्रदा अपां पतिरसि स मे स्वाहा विनययुक्तया वाचा अमुष्मै राष्ट्रं देहि। यस्त्वं स्वाहा राष्ट्रदा अपां गर्भोऽसि, सोऽमुष्मै राष्ट्रं देहि' इति, तदपि निरर्थकमेव, श्रुतिसूत्रादिविरुद्धत्वात्। यदपि 'ओजस्वतीः विद्याबलपराक्रमयुक्ता राजस्त्रियः, परिवाहिणीः पतीन् परिवोढुं शीलाः' इत्यादिकमाह, तदपि कल्पनामात्रमेव, परिपूर्वस्य वहतेस्तादृशार्थेऽप्रसिद्धत्वात्, ब्राह्मणेनाभिषेकोपयोगिनीषु तासु तास्वप्सु तेषां शब्दानां व्याख्यातत्वात्॥ ३॥

सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं

से परिपूर्ण हैं, सर्वत्र प्रवाह करने में समर्थ हैं, जल की स्वामिरूपा हैं, जल के मध्य (मूल) में संस्थित हैं, अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करें। इसी प्रकार इस यजमान के लिये राष्ट्र प्रदान करें।

अध्यात्मपक्ष में अपने अन्तःकरण की शुद्धि के क्रम से सभी उन कर्मों के बोधक मन्त्रों तथा ब्राह्मण-वाक्यों की ब्रह्मात्मक साक्षात्कार में ही पूर्णता होने के कारण कर्मपरक मन्त्र भी ब्रह्मपरक होते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ श्रुतिवचनों तथा सूत्रादि से विरुद्ध होने के कारण आधारहीन है। 'ओजस्वतीः' अर्थात् विद्या, बल, पराक्रम से युक्त राजा की स्त्रियाँ तथा 'परिवाहिणीः' अर्थात् पतियों का वहन करने वाली, इत्यादि केवल कल्पना ही है, क्योंकि 'परि' उपसर्गपूर्वक 'वह' धातु की पूर्व प्रतिपादित अर्थ में ही प्रसिद्धि है। ब्राह्मण ग्रन्थ द्वारा भी अभिषेक में उपयोगी उन उन जलों के विषय में ही तत्तत् शब्दों की व्याख्या की गई है॥ ३॥

मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना अनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः ॥ ४ ॥

'स्यन्दमानाः स्थावराः प्रत्यातपे' (का० श्रौ० १५।४।३१)। आदित्येन प्रतिकालमातप्यते न कदाचिद् वृक्षादिच्छाययाऽवष्टभ्यत इति प्रत्यातपो देशस्तत्र यो ह्रदस्तत्र स्यन्दमानानामपां मध्ये याः स्थिरास्तदात्मिका अपो गृह्णीयात्। हे आपः, यूयं सूर्यत्वचसो भवथ। सूर्यस्येव त्वचस्त्वग् यासां ताः सूर्यत्वचसः, सर्वदैवातपे विद्यमानत्वात्। 'त्वचस्' शब्दः सान्तः त्वग्वाची। यद्वा सूर्यस्य त्वचस्त्वग् दीप्तिर्यासां ताः, यद्वा सूर्यस्य त्वक्

मन्त्रार्थ—हे सूर्यत्वक् रूप जलदेवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, मेरे लिये राज्य प्रदान करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे जलदेवता, तुम अमुक यजमान को जल प्रदान करो। हे सूर्य की कान्ति में स्थित जल-देवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, मुझे राज्य प्रदान करो, इस यजमान को राज्य प्रदान करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे मान्द जलदेवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, मेरे निमित्त और इस यजमान के निमित्त राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे व्रजक्षित् कूपस्थित जलदेवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, इस यजमान के निमित्त राज्य प्रदान करो। यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे वाशा स्थित जलदेवता ! इस यजमान को राज्य प्रदान करो। हे त्रिदोषशमनकारक जलदेवता ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, मुझे राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे शविष्ठ ! तुम स्वभाव से ही राज्य के दाता हो, अमुक यजमान को राज्य प्रदान करो। हे जलदेवता ! तुम वाह, दोह आदि से जगत् का उद्धार करने वाली गाय के समान स्वभाव वाले हो, मुझे राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे शक्वरी जलदेवता। तुम इस यजमान को राज्य प्रदान करो। हे जलदेवता ! तुम बालभाव में मनुष्यों को पुष्ट करने वाले हो, मुझे राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे जनभृत् ! तुम स्वभाव से राज्य के दाता हो, अमुक यजमान को राज्य प्रदान करो। हे जलदेवता, तुम मनुष्य से देवता पर्यन्त सारे जगत् को घृत द्वारा पुष्ट करते हो, तुम मुझे राज्य प्रदान करो, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। हे घृतरूप विश्वभृत् ! तुम अमुक यजमान को राज्य प्रदान करो। हे मरीचिरूप जलदेवता, तुम अपने प्रकाश में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते, तुम स्वभाव से राज्य के दाता हो, अमुक यजमान को राज्य प्रदान करो। हे मधुर रस युक्त जलदेवता, मधुर रस वाले जल से यजमान को बलिष्ठ बना कर अपने रस से उसको सींचो, असुरों से कभी पराजय न प्राप्त करने वाले बल से इस यजमान को संयुक्त करो। इस क्षत्रिय यजमान को राज्य पद पर स्थापित कर आप स्वयं भी इसी स्थान में निवास करो ॥ ४ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।४।३१-३८) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार

शरीरं प्रतिबिम्बरूपेण यासु तिष्ठति, तास्तथाविधाः स्थ। 'अन्तरिक्षात्प्रतिगृह्या आतपवर्ष्याः' (का० श्रौ० १५।४।३२)। आतपे वर्षति सति गगनादप आदायादौ सम्पादिताः सन्ति। यूपमुत्तरेण तासु होमादाने आतपवर्ष्यास्ता अपो भूमिपतनात् प्रागेवाकाशात् पतन्तीरादाय गृह्णीयात्। यूपोत्तरेण तासु होमादाने। सूर्यस्येव वर्चस्तेजो यासां ताः सूर्यवर्चसस्तादृश्यो भवथ। 'सरस्याः' (का० श्रौ० १५।४।३३) इति सरस्तडागस्तत्र भवा अपो गृह्णीयात्। हे आपः! यूयं मान्दाः स्थ, मन्दतेर्मोदनार्थस्यैतद् रूपम्। मन्दन्ते मोदन्ते भूतानि यत्र बहूदकत्वात् ता मान्दा भवथ, यद्वा प्रवाहाभावाद् मन्दस्वभावाः स्थ। 'कूप्याः' (का० श्रौ० १५।४।३३) कूपे भवाः कूप्याः, ता गृह्णाति। हे आपः! यूयं व्रजक्षितो भवथ। व्रजे कूपे क्षियन्ति निवसन्तीति व्रजक्षितः, 'क्षि निवासे', व्रज इति मेघनामसु पठितम् (निघ० १।१०।११)। अत्र तूदकधारणसामर्थ्यात् कूप उच्यते। 'प्रुष्वाः' (का० श्रौ० १५।४।३३)। 'प्रुष सेचने', प्रुष्णन्ति ओषधीः सिञ्चन्तीति प्रुष्वा अवश्यायरूपास्तृणाग्रजलबिन्दवः, तासु शुद्धवस्त्रक्षेपेण निष्पीड्य या आत्ताः सन्ति, ता यूपमुत्तरेण हुत्वा ग्राह्याः। प्रुष्वा नीहारा अवश्यायरूपा ओसकणास्तृणाग्रबिन्दवः। वाशाः स्थ, उश्यन्ते काम्यन्ते जनैरिति वाश्यः कामिता अभिलपिता यूयं भवथ, 'वश कान्तौ'। यद्वा प्रवाहवन्मनुष्यादिगतिं न प्रतिबध्नन्तीति वश्याः। 'मधु' (का० श्रौ० १५।४।३५) मधुनि होमादाने। हे मधुरूपा आपः! यूयं शविष्ठा बलिष्ठा बलदात्र्यो भवथ, शव इति बलनाम (निघ० २।९।३)। बलिष्ठं हि मधु त्रिदोषशमनत्वात्, 'त्रिदोषघ्नं मधु प्रोक्तम्' इति। 'गौरुल्ब्याः' (का० श्रौ० १५।४।३३) उल्बं गर्भवेष्टनम्, तत्र भवा उल्ब्याः प्रसूयमानधेनुगर्भवेष्टनोत्थजलं पूर्वं यद् गृहीतमस्ति, तत्र यूपमुत्तरेण होमादाने। शक्वरीः, हे गोगर्भवेष्टनोत्था आपः, यूयं शक्वरीः शक्वर्यो गोसम्बन्धिन्यः, शक्नुवन्ति वाहदोहादिभिर्जगदुद्धर्तुमिति शक्वर्यो गावः, 'शक्लृ शक्तौ', 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति वनिप्। 'वनो र च' (पा० सू० ४।१।७) इति ङीब् रेफश्च। 'पयः' (का० श्रौ० १५।४।३३) दुग्धस्य होमो ग्रहणं च। हे आपः! यूयं जनभृतो बालभावे जनान् जन्तून् बिभ्रति पुष्णन्तीति जनभृतो भवथ। 'घृतम्' (का० श्रौ० १५।४।३३) घृतस्य होमादाने। हे घृतरूपा आपः, यूयं विश्वभृतो विश्वं सर्वं देवादिजगद् बिभ्रतीति विश्वभृतो यूयं भवथ। एवं सरस्वतीप्रभृतयः सप्तदश उक्ताः। 'आपः स्वराज इति मरीचीर्गृहीत्वा गृहीत्वाऽञ्जलिना सर्वासु सꣳसृजति' (का० श्रौ० १५।४।३६)। रविकरतप्ता आपो मरीचयः। ता अञ्जलिनादाय पूर्वगृहीतास्वप्सु योजयेत्। प्रतिग्रहणं मन्त्रेण संसर्जनं तूष्णीम्। नात्र होमः, 'द्वयीषु न जुहोति सारस्वतीषु मरीचिषु' (श० ५।३।४।२५-२६) इति श्रुतेः। हे मरीचिरूपा आपः, यूयं स्वराजः स्थ भवथ। स्वेनैव राजन्ते यास्ताः, स्वकीयमेव राज्यं यासां ता वा, अनन्याश्रितराज्या इत्यर्थः। यूयं राष्ट्रदा अतोऽमुष्मै यजमानाय राष्ट्रं राज्यं दत्त। 'औदुम्बरे पात्रे समासिञ्चत्येना मधुमतीरिति' (का० श्रौ० १५।४।३७)। एनाः पूर्वोक्ता अप एकस्मिन् उदुम्बरकाष्ठपात्रे एकीकर्तुं निनयेत्, मधुमतीरिति मन्त्रेण। प्रतिनिनयनं मन्त्रावृत्तिः। अब्देवत्यं यजुः। मधुमतीः मधुमत्यो मधुररसवत्य एता आपो मधुमतीभिर्मधुरस्वादवतीभिरद्भिः पृच्यन्तां संसृज्यन्ताम्। महि महत् क्षत्रं बलं क्षत्रियाय राज्ञे यजमानाय वन्वानाः सम्भज्यमाना ददत्यः, 'वन षण सम्भक्तौ', सम्भजनं दानम्।

'सूर्यत्वचस स्थ' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों के द्वारा तत्तद् जलों का ग्रहण आदि कर्म पूर्वोक्त विनियोग की भाँति किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—हे जलदेवता, आप लोग सूर्य की भाँति त्वग्दीप्तियुक्त अथवा सूर्य के शरीर-मण्डल का प्रतिबिम्ब धारण करने वाले, सूर्य की भाँति तेजस्वी, प्राणियों को प्रमुदित करने वाले अथवा मन्द स्वभाव से युक्त, कूप में स्थित रहने वाले, जनों के द्वारा अभिलषित अथवा प्रतिबन्धरहित करने वाले, बल प्रदान करने वाले, जगत् का उद्धार करने में समर्थ, जन्तुओं का धारण-पोषण करने वाले, सम्पूर्ण विश्व का पोषण करने वाले, स्वयं प्रकाशमान अथवा स्वयं राज्यकर्ता हैं

'मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्तान्निदधात्यनाधृष्टा सीदतेति' (का० श्रौ० १५।४।३८)। औदुम्बरे पात्रे समवेतास्ता अपो मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्तात् सदसि सादयति, अनाधृष्टा सीदतेति मन्त्रेण। अब्देवत्यं यजुः। हे आपः, यूयं सीदत तिष्ठत। कथंभूताः ? अनाधृष्टा अपराभूता असुरराक्षसैः, सहौजस ओजसा बलेन युक्ताः, महि महत् क्षत्रं बलं क्षत्रियाय राज्ञे यजमानाय दधतीः दधत्यः, स्थापयन्त्य इत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणं पूर्वोक्तमेवार्थं समर्थयते—'अथ यः स्यन्दमानानां स्थावरो ह्रदो भवति। प्रत्यातापे ता गृह्णाति सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा....दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति वर्चसैवैनमेतदभिषिञ्चति सूर्यत्वचसमेवैनमेतत्करोति वरुण्या वा एता आपो भवन्ति याः स्यन्दमानानां न स्यन्दन्ते वरुणसवो वा एष यद् राजसूयं तस्मादेताभिः....' (श० ५।३।४।१२)। हे आपः, यूयं सूर्यत्वचसः स्थ। सूर्यस्येव त्वचः त्वग् दीप्तिर्यासां ताः, सूर्यस्य त्वचस्त्वक् शरीरं प्रतिबिम्बरूपेण तिष्ठति यासु ताः स्थ। वर्चसैवेति वर्चसा दीप्त्या अभिषिक्तवान् भवति। सूर्यत्वचसं सूर्यसमानतेजस्कं कृतवान् भवति। वरुण्याः स्थावरा आपो वरुणदेवत्याः। राजसूयमिति यदेष वरुणसवो वरुणाभिषेकः, वरुणोऽभिषिच्यते यस्मिन् सः, अतो वरुणदेवत्याभिः ह्रदगताभिरद्भिरभिषेकः कर्तव्य इति स्तुतिः। 'अथ या आतपति वर्षन्ति। ता गृह्णाति सूर्यवर्चस स्थ....सूर्यवर्चसमेवैनमेतत्करोति मेध्या वा एता आपो भवन्ति या आतपति वर्षन्त्यप्राप्ता हीमां भवन्त्यथैना गृह्णाति मेध्यमेवैनमेतत्करोति....' (श० ५।३।४।१३)। अथातपवर्ष्याग्रहणं विधत्ते—ता गृह्णातीति। सूर्ये आतपति सति या वर्षन्ति ता गृह्णीयात्। सूर्यवर्चस इति सूर्यदीप्तियुक्ताः, सूर्यतेजसा युक्तत्वात्। आतपवर्ष्या शुद्धा इत्यर्थः। तासां ग्रहणे विशेषं विधत्ते—अप्राप्ता हीति। इमां भूमिमप्राप्ताः, अर्थाद् भूमौ न पतिता भवन्ति, अथ तदानीमेव एना अपो गृह्णीयात्। 'अथ वैशन्तीर्गृह्णाति। मान्दाः स्थ राष्ट्रदा....विशमेवास्मा एतत्स्थावरामनपक्रमिणीं करोति' (श० ५।३।४।१५)। सरस्यानामपां ग्रहणं विधत्ते—अथ वैशन्तीरिति। वेशन्तोऽल्पसरस्तत्र भवा अपो गृह्णाति। मान्दाः प्रवाहाभावाद् मन्द-स्वभावाः, मान्दाभिरभिषेकेण अस्मै राज्ञे यजमानाय विशं प्रजां स्थावरां स्थिरामनपक्रमिणीं स्वाधीनां कृतवान् भवतीत्यर्थः। 'अथ कूप्या गृह्णाति। व्रजक्षितः स्थ राष्ट्रदा....तद्या इमां परेणापस्ता एवैतत् सम्भरत्यपामु चैव सर्वत्वाय तस्मादेताभिरभिषिञ्चति' (श० ५।३।४।१५)। कूप्यानामपां ग्रहणं विधत्ते—अथ कूप्या गृह्णातीति। कूपे भवाः कूप्याः। व्रजक्षितः स्थ। व्रज इति मेघनामसु पठितः (निघ० १।१०।११)। प्रकृते तूदकधारणसामर्थ्यात् कूपोऽभिधीयते। व्रजे कूपे क्षितो निवसन्त्य इमां भूमिं परेण भूमेरधस्ताद् विप्रकृष्टे देशे कूपे स्थिता अपो गृह्णीयात्। किमर्थं भूमिस्थितानामपां ग्रहणम् ? अपां सर्वत्वाय सर्वेषामुदकानां समष्ट्यै इति।

'अथ प्रुष्वा गृह्णाति। वाशा स्थः....ताभिरभिषिञ्चन्त्यन्नाद्येनैवैन....न्नेतद्दधातीदं वा असावादित्य उद्यन्नेव यथायमग्निर्निर्दहेदेवमोषधीरन्नाद्यं निर्दहति तदेता आपोऽभ्यवयत्यः शमयन्ति न ह वा इहान्नाद्यं परिशिष्येत यदेता आपो नाभ्यवेयुरन्नाद्येनैवैनमेतदभिषिञ्चति ....' (श० ५।३।४।१६)। नीहारोदकानां ग्रहणं विधत्ते—अथ प्रुष्वा इति। प्रुष्वा अवश्यायकणाः। हे आपः, वाशाः स्थ सर्वैः काम्यमाना भवथ। वश्या मनुष्यादिगतिं नदीप्रवाहवन्न प्रतिबध्नातीति वश्यत्वम्। प्रुष्वाणामन्नाद्यात्मकत्वमुपपादयति—अन्नाद्यमेवेति। उद्यन् अन्तरिक्षे दृश्यमान आदित्य इदमोषधिरूपमन्नाद्यं निर्दहति। अन्नं च तदाद्यं चेत्यन्नाद्यम्। तत्र दृष्टान्तः—यथायमग्निर्निर्दहेदेव-मिति। तत् तदा सस्यानामातपजातम्लानिसमयेऽवश्यायकणा अभ्यवयत्यः सिञ्चन्त्यः शमयन्त्याप्याययन्ति। यदेता आपो नीहाररूपा नाभ्यवेयुः, तदा न ह वा अन्नाद्यं परिशिष्येत। तस्मादोषधिवर्धनहेतुभूताभिः प्रुष्वाभि-रद्भिरभिषेकेण यजमानेऽन्नाद्यं निहितवान् भवति। 'अथ मधु गृह्णाति। शविष्ठा स्थ ....ताभिरभिषिञ्चत्यपां

तथा राष्ट्र को प्रदान करने वाले हैं, अतः मुझे राष्ट्र प्रदान करें। इसी प्रकार इस यज्ञकर्ता के लिये भी राष्ट्र प्रदान करें।

चैवैनमेतदोषधीनां च रसेनाभिषिञ्चति' (श० ५।३।४।१७)। हे मधु द्रवरूपा आपः, शविष्ठा बलवत्तमाः स्थ। एताभिर्मधुद्रवरूपाभिरद्भिरभिषेकेण अपां च ओषधीनां च रसेनाभिषिक्तवान् भवति, मधुनो द्वयात्मकत्वादित्यर्थः। 'अथ गोर्विजायमानाया उल्ब्या गृह्णाति। शक्वरी स्थ····ताभिरभिषिञ्चति पशुभिरेवैनमेतदभिषिञ्चति' (श० ५।३।४।१८)। विजायमानायाः प्रसूयमानाया गोरुल्बे गर्भवेष्टने भवा अपो गृह्णीयात्। हे तादृशा आपः, शक्वरीः गर्भरक्षणे शक्ताः, वाहदोहादिभिर्जगद्रक्षणे वा शक्ताः समर्थाः स्थ। पशुसम्बन्धिनीभिरेताभिरद्भिरभिषेकेण पशुभिरेनमभिषिञ्चति।

अथ पयसां ग्रहणं विधत्ते—जनभृत इति। हे क्षीरात्मका आपः, जनभृतो जनान् बिभ्रतीति जनभृतः स्थ, क्षीरेण प्राणिमात्रस्य पुष्यमाणत्वात्। 'अथ घृतं गृह्णाति। विश्वभृत स्थ····पशूनामेवैनमेतद्रसेनाभिषिञ्चति' (श० ५।३।४।२०)। घृतस्य ग्रहणं विधत्ते—अथ घृतं गृह्णातीति। घृतस्य पशुरसत्वं क्षीरादिद्वारा प्रसिद्धमेव। 'अथ मरीचीः। अञ्जलिना संगृह्यापिसृजत्यापः स्वराजः स्थ····एता वा आपः स्वराजो यन्मरीचयस्ता यत्स्यन्दन्त इवान्योन्यस्या एवैतच्छ्रिया अतिष्ठमाना उत्तराधरा इव भवन्त्यो यन्ति स्वाराज्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति·····' (श० ५।३।४।२१)। एतदेव सारस्वतवर्जं चतुर्गृहीतेनाज्येन पूर्वं हुत्वा हुत्वा पञ्चदशानामपां ग्रहणं विहितम्, अथान्तिमस्य जलस्य ग्रहणे विशेषं विधत्ते—अथ मरीचीरिति। मरीचीः रविकरतप्ता अपः। अञ्जलिपात्रेण संगृह्य गृहीत्वा अपिसृजति सर्वासु गृहीतास्वप्सु संसृजेदित्यर्थः। अत्र होमाभावात् स्वाहान्तः पूर्वो मन्त्रो न पठितः। ननु कथं मरीचीनामप्त्वेन परिगणनमिति तत्राह—ता यत्स्यन्दन्त इवेति। यद् यस्मात् ता मरीचयः स्यन्दन्त इव प्रवहन्तीव। इवशब्द उपमार्थः, साक्षात्प्रवहणाभावात्। यथा जलसङ्घा उपर्युपरिभावेन वर्तन्ते, तद्वदेता मरीचयोऽन्योन्यस्या मरीचेः श्रियै शोभायै अतिष्ठमानाः स्थातुमसहिष्णव उत्तराधरा इव भवन्त्यो यन्ति गच्छन्ति, अतो जलसाम्यादप्त्वेन परिगणनं युक्तमेव। मरीचीनां ग्रहणं स्वाराज्यहेतुत्वेन प्रशंसति—स्वाराज्यमिति।

'ता वा एताः। सप्तदशापः सम्भरति सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तस्मात् सप्तदशापः सम्भरति' (श० ५।३।४।२२)। सम्भृतानामपां सप्तदशसंख्यां प्रजापत्यात्मना स्तौति—सप्तदशो वै प्रजापतिरिति। प्रजापतेः सप्तदशत्वं प्रागुक्तम्। 'षोडश ता आपो या अभिजुहोति। षोडशाहुतीर्जुहोति ता द्वात्रिꣳशद् द्वयीषु न जुहोति सारस्वतीषु मरीचिषु च ताश्चतुस्त्रिꣳशत् त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिꣳशस्तदेनं प्रजापतिं करोति' (श० ५।३।४।२३)। अथोक्तानां सारस्वतीप्रभृतिमरीच्यन्तानामपामाहुतीनां च संख्यां समस्य प्रजापत्यात्मना प्रशंसति षोडश ता इति। ता ऊर्मिद्वयस्य विवेके षोडशसंख्याका भवन्ति। अन्यथा सारस्वतीमरीचिसंज्ञका अपोऽपहाय पञ्चदशैवावशिष्यन्ते। ऊर्मिद्वयविवेके तु आहुतयः षोडश। आहुतिभी रहिता सारस्वत्यो मरीचय इति द्वय्यः, षोडश आहुतयः षोडशापश्च। ताः सम्भूय चतुस्त्रिंशत् सम्पद्यन्ते। अथ चतुस्त्रिंशत्सम्पत्त्या चतुस्त्रिंशद्देवतात्मकं प्रजापतिमेव कृतवान् भवतीति तत्करणं प्रशस्तमित्यर्थः। 'अथ यद्धुत्वा हुत्वा गृह्णाति। वज्रो वा आज्यं वज्रेणैवैतदाज्येन स्पृत्वा स्पृत्वा स्वीकृत्य गृह्णाति' (श० ५।३।४।२४)। आज्यस्य वज्रात्मकत्वम् (श० १।५।३।४) इत्यस्यां कण्डिकायामुक्तम्। वज्ररूपेणाज्येन स्पृत्वा स्पृत्वा हिंसित्वा हिंसित्वा ततः स्वीकृत्य स्वाधीनं कृत्वा गृह्णानो भवति। यथा लोके राजादिः प्रबलं शत्रुप्रभृति जनं प्रथमं बाधित्वा पश्चात् स्वाधीनं करोति, तद्वद् हुत्वा हुत्वाऽपां ग्रहणं युक्तमेव।

'अथ यत्सारस्वतीषु न जुहोति। वाग् वै सरस्वती वज्र आज्यं नेद् वज्रेणाज्येन वाचꣳ हिनसानीति तस्मात् सारस्वतीषु न जुहोति' (श० ५।३।४।२५)। सारस्वतीषु मरीचिषु च होमाभावे कारणमाह—वाग् वै

मधुर रस से युक्त ये जलधाराएँ अन्य मधुर जलधाराओं से संयुक्त हों। हे क्षत्रिय राजा के लिये महान् बल को प्रदान करती

सरस्वतीति। सरस्वत्या वाक्त्वेन वाचो वज्रेण हिंसा मा भूदिति न होतव्यम्। 'अथ यन्मरीचिषु न जुहोति। नेदनद्धेवैतामाहुतिं जुहवानीति तस्मान्मरीचिषु न जुहोति' (श० ५।३।४।२६)। मरीचिष्वपि अनद्धा अस्थाने तासां होमाधिकरणत्वासम्भवान्न होतव्यमिति। नेदिति निपातः परिभये (निरु० १।३)। 'ताः सार्धमौदुम्बरे पात्रे समवनयति। मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तामिति रसवती रसवतीभिः पृच्यन्तामित्येवैतदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना इति तत् परोक्षं क्षत्रं यजमानायाशिषमाशास्ते यदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना इति' (श० ५।३।४।२७)। पृथक् पृथक् पात्रे गृहीता आपः सार्धं सम्भूयैकस्मिन् पात्रे समवनयति, आसिञ्चेदित्यर्थः। मधुमतीः मधुमत्यो मधुररसवत्य आपो मधुमतीभिरद्भिः सम्पृच्यन्ताम्, 'पृची सम्पर्के'। महि महत्, एतत् क्षत्रं बलं क्षत्रियकुलं वा क्षत्रियाय यजमानाय वन्वाना दातुं याचमानाः कामयमाना इति। मन्त्रमनूद्य व्याचष्टे—मधुमतीरिति। महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना इति यदाह तत् तेन यजमानाय परोक्षं क्षत्रमाशासितवान् भवतीति। क्षत्रियायेति तात्स्थाभिधानाद् वन्वाना इति याचनाभिधानाद्वा आशिषः परोक्षत्वम्। 'ता अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यꣳ सादयति। अनाधृष्टाः सीदत सहौजस इत्यनाधृष्टाः सीदत रक्षोभिरित्येवैतदाह····महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीरिति तत्प्रत्यक्षं क्षत्रं यजमानायाशिषमाशास्ते यदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीरिति' (श० ५।३।४।२८) संसृष्टानामपां मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरोदेशे सादनं समन्त्रकं विधत्ते—ता अग्रेणेति। हे आपः, अनाधृष्टा रक्षोभिरबाधिताः सहौजस ओजसा बलेन सहिता महि महत् क्षत्रं बलं क्षत्रियत्वं वा क्षत्रियाय दधतीरिति प्रदानस्य साक्षादुक्तेः प्रत्यक्षत्वमाशिषः, सीदतेति मध्यमपुरुषप्रयोगाद्वेति।

अध्यात्मपक्षे—आचार्यः शिष्यस्याभिषेकार्थं पूर्वोक्तवद्धोमपूर्वकं तास्ता अपो गृह्णाति। ततः पूर्वोक्ता एव मन्त्रार्थाः।

स्वामिदयानन्दस्तु—'हे राजपुरुषाः, यूयं सूर्यत्वचसः सूर्यस्य त्वचः संवार इव त्वचो येषां ते तथोक्ताः सन्तो न्यायेन राष्ट्रदाः, तस्मान्मे राष्ट्रं दत्त। हे मनुष्याः, यतः सूर्यत्वचसो यूयं राष्ट्रदाः, अतोऽमुष्मै विद्यया सूर्यवत्प्रकाशमानाय राज्यं दत्त। हे विद्वांसः, सूर्यवर्चसः सूर्यप्रकाशवद्विद्याया अध्येतारो यूयं स्वाहा सत्यया वाचा राष्ट्रदा राज्यदातारः, अतो मे मह्यं तेजस्विने राज्यं दत्त, यतः सूर्यवर्चसस्तस्मादमुष्मै प्रकाशमानाय राष्ट्रं दत्त। हे मान्दा मनुष्याणामानन्ददातारः, स्वाहा सत्यवाग्भिर्मे राष्ट्रं दत्त। अमुष्मै सुखदात्रे राष्ट्रं दत्त। व्रजक्षितो गोष्ठेषु निवसन्तो यूयं तस्मात् स्वाहा सत्यक्रियाभी राष्ट्रदा मह्यं पशुरक्षकाय राष्ट्रं दत्त। अमुष्मै गवादिपशुरक्षकाय राष्ट्रं दत्त। वाशाः कामयन्तो यूयं स्वाहा सत्यनीत्या राष्ट्रदा मह्यमिच्छायुक्ताय राष्ट्रं दत्त। हे वाशाः, यूयं अमुष्मै तादृशाय राष्ट्रं दत्त। तथैव शविष्ठा बलवन्तः सत्यपुरुषार्थेन राष्ट्रदा मह्यं बलवते राष्ट्रं दत्त, अमुष्मै च राज्यं दत्त। शक्वरीः सामर्थ्यवत्यः सत्यपुरुषार्थेन राष्ट्रदा मे राष्ट्रं दत्त अमुष्मै च राज्यं दत्त। जनभृतः श्रेष्ठानां मनुष्याणां पोषयित्र्यः स्वाहा सत्यकर्मभी राष्ट्रदाः श्रेष्ठगुणयुक्ताय मह्यं राष्ट्रं दत्त, अमुष्मै सत्यप्रियाय राज्यं दत्त। हे सभाध्यक्षादिराजपुरुषाः, यूयं विश्वभृतः संसारस्य पोषकाः

हुई जलधाराओं ! आप लोग अपराजित बल से युक्त होकर यजमान के लिये महान् बल देती हुई अवस्थित रहें।

अध्यात्मपक्ष में भी गुरु शिष्य के अभिषेक के लिये पूर्वोक्त हवनपूर्वक तत्तद् जलों का ग्रहण करता है। अतः पूर्वोक्त प्रकार का मन्त्रार्थ ही संगत है।

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ निर्मूल तथा असम्बद्ध होने के कारण असंगत है। राजपुरुष तथा दूसरे भी तत्तत् जन राष्ट्र देने में कैसे समर्थ होंगे ? एक ही राष्ट्र मुझे तथा दूसरे को, दोनों को कैसे दिया जा सकता है ? 'मे' तथा 'अमुष्मै' इन शब्दों के विभिन्न अर्थ कैसे सम्भव हैं ? यह भी विचारणीय है। श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोध तो

स्वाहा सत्यवाण्या राष्ट्रदा मे सर्वपोषकाय राष्ट्रं दत्त, अमुष्मै तथाविधाय राज्यं दत्त। स्वराज्येनैव प्रकाशमाना यूयं मे दत्त, अमुष्मै दत्त। हे सत्स्त्रियः, क्षत्रियाय महि पूजायोग्यं राज्यं वन्वानाः कामयन्त्यः सहौजसः पराक्रमयुक्तेभ्यो राजन्येभ्यो महि महत् क्षत्रं राज्यं दधतीर्दधत्योऽनाधृष्टाः शत्रुभिरनभिभूता मधुमतीर् मधुररसवतीरोषधीर् मधुमतीभिर्मधुरादिगुणयुक्तैर्वसन्तादिभिर्ऋतुसुखैः पृच्यन्तां साध्यन्ताम्। हे सज्जनपुरुषाः, यूयं तादृशीर्योषितः सीदत प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलत्वादसम्बद्धत्वाच्च। राजपुरुषा अन्ये च ते ते कथं राष्ट्रं दातुं प्रभवेयुः। एकमेव राष्ट्रं मह्यममुष्मै च कथं दातुं शक्यते? 'मे'-'अमुष्मै' इति पदयोः कथं ते ते विलक्षणा अर्थाः सम्भवन्तीति चिन्त्यम्। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वोक्तसिद्धान्तव्याख्यानेन स्पष्ट एव। सिद्धान्ते तु 'मे' अध्वर्यवे, 'अमुष्मै' यजमानाय दत्तेति तत्तच्छक्तिविशिष्टास्तत्तदधिष्ठात्र्यो देवताः प्रार्थ्यन्ते, ऋत्विक्प्रार्थनाऽपि यजमानगा भवति, क्रीतत्वात्॥ ४॥

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्। अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॑ सवि॒त्रे स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॑ पू॒ष्णे स्वाहा॑ बृह॒स्पत॑ये॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॒ घोषा॑य॒ स्वाहा॒ श्लोका॑य॒ स्वाहा॒ अꣳशा॑य॒ स्वाहा॒ भगा॑य॒ स्वाहा॒र्य॒म्णे स्वाहा॑॥ ५॥

'मरुत्वतीयान्ते पात्राणि पूर्वेण व्याघ्रचर्मास्तृणाति सोमस्य त्विषिरिति' (का० श्रौ० १५।५।१)। मरुत्वतीयग्रहग्रहणान्ते माहेन्द्रग्रहग्रहणात् पूर्वं मैत्रावरुणधिष्ण्याग्रासादितपालाशौदुम्बरनैयग्रोधवाटाश्वत्थानि पात्राणि तूष्णीमासाद्यन्ते। तेषु पालाशादिचतुष्टयस्य पुरस्ताद् व्याघ्रचर्मास्तृणाति सोमस्य त्विषिरित्यादि-मन्त्रेण। चर्मदेवत्यं यजुः। हे व्याघ्रचर्म, त्वं सोमस्य त्विषिर्दीप्तिरसि, अतस्तवेव त्वत्सदृशी मे मम त्विषिः कान्तिर्भूयात्। 'पार्थानामग्नये स्वाहेति षड् जुहोति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।५।३)। पार्थसंज्ञकानां होमानां मध्ये सकृद्गृहीतेनाज्येन षडाहुतीर्जुहोति। 'अग्नये' इत्यादीनि षट् पार्थान्यभिषेकादौ जुहोति, इन्द्रायेत्यादि षड् अभिषेकान्ते जुहोति। लिङ्गोक्तानि द्वादश यजूंषि। अङ्गतीत्यग्निस्तस्मै देवाय स्वाहा सुहुतमस्तु। सुनोतीति सोमः, सूते सुवति (प्रेरयति) वेति सविता, सरः शब्दः प्रवाहो यस्याः सा सरस्वती, पूष्णातीति पूषा, बृहतां साम्नां पतिर्बृहस्पतिः, इन्दति ईष्टे यः स इन्द्रः, घुष्यति शब्दं करोति यः स घोषः, श्लोक्यते

स्पष्ट ही है। हमारे सिद्धान्त में तो 'मे' का अर्थ अध्वर्यु के लिये तथा 'अमुष्मै' का अर्थ यजमान के लिये दीजिये, इस प्रकार उन उन शक्तियों से युक्त तत्तत् अधिष्ठातृदेवताओं की प्रार्थना की जाती है। ऋत्विक् की प्रार्थना भी यजमान के लिये ही फलप्रद होती है, क्योंकि वह दक्षिणा द्वारा गृहीत प्रतिनिधि है॥ ४॥

मन्त्रार्थ—हे चर्म! तुम सोमदेव की कान्ति रूप हो, तुम्हारी कान्ति मुझे मिल जाय। अग्नि देवता की प्रीति के लिये यह आहुति दी जा रही है, यह भली प्रकार गृहीत हो। प्रेरक सोम देवता के लिये, सविता देवता के लिये, प्रवाह रूप सरस्वती देवी के लिये, पोषक पूषा देवता के लिये, बृहस्पति के लिये यह आहुति दी जाती है, यह भली प्रकार स्वीकार हो। इन्द्रदेवता की प्रीति के लिये, शब्द करने वाले देवता के लिये, जनों से कीर्तित परस्पर आन्दोलित रूप के लिये, पुण्य-पाप का विभाग करने वाले के लिये, ऐश्वर्य के लिये और विश्व को व्याप्त करने वाले अर्यमा देवता के लिये यह आहुति दी जा रही है। यह भली प्रकार गृहीत हो॥ ५॥

भाष्यसार— कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।१,३) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'सोमस्य

कीर्त्यते जनैरिति श्लोकः, अंशयति विभाजयति पुण्यपापे तत्तत्फलदानेनेत्यंशः, 'अंश विभाजने' इति धातुः, भज्यते सेव्यते यः स भगः, इयर्ति व्याप्नोति विश्वमित्यर्यमा, एतेभ्यो देवेभ्यः सुहुतमस्तु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'तं वै माध्यन्दिने सवनेऽभिषिञ्चति । एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते ... तदेनं मध्यत एवैतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति' (श० ५।३।५।१)। यजमानाभिषेकं सकालं विधत्ते— तं वा इति । तं प्रशंसति—एष वै प्रजापतिरिति । माध्यन्दिनसवने क्रियमाणेनाभिषेकेणैनं मध्यत एव यज्ञरूपप्रजापतिमध्य एव निहितवान् भवति । मध्यतो मध्ये सुवति प्रेरयत्यध्वर्युः । 'अगृहीते माहेन्द्रे । एष वा इन्द्रस्य निष्केवल्यो ग्रहो यन्माहेन्द्रोऽप्यस्यैतन्निष्केवल्यमेव स्तोत्रं निष्केवल्यꣳ शस्त्रमिन्द्रो वै यजमानस्तदेनꣳ स्व एवायतनेऽभिषिञ्चति' (श० ५।३।५।२)। कालविशेषं विधत्ते—अगृहीत इति । माहेन्द्रे ग्रहेऽगृहीते सोमरसेनापूर्णे मरुत्वतीयान्त इत्यर्थः । यजमानाभिषेकं स्वायतननिधानरूपेण प्रशंसति इन्द्रो वा इति । 'अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यम् । शार्दूलचर्मोपस्तृणाति सोमस्य त्विषिरसीति यत्र वै सोम इन्द्रमत्यपवत स यत्ततः शार्दूलः समभवत्तेन सोमस्य त्विषिस्तस्मादाह सोमस्य त्विषिरसीति तवेव मे त्विषिर्भूयादिति शार्दूलत्विषिमेवास्मिन्नेतद्दधाति तस्मादाह तवेव मे त्विषिर्भूयादिति' (श० ५।३।५।३)। तदिदं क्रमेण विधित्सुर्व्याघ्रचर्मास्तरणं समन्त्रकं विधत्ते—अग्रेणेति । शार्दूलस्य सोमत्विषित्वमाख्यायिकामुखेनोपपादयति—अत्र वै सोम इति । पूर्वमिन्द्रेण पीयमानः सोमस्तमत्यपवत शरीरादधो निरगच्छत् । स सोमो यदा अत्यपवत ततः सोऽतिपवितः सोमः शार्दूलः सम्भूतवान् । तस्मात् शार्दूलस्य सोमकार्यत्वात् तदीयत्वचः सोमत्विषित्वम् । एतद् एतेन मन्त्रभागकृतेन अस्मिन् यजमाने शार्दूलदीप्तिमेव निहितवान् भवति ।

'अथ पार्थानि जुहोति । पृथी ह वै वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे सोऽकामयत सर्वमन्नाद्यमवरुन्धीयेति तस्मा एतान्यजुहवुः स इदꣳ सर्वमन्नाद्यमवरुरुधेऽपि ह स्मास्मा आरण्यान् पशूनभिह्वयन्त्यसावेहि राजा त्वा पक्ष्यत इति तथेदꣳ सर्वमन्नाद्य....मवरुन्धे यस्यैवं विदुष एतानि हूयन्ते' (श० ५।३।५।४)। अथाभिषेकस्य पुरस्तात् पश्चाच्च क्रियमाणान् पार्थहोमान् विधत्ते -अथ पार्थानीति । पार्थानि पृथिनाऽनुष्ठितानि । एतेषां पृथिसम्बन्धं दर्शयति—पृथी ह वा इति । वैन्यो वेनो नाम राजा, तस्य पुत्रः पृथी नाम मनुष्येषु प्रथमोऽभिषिक्तः । सोऽकामयत सर्वमन्नाद्यमवरुन्धीय स्वाधीनं कुर्याम् । तस्मै पृथय एतानि पार्थान्यजुहवुरध्वर्यवः । ततः स राजा इदं सर्वमन्नाद्यमवरुरुधे स्वाधीनं कृतवान् । सर्वान्नावरोधकत्वं दर्शयति—सर्वमित्यादि । अपि खल्वस्मै आरण्यान् पशूनभिह्वयन्ति । किमसौ ? हे पशो, एहि राजा त्वां पक्ष्यत भोक्तुं पक्वं करिष्यति । सोऽपि पशुस्तद्वचः श्रुत्वा तत्समीपं स्वयमेवागच्छति । एवं विदुषोऽद्यतनस्य विदुषो ग्रामारण्यस्य भक्षणस्य सर्वस्यावरोधो भवतीत्यनुष्ठानफलमाह—'तानि वै द्वादश भवन्ति । द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य तस्माद् द्वादश भवन्ति' (श० ५।३।५।५), 'षट् पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति । षडुपरिष्टादेनं मध्यत एवैतस्य प्रजापतेर्दधाति मध्यतः सुवति' (श० ५।३।५६), 'स यानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति । बृहस्पतिस्तेषामुत्तमो भवत्यथ यान्युपरिष्टादभिषेकस्य जुहोतीन्द्रस्तेषां प्रथमो भवति ब्रह्म वै बृहस्पतिरिन्द्रियं वीर्यमिन्द्र एताभ्यामेवैनमेतद्वीर्याभ्यामुभयतः परिबृꣳहति' (श० ५।३।५।७)। एतेषां संख्यां विधत्ते—तानि वै द्वादशेति । तां संवत्सरात्मना प्रशंसति—द्वादश वै मासा इति । एतेषां हवनकालं विधत्ते—षट् पुरस्तादभिषेकस्येति । द्वादशपदार्थानां मध्ये पूर्वषट्कस्यान्ते बृहस्पतये स्वाहा इति पठ्यते । उत्तरषट्कस्यादौ इन्द्राय स्वाहेति । तयोरुभयोर्मध्येऽभिषेकेण यजमानं ब्रह्मक्षत्रवीर्याभ्यामुभयतः संवर्धितवान् भवतीत्यर्थः ।

त्विषिः' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों के द्वारा व्याघ्र के चर्म को बिछाया जाता है तथा पार्थसंज्ञक आहुतियाँ प्रदान की

'स जुहोति । यानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहोत्यग्नये स्वाहेति तेजो वा अग्निस्तेजसैवैनमेतमभिषिञ्चति सोमाय स्वाहेति क्षत्रं वै सोमः क्षत्रेणैवैनमेतमभिषिञ्चति सवित्रे स्वाहेति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूत एवैनमेतदभिषिञ्चति सरस्वत्यै स्वाहेति वाग् वै सरस्वती वाचैवैनमेतदभिषिञ्चति ' बृहस्पतये स्वाहेति ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनमेतदभिषिञ्चत्येतानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति तान्येतान्यग्निनामानीत्याचक्षते' (श० ५।३।५।८)। होममनूद्य मन्त्रान् विधत्ते—अग्नये स्वाहेति । तत्रैकैकमनूद्य स्तौति—तेजो वेत्यादि । स्पष्टोऽर्थः । सोमादिपदानां देवतान्तरवाचकत्वं व्युदस्यति—तान्येतान्यग्निनामानीति । अग्नेः सर्वदेवतात्मकत्वात् । 'अथ जुहोति । यान्युपरिष्टादभिषेकस्य जुहोतीन्द्राय स्वाहेति वीर्यं वा इन्द्रो वीर्येणैवैनमेतदभिषिञ्चति घोषाय स्वाहेति वीर्यं वै घोषः ''श्लोकाय स्वाहेति वीर्यं वै श्लोकः'' अꣳशाय स्वाहेति वीर्यं वा अꣳशो'' भगाय स्वाहेति वीर्यं वै भगः ''तदेनमस्य सर्वस्यार्यमणं करोत्येतान्युपरिष्टादभिषेकस्य जुहोति तान्येतान्यादित्यनामानीत्याचक्षते' (श० ५।३।५।९)। इन्द्रादयः शब्दा आदित्यस्यैव मूर्तिभेदेनावस्थितस्य नामानि । पूर्वमग्निवाचकैर्नामभिर्होमेन भूलोके यजमानं निहितवान् भवति, अन्तत आदित्यवाचकैर्नामभिर्होमेन स्वर्गलोकेऽवस्थापितवान् भवति ।

अध्यात्मपक्षे शिष्य आह—हे आचार्य, त्वं सोमस्य साम्बशिवस्य त्विषिः प्रकाशरूपोऽसि । अतस्तवेव त्वत्प्रसादान्ममापि सा त्विषिर्भूयात् । तदर्थमहमग्नये पापदाहायाग्निरूपाय परमात्मने स्वाहा दिव्यं हविरर्पयामि । सोमाय चन्द्ररूपापन्नाय, सवित्रे सूर्यरूपाय, सरस्वत्यै सरस्वतीरूपाय, एवं पूषादिरूपाय परमात्मने स्वाहा दिव्यं हविरर्पयामि । यद्वा अग्नये सर्वस्याग्रे नयनकर्त्रे परमात्मने सोमाय साम्बसदाशिवाय, सवित्रे जगदुत्पादकाय परमात्मने, सरस्वत्यै सरतीति सरो ज्ञानं तदस्त्यस्यामिति सरस्वती चिद्रूपिणी भगवती तस्यै, पूष्णे पुष्णाति सर्वं जगदिति पूषा तस्मै परमात्मने, बृहस्पतये बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः, बृहतां वा पतिर्बृहस्पतिस्तस्मै वेदाश्रयाय वेदवेद्याय च परमात्मने, इन्द्राय परमैश्वर्याय परमात्मने, घोषाय शब्दब्रह्मरूपाय, श्लोकाय श्लोक्यते सर्वैरपि स्तूयत इति श्लोकस्तस्मै, अंशाय अंशयति विभाजयति पुण्यपापे फलदानेनेत्यंशः परमात्मा तस्मै, भगाय भज्यते सेव्यते सर्वैरिति भगस्तस्मै दिव्यं हविरर्पयामि । अर्यमणम् इयर्ति व्याप्नोति विश्वमित्यर्यमा तमिति व्युत्पत्तिरपि परमात्मपक्ष एव घटते ।

दयानन्दस्तु—हे राजन्, यथा त्वं सोमस्य ऐश्वर्यस्य त्विषिर्ज्योतिरसि तथाहमपि भवेयम्, यतस्तवेव मे त्विषिर्विज्ञानप्रकाशो भूयात् । यथा भवताग्नये विद्युदादये स्वाहा सत्यवाक् प्रियाचरणयुक्ता, सोमाय औषधविज्ञानाय स्वाहा वैद्यकपुरुषार्थविद्या, सवित्रे सूर्यविज्ञानाय स्वाहा ज्योतिर्विद्या, सरस्वत्यै वेदार्थसुशिक्षा-

---

जाती हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है - शिष्य कहता है कि हे आचार्य, आप साम्ब सदाशिव के प्रकाशमान स्वरूप हैं । अतः आपकी कृपा से मुझमें भी आपकी भाँति वह प्रकाश हो । एतदर्थ मैं पापों को जलाने में अग्निरूपी परमात्मा के लिये दिव्य हवि समर्पित करता हूँ । चन्द्ररूपी, सूर्यरूपी, सरस्वतीरूपी तथा पूषादिरूपी परमात्मा के लिये दिव्य हवि समर्पित करता हूँ । अथवा सबको आगे ले जाने वाले साम्ब सदाशिव जगत् के उत्पादक परमात्मा के लिये, ज्ञानाधिष्ठात्री चिद्रूपिणी भगवती के लिये, सबके पोषक, वेदवाणी के पालक, वेदाश्रय, वेदवेद्य, परमैश्वर्यशाली, शब्दब्रह्मरूपी, सबके द्वारा संस्तुत, पुण्य तथा पाप के फलों को विभाजित कर प्रदान करने वाले, सबके द्वारा सेवनीय परमात्मा के लिये दिव्य हवि समर्पित करता हूँ । 'विश्व को व्याप्त करता है' इस प्रकार की अर्यमा शब्द की व्युत्पत्ति भी परमात्मा के पक्ष में घटित होती है ।

स्वामी दयानन्द का अर्थव्याख्यान मुख्य अर्थ को छोड़कर अत्यन्त दूरवर्ती तथा काल्पनिक अर्थ को ग्रहण करने के

विज्ञापिकायै वाचे स्वाहा व्याकरणाद्यङ्गविद्या, पूष्णे पशुपालनाय स्वाहा योगव्यवहारविद्या, बृहस्पतये प्रकृत्यादीनां पत्युरीश्वरस्य विज्ञानाय स्वाहा ब्रह्मविद्या, इन्द्राय इन्द्रियाधिष्ठातुर्जीवस्य विज्ञानाय स्वाहा विवेकविद्या, घोषाय सत्यप्रियभाषणादियुक्तायै वाण्यै स्वाहा तथ्योपदेशे वक्तृत्वविद्या, श्लोकाय तत्त्वसंघातमककाव्यगद्यपद्यछन्दोनिर्माणादिविज्ञानाय स्वाहा तत्त्वकाव्यशास्त्रादिविद्या, अंशाय परमाण्ववगमाय स्वाहा सूक्ष्मपदार्थविद्या, भगाय ऐश्वर्याय स्वाहा पुरुषार्थविद्या, अर्यम्णे न्यायाधीशत्वाय स्वाहा राजनीतिविद्या गृह्यते, तथा मयापि गृह्येत' इति, तदपि निरर्थकमेव, मुख्यार्थत्यागेनातिविप्रकृष्टकाल्पनिकार्थग्रहणे मानाभावात्। सोमायेत्यस्यौषधविज्ञानाय स्वाहा वैद्यकपुरुषार्थविद्येत्यादिकं सर्वमपि व्याख्यानं निर्मूलमेव ॥ ५ ॥

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः ॥ ६ ॥

'पवित्रे कृत्वा हिरण्यमेनयोः प्रवयति' (का० श्रौ० १५।५।४)। पवित्रे स्थ इति प्रकृतिवत् पवित्रे कृत्वा तयोर्हिरण्यं बध्नाति। हे पवित्रे कुशद्वयरूपे, युवां वैष्णव्यौ वैष्णवौ, लिङ्गव्यत्ययः, यद्वा यज्ञसम्बन्धिन्यौ कुशनाड्यौ, यज्ञरूपस्य विष्णोः सम्बन्धिनौ स्थो भवथः। 'ताभ्यामुत्पुनात्यपः सवितुर्व इति' (का० श्रौ० १५।५।४)। मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्तादासादिता औदुम्बरपात्रस्था अभिषेकार्था अप उत्पुनाति सवितुरित्यादिमन्त्रेण सहिरण्याभ्यां दर्भपवित्राभ्यामुत्पुनात्यध्वर्युः। अब्देवत्यं यजुः। सवितुः सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य प्रसवेऽभ्यनुज्ञायां वर्तमानोऽहमच्छिद्रेण निर्दोषेण समीचीनेन पवित्रेण सूर्यस्य भगवतः सवितुः रश्मिभिर्मयूखैश्च हे आपः, वो युष्मान् उत्पुनामि उत्पवनं शोधनं करोमि। अनिभृष्टमसि। मन्त्रावयवा एकवचनान्ताः शतपथश्रुत्या बहुवचनान्ततया व्याख्याताः, अतः श्रुत्यनुसारेणैव व्याख्यानं युक्तम्। आपोऽत्राभिधेयाः। हे आपः! यूयमनिभृष्टाः स्थ, भ्रस्ज पाके' इत्ययं धातुर्धृष्ट्यर्थे व्याख्यातः। अनिधृष्टा न नितरां धृष्टा अनाधृष्टा अपराभूता रक्षोभिः, मन्त्ररीत्या तु यवादिवद् वह्निसंयोगेऽपि न नितरां भृष्टं न विनश्यतीति यावत्। वाचो बन्धुर्वाण्या बन्धुभूताः, वाग्व्यवहारस्य कारणम्। 'यावद्वै प्राणेष्वापो भवन्ति तावद्वाचा वदति। आपोमयी वाक्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। तपोजाः तपसः सन्तापवतोऽग्नेर्जातास्तपोजाः। 'अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते' (श० ५।३।५।१७) इति श्रुतेः, 'अग्नेरापः' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतेश्च। सोमस्य दात्रमसि दात्र्य आपो भवथ, दात्रसाधनं भवसीति वा। 'यदा वा एनमेताभिरभिषुण्वन्त्यथाहुतिर्भवति' (श० ५।३।५।१८)। स्वाहा राजस्वः स्वाहाकारेण पूताः सत्यो राजस्वो जनस्य राजानं सुवते जनयन्तीति तथोक्ताः।

कारण प्रमाण के अभाव से निरर्थक ही है। 'सोमाय' का अर्थ 'औषधिविज्ञान के लिये' करना और वैद्यक पुरुषार्थ विद्या इत्यादि का व्याख्यान द्वारा निरूपित करना अप्रामाणिक ही है ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे पवित्र कुशद्वय! तुम यज्ञ-कार्य में नियुक्त हो। जगत् के एकमात्र नियन्ता इस परम देवता की आज्ञा से प्रेरित होकर छिद्रशून्य पवित्र द्वारा सूर्य की किरणों से तुम्हारा उत्पवन (सिंचन) करता हूँ। हे जल देवता! तुम राक्षसों से कभी पराभूत न होने वाले और वाणी के प्रिय बन्धु हो, तेज से समुत्पन्न सोम के उत्पादक हो। स्वाहाकार से पवित्र हुए तुम इस यजमान को राज्यश्री से सुशोभित करो ॥ ६ ॥

भाष्यसार—'पवित्रे स्थः' इस कण्डिका के मन्त्रों से याज्ञिक प्रक्रिया में कुशपवित्रों का निर्माण, उनमें स्वर्णबन्धन

'अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यम् । अभिषेचनीयानि पात्राणि भवन्ति यत्रैता आपोऽभिषेचनीया भवन्ति' (श० ५।३।५।१०)। अभिषेचनीयानां पात्राणामासादनप्रदेशं विधत्ते—अग्रेणेति । अभिषेचनीयशब्दं निर्वक्ति—यत्रेति । यत्र तेषु विहिताः सप्तदश आपोऽभिषेचनीया अभिषेक्तव्या आसिच्यमाना भवन्ति, तान्यभिषेचनीयानि । 'पालाशं भवति । तेन ब्राह्मणोऽभिषिञ्चति ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैवैनमेतदभिषिञ्चति' (श० ५।३।५।११) । तानि पात्राण्यभिषेक्तृविशेषसहितानि क्रमेण विधत्ते—पालाशमिति । पालाशं पलाशशाखानिर्मितमेकं पात्रम्, तेन पात्रेण ब्राह्मणो यजमानमभिषिञ्चेत् । पालाशेन ब्राह्मणकर्तृकयजमानाभिषेककरणे कारणमाह—ब्रह्म वै पलाश इति । वृक्षेषु ब्राह्मणजातिः पलाशः, पालाशपात्रेणाभिषेके ब्रह्मणैवाभिषेकं कृतवान् भवति । 'औदुम्बरं भवति । तेन स्वोऽभिषिञ्चत्यन्नं वा ऊर्गुदुम्बर ऊर्ग्वै स्वं यावद्वै पुरुषस्य स्वं भवति नैव तावदशनायति तेनोर्क् स्वं तस्मादौदुम्बरेण स्वोऽभिषिञ्चति' (श० ५।३।५।१२) । उदुम्बरनिर्मितं पात्रं द्वितीयम् । तेन पात्रेण स्वो ज्ञातिर्भ्राताऽभिषेकं कुर्यात् । तत्रोपपत्तिः—अन्नं वा ऊर्गिति, उदुम्बरस्यान्नसाधनत्वात् । अन्नमेव पुरुषस्य स्वं धनं यतोऽतोऽस्य पुरुषस्य यावत् स्वं भवति, तावन्नाशनायति क्षुधितो न भवति, धनस्य विद्यमानत्वात् । अतोऽन्नस्य स्वत्वादन्नसाधनेनौदुम्बरपात्रेण स्वो ज्ञातिर्भ्राता एवाभिषिञ्चेत् । 'नैयग्रोधपादं भवति । तेन मित्र्यो राजन्योऽभिषिञ्चति पद्भिर्वै न्यग्रोधः प्रतिष्ठितो मित्रेण वै राजन्यः प्रतिष्ठितस्तस्मान्नैयग्रोधपादेन मित्र्यो राजन्योऽभिषिञ्चति' (श० ५।३।५।१३) । तृतीयं नैयग्रोधपादम् । न्यग्रोधो वटः, तस्य पादः शाखावरोहः, तेन निर्मितं नैयग्रोधपादं पात्रम् । तेन मित्र्यः सखिकर्मणि साधुः सखा राजन्योऽभिषिञ्चेत् । तत्र हेतुमाह—पद्भिर्वै न्यग्रोध इति । न्यग्रोधस्य पादैरेव प्रतिष्ठा दृश्यते । राजापि हितोपदेशकैराप्तैः सखिभिरेव प्रतिष्ठितो भवति, नान्यथा । तस्मात्तेन पात्रेण मित्रकर्तृकमभिषेककरणं युक्तमेव । 'आश्वत्थं भवति । तेन वैश्योऽभिषिञ्चति स यदेवादोऽश्वत्थे तिष्ठत इन्द्रो मरुत उपामन्त्रयत तस्मादाश्वत्थेन वैश्योऽभिषिञ्चत्येतान्यभिषेचनीयानि पात्राणि भवन्ति' (श० ५।३।५।१४) । आश्वत्थमिति चतुर्थम् । आश्वत्थमश्वत्थनिर्मितम्, तेन वैश्योऽभिषिञ्चेत् । विड्रूपाणां मरुतामश्वत्थेऽवस्थानाद् वैश्यस्य तत्सम्बन्धः ।

'अथ पवित्रे करोति । पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति सोऽसावेव बन्धुस्तयोर्हिरण्यं प्रवयति ताभ्यामेता अभिषेचनीया अप उत्पुनाति तद्यद्धिरण्यं प्रवयत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदास्वमृतमायुर्दधाति तस्माद्धिरण्यं प्रवयति' (श० ५।३।५।१५) । पवित्रकरणं विधत्ते—अथ पवित्रे इति । वैष्णव्यौ विष्णुर्यज्ञस्तत्सम्बन्धिन्यौ दर्भनाड्यौ स्थो भवथः । दर्भनाड्योर्विष्णुसम्बन्धप्रतिपादकमर्थवादमतिदिशति—सोऽसावेव बन्धुरिति । असौ विप्रकृष्टदेशस्थः (श० १।१।३।१) इत्यत्र प्रथमकाण्डे समाम्नातः । तत्र ह्येवमाम्नातम्—'पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति । यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये स्थ इत्येवैतदाह' इति । तत्प्रशंसति—अमृतमिति । अमुम् अप्सु दधाति । तयोर्दर्भयोर्हिरण्यग्रथनं विधत्ते—तयोर्हिरण्यं प्रवयतीति । दर्भयोरिति सप्तमी । प्रवयति, 'वेञ् तन्तुसन्ताने', संग्रथ्नीयादित्यर्थः । ताभ्यामेता उक्ता अप उत्पुनीयात् । 'स उत्पुनाति । सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण····इत्यनाधृष्टा स्थ रक्षोभिरित्येवैतदाह यदाहानिभृष्टमसीति वाचो बन्धुरिति यावद्वै प्राणेष्वापो भवन्ति तावद्वाचा वदति तस्मादाह वाचो बन्धुरिति' (श० ५।३।५।१६) । उत्पवनमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—स उत्पुनातीति । हे उदक, अनिभृष्टम्, 'भ्रस्ज पाके' यवादिवद् वह्निसंयोगेऽपि न नितरां भृष्टम्, न विनश्यतीति यावत्, रक्षोभिर्वा न बाधितं भवति । सोमस्य दात्रमसि दाने साधनं भवति । उदकसम्बन्धादेव सोमरसनिष्पत्तिः, तादृशो रस एव हूयते, अतः सोमस्य दानसाधनभूता भवत । स्वाहाशब्दो न होमार्थः, मन्त्रान्ते पाठाभावात् । तथा च स्वाहाकारेण पूताः सन्तो राजानं

तथा उनके द्वारा उत्पवन किया जाता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।४) में प्रतिपादित है ।

सुवते जनयन्तीति राजस्वः। मन्त्रं भागशोऽनूद्य व्याख्यास्यन् सवितुर्व इति मन्त्रभागस्य प्रथमकाण्डे उत्पवनसमये समाम्नातमर्थवादब्राह्मणमतिदिशति—सोऽसावेव बन्धुरिति। तत्र ह्येवमाम्नातम्—'सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृप्रसूत एवैतदुत्पुनात्यच्छिद्रेण पवित्रेणेति यो वा अयं पवत एषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति एते वा उत्पवितारो यत्सूर्यस्य रश्मयस्तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिः' (श० १।१।३।६) इति। सामान्यविवक्षयैकवचनान्तत्वेन प्रयुक्तम्। अपां बहुत्वेन बहुवचनान्ततया व्याचष्टे—अनाधृष्टा स्थेति। अपां वाग्बन्धुत्वमुपपादयति -यावद्वा इति। यावद्वै प्राणेषु मुखनासिकादिष्वपां सद्भावस्तावत् पुरुषो वाचं वदति, तद्विरहे शुष्का जिह्वा शब्दानुच्चारयितुं न शक्नोतीत्यर्थः। 'तपोजा इति। अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति' (श० ५।३।५।१७)। अपां परम्परयाऽग्निजन्यत्वं दर्शयति—अग्नेर्वा इति। 'सोमस्य दात्रमसीति। यदा वा एनमेताभिरभिषुण्वन्त्यथाहुतिर्भवति तस्मादाह सोमस्य दात्रमसीति स्वाहा राजस्व इति तदेताः स्वाहाकारेणैवोत्पुनाति' (श० ५।३।५।१८)। यदा एनं सोममेताभिरद्भिरभिषुण्वन्ति अभिषवं कुर्वन्त्यध्वर्यवः, अथ आहुतिर्भवति। अन्यन्मन्त्रव्याख्यानेन व्याख्यातप्रायम्।

अध्यात्मपक्षे आचार्यो वक्ति—हे सांख्ययोगसाधकौ, युवां वैष्णव्यौ वैष्णवौ विष्णोः परमेश्वरस्य सम्बन्धिनौ स्थो भवथः, लिङ्गव्यत्ययः। सवितुः परमेश्वरस्याभ्यनुज्ञायां वर्तमानोऽहं युवामच्छिद्रेण छिद्ररहितेन समीचीनेन पवित्रेण ज्ञानेन सूर्यस्य भगवतः शमदमादिरूपै रश्मिभिः, उत्पुनामि उत्कृष्टतया शोधयामि। जीवजातं सम्बोध्य प्रोत्साहयति—भो जीवजात, त्वमनिभृष्टमसि, त्वं वह्निसंयोगेन यवादिवदविद्यादोषसंयोगेऽपि नितरां न भृष्टमसि, नित्यचैतन्यरूपत्वात्। वाचो वागुपलक्षितस्यान्तर्बाह्यसर्वकरणजातस्य बन्धुः बन्धुवत्पालकोऽसि। सोमस्य सोमोपलक्षितस्य सोमादियागसमूहस्य दात्रं निवर्तनशीलोऽसि। हे जीवात्मानः, यूयं तपोजाः परमेश्वरस्य तपसा सङ्कल्पेन प्रादुर्भूताः स्थ, स्वाहाकारेण सर्वस्यात्मनिवेदनेन राजमानाः स्वा आत्मानो येषां ते तथाभूताः स्थ, सर्वस्वत्यागेनाविर्भूतस्वप्रकाशब्रह्मरूपा भवथ। कर्माङ्गदर्भनाडीद्वयरूपेण तत्तदपां रूपेण च विवर्तमानस्य परमात्मन एव वा तत्तद्रूपेण स्तवनं तत्र सिद्धान्तपक्षीयव्याख्याने मन्तव्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे सभेश राजपुरुष, यतस्त्वं वाचो वेदवाण्या अनिभृष्टं भ्रष्टतारहिताचरणशीलस्य बन्धुर्भ्रातासि, सोमस्यौषधीनां दात्रमसि छेत्तासि, तपोजा ब्रह्मचर्यतपसा प्रसिद्धोऽसि, अतस्तवाज्ञया सवितुः प्रसूते

शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—गुरु कहता है कि हे सांख्ययोग के साधकों, आप दोनों परमेश्वर विष्णु से सम्बद्ध हैं। सविता परमेश्वर की आज्ञा में अवस्थित मैं आप दोनों को छिद्रविहीन श्रेष्ठ पवित्र ज्ञान से भगवान् सूर्य की शम, दम आदिरूपी रश्मियों से परिशुद्ध करता हूँ। गुरु समस्त जीवों को सम्बोधित करते हैं कि—हे जीवगण, जौ आदि अन्न जिस प्रकार अग्नि से सम्पृक्त होकर भुन जाते हैं, उसी प्रकार अविद्या दोष से सम्पृक्त होकर भी तुम भृष्ट नहीं होते हो, क्योंकि तुम नित्य चैतन्यस्वरूप हो, वाणी आदि सभी अन्तःकरण तथा बाह्य करणों के तुम बन्धु की भाँति पालक हो, सोम आदि समस्त यागों के सम्पादक हो। हे जीवात्मगण, तुम लोग परमेश्वर के संकल्प से उत्पन्न हो, सर्वस्व समर्पण के द्वारा सुशोभित स्वान्तरात्मा से युक्त हो, सर्वस्व त्याग के द्वारा स्वप्रकाश ब्रह्मरूपी हो।

यज्ञकर्म की अंगभूत कुशा के दो पत्रों तथा उनमें स्थित जल के रूप में प्रतिभासित परमात्मा की ही उन उन रूपों में स्तुति की गई है, यह याज्ञिक भाव सिद्धान्त पक्ष की व्याख्या में समझना चाहिये।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में मुख्यार्थ का बाध तथा दूरवर्ती गौण अर्थ का ग्रहण होने के कारण

जगति वैष्णव्यौ सर्वविद्यासुशिक्षाशुभगुणकर्मस्वभावव्यापिन्यौ पवित्रे शुभकर्माचरणशालिन्यौ युवां द्वे परीक्षणाध्ययनकारिण्यौ स्थः। हे अध्यापिकाः परीक्षिका अध्येत्र्यश्च स्त्रियः! यथाहं सवितुः प्रसवे सूर्यस्य रश्मिभिः किरणैरिवाच्छिद्रेण अविच्छिन्नेन निरन्तरेण पवित्रेण विद्यासुशिक्षाजितेन्द्रियब्रह्मचर्यादिभिः पवित्रीकारकेण व्यवहारेण वो युष्मान् उत्पुनामि उत्कृष्टतया पुनामि पवित्रीकरोमि, तथा यूयं स्वाहा राजस्वो भवत सत्क्रियया राजवीरप्रसविका भवत' इति, तदपि निरर्थकमाडम्बरमात्रम्, मुख्यार्थबाधविप्रकृष्टगौणार्थस्वीकाराभ्याम्। वैष्णव्याविति सर्वविद्यादिव्यापिन्यौ केचित् स्त्रियौ ग्राह्ये इति विचित्रैव बुद्धिः। व्यापकत्वं चात्र कीदृशम्? कथं च विद्यादिगुणेषु द्रव्यस्य जीवस्य व्यापकत्वमित्यपि चिन्त्यम्। न चाणुपरिमाणस्य जीवस्य त्वद्रीत्यापि व्यापकत्वं सम्भवति। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्पष्ट एव ॥ ६ ॥

सधमादो द्युम्निनीराप एता अनाधृष्टा अपस्यो वसानाः।
पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपाᳫं शिशुर्मातृतमास्वन्तः ॥ ७ ॥

'अभिषेचनीयेष्वेना व्यानयति सधमाद इति' (का० श्रौ० १५।५।५)। उत्पूता अभिषेकार्था आपोऽभिषेकार्थेषु पालाशौदुम्बरवाटाश्वत्थेषु पात्रेषु पूर्वासादितेषु चतुर्धा विभज्य निनयति। वरुणदेवत्याऽनुष्टुप्। सधमादः सह एकस्मिन् पात्रे माद्यन्ति हृष्यन्ति, माद्यन्ते प्रीणयन्ति वा यास्ताः सधमादः सह मादनशीलाः, यद्वा सह माद्यन्तीति सधमादः परस्परमनतिमानिन्यः, राजसूयाख्यं कर्म इच्छन्त्यो वा, 'सध मादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहस्य सधादेशः। द्युम्निनीः द्युम्निन्यो द्युम्नं वीर्यमस्ति यासां ताः, तेजोवत्यः, पूर्वसवर्णदीर्घः, वीर्यवत्यः। 'द्युम्नं द्योततेर्यशो वाऽन्नं वा' (निरु० ५।५)। एता या आपः सिञ्चन्ति, तास्वन्तर्मध्ये वरुणः सधस्थं सह स्थीयते यस्मिन् तत् सधस्थं सहस्थानं प्रतिष्ठां वा कृतवान्। कीदृश्य आपः? अनाधृष्टाः केनाप्यनभिभूताः, अपस्यः कर्मयोग्याः, सोमदुग्धदध्याद्यप्समवेतत्वादापः कर्माणि, तत्र योग्या अपस्यः, ताभिरेव कर्मसम्पत्तेः। अपसि कर्मणि साध्व्यः अपस्यः, 'अप इति कर्मनाम' (निघ० २।१।१)। वसते आच्छादयन्ति पात्राणीति वसाना आच्छादयन्त्यः, सोमात्मना कर्मात्मना तत्फलभूतलोकात्मना च सर्वमाच्छादयन्त्यः। कीदृशो वरुणः? अपां मातृस्थानीयानां शिशुः पुत्रः। राजसूयेऽद्भिरभिषिक्तत्वात् तज्जन्यत्वेन पुत्रत्वम्, 'अपां वा एष शिशुर्भवति यो राजसूयेन यजते' (श० ५।३।५।१९) इति श्रुतेः। कीदृशीषु तासु? पस्त्यासु गृहस्थानीयासु। पस्त्यमिति गृहनामसु, सर्वेषामाधारभूतत्वात्। यद्वा पस्त्यासु गृहावस्थितासु विक्षु प्रजास्विति, 'विशो वै पस्त्याः' (श० ५।३।५।१९)। तासु विक्षु प्रजासु वरुणः सधस्थं प्रतिष्ठां चक्रे कृतवान्। पुनः कीदृशीषु? मातृतमासु अतिशयेन जगतो निर्मात्रीषु।

वह निरर्थक आडम्बर ही है। 'वैष्णव्यौ' शब्द से सर्वविद्याव्यापिनी दो स्त्रियाँ समझनी चाहिये' यह विचित्र कल्पना है। इसमें व्यापकत्व कैसा होगा? विद्यादि गुणों में द्रव्यरूप जीव का व्यापकत्व कैसे होगा? यह भी विचारणीय ही है। उनके मत में अणु परिमाण वाले जीव का व्यापकत्व सम्भव नहीं है। श्रुति तथा सूत्रवाक्यों का विरोध तो स्पष्ट है ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—एक साथ चार पात्रों में स्थित, प्रसन्नता से भरे हुए, वीर्यवान्, अपराभूत, पात्रों का आच्छादन करने वाले ये जल देवता इस समय अभिषेक कार्य में नियुक्त हुए हैं। इस प्रकार सबको धारण करने में गृहरूप जगत् के निर्माता मातृरूप इन जलदेवियों के भीतर शिशुरूप में वरुण ने यजमान में सादर स्थिति की है ॥ ७ ॥

भाष्यसार—'सधमादः' इस ऋचा से अभिषेक के लिये जल को पलाश आदि के विभिन्न पात्रों में ग्रहण किया

अत्र ब्राह्मणम्—'ता एतेषु पात्रेषु व्यानयति । सधमादो द्युम्निनीराप एता इत्यनतिमानिन्य इत्येवैतदाह यदाह सधमाद इति द्युम्निनीराप इत्येता इति वीर्यवत्य इत्येवैतदाहानाधृष्टा अपस्यो वसाना इत्यनाधृष्टा स्थ रक्षोभिरित्येवैतदाह यदाहाऽनाधृष्टा अपस्यो वसाना इति पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमिति विशो वै पस्त्या विक्षु चक्रे वरुणः प्रतिष्ठामित्येवैतदाहापाᳩ शिशुर्मातृतमास्वन्तरित्यपां वा एव शिशुर्भवति यो राजसूयेन यजते तस्मादाहापाᳩ शिशुर्मातृतमास्वन्तरिति' (श० ५।३।५।१९) । एतेष्वभिषेचनीयेषु पात्रेषु, एता उक्ता अपो व्यानयति, आसिञ्चेदित्यर्थः । मन्त्रमनूद्य तात्पर्यपुरःसरं व्याचष्टे—अनतिमानिन्य इति । स्पष्टं ब्राह्मणम् । तदनुसार्येव पूर्वं व्याख्यानम् ।

अध्यात्मपक्षे—तत्तदपांरूपेण विद्यमानस्य परमात्मनः स्तवः । सधमादः सह जीवैः सार्धं माद्यन्ति हृष्यन्ति मादयन्ते च तानिति ताः, द्युम्निन्यो वीर्यवत्यः, प्रपञ्चनिर्माणसामर्थ्यस्य तन्मूलत्वाद् द्योतिन्यो यशस्विन्यो वा, आपो व्याप्नुवन्त्य एता अभिषेचनीयास्तद्रूपेणोपस्थिताः, अनाधृष्टाः कैश्चित्, नित्यमुक्तस्वभावत्वात्, अपस्यः अपस्सु कर्मसु साध्व्यः समर्हणीया अपस्यः, वसाना मायामयं वासो दधानाः, मायावृतत्वात्, एता या अभिषेचनीया आपस्तासु पस्त्यासु गृहरूपासु मातृतमासु प्रपञ्चनिर्माणेऽतिशयितासु, अन्तर्मध्ये अपां शिशुः, अद्भिरभिषिक्तत्वात् तच्छिशुरूपो वरुणः, सधस्थं सहस्थानं प्रतिष्ठां कृतवान् । वरुणः, वृणोतीति वरुणः, भगवद्वरणपरायणो भगवत्कृपाभिषिक्तः शिशुरूपः, 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० सं० १०।१३।१) इति मन्त्रवर्णात् । स परमेश्वरः कृपया परमेश्वर एव प्रतिष्ठितो भवति ।

दयानन्दस्तु—'यो वरुणो वरो राजा भवेत्, स या एताः प्राप्तविद्यासुशिक्षाः सधमादो याः सह माद्यन्ति हृष्यन्ति ता द्युम्निनीः प्रशस्तं द्युम्नं धनं यशो वा विद्यते यासां ताः, अनाधृष्टा धर्षितुमयोग्या आपो जलानीव शान्ता वसाना वस्त्राभूषणैराच्छादिताः पस्त्यासु गृहशालासु अपस्यः अपस्सु साध्व्यः स्त्रियो विदुष्यो भवेयुः, तासामपां व्याप्तविद्यानां स्त्रीणां यः शिशुः बालकस्तं मातृतमासु अतिशयेन शास्त्रोक्तशिक्षया मानकर्त्रीषु अन्तः समीपे सधस्थं सहस्थानं समीपस्थं शिक्षार्थं चक्रे रक्षेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वरुणस्य वरपरत्वेऽपि राजार्थकत्वे मानाभावात् । 'अध्यापिका धात्र्यो वा सधमादः' इत्याद्यपि निर्मूलमेव । अपां विद्याव्याप्तानां स्त्रीणामित्यपि निर्मूलमेव, मानाभावात् । श्रुतौ तु सधमादोऽनतिमानिन्यो द्युम्निनीर्वीर्यवत्यो रक्षोभिरनाधृष्टा विशो वै पस्त्या इत्यादिकं तद्विपरीतमेव व्याख्यातम्, सूत्रविरोधश्च ॥ ७ ॥

जाता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।५) में प्रतिपादित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुरूप अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—उन जलों के रूप में विद्यमान परमात्मा की स्तुति की गई है । जीवों के साथ हर्षित होने वालीं, अथवा जीवों को हर्षित करने वालीं, जगत्प्रपञ्च का निर्माणसामर्थ्य तन्मूलक होने के कारण बलयुक्त, द्योतनात्मिका अथवा यशस्विनी, व्यापनशीला, नित्यमुक्त स्वभाव वाली होने के कारण किसी के भी द्वारा अधर्षित, कर्मों में सुयोग्य, मायामय आच्छादन को धारण करने वाली ये जो अभिषेक की जलराशियाँ हैं, उन गृहरूपिणी, निर्माण में अतिशय श्रेष्ठ धाराओं के मध्य में शिशुरूपी वरुण, अर्थात् भगवान् के वरण में परायण भगवत्कृपा से अभिषिक्त शिशुरूपी जीव ने प्रतिष्ठा प्राप्त की है ।

स्वामी दयानन्द का अर्थ असंगत है, क्योंकि वरुण शब्द वरणपरक होते हुए भी राजा के अर्थ में प्रमाणरहित है । अध्यापिकाएँ अथवा धायी सधमाद हैं, यह भी अप्रामाणिक है । 'अपाम्' का 'विद्याव्याप्त स्त्रियों का' इस प्रकार अर्थ करना भी प्रमाणाभाव के कारण निर्मूल है । श्रुति के विपरीत ही यह व्याख्या की गई है तथा सूत्र के भी विरुद्ध है ॥ ७ ॥

क्ष॒त्रस्यो॒ल्बम॑सि क्ष॒त्रस्य॑ ज॒राय्व॑सि क्ष॒त्रस्य॒ योनि॑रसि क्ष॒त्रस्य॒ नाभि॑र॒सीन्द्र॑स्य वार्त्र॑घ्नमसि मि॒त्रस्या॑सि॒ वरु॑णस्यासि॒ त्वया॒यं वृ॒त्रं व॑धेत्। दृ॒वास॑ रु॒जासि क्षु॒मासि॑। पा॒तैनं प्राञ्चं पा॒तैनं प्र॒त्यञ्चं पा॒तैनं ति॒र्यञ्चं दि॒ग्भ्यः पा॑त ॥ ८ ॥

'ताप्र्यं परिधापयति' (का० श्रौ० १५।५।६)। यजमानं ताप्र्यं परिधापयति। यजमानो दीक्षितवस्त्रं परित्यज्य ताप्र्यं परिदधीत। तृपा नामौषधिविशेषः, अतसीति प्रसिद्धः। तत्तन्तुनिर्मितं क्षौमं वस्त्रम्, वल्कलमिति केचित्। 'घृतोन्नमेके' (का० श्रौ० १५।५।९) 'उन्दी क्लेदने' घृताक्तं वस्त्रं ताप्र्यमित्येके। यज्ञरूपाणि स्रुक्स्रुवचमसाद्याकाराणि सूचीकर्मणोत्पादितानि यत्र तत्तथाविधं विकल्पं ताप्र्यं परिधापयेत्। तत्सर्वं संक्षिप्याह—'ताप्र्यप्रभृतीनि क्षत्रस्येति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।५।१३) मन्त्रार्थस्तु—हे ताप्र्य, त्वं क्षत्रस्य राजस्थानीयस्य यजमानस्योल्बं गर्भाधारभूतमुदकमसि। यद्वा क्षत्रस्य राजस्थानीयस्य यजमानस्य गर्भत्वेनोपचर्यमाणस्य उल्बमावरणभूतमसि, 'उल्बावृतो गर्भः' (छा०) इति छान्दोग्यश्रुतेः। 'पाण्ड्वं च निवस्ते' (का० श्रौ० १५।५।११)। ताप्र्यस्योपरि रक्तश्वेतकम्बलं द्वितीयं परिधत्ते यजमानः। पाण्डवदैवतम्। हे पाण्डव, त्वं क्षत्रस्य गर्भस्थानीयस्य यजमानस्य जरायुः गर्भवेष्टनचर्मासि। 'अधीवासं प्रतिमुच्य' (का० श्रौ० १५।५।१२)। महाकञ्चुकं गले बध्नात्यधीवासदैवतम्। हे अधीवास, त्वं क्षत्रस्य योनिरसि गर्भसम्भवस्थानमसि। 'उष्णीषꣳ संवेष्ट्य निवीतेऽवगूहते नाभिदेशे परिहरते वा' (का० श्रौ० १५।५।१२)। शिरोवेष्टनं शिरसि संवेष्ट्य तत्प्रान्तौ परिहितवासो नीव्यामुपगूहते गोपायति नाभिदेशे वेष्टयति वा। उष्णीषदैवतम्। हे उष्णीष, त्वं क्षत्रस्य नाभिरसि, नाभिर्गर्भबन्धनस्थानमसि। नाभ्यां सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुः। 'इन्द्रस्य वार्त्रघ्नमिति धनुरातनोति' (का० श्रौ० १५।५।१५)। अध्वर्युर्धनुरधिज्यं करोति इन्द्रस्येति मन्त्रेण। धनुर्दैवतम्। हे धनुः, त्वमिन्द्रस्य यजमानस्य सम्बन्धि वार्त्रघ्नं वृत्रोऽनेन हन्यत इति वार्त्रघ्नं वृत्रनाशकमायुधमसि, तत्तादृशं त्वामातनोमीति शेषः। 'मित्रस्य वरुणस्येत्यस्य बाहू निमार्ष्टि' (का० श्रौ० १५।५।१६)। मित्रस्य वरुणस्येति मन्त्राभ्यां धनुषो बाहू प्रान्तौ करेण प्रत्येकं निमार्ष्टि। धनुर्बाहुदेवत्ये यजुषी। हे दक्षिणधनुष्कोटे, त्वं मित्रस्य देवविशेषस्य सम्बन्धी असि। हे धनुषो वामकोटे, त्वं वरुणस्य सम्बन्धी असि। यजमानबाहू निमार्ष्टि सायणरीत्या। 'धनुः प्रयच्छति त्वयायमिति' (का० श्रौ० १५।५।१७)। अध्वर्युर्यजमानाय धनुः प्रयच्छति। धनुर्दैवतम्। हे धनुः, अयं यजमानः, त्वया धनुषा कृत्वा वृत्रं शत्रुं वधेद् हन्यात्, 'द्विषन्तं भ्रातृव्यं वधेत्' (श० ५।३।५।२८) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः। 'दृवासीति

मन्त्रार्थ—हे ताप्र्य वस्त्र ! तुम क्षत्रधर्मावलम्बी इस यजमान के गर्भ के आधारभूत जल हो। हे पाण्डुरक्त कंबल, तुम क्षत्रिय यजमान के गर्भवेष्टन चर्म हो। हे अधीवास, तुम क्षत्रधर्मावलम्बी यजमान की योनि हो। हे उष्णीष, तुम इस यजमान के गर्भबन्धन स्थान हो। हे धनुष, तुम इस इन्द्ररूप यजमान के वृत्र के सदृश शत्रुओं का नाश करने वाले हो। हे दक्षिण कोटि ! तुम मित्रसम्बन्धिनी हो और हे वाम कोटि ! तुम वरुण सम्बन्धिनी हो। हे धनुष यह यजमान तुम्हारी सहायता से सम्पूर्ण शत्रुओं का नाश करे। हे बाणों, तुम शत्रुओं को विदीर्ण करने वाले हो, शत्रुओं का अंग भंग करने वाले हो, शत्रुओं को कम्पित करने वाले हो। हे बाणों, तुम इस यजमान की पूर्व दिशा से, पश्चिम दिशा से और उत्तर-दक्षिण दिशा से भी रक्षा करो ॥ ८ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।६-१८) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'क्षत्रस्योल्बम्'

प्रतिमन्त्रमादाय तिस्र इषूः प्रयच्छति पातैनमिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।५।१८)। तिस्र इषूः शरानादाय पातैनमित्यादिमन्त्रत्रयेण च प्रत्येकं यजमानाय ददात्यध्वर्युः। षड् यजूंषि, इषुदेवत्यानि। हे इषो, त्वं दृवासि 'दृ विदारणे', दृणाति शत्रून् विदारयतीति दृवा। हे इषो ! त्वं रुजासि, 'रुजो भङ्गे', रुजति शत्रून् भनक्तीति रुजा। हे इषो, त्वं क्षुमासि 'क्ष्मायी विधूनने', क्ष्मायति शत्रून् कम्पयतीति क्षुमा। यजमानाय प्रयच्छति -हे इषवः, प्राञ्चं प्रागञ्चनं पूर्वदिश्यवस्थितमेनं यजमानं यूयं पात पालयत। प्रत्यञ्चं प्रत्यगञ्चनं पश्चिमदिश्यवस्थितं यजमानं यूयं पात। तिर्यञ्चं तिर्यगञ्चनमितस्ततोऽवस्थितमेनं यजमानं पात। दिग्भ्योऽन्याभ्योऽपि दिग्भ्यः सकाशादेनं यजमानं पात।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं वासाꣳसि परिधापयति। तत्तार्प्यमिति वासो भवति तस्मिन् सर्वाणि यज्ञरूपाणि निष्यूतानि भवन्ति तदेनं परिधापयति क्षत्रस्योल्बमसीति तद्यदेव क्षत्रस्योल्बं तत एवैनमेतज्जनयति' (श० ५।३।५।२०)। वाससां परिधापनं विधत्ते —एनं वासांसीति। एनं यजमानं वासांसि तार्प्यपाण्ड्वाधिवासोष्णीषाणि परिधापयेदिति। तत्तात्पर्यकथनपूर्वकमेकैकं विधत्ते—तत्तेषु प्रथमं तार्प्यमिति। तार्प्यं वासो न त्वन्यत् कम्बलादिकम्। त्रिः कृत्वा पायितं त्रिपाणम्। घृतोन्नम्, 'उन्दी क्लेदने', घृतसिक्तम्। तत्र कञ्चिद्विशेषं विधत्ते—तस्मिन् सर्वाणीति। तस्मिन् सर्वाणि यज्ञरूपाणि स्रुगादीनि स्यूतानि भवेयुः। तत्र मन्त्रं विधत्ते—क्षत्रस्येति। उल्बमावरणमसि। यदुल्बं तस्मादेवैनं यजमानमेतेन तार्प्यपरिधानेन उत्पादितवान् भवति। 'अथैनं पाण्ड्वं परिधापयति। क्षत्रस्य जराय्वसीति तद्यदेव क्षत्रस्य जरायु तत एवैनमेतज्जनयति' (श० ५।३।५।२१)। पाण्ड्वं पाण्डुरं श्वेतं कम्बलमिति सायणाँचार्याः। एतेनैनमेतज्जनयति। 'अथाधीवासं प्रतिमुञ्चति। क्षत्रस्य योनिरसीति तद्यैव क्षत्रस्य योनिस्तस्या एवैनमेतज्जनयति' (श० ५।३।५।२२)। अधि उपरि वसनीयमाच्छादनीयं वस्त्रमधीवासम्। तत्प्रतिमुञ्चेत् तार्प्यमुपसंव्याय पाण्डुरमुत्तरीयवदाच्छाद्य अधीवासं महाकञ्चुकमुपरि प्रतिमुञ्चेत्। 'अथोष्णीषꣳ सꣳहृत्य। पुरस्तादवगूहति क्षत्रस्य नाभिरसीति तद्यैव क्षत्रस्य नाभिस्तामेवास्मिन्नेतद्दधाति' (श० ५।३।५।२३)। उष्णीषवेष्टनं विधत्ते -अथोष्णीषमिति। उष्णीषं संहृत्य निवीतरूपेण कण्ठेऽवसज्य पुरस्तात् पूर्वभागे नाभिदेशेऽवगूहति, उष्णीषान्तं नीवीस्थाने ग्रथयेदित्यर्थः। क्षत्रस्य नाभिः नाभिस्थानीयमसि, एतेन तस्या एवैनं जनयति।

पूर्वदेशेऽवगूहनं द्रढयितुं पूर्वपक्षं सोपपत्तिकं वदति—तद्धैक इति। एके शाखिनस्तद् उष्णीषं समन्तं सर्वतो नाभिदेशे परिवेष्टयन्ति। अस्य क्षत्रियस्य एषा उष्णीषरूपा नाभिरपि समन्तं पर्येति परिवेष्टिता भवति। अतः क्षत्रस्य नाभिरसीति मन्त्रे उष्णीषस्य नाभित्ववचनात् तत्साम्याय समन्ताद्वेष्टनमुक्तमिति तत्प्रत्याख्याय स्वमतं निगमयति—पुरस्तादेवावगूहेतेति। एतेन वासःपरिधानेन एनं यजमानं जनयति, तेषां वाससामुल्बजरायुयोनिरूपत्वोक्तेः। किमर्थं जननमित्याह—जातमिति। जातं यजमानमभिषिञ्चानीति बुद्ध्या वासांसि परिधापयेत्। तदेतत्सर्वमाह—'तद्धैके समन्तं परिवेष्टयन्ति·····' (श० ५।३।५।२४)। पूर्वं निहितस्य दीक्षितवसनस्य परित्यागं विधित्सुरेकेषां मतमुपन्यस्यति—तद्धैक इति। यद्वा विहितानां तार्प्यादीनां परिधापनादिकमेव द्रढयितुं पूर्वपक्षयति—एके शाखिन इति। परिधापितान्येतानि वासांसि विसृज्य निदध्युः। अथ तदानीमेव तार्प्यादिवसनकाले निहितं दीक्षितवसनमेतं यजमानं पुनः परिधापयन्ति, तदपि न युक्तम्, यतस्तानि यजमानस्य जनूर् अङ्गानि सहोत्पन्नानि, तार्प्यादीनां वाससामुल्बजरायुयोनिरूपत्वात्। उल्बादीनां तु गर्भावस्थायां सह निवासादङ्गत्वमुपचरितमिति। तदेतदपि 'तद्धैके निदधात्येतानि·····' (श० ५।३।५।२५) इत्यत्रोक्तम्। यद्वा वासांसि

इस कण्डिका के मन्त्रों से यजमान को क्षौम वस्त्र का परिधापन, श्वेत कम्बल का धारण, महाकंचुक तथा पगड़ी का

जनूरङ्गानि सहोत्पन्नानि त्वग्रूपाण्यङ्गानि, 'तस्मिन्नेतां त्वचमदधुः । वास एव तस्मान्नान्यः पुरुषाद्वासो बिभर्ति' (श० ३।१।२।१३-१६) इति श्रुतेः । अतो वासोभिः परिधापनेन जन्वा सहोत्पन्नैः शरीररूपैरङ्गैः समर्धितवान् भवति । अङ्गसमुदाय एव हि तनूः । शरीरेण तदङ्गैश्च संवर्धितवान् भवति । 'वरुण्यं दीक्षितवसनं तदेनं वरुण्याद् दीक्षितवसनात् प्रमुञ्चति' (श० ५।३।५।२५) इति दीक्षितवसनस्य परित्यागं दर्शयितुं तस्य दुष्टत्वमाह—वरुण्यमिति । वरुण्यं वरुणगृहीतम् । 'स यत्रावभृथमभ्यवैति । तदेतदप्यभ्यवहरन्ति यत्सलोम क्रियते स एतेषामेवैकं वाससां परिधायोदैति तानि वशायै वा वपायाᳬं हुतायां दद्यादुदवसानीयायां वेष्टौ' (श० ५।३।५।२६) । निहितस्य दीक्षितवसनस्य अवभृथे प्रासनं विधत्ते—स यत्रेति । प्रासनं परित्यागः । अवभृथमभ्यवहरन्ति आहरेयुः, अप्सु प्रक्षिपेयुरित्यर्थः । तत् तथा सति सलोम क्रियते प्रकृतिगतमनुसृतं भवति, प्रकृतौ तु दीक्षितवसनस्य अवभृथे परित्याग उक्तः । स एतेषामिति । माहेन्द्रादौ दीक्षितवसनस्य पुनः परिधानं कृतम्, तदा तार्प्यादीनामेकैकेनैव परिहितेन वाससा अवभृथावतरणमुत्तरणं च कर्तव्यम् । उदैति उत्तरेत् । तेषां वाससां दानकालं विधत्ते—तानि वशाया इति । अनुबन्ध्याया वपायागकालेऽध्वर्यवे दद्यात्, अवसाने कर्तव्यायामुदवसानीयेष्टौ वा दद्यात् । सर्वथापि कात्यायनेन शतपथश्रुत्यनुसारेणैव सूत्रितानि तानि तानि कर्तव्यानीति मुधैवार्धनास्तिकैस्तान्युपेक्ष्य स्वैरं मन्त्रव्याख्यानं कृतम् । 'अनूबन्ध्यवपाहोमान्ते दद्यादेनानि, उदवसानीयायां वा' (का० श्रौ० १५।७।२६-२७) । 'अथ धनुरधितनोति । इन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसीति वार्त्रघ्नं वै धनुरिन्द्रो वै यजमानो द्वयेन वा एष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमानस्तस्मादाहेन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसीति' (श० ५।३।५।२७) । कथं यजमानस्येन्द्रत्वमिति तदुपपादयति—द्वयेनेति । क्षत्रिय इति यजमान इति च यत् तेन द्वयेनेत्यर्थः । क्षत्रं नाम बलं तत्सम्बन्धाद्यष्टृत्वाच्च इन्द्रस्य यजमानत्वमुक्तम् । यद्वा क्षत्रियो जातिर्यजमानश्चैतद्द्वयेनेन्द्रत्वम् । देवेष्विन्द्रस्य क्षत्रियत्वं राजसूयस्य चात एव क्षत्रियकर्तृकत्वमेव । न राज्ञामपि ब्रह्मविशां तत्राधिकारः ।

'अथ बाहू विमार्ष्टि । मित्रस्यासि वरुणस्यासीति बाह्वोर्वै धनुर्बाहुभ्यां वै राजन्यो मैत्रावरुणस्तस्मादाह मित्रस्यासि वरुणस्यासीति तदस्मै प्रयच्छति त्वयाऽयं वृत्रं वधेदिति त्वयायं द्विषन्तं भ्रातृव्यं वधेदित्येवैतदाह' (श० ५।३।५।२८) । अत्र सायणरीत्या—हे बाहो, मित्रस्यासि । अपरं बाहुं प्रत्याह—वरुणस्यासीति । मित्रस्य वरुणस्येति मन्त्रद्वयेन यजमानस्य दक्षिणोत्तरबाहुविमार्जनं कुर्यादिति काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यः । कर्कोपाध्यायरीत्या तु बाहुशब्दस्य धनुष्कोटिपरत्वम् । बाहुं प्रशंसति—बाह्वोरिति । बाहुभ्यां खलु मित्रावरुणसम्बन्धी राजन्यो भवति, बाहुवीर्यसद्भावो राज्ञो लक्षणमित्यर्थः । 'अथास्मै तिस्र इषूः प्रयच्छति । स यया प्रथमया समर्पणेन परा भिनत्ति सैका सेयं पृथिवी सैषा दृवा नामाथ यया विद्धः शयित्वा जीवति वा म्रियते वा सा द्वितीया तदिदमन्तरिक्षᳬं सैषा रुजा नामाथययाऽपैव राध्नोति सा तृतीया साऽसौ द्यौः सैषा क्षुमा नामैता हि वै तिस्र इषवस्तस्मादस्मै तिस्र इषूः प्रयच्छति' (श० ५।३।५।२९) । लोकत्रयात्मकत्वेन शस्तानामिषूणां लक्षणं संज्ञां च दर्शयति—ययेति । यया प्रथमया समर्पणेन परित्यागमात्रेण परा परान् शत्रून् भिनत्ति विदारयति, तस्या एकस्या दृवानामधेयायाः पृथिव्यात्मकत्वेन प्राशस्त्यम् । यया विद्धस्य ताडितस्य जीवने सन्देहस्तस्या रुजानाम्न्या अन्तरिक्षात्मकत्वम् । यया राजा शत्रूनपराध्नोति हिनस्त्येव, तस्याः क्षुमानामधेयायास्तृतीयलोकात्मकत्वेन प्राशस्त्यम् । दृवा विदारिकासीति प्रथमेषुग्रहणम् । शत्रूणां भङ्गहेतुरसीति द्वितीयग्रहणम् । 'क्षुप विधूनने', 'क्ष्मायी विधूनने', शत्रुकदनकारिण्यसीति तृतीयग्रहणम् । 'ताः प्रयच्छति । पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पातेति तदस्मै सर्वा एव दिशोऽशरव्याः करोति तद्यदस्मै धनुः प्रयच्छति वीर्यं

धारण एवं धनुष का विधिपूर्वक ग्रहण आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल

वा एतद्राजन्यस्य यद्धनुर्वीर्यवन्तमभिषिञ्चानीति तस्माद्वा अस्मा आयुधं प्रयच्छति' (श० ५।३।५।३०)। इषुदानमनूद्य मन्त्रं विधत्ते—ताः प्रयच्छतीति। प्राञ्चं प्रागञ्चनं प्रागन्तारं पात पालयत। प्रत्यञ्चं प्रत्यग्गन्तारम्, तिर्यञ्चं तिर्यग्गन्तारम्। किं बहुना, दिग्भ्यः सर्वाभ्यः पातेति। तदस्मा इति। अशरव्या अहिंसकाः। शरव्यं शरलक्ष्यम्, तद्रहिताः करोति। अनेन सर्वास्वपि दिक्षु परकीयशरलक्ष्यत्वं निवर्त्यते।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन्, त्वं क्षत्रस्य क्षताद्रक्षकस्य उल्बमावरणमिव रक्षकमसि। त्वमेव क्षत्रस्य जरायुवद् गर्भवेष्टनचर्मवत् पालकमसि। त्वमेव क्षत्रस्य योनिरिवोत्पादनस्थानमसि। त्वमेव क्षत्रस्य नाभिः नाभिस्थानीयं सर्वाधारभूतमसि, ब्रह्मण एव सर्वत्र सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन मुख्यपालकत्वात्। इन्द्रस्य प्रसिद्धस्य वार्त्रघ्नं शत्रुहनन-साधनमायुधमसि, तवैव सर्वसंहारकत्वात्। त्वमेव मित्रस्य सुहृदो देवविशेषस्य वा सम्बन्ध्यसि। त्वमेव वरुणस्य सम्बन्ध्यसि, तदुपलक्षितानां सर्वदेवानामधिष्ठानत्वात्। हे ब्रह्मन्, त्वया कृत्वा अयं क्षतात् त्राता रक्षकः क्षत्रियो राजा इन्द्र ईश्वरो वा वृत्रमसुरं द्विषन्तं धर्ममार्गबाधकं वधेद् हन्यात्। त्वमेव वा शत्रुविदारकमसि। त्वमेव रुजासि शत्रूणां भञ्जकमसि। त्वमेव क्षुमासि शत्रुप्रकम्पनशीलमसि। तत्तस्मादेनं त्रातारं प्राञ्चं प्राग्गतं प्रत्यञ्चं पश्चिमायां दिशि गतं तिर्यञ्चमन्यासु दिक्षु गतं दृवा रुजा क्षुमारूपा भगवन्तः पात पालयत।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यस्त्वं क्षत्रस्य राजकुलस्य उल्बं बलमसि, क्षत्रस्य क्षत्रियस्य जरायु वृद्धावस्था-प्रापकमसि, क्षत्रस्य राजन्यस्य योनिर्निमित्तमसि, क्षत्रस्य राज्यस्य नाभिर्बन्धनमसि प्रबन्धकर्तासि, इन्द्रस्य सूर्यस्य वार्त्रघ्नं मेघविनाशकमसि तद्वत् कर्मकर्तासि, मित्रस्य सुहृदो मित्रोऽसि, वरुणस्य श्रेष्ठस्य वरोऽसि, दृवासि यः शत्रून् दृणाति सोऽसि, रुजा शत्रूणां रोगकारकोऽसि, क्षुमा सत्योपदेशकोऽसि, योऽयं वीरस्त्वया राज्ञा सह वृत्रं मेघमिव न्यायावरकं शत्रं वधेत्, तमेनं प्राञ्चं प्राक्प्रबन्धस्य कर्तारमेनं सेनाध्यक्षं सर्वे यूयं पात, दिग्भ्यः पात, तमेनं प्रत्यञ्चं पश्चात्स्थितं सेनापतिं पात, तमेनं पार्श्वस्थं तिर्यञ्चं तिरश्चीनं दिग्भ्यः सर्वाभ्य आशाभ्यः पात' इति, तदपि वेदस्य लोकायतीकरणमेव, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनधिगतार्थस्यैव वेदार्थत्वात्। 'जरायु वृद्धा-वस्थाप्रापकम्' इत्यपि निर्मूलम्। क्षत्रस्य विविधार्थत्वेऽपि मूलं वक्तव्यम्, नहि हेतुमन्तरा तत्र स्वैरित्वं युक्तम्। न च मेघविनाशकत्वं राज्ञः सम्भवति। तद्वत्कार्यकर्तृत्वं तु गौणार्थत्वाश्रयणमेव। न च तत् सति मुख्यार्थत्वे युक्तम्। मित्रस्य मित्रोऽसि वरुणस्य वरोऽसीति निर्मूल एवाध्याहारः। रुजा रोगकारकः, क्षुमा सत्योपदेशकः, प्राञ्चं प्राक्प्रबन्धकर्तारम् एनं सेनाध्यक्षम्, प्रत्यञ्चं पश्चात्स्थितं सेनापतिमित्यादि सर्वमपि निर्मूलमेव। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्वव्याख्यानेन स्पष्ट एव ॥ ८ ॥

अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे ब्रह्मन्, तुम दुःख से रक्षणकर्ता के आवरण की भाँति रक्षक हो। तुम ही गर्भवेष्टन की भाँति पालनकर्ता हो, उत्पत्तिस्थान हो, सबके आधारभूत हो, सर्वसंहारक होने के कारण शत्रुहन्ता वज्र हो, मित्रदेव अथवा सुहृद् से सम्बद्ध हो, वरुण आदि समस्त देवताओं के अधिष्ठान होने के कारण सर्वसम्बद्ध हो। हे ब्रह्मन्, यह ईश्वर धर्ममार्ग के बाधक शत्रु को विनष्ट करे, अथवा तुम ही शत्रुओं के नाशक, भेदक हो, शत्रुओं को कम्पित करने वाले हो। अतः इसकी पूर्व, पश्चिम तथा अन्य दिशाओं में रक्षा करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ वेद को चार्वाक दर्शन की भाँति बनाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से अप्राप्त अर्थ का ही वेदत्व है। जरायु का अर्थ वृद्धावस्था को प्राप्त कराने वाला, यह भी अप्रामाणिक है। क्षत्र शब्द के विभिन्न अर्थों में भी मूल का उल्लेख होना चाहिये। कारण न रहने पर स्वेच्छा से विविध अर्थ करना अनुचित है। राजा का मेघनाशक होना भी असम्भव है। 'उसके समान कार्य करने वाला' यह कहना भी गौण अर्थ का आश्रयण है। मुख्यार्थ संभव होने पर गौणार्थ उचित नहीं है ॥ ८ ॥

आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्गृहपतिरावित्त इन्द्रो वृद्धश्रवा आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्तः पूषा विश्ववेदा आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्मा ॥ ९ ॥

'आविर्मर्या इति वाचयति' (का० श्रौ० १५।५।१९)। इषुसमर्पणानन्तरमाविर्मर्या इत्यादीन् सप्तमन्त्रान् आविःसंज्ञान् आवित्तपदयुक्तान्। आवेदयन्ति ज्ञपयन्ति देवताभ्य एनं यजमानमित्याविदो मन्त्राः, 'अथैनमाविदो वाचयति' (श० ५।३।५।३१) इति श्रुतेः, यजमानं वाचयति। प्रजापतिर्दैवतम्। आविर्मर्या इत्यनिरुक्तम्, साक्षाद्देवतावाचकपदरहितमन्त्रत्वात्। हे मर्या मरणयोग्या मनुष्या ऋत्विजः! आविः प्रकाशः प्रकटोऽयं यजमानो युष्मत्समक्षं कथ्यते। यद्वा हे मर्या मनुष्या ऋत्विजः! कस्यै देवतायै यजमानमावेदितवन्त इत्याशङ्क्य श्रुतिराह—'आविर्मर्या इत्यनिरुक्तं प्रजापतिर्वा अनिरुक्तस्तदेनं प्रजापतय आवेदयति सोऽस्मै सवमनुमन्यते तेनानुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३१)। प्रजापतिः खल्वनिरुक्त ईदृश इति वक्तुमनर्हः। तस्मादनेन यजुषाऽनिरुक्तेन अनिरुक्तात्मने प्रजापतये एनं यजमानम् आवेदितवान् भवति। आवेदनस्य फलमाह—सोऽस्मा इति। स आवेदितो ज्ञापितः प्रजापतिरस्मै सुन्वते यजमानाय सवमभिषेकमनुमन्यते। तेन प्रजापतिना अनुमतोऽनुज्ञातः सूयतेऽभिषिच्यते। 'आवित्तो अग्निर्गृहपतिरिति। ब्रह्म वा अग्निस्तदेनं ब्रह्मण आवेदयति तदस्मै सवमनुमन्यते तेनानुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३२)। गृहपतित्वगुणविशिष्टोऽग्निः, आवित्त आवेदितो ज्ञापितः, सोऽस्मै सवमभिषेकमनुमन्यते। आवित्तो ज्ञापित इन्द्रो वृद्धश्रवाः, वृद्धं श्रवो यशो यस्य सः। यद्वा 'श्रव इत्यन्ननाम' (निरु० १०।१), वृद्धं प्रभूतमन्नं यस्येति। कोऽसावित्याशङ्क्याह—'क्षत्रं वा इन्द्रस्तदेनं क्षत्राय आवेदयति तदस्मै सवमनुमन्यते तेनानुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३३), 'आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रताविति। प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ तदेनं प्राणोदानाभ्यामावेदयति तावस्मै सवमनुमन्येते ताभ्यामनुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३४)। 'व्रतमिति कर्मनाम' (निघ० २।१।७)। 'आवित्तः पूषा विश्ववेदा इति। पशवो वै पूषा तदेनं पशुभ्य आवेदयति ते अस्मै सवमनुमन्यन्ते तैरनुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३५)। विश्ववेदाः सर्वधन इति। 'आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवाविति। तदेनमाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामावेदयति ते अस्मै सवमनुमन्येते' (श० ५।३।५।३६)। विश्वशम्भुवौ सर्वस्य सुखसम्भावयित्र्यौ। 'आवित्ताऽदितिरुरुशर्मेति। इयं वै पृथिव्यदितिस्तदेनमस्यै पृथिव्या आवेदयति साऽस्मै सवमनुमन्यते तयाऽनुमतः सूयते तद्याभ्य एवैनमेतद्देवताभ्य आवेदयति ता अस्मै सवमनुमन्यन्ते ताभिरनुमतः सूयते' (श० ५।३।५।३७)। अदितिरखण्डनीया देवमाता अदितिः, भूमिरेव काञ्चिन्मूर्तिं कृत्वाऽदितिर्भवति। एता देवताः सम्भूय प्रशंसति। तथा च पूर्वोक्तश्रुत्युक्तैर्विभक्तिव्यत्ययैर्मन्त्रो व्याख्यायते। गृहपतये गृहपालकाय अग्नयेऽयं यजमान आवेदितः। प्रथमान्तपदद्वयं चतुर्थ्यर्थे। वृद्धश्रवा वृद्धश्रवसे वृद्धं श्रवो यशोऽन्नं वा यस्य तस्मै इन्द्राय अयं यजमान आवेदितः। आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतौ धृतं व्रतं कर्म याभ्यां तौ धृतव्रतौ धृतव्रताभ्यां धारितकर्मभ्यां प्राणोदानरूपाभ्यां मित्रावरुणाभ्यामावित्त आवेदितोऽयं यजमानः। विश्वशम्भुवौ विश्वस्य सर्वस्य शं सुखं भवति याभ्यां तौ विश्वशम्भुवौ ताभ्यां द्यावापृथिवीभ्यामावित्ते, आवित्तः, वचनलिङ्गव्यत्ययः। उरुशर्मा उरु महत् शर्म शरणं सुखं वा यस्याः सा उरुशर्मा, तस्यै

मन्त्रार्थ—भूमण्डल निवासी सभी मनुष्य इस यजमान को जानें। गृहपालक अग्नि, विख्यातकीर्ति इन्द्र, नियम में तत्पर मित्रावरुण और सूर्य-चन्द्र, सब कुछ जानने वाले पूषा देवता, संसार के कल्याण की विधात्री पृथ्वी, द्युलोक के अभिमानी सभी देवता और सुविस्तीर्ण सुख के आश्रयरूप भगवान् काल इस यजमान को भली भाँति जाने ॥ ९ ॥

भाष्यसार—'आविर्मर्याः' इस कण्डिका के आविःसंज्ञक मन्त्रों का वाचन यजमान करता है। यह याज्ञिक

अदितये आवित्ता आवित्तोऽयं यजमानः । यद्वा—यथाश्रुतमेव व्याख्यातव्यम् । गृहपतिरग्निरावेदितो यजमानमिति । तथैवाग्रेऽपि ।

उव्वटाचार्यरीत्या तु 'सोऽस्मै सवमनुमन्यते' इत्यत्र सवो जन्म, उत्पत्तिरित्यर्थः । आवित्त आवेदितो ज्ञापितोऽग्नये गृहपतये यजमान इत्यादिकं पूर्ववदेव । विश्वशम्भुवौ विश्वं सर्वं सम्भावयित्रीभ्याम् । उरुशर्मा उरु पृथु महत् शर्म शरणं यस्याः सा तथोक्ता सर्वा एवाविदः श्रुत्या लक्षणया व्याख्याताः । तद्यथा—'आविर्मर्या इत्यनिरुक्तं प्रजापतिरनिरुक्तः·····' इत्यादिस्तथा मन्त्रा व्याख्येयाः । यथाश्रुतमेव वा व्याख्येयाः, प्रत्यक्षवृत्तित्वात् । यथा—हे मर्या ऋत्विजः ! यूयमाविरभूत अभ्यगन्त तिष्ठत । युष्मदनुष्ठितेन कर्मणा अग्निर्गृहपतिर्भूत्वा आवित्त उपलब्धः । इन्द्रो वृद्धश्रवाः प्रवृद्धकीर्तिर्भूत्वा आवित्त उपलब्धः । पूषा देवो विश्ववेदाः सर्वज्ञो भूत्वा आवित्तः । मित्रावरुणौ देवौ धृतव्रतौ अवधारितकर्माणौ भूत्वा आवित्तौ । तथा द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ विश्वस्य शं सुखं याभ्यां तथाविधौ तौ आवित्तौ । उरु महत् शर्म शरणं सुखं वा यस्याः सा आवित्ता लब्धा ।

अध्यात्मपक्षे—हे मर्याः, युष्माभिर्नित्यापरोक्षरूपः परमात्मा आवित्तः सम्यगुपलब्धः साक्षात्कृतः । अग्निर्गृहपतिः गृहपालकाग्निरूपेणापि स एवावित्तः । वृद्धश्रवाः प्रवृद्धकीर्तिरिन्द्रः परमेश्वरस्तद्रूपेणापि आवित्तः । विश्ववेदाः सर्वज्ञः पूषा पोषको विष्णुर् आवित्तः । मित्रावरुणौ प्राणोदानौ धृतव्रतौ धारितकर्माणा आवित्तौ, तद्रूपेणापि स एवोपलब्धः । तथैव द्यावापृथिव्यौ विश्वशम्भुवौ सर्वस्य जगतः सुखसम्भावयित्र्यौ आवित्ते । अदितिरदीना अखण्डनीया वा उरुशर्मा उरु महत् शर्म सुखं शरणं वा यस्याः सा चिद्रूपा पराम्बा आवित्ता उपलब्धा । सार्वात्म्यं ब्रह्मणोऽनेन मन्त्रेण द्योत्यते ।

दयानन्दस्तु—'हे मर्याः, युष्माभिर्यदि गृहपतिर्गृहाणां पालकः, अग्निः पावक इव विद्वान् आविः प्राकट्येन आवित्तः प्राप्तो निश्चितो वा, प्राप्तपूर्णभोगो लब्धप्रतीतो वा, वृद्धश्रवाः सर्वशास्त्रश्रवणं यस्य स इन्द्रः शत्रुदारकः सेनापतिः, आविर् आवित्तः प्राप्तो निश्चितो वा, धृतव्रतौ सत्यादिव्रतधारकौ मित्रावरुणौ मित्रश्रेष्ठजनौ प्राकट्येन आवित्तौ, विश्ववेदाः सर्वौषधिज्ञाता पूषा पोषको वैद्यः आविः प्रसिद्धया आवित्तः, विश्वशम्भुवौ सर्वसुखभावयितारौ द्यावापृथिवी विद्युद्भूमी प्राकट्येन आवित्ते प्राप्ते ज्ञाते वा, बहुसुखदात्री अदितिः विदुषी माता प्रसिद्धया आवित्ता स्याच्चेत्तर्हि सर्वाणि सुखानि प्राप्यन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागगौणार्थाश्रयणाभ्याम्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च ॥ ९ ॥

विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।१९) में प्रतिपादित है । याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे मनुष्यों, आप लोगों के द्वारा नित्य अपरोक्षस्वरूप परमात्मा अच्छी तरह प्राप्त कर लिया गया है, अर्थात् साक्षात्कृत है । गृह के पालक अग्नि के रूप में भी वही प्राप्त है । महान् कीर्ति वाले इन्द्र परमेश्वर के रूप में भी उपलब्ध है, सर्वज्ञ तथा पोषण करने वाले विष्णु के रूप में भी प्राप्त है । प्राण-उदान के रूप में कर्मों को धारण करने वाला वही है । इसी प्रकार द्यावापृथिवी सम्पूर्ण जगत् के सुखकर्ता के रूप में प्राप्त हैं, अदीना अथवा अखण्डनीया महान् सुख एवं शरण की प्रदात्री पराम्बा के रूप में उपलब्ध है । इस प्रकार यहाँ ब्रह्म की सर्वात्मता प्रतिपादित की जा रही है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ मुख्यार्थ के परित्याग तथा गौण अर्थ के आश्रयण के कारण विसंगत है । श्रुति-वाक्यों तथा सूत्र का भी विरोध है ॥ ९ ॥

अवेष्टा दन्दशूकाः प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथन्तरᳬं साम त्रिवृत् स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥

'अवेष्टा इति लोहायसमाविध्यति केशवास्ये सदोऽन्त उपविष्टाय' (का० श्रौ० १५।५।२०)। अध्वर्युः सदोमध्य उपविष्टस्य क्लीबस्य बहुदीर्घकेशस्य पुरुषस्य मुखे ताम्रपरिष्कृतमयः प्रक्षिपेत्। मृत्युनाशनं यजुः। दन्दशूका अत्यर्थदशनशीला मृत्युहेतवः सर्पसदृशा यज्ञविघ्नकारिणो राक्षसादयः, अवेष्टा नाशिता भवन्तु, अवपूर्वस्य यजतेर्नाशार्थकत्वात्, 'तद्यो मृत्युर्यो वधस्तमेवैतदतिनयति' इति श्रुतेः। 'मुन्वन्तमाक्रमयन् दिशः प्राचीमारोहेति वाचयति प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गम्' (का० श्रौ० १५।५।२१)। बाहुगृहीतं यजमानं यथालिङ्गं प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं दिश आक्रमयन् वाचयत्यध्वर्युः। पञ्च यजूंषि यजमानदेवत्यानि। अत्र सायणाचार्यरीत्या हे यजमान, त्वं प्राचीं दिशमारोह आक्रमस्व। तादृशं त्वां छन्दसां मध्ये गायत्रीछन्दोऽवतु पातु। तथैव साम्नां मध्ये रथन्तरं साम त्वामवतु। 'अभि त्वा शूर नोनुमः' (ऋ० सं० ७।३२।२२) इत्यस्यामृचि गीतं रथन्तरं साम। सोमानां मध्ये त्रिवृद् ऋङ्नवात्मकः स्तोमस्त्वामवतु। ऋतूनां मध्ये वसन्त ऋतुस्त्वावतु। ब्रह्म ब्राह्मणजातिर्द्रविणं त्वदीयं धनमवतु। यद्वा धनरूपा ब्राह्मणजातिस्त्वावतु। ब्राह्मणादीनां धनसाधनत्वात् कर्मद्वारा धनत्वव्यपदेशः। अत्र काण्वसंहितायां सायणाचार्याः—त्रिवृत्स्तोमस्य रूपं सामब्राह्मणे (२५।२।१) इत्यत्र समाम्नातम्—'तिसृभ्यो हिङ्करोतीति स प्रथमया तिसृभ्यो हिङ्करोतीति स मध्यमया तिसृभ्यो हिङ्करोतीति स उत्तमयोद्यतौ त्रिवृतौ विष्टुतिः' इति। अस्यायमर्थः—'उपास्मै गायता नरः' (ऋ० सं० ९।११।१) इत्यादीनि तृचात्मकानि त्रीणि सूक्तानि, तेषु तिसृभिर्ऋग्भिर्गायेत्। काभिस्तिसृभिस्तत्राह—प्रथमयेति। त्रिष्वपि सूक्तेषु या प्रथमा तया स उद्गाता गायेत्। तथा सति तिसृभिर्गीतं भवति, सोऽयं प्रथमपर्यायः। द्वितीये पर्याये सूक्तत्रयगतया मध्यमया गायेत्। तृतीये पर्याये सूक्तत्रयगतयोत्तमया गायेत्। अनेन प्रकारेण त्रिवृत्स्तोमसम्बन्धिनी विशिष्टा स्तुतिः सम्पद्यते। सेयं स्तुतिरुद्यतीत्याख्यां लभते।

अत्र ब्राह्मणम्—'केशवस्य पुरुषस्य। लोहायसमास्य आविध्यत्यवेष्टा दन्दशूका इति सर्वान् वा एष मृत्यूनतिमुच्यते सर्वान् वधान् यो राजसूयेन यजते तस्य जरैव मृत्युर्भवति तद्यो मृत्युर्यो वधस्तमेवैतदतिनयति यद्दन्दशूकान्' (श० ५।४।१।१)। सदोमध्य उपविष्टस्य क्लीबस्य वदने 'अवेष्टा' इति मन्त्रेण लोहायसक्षेपः। सर्वान् मृत्यून् सर्वान् वधान् अतिमुच्यते, यो राजसूयेन यजते। तस्य जरैव मृत्युर्भवति। इह दन्दशूका इति दंशनशीला मृत्यवो विवक्षिताः। केशववदने ताम्रपरिष्कृतायससन्निधानेन ते विनाशिता भवन्तीत्यर्थः। 'अथ यत्केशवस्य पुरुषस्य। न वा एष स्त्री न पुमान् यत्केशवः पुरुषो यदह पुमान् तेन न स्त्री यदु केशवस्तेनो न पुमान् नैतदयो न हिरण्यं यल्लोहायसं नैते क्रिमयो नाक्रिमयो यद्दन्दशूका अथ यल्लोहायसं भवति लोहिता इव हि दन्दशूकास्तस्मात् केशवस्य पुरुषस्य' (श० ५।४।१।२)। केशव-लोहायस-दन्दशूकानामन्तरालवर्तित्वं सम्यगुपपादयति—अथ यत् केशवस्येति। केशवः क्लीबो यथा स्त्रीपुरुषयोरन्तरालवर्ती, तथैव नायो न हिरण्यं

मन्त्रार्थ—मनुष्यों को काट खाने के स्वभाव वाले, मृत्यु के कारणभूत सर्प आदि का विनाश हो। हे यजमान, तुम पूर्व दिशा की तरफ बढो, गायत्री छन्द तुम्हारी रक्षा करे। साम के मध्य में रथन्तर साम, स्तोम के मध्य में त्रिवृत् स्तोम और ऋतुओं में वसन्त ऋतु ब्राह्मण की विभूतियाँ हैं। ये सब तुम्हारी रक्षा करें ॥ १० ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।२।२०-२१) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार **'अवेष्टा दन्दशूकाः'** इस कण्डिका के मन्त्रों से अध्वर्यु द्वारा लौहप्रक्षेप तथा यजमान के लिये इनका वाचन किया जाता है। शतपथ

यल्लोहायसं ताम्रम्। नैते क्रिमयो नाक्रिमयोऽतो दन्दशूका अप्यन्तरालवर्तिनः। दन्दशूकानां लोहितत्वाद् लोहितायसेन भाव्यमित्यर्थः। 'अथैनं दिशः समारोहयति। प्राचीमारोह····द्रविणम्' (श० ५।४।१।३)। अध्वर्युः प्राच्यादिकाः पञ्च दिशो यजमानमाक्रमयन् प्राचीमारोहेत्यादिकान् मन्त्रान् वाचयेदित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—आचार्यः शिष्यमनुशास्ति—हे वत्स, भगवत्स्मरणेन दन्दशूकाः सर्पा इव विघ्नकारिणो भूतप्रेतासुरराक्षसादयो अवेष्टा नाशिता भवन्तीति शेषः। त्वं प्राचीं पूर्वाम्नायमन्त्रसमुद्भवां सिद्धिमारोह आक्रमस्व स्वायत्तां कुरु। तामारूढं त्वां गायत्रीछन्दोऽधिष्ठितो देवो रक्षतु। रथन्तराख्यं साम, त्रिवृत् स्तोमः, वसन्त ऋतुः, तत्तदधिष्ठातारो देवाः, ब्रह्मात्मकं द्रविणं च त्वा अवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यस्त्वं ये अवेष्टा विरुद्धस्य गन्तारो दन्दशूकाः परस्मै दुःखप्रदानाय दंशनशीलाः सन्ति, तान् जित्वा प्राचीं दिशमारोह प्रसिद्धो भव। तं त्वा गायत्री पठितगायत्रीच्छन्दः, अवतु प्राप्नोतु। रथन्तरं रथैस्तरन्ति येन तत्साम सामवेदः, त्रिवृत् त्रयाणां मनोवाक्शरीरबलानां बोधकारकः स्तोमः स्तूयमानः, वसन्त ऋतुः, ब्रह्म वेदो जगदीश्वरो ब्रह्मवित्कुलं वा, द्रविणं विद्या द्रव्यं चावतु प्राप्नोतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'तान् जित्वा' इत्यध्याहारस्य निर्मूलत्वात्, गायत्री छन्दः प्राप्नोत्वित्यस्यासङ्गतेः, रथैः केन तरन्तीत्यस्यास्पष्टत्वात्। हिन्द्यां तु रथैर्यस्य तरणं तस्य सामवेदत्वमुक्तम्। तत्तु प्रलापमात्रम्। मनोवाक्शरीराणां बलबोधकं त्रिवृत्, स्तोमः स्तूयमान इत्यादिकं न मूर्खजनप्रतारणं केवलम्, किन्तु स्वात्मप्रतारणं च तत् ॥ १० ॥

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम पञ्चदशस्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥११॥

प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपꣳ साम सप्तदशस्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥१२॥

उदीचीमारोहानुष्टुप् त्वावतु वैराजꣳ सामैकविꣳशस्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥१३॥

ऊर्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः ॥ १४ ॥

ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष के अर्थ में गुरु शिष्य को उपदेश देता है कि हे वत्स, भगवान् के स्मरण से सर्पों के समान विघ्नकारक भूत, प्रेत, असुर, राक्षस आदि विनष्ट हो जाते हैं। तुम पूर्वाम्नायोक्त मन्त्र से उपलब्ध सिद्धि को स्वायत्त करो। सिद्धि पर आरूढ़ हुए तुमको गायत्री छन्द का अधिष्ठाता देव रक्षित करे। रथन्तर नामक साम, त्रिवृत् स्तोम तथा वसन्त ऋतु के अधिष्ठाता देवता तथा ब्रह्मात्मक धन तुम्हारी रक्षा करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में 'उनको जीत कर' यह अध्याहार मूलरहित होने के कारण अग्राह्य है। 'गायत्री छन्द प्राप्त करे' यह भी असंगत है। रथों से किसके द्वारा पार किया जाता है, यह भी अस्पष्ट है। हिन्दी अर्थ में रथ के द्वारा जिसका तरण होता है, उसको सामवेद कहा गया है। यह भी प्रलाप ही है। 'मन, वाणी तथा शरीर का बलबोधक त्रिवृत् है' इत्यादि कथन केवल अज्ञ जनों को ही भ्रान्त करने वाला नहीं है, अपितु स्वयं के लिये भी भ्रान्तिकारक है ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! तुम दक्षिण दिशा की ओर आक्रमण करो। त्रिष्टुप् छन्द, बृहत् साम, पंचदश स्तोम, ग्रीष्म ऋतु और क्षत्रिय जाति सम्बन्धी ऐश्वर्य तुम्हारी रक्षा करें ॥ ११ ॥

द्वितीयो मन्त्रः। हे यजमान, त्वं दक्षिणां दिशमारोह आक्रमस्व। तथाविधं त्वा त्वां छन्दसां मध्ये त्रिष्टुप्छन्दः, अवतु। 'त्वामिद्धि हवामहे' (ऋ० सं० ६।४६।१) इत्यस्यामृचि उत्पन्नं साम बृहत्साम, पञ्चदश स्तोमाः, ग्रीष्म ऋतुः, क्षत्रं द्रविणं त्वावतु तत्तदधिष्ठातारो देवास्त्वां पान्तु। पञ्चदशः स्तोमः सामब्राह्मण एवमाम्नातः —'पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स एकया स तिसृभिः पञ्चपञ्चिनी पञ्चदशस्य विष्टुतिः' इति। पूर्वोक्तस्त्रिवृत्स्तोम एक एव सूक्तत्रयनिष्पाद्यः, अन्ये तु स्तोमा एकेनैव तृचात्मकेन सूक्तेन निष्पाद्यन्ते। तत्रायं क्रमः— प्रथमपर्याये आवृत्तिः पञ्चभिः, तत्रादौ तिसृभिर्ऋग्भिर्गायेत, इतरे द्वे सकृद् गायेत। द्वितीयपर्याये प्रथमां सकृद् मध्यमां तिसृभिस्तृतीयां सकृत्। तृतीयपर्याये—आद्ये द्वे सकृत् तृतीयां तिसृभिरिति पञ्चदशस्तोमसम्बधिनी विष्टुतिः पञ्चपञ्चिनीत्यभिधीयते। शतपथीयसायणभाष्ये तु ताण्ड्यब्राह्मणानुसारेण स्तोमा दर्शिताः ॥ ११ ॥

तृतीयो मन्त्रः—हे यजमान, त्वं प्रतीचीं दिशमारोह। जगती छन्दस्त्वामवतु। 'यद् याव इन्द्र ते शतम्' (ऋ० सं० ८।७०।५) इत्यस्यामृच्युत्पन्नं वैरूपं साम। सप्तदशः स्तोमः। वर्षा ऋतुः। विड् वैश्यो जातिलक्षणं द्रविणमवतु। यद्वा वैश्यजातिस्ते द्रविणमवतु। सप्तदशः स्तोमस्तु सामब्राह्मणे (२५।२।२७)—'पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया····सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिर्दशसप्ता सप्तदशस्य विष्टुतिः' इति। प्रथमपर्याये प्रथमोत्तमे सकृन्मध्यमां त्रिर्गायेत्। तृतीयपर्याये प्रथमां सकृद् गायेद् मध्यमोत्तमे त्रिरिति सप्तदशस्तोमस्य विविधस्तुतिर्दशसप्तेत्यभिधीयत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

हे यजमान, त्वमुदीचीं दिशमारोह। अनुष्टुप् छन्दस्त्वामवतु। 'पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा' (ऋ० सं० ७।२२।१) एतस्यामृच्युत्पन्नं वैराजं साम। एकविंशः स्तोमः। शरदृतुः। फलं यज्ञफललक्षणं द्रविणम्। सायणस्तूदुम्बरादिफलमित्याह। एकविंशः स्तोमश्च सामब्राह्मणे (२५।२।१४)—'सप्तभ्यो हिङ्करोति। स एकया

मन्त्रार्थ—हे यजमान ! तुम पश्चिम दिशा की ओर आक्रमण करो। जगती छन्द, वैरूप साम, सप्तदश स्तोम, वर्षा ऋतु और वैश्य सम्बन्धी ऐश्वर्य तुम्हारी रक्षा करें ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान ! तुम उत्तर दिशा की ओर आक्रमण करो। अनुष्टुप् छन्द, वैराज साम, एकविंश स्तोम, शरद् ऋतु और यज्ञफलरूप ऐश्वर्य तुम्हारी रक्षा करे ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान ! तुम ऊर्ध्व दिशा की ओर आक्रमण करो। पंक्ति छन्द, शक्वर और रैवत साम, त्रिणव और त्रयस्त्रिंश स्तोम, हेमन्त और शिशिर ऋतु तथा तेजोभिमानी देवता का ऐश्वर्य तुम्हारी रक्षा करें। नमुचि असुर का सिर बहुत दूर फेंका गया है ॥ १४ ॥

भाष्यसार—यहाँ चार कण्डिकाओं की व्याख्या एक साथ की गई है। कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।२२) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार 'प्रत्यस्तम्' इत्यादि अन्तिम मन्त्र से व्याघ्रचर्म के पश्चिम भाग में रखे गये सीस द्रव्य को पैर से फेंका जाता है। शेष मन्त्रों का विनियोग पूर्व प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में इन कण्डिकाओं का अर्थ क्रमशः इस प्रकार है—

हे साधक, तुम दक्षिणाम्नाय के मन्त्रसाधन द्वारा समुपलब्ध सिद्धि को अधिगत करो। उस पर आरूढ़ तुम्हारा रक्षण त्रिष्टुप् छन्द आदि करें।

हे साधक, पश्चिमाम्नाय की मन्त्रोपदिष्ट सिद्धि पर आरोहण करो। ऐसे तुमको जगती छन्द आदि रक्षित करें।

हे साधक, उत्तराम्नाय के मन्त्र से साधन करने योग्य सिद्धि पर आरूढ़ होओ। उसमें अनुष्टुप् छन्द आदि तुम्हारी रक्षा करें।

स तिसृभिः स एकया स तिसृभिः सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स तिसृभिः सप्तसप्तिन्येकविंशस्य विष्टुतिः' इति । प्रथमपर्याये प्रथममध्यमे त्रिर्गायेद् उत्तमां सकृत् प्रथमोत्तमे त्रिर्गायेदित्येकविंशस्तोमस्य विष्टुतिः सप्तसप्तिनीत्युच्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

हे यजमान, त्वमूर्ध्वां दिशमाक्रमस्व । पङ्क्तिश्छन्दः । 'प्रो ष्वस्मै पुरोरथम्' (ऋ० सं० १०।१३३।१) इत्यस्यामृच्यध्यूढं शाक्वरं साम, 'रेवतीर्नः सधमाद' (ऋ० सं० १।३०।१३) इत्येतस्यामृच्यध्यूढं रैवतं साम । त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ । हेमन्तशिशिरावृतू । वर्चस्तेजो ब्रह्मवर्चसं वा द्रविणम् । एते त्वामवन्तु । यद्वा वर्चस्तेजोऽभिमानी देवस्ते धनं रक्षतु । अत्र पञ्चसु मन्त्रेषु मध्ये त्रिषु मन्त्रेषु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या धनरक्षकत्वेन धनरूपत्वेन च कथिताः । चतुर्थे यज्ञफलस्योदुम्बरादिफलस्य वा तद्रूपत्वं तद्रक्षकत्वम् । पञ्चमे च वर्चसः प्रख्यातशूरताकृतस्य तेजसो रक्षकत्वं तद्रूपत्वं चोक्तम् ।

त्रिणवः स्तोम एवमाम्नातः (प० ब्रा० ३।१)—'नवभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स पञ्चभिः स एकया नवभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स पञ्चभिर्नवभ्यो हिङ्करोति स पञ्चभिः स एकया स तिसृभिर्वज्रो वै त्रिणवः' इति । प्रथमपर्याये प्रथमां त्रिर्गायेत्, मध्यमां पञ्चकृत्वः, उत्तमां सकृत् । द्वितीयपर्याये प्रथमां सकृत्, मध्यमां त्रिरुत्तमां पञ्चकृत्वो गायेत् । तृतीयपर्याये प्रथमां पञ्चकृत्वो मध्यमां सकृदुत्तमां त्रिर्गायेत् । सोऽयं त्रिरावृत्तनवसंख्योपेतत्वात् त्रिणवनामको वज्रसमानः स्तोमः । त्रयस्त्रिंशः स्तोम एवमाम्नातः (प० ब्रा० ३।३)— 'एकादशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स सप्तभिः स एकयैकादशभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिरन्तो वै त्रयस्त्रिंशः' इति । प्रथमपर्याये प्रथमां त्रिर्गायेद् मध्यमां सप्तकृत्व उत्तमां सकृत्, द्वितीयपर्याये प्रथमां सकृन्मध्यमां त्रिरुत्तमां सप्तकृत्वः, तृतीयपर्याये प्रथमां सप्तकृत्वो मध्यमां सकदुत्तमां त्रिर्गायेत् । सोऽयं त्रयस्त्रिंशः स्तोमः सर्वेषां स्तोमानामन्तः । 'आक्रम्य पादेन सीसं निरस्यति प्रत्यस्तमिति' (का० श्रौ० १५।५।२२) । व्याघ्रचर्म-पश्चाद्भागे निहितं सीसमाक्रम्य पादेन क्षिपेत् । असुरदेवत्यम् । नमुचेरसुरस्य शिरो मस्तकं प्रत्यस्तम्, प्रतिगृह्य सीसरूपे क्षिप्तमित्यर्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'दक्षिणामारोह·····' (श० ५।४।१।४), 'प्रतीचीमारोह । जगती·····' (श० ५।४।१।५), 'उदीचीमारोह·····' (श० ५।४।१।६), 'ऊर्ध्वामारोह । पङ्क्तिस्त्वा·····' (श० ५।४।१।७), 'तद्यदेनं दिशः समारोहयति । ऋतूनामेवैतद्रूपमृतूनेवैनमेतत्संवत्सरꣳ समारोहयति स ऋतून् संवत्सरꣳ समारुह्य सर्वमेवेद-मुपर्युपरि भवत्यर्वागेवास्मादिदꣳ सर्वं भवति' (श० ५।४।१।८) । दिशां समारोहणं समस्य (समुच्चित्य) संवत्सरारोहात्मना प्रशंसति—संवत्सरं समारोहयतीति । हेमन्तशिशिरयोः समासेन ऋतूनामपि पञ्च-संख्यात्मकत्वात् संवत्सरारोहणेन यजमानः सर्वमेवेदं जगद् उपर्युपरि भवति, सर्वस्योपरि वर्तमानो भवतीत्यर्थः । कालस्य सर्वेषामुपरिभावाद् अस्मात् सुन्वतो यजमानात् सकाशाद् इदं सर्वम् अर्वाग् अर्वाचीनमधस्तनं भवति । 'शार्दूलचर्मणो जघनार्धे । सीसं निहितं भवति तत्पदा प्रत्यस्यति प्रत्यस्तं नमुचेः शिर इति नमुचिर्ह वै नामासुर आस तमिन्द्रो निविव्याध तस्य पदा शिरोऽभितष्ठौ स यदभिष्ठित उदबाधत स उच्छ्वङ्कस्तस्य पदा शिरः प्रचिच्छेद ततो रक्षः समभवत् तद्ध स्मैनमनुभाषते क्व गमिष्यसि क्व मे मोक्ष्यस इति' (श० ५।४।१।९) । पूर्वं मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्तादभिनिहितानामभिषेचनीयपात्राणामग्रे आस्तृतस्य शार्दूलचर्मणोऽपरेऽन्ते निहितस्य सीसस्य प्रासनमिदानीं विधत्ते—शार्दूलचर्मण इति । शार्दूलचर्मणो जघनार्धेऽ-

---

हे साधक, ऊर्ध्वाम्नाय के मन्त्र से साधनीय सिद्धि पर आरोहण करो । उसमें पंक्ति छन्द आदि तुम्हारी रक्षा कर । तुम्हारी सिद्धि में बाधक नमुचि नामक असुरविशेष का सिर प्रक्षिप्त हो जाय ।

परभागे निहितं पूर्वं चर्मास्तरणसमय एव निहितम्, 'अपरेऽन्ते सीसं निदधाति' (का० श्रौ० १५।५।२), अत्र तु 'आक्रम्य पादेन निरस्यति प्रत्यस्तमिति' (का० श्रौ० १५।५।२२) इति तत्सीसं पदाक्रम्य प्रत्यस्तमिति मन्त्रेण निरस्येत्। मन्त्रस्तु व्याख्यात एव। नमुचिशिरसः सीसेन निरसनमाख्यायिकयोपपादयति— नमुचिर्हेति। पूर्वमिन्द्रो नमुचिनाम्नोऽसुरस्य शिरः स्वेन पादेनाभितष्ठौ आचक्रमे। स आक्रान्त उदबाधत इन्द्रं बाधितवान्। उच्छ्वङ्क उद्गतः श्वङ्कः कश्चिद्धिंसकः श्वाकारः, प्राणिविशेषरूपेणेति शेषः। इन्द्रोऽपि तस्य शिरः पादेन स्वीयेन प्रचिच्छेद। ततः स च्छिन्नशिरा राक्षसोऽभवत्। स चैनं घातकमिन्द्रमनुभाषते हे इन्द्र क्व गमिष्यसि मे मत्तः सकाशान्न मोक्ष्यसे। तस्मात्तथावदनात् स नमुचिरित्युक्तः। 'तत्सीसेनापजघान। तस्मात्सीसं मृदु सृतजवꣳ हि सर्वेण हि वीर्येणापजघान तस्माद्धिरण्यरूपꣳ सन्न कियच्चनार्हति सृतजवꣳ हि सर्वेण हि वीर्येणापजघान तद्वै स तन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यपजघान तथो एवैष एतन्नाष्ट्रा रक्षाꣳस्यतोऽपहन्ति' (श० ५।४।१।१०)। तदेतद्वदन्तं राक्षसमिन्द्रः सीसेनापजघान। तस्मात्सीसं मृदु जातम्। हि यस्मात् सृतजवं गतवेगं हि यस्मात् सर्वेण वीर्येणापजघान, तस्माद् गतसारमेतत्सीसं हिरण्यरूपं रजतरूपं सद् अपि कियच्चिद् मूल्यं नार्हति न लभते। इदानीं तु विशेषपरिष्कारेण दूरवीक्षणादिषु प्रयुक्तं सद् यन्मूल्यवद् भवति, तत्तु परिष्कार-माहात्म्यम्। रजतस्यापि कृते हिरण्यशब्दव्यवहारो भवति, 'यदशीर्यत्तद्रजतꣳ हिरण्यमभवत्' (तै० सं० १।५।१) इति श्रुतेः। अतः पूर्वं रक्षसः सीसेन हतत्वादिदानीमपि सीसप्रासनेन रक्षांसि हतानि भवन्तीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षेऽमूषां कण्डिकानामर्थः क्रमशो यथा—हे साधक, त्वं दक्षिणां दिशं दक्षिणाम्नायमन्त्र-साधनोत्थां सिद्धिमारोह स्वायत्तां कुरु। तामारूढं त्वा त्रिष्टुबादयः पान्तु (१०।११)। हे साधक, पश्चिमा-म्नायमन्त्रोक्तां सिद्धिमारोह। तादृशं त्वां जगत्यादयः पान्तु (१०।१२)। हे साधक, उदीचीमुत्तराम्नाय-मन्त्रसाध्यां सिद्धिमारोह। तत्रानुष्टुबादयस्त्वां पान्तु (१०।१३)। हे साधक, ऊर्ध्वाम्नायमन्त्रसाध्यां सिद्धिमारोह। तत्र त्वां पङ्क्त्यादयः पान्तु। नमुचेरसुरविशेषस्य तव सिद्धिबाधकस्य शिरः प्रत्यस्तं प्रक्षिप्तमस्तु, मदाशीर्वचनेनेति शेषः (१०।१४)।

अमूषां चतसृणां कण्डिकानां विषये दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् राजन्, यं त्वां त्रिष्टुब् एतच्छन्दोऽभिहित-विज्ञानं त्वाम् अवतु प्राप्नोतु, बृहद् महत् साम सामवेदः, पञ्चदशः प्राणेन्द्रियभूतानां पञ्चदशानां पूरकः स्तोमः स्तोतुं योग्यः, ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रियधर्मरक्षकं त्वामवन्तु, स त्वं दक्षिणां दिशमारोह शत्रून् विजयस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तदुक्तार्थस्य रथन्तरबृहदादिसाम्नां त्रिवृत्स्तोमपञ्चदशस्तोमादिस्तोमानां चाज्ञानविजृम्भित-त्वात्। त्रिष्टुप्छन्दोऽभिहितं विज्ञानमित्यपि निर्मूलमेव, तदनिरूपणात् (१०।११)। हे राजन्, यं त्वां जगतीच्छन्दोऽभिहितमर्थं वैरूपं विविधानि रूपाणि यस्मिन् तत्साम सामवेदांशः, सप्तदशः पञ्चकर्मेन्द्रियाणि पञ्चविषयाः पञ्च भूतानि कार्यं कारणं चेति सप्तदशानां पूरकः स्तोमः स्तुतिसमूहः, ऋतुर्वर्षा, विड् वणिग्जनः

इन चार कण्डिकाओं के विषय में स्वामी दयानन्द का अर्थ असंगत है। उसमें कथित रथन्तर, बृहत् आदि सामों तथा त्रिवृत्, पञ्चदश आदि स्तोमों का अज्ञानपूर्ण अर्थ है। त्रिष्टुप् छन्द से उपदिष्ट विज्ञान का व्याख्यान भी उसका निरूपण न होने के कारण निर्मूल है।

इसी प्रकार 'जगती' इस पद के छन्दःपरक होने के कारण विशिष्ट अर्थ का अभाव है। जगती छन्द के अनेक मन्त्र हैं, उनका एक ही अर्थ असम्भव है। बृहद्, रथन्तर आदि की भाँति वैरूप नामक भी एक साम ही है, सप्तदश का पूरक स्तुतिसमूह नहीं है। ये इन्द्रियादि भी नहीं हैं, क्योंकि वे अर्थात्मक हैं।

द्रविणं द्रव्यमवतु। स त्वं प्रतीचीमारोह धनं च लभस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जगतीत्यस्य छन्दस्त्वेन विशिष्टार्थत्वाभावात्। अनेके मन्त्रा जगतीछन्दस्का भवन्ति, तेषामेकार्थत्वाभावात्। वैरूपं नाम बृहद्रथन्तरादिवत् सामविशेष एव, न च सप्तदशानां पूरकः स्तुतिसमूहः, न चेन्द्रियादयः, तेषामर्थात्मकत्वात् (१०।१२)। हे सभापते, त्वमुदीचीं दिशमारोह तत्र प्रसिद्धो भव। यतोऽनुष्टुप्, यया पठित्वा पुनः सर्वा विद्या अन्येभ्यः स्तुवन्ति सा त्वाव। वैराजं यद्विविधैरर्थै राजते तदेव साम। एकविंशः स्तोमः षोडश कलाश्चत्वारः पुरुषार्थावयवाः कर्ता चेति तेषामेकविंशतेः पूरणः स्तोमः स्तुतिविषयः, शरदृतुः फलं सेवाफलदं शूद्रकुलं द्रविणं त्वामवतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुष्टुप्छन्दसि तादृशचमत्कृत्याधायकत्वे मानाभावात्। न च षोडशकलादयः स्तुतिविषयाः, स्तुतेरप्रसक्तत्वात्, विशेषानिर्देशाच्च। न च विट्स्तुतिः, न च वैराजस्य विविधार्थत्वं बृहद्रथन्तरादीनां तदभावत्वं वक्तुं शक्यम्, निष्प्रमाणत्वात् (१०।१३)। हे राजन्, यद्यूर्ध्वां दिशमारोह तर्हि पङ्क्तिस्त्वामवतु। शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्रयश्च काला नवाङ्कविद्याश्च त्रयश्च त्रिंशच्च वस्वादयः पदार्था व्याख्याता याभ्याम्, तयोः पूरणौ तौ स्तोमौ स्तुतिविशेषौ। हेमन्तशिशिरा ऋतू वर्चो विद्याध्ययनं द्रविणं द्रव्यं चावतु। नमुचेः, न मुञ्चति परपदार्थान् दुष्टाचारान् वा यः स्तेनस्तस्य शिर उत्तमाङ्गं प्रत्यस्तं प्रतिक्षिप्तं स्यात्' इति, तदपि प्रलापमात्रम्, वेदार्थाज्ञानविजृम्भितत्वात्। चार्वाकप्रायस्य तवोर्ध्वलोकाभावात् कुत ऊर्ध्वायां प्रसिद्धिः स्यात्? कौ च तौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ स्तुतिविशेषौ, याभ्यां त्रयः काला नवाङ्कविद्यादयो व्याख्यायन्ते? तस्मादेतत् सर्वं दशहस्ता हरीतकीति वाक्यायितमेव ॥ ११-१४ ॥

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात्। मृत्योः पाह्योजोऽसि सहोऽस्यमृतमसि ॥१५॥

'व्याघ्रचर्मारोहयति सोमस्य त्विषिरिति' (का० श्रौ० १५।५।२३)। अभिषेकार्थं बाहुगृहीतं यजमानं राजानं व्याघ्रचर्मण्यारोहयति। चर्मदेवत्यम्। हे व्याघ्रचर्म, त्वं सोमस्य त्विषिर्दीप्तिरसि, तवेव मे ममापि त्विषिर्भूयात्। 'रुक्ममधःपदं कुरुते मृत्योरिति' (का० श्रौ० १५।५।२४)। अध्वर्युर्यजमानपादयोरधस्ताद् रुक्मं परिमण्डलं सौवर्णं निदध्यात्। नवसंख्यायुक्तनिष्कपरिमितं सुवर्णं यजमानस्य शिरसि कुर्यादिति सायणाचार्यः। रुक्मदैवतम्। हे सुवर्ण, त्वं मृत्योर्मारकात् सकाशाद् एनं यजमानं पाहि गोपाय। 'शिरसि च नव-

---

अनुष्टुप् छन्द में उस अर्थ के अनुसार चमत्कारयुक्त होने में कोई प्रमाण नहीं है। षोडश कला आदि स्तुति के विषय नहीं हैं, क्योंकि स्तुति का कोई प्रसंग नहीं है तथा विशेष निर्देश भी नहीं है। प्रजाओं की स्तुति भी यहाँ नहीं है तथा वैराज शब्द का विविध अर्थ करना भी प्रमाण के अभाव में अनुपयुक्त है।

पूर्व की भाँति चौदहवीं कण्डिका की व्याख्या भी वेदार्थ के समुचित ज्ञान के अभाव के कारण प्रलापवत् ही है। चार्वाक की भाँति उस मत में भी ऊर्ध्व लोक का अभाव होने पर 'ऊर्ध्वायाम्' इसकी संगति कैसे सम्भव है? वे दोनों त्रिणव तथा त्रयस्त्रिंश स्तोम नामक कौन से स्तुतिविशेष हैं, जिनसे तीन काल तथा नवांक विद्या आदि की व्याख्या की जाती है? इस कारण यह सब 'दस हाथ की हर्रे होती है' इत्यादि वाक्यों की भाँति ही अप्रामाणिक है ॥ ११-१४ ॥

मन्त्रार्थ—हे व्याघ्रचर्म! तुम सोम की कान्ति हो, तुम्हारी कान्ति मुझे भी मिले। हे सुवर्ण, तुम मेरी मृत्यु से रक्षा करो। हे सुवर्णमण्डल, तुम ओजस् स्वरूप हो, साहस रूपी धन से सम्पन्न हो। दृढ़ मनोबल और शारीरिक शक्ति से ये सब गुण बिना किसी प्रकार की हानि के हमारे भीतर भी चिरस्थायी हों ॥ १५ ॥

भाष्यसार—'सोमस्य त्विषिरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से व्याघ्रचर्म पर आरोहण, रुक्म स्वर्ण का निधान आदि

तदूर्मँ शततदूर्मं वौजोऽसीति' (का० श्रौ० १५।५।२५)। यजमानस्य मस्तके नवच्छिद्रं शतच्छिद्रं वा परिमण्डलसौवर्णं द्वितीयं रुक्ममध्वर्युर्निदध्यात् । हे रुक्म, त्वमोजोऽसि जेष्याम्यमुमिति या प्रतिज्ञारूपा मनोवृत्तिः सौजः । त्वं सहोऽसि बाह्यं शारीरं बलं सहः, तद्रूपमसि । अमृतं विनाशरहितमसि, अग्निदाहादावप्यविनाशदर्शनात् । तत एनं पाहीत्यभिप्रायः । अमृतं प्राणबलमसीति वा, 'प्राणो वा अमृतम्' इति श्रुतेः ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथैनँ शार्दूलचर्मारोहयति··· ' (श० ५।४।१।११) । स्पष्टार्थम् । 'अथ रुक्ममधस्तादुपास्यति । मृत्योः पाहीत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदमृत आयुषि प्रतितिष्ठति' (श० ५।४।१।१२) । हे रुक्म, मृत्योरेनं पाहि । रुक्मस्य मृत्युपरिहारकत्वमुपपादयति—अमृतमिति । हिरण्यममृतमायुः, हिरण्यदानेनापमृत्योः परिहर्तुं शक्यत्वादायुःप्रदत्वम् । पादस्याधःप्रदेशे रुक्मनिधानेन आयुष्येव प्रतिष्ठितवान् भवति । 'अथ रुक्मः शतवितृण्णो वा भवति । नववितृण्णो वा स यदि शतवितृण्णः शतायुर्वा अयं पुरुषः शततेजाः शतवीर्यस्तस्माच्छतवितृण्णो यद्यु नववितृण्णो नवेमे पुरुषे प्राणास्तस्मान्नववितृण्णः' (श० ५।४।१।१३) । शिरसि निधीयमानस्य रुक्मस्य कञ्चिद् गुणं विधत्ते—अथ रुक्म इति । शतवितृण्णः शतच्छिद्रः, नववितृण्णो नवच्छिद्रो वा भवेत् । तदुभयं क्रमेणायुःप्राणात्मना प्रशंसति—स यदीति । आयुरनुसारेण तेजोवीर्ययोरपि शतसंख्याकत्वं ज्ञातव्यम् । श्रोत्र-त्वक्-चक्षू-रसन-घ्राणा मनोबुद्धी प्राणापानौ चेतीमे नव प्राणाः । 'तमुपरिष्टाच्छीर्ष्णो निदधाति । ओजोऽसि सहोऽस्यमृतमसीत्यमृतमायुर्हिरण्यं तदस्मिन्नमृतमायुर्दधाति तद्यद् रुक्मा उभयतो भवतोऽमृतमायुर्हिरण्यं तदमृतेनैवैनमेतदायुषोभयतः परिबृँहति तस्माद् रुक्मा उभयतो भवतः' (श० ५।४।१।१४)। तस्य शिरसि रुक्मनिधानं विधत्ते—शीर्ष्णो निदधातीति । ओजो मनोबलम्, 'प्राणो वा अमृतम्' इति श्रुतेः । हे रुक्म, तत् त्रितयरूपोऽसीति मन्त्रार्थः । अधस्तादुपरिष्टाच्च रुक्मनिधानमायुःप्रवृद्धिरूपेण प्रशंसति—तद्यद् रुक्मा उभयत इति । रुक्मौ उभयतः, 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० सू० ८।३।१९) इति वकारलोपः । उभयतो रुक्मनिधानेन एनं यजमानममृतरूपेण आयुषा उभयतः परिबृंहति संवर्धितवान् भवति ।

अध्यात्मपक्षे हे आचार्य, त्वं सोमस्य साम्बसदाशिवस्य त्विषिर्विज्ञानज्योतिरसि । तवेव ममापि त्विषिर्भूयात् । 'आचार्यं मां विजानीयात्' इत्याचार्यप्रसादात् तत्त्वज्ञानादिवैशिष्ट्यं प्राप्तुं शक्यते । हे आचार्य, त्वमोजोऽसि मानसं बलमसि, सहोऽसि शारीरं बलमसि, अमृतमसि तद्धेतुत्वादत्र तद्रूपतोपचर्यते, आचार्योपासनाया मानसबलादिप्राप्तिहेतुत्वावगमात्—'अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः । चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥' (म० स्मृ० २।१२१), सोमज्योतिर्मयत्वाच्च तत्प्रार्थनया तदुत्पत्त्युपपत्तेः । हे आचार्य, मां मृत्योः संसारसर्पात् तत्त्वज्ञानोत्पादनद्वारा अविद्यातत्कार्यात्मकप्रपञ्चविधूननेन रक्ष ।

कार्य सम्पादित किये जाते हैं । याज्ञिक प्रक्रिया का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।२३-२५) में उल्लिखित है । शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है ।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे आचार्य, आप साम्ब सदाशिव के विज्ञानज्योतिर्मय रूप हैं । आपकी भाँति मुझे भी ज्योति प्राप्त हो । हे आचार्य, आप मानसिक बल हैं, शारीरिक बल हैं तथा अमृत हैं । इनके कारण होने से यहाँ तद्रूपता का कथन किया गया है, क्योंकि आचार्य की उपासना मानस बल आदि को प्राप्त करने में कारणभूत है, यह मनुस्मृति आदि के प्रमाण-वाक्यों से ज्ञात है । शिव की ज्योति से युक्त होने के कारण उनकी प्रार्थना से इन गुणों की उत्पत्ति भी संगत है । हे आचार्य, मुझे संसाररूपी सर्प से तत्त्वज्ञान के उत्पादन के द्वारा अविद्या तथा उसके कार्यभूत प्रपञ्च का नाश कर रक्षित करें ।

दयानन्दस्तु—'हे परमात्म, यथा त्वं सोमस्य ऐश्वर्यस्य त्विषिर्दीप्तिरसि, ओजोऽसि पराक्रमयुक्तोऽसि, सहोऽसि बलवानसि, अमृतं मरणधर्मरहितमसि, तथाऽहं भवेयम्, तथैव मे त्विषिरोजः सहोऽमृतं च भूयात्। त्वं मृत्योर्मां पाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशप्रार्थनाया निःसारत्वात्। नहि कस्यचिन्मनुष्यस्य प्रार्थनया कश्चिदोजः सहोऽमृतं वा लब्धुं शक्नोति। न वा कश्चिन्मृत्योर्मोचयितुं शक्नोति, अपसिद्धान्तापातात्॥ १५॥

हिर॑ण्यरूपा उ॒षसो॑ वि॒रोक॑ उ॒भावि॑न्द्रा॒ उदि॑थः॒ सूर्य॑श्च। आरो॑हतं वरुण मित्र॒ गर्तं॒ तत॑श्चक्षाथा॒मदि॑तिं॒ दितिं॑ च मि॒त्रोऽसि॒ वरु॑णोऽसि॥ १६॥

'बाहू उद्गृह्णाति हिरण्यरूपाविति' (का० श्रौ० १५।५।२६)। यजमानः स्वबाहू ऊर्ध्वौ कुर्यात्, अध्वर्युर्यजमानबाहू ऊर्ध्वं करोतीति केचित्। मित्रावरुणदेवत्या त्रिष्टुब् यजुरन्ता। मित्रोऽसीति यजुः। हे वरुण, हे मित्र, इति बाहुद्वयस्य पृथक् पृथक् सम्बुद्धिः। वरुणः शत्रुनिवारको दक्षिणो बाहुः। मित्रो मित्रवत्परिपालको वामो बाहुः। हिरण्यरूपौ हितरमणीयरूपौ हिरण्यस्वरूपौ ज्योतिर्मयौ वा, स्वर्णरत्नाद्यलङ्कारवत्त्वात्। हे हिरण्यरूपौ मित्रावरुणौ इति वा सम्बुद्धिः। इन्द्रौ परमैश्वर्यसामर्थ्यादिसम्पन्नौ उभौ युवामुषसः सूर्यदुहितुर्विरोके व्युत्थानकाले समाप्तौ वा उदिथ उदयं कुरुथः, 'इण् गतौ' इत्यस्योदुपसर्गपूर्वकस्य मध्यमद्विवचने उदिथ इति रूपम्। सूर्योदयानन्तरं स्वस्वव्यापारे प्रवर्तेथे इत्यर्थः। सूर्यश्च भगवान् भास्करश्च उदेति, ययोर्युवयोः कार्यसम्पादनाय हे मित्रावरुणौ बाहुरूपौ गर्तं पुरुषमारोहतम्, पुरुषस्योपरि भवतमित्यर्थः, 'बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः' (श० ५।४।१।१५) इति श्रुतेः। ततोऽनन्तरमदितिमखण्डनीयां पृथिवीरूपाम्, अदितिरिति पृथ्वीनामसु (निघ० १।१।१४), स्वीयां प्रजां वाऽनुग्रहपूर्णदृष्ट्या चक्षाथां पश्येताम्। दितिं खण्डनीयां परसेनां च निग्रहार्थं पश्येताम्। तस्य तद्बाहुद्वयमेव स्वबलं रक्षति, परबलं च हन्ति। एवमध्यात्ममर्थः। अथाधिदैवम्—हे मित्रावरुणौ देवते, गर्तं रथं रथोपरिभागं गर्तसदृशं परकीयशस्त्रास्त्रादिभ्यो रक्षणाय वज्रायसादिमयैरावरणैराच्छादितं रथ्यासादनस्थानं गर्तसदृशं भवति। 'गर्त इति गृणातेः स्तुतिकर्मणः' (निरु० ३।५) इति रीत्या रथोऽपि गर्तः। ततो रथारोहणानन्तरम् अदितिम् अदीनं समर्थं विहितकर्मणः कर्तारं पुरुषं चक्षाथां प्रपश्यतम्। दितिं दीनं विवेकरहितं नास्तिकवृत्तिं च पुरुषं चक्षाथाम्। कीदृशौ? यौ उषसो विरोके विरोचने उषःकालानन्तरं वा उदिथः। सूर्यश्च तदोदेति कार्यसौकर्याय। पुनः कीदृशौ? हिरण्यरूपौ ज्योतिर्मयौ परमतेजस्विनौ।

शातपथी श्रुतिश्च स्पष्टं बाहूद्ग्रहणविधानपूर्वकमुभयथा व्याचष्टे मन्त्रमिमम्। तथाहि—'अथ बाहू उद्गृह्णाति। हिरण्यरूपा ·· ततश्चक्षाथामदितिं दितिं चेति बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तस्तस्मादाहारोहतं वरुण

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ में की गई प्रार्थना के सारहीन होने के कारण औचित्य नहीं है। किसी मनुष्य की स्तुति के द्वारा कोई भी पराक्रम, बल तथा अमरता नहीं प्राप्त कर सकता अथवा कोई भी मृत्यु से नहीं छूट सकता। इससे सिद्धान्त में हीनता प्राप्त होती है॥ १५॥

मन्त्रार्थ—हे शत्रुनिवारक दक्षिण बाहु और हे मित्र के समान रक्षा करने वाले वाम बाहु! तुम दोनों इस यजमान में आरोहण करो। सुवर्ण के अलंकार आदि से युक्त, सुवर्ण के समान भासमान, सब प्रकार की सामर्थ्य से युक्त तुम दोनों रात्रि के बीतने के साथ जाग्रत् हो जाओ। सूर्य भी उस समय तुम्हारा कार्य सम्पादन करने के लिये उदित होता है। जागने के साथ ही अपनी अपराजेय सेना को अनुग्रह और शत्रु की पराजित सेना को निग्रह की दृष्टि से देखो। तुम दोनों मित्र के समान रक्षा करने वाले और शत्रुओं का नाश करने वाले हो॥ १६॥

भाष्यसार—'हिरण्यरूपा' इस कण्डिका के मन्त्रों का विनियोग यजमान द्वारा अपनी भुजाओं को ऊपर उठाने में

मित्र गर्तमिति ततश्चक्षाथामदितिं दितिं चेति ततः पश्यतᳬ स्वं चारणं चेत्येवैतदाह' (श० ५।४।१।१५)। ऊर्ध्वौ प्रसारितौ बाहू यजमानः कुर्यात्। अन्तिमपादस्यार्थमाह—ततः पश्यतमिति। स्वं स्वीयम् अरणमरमणीयं परं च पश्यतम्। अदितिशब्दस्य स्वोऽर्थः, दितिशब्दस्य परोऽर्थ इति विभागः। यद्वा कदा रथमारोहतमित्याह—उषसो विरोक इति। उषःकालान्तरं यदा सूर्यश्चोद्गतस्तदा रथमारोहतमित्यर्थः। अत्र मित्रोऽसि वरुणोऽसीत्ययमेव मन्त्रो बाहूद्ग्रहणे विधास्यते। तत्र पूर्वपक्षत्वेन मन्त्रं पठति—हिरण्यरूपाविति। कात्यायनस्तु विकल्पेन सूत्रयामास—'बाहू उद्गृह्णाति हिरण्यरूपाविति, मित्रोऽसि वरुणोऽसीति वा' (का०श्रौ० १५।५।२६-२७)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। 'नैतेनोद्गृह्णीयात्। मित्रोऽसि वरुणोऽसीत्येवोद्गृह्णीयाद् बाहू वै मित्रावरुणौ बाहुभ्यां वै राजन्यो मैत्रावरुणस्तस्मान्मित्रोऽसि वरुणोऽसीत्येवोद्गृह्णीयात्' (श० ५।४।१।१६)। पूर्वेण मन्त्रेण बाहूद्ग्रहणं दूषयित्वा मित्रोऽसीत्यादिमन्त्रेणैवोद्गृह्णीयादित्याह—नैतेनेति। 'तद्यदेनमूर्ध्वबाहुमभिषिञ्चति। वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू वीर्यं वा एतदपाᳬ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति नेन्म इदं वीर्यं वीर्यमपाᳬ रसः संभृतो बाहू बिलनादिति तस्मादेनमूर्ध्वबाहुमभिषिञ्चति' (श० ५।४।१।१७)। ऊर्ध्वबाहुत्वेनैव स्थितस्य यजमानस्याभिषेको विधास्यते। तदर्थमूर्ध्वबाहुत्वं प्रशंसति—तद्यदेनमिति। राजन्यस्य बाहू एव वीर्ये। अभिषेचनीयपात्रेषु व्यासिक्तानामपां रसोऽपि वीर्यम्, वीर्यापादकत्वात्। अतस्तेन रसेनाभिषेके ऊर्ध्वबाहुत्वमेव युक्तम्। तस्य कारणमाह—नेन्म इति। न मम इदं वीर्यं वीर्यरूपौ बाहू (कर्म) वीर्यरूपोऽपां रसो नेद् बिलनान्न वर्जयेत्, अतो हेतोरूर्ध्वबाहुमेव यजमानमभिषिञ्चेदित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे रामलक्ष्मणौ, युवां हिरण्यरूपौ ब्रह्मज्योतिर्मयौ उषसोऽविद्यारात्रेर्विमोके समाप्तौ तन्निमित्तेन वा गर्तं मदीयहृदयरूपं भवनमारोहतं प्रादुर्भवतम्। युवामिन्द्रौ परमैश्वर्यवन्तौ समर्थौ वा अनन्तब्रह्माण्डकल्याणाय युवां सूर्यश्चकाराच्चन्द्रश्च उदिथ उदयं कुरुथः। तावेव मित्रावरुणरूपेण स्तौति—वरुण मित्रेति। हे मित्र, सर्वप्राणिपरप्रेमास्पद सर्वस्य मित्र! सर्वसखत्वाच्च श्रीराम एव सर्वस्य मित्रं भवति, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति श्रुतेः। हे वरुण, सर्वमित्रावरक लक्ष्मण! युवां भक्तानां हृदयभवनमारुह्य अदितिमखण्डनीयां रक्षणीयां शमदमादिसेनाम्, दितिं खण्डनीयां प्रतिकूलां कामक्रोधादिसेनाम्; अदितिम् अदीनं भगवत्परायणं तत्त्वज्ञम्, दितिं दीनं नास्तिकवृत्तिं च पश्यतम्। आस्तिकमनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या कृतार्थयतम्, नास्तिकं निग्रहरूपया क्रूरदृष्ट्या क्षपयतम्।

किया गया है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।२६) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में इस ऋचा का अधियज्ञ तथा अधिदैव व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे श्रीराम तथा लक्ष्मण, ब्रह्मज्योतिर्मय आप दोनों अविद्यात्मक रात्रि के समाप्त होने पर अथवा उस कारण से मेरे हृदयरूपी भवन में प्रादुर्भूत हों। आप दोनों परमैश्वर्यशाली अथवा समर्थ, अनन्त ब्रह्माण्ड के कल्याण के लिये सूर्य तथा चन्द्र का भी उदय करते हैं। श्रीराम तथा लक्ष्मण की ही मित्र एवं वरुण के रूप में स्तुति की जाती है कि हे सम्पूर्ण प्राणियों के परम प्रेमास्पद सबके मित्र श्रीराम! सबके सखा होने के कारण श्रीराम ही सबके मित्र हैं। 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि श्रुति के कारण भी यह सिद्ध है। हे समस्त शत्रुओं के निवारक लक्ष्मण, आप दोनों भक्तों के हृदयरूपी भवन में आरूढ होकर रक्षणीय शम-दम आदि गुणों की सेना को तथा खण्डनीय प्रतिकूल काम-क्रोध आदि अवगुणों की संहति को, अथवा भगवत्परायण तत्त्वज्ञ को, दीन नास्तिक वृत्ति वाले जन को निरीक्षित करें। आस्तिक को अनुग्रह दृष्टि की वर्षा से कृतार्थ करें तथा नास्तिक को निग्रहात्मक क्रूर दृष्टि से विनष्ट करें।

दयानन्दस्तु—'हे उपदेशक मित्र सर्वसुहृत् ! यतस्त्वं मित्रोऽसि सुखप्रदोऽसि, हे वरुण शत्रुच्छेदक सेनापते ! यतस्त्वं वरुणोऽसि सर्वोत्तमोऽसि, ततस्तौ युवां गर्तमुपदिश्यमानस्य गृहमारोहतम् । अदितिमविनाशिनं पदार्थं दितिं नाशवन्तं च चक्षाथाम् उपदिशेताम् । हे हिरण्यरूपौ ज्योतिःस्वरूपौ ! उभौ इन्द्रौ परमैश्वर्यकारकौ यथा विरोके विविधतया रुचिकरे व्यवहारे सूर्यश्च चन्द्र इव उषसः प्रभातान् विभातः, तथा युवामुदिथ उद् इथः प्राप्नुथः, विद्याः प्रभातम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मित्रपदस्य सुहृदर्थत्वे वरुणपदस्य च सेनापत्यर्थत्वे मानाभावात् । न च तयोरुपदिश्यमानस्य गृहगमनं सम्भवति, उपदिश्यमानानां बाहुल्येन तदसम्भवात् । न च प्रतिगृहं गत्वोपदेशो युक्तः । सेनापतेश्च गृहगमनं किमर्थम् ? न तयोर्हिरण्यरूपत्वं सम्भवति, न वा तयोः सूर्यचन्द्रतुल्यत्वं सम्भवति ॥ १६ ॥

सोम॑स्य त्वा द्युम्नेना॒भि षि॑ञ्चाम्य॒ग्नेर्भ्राज॑सा॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॑से॒न्द्र॑स्ये॒न्द्रि॒येण॑ । क्ष॒त्राणां॑ क्ष॒त्रप॑ति॒रे॒ध्यति॑ दि॒द्यून् पा॑हि ॥ १७ ॥

'स्थितं प्राञ्चमभिषिञ्चति पुरोहितोऽध्वर्युर्वा पुरस्तात् पालाशेन प्रथमं पश्चादितरे द्वितीयेन स्वस्तृतीयेन मित्र्यो राजन्यो वैश्यश्चतुर्थेन सोमस्य त्वा द्युम्नेनेति प्रतिमन्त्रम्, अभिषिञ्चामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वात्, क्षत्राणां क्षत्रपतिरेधीरिति च, इममुष्येति च प्रथमो देवसूवत्' (का० श्रौ० १५।५।२८-३१) । यजमानस्य पुरस्तादवस्थितः पुरोहितोऽध्वर्युर्वा प्राङ्मुखमूर्ध्वबाहुं रुक्मसहितव्याघ्रचर्मणि तिष्ठन्तं यजमानं पालाशेन पात्रेणाभिषिञ्चेत् । यत्र हि पालाशौदुम्बरनैयग्रोधाश्वत्थानि चतुर्विधान्यभिषेकपात्राणि स्थापितानि । इतरे भ्रात्रादयः पश्चादवस्थिता अभिषिञ्चेयुः । द्वितीयेनौदुम्बरेण राजभ्राता, तृतीयेन नैयग्रोधपात्रेण मित्रत्वेनोपागतः क्षत्रियः, चतुर्थेनाश्वत्थेन पात्रेण वैश्योऽभिषिञ्चेत् । चतुर्विधानामेतेषामभिषेक्तॄणां क्रमेण सोमस्याग्नेः सूर्यस्येन्द्रस्यैते चत्वारो मन्त्रा द्रष्टव्याः । मरुतामोजसेत्ययं चतुर्थमन्त्रशेषः । अभिषिञ्चामीति पदमग्रिमेषु त्रिषु मन्त्रेष्वनुवर्तते । क्षत्राणामित्यवयवोऽपि प्रथमादिमन्त्रेषु योज्यः । इममुष्येति मन्त्रं प्रथमं पुरोहितोऽध्वर्युर्वा देवसूहविःष्विव नामयुक्तं पठेत् । प्रथमग्रहणादन्येषामिममुष्येति मन्त्रशेषो न भवति, ब्राह्मणानां सोमो राजेति मन्त्रलिङ्गादिति । चतुर्णामपि मन्त्राणां यजमानो देवता । हे यजमान, त्वां सोमस्य चन्द्रस्य द्युम्नेन द्योतनेन तेजसा यशसा वाभिषिञ्चामि, अग्नेर्भ्राजसा दीप्त्या त्वामभिषिञ्चामि, सूर्यस्य वर्चसा शोचिषा त्वामभिषिञ्चामि, इन्द्रस्येन्द्रियेण वीर्येण त्वामभिषिञ्चामीति, मरुतामोजसा बलेन त्वामभिषिञ्चामीत्येवं सर्वैरभिषिक्तः सन् क्षत्राणां

स्वामी दयानन्द द्वारा उल्लिखित अर्थ में मित्र शब्द का सुहृद् अर्थ तथा वरुण शब्द का सेनापति अर्थ करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अनौचित्य है । फिर उन दोनों के द्वारा उपदेशार्ह व्यक्ति के घर जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि उपदिश्यमान अनेक हैं । प्रत्येक के घर में जाकर उपदेश भी असम्भव है । सेनापति का घर जाना भी क्यों होगा ? उन दोनों का स्वर्णरूप होना भी असम्भव है तथा सूर्य एवं चन्द्रमा के समान होना भी सम्भव नहीं है ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—**हे यजमान ! चन्द्रमा की कान्ति से मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ । अभिषिक्त होने के उपरान्त तुम क्षत्रियों के राजाधिराज होकर सब प्रकार की समृद्धि से परिपूर्ण हो जाओ । शत्रुओं के द्वारा चलाये गये बाणों से दूर रह कर तुम प्रजा का पालन करो ॥ १७ ॥**

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।५।२८-३१) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'सोमस्य त्वा' इस कण्डिका के मन्त्रों से अध्वर्यु अथवा पुरोहित, राजभ्राता, मित्र क्षत्रिय तथा वैश्य क्रमशः पलाश, गूलर, न्यग्रोध तथा पीपल के काष्ठ से निर्मित अभिषेकपात्रों के द्वारा व्याघ्र के चर्म पर खड़े हुए ऊर्ध्वबाहु यजमान का अभिषेक

क्षत्रपतिः सर्वेषां क्षत्रियाणामधिपतिरेधि क्षत्रियेश्वरो भव, अतिदिद्यून् पाहि द्यन्ति खण्डयन्तीति दिद्यवो बाणाः, 'दो अवखण्डने', 'इषवो वै दिद्यवः' (श० ५।४।२।२) इति श्रुतेः, तानतिक्रम्य शत्रुप्रयुक्तानिष्वादीनवखण्डनसामर्थ्ययुक्तान् बाधकानपवार्य इमं यजमानं हे सोम, पाहि। यद्वा शत्रुप्रयुक्तानि घातकान्यस्त्रशस्त्राण्यपसार्य त्वं सर्वां भुवं पालय।

अध्यात्मपक्षे हे राम, त्वा त्वां सोमस्य चन्द्रस्य द्युम्नेन द्योतनेनाभिषिञ्चामि। तमेव भ्राताऽभिषिञ्चति। अग्नेर्भ्राजसा दीप्त्या त्वामभिषिञ्चामि। मित्रभूतः क्षत्रियोऽभिषिञ्चति। सूर्यस्य वर्चसा शोचिषाऽभिषिञ्चामि। वैश्योऽभिषिञ्चति। इन्द्रस्येन्द्रियेण वीर्येण त्वामभिषिञ्चामि। महतामोजसा बलेन त्वामभिषिञ्चामीति। हे राघवेन्द्र, त्वं सर्वाधिपतिरपि सन् क्षत्राणां क्षत्रपतिः सन्नेवमभिषिक्तः क्षत्रियादीनामधिपतिरेधि भव। अतिदिद्यून् अवखण्डनसामर्थ्ययुक्तानतीत्यातिक्रम्यापसार्य एनं यजमानं हे देववैद्य पाहि पालय। यद्वा शत्रुप्रयुक्तान् बाणादीनपवार्य हे राम, त्वं पाहि सर्वां भुवं पालय।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, यथाहं यं त्वां सोमस्येव चन्द्रस्येव द्युम्नेन यशःप्रकाशेन, अग्नेरिव भ्राजसा तेजसा सूर्यस्येव वर्चसा अध्ययनेन, इन्द्रस्येव विद्युत इव इन्द्रियेण मनआदिनाऽभिषिञ्चामि। तथा स त्वं क्षत्राणां क्षत्रकुलोद्गतानां क्षत्रपतिः, एधि भव। दिद्यून् सर्वविद्याधर्मप्रकाशकान् व्यवहारान् पाहि सततं रक्ष' इति, तदपि दुष्टं व्याख्यानम्, श्रुतिसूत्रविरोधात्। ताभ्यां हि राजसूययजमानभूतक्षत्रियस्याभिषेकेऽस्य मन्त्रस्य विनियोग उक्तः। श्रुतौ—'इषवो वै दिद्यवः' (श० ५।४।२।२) इति दिद्युपदं व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

इमं देवा असपत्नᳪं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाᳪं राजा ॥ १८ ॥

करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे श्रीराम, चन्द्रमा की द्युति से आपका अभिषेक करता हूँ। साधक का भ्राता अभिषेक करता है—अग्नि की दीप्ति से आपका अभिषिञ्चन करता हूँ। मित्र क्षत्रिय अभिषेक करता है—सूर्य के तेज से आपका अभिषिञ्चन करता हूँ। वैश्य अभिषेक करता है—इन्द्र के बल से, महापुरुषों के ओज से आपका अभिषेक करता हूँ। हे राघवेन्द्र, आप सबके स्वामी होते हुए भी राजाओं के क्षत्रपति होकर इस प्रकार अभिषिक्त होते हुए क्षत्रियादि के अधिपति हों। अवखण्डन के सामर्थ्य से युक्त दुष्ट जीवों का अपसारण करके इस यजमान की रक्षा करें। अथवा शत्रु के बाण आदि का निराकरण करके हे श्रीराम, आप सम्पूर्ण भूमण्डल का पालन कीजिये।

स्वामी दयानन्द की व्याख्या श्रुति तथा सूत्र के वचनों से विरुद्ध होने के कारण असंगत है। उन वचनों के द्वारा राजसूय के यजमान क्षत्रिय के अभिषेक में इस मन्त्र का विनियोग उपदिष्ट है। श्रुति में तो 'बाण ही दिद्यु हैं' इस प्रकार दिद्यु पद की व्याख्या की गई है ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—हे सुहवि देवगण! अमुक पिता के पुत्र, अमुक देवी के पुत्र, अमुक नाम वाले इस यजमान को महान् क्षत्रिय धर्म की प्राप्ति के लिये, महान् ज्येष्ठत्व की प्राप्ति के लिये, बड़े जानराज्य की प्राप्ति के लिये, इन्द्र के ऐश्वर्य के लिये, अमुक जाति की प्रजा के पालन के लिये आप लोग प्रेरित करें। इसके सारे शत्रुओं का नाश आप कर दें। हे देशवासी प्रजाजनों, यह तुम्हारा राजा है। हम ब्राह्मणों का राजा तो सोम है ॥ १८ ॥

कण्डिका पूर्वं (९।४ इत्यत्र) व्याख्याता ।

अध्यात्मपक्षेऽपि पूर्वतन एवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे देवा वेदशास्त्रविदः सेनापतयो वा, यूयं य एष उपदेशकः सेनेशो वा वोऽस्माकं च ब्राह्मणानां राजास्ति, येऽमी राजपुरुषाः सन्ति तेषां सोमः शुभगुणैः प्रसिद्धो राजास्ति, तमिमममुष्य पुत्रं राजपुत्रस्य तनयममुष्या राजपुत्र्याः पुत्रमस्यै विशे प्रजाया महते सत्कर्तव्याय क्षत्राय क्षत्रियकुलाय महते ज्यैष्ठ्याय विद्याधर्मवृद्धानां भावाय, महते जानराज्याय जनानां राज्ञां माण्डलिकानामुपरि प्रभावाय, इन्द्रस्य ऐश्वर्ययुक्तस्य धनिकस्य इन्द्रियाय धनवर्धनाय असपत्नमजातशत्रुं सुवध्वं प्रेध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अपसिद्धान्तापातात् । त्वद्रीत्या सभापतिरेव राजा भवति । सभापतिश्च प्रजाकर्तृकनिर्वाचनेन सिद्ध्यति । न च सभापतिपुत्र एव सभापतिर्भवति, तथात्वे राजतन्त्रत्वापत्तेः । अत एव राजपुत्रस्य राजपुत्र्या वा पुत्र इत्यप्यसङ्गतमेव, निर्वाचनसिद्धस्य क्षमापते राजपुत्र्याः पुत्रत्वानियमात् । श्रुतिसूत्रविरोधस्तु पूर्ववदेव बोद्धव्यः ॥ १८ ॥

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिचं इयानाः । ता आववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनु रीयमाणाः । विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि ॥१९॥

'कण्डूयन्याभिषेकेण प्रलिम्पते प्र पर्वतस्येति' (का० श्रौ० १५।६।८)। यजमानः कण्डूयन्या कृष्णविषाणया स्वशरीरलग्नेन अभिषेकोदकेन सर्वं स्वशरीरं प्रलिम्पेत् प्र पर्वतस्येति मन्त्रेण । अब्देवत्या त्रिष्टुप् । या आपो वृषभस्य वर्षणक्षमस्य पर्वतस्य मेघस्य, पर्वत इति मेघनामसु (निघ० १।१०।९), पृष्ठात्, नावो नाव्याः प्रचरन्ति । कीदृश्यः ? स्वसिचः स्वमात्मीयं यजमानशरीरं सिञ्चन्तीति स्वसिचः, इयाना गच्छन्त्यः, बाहुल्येन सर्वत्र प्रवहन्त्यः, ता आप उदक्ता उत्क्षिप्ताः, उत्पूर्वस्याञ्चतेर्निष्ठायां रूपम् । इदानीम् अधराग् अधोभागे अहिर्बुध्न्यम्, अहिरुत्तमाङ्गमारभ्य बुध्न्यं बुध्नस्य पादस्याग्रभागो बुध्न्यस्तं शिरःप्रभृतिपाद-

---

भाष्यसार—'इमं देवाः' इस कण्डिका की व्याख्या पहले (९।४) की जा चुकी है ।

अध्यात्मपक्ष में भी पूर्व की भाँति ही अर्थयोजना है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत व्याख्या स्वयं अपने ही सिद्धान्त को खण्डित करने वाली होने के कारण निरर्थक है । उस मत में सभापति हो राजा होता है । प्रजाओं के द्वारा निर्वाचन से सभापति प्रतिष्ठित होता है । सभापति का पुत्र ही सभापति नहीं होता, क्योंकि वैसा होने पर राजतन्त्र आपतित हो जायगा । इस कारण 'राजा के पुत्र का पुत्र अथवा राजा की पुत्री का पुत्र' यह कहना असंगत ही है । निर्वाचन से साधित सभापति राजपुत्री का पुत्र ही हो, यह नियम नहीं है । श्रुति तथा सूत्र-वाक्यों का विरोध तो पूर्व की भाँति ही समझना चाहिये ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—स्वयं सारे विश्व को सींचने वाले, गमनशील, प्रशंसा को प्राप्त करने वाले, जल की वर्षा करने वाले जलदेवता पर्वत के पृष्ठ से आदित्य मण्डल की ओर गमन करते हैं । आहुति के परिणामभूत जल पहले ऊपर अन्तरिक्ष में जाते हैं और फिर मेघों का अनुसरण करते हुए नीचे भूमि को प्राप्त होते हैं । यह सब विष्णु के पराक्रम से ही संभव हो पाता है ॥ १९ ॥

भाष्यसार—'प्र पर्वतस्य' इस कण्डिका के मन्त्रों से यजमान द्वारा कृष्णमृग के सींग से अपने शरीर पर सिञ्चित अभिषेक-जल का लेपन तथा व्याघ्र के चर्म पर तीन बार पादप्रक्षेप किया जाता है । यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन

पर्यन्तम् अनु अनुक्रमेण रीयमाणा लेपरूपेण स्रवन्त्यः, आववृत्रन् यजमानशरीरं सम्यगावृत्य स्थितास्तिष्ठन्ति—इत्याध्यात्मिकोऽर्थः। आधिदैविकस्तु—पर्वत आदित्यस्तस्य वृषभस्य पृष्ठाद् इयाना निर्गच्छन्त्य इति। नावो नाव्या आपश्चरन्ति, 'नाव्या उ एव यजुष्मत्य इष्टकाः' इत्युपक्रम्य 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यं नाव्या अभिक्षरन्ति' (श० १०।५।४।१४) इति श्रुतेः। ताः प्रावृट्काले आववृत्रन् आवर्तन्ते अधराग् आदित्यमण्डलाद् भूमिं प्रति अधोगमनशीला उदक् ताः पूर्वं भूमेः सकाशाद् आदित्यमण्डलं प्रति उदग् ऊर्ध्वगमनशीला अहिं मेघं बुध्नमन्तरिक्षं तत्र भवं बुध्न्यं मध्यमस्थानमनुरीयमाणा अनुप्रविश्य तान्निर्गच्छन्त्यो भूमिं प्राप्नुवन्तीति शेष इति काण्वशाखीयशतपथीयभाष्ये सायणाचार्यः।

उव्वटाचार्यरीत्या तु या एता आहुतिपरिणामभूता आपः, ता पर्वतस्य पर्ववतः पथिकस्याग्नेः पर्वाणि विद्यन्ते यस्य स पर्वतस्तस्य। 'तप् पर्वमरुद्भ्याम्' (पा० सू० ५।२।१२१ वा०) इति तप्प्रत्ययः। अग्निर्हि पौर्णमास्यमावस्याचातुर्मास्यादिभिः पर्वभिः पर्ववान् भवति। वृषभस्य वर्षणशीलस्य पृष्ठात्, उत्थायेति शेषः। नावो नूयन्ते स्तूयन्ते स्तोत्र-शस्त्र-होम-मन्त्रैरिति नावः। यद्वा नुदन्ति प्रेरयन्ति फलप्राप्त्यै यास्ता नावः। 'ग्लानुदिभ्यां डौः' (उ० २।६४) इति नुदतेर्डौप्रत्ययः। आहुतिपरिणामभूता आपः प्रचरन्ति गच्छन्त्यादित्यमण्डलं प्रति। स्वसिचः स्वयमेव विश्वं सिञ्चन्तीति स्वसिचः। इयाना यन्तीत्येवंशीला गमनशीलाः, 'इण् गतौ' इति धातोः 'ताच्छील्य-वयो-वचन-शक्तिषु चानश्' (पा० सू० ३।२।१२९) इति चानशि रूपम्। ता हि आदित्यमण्डलं प्राप्य मध्यस्थानमन्तरिक्षमागच्छन्ति, मध्यस्थानादन्तरिक्षात् पृथिवीमागच्छन्ति, 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥' (म० स्मृ० ३।७६) इति मनुस्मरणात्। आदित्यमण्डलं प्राप्य ता आववृत्रन् आवर्तन्ते। वृतेर्णिजन्ताल्लुङि रूपम्। रमागमश्छान्दसः। अधराग् अधराञ्चना उदक्ता उन्दनेन क्लेदनेन स्तम्भनेनाभ्यक्ताः, 'उन्दी क्लेदने', ऊर्ध्वमक्ता वा बुध्न्यं बुध्नमन्तरिक्षं तत्र भवो बुध्न्यस्तं मध्यमस्थानगतम्, अहिं मेघम्, अनुरीयमाणा अनुप्रविश्य मेघच्छिद्रैर्गच्छन्त्य आपो भूमिं प्राप्नुवन्तीति शेषः। रीयतिर्गत्यर्थः। यद्वा वृषभस्य वर्षितुः पर्वतस्य आदित्यस्य पृष्ठादियाना निर्गच्छन्त्यो नावः स्तोतुमर्हा आपः प्रचरन्ति सर्वतो गच्छन्ति। कथंभूता आपः ? स्वसिचः स्वयं सिक्ताः, नाव्या आदित्यादुपरिष्टादापो नाव्या उच्यन्ते। 'नाव्या उ एव यजुष्मत्य इष्टकाः' (श० १०।५।४।१४) इत्युपक्रम्य 'षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यं नाव्या अभिक्षरन्ति' इत्याह। ता उदक्ता व्यक्ताः सत्यो बुध्न्यमन्तरिक्षस्थमहिं मेघमनुरीयमाणा अनुप्रविश्य गच्छन्त्यः सत्यः प्रावृट्काले अधराग् अधस्ताद् भूमिं प्रति आववृत्रन् आवर्तन्ते आगच्छन्ति। कीदृश्य आपः ? अधराग् अधराञ्चना उदक्ता व्यक्ता अहिं मेघं बुध्न्यमनुरीयमाणा अनुप्रविश्य सुषिरैरनुगच्छन्त्य इति।

काण्वभाष्ये तु—वृषभस्य वर्षणसमर्थस्य पर्वतसदृशस्य मेघस्य पृष्ठादुपरिभावाद् इयाना गच्छन्त्यो वहन्त्यो नावो नौतार्या बहुला आपश्चरन्ति। कीदृश्यस्ताः ? स्वसिचः स्वमात्मीयं यजमानक्षेत्रं सिञ्चन्तीति स्वसिचः। अहिः, न हीयत इत्यहिरुत्तमाङ्गम्, बुध्नस्य पादस्याग्रभागो बुध्न्यः, तं शिरःप्रभृति पादाग्रपर्यन्तमनुक्रमेण रीयमाणा गच्छन्त्यस्ता अपि अधराग् अधोगता आववृत्रन् पुनः पुनरावृत्य स्थिताः, तादृश्य उदगूर्ध्वं गता इति।

श्रौतसूत्र (१५।६।८) में प्रतिपादित है। तैत्तिरीय संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—जो नौका के योग्य जलधाराएँ मेघमण्डल से चलती हैं तथा यजमान को सिञ्चित करती हुई गमन करती हैं, वे ही जलराशियाँ प्रक्षिप्त होकर अधोलोक में ऊपर के अंग से प्रारम्भ कर शरीर के पादाग्र भाग तक,

उव्वटरीत्या —पर्वतस्य हिमालयादेः, वृषभस्य सेक्तुः पृष्ठाद् इयाना नावो नावा तार्या गङ्गाद्या महानद्यः प्रचरन्ति। स्वसिचः स्वयं सिक्तास्ता एव राजसूययाजिनोऽर्थाय आवर्तन्ते। अभिषेकपात्रेषु गृह्यमाणा उदक्ता उत्क्षिप्ता अधराग् अधराञ्चना अहिम् अहन्तारं यजमानं शत्रूणां बुध्न्यं बुध्ने मूले भवं प्रधानं यजमानमनुरीयमाणाः प्रत्यनुसिच्यमानास्ता आववृत्रन्निति सम्बन्धः।

'चर्मणि त्रिविक्रमयति विष्णोरिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।६।९)। अध्वर्युर्यजमानेन व्याघ्रचर्मणि त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रिवारं पादप्रक्षेपं कारयेत्। त्रीणि यजूंषि यजमानदेवत्यानि। हे मदीय प्रथमप्रक्रम, त्वं विष्णोर्व्यापनशीलस्य यज्ञपुरुषस्य परमेश्वरस्य त्रिविक्रमावतारधारिणो विक्रमणं प्रथमपादप्रक्षेपेण जितो मूलात्मकोऽसि। हे द्वितीयप्रक्रम, त्वं विष्णोर्विक्रान्तं द्वितीयपादप्रक्षेपेण जितमन्तरिक्षमसि। हे तृतीयप्रक्रम, त्वं विष्णोः क्रान्तं तृतीयपादप्रक्षेपेण जितं त्रिविष्टपमसि। इदं मन्त्रत्रयं लोकत्रयजये हेतुभूतम्, 'विष्णुक्रमान् क्रमते विष्णुरेव भूत्वेमाँल्लोकानभिजयतीति। इमे वै लोका विष्णोर्विक्रान्तं विष्णोर्विक्रमणं विष्णोः क्रान्तम्' (तै० सं० ५।४।२।६) इति श्रुतेः।

अत्रैव ब्राह्मणम्—'अथैतमभिषेकम्। कृष्णविषाणयाऽनुविमृष्टे वीर्यं वा एतदपाᳬ रसः संभृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चतीदं मे वीर्यᳬ सर्वमात्मानमुपस्पृशादिति तस्माद्वा अनुविमृष्टे' (श० ५।४।२।४)। अभिषेकजलस्य प्रलेपं विधत्ते—अनुविमृष्ट इति। एवं क्रियमाणमभिषेकं स्वदेहपतितमभिषेकजलं कृष्णविषाणया कण्डूयन्या अनुविमृष्टे प्रलिम्पति यजमानः। तमिमं वीर्यसम्पादनरूपेण प्रशंसति—वीर्यं वा इति। इदमभिषेकजलरूपं वीर्यं मे मम सर्वमात्मानं उपस्पृशात् उपस्पृशत्विति बुद्ध्या विमार्जनं कुर्यादित्यर्थः। 'सोऽनुविमृष्टे। प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठादिति यथाऽयं पर्वतोऽतिष्ठावा यथर्षभः पशूनतिष्ठावैवं वा एष इदᳬ सर्वमतितिष्ठत्यर्वागेवास्मादिदᳬ सर्वं भवति यो राजसूयेन यजते तस्मादाह प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः। ता आववृत्रन्नधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनुरीयमाणा इति' (श० ५।४।२।५)। मन्त्रगतप्रथमपादस्य तात्पर्यमाह—यथायमिति। यथा पर्वतोऽतिष्ठावा सर्वमतिक्रम्य स्थाता तिष्ठते, 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इति धातोः 'आतो मनिन्' (पा० सू० ३।२।७४) इत्यादिना वनिप्, यथा च ऋषभो गवेन्द्रः सर्वान् पशूनतिक्रम्य तिष्ठति, एवमेष राजा सर्वस्योपरि भवति। अस्माद् यजमानाद् इदं सर्वमर्वाग् भवति, तस्मात् प्र पर्वतस्येति पाठः प्रशस्त इत्यर्थः। तदनुगुणं च मन्त्रव्याख्यानमुक्तमेव।

'अथैनमन्तरेव शार्दूलचर्मणि। विष्णुक्रमान् क्रमयति विष्णोर्विक्रमणमसि····विष्णोः क्रान्तमसीतीमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणं विष्णोर्विक्रान्तं विष्णोः क्रान्तं तदिमानेव लोकान् समारुह्य सर्वमेवेदमुपर्युपरि भवत्यर्वागेतस्मादिदᳬ सर्वं भवति' (श० ५।४।२।६)। शार्दूलचर्ममध्य एव विष्णुक्रमणं विधत्ते—अथैनमन्तरेवेति। तत्र मन्त्रत्रयं विधत्ते—विष्णोर्विक्रमणमिति। एकैकस्य क्रमणस्यैकैको मन्त्रः। विष्णोर्यज्ञस्य यच्च विक्रमणं यच्च विक्रान्तं यच्च क्रान्तम्, तत्सर्वं त्वमसीति योजनीयम्। क्रमणत्रयं लोकत्रयात्मना प्रशंसति— इमे वै लोका इति।

अर्थात् सिर से पैर तक क्रमशः संलिप्त होती हुई यजमान के शरीर को भलीभाँति व्याप्त करती हैं। यह आध्यात्मिक अर्थ है। इसी प्रकार काण्व शतपथ के भाष्य में सायणाचार्य ने आधिदैविक अर्थ भी किया है। उव्वटाचार्य के तथा काण्वसंहिता के भाष्य में भी विविध अर्थ प्रतिपादित हैं। कण्डिका के तृतीय अवसान का अर्थ इस प्रकार है—हे मेरे प्रथम पादप्रक्षेप ! तुम व्यापक, यज्ञपुरुष, परमेश्वर, त्रिविक्रमावतार धारण करने वाले विष्णु के प्रथम पादन्यास के द्वारा जीते गये भूलोकात्मक हो। हे द्वितीय पादन्यास ! तुम विष्णु के द्वितीय पादन्यास के द्वारा विजित अन्तरिक्ष लोक हो। हे तृतीय पादन्यास ! तुम विष्णु के तीसरे पादन्यास से जीते गये स्वर्ग लोक हो। ये तीन मन्त्र तीनों लोकों की विजय के कारणभूत हैं।

अध्यात्मपक्षे—एतत्पक्षीयव्याख्यानं पूर्वव्याख्यानेनैव गतार्थम् ।

दयानन्दस्तु—'हे राजशिल्पिन्, याः स्वसिचो याः स्वैर्जलैर्जलेन सिच्यन्ते, ता इयाना गन्त्र्य उदक्ताः पुनरूर्ध्वं गच्छन्त्यः, अहिं मेघं बुध्न्यं बुध्नेऽन्तरिक्षे भवम्, अनु पश्चाद् रीयमाणाश्चालनेन गच्छन्त्यो नावः सागरोपरि नाव इव विमानानि वृषभस्य वर्षकस्य पर्वतस्य मेघस्य पृष्ठादुपरिभागात् प्रचरन्ति, याभिस्त्वं विष्णोर्व्यापकस्येश्वरस्य विक्रमणं विक्रमतेऽस्मिंस्तद् विष्णोर्व्यापकस्य वायोर्विक्रान्तं विविधतया क्रान्तमसि विष्णोर्विद्युद्वस्तुनः क्रान्तं क्रमणाधिकरणमसि । या अधराग् मेघादधस्ताद् आववृत्रन् अर्वाचीनो वृत्र इवाचरन्, अत्राचारे सुबन्तात् क्विप्, तास्त्वं साध्नुहि' इति, तदपि निरर्थकमेव, मन्त्रे राजशिल्पिनः सम्बोध्यत्वे प्रमाणाभावात् । विमान-नौकादिनिर्माणविधानकल्पनापि निर्मूलैव, तथाविधानस्याफलपर्यवसायित्वात् । नह्येतावद्भिः शब्दैः कश्चिदपि शिल्पिवरोऽपि यानादीनि निर्मातुं प्रभवति ॥ १९ ॥

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॒ परि॒ ता ब॑भूव । यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्त्व॒यम॒मुष्य॑ पि॒तासाव॒स्य पि॒ता व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाꣳ स्वाहा॑ । रुद्र॒ यत्ते॒ क्रिवि॒ परं॒ नाम॒ तस्मि॑न् हु॒तम॑स्यमे॒ष्टम॑सि॒ स्वाहा॑ ॥ २० ॥

'शालाद्वार्ये जुहोति पुत्रेऽन्वारब्धे प्रजापत इति' (का० श्रौ० १५।६।११) । अध्वर्युः पुत्रेऽन्वारब्धे सकृद्गृहीतमाज्यं शालाद्वार्येऽग्नौ जुहुयात् । तत्र प्रजापत इति मन्त्रे अयममुष्य पिता इत्यत्र अयं रामो दशरथस्य पिता इत्येवं पितृशब्दं पुत्रे कृत्वा पश्चाद् असावस्य पिता यथायथं नामोच्चारणं कुर्यादध्वर्युः । पुत्रे पुत्रशब्दः पितरि पितृशब्द इति यथायथम् । प्रजापतिदेवत्या त्रिष्टुप्, यजुर्मध्या तृतीयचतुर्थपादमध्येऽयममुष्येति यजुर्युक्ता । हे प्रजापते, त्वत् त्वत्तोऽन्यः कोऽपि देवताविशेषः, तान्येतान्युत्पन्नानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि रूपाणि नानाजातीयानि वर्तमान-भूत-भविष्यत्कालविषयाणि न परिबभूव परिभवितुं नियन्तुं समर्थो

अध्यात्मपक्ष में पूर्वोक्त व्याख्यान से ही इस पक्ष की व्याख्या भी गतार्थ हो जाती है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्यान, मन्त्र में राजशिल्पी को संबोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण निरर्थक ही है । विमान, नौका आदि के निर्माणविधान की कल्पना भी मूलरहित है, क्योंकि इस प्रकार का विधान फलजनक नहीं है । केवल इतने से शब्दों से कोई श्रेष्ठ शिल्पी भी यान आदि का निर्माण करने में समर्थ नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्रजापते, हे परमात्मन् ! आपके सिवाय अन्य कोई भी सम्पूर्ण प्रजा का पालन आदि कार्य, नानाजातीय, वर्तमान, भूत और भविष्य काल के प्राणियों के सृजन, पालन और संहार में समर्थ नहीं है । जिस कामना से आपके निमित्त हम हवन करते हैं, हमारी वे सारी कामनाएँ पूर्ण हों । यह अमुक का पिता है, इसका यह पितृत्व चिरस्थायी रहे, अर्थात् इसके वंश में सन्तति का क्रम निरन्तर चलता रहे । यह अपरिमित ऐश्वर्य का स्वामी हो । यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो । हे रुद्रदेव, आपका प्रलयकारी दुष्टनाशक उत्कृष्ट नाम है । यह हवि उस रुद्र देवता को प्राप्त हो । आपके लिये हम अपने घर में प्रतिदिन आहुति देते हैं । इस कारण आप सदा हमारे उपकारक बनें, यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २० ॥

भाष्यसार—'प्रजापते' इस कण्डिका के मन्त्रों से शालाद्वार्य अग्नि में घृत का हवन तथा आग्नीध्रीय अग्नि में

नाभूत्, व्याप्तुं वा समर्थो नाभूत्, परिपूर्वस्य भवतेर्व्याप्त्यर्थत्वात्। परिभवः सृष्टेरप्युपलक्षणम्। त्वत्तः सकाशादन्यः स्रष्टुमपि न शक्नोतीत्यर्थः। अतो वयं यत्कामास्ते जुहुमो यः कामो येषां ते यत्कामा येन कामेन जुहुमस्तत्कामरूपं फलमस्तु। यजुर्व्याख्यानं तु—अयममुष्य पिता अयं श्रीरामोऽमुष्य दशरथस्य पितेति वैपरीत्येन गृह्णीयात्। पश्चाद् यथायथं पुत्रे पुत्रनाम पितरि पितृनाम प्रयुञ्जीत। असौ दशरथोऽमुष्य रामस्य पितेति सर्वथा सपुत्रा वयं रयीणां पतयो भवेम। 'आग्नीध्रीये पालाशेन शेषान् जुहोति रुद्र यत्त इत्युत्तरार्धे' (का० श्रौ० १५।६।१२)। अध्वर्युराग्नीध्रीयेऽग्नौ ईशान्यां दिशि पालाशेनाभिषेकपात्रेणाभिषेकशेषान् जुहोति। हे रुद्र! रुत् सांसारिकं दुःखं द्रावयतीति रुद्रः, तत्सम्बद्धौ। ते तव यत् क्रिवि कर्तृ हिंसितृ विरोधिनो हिंसकं वा परमुत्कृष्टं नामास्ति, 'क्रिवि हिंसाकरणयोः'। एवं रुद्रं सम्बोध्य होमद्रव्यमाह—हे हविः! अभिषेकशेषभूत मुख्यपात्रस्थ जल, त्वं तस्मिन् नाम्नि हुतं भव। अमेष्टमसि 'अमेति गृहनाम' (निघ० ३।४।११), मम गृहे इष्टं दत्तमसि स्वाहा सुहुतमसि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ ब्राह्मणस्य पात्रे। सꣳस्रवान् समवनयति तद् ब्राह्मणꣳ राजानमनु यशः करोति तस्माद् ब्राह्मणो राजानमनु यशः' (श० ५।४।२।७)। स्वमित्रवैश्यपात्रत्रयशेषाणां पालाशपात्रे व्यासेचनं विधत्ते—अथेति। तद् ब्राह्मणमिति तत् तेन व्यवनयनेन राजानम् अनु पश्चाद् ब्राह्मणं यशो यशस्विनं कृतवान् भवति। लोके हि राजा कीर्तिमान्, ब्राह्मणोऽपि तदनन्तरं कीर्तिमानुच्यते। 'तद्योऽस्य पुत्रः प्रियतमो भवति। तस्मा एतत्पात्रं प्रयच्छतीदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनवदिति' (श० ५।४।२।८)। एतत्संस्रवैः प्रासिक्तं ब्राह्मणस्य पालाशपात्रं राज्ञः प्रियतमाय पुत्राय प्रयच्छेत्। अयं मे पुत्रो मम वीर्यरूपं कर्म अनुसन्तनोतु विस्तारयत्विति। 'अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमन्वारब्धे जुहोति। प्रजापते....अमुष्य पितेति तद्यः पुत्रस्तं पितरं करोति यः पिता तं पुत्रं तदेनयोर्वीर्ये व्यतिषजत्यसावस्य पितेति तद्यः पिता तं पितरं करोति यः पुत्रस्तं पुत्रं तदेनयोर्वीर्ये व्यतिषज्य पुनरेव यथायथं करोति वयꣳ स्याम पतयो रयीणाꣳ स्वाहेत्याशीरेवैषैतस्य कर्मण आशिषमेवैतदाशास्ते' (श० ५।४।२।९)। विधत्ते—अथ प्रतीति। गार्हपत्यं प्रति परेत्य प्रत्यङ्मुखो गत्वा अन्वारब्धे, प्रकृतत्वात् पुत्र इति गम्यते। ब्राह्मणमेतदनुसृत्यैव सूत्रं प्रववृते—'शालाद्वार्ये....प्रजायत इति' (का० श्रौ० १५।६।११)। तद्यः पुत्र इति पुत्रं पितरम्, पितरं पुत्रं कृत्वा पठेदित्यर्थः। तदेतेन पुत्रस्य पितृकरणेन पितुश्च पुत्रकरणेन एनयोः पितापुत्रयोर्वीर्ये व्यतिषजति परस्परं संसृष्टे कृतवान् भवति। असावमुष्य पितेत्यस्यार्थमाह—तद्यः पितेति। अत्र पितुरेव पितृत्वम्, पुत्रस्यैव पुत्रत्वम्। अनेनैतयोर्वीर्ये पूर्वं व्यतिषज्य पश्चाद् यथा पुत्रस्य वीर्यं पुत्र एव पितुर्वीर्यं पितर्येव कृतवान् भवतीत्यर्थः। अन्तिमपादस्याशीःपरत्वं दर्शयति—आशीरेवैषेति। 'अथ य एष सꣳस्रवोऽतिरिक्तो भवति। तमाग्नीध्रीये जुहोत्यतिरिक्तो वा एष सꣳस्रवो भवत्यतिरिक्त आग्नीध्रीयो गार्हपत्ये हवीꣳषि श्रपयन्त्याहवनीये जुह्वत्यथैषो....ह्येतस्य देवस्य दिक् तस्मादुत्तरार्धे जुहोति स जुहोति रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन् हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहेति' (श० ५।४।२।१०)। पालाशपात्रशेषस्य आग्नीध्रीये

अभिषेकावशिष्ट का हवन किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।११-१२) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

कण्डिका की अर्थयोजना इस प्रकार है—हे प्रजापति, आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी देवता इन उत्पन्न समस्त नानाजातीय वर्तमान, भूत तथा भविष्य काल के विषयों को नियन्त्रित करने में समर्थ नहीं हुआ, अथवा व्याप्त नहीं कर सका। परिभव शब्द सृष्टि का भी संकेत करता है, अर्थात् आपके अतिरिक्त दूसरा कोई सर्जन करने में भी समर्थ नहीं है। अतः हम जिस कामना से युक्त होकर यजन करते हैं, वह कामनात्मक फल हमें प्राप्त हो। इसके बाद मन्त्र में

ऋचा हवनं विधत्ते—अथ य एष सꣳस्रव इति । अतिरिक्तस्य शेषस्य आग्नीध्रीये हवनस्योपपत्तिं दर्शयति—अतिरिक्त आग्नीध्रीय इति । गार्हपत्ये सर्वेषां हविषां श्रपणम्, आहवनीये तेषां होमः, अतः श्रपणहवनयोरनुपयुक्तत्वादाग्नीध्रीयोऽतिरिक्त इति । प्रदेशविशेषं विधत्ते—उत्तरार्धं इति । अस्य रुद्रसम्बन्धं दर्शयति—देवस्य दिगिति । मन्त्रं विधत्ते—स जुहोति रुद्र यत्त इति । मन्त्रार्थस्तूक्त एव ।

अध्यात्मपक्षे—हे प्रजापते परमेश्वर ! एतानि यानि विश्वानि रूपाणि तानि त्वत्तोऽन्यः कश्चिदपि न परिबभूव नियन्तुं स्रष्टुं वा समर्थो नाभूत् । अन्यत् पूर्ववदेव ।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजापते परमेश्वर, यान्येतानि जीवप्रकृत्यादीनि वस्तूनि विश्वा रूपाणि इच्छारूपादिगुणैर्युक्तानि तानि त्वत् त्वत्तोऽन्यः कोऽपि न परिबभूव न गच्छति, टिप्पण्यां तु (न जानाति) । ते तव सकाशाद् यत्कामाः सन्तो वयं जुहुमो गृह्णीमः, हिन्द्यां तु (सेवनं कुर्मः), तव कृपया तन्नोऽस्तु । अयं भवानमुष्य परोक्षस्य जगतः पिता, असौ भवानस्य समस्तस्य विश्वस्य पितासि, तथा वयं स्वाहा सत्यया वाचा रयीणां विद्याचक्रवर्तिराज्योत्पन्नश्रिया पतयः स्वामिनः स्याम । हे रुद्र दुष्टानां रोदयितः, यत्ते तव क्रिवि कृणोति हिनस्ति येन तत् परं प्रकृष्टं नामास्ति, तस्मिन् त्वं हुतं स्वीकृतमसि । अमायां गृहे इष्टमसि, तं वयं स्वाहा सत्यया वाचा गृह्णीमः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परिपूर्वस्य भवतेस्तदर्थत्वे मानाभावात् । अयं भवानमुष्य परोक्षस्य जगतः पितेत्यादिव्याख्यानस्य नैरर्थक्यापातात्, तस्मिन्नेव वाक्ये परमेश्वरस्य जगतश्च परोक्षत्वापरोक्षत्वविरोधात्, श्रुतिविरोधाच्च । तद्यः पुत्रस्तं पितरं करोति यः पिता तं पुत्रं करोतीति स्पष्ट एव विरोधः ॥ २० ॥

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि मि॒त्रावरु॑णयोस्त्वा प्रशा॒स्त्रोः प्र॒शिषा॑ युनज्मि । अ॒व्य॒थायै॑ त्वा स्व॒धायै॒ त्वारि॑ष्टो॒ अर्जु॑नो म॒रुतां॑ प्रस॒वेन॑ ज॒यापा॑म॒ मन॑सा॒ समि॑न्द्रि॒येण॑ ॥ २१ ॥

यथास्थान पुत्र तथा पिता का नामग्रहण किया जाता है । उदाहरणार्थ—यह दशरथ इस राम का पिता है, इस प्रकार सर्वथा पुत्र से युक्त हम लोग धन के स्वामी बनें । हे सांसारिक दुःखों के नाशक, आपका जो हिंसकों का विरोधी परम उत्कृष्ट नाम है, इस प्रकार रुद्र की प्रार्थना है । तदनन्तर हविर्द्रव्य को संबोधित किया जाता है कि हे हविर्द्रव्य, तुम उस परम नाम के प्रति समर्पित हो जाओ । मेरे घर में प्रदत्त हो, समर्पित हो ।

अध्यात्मपक्षीय अर्थ में—हे प्रजापति परमेश्वर, इन समस्त रूपों को आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी नियन्त्रित तथा उत्पादित करने में समर्थ नहीं हुआ है, इत्यादि । शेष व्याख्या पूर्ववत् ही है ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्या में परि उपसर्गयुक्त भू धातु का उस प्रकार अर्थ करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अनौचित्य है । 'ये आप इस परोक्ष जगत् के पिता हैं' इस प्रकार की व्याख्या की निरर्थकता भी प्राप्त होती है । इस वाक्य में ही परमेश्वर तथा जगत् के परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व में विरोध है तथा श्रुतिवाक्य का भी विरोध स्पष्ट ही है ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे रथ ! तुम इन्द्र के वज्र के समान कठोर काष्ठ से बने हुए हो । सब पर शासन करने वाले मित्रावरुण देवता के अनुशासन में मैं इन घोड़ों को रथ में जोतता हूँ । अनुपहिंसित अर्जुनतुल्य इन्द्ररूपमय देश का भय दूर करने के लिये, उसमें स्थिरता लाने के लिये, देश में सुभिक्ष संपादन के लिये रथ पर चढ़ता हूँ । हे रथ को वहन करने वाले अश्व ! मरुद्गणों की आज्ञा से तुम वेगवान् होकर शत्रुओं को जीतो । हमने जो कार्य आरम्भ किया है, उसको मन लगा कर पूरा करो । ऐसा करने से हम पराक्रम से पूर्ण हो जायेंगे ॥ २१ ॥

'वाजपेयवद्रथमवहृत्य दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ युनक्ति पूर्ववन्मित्रावरुणयोरिति चतुर्भिः' (का० श्रौ० १५।६।१५)। वाजपेय इव रथवाहणाद्रथमिन्द्रस्य वज्रोऽसीति मन्त्रेण शालाया दक्षिणतो रथस्योपरि स्थापितं रथं भूमाववतार्य दक्षिणवेदिश्रोणिदेशे वेदिमध्ये समानीय मित्रावरुणयोरिति मन्त्रेण चतुर्भिरश्वैर्वाजपेयवदेव युनक्ति। प्रथमं दक्षिणं तत उत्तरं ततो दक्षिणा प्रष्टिस्ततः सव्या प्रष्टिरिति क्रमो वाजपेये। स एवात्र क्रमः। प्रत्यश्वं मन्त्रावृत्तिः। इन्द्रस्य वज्रोऽसीत्येव मन्त्रो वाजपेयसम्बन्धी न सर्वः, तावन्मात्रस्यैव पाठात्। रथदेवत्यम्। हे रथ, इन्द्रस्य वज्रोऽसि वज्रसदृशोऽसि। प्रशास्त्रोराज्ञापयित्रोर्मित्रावरुणयोर्देवयोः प्रशिषा प्रशासनेन हे रथ, त्वा यज्ञसम्बन्धिनं त्वां युनज्मि अश्वैः संयोजयामि। 'अव्यथायै त्वेति सुन्वन्नारोहति' (का० श्रौ० १५।६।१७)। अव्यथायै त्वेति मन्त्रेण यजमानश्चात्वालदेशस्थरथमारोहति, यन्तापि तदानीमेवारोहति, अग्रेऽवरोहणविधानात्। हे रथ अरिष्टोऽनुपहिंसितः, अर्जुनोऽर्जुनतुल्य इन्द्रतुल्योऽहं त्वामव्यथायै अभयाय अर्चनाय वा 'व्यध भयचलनयोः', स्वधायै अन्नरसाय अधितिष्ठामि, 'अर्जुनो ह वै नामेन्द्रः' (श० १५।४।३।७) इति श्रुतेः। प्रकृते इन्द्र एवार्जुनोऽभिप्रेतः। 'मरुतामिति दक्षिणधुर्यं प्राजति' (का० श्रौ० १५।६।१८)। यजमानेन सहारूढो यन्ता दक्षिणाश्वं कशया प्रेरयेद् मरुतामिति मन्त्रेण। मरुतां विद्युद्रूपाणां सम्बन्धिना प्रसवेन अनुज्ञया वर्तमानोऽश्वस्त्वमस्मच्छत्रून् जय सर्वं स्वाधीनं कुर्वित्यर्थः। 'गवां मध्ये स्थापयत्यापामेति' (का० श्रौ० १५।६।१९)। आहवनीयस्योत्तरतः स्थापितानां स्वस्य ज्ञातेर्गवां मध्ये रथं स्थापयेत् सारथिः। यजमानदेवत्यं यजुः। वयं मनसा अपाम आप्तवन्तस्तत्कर्म यदुपक्रान्तम्, 'मनसा वा इदꣳ सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतत्सर्वमाप्नोति' (श० १५।४।३।८) इति श्रुतेः। 'धनुरार्त्न्योपस्पृशति गां यजमानः समिन्द्रियेणेति' (का० श्रौ० १५।६।२०)। यजमानो धनुष्कोट्या गामेकामुपस्पृशेत्। यजमानदेवत्यम्। वयमिन्द्रियेण वीर्येण संगताः स्मः।

अत्र ब्राह्मणम्—'तद्योऽस्य स्वो भवति। तस्य शतं वा परःशता वा गा उत्तरेणाहवनीयꣳ सꣳ स्थापयति तद्यदेवं करोति' (श० ५।४।३।१)। एतदनुसृत्यैव कात्यायनः—'गवाꣳ शतमधिकं वा स्वस्याहवनीयस्योत्तरतः स्थापयति' (का० श्रौ० १५।६।१३)। स्वस्य ज्ञातेर्भ्रातुर्दक्षिणार्थमाहवनीयस्योत्तरप्रदेशे शतसंख्या अधिका वा गाः स्थापयेत्। परःशताः, शताधिका इत्यर्थः। एतत् पशुसंस्थापनरूपं कर्म करोति, तथो तथैव वरुणेन कृतत्वादित्युत्तरेण सम्बन्धः। 'वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानात्। इन्द्रियं वीर्यमपचक्राम शश्वद्ध एषोऽपाꣳ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति सोऽस्येन्द्रियं वीर्यं निर्जघान तत्पशुष्वन्वविन्दत्तस्मात्पशवो यशो यदेष्वन्वविन्दत्तत्पशुष्वनुविद्येन्द्रियं वीर्यं पुनरात्मन्नधत्त तथो एवैष एतन्नाहैवास्मान्निवन्द्रियं वीर्यमपक्रामति वरुणसवो वा एष यद्राजसूयमिति वरुणोऽकरोदिति त्वेवैव एतत्करोति' (श० ५।४।३।२)। पूर्वं राजसूयेऽभिषिच्यमानाद्वरुणाद् इन्द्रियं वीर्यमपचक्राम अपसृतम्। वीर्यापसरणकारणमाह—शश्वद्ध इति। शश्वद् निश्चितं सम्भृतोऽपां रसः, येन सम्भृतेन रसेन इदानीमध्वर्युरभिषिञ्चति। स रसोऽस्य वरुणस्य वीर्यं निर्जघान हृतवान्। वरुणः पशुष्वन्वविन्दद् अलभत। तस्मात् पशूनां यशोरूपत्वम्, पशुत एव यशःसम्भवात्। लब्धं वीर्यं वरुणः पुनरात्मनि स्थापितवान्। तथो तेनैव प्रकारेण एष यजमानोऽपि, एतत् पशुसंस्थापनेन इन्द्रियं वीर्यमात्मनि धत्ते। तस्मात् पशुषु रथनिधानरूपं कर्म कुर्वतः सुन्वतः सकाशाद् वीर्यं नापक्रामति। राजसूयमिति यत्तद्वरुणसवः। राजसूये वरुण एवमकरोदिति बुद्ध्या एष यजमानोऽप्येतत्करोतीति यावत्। 'अथ रथमुपावहरति। यद्वै राजन्यात्पराङ्भवति रथेन वै तदनुयुङ्क्ते तस्माद्रथमुपावहरति' (श० ५।४।३।३)।

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।१५-२०) में उल्लिखित याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोग के अनुसार

रथोपावहरणं विधत्ते– अथेति । तत्प्रशंसति– यद्वै राजन्यादिति । यद्वस्तु राजन्यात् पराक् पराचीनमवशमस्ति, तदेतदनेन रथेन अनुयुङ्क्ते अनुकूलं स्वाधीनं करोति । तस्माद्रथ उपावहर्तव्यः ।

'स उपावहरति । इन्द्रस्य वज्रोऽसीति वज्रो वै रथ इन्द्रो वै यजमानो द्वयेन वा एष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमानस्तस्मादाहेन्द्रस्य वज्रोऽसीति' (श० ५।४।३।४)। स्पष्टं वाजपेयप्रसङ्गे व्याख्यातं च । 'तमन्तर्वेद्यभ्यववर्त्य युनक्ति । मित्रावरुणयोस्त्वा....' (श० ५।४।३।५), रथस्य वज्रात्मकत्वमुक्तम् (श० ५।१।४।३) इत्यत्र । तस्य प्रदेशविधानपूर्वकमश्वयोर्नियोजनं समन्त्रकं विधत्ते– तमन्तर्वेदीति । अभ्यावर्त्य अभिमुखमानीय दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ युञ्ज्यादित्यर्थः । 'तं चतुर्युजं युनक्ति । स जघनेन सदोऽग्रेण शालां येनैव दक्षिणा यन्ति तेन प्रतिपद्यते तं जघनेन चात्वालमग्रेणाग्नीध्रमुद्यच्छति' (श० ५।४।३।६)। रथस्याश्व-चतुष्टयोपेतत्वं विधत्ते– तमिति । दक्षिणापथेन गमनं विधत्ते– स जघनेनेति । अध्वर्युः सदोमण्डपस्य पश्चिमभागे शालामग्रेग प्राग्वंशस्याग्रभागे येन मार्गेण दक्षिणार्थं दीयमाना गावो यन्ति तेन प्रतिपद्यते, रथेन सहितः प्रविशेदित्यर्थः । 'दक्षिणेन वेदिं दक्षिणा उपतिष्ठन्ते' (श० ४।३।४।१४) इति चतुर्थकाण्डे दक्षिणा-गमनमुक्तम् । रथसंस्थापनदेशविशेषं विधत्ते– तं जघनेनेति । आग्नीध्रचात्वालयोर्मध्यदेशे रथमुद्यच्छति ऊर्ध्वमुखं स्थापयेत् । 'तमातिष्ठति । अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वेत्यनार्त्यै त्वेत्येवैतदाह यदाहाव्यथायै त्वेति.... रसाय त्वेत्येवैतदाहारिष्टो अर्जुन इत्यर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम द्वयेन वा एष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमानस्तस्मादाहारिष्टो अर्जुन इति' (श० ५।४।३।७) । यजमानस्य रथारोहणं समन्त्रकं विधत्ते– तमातिष्ठतीति । आतिष्ठति, आरोहेदित्यर्थः । अव्यथायै अभयाय त्वामातिष्ठामि । स्वधायै अन्नाय । अर्जुन इतीन्द्रस्य प्रियं नाम । इन्द्रात्मकोऽहमातिष्ठामीत्यर्थः । मन्त्रं पदशोऽनूद्य व्याचष्टे–अनार्त्यै त्वेति । अर्जुनपदस्येन्द्रवाचकत्वं दर्शयति–अर्जुनो ह वा इति । अर्जुन इतीन्द्रस्य गुह्यं नामधेयम् । अस्तु तत्, तेन प्रकृते किमायातमित्याह–द्वयेन वा इति । द्विप्रकारेण यष्टुरिन्द्रात्मकत्वम् । क्षत्रसम्बन्धाद् यष्टृत्वाच्च सुन्वत इन्द्रत्वम् । तस्मादर्जुनपदेन मन्त्रे यजमानाभिधानम् । अवशिष्टं स्पष्टम् ।

'अथ दक्षिणायुग्यमुपार्षति । मरुतां प्रसवेन जयेति विशो वै मरुतो विशा वै तत्क्षत्रियो जयति यज्जिगीषति तस्मादाह मरुतां प्रसवेन जयेति' (श० ५।४।३।८)। दक्षिणभागे युक्तस्याश्वस्य प्राजनं (प्रेरणं) समन्त्रकं विधत्ते–उपार्षतीति । 'ऋषी गतौ', उपार्षति प्राजतीत्यर्थः । मन्त्रं व्याचष्टे–विशो वा इति । यद् राज्ञा जेतव्यमस्ति, तद् विशा प्रजया जयति । तस्माद्विड्रूपमरुत्प्रतिपादको मन्त्रो युक्तः । 'अथ मध्ये गवामुद्यच्छति । आपाम मनसेति मनसा वा इद $\smile$ सर्वमाप्तं तन्मनसैवैतत्सर्वमाप्नोति तस्मादाहापाम मनसेति' (श० ५।४।३।९)। रथस्थापनं विधत्ते–अथ मध्य इति । पूर्वं स्थापितानां गवां मध्ये रथमुद्यच्छति स्थापयति । मनसा आपाम आप्तवन्तो भवामः । आप्नोतेर्लुङि उत्तमबहुवचने रूपम् । मन्त्रस्य तात्पर्यमाह–मनसा वा इति ।

'अथ धनुरार्त्न्या गामुपस्पृशति । समिन्द्रियेणेतीन्द्रियं वै वीर्यं गाव इन्द्रियमेवैतद्वीर्यमात्मन् धत्ते अथाह जिनामीमाः कुर्व इमा इति' (श० ५।४।३।१०)। स्वानां स्थापितानां गवां मध्ये एकस्या गोर्धनुष्कोटचा स्पर्शनं विधत्ते–गामुपस्पृशतीति । इन्द्रियेण बलेन सं सङ्गता भवाम । समिन्द्रियेणेति मन्त्रेण गोरुपस्पर्शने इन्द्रियस्य वीर्यस्यैव धारणं कृतवान् भवतीत्यर्थः । शिष्टानां गवां वशीकरणार्थं जिनामीति ब्रूयात् । इदं ब्राह्मणोक्तं वाक्यं न तु मन्त्रः । इमा गा जिनामि, अपि चेमाः कुर्वे स्वाधीनाः करवा इत्यर्थः । 'ज्या वयोहानौ',

'इन्द्रस्य वज्रः' इस कण्डिका के मन्त्रों से रथ का ग्रहण, अश्वों का योजन तथा शताधिक गायों का स्थापन आदि कार्य

'ग्रहिज्या ···' (पा० सू० ६।१।१६) इत्यादिना सम्प्रसारणम्। 'तद्यत् स्वस्य गोषूद्यच्छति। यद्वै पुरुषात् पराग्भवति यशो वा किञ्चिद्वा स्वꣳ हैवास्य तत्प्रतमामिवाभ्यपक्रामति तत् स्वादेवैतदिन्द्रियं वीर्यं पुनरात्मन् सन्धत्ते तस्मात् स्वस्य गोषूद्यच्छति' (श० ५।४।३।११)। स्वस्य ज्ञातेः स्थापितासु गोषु रथस्य स्थापनं प्रशंसति—तद्यत् स्वस्येत्यादिना। यद् वस्तु पुरुषात् पराक् पराधीनं बहिर्मुखं नष्टं भवति। किं तद्वस्त्वित्याह—यशो वेति। तद् यशआदिकं किञ्चिदन्यत् स्वं स्वीयं वस्तु प्रतमां प्रकर्षेण अभ्यपक्रामति गच्छति, तद् अनेन अस्य ज्ञातेर्गोषु स्थापनेन पराङ्मुखं वीर्यं स्यात्, ज्ञातेः सकाशात् पुनः स्वाधीनं कृतवान् भवतीत्यर्थः। 'तस्मै तावन्मात्रीर्वा भूयसीर्वा प्रतिददाति। न वा एष क्रूरकर्मणे भवति यद्यजमानः क्रूरमिव वा एतत्करोति यदाह जिनामीमाः कुर्वे इमा इति तथो हास्यैतदक्रूरं कृतं भवति तस्मात्तावन्मात्रीर्वा भूयसीर्वा प्रतिददाति' (श० ५।४।३।१२)। स्थापितानां गवां स्वामिने स्वाय ज्ञातये भ्रात्रेऽन्यासां तावतीनां ततो भूयसीनां वा गवां प्रतिदानं दर्शयति तस्मै तावन्मात्रीरिति। यावत्संख्याकाः पूर्वमाहवनीयस्योत्तरतो गावोऽवस्थापिताः, तावन्मात्रीस्तावत्परिमाणं यासां तास्तावन्मात्र्यः। 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (पा० सू० ५।२।३७) इति प्रमाणे मात्रच्प्रत्ययः, 'टिड्ढाणञ् ···' (पा० सू० ४।१।१५) इत्यादिना ङीप्। ताः तावन्मात्रीः। प्रतिदानं प्रशंसति—न वा एष इत्यादिना। तावन्मात्रीणां भूयसीनां वा ज्ञातये प्रतिदानेन एतदक्रूरमेव कृतं भवति। तस्माद् गोस्वामिने तावतीर्भूयसीर्वा गा दत्त्वा वेदिमध्ये स्थितानां गवां स्वाधीनकरणेन क्रूरं कर्म न कृतं भवतीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे हनूमन्, त्वमिन्द्रस्य रामस्य वज्रोऽसि वज्रोपमबाणस्वरूपोऽसि। मित्रावरुणयोः रामलक्ष्मणयोः श्रीरामस्य सर्वात्मत्वात् सर्वमित्रत्वात् मित्ररूपत्वम्, लक्ष्मणस्य च सङ्कर्षणरूपत्वेन सर्वसंहारकत्वाद् वरुणरूपत्वं च सङ्गच्छते। तथा च श्रीमद्भागवते—'अथो अनन्तस्य मुखानलेन दन्दह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम्' (भा० पु० २।२।२६) इति। प्रशास्त्रोः प्रशिषा प्रशासनेन त्वां युनज्मि आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिक-विघ्नरूपराक्षसासुरादिविघाताय संयोजयामि। स त्वमरिष्टोऽनुपहिंसितः, वज्राङ्गत्वात्। अर्जुनः प्रसिद्धकृष्णभक्तः पाण्डवोऽर्जुन इव त्वं श्रीरामप्रेष्ठः। यद्वा अर्जुनः स्वच्छो निर्मलः, सत्त्वस्वभावत्वात्, अध्यात्मं शुद्धमनोरूप-त्वाच्चार्जुनोऽसि। अव्यथायै अभयाय अप्रचलनाय ब्रह्मनिष्ठाया भक्तिनिष्ठाया वा अप्रकम्पनाय स्वधायै भक्तिज्ञानरसाय अभीष्टान्नादिरसाय वा त्वामाश्रये। हे धुर्य युद्धादौ धुरन्धर, मरुतां देवानां प्रसवेन प्रेरणेन आज्ञया वा त्वं रावणमेघनादादिसदृशान् बाह्यान् आन्तरांश्च शत्रून् जय। त्वत्कृपया वयं सर्वे साधका मनसा मननशीलेनेन्द्रियेण इन्द्रस्य परमात्मनो लिङ्गेन युक्ताः समपाम परमपुरुषार्थलक्षणं पुरुषार्थं भगवन्तं श्रीरामं प्राप्तवन्तः।

अनुष्ठित किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुरूप अर्थ उपदिष्ट किया गया है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे हनुमन्, आप श्रीराम के वज्र के समान बाणरूप हैं। श्रीराम सर्वात्मा तथा सबके मित्र होने के कारण मित्रस्वरूप हैं तथा संकर्षण लक्ष्मण के सर्वसंहारक होने के कारण वरुणस्वरूप होना युक्त है। अतः श्रीराम तथा लक्ष्मण के प्रशासन के द्वारा मैं आपको आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक विघ्नरूपी राक्षस-असुरों के विनाश के लिये संयोजित करता हूँ। आप वज्राङ्ग होने के कारण अपराजेय हैं, कृष्णभक्त पाण्डव अर्जुन की भाँति आप श्रीराम के अत्यन्त प्रिय हैं। अथवा अर्जुन, स्वच्छ तथा सत्त्वभाव वाले होने के कारण निर्मल हैं, शुद्ध मनोरूप होने के कारण अर्जुन हैं। अभय, ब्रह्मनिष्ठा और भक्तिनिष्ठा के अविचलित रहने के लिये, भक्तिज्ञानरस तथा वांछित अन्न आदि रसों की प्राप्ति के लिये मैं आपका आश्रय ग्रहण करता हूँ। हे युद्ध आदि में धुरन्धर, देवताओं की प्रेरणा अथवा आज्ञा से आप रावण, मेघनाद आदि के समान बाह्य तथा आन्तरिक शत्रुओं को जीतें।

दयानन्दस्तु 'राजप्रजापुरुषोपदेशपरोऽयं मन्त्रः। हे राजन्, यस्त्वमरिष्टोऽहिंसितः, अर्जुनः प्रशस्तरूपः, इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य वज्रोऽसि विज्ञापकोऽसि। यं त्वा अव्यथायै अविद्यमानपीडायै क्रियायै प्रशास्त्रोः सर्वस्य प्रशासनकर्त्रोः, मित्रावरुणयोः सभासेनेशयोः प्रशिषा प्रशासनेन युनज्मि समादधे, मरुतामृत्विजां प्रसवेन प्रेरणेन स्वधायै स्ववस्तुधारणलक्षणायै राजनीत्यै यं त्वा युनज्मि मनसेन्द्रियेण मननशीलेन इन्द्रियेण जीवेन जुष्टेन प्रीतेन वा वयं समापाम आप्नुयाम, स त्वं जय दुष्टान् जित्वा उत्कर्ष' इति, तदपि साहसमात्रं धाष्टर्यं वा, शाब्दमर्यादातिक्रमणात्। तथाहि—अर्जुनशब्दस्य श्रुत्यैवेन्द्रस्य गुह्यनामत्वमुक्तम्, तदतिक्रम्य प्रशस्तरूपवद्वस्तुबोधनं धाष्टर्यमेव। इन्द्रपदस्य ऐश्वर्यवानिन्द्र इत्यर्थस्य युक्तत्वेऽप्यैश्वर्यपरत्वकल्पनमपि निर्मूलमेव। वज्रशब्दस्य पदार्थभाष्ये विज्ञापक इत्यर्थ उक्तः। हिन्द्यां तु वज्रतुल्योऽसीत्युक्तम्। एवमसम्बद्धोऽर्थः। एवमेव मरुतामित्यस्य ऋत्विजामित्यर्थकरणेऽपि मूलं वक्तव्यमासीत्। स्वधाशब्दस्य राजनीत्यर्थतापि चिन्त्यैव, प्रसिद्धार्थत्यागेऽप्रसिद्धार्थग्रहणे प्रमाणस्यानुक्तत्वात्। इन्द्रियेण जीवेन जुष्टेन प्रीतेनेत्यत्रापि कथमिन्द्रियशब्दस्य जीवोऽर्थः? तत्रापि मूलमपेक्षितम् ॥ २१ ॥

मा त॑ इन्द्र ते व॒यं तु॑राषाडयु॑क्तासो अब्र॑ह्मता विद॑साम।
तिष्ठा॒ रथ॒मधि॒ यं व॑ज्रहस्ता र॒श्मीन् दे॑व यमसे॒ स्वश्वा॑न् ॥ २२ ॥

'तावद् भूयो वा गोस्वामिने दत्त्वा पूर्वेण यूपं परीत्यान्तःपात्यदेशे स्थापयति मा त इति' (का० श्रौ० १५।६।२२)। रथारूढो यजमानो गवां शतमधिकं वा यावत्स्थापितं तावत्ततोऽधिकं वा गोस्वामिने स्वाय ज्ञातये भ्रात्रे प्रत्यर्प्य पूर्वेण यूपं प्रदक्षिणीकृत्यान्तःपात्यदेशे रथं स्थापयेत्। इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप्, संवरणस्यार्षम्। हे वज्रहस्त! हे देव द्योतमान दीव्यमान वा, त्वं यं रथमधितिष्ठ अधितिष्ठसि, लडर्थे लोट्। 'अधितिष्ठा' इत्यत्र 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दैर्घ्यम्। यस्य च रश्मीन् प्रग्रहान् आयमसे आयच्छसि नियच्छसि। कथंभूतान् रश्मीन्? स्वश्वान् शोभना अश्वा नियम्यन्ते यैस्तान्। हे तुराषाट् तुरा तूर्णं सहते

आपकी कृपा से हम सभी साधक मननशील इन्द्रियों से, परमात्मा के संकेत से युक्त होकर परम पुरुषार्थ रूपी भगवान् श्रीराम को प्राप्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ शब्द की सीमाओं को तोड़ने के कारण दुस्साहस अथवा धृष्टता ही माना जा सकता है। श्रुति के द्वारा 'अर्जुन' इन्द्र की ही एक अप्रत्यक्ष संज्ञा मानी गई है। इसको छोड़कर प्रशस्तरूप वाली वस्तु का अर्थ करना अनुचित है। पदार्थ में वज्र शब्द का अर्थ 'विज्ञापक' कहा गया है, पर हिन्दी अर्थ में 'वज्रतुल्य' कहा गया है। इस प्रकार विपरीत अर्थ किये गये हैं। मरुतों का अर्थ ऋत्विग्गण करने में भी प्रमाण उल्लिखित करना चाहिये था। स्वधा शब्द का अर्थ राजनीति करना भी शोचनीय है, क्योंकि प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ने तथा अप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं बताया गया। इन्द्रिय शब्द का अर्थ जीव कैसे है, इसमें भी मूल प्रमाण की अपेक्षा है ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—**शत्रुओं का शीघ्र तिरस्कार करने में कुशल, हाथ में वज्र धारण करने वाले हे ऐश्वर्ययुक्त दीप्यमान राजन्, तुम जिस रथ में स्थित होकर अच्छे सुशिक्षित घोड़ों की लगाम थामते हो, उससे हमारा कोई नुकसान न हो ॥ २२ ॥**

भाष्यसार—'मा ते' इस ऋचा से रथ पर आरूढ यजमान शताधिक गायों को प्रत्यर्पित करके यूप की प्रदक्षिणा

शत्रूनभिभवतीति तुराषाट्, तत्सम्बुद्धौ हे इन्द्र ऐश्वर्ययुक्त, तस्मिन् रथे ते त्वदीया वयं आयुक्ताः, तस्माद् भिन्नाः सन्तो मा विदसाम मा विविधमुपक्षीणा भवाम, 'दसु उपक्षये'। तत्र दृष्टान्तः—अब्रह्मता। लुप्तोपमानम्। अब्रह्मतेव ब्रह्म विज्ञानानन्दस्वभावम् अनश्वरम्, तस्य भावो ब्रह्मता, न ब्रह्मता अब्रह्मता। यथा ब्रह्मभावादन्यद्वस्तु विदस्येत, एवं वयं मा विदस्येमहीत्यर्थः। हे वज्रहस्त, यं रथं त्वमधितिष्ठ अधितिष्ठसि, हे देव! यस्मिन्नवस्थितस्त्वं स्वश्वान् शोभनाश्वयुक्तान् रश्मीन् प्रग्रहान् आयमसे नियच्छसि। हे तुराषाट् तुरा तूर्णमेव शत्रून् सहतेऽभिभवतीति तुराषाट्, तत्सम्बुद्धौ हे इन्द्र, तस्मिन् ते तव स्वभूते रथे ते तव स्वभूता वयं अयुक्तासः संयोगरहिता वयं अब्रह्मता अब्रह्मत्वम्, द्वितीयार्थे प्रथमा, विदसाम विदेम। तव रथे अयुक्ता वयं ब्रह्मवर्चसं न लभामहे, किन्तु युक्ताः सन्तो ब्रह्मवर्चसं लभेमहि, विदेर्लेटि सिचि 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडाटौ।

यद्वा हे इन्द्र, ते तव स्वभूतास्त्वदधीनत्वेन प्रसिद्धा वयमयुक्तास्त्वया असंयुक्ता अब्रह्मतापरिवृढं त्वदुद्देश्यकं कर्म तद्रहितत्वाय मा विदसाम विविधमुपक्षीणा न भवामः, किन्तु तव यष्टारः। हे देव, रश्मीन् शोभनाश्वबन्धनप्रग्रहान् स्वश्वान् शोभनानिच्छानुसारिणोऽश्वान् यद्यस्मिन् रथेऽश्वान् योजयित्वा रथमातिष्ठ अस्मद्यज्ञ आगमनायेति काण्वसंहिताभाष्ये सायणाचार्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणानायच्छति। सोऽग्रेण यूपं दक्षिणेन वेदिं येनैव दक्षिणा यन्ति तेन प्रतिपद्यते तं जघनेन सदोऽग्रेण शालामुद्यच्छति' (श० ५।४।३।१३)। आहवनीयस्योत्तरतः स्थापितानां गवां मध्ये दक्षिणतोऽश्वानां स्थापनं विधत्ते—अथ दक्षिणानिति। यूपस्य पूर्वतो वेदेर्दक्षिणतो दक्षिणान् दक्षिणदिङ्मुखान् अश्वान् आयच्छेत्। अथान्तःपात्यप्रदेशे रथस्य स्थापनं विधातुमुदग्गमनमार्गमाह—सोऽग्रेणेति। अनेन मार्गेण रथं प्रदक्षिणमावर्त्य येनैव दक्षिणा यन्ति तेन प्रतिपद्यते। सदसः पश्चिमे शालायाः पूर्वदेशे रथमुद्यच्छति स्थापयेत्। तथैव सूत्रितं कात्यायनेनापि—'पूर्वेण यूपं परीत्यान्तःपात्यदेशे स्थापयति मा त इति' (का० श्रौ० १५।६।२२) इति। ब्राह्मणमपि—'मा त इन्द्र ते वयं तुराषाट्। अयुक्तासो अब्रह्मता विदसाम तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन् देव यमसे स्वश्वानित्युद्यच्छत्येवैतयाऽभीशवो वै रश्मयस्तस्मादाहा रश्मीन् देव यमसे स्वश्वानित्यथ रथविमोचनीयानि जुहोति प्रीतो रथो विमुच्याता इति तस्माद्रथविमोचनीयानि जुहोति' (श० ५।४।३।१४)। रथविमोचनीयहोमं विधत्ते—रथविमोचनीयानि जुहोतीति। रथो होमेन प्रीतः सन् विमुच्यातै विमुक्तो भवत्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र श्रीराम! हे वज्रहस्त वज्रोपमशस्त्रास्त्रादिहस्त, त्वं यं रथमधितिष्ठ अधितिष्ठसि आरूढश्च हे देव शोभनाश्वनियामकान् रश्मीन् प्रग्रहान् नियच्छसि, तस्मिन् ते त्वदीये रथे ते तव स्वभूता वयमयुक्तासः सम्बन्धरहिताः सन्तो मा विदस्येमहि मा उपक्षीयेमहि, 'दसु उपक्षये' इति धातोः कर्मणि

करते हुए अन्तःपात्य नामक स्थान में रथ को खड़ा करे। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।२२) में प्रतिपादित है। याज्ञिक प्रक्रिया के विनियोगानुकूल व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—वज्र के समान शस्त्रास्त्रों को हाथ में धारण करनेवाले हे श्रीराम, आप रथ पर आरोहण करते हैं तथा आरूढ होकर हे देव, आप सुन्दर अश्वों को नियन्त्रित करने वाली रस्सियों को ग्रहण करते हैं। आपके उस रथ में हम आपके स्वीय होकर सम्बन्धों से मुक्त होते हुए कभी क्षीण न हों। अथवा आपके उस रथ में विविध सम्बन्धों से संयक्त होकर विभिन्न प्रकार से क्षीण न हों, क्योंकि भगवान् से सम्बन्ध-राहित्य

लकारे रूपम्। अथवा तस्मिन् ते रथे आयुक्ता आसमन्ताद् युक्ताः सम्बन्धवन्तः, तस्माद्भिन्नाः सन्तो मा विदसाम विविधमुपक्षीणा मा भवामः, भगवत्सम्बन्धवैधुर्येणोपक्षयसम्भवात्। कथं नोपक्षीयेमहीत्यत्र दृष्टान्त उच्यते—अब्रह्मतेति। लुप्तोपममेतत्। ब्रह्म सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणम्, तस्य भावो ब्रह्मता सत्यज्ञानानन्दरूपता, तद्भिन्नता अब्रह्मता। यथा ब्रह्मभावादन्यद् विदस्येत, अनृताज्ञानदुःखरूपत्वात्, तथा वयं मा विदस्येमहि। यद्वा 'विदॢ लाभे' इत्यस्य लेटि विदसामेति रूपम्। त्वद्वयसम्बन्धरहिता ब्रह्मवर्चसं न लभामहे, आयुक्तास्तु ब्रह्मवर्चसं लभामह इति।

दयानन्दस्तु—'हे देवेन्द्र राजन् वज्रहस्त, वयं ते तव सम्बन्धेऽयुक्तासोऽधर्मकारिणो न भवामः। ते तवाब्रह्मता वेदेश्वरनिष्ठारहिता माऽस्तु। वयं तां विदसाम उपक्षयेम। यस्तुराषाट् तुरान् त्वरितान् शत्रून् सहते त्वं यान् रश्मीन् अश्वनियमार्था रज्जूः स्वश्वान् शोभनाश्च ते अश्वाश्च तान् आयमसे यं रथमधितिष्ठसि, तांस्त्वं च वयमप्यधितिष्ठेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मा च ते अब्रह्मता इति शान्ताकाङ्क्षस्य अब्रह्मतापदस्य पुनर्विदसामेति पदस्य कर्मत्वेन योजनस्यासङ्गतत्वात्, तामिति पदस्य मूलेऽसत्त्वात्। 'यं रथमश्वांश्च राजाधितिष्ठति, तमन्येऽप्यधितिष्ठन्ति' नैतदर्थबोधकानि पदानि मन्त्रे सन्ति। नह्येकस्यैव मापदस्य 'अयुक्तासः'-'अब्रह्मता' इति पदाभ्यां सम्बन्धो भवितुं युक्तः, सकृदुच्चरितस्य शब्दस्य सकृदर्थबोधकत्वात्, उभयत्रान्वये आवृत्तिप्रसङ्गात्, आवृत्तौ च बीजाभावात् ॥ २२ ॥

अ॒ग्नये॑ गृ॒हप॑तये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ वन॒स्पत॑ये॒ स्वाहा॑ म॒रुता॒मोज॑से॒ स्वाहेन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॒ स्वाहा॑। पृथि॑वि मात॒र्मा मा॑ हिꣳसी॒र्मो अ॒हं त्वाम् ॥ २३ ॥

'अग्नये गृहपतय इति चत्वारि रथविमोचनीयानि जुहोति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १५।६।२३)। अध्वर्युः सकृद्गृहीतैराज्यैः रथविमोचनीयसंज्ञाश्चतस्र आहुतीर्जुहोति। चत्वारि यजूंषि लिङ्गोक्तदेवत्यानि। अग्नये गृहपतये गृहाश्रमपालकाय स्वाहा सुहुतमस्तु। वनस्पतिरूपिणे सोमाय स्वाहा हविर्दत्तमस्तु। इन्द्रस्य

होने पर क्षीणता संभव है। किस प्रकार क्षीण न हों, इसमें उदाहरण बतलाया जाता है कि जैसे सत्य, ज्ञान, आनन्दादि स्वरूप ब्रह्म से भिन्न सब कुछ अनृत, अज्ञान, दुःख रूप होने से क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार हम परिक्षीण न हों। अथवा आपसे सम्बन्धरहित होने पर ब्रह्मवर्चस् नहीं प्राप्त करते, परन्तु आपसे संयुक्त होकर ब्रह्मवर्चस् प्राप्त करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में 'अब्रह्मता' शब्द को एक बार अन्वित करने के बाद पुनः 'विदसाम' इस क्रिया के कर्म के रूप में संयुक्त करना असंगत है। 'ताम्' यह पद भी मूल मन्त्र में नहीं है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक पद मूल से उक्त नहीं हैं। एक ही 'मा' शब्द को दो पदों 'अयुक्तासः' तथा 'अब्रह्मता' के साथ संयुक्त करना भी अनुचित है, क्योंकि एक बार पठित शब्द एक ही बार अर्थावबोध कराने में समर्थ होता है। दो स्थानों पर अन्वय करने में आवृत्ति होगी तथा आवृत्ति करने में कोई मूल नहीं है ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—गृहपालक अग्नि देवता के लिये यह श्रेष्ठ आहुति दी गयी है। वनस्पतिरूपी सोम की प्रीति के लिये यह श्रेष्ठ आहुति है। हम मरुद्गणों के बल के लिये और इन्द्र के वीर्य के निमित्त हवि देते हैं। हे जगत् की निर्मात्री पृथ्वी देवी! तुम हमें किसी प्रकार की हानि मत पहुँचाओ। मैं भी तुम्हें किसी प्रकार का क्लेश न दूँ ॥ २३ ॥

भाष्यसार—'अग्नये गृहपतये' इस कण्डिका के मन्त्रों से रथविमोचनीया नामक आहुतियाँ अग्नि में दी जाती हैं

इन्द्रसम्बन्धिने इन्द्रियाय वीर्याय स्वाहा। मरुतां सम्बन्धिने ओजसे बलाय स्वाहा। 'भूमिमवेक्षते पृथिवि मातरिति' (का० श्रौ० १५।६।२४)। रथारूढो यजमानो भूमिं पश्येत्। भूमिदेवत्यम्। हे मातर्जगन्निर्मात्रि हे पृथिवि भूमे, त्वं मा मां मा हिंसीः, मा वधिष्ठाः। अहमपि त्वां पृथिवीं मो मा अहिंसिषम्। पृथिव्या मातृत्वम् 'द्यौः पिता पृथिवी माता' (ऋ० सं० १।१६४।३३) इति मन्त्रसिद्धम्।

तत्र ब्राह्मणम्—'स जुहोति। अग्नये गृहपतये स्वाहेति स यदेवाग्नेयꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति वहा वा आग्नेया रथस्य वहानेवैतेन प्रीणाति श्रीर्वै गार्हपतं यावतो यावत इष्टे तच्छ्रियमेवास्यैतद्गार्हपतꣳ राज्यमभिविमुच्यते' (श० ५।४।३।१५)। रथविमोचनानि जुहोतीति ब्राह्मणेन विहितं होममनूद्य चतुरो मन्त्रान् सार्थवादं पृथग् विधत्ते—स जुहोत्यग्नय इति। रथो होमेन प्रीतः सन् विमुच्यातै विमुक्तो भवत्विति रथोऽत्र तदधिष्ठातृदेवो विवक्ष्यते, जडस्य प्रीतत्वायोगात्। मन्त्रार्थास्तूक्ताः। प्रथममन्त्रं प्रशंसति—यदेवाग्नेयमिति। मन्त्रैकदेशेनाग्निपदेन रथस्याग्नेयमङ्गं प्रीणितवान् भवति। रथस्याग्नेयमङ्गं दर्शयति—वहा वा इति। अश्वैरुह्यमानस्य युगस्य प्रान्तप्रदेशा वहा उच्यन्ते। त आग्नेयाः, 'अग्निदग्धमिवैषां वहं भवति' (श० १।१।२।९) इति श्रुतेः। अग्निदग्धत्वसाम्याद् वाहकानामनडुदादीनामिव रथेऽपि वहा आग्नेयाः। प्रथमहोममन्त्रे 'अग्नये' इत्येकदेशपाठेन रथाङ्गप्रीणनं भवति। गृहपतय इति भागं प्रशंसति—श्रीर्वा इति। गार्हपतं गृहपतित्वं नाम श्रीर्यतः पुरुषो यावतो धनस्य पुरुषस्य वा ईष्टे, तद् एतेन गृहपतय इति मन्त्रभागपाठेन यजमानस्य गार्हपतलक्षणं राज्यमभिलक्ष्य रथो विमुक्तो भवतीति। एवमुत्तरेषु मन्त्रेष्वेकदेशेन रथाङ्गप्रीणनम्, अपरेण यजमानफलार्थं रथविमोक उच्यते।

'सोमाय वनस्पतये स्वाहेति। द्वयानि वै वानस्पत्यानि चक्राणि रथ्यानि चानसानि च तेभ्यो न्वेवैतदुभयेभ्योऽरिष्टिं कुरुते सोमो वै वनस्पतिः स यदेव वानस्पत्यꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति दारूणि वै वानस्पत्यानि रथस्य दारूण्येवैतेन प्रीणाति क्षत्रं वै सोमः क्षत्रमेवास्यैतद्राज्यमभिविमुच्यते' (श० ५।४।३।१६)। द्वयानीति वनस्पतिनिर्मितानि चक्राणि द्वयानि द्विप्रकाराणि भवन्ति—रथ्यानि रथसम्बन्धीनि, आनसानि अनःसम्बन्धीनि च। तदेतेन सोमाय वनस्पतय इति मन्त्रपाठेन उभयविधेभ्यो रथ्यानसचक्रेभ्यस्तदर्थमरिष्टिम् अहिंसां कृतवान् भवति। सोमस्य वनस्पतित्वाद् ओषधिपोषकत्वाद् वनस्पतिपदेन रथस्य दारुनिर्मितान्यङ्गानि प्रीणयति। सोमस्य क्षत्ररूपत्वाद् राजत्वाद् बलसम्पादकत्वाद्वा। तस्मात् सोमपदेन क्षत्रियसम्बन्धि स्वाराज्यमभिलक्ष्य रथो विमुक्तो भवति। 'मरुतामोजसे स्वाहेति। स यदेव मारुतꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति चत्वारोऽश्वा रथः पञ्चमो द्वौ सव्यष्टृसारथी ते सप्त सप्त सप्त वै मारुतो गणः सर्वमेवैतेन रथं प्रीणाति विशो वै मरुतो विशमेवास्यैतद्राज्यमभिविमुच्यते' (श० ५।४।३।१७)। तृतीये मन्त्रे मरुतामिति पदेन रथस्यैव प्रीणनम्। रथस्य मारुतत्वं सम्पादयति—चत्वारोऽश्वा इत्यादिना। रथस्याश्वचतुष्टयम्, रथः स्वयं पञ्चमः, द्वौ सव्यदक्षिणभागयोरवस्थितौ सारथी इति सप्तसंख्यास्ति, मरुतामपि सप्तगणात्मकत्वात् सप्तसंख्याकत्वम्, अतः सप्तसंख्यासाम्याद् मरुतामिति मन्त्रपदेन रथस्यैव प्रीणनं भवतीत्यर्थः। मरुत्पदमेव यजमानस्य फलार्थमपि प्रशंसति—विशो वै मरुत इति। विशमेवास्यैतद्राज्यमिति।

'इन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहेति। स यदेवैन्द्रꣳ रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति सव्यष्ठा वा ऐन्द्रो रथस्य सव्यष्ठारमेवैतेन प्रीणातीन्द्रियं वै वीर्यमिन्द्र इन्द्रियमेवास्यैतद्वीर्यꣳ राज्यमभिविमुच्यते' (श० ५।४।३।१८)। अत्र चतुर्थमन्त्रे इन्द्रपदेन रथस्य सारथिप्रीणनम्। सव्यभागे तिष्ठतीति सव्यष्ठा, तिष्ठतेरौणादिक ऋकारप्रत्ययः

तथा यजमान द्वारा भूमि का दर्शन किया जाता है। यह याज्ञिक विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।२३-२४) में

किच्च, कित्वादाल्लोपः। 'अम्बाम्बगोभूमि' (पा० सू० ८।३।९७) इति सूत्रे 'स्था-स्थिन-स्थृणाम्' इति वचनात् षत्वम्। 'अथ वाराह्या उपानहा उपमुञ्चते। अग्नौ ह वै देवा घृतकुम्भं प्रवेशयाञ्चक्रुस्ततो वराहः सम्बभूव तस्माद्वराहो मेदुरो घृताद्धि सम्भूतस्तस्माद्वराहे गावः संजानते स्वमेवैतद्रसमभिसंजानते तत्पशूनामेवैतद्रसे प्रतितिष्ठति तस्माद्वाराह्या उपानहा उपमुञ्चते' (श० ५।४।३।१९)। विधत्ते—अथेति। वाराह्यौ वराहचर्मनिर्मिते उपानहौ उपमुञ्चते। कात्यायनेन पशूनां रसोऽसीति मन्त्रेण वाराह्योरुपानहोरुपमोको विहितः (का० श्रौ० १५।६।२३-२४)। तत्र मन्त्रे वराहस्य पशुरसत्वमभिधीयते। तदुपपादयति—अग्नौ ह वै देवा इति। पूर्वं देवा घृतकुम्भमग्नौ प्रासुः। तस्माद्वराह उत्पन्नः। अतो घृतोत्पन्नत्वाद् वराहस्य मेदुरत्वं मांसलत्वम्। तस्मिन् वराहे गावः सञ्जानते संवदन्ते, स्वीयरसभूतघृतोत्पन्नत्वात्। तस्माद्वाराह्योरुपानहोरुपमोकेन पशुरस एव स्वयं प्रतिष्ठितो भवति। 'अथेमां प्रत्यवेक्षमाणो जपति। पृथिवि मातर्मा मा हिꣳसीर्मो अहं त्वामिति वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानात् पृथिवी बिभयाञ्चकार महद्वा अयमभूद्योऽभ्यषेचि यद्वै माऽयं नावद्दृणीयादिति वरुण उ ह पृथिव्यै बिभयाञ्चकार यद्वै मेऽयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्मित्रधेयमकुरुत नहि माता पुत्रꣳ हिनस्ति न पुत्रो मातरम्' (श० ५।४।३।२०)। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। ब्राह्मणमपि वाजपेये भूम्यवेक्षणप्रसङ्गे व्याख्यातम्। 'वरुणसवो वा एष यद्राजसूयम्…' (श० ५।४।३।२१) इत्यादि गतार्थम्।

अध्यात्मपक्षे—अग्नये परमात्मने गृहपतये सर्वावासस्वामिने नमः सर्वस्वार्पणमस्तु। सोमाय साम्बसदाशिवाय वनस्पतये वनानां पतये वनारण्यादिपालकत्वविशिष्टाय नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। मरुतां प्राणानामोजसे बलाय परमात्मने स्वाहा सुहुतमस्तु। सर्वेषामोजः प्राणमूलकम्, मरुतां त्वोजः परमात्ममूलकमेव, परमात्मोपेक्षणे तैरेकस्य तृणस्याप्युत्थापयितुमसमर्थत्वात्। केनोपनिषदि स्पष्टमेवैतत्। इन्द्रस्येति परमात्मन इन्द्रियाय वीर्याय नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। हे पृथिवि धरित्रि परमात्मनिष्ठधारणशक्ते, त्वं मां साधकं मा हिंसीः धारणाशक्तिप्रदानेन पालय। अहं च त्वां मा हिंस्यां त्वदुपेक्षणं न कुर्याम्।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजाजनाः, यथा राजजना वयम् अग्नये धर्मविज्ञानाढ्याय गृहपतये गृहाश्रमस्वामिने स्वाहा सत्यां नीतिं सोमाय सोमलताद्योषधिगणाय वनस्पतये वनानां पालकाय स्वाहा वैद्यकशास्त्रबोधजनितां क्रियाम्, मरुतामृत्विजां प्राणानां वा ओजसे बलाय स्वाहा योगशान्तिदां वाचम्, इन्द्रस्य जीवस्य इन्द्रियाय वीर्याय नेत्राद्याय अन्तःकरणाय वा स्वाहा सुशिक्षायुक्तां वाचमुपदिश्य चरेम, तथा यूयमप्याचरत। हे पृथिवि, भूमिवत् पृथुशुभलक्षणे मातः, मान्यकर्त्रि जननि, त्वं मा मां मा हिंसीः कुशिक्षया मा हिंस्याः। त्वामहं

उल्लिखित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—अग्नि परमात्मा, समस्त गृहों के स्वामी के लिये सर्वस्व का अर्पण हो। साम्ब सदाशिव वन-अरण्य आदि के अधिपति के लिये प्रणाम, सर्वस्वार्पण हो। प्राणों के बलस्वरूप परमात्मा के लिये सर्वस्व अर्पित हो। सभी प्राणियों का बल प्राणमूलक है, किन्तु मरुत् प्राणों का बल परमात्ममूलक है। परमात्मा की उपेक्षा होने पर उनके द्वारा एक तृण भी नहीं उठाया जा सकता, यह केनोपनिषद् में स्पष्ट अभिहित है। परमात्मा के बल के लिये प्रणाम, सर्वस्वार्पण हो। हे परमात्मकपरक धारणा शक्ति! तुम मुझ साधक को हिंसित मत करो, अर्थात् धारणा शक्ति प्रदान करते हुए पालित करो तथा मैं भी तुम्हारी उपेक्षा न करूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में स्वाहा शब्द के उन उन अनेक अर्थों में कोई प्रमाण नहीं है। अग्नि आदि शब्दों के भी उन उन प्रसिद्ध अर्थों की उपेक्षा करके अपनी मनःकल्पना से अर्थबोधन कराने में भी कोई

मो मा हिंस्याम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशतादृशस्वाहापदार्थानामप्रामाणिकत्वात्, अग्न्यादिपदानामपि तांस्तान् प्रसिद्धानर्थानुपेक्ष्य स्वाभ्यूहितार्थबोधकत्वे मानाभावाच्च ॥ २३ ॥

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २४ ॥

सप्रपञ्चब्रह्माभिधायिनी सूर्यदेवत्या अतिजगती वामदेवदृष्टा। 'अवरोहति हꣳसः शुचिषदिति' (का० श्रौ० १५।६।२५)। मन्त्रेणानेन सोपानत्को यजमानो रथादवरोहति। हंसः, हन्ति पृथिवीमिति हंसो रथः। शुचौ देवयजने रथवाहने च सीदतीति शुचिषत्। वसुः स्वस्योपरि यजमानं वासयतीति वसुः। अन्तरिक्षसत् तरुगुल्माद्यवरुद्धेऽन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होता होतृसमानः। कथं होतेत्यपेक्षायामाह— वेदिषदिति। वेद्यां सीदतीति वेदिषद् वेदिषत्वसाम्याद्रथस्य होतृत्वम्। अतिथिः अतिथितुल्यः। कुतः ? यतो दुरोणसद् दुरोणेषु गृहेषु सीदति यः सः। यो यस्तमारोढुं नयति तस्य गृहे सीदतीति। नृषद् नृषु मनुष्येषूपकारं कर्तुं सीदतीति नृषद्। वरसद् वरे श्रेष्ठे राजादिगृहे सीदतीति वरसत्। ऋतसद् ऋते यज्ञे वाजपेयादौ सीदतीति ऋतसत्। व्योमसत् सूर्यं वोढुं व्योमन्याकाशे सीदतीति व्योमसत्। अब्जाः, अद्भ्यो जातैरश्वैरुपेतत्वात्, 'अप्सुयोनिर्वा अश्वः' (श० १३।२।२।१९) इति श्रुतेः। गोजाः, गोशब्दवाच्याद्वज्राज्जायत इति गोजाः। रथस्य वज्रजन्यत्वं समाम्नातं तैत्तिरीयश्रुतौ—'इन्द्रो वृत्राय वज्रमाहरत्। स त्रेधा व्यभवत्। स्फ्यस्तृतीयꣳ रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयम्' (तै० सं० ५।२।६।२)। ऋतजाः पृष्ठवाहिरूपत्वेन ऋतं यज्ञमुद्दिश्य जातत्वादृतजाः। अद्रिजाः पाषाणसदृशेभ्यो दृढकाष्ठेभ्यो जातत्वादद्रिजाः। ईदृशो रथो बृहदृतं प्रौढं राजसूययज्ञं सम्पादयतु।

सूर्यपक्षे—हंसः, हन्ति गच्छतीति हंस आदित्यः। शुचिषत् शुचौ निर्मले मण्डले सीदतीति शुचिषद्। वसुः, वसति सर्वमस्मादिति वसुर्निवासहेतुः, सूर्यं विनावस्थातुमशक्यत्वात्। अन्तरिक्षसत् प्राणात्मकवायुरूपेणान्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। वेदिषद् अग्निरूपेण वेद्यां सीदतीति वेदिषद्। अब्जा अप्सु सूक्ष्मभूतेषु जायत इत्यब्जाः, सूर्यमण्डलस्य सर्वमूर्तद्रव्यसारत्वात्। गोजाः, गोषु पृथिवीप्रधानेषु स्थूलभूतेषु जायत इति गोजाः। ऋतजाः, ऋते सत्ये मूर्तभूते मण्डले जायत इति ऋतजाः। अद्रिजाः, अद्रौ पाषाणे मेघे वा उदकरूपेण जायत इत्यद्रिजाः। ऋतम् ज्ञानात्मकम्। बृहत् प्रवृद्धं परमानन्दलक्षणम्। तदपि सूर्य एवेति सायणरीत्या व्याख्यानम्।

प्रमाण नहीं है ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र स्थान दीप्ति में आदित्य रूप से स्थित अहंकार को दूर करने वाला आत्मा, वायु रूप से अन्तरिक्ष में स्थित मनुष्यों का प्रवर्तक, अग्नि रूप से वेदि में स्थित होकर देवताओं का आह्वान करने वाला, आहवनीय रूप से यज्ञ में स्थित सबका पूजनीय, मनुष्यों में प्राणभाव से स्थित, उत्कृष्ट स्थानों में स्थित, यज्ञ में स्थित, आकाश में मण्डल रूप से स्थित—इस प्रकार सर्वत्र स्थित महनीय विभूतियों से हम सबके कल्याण के लिये प्रार्थना करते हैं। मत्स्य आदि के रूप में जल में स्थित, चतुर्विध भूतग्राम के रूप से पृथ्वी में स्थित, सत्य रूप में स्थित, अग्नि रूप में स्थित, मेघ में जल के रूप में स्थित, सर्वगत अपर्यन्त परम ब्रह्म परमात्मा का स्मरण कर मैं रथ से उतरता हूँ ॥ २४ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।२५) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'हंसः शुचिषद्'

उव्वटमहीधरयो रीत्या तु—हंसो हन्ति गच्छत्यध्वानमिति हंसः, हन्त्यहङ्कारं वेति हंस आदित्यः। कीदृशो हंसः ? शुचिषत्, शुचौ दीप्तौ सीदति यः सः। तथा वसुः वासयिता। अन्तरिक्षसद् अन्तरिक्षे वायुरूपेण सीदति यः सः। होता आह्वाता देवानाम्। वेदिषद् वेदावग्निरूपेण सीदति यः। अतिथिः, तद्वत् सर्वपूज्यः। दुरोणसत्, दुरोणे यज्ञशालायामाहवनीयादिरूपेण सीदति यः सः। वरसद् वरेषूत्कृष्टस्थानेषु सीदतीति। ऋतसद् ऋते यज्ञे सीदतीति। व्योमसद् व्योम्नि मण्डलरूपेण सीदति यः सः। एवं सर्वत्र स्थितत्वेन स्तुत्वा सर्वत्रोत्पत्तिद्वारेण स्तौति—अब्जा इति। अप्सूदकेषु मत्स्यादिरूपेण जायत इत्यब्जाः। गोजा गवि पृथिव्यां भूतग्रामरूपेण जायत इति गोजाः। ऋतजा ऋते सत्ये जायत इति ऋतजाः। अद्रिजा अद्रौ पाषाणेऽग्निरूपेण जायत इत्यद्रिजाः, अद्रौ मेघे वा जलरूपेण जायत इत्यद्रिजाः। ऋतं सर्वगतं ब्रह्म। बृहत् परब्रह्मरूपो यो हंसस्तं प्रति रथादवतरामीति भावः।

अत्र ब्राह्मणम् – 'सोऽवतिष्ठति। हꣳसः.....ऋतं बृहदित्येतामतिच्छन्दसं जपन्नेषा वै सर्वाणि छन्दाꣳसि यदतिच्छन्दास्तथैनं पाप्मा नान्ववतिष्ठति' (श० ५।४।३।२२)। रथादवरोहणं विधत्ते—सोऽवतिष्ठतीति। व्यत्ययेन परस्मैपदम्। मन्त्रार्थस्तूक्तः। मन्त्रगतं छन्दोविशेषं प्रशंसति—अतिच्छन्दसमिति। अस्य मन्त्रस्यातिजगतीच्छन्दः। सा च गायत्र्यादीनि छन्दांस्यतिक्रम्य वर्तत इति तस्या अतिछन्दस्त्वम्। सर्वासामेव छन्दसां तत्रान्तर्भावात् सर्वछन्दोरूपत्वम्। तस्मात् सर्वछन्दोऽतिक्रमणादेतां जपित्वा अवरोहन्तमेनं यजमानमनु पाप्मा नावतिष्ठति नावरोहति, किन्तु स एव पाप्मानमतिक्रामति। 'तं न संग्रहीताऽन्ववतिष्ठेत्' (श० ५।४।३।२३) इति श्रुतौ सयन्तृकस्य रथस्य रथवाहनेऽनसि स्थापनं विधातुं यन्तुरवस्थानं निषिद्धम्। सम्यक् प्रग्रहं गृह्णातीति संग्रहीता सारथिः। स तं यजमानमनु नावतिष्ठेत् नावरोहेत्। तत्र कारणमाह—नेदिति। सुन्वन् यं लोकं प्राप्नोति, तं लोकं सारथिरपि न प्राप्नुयादित्येतदर्थं रथस्थापनसाधनेऽनसि सयन्तृकं रथं निदध्यात्, 'यदुभौ सहावतिष्ठेताꣳ समानं लोकमियाताꣳ सह संग्रहीत्रा रथवाहने रथमादधाति सुवर्गादेवैनं लोकादन्तर्दधाति' (तै० १।७।९।६) इति श्रुतेः। पश्चाद् यन्ता अवाङ्मुखः सन् अपप्रवते अवरोहति, 'प्रुङ् गतौ'।

अध्यात्मपक्षे – परमात्मनः सर्वात्मकत्वबोधनपरोऽयं मन्त्रः। हंसः, एक एवाकाशे हन्तीति हंसः, सूर्यरूपेणापि तस्यैव विवर्तितत्वात्। शुचिषत् शुचौ शुद्धेऽन्तःकरणेऽभिव्यङ्ग्यत्वेन सीदतीति शुचिषत्, निर्वृत्तिकशुद्धान्तःकरणस्यैव तदभिव्यञ्जकत्वात्। वसुः, वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन्नसौ वसुः, सर्वस्य सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन वासयति सर्वाणि भूतानीति वसुः, वसति वा सर्वभूतेषु यः स वसुः। अन्तरिक्षसद् अन्तरिक्षे नक्षत्रग्रहादिरूपेण अन्तरिक्षरूपेण च सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होता सर्वेषां भक्तानां स्वस्वरूपे

इस ऋचा से यजमान रथ से उतरता है। शतपथ ब्राह्मणोक्त व्याख्यान याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल है।

अध्यात्मपक्ष में परमात्मा की सर्वात्मकता का निरूपण करने वाला यह मन्त्र है। एकाकी ही आकाश में गमन करता है, अतः यह हंस है। सूर्य का रूप भी उसी का विवर्त है। शुद्ध अन्तःकरण में अभिव्यंजित होते हुए निवास करता है, अतः शुचिषद् है। वृत्तिरहित निर्मल अन्तःकरण में उसकी अभिव्यक्ति होती है। समस्त पदार्थ इसमें निवास करते हैं, अथवा सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करने के कारण सबको स्थित रखता है, या सम्पूर्ण प्राणियों में निवास करता है, इसलिये यह वसु है। अन्तरिक्ष में ग्रह-नक्षत्र आदि के रूप से अथवा अन्तरिक्ष के रूप में रहता है, अतः अन्तरिक्षसद् कहा गया है। सभी भक्तों को स्वीय रूप में आहूत करता है, इसलिये इसे होता कहा गया है, क्योंकि उसके निर्देश से ही सबकी उसमें प्रवृत्ति होती है। आहवनीय रूप से यज्ञ-वेदि में अवस्थित रहता है, अतः 'वेदिषद्' है। अतिथि के

आह्वाता, तत्सङ्केतेनैव सर्वेषां तत्र प्रवृत्तेः। वेदिषत्, वेदौ यज्ञवेद्यामाहवनीयादिरूपेण सीदतीति वेदिषत्, 'ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' (भ० गी० ४।२४) इति स्मरणात्। अतिथिः, अतिथिरूपेणापि तस्यैव पूज्यत्वात्। दुरोणसद् दुरोणेषु समष्टिव्यष्टिवैराजहैरण्यगर्भाव्याकृतरूपेषु साक्षिरूपेणाधिष्ठानरूपेण सीदतीति दुरोणसत्। नृषत्, नृषु जीवेषु जीवान्तर्यामिरूपेण सीदतीति नृषत्। वरसत्, वरेषु श्रेष्ठेषु सीदति तत्तद्विभूतिरूपेणेति वरसत्, 'यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥' (भ० गी० १०।४१) इति भगवत्स्मरणात्। ऋतसद् ऋते सत्ये सीदतीति ऋतसत्, अत्यन्ताबाध्यत्वेन परमात्मन एव ऋतत्वात्। यद्वा ऋते यज्ञे सीदतीति ऋतसत्, तस्यैव सर्वयज्ञसमर्हणीयत्वात्, 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (भ० गी० ९।२४) इति स्मृतेः। व्योमसद् व्योम्नि आकाशे मण्डलरूपेण तदधिष्ठानरूपेण वा सीदतीति व्योमसत्। अब्जा अप्सु मत्स्यादिरूपेण जायत इत्यब्जाः, अपो वा जनयतीत्यब्जाः। गोजा गवि पृथिव्यां वीरुदादिरूपेण जायत इति गोजाः, गा जनयतीति वा गोजाः। ऋतजा ऋतरूपेण सूनृता वाग्रूपेण जायत इति ऋतजाः। अद्रिजा अद्रौ पाषाणे अग्निरूपेण, मेघे वा उदकरूपेण जायत इत्यद्रिजाः। तद् ऋतं सर्वगतं ब्रह्म बृहद् ब्रह्मरूपमहमस्मीति स्वात्मतादात्म्येन प्रत्येतव्यमिति भावः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, भवन्तो यः परमेश्वरो हंसो यः संहन्ति सर्वान् पदार्थान् यः शुचिषु पवित्रेषु पदार्थेषु सीदतीति शुचिषत्। वसुः वस्ता वासयिता वा। अन्तरिक्षेऽवकाशे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्। होता दाता ग्रहीता अत्ता वा। वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषत्। अतिथिः, अविद्यमाना तिथिर्यस्य सः, तद्वत् पूज्यः। ऋतेषु सत्येषु प्रकृत्यादिषु सीदतीति ऋतसत्। योऽपो जनयति सोऽब्जाः। यो गाः पृथिव्यादीनि जनयतीति गोजाः। य ऋतं सत्यविद्यात्मकं वेदं जनयतीति ऋतजाः। अद्रिं मह्यादिकं जनयतीति अद्रिजाः। ऋतं सत्यस्वरूपं बृहद् महद् ब्रह्म। शेषं पूर्ववत्। तमेवोपासीरन्' इति, तन्नातीवासङ्गतम्, तथापि केचिदंशा असङ्गता एव। यथा—यः संहन्ति पदार्थान् स हंस इति, समित्यस्य मूलबहिर्भूतत्वात्। अन्तरिक्षे अवकाशे

रूप में भी वही पूज्य है। समष्टि, व्यष्टि, वैराज, हैरण्यगर्भ, अव्याकृत रूपों में साक्षित्व से तथा अधिष्ठान रूप से अवस्थित रहने के कारण इसे 'दुरोणसत्' कहा गया है। जीवों में अन्तर्यामी रूप में रहने के कारण यह 'नृषद्' है। श्रेष्ठ जनों में तत्तद् बिभूतियों के रूप में रहने के कारण 'वरसद्' है। सत्य में स्थित रहने के कारण 'ऋतसद्' कहा गया है, क्योंकि अत्यन्त अबाधित होने के कारण परमात्मा ही सत्य है। अथवा यज्ञ में अवस्थित रहने के कारण ऋतसद् कहा जाता है, क्योंकि सभी यज्ञों से अर्चनीय वही है। आकाशमण्डल में अथवा उसके अधिष्ठान के रूप में रहने के कारण 'व्योमसद्' है। जल में मत्स्य आदि रूपों में उत्पन्न होने के करण या जल को उत्पन्न करने के कारण 'अब्जाः' कहा गया है। पृथ्वी पर लतौषधि आदि के रूप में उत्पन्न होने के कारण अथवा गायों को प्रादुर्भूत करने के कारण इसे 'गोजाः' कहा गया है। ऋत, अर्थात् सूनृता वाणी के रूप से प्रादुर्भूत होने के कारण 'ऋतजाः' है। पाषाणों में अग्निरूप से अथवा मेघों में जल के रूप से विद्यमान होने के कारण 'अद्रिजाः' है। भाव यह है कि उस सर्वव्यापी ब्रह्म का स्वरूप मैं ही हूँ, इस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध से ज्ञान करना चाहिये।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्या यद्यपि पूर्णतः असंगत नहीं है, तथापि कुछ अंशों में विसंगति है। जैसे—जो पदार्थों का संहरण करता है वह हंस है, यहाँ 'सम्' उपसर्ग मूल से बहिर्भूत है। अन्तरिक्ष में, अर्थात् खाली स्थान में तो देवदत्त आदि प्राणी भी रहते ही हैं, अनवकाश स्थान में तो स्थिति ही संभव नहीं है। परमात्मा वेद की उत्पत्ति नहीं करता, क्योंकि 'वाचा विरूपनित्यया' इत्यादि वेदवचनों से वेद नित्य हैं। परमात्मा का सम्प्रदाय-

देवदत्तादयोऽपि तिष्ठन्त्येव, अनवकाशे स्थितेरेवासम्भवात् । परमात्मा च न वेदं जनयति, वेदस्य नित्यत्वात्, 'वाचा विरूपनित्यया' (ऋ० सं० ८।७५।६) इति श्रुतेः । परमात्मनस्तु सम्प्रदायप्रवर्तकत्वमेव जनकत्वम्, नित्याया वाचोऽन्यादृशस्योत्सर्गस्यायोगात्, निःश्वासवद् बुद्धिप्रयत्नानपेक्षत्वेन परमात्मनः सम्भूतत्वेनापौरुषेयत्वात् ॥ २४ ॥

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यूर्गस्यूर्जं मयि धेहि । इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहू अभ्युपावहरामि ॥ २५ ॥

'अनुवर्त्मौदुम्बरीꣳ शाखामुपगूहत्युपस्पृशति शतमाना वियदसीति' (का० श्रौ० १५।६।२९) । रथवाहनदक्षिणचक्रवर्त्मसमीपे शतमानौ सौवर्णौ वर्तुलौ मणी आबध्नीयात् । रक्तिकाशतेन शतमानः । तत्र बध्वा उपस्पृशेद्वा इयदस्यायुरिति मन्त्रेण, 'उत्तरेणाहवनीयं पूर्वाग्निरुद्वृत्तो भवति । स रथवाहनस्य दक्षिणमन्वनुष्यन्दꣳ शतमानौ प्रवृत्तावाबध्नाति' (श० ५।४।३।२४) इति श्रुतेः । तदर्थस्तु—पूर्वं स्वस्य भ्रातुरर्थाय गोः स्थापनकाले पूर्वाग्निवहनस्याहवनीयस्योत्तरतः—'रथवाहणस्य दक्षिणेऽन्ते शतमानावासजति वृत्तौ' (का० श्रौ० १५।६।२८) इति स्थापनमुक्तं कात्यायनेन, 'गवाꣳ शतमधिकं वा स्वस्याहवनीयस्योत्तरतः स्थापयति, पूर्वाग्निवहनं च साग्निम्' (का० श्रौ० १५।६।१३-१४) इति । तदिदानीं विधत्ते—उत्तरेणाहवनीयमिति पूर्वाग्निः शान्तिकपौष्टिकार्थीयोऽग्निः पूर्वाग्निः, स अनसा उद्वृत्त उद्धृतः स्थापितो भवति । रथवाहनस्य दक्षिणेंऽशे शतमानयोरासञ्जनम्, वर्त्मन्यौदुम्बर्याः शाखाया उपगूहनं च विधत्ते—अनुवर्त्मेति । दक्षिणम् अनुष्यन्दं प्रान्तमनु प्रवृत्तौ वर्तुलौ शतमानौ द्वौ रुक्मौ आबध्नाति आसज्जेत । 'औदुम्बरीꣳ शाखामुपगूहति । तयोरन्यतरमुपस्पृशतीयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेहीति तदायुर्वर्च आत्मन् धत्ते' (श० ५।४।३।२५) । तयोः शतमानयोरन्यतरस्योपस्पर्शनं समन्त्रकं विधत्ते—औदुम्बरीमित्यादिना । शतमानदेवत्ये यजुषी ।

मन्त्रार्थस्तु—हे रुक्म, त्वमियदसि एतावत्परिमाणं शतरक्तिकापरिमितमसि । आयुरसि जीवनमसि । तस्मादायुः शताब्दपरिमितं मयि धेहि । यो हि यदात्मको भवति स तावत्तद्दातुमुत्सहते । यस्मात् शतमानं हिरण्यं त्वमसि, तस्माच्छताब्दपरिमाणमायुर्मयि धेहीत्युव्वटाचार्यः । युङ्ङसि युनक्ति यज्ञं सम्भारसंग्रहेण दक्षिणादानं वेति युङ् असि । वर्चस्तेजोऽसि । मयि वर्चस्तेजो धेहि । श्रुतिरेव संगृह्याह—तदायुर्वर्च आत्मन्

प्रवर्तक होना ही जनकत्व शब्द से संकेतित है, क्योंकि नित्य वेदवाणी की किसी दूसरे प्रकार के प्रवर्तक से सम्बद्धता संगत नहीं होती । निःश्वास की भाँति बुद्धि तथा प्रयत्न से निरपेक्ष होकर परमात्मा से आविष्कृत होने के कारण वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध माना गया है ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हे शतमान ! तुम सौ रत्ती के बराबर परिमाण वाले हो, तुम जीवन रूप हो । सुवर्ण दान से दीर्घायु प्राप्त होती है । मुझमें तुम प्राण का आधान करो । हे शतमान, तुम रथ में बद्ध और दक्षिणा से युक्त हो, तुम्हारे पहनने से तेज की वृद्धि होती है । तुम मेरे निमित्त तेज का आधान करो । हे उदुम्बरी, तुम अन्न-वृद्धि का कारण हो, गाड़ी में भरकर लाये गये अन्न को तुम मुझे प्रदान करो । पराक्रम से भरी हुई परम ऐश्वर्यवान् यजमान की हे दोनों भुजाओं, मैं तुम दोनों को मित्रावारुणी पयस्या के निमित्त नीचो करता हूँ ॥ २५ ॥

भाष्यसार—'इयदसि' इत्यादि कण्डिकागत मन्त्रों से दो शतमान मणियों का बन्धन तथा यजमान की

धत्त इति। तत् तेन मन्त्रपाठेन आत्मन्यायुर्वर्चश्च दधाति। 'अथौदुम्बरीꣳ शाखामुपस्पृशति। ऊर्गस्यूर्जं मयि धेहीति तदूर्जमात्मन् धत्ते तस्यैतस्य कर्मण एतावेव शतमानौ प्रवृत्तौ दक्षिणा तौ ब्रह्मणे ददाति ब्रह्मा हि यज्ञं दक्षिणतोऽभिगोपायति तस्मात्तौ ब्रह्मणे ददाति' (श० ५।४।३।२६)। शाखाया उपस्पर्शनं समन्त्रकं विधत्ते—अथौदुम्बरीमिति। तेनोर्जमात्मनि धत्ते। तस्यैतस्य शतमानौ प्रवृत्तौ तौ ब्रह्मणे ददाति, यतो ब्रह्मा दक्षिणतो यज्ञं गोपायति तस्मात्तौ ब्रह्मणे ददाति। 'तौ ब्रह्मणे दत्त्वोर्गसीति शाखामुपस्पृशति' (का० श्रौ० १५।६।३०) इति कात्यायनोऽपि। 'इन्द्रस्य वामित्यवहरते बाहू पयस्यायां व्याघ्रचर्मदेशे स्थितायाम्' (का० श्रौ० १५।६।३१)। अध्वर्युर्यजमानस्य प्रागूर्ध्वीकृतौ बाहू व्याघ्रचर्मणि पूर्वनिहिताया मैत्रावरुण्याः पयस्याया मध्येऽवहरति। बाहुदेवैत्यम्। वीर्यकृता वीर्यवत्कर्मकारिण इन्द्रस्यैश्वर्यवद् यजमानसम्बन्धिनौ हे बाहू, अहं वां युवामुपावहरामि मैत्रावरुणीपयस्यां प्रति नीचैः करोमि।

'अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यम्। मैत्रावरुणी पयस्या निहिता भवति तामस्य बाहू अभ्युपावहरतीन्द्रस्य···· बाहू अभ्युपावहरामीति पशूनां वा एष रसो यत्पयस्या तत्पशूनामेवास्यैतद्रसं बाहू अभ्युपावहरति तद्यन्मैत्रावरुणी भवति मित्रावरुणा उ हि बाहू तस्मान्मैत्रावरुणी भवति' (श० ५।४।३।२७)। मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पूर्वभागे व्याघ्रचर्मप्रदेशे मित्रावरुणदेवत्या पयस्या आमिक्षा निहिता भवति। तस्यां यजमानबाह्वोरवहरणं विधत्ते– तामस्य बाहू अभ्युपावहरतीति। अस्य सुन्वतो बाहू तां पयस्यामभिलक्ष्य उपावहरति पयस्यामभिलक्ष्य स्थापयामीति। बाहुप्रक्षेपं प्रशंसति—पशूनां वा इत्यादिना। पशूनां वा एष रसो यत्पयस्या, तेन पशुरसमभिलक्ष्य बाहू स्थापितवान् भवति। मैत्रावरुणत्वं प्रशंसति—तद्यन्मैत्रावरुणी भवतीति। 'मैत्रावरुण्या पयस्यया प्रचरति। तस्या अनिष्ट एव स्विष्टकृद्भवत्यथास्मा आसन्दीमाहरन्त्युपरिसद्यं वा एष जयति यो जयत्यन्तरिक्षसद्यं तदेनमुपर्यासीनमधस्ताद् इमाः प्रजा उपासते तस्मादस्मा आसन्दीमाहरन्ति सैषा खादिरी वितृण्णा भवति येयं वर्ध्रव्यूता भरतानाम्' (श० ५।४।४।१)। पयस्यायाः प्रचारं विधत्ते—पयस्यया प्रचरतीति। तस्याः पयस्यायाः स्विष्टकृद् अनिष्टोऽहुतो भवति, प्राक् स्विष्टकृतः पयस्यया प्रचरतीत्यर्थः, 'पयस्यया प्रचरति प्राक् स्विष्टकृतः' (का० श्रौ० १५।६।३३) इति कात्यायनोक्तेः। आसन्द्याहरणं विधत्ते—अथास्मा इति। आसन्द्या लक्षणं वाजपेयप्रकरण उक्तमेव। आसन्द्याहरणं प्रशंसति—उपरिसद्यमिति। सैषा खादिरी वितृण्णा सच्छिद्रा भवेत्। तस्या रज्जुव्यूतत्वं भवति। यजमानविशेषेण रज्जुविशेषं दर्शयति—वर्ध्रव्यूता इति। वर्ध्राश्चर्मरज्जवः, ताभिर्व्यूता सन्नद्धा भवति भरतानाम्। अन्येषां तु रज्जुमात्रमिति। कात्यायनो निर्विशेषमेव सूत्रितवान्— 'खादिरीमासन्दीꣳ रज्जूताम्' (का० श्रौ० १५।७।१४)। रज्जुसन्नद्धामिति।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वमौपाधिकरूपेण इयदसि एतावत्परिमाणः। शतवर्षपरिमाणमाह— सर्वप्रपञ्चात्मनाविर्भूतत्वात् त्वमेव आयुर्जीवनमसि, अत एतावत्परिमाणं शतवर्षपरिमितमायुर्मयि धेहि।

भुजाओं का अवक्षेप आदि कर्म अनुष्ठित किये जाते हैं। याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।२८-३१) में प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप औपाधिक रूप से परिणाम वाले हैं। शतवर्षात्मक परिमाण कहा जाता है। समस्त विश्वप्रपञ्च के रूप में आविर्भूत होने के कारण आप ही जीवनभूत हैं। अतः इस शतवर्षात्मक परिमाण की आयु मुझमें निहित करें। आप यज्ञ के द्वारा सभी पुरुषार्थों से संयुक्त करने वाले हैं, बलरूप हैं, अतः मुझमें बलाधान करें। हे परमैश्वर्यवान् बलप्रदान करने वाले श्रीराम से सम्बद्ध दोनों बाहुओं!

युङ्ङसि यज्ञेन सर्वपुरुषार्थेन युनक्तीति युङ् असि। वर्चोऽसि वर्चस्तेजो मयि धेहि। इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य रामस्य वीर्यकृतो बलकृतो वा सम्बन्धिनौ हे बाहू, वां युवाम् अभ्यवहरामि आत्मरक्षार्थं पुरतः स्थापयामि।

दयानन्दस्तु—'हे ब्रह्मन्, त्वमायुरसि इयदसि आयुर्मयि धेहि। यस्त्वं युङ् सर्वेषां समाधातासि, वर्चोऽसि योगजं वर्चो मयि धेहि। त्वमूर्गसि बलवानसि ऊर्जं बलपराक्रमं मयि धेहि। वां युवयो राजप्रजाजनयोर्वीर्यकृतः वीर्यकारिण इन्द्रस्याश्रयेण बाहू बलवीर्ये अहमभ्युपावहरामि युवयोः समीपे स्थापयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बाहुपदस्य बलवीर्यार्थत्वे मानाभावात्। सम्बोधनमपि मनःकल्पितत्वान्निर्मूलमेव ॥ २५ ॥

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि। स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद ॥ २६ ॥

'उत्तरवेदिँ हृत्वा पयस्यया प्रचरति प्राक् स्विष्टकृतः, खादिरीमासन्दीँ रज्जूतां व्याघ्रचर्मदेशे निदधाति स्योनासीति' (का० श्रौ० १५।६।३३, १५।७।१)। तां पयस्यामुत्तरवेदिं नीत्वा स्विष्टकृद्धोमात् प्राग् रज्जुभिर्व्यूतां खादिरीमासन्दीं मञ्चिकां व्याघ्रचर्मप्रदेशे मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरो निदधाति स्योनासीति मन्त्रेण। मन्त्रार्थस्तु—हे आसन्दि, त्वं स्योना सुखरूपासि सुखकरी भवसि। सुषदासि सुखेन सीदन्ति यस्यां सा सुषदाऽसि सुखेनोपवेष्टुं शक्यासि। 'स्योनमिति सुखनाम' (निघ० ३।६।१५)। 'अधीवासमस्यामास्तृणाति क्षत्रस्य योनिरिति' (का० श्रौ० १५।७।२)। क्षत्रस्य योनिरिति मन्त्रेण आसन्द्यां सर्वतश्छादनपर्याप्तं महावस्त्रं चित्रकम्बलादिकं वा वस्त्रमाच्छादयति। अधीवासदैवतम्। अधीवास आस्तरणं चित्रकम्बलादिकम्। हे अधीवास, त्वं क्षत्रस्य क्षत्रियस्य योनिर्मातृवद्धारकत्वेन कारणमसि, योनिः स्थानं वासि। 'सुन्वन्तमस्यामुपवेशयति स्योनामासीदेति' (का० श्रौ० १५।७।३)। आसन्द्यां यजमानं स्थापयेत्। यजमानदेवत्यम्। हे यजमान, स्योनां सुखकरीमासन्दीमासीद आरोह। सुषदां सुखोपवेशनयोग्यामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद।

'तामग्रेण। मैत्रावरुणस्य धिष्ण्यं निदधाति स्योनासि सुषदासीति शिवामेवैतच्छग्मां करोति' (श० ५।४।४।२)। आसन्द्या निधानप्रदेशं विधत्ते—तामग्रेणेति। तदर्थं मन्त्रं विधत्ते—स्योनेति। मन्त्रं विवृणोति—शिवां शग्मां सुखकरीमिति। 'अथाधीवासमास्तृणाति। क्षत्रस्य योनिरसीति तद्यैव क्षत्रस्य

तुम दोनों को मैं आत्मरक्षा के लिये संमुख स्थापित करता हूँ।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ में बाहु शब्द का बल-वीर्य अर्थ करने में कोई प्रमाण न होने के कारण अनौचित्य है। संबोधन भी स्वकल्पित होने के कारण प्रमाण से रहित है ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हे व्यूता आसन्दी, तुम सुखरूप हो तथा सुख से बैठने योग्य हो। हे अधीवास, तुम क्षात्र धर्म का पालन करने वाले इस यजमान के आधार के लिये उपयुक्त स्थान हो। हे यजमान, आराम देने वाली इस आसन्दी पर सुखपूर्वक बैठो। यह अधिवास और यह आसन्दी तुम्हारे जैसे राजपुरुष के बैठने का उपयुक्त स्थान है, इस पर आराम से बैठो ॥ २६ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।३३, १५।७।१-३) में प्रतिपादित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'स्योनासि' इस कण्डिका के मन्त्रों से खदिर के काष्ठ से निर्मित आसन्दी का स्थापन तथा उस पर आच्छादन (बिछाने) के

योनिस्तामेवैतत्करोति' (श० ५।४।४।३)। स्पष्टार्थम्। 'अथैनमासादयति। स्योनामासीद सुषदामासीदेति शिवाँ शग्मामासीदेत्येवैतदाह क्षत्रस्य योनिमासीदेति तद्यैव क्षत्रस्य योनिस्तस्यामेवैनमेतद्दधाति' (श० ५।४।४।४)। अस्यां सुन्वत उपवेशनं समन्त्रकं विधत्ते—अथैनमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मविद्ये भक्ते वा, त्वं स्योना सुखरूपासि परमानन्दब्रह्मप्रापकत्वात् सुषदासि सुखेन सीदन्ति ब्रह्मणि यया सा तादृशी असि। क्षत्रस्य पालकराजर्षिकुलस्य योनिः कारणमसि, ब्रह्मविद्यया भक्त्या वा पालनशक्तिसम्पत्तेः, 'इमं राजर्षयो विदुः' (भ० गी० ४।२) इति गीतोक्तेः। हे साधक, त्वं स्योनां सुखकरीं सुषदां ब्रह्मनिष्ठाहेतुभूतां ब्रह्मविद्यां भक्तिं वा आसीद आश्रय।

दयानन्दस्तु—'हे राज्ञि, यतस्त्वं स्योनासि सुषदा या शोभनव्यवहारे सीदति सा, क्षत्रस्य राज्यन्यायस्य योनिः गृहे न्यायकर्त्री असि, तस्मात् स्योनां सुखकारिकां सुशिक्षां सुषदां शुभसुखदात्रीं विद्यां क्षत्रस्य क्षत्रियकुलस्य योनिं राजनीतिमासीद सुखकर्यां शिक्षया तत्पराभव। सुखदायां विद्यायाम् आसीद सम्यक् प्राप्नुहि। क्षत्रस्य योनिं राजनीतिमासीद' इति, तथा हिन्दीव्याख्याने—'सर्वा नारीर्ज्ञापय' इति, तत्सर्वमपि हेयम्, स्वेच्छामयव्याख्यानत्वात्। शतपथश्रुतावासन्द्याः सम्बोधनीयत्वेन राज्ञ्योऽप्रसक्तेः। आसीदेत्यस्य विविधार्थतापि चिन्त्यैव। सुषदा इत्यस्य सुखदा इति व्याख्यानं तु प्रमादविलसितमेव ॥ २६ ॥

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ २७ ॥

'निषसादेत्युरोऽस्यालभते' (का० श्रौ० १५।७।४)। अध्वर्युर्यजमानहृदयं स्पृशति। वरुणदेवत्या गायत्री शुनःशेपदृष्टा। अधियज्ञं यजमानो वरुणः, निषसाद निषण्णः। कथंभूतोऽसौ ? धृतव्रतः, धृतमनुष्ठितं व्रतं कर्म येन सः। कुत्र निषसादेति ? पस्त्यासु विक्षु प्रजासु। कीदृशो वरुणः ? वारयत्यनिष्टमिति वरुणः। तथा सुक्रतुः शोभनसङ्कल्पः शोभनप्रज्ञो वा। किमर्थं निषसाद ? साम्राज्याय, सम्राजो भावः साम्राज्यम्, तस्मै सम्राड्भावाय राज्याय। यद्वा—अयं यजमानो धृतव्रतः स्वीकृतयज्ञो नियमितवचनादिव्यापारो वरुणोऽनिष्टनिवारको भूत्वा

लिये विस्तृत वस्त्र अथवा कम्बल लेकर बिछाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल अर्थ उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे ब्रह्मविद्या अथवा भक्ति ! तुम सुखरूपिणी हो, क्योंकि परमानन्द ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली हो। जिसके द्वारा ब्रह्म में सुखपूर्वक स्थित रहते हैं, इस प्रकार की हो। पालन करने वाले राजर्षिकुल की कारणभूता हो, क्योंकि ब्रह्मविद्या अथवा भक्ति से ही पालन शक्ति की उपलब्धि होती है। हे साधक, तुम सुखकारिणी तथा ब्रह्मनिष्ठा की कारणरूपा ब्रह्मविद्या अथवा भक्ति का आश्रय ग्रहण करो।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्याओं में स्वेच्छाचारिता से किये गये 'समस्त नारियों को बतलाओ' इत्यादि अर्थों के कारण अग्राह्यता है। शतपथ श्रुति में आसन्दी को सम्बोधित करने के कारण रानी का यहाँ प्रसंग नहीं है। 'आसीद' इस पद के विविध अर्थ करना भी चिन्ताजनक ही है। 'सुषदा' शब्द की 'सुखदा' के रूप में व्याख्या करना तो प्रमाद के कारण ही है ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञलक्षण व्रत को धारण करने वाले, श्रेष्ठ संकल्प से युक्त, अनिष्ट के निवारण में समर्थ इस यजमान ने सम्राट् पद की प्राप्ति के लिये प्रजाओं के अधिपति के रूप में अपनी स्थिति बनाई है ॥ २७ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।७।४) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'निषसाद' यह ऋचा

अस्यामासन्द्यामुपरिदेशे निषसाद निषण्णः, पस्त्यासु बहुषु वैरिगृहेषु विक्षु प्रजासु चागत्य साम्राज्यं कर्तुं सुक्रतुः शोभनसङ्कल्पो भवतु।

तत्र ब्राह्मणम् —'अथान्तराꣳसेऽभिमृश्य जपति। निषसाद धृतव्रत इति धृतव्रतो वै राजा न वा एष सर्वस्मा इव वदनाय न सर्वस्मा इव कर्मणे यदेव साधु वदेद्यत्साधु कुर्यात् तस्मै वा एष च श्रोत्रियश्चैतौ ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ तस्मादाह निषसाद धृतव्रत इति वरुणः पस्त्यास्वेति विशो वै पस्त्या विक्ष्वेत्येवैतदाह साम्राज्याय सुक्रतुरिति राज्यायेत्येवैतदाह यदाह साम्राज्याय सुक्रतुरिति' (श० ५।४।४।५)। हृदयदेशादिस्पर्शपूर्वकं जपं विधत्ते अथान्तरांस इति। अंसमध्येऽभिमृश्य जपेत्। प्रतिपादमनूद्य मन्त्रं व्याचष्टे—धृतव्रत इति। धृतव्रतत्वं दर्शयति—न वेति। एष यजमानः सर्वस्मै वदनाय असम्बद्धप्रलापाय, अनुपयुक्तकर्मणे वा योग्यो न भवति। कस्मै योग्य इति तदाह—यदेवेति। तस्मै साधुवदनाय साधुकर्मणे च। एष सुन्वन् राजा श्रोत्रियश्च ब्राह्मण उभावर्हौ भवतः। एतयोर्नियतव्रतत्वमाह—एतौ ह वा इति। मनुष्येषु मध्ये धृतव्रतौ। श्रोत्रियोऽपि न बहुभाषो न वा असाधुकर्मकारी। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे त्रिपुरसुन्दरि, अयं त्वद्भक्तो धृतव्रतः स्वीकृतत्वदाराधनव्रतः, वरुणो वारितक्रोधकामादिदोषः, सुक्रतुः शुभसङ्कल्पः, साम्राज्याय ब्रह्मभावेन देदीप्यमानो भवितुं पस्त्यासूपासनामण्डपेषु, आससाद सम्यङ्निषण्ण आस्थितः।

दयानन्दस्तु—'हे राज्ञि, यथा तव धृतव्रतो धृतानि सत्याचरणब्रह्मचर्यादीनि व्रतानि येन सः, सुक्रतुः शोभना क्रतुः प्रज्ञा क्रिया वा यस्य सः। वरुणः पुरुषोत्तमः पतिः साम्राज्याय सम्राजां भावाय कर्मणे वा पस्त्यासु न्यायगृहेषु, आसमन्ताद् निषसाद नित्यं सीदतु। तथा तत्र त्वमपि न्यायं कुरु' इत्यादिकम्, तत्सर्वमपि यत्किञ्चित्, राज्ञ्या अत्र सम्बोध्यत्वे मानाभावात्, 'तथा त्वमपि न्यायं कुरु' इत्यादिकं निर्मूलमेव, मन्त्रबाह्यत्वात्॥ २७॥

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मंस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजा इन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः। बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य॥ २८॥

अध्वर्यु द्वारा यजमान के हृदय के स्पर्श में विनियुक्त की गई है। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुरूप व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में यह अर्थ है—हे त्रिपुरसुन्दरि! आपका यह भक्त आपकी आराधना का व्रत स्वीकार कर, क्रोध-काम आदि दोषों का निवारण करता हुआ शुभ संकल्प से युक्त ब्रह्मभाव से प्रकाशित होने के लिये उपासना-मण्डपों में सम्यक् रूप से आसीन है।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित अर्थ कल्पनाप्रसूत है। इस ऋचा में रानी को सम्बोधित करने में कोई प्रमाण न होने के कारण असंगत भी है। 'तुम भी न्याय करो' यह सब कल्पना मन्त्रगत शब्दों से बहिर्भूत होने के कारण अप्रामाणिक ही है॥ २७॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ऊर्ध्व दिशा को जीत कर तुम सारे जगत् को अपने वश में कर लो। हे ब्रह्मन्, तुम ब्रह्मा की महिमा वाले हो। हे यजमान, तुम महान् महिमा वाले हो, तुम्हारी आज्ञा

'अभिभूरित्यस्मै पञ्चाक्षान् पाणावाधाय पश्चादेनं यज्ञियवृक्षदण्डैः शनैस्तूष्णीं घ्नन्ति' (का० श्रौ० १५।७।५)। अस्य यजमानस्य हस्ते द्यूतसाधनभूतान् पञ्च अक्षान् सौवर्णकपर्दान् निधाय पश्चाद् यजमानपृष्ठे यजमानं यज्ञियवृक्षदण्डैस्तूष्णीं शनैः शनैः कुट्टयन्त्यध्वर्य्वादयः। अक्षा यजमानो वा देवता। कृत-त्रेता-द्वापर-कलयश्चत्वारोऽक्षाः पञ्चमो रमणः। तत्र कलिः सर्वानन्यानभिभवति यः स यजमानः, तत्सम्बन्धेन अभिभूरसि अभिभवितासि। एतास्तव पञ्च दिशः कपर्दिकोपलक्षिताः कल्पन्तां क्लृप्ता भवन्तु। ब्रह्मन्निति यजमानः प्रथमं ब्रह्माणमामन्त्रयते। त्वं ब्रह्मासि महानसि सवितासि प्रेरकोऽसि सत्यप्रसवोऽसि सत्याभ्यनुज्ञोऽसि। ब्रह्माह—त्वमेव ब्रह्मासि सवितासि सत्याभ्यनुज्ञश्चासि। द्वितीयं प्रत्याह—त्वं ब्रह्मासि वरुणोऽसि अनिष्टनिवारकोऽसि सत्यौजा अमोघवीर्योऽसि। तृतीयं प्रत्याह—त्वं ब्रह्मासि, इन्द्रश्च त्वमसि ऐश्वर्यवानसि विशौजाः, विश् ओजो यस्य स विडौजा इत्येवं प्राप्ते विक्षु प्रजासु ओजो यस्य स विशौजा इति छान्दसः समासः। अत एव पदकारोऽपि नावगृह्णाति। चतुर्थं प्रत्याह—त्वं ब्रह्मासि रुद्रश्च त्वमसि शत्रूणां रोदयितृत्वाद्रुद्ररूपोऽसि, सुशेवः शोभनसुखयिता सुमङ्गलनामानं ध्वनयति, बहुकारो बहु करोतीति तथोक्तः, श्रेयस्करः श्रेयः करोतीति, भूयस्करो भूयः करोतीति। स्फ्यमस्मै प्रयच्छति इन्द्रस्य वज्रोऽसि। 'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार' इत्युपक्रम्य 'तस्य स्फ्यस्तृतीयम्' (श० १।२।४।१) इत्यादिना श्रुतिग्रन्थ उक्तः। अतस्त्वां ब्रवीमि तेन हेतुना मे यजमानं रध्य वशवर्तिनं कुरु, रध्यतिर्वशकर्मा।

यद्वा हे अक्ष देव, त्वम् अयानां गत्युपलक्षितसत्कर्मणामभिभूरसि अभितो व्याप्तोऽसि। एताः प्राच्यादयो दिशस्ते त्वदर्थं कल्पन्ताम्, त्वत्प्रयोजनसमर्था भवन्तु। 'वरं वृत्वा ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयते पञ्चकृत्वः, प्रत्याह व्यत्यासꣳ सविता वरुण इन्द्रो रुद्र इति त्वं ब्रह्मासीत्यादिभिः, आदिनैवान्तम्' (का० श्रौ० १५।७।७-९) इति कात्यायनः। आसन्द्यामुपविष्टो यजमानो राजा स्वमेवार्थं भूमा उपविष्टान् अध्वर्युप्रभृतींश्चतुरर्त्विजः क्रमेण ब्रह्मन्नित्यनेन सम्बोधनं प्रथमैकवचनान्तरूपेण पदेनामन्त्रयेत्। हे ब्रह्मन्, त्वामभिमन्त्रय इति शेषः। पुरुषं सुमङ्गलं प्रियङ्कर-नाम्ना सम्बोधयेत्। एवं पञ्चकृत्वः सम्बोधने सति ऋत्विजो मन्त्रेण प्रत्युत्तरं दद्युः। चतुर्णामपि प्रत्युत्तराणां त्वं ब्रह्मासीत्येवं प्रयोगः। उत्तरभागश्चतुर्णां चतुर्विधः। सवितासि सत्यप्रसव इति प्रथमस्य मन्त्रस्योपरितनो भागः। द्वितीयस्य वरुणोऽसि सत्यौजाः। तृतीयस्येन्द्रोऽसि विशौजा इति। चतुर्थस्य रुद्रोऽसि सुशेव इति। व्यत्यास-मित्यस्यायमर्थः—ब्रह्मन्निति सम्बोधने, तेन प्रत्युत्तरे दत्ते पश्चाद् द्वितीयं सम्बोधयेत्, एवमुत्तरत्रापि। प्रथमे प्रत्युत्तरमन्त्रः—त्वं ब्रह्मासीति प्रथमभागं पठित्वा सवितासीत्याद्युत्तरभागं पठेत्। हे ब्रह्मन् अध्वर्युरूपब्राह्मण, त्वं ब्रह्मासि। एवं चतुर्णामृत्विजामामन्त्रणरूपो मन्त्रः। प्रथममामन्त्रितस्य ऋत्विज उत्तरं ब्रूते—हे राजन्, त्वमेव ब्रह्मासि ब्राह्मणोऽसि न त्वहम्। कुतः ? यतस्त्वमेव सवितासि ब्राह्मणधर्मान् पालयन् अस्माकमनुष्ठानाय अनुज्ञाता प्रेरकोऽसि सत्यप्रसवोऽमोघानुज्ञः, अतो ब्राह्मणादिवर्णाश्रमधर्माणां त्वदधीनत्वात् त्वमेव ब्रह्मासि।

का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। प्रजा वर्ग के नियन्ता होने से तुम सविता हो। हे यजमान, तुम अमोघ वीर्य वाले हो, प्रजा वर्ग के अनिष्ट का निवारण करने में समर्थ होने से तुम वरुण हो। हे महिमायुक्त यजमान, तुम ऐश्वर्यसम्पन्न हो, देश की शान्ति की रक्षा करने में समर्थ होने से इन्द्र हो। हे महान् महिमा वाले यजमान, तुम आश्रित जनों को सुख देने वाले तथा शत्रुओं को रुलाने वाले रुद्र हो। हे यजमान, तुम महामहिमाशाली होने से ब्रह्मा हो। तुम सभी कार्यों को कुशलतापूर्वक पूरा करने में निपुण हो। हे स्फ्य, तुम इन्द्र के वज्र हो। इस कारण मेरे यजमान के वशवर्ती होकर सब कार्य पूरे करो॥ २८॥

भाष्यसार—'अभिभूरसि' इस कण्डिका के मन्त्रों से याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत यजमान के हाथों में पाँच

द्वितीयमामन्त्रितस्य ऋत्विज उत्तरं मन्त्रस्योत्तरभागं ब्रूते – हे राजन्, त्वं वरुणोऽनिष्टनिवारकोऽसि, सत्यौजा अमोघवीर्योऽसि। तृतीयमामन्त्रितस्य ऋत्विज उत्तरं मन्त्रस्योत्तरभागं ब्रूते—हे राजन्, त्वमिन्द्रोऽसि परमैश्वर्यवानसि विशौजाः, छान्दसं रूपम्। विक्षु प्रजासु ओजो बलं यस्य स विशौजाः, विश एव वा ओजो यस्य सः। चतुर्थस्योत्तरमुत्तरभागमाह—हे राजन्, त्वं रुद्रोऽसि सुशेवः सुष्ठु सुखरूपोऽसि। पुरोहितस्य पञ्चमस्य—हे बहुकार बहु कार्यं करोतीति बहुकारः, श्रेयः करोतीति श्रेयस्करः, भूयो भूयो बहुतरं करोतीति भूयस्कर इति तेषां सम्बोधनानि। हे कल्याणनामन्, त्वामाह्वय इति शेषः। स्फ्यमस्मै प्रयच्छति। पुरोहितोऽध्वर्युर्वा इन्द्रस्य वज्रोऽसीति मन्त्रेण यजमानाय स्फ्यं प्रयच्छति। हे स्फ्य, त्वमिन्द्रस्य सम्बन्धी वज्रोऽसि, 'वज्रो वै स्फ्यः' (श० ५।४।४।१८) इति श्रुतेः। यस्मादेवं तस्मान्मदर्थं रध्य परिलेखनरूपं कार्यं साधय।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथास्मै पञ्चाक्षान् पाणावावपति। अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तामित्येष वा अयानभिभूर्यत् कलिरेष हि सर्वानयानभिभवति तस्मादाहाभिभूरसीत्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तामिति पञ्च वै दिशस्तदस्मै सर्वा एव दिशः कल्पयति' (श० ५।४।४।६)। यजमानहस्ते पञ्चाक्षावापं विधत्ते– अथास्मा इति। अक्षा नाम कपर्दकाः सौवर्णाः, विभीतकफलानि सौवर्णानि वेत्येके। ते चाक्षा द्यूतस्थाने निवपनीयाः। तेषां चतुर्णामक्षाणां कृतसंज्ञा, पञ्चमस्य कलिसंज्ञा। तथा च शाखान्तरे स्तोमसंख्यायां कृतादिव्यवहारः कृतः—'ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तदथ ये पञ्च कलिः सः' इति। यदा पञ्चाप्यक्षा उत्ताना भवन्ति, तदा देवितुर्जयो भवति, पञ्चसु त्वेकरूपासु जय एव भविष्यतीत्यन्यत्रोक्तम्। अतः कलेः सर्वाभिभावकत्वात् सुन्वतोऽपि जयापेक्षत्वात् पञ्चाक्षनिवापो भवति। तथा च मन्त्रे कलिर्वा तत्सम्बन्धाद्यजमानो वा उच्यते। हे यजमान, त्वमभिभूरितरेषामक्षाणामभिभविता भवसि। तदर्थमेताः पञ्च दिशः कल्पन्तां स्वाधीना भवन्त्विति। मन्त्रं व्याचष्टे—एष वा अयानिति। अयशब्दोऽक्षवाची। कलिर्हि सर्वानयानक्षानभिभवति, अधिकसंख्यावत्त्वात्। एषोऽपि यजमानस्तत्सम्बन्धादभिभावको भवति। 'अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति तं दण्डैर्घ्नन्तो दण्डवधमतिनयन्ति तस्माद्राजाऽदण्ड्यो यदेनं दण्डवधमतिनयन्ति' (श० ५।४।४।७)। विधत्ते –अथैनमिति। दण्डैर्यज्ञियवृक्षकाष्ठैः, एनं सुन्वन्तं राजानं पृष्ठतः पश्चाद्भागे तूष्णीममन्त्रकं घ्नन्ति हन्युः। अत्र सूत्रकारः समन्त्रकमवहननं विकल्पेन दर्शयामास—'पश्चादेनं यज्ञियवृक्षदण्डैः शनैस्तूष्णीं घ्नति, पाप्मानं तेऽपहन्मीति त्वा वधं नयामीति वा' (का० श्रौ० १५।७।५-६)।

'अथ वरं वृणीते। यꣳ ह वै कं च सुषुवाणो वरं वृणीते सोऽस्मै सर्वः समृद्ध्यते तस्माद्वरं वृणीते' (श० ५।४।४।८)। विधत्ते—वरं वृणीत इति। सुषुवाणो यजमानः। वरवरणं प्रशंसति—सोऽस्मा इत्यादिना। यं वरं वृणीते, सोऽस्मै सर्वः समृद्ध्यत इति। 'स ब्रह्मन्नित्येव प्रथममामन्त्रयते। ब्रह्म प्रथममभिव्याहराणि ब्रह्मप्रसूतां वाचं वदानीति तस्माद् ब्रह्मन्नित्येव प्रथममामन्त्रयते त्वं ब्रह्माऽसीतीतरः प्रत्याह सविताऽसि सत्यप्रसव इति वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति सवितारमेव सत्यप्रसवं करोति' (श० ५।४।४।९)। वरं वृत्वा ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयते पञ्चकृत्वः। 'प्रत्याह व्यत्यासꣳ सविता वरुण इन्द्रो रुद्र इति त्वं ब्रह्मासीत्यादिभिः' (का० श्रौ० १५।७।७-८)। यजमानो राज्यं मेऽस्त्वित्यादिना अभीष्टं वरं प्रार्थयित्वा पञ्चवारं ब्रह्मन्निति मन्त्रेण ब्रह्माणमामन्त्रयेत। एवमामन्त्रितो ब्रह्मा त्वं ब्रह्माऽसीत्यादिभिः, सविताऽसि, वरुणोऽसि, इन्द्रोऽसि, रुद्रोऽसि—इत्येतैर्मन्त्रैर्व्यत्यासं यजमानं प्रत्याह। तेन चतुर्णामपि मन्त्राणामादौ त्वं ब्रह्मासीति प्रयोगः। आदौ यजमानो ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयते। ततो ब्रह्मा त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसव इत्याह। पुनर्यजमानो ब्रह्मनिति ब्रह्माण-

---

स्वर्णमय पासे रखकर यज्ञिय वृक्ष के दण्डों से उसकी पीठ पर धीरे-धीरे ताडन, यजमान द्वारा वर की प्रार्थना,

मामन्त्रयते। ब्रह्मा त्वं वरुणोऽसि सत्यौजा इति प्रत्याह। पुनर्यजमानो ब्रह्मन्निति ब्रह्माणमामन्त्रयते, ब्रह्मा च त्वं ब्रह्मासि, इन्द्रोऽसि विशौजा इत्याह। पुनर्यजमानो ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयते ब्रह्माणम्, ब्रह्मा त्वं ब्रह्मासि रुद्रोऽसि सुशेव इत्याह। 'आदिनैवान्त्यम्' (का० श्रौ० १५।७।९)। अन्त्यं पञ्चमं प्रतिवचनमादिनैव त्वं ब्रह्मासीत्येतावतैव मन्त्रेण कार्यं ब्रह्मणेति इति सूत्रार्थः। तदिदं क्रमेण विधत्ते—स ब्रह्मन्नित्यादिना। स ब्रह्मन्नित्येव प्रथममामन्त्रयते। प्रथमं पूर्वम्। प्रथमप्रतिवचनमन्त्रस्यार्थः—हे यजमान, त्वं ब्रह्मासि सत्यप्रसवो यथार्थभ्यनुज्ञः सवितासीति प्रथममामन्त्रयितारं सुन्वतं ब्रह्मा प्रतिब्रूयात्। सवित्रादिवाचकैर्मन्त्रैः प्रतिवचनेन यजमानं तत्तद्देवतात्मकत्वेन कृतवान् भवति। वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति।

'ब्रह्मन्नित्येव द्वितीयमामन्त्रयते। त्वं ब्रह्मासीतीतरः प्रत्याह वरुणोऽसि सत्यौजा इति वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति वरुणमेव सत्यौजसं करोति' (श० ५।४।४।१०)। 'ब्रह्मन्नित्येव तृतीयमामन्त्रयते। त्वं ब्रह्मासीतीतरः प्रत्याहेन्द्रोऽसि विशौजा इति वीर्यमेवास्मिन्नेतद्दधातीन्द्रमेव विशौजसं करोति' (श० ५।४।४।११)। 'ब्रह्मन्नित्येव चतुर्थमामन्त्रयते····रुद्रोऽसि सुशेव इति तद्वीर्याण्येवास्मिन्नेतत्पूर्वाणि दधात्यथैनमेतच्छमयत्येव तस्मादेष सर्वस्येशानो मृडयति यदेनꣳ शमयति' (श० ५।४।४।१२)। द्वितीयादिमन्त्रेषु त्वं ब्रह्मासीति पूर्ववत्। सत्यौजाः सत्यवीर्यः, वरुणो विक्षु प्रजासु ओजो बलं यस्य, यद्वा विश एवौजो यस्येति तादृश इन्द्रोऽसि। देवतापक्षे मरुतो विशस्तदात्मकाः। राजपक्षे प्रजाः। सुशेवः सुमुखो रुद्रोऽसि। रुद्रस्य सुशेवत्वं प्रशंसति—तद्वीर्याणीति। ईशानस्य सर्वसुखकरत्वात् तद्युक्तमन्त्रप्रतिवचनेन यजमाने स्थापितानि वीर्याणि शमयति वीर्यवन्तमेनं करोति, रुद्रोऽसि सुशेव इति सुखत्वप्रतिपादनात्। 'ब्रह्मन्नित्येव पञ्चममामन्त्रयते। त्वं ब्रह्मासीतीतरोऽनिरुक्तं प्रत्याह परिमितं वै निरुक्तं तत्परिमितमेवास्मिन्नेतत्पूर्वं वीर्यं दधात्यथानिरुक्तं प्रत्याहापरिमितं वा अनिरुक्तं तदपरिमितमेवास्मिन्नेतत् सर्वं वीर्यं दधाति तस्मादत्रानिरुक्तं प्रत्याह' (श० ५।४।४।१३)। यजमानकर्तृकपञ्चमामन्त्रणस्य प्रतिवचने विशेषं दर्शयति—त्वं ब्रह्मासीति। अनिरुक्तं कस्यचिदपि देवताविशेषस्य प्रतिपादकानिरुक्तवचनापरिमितमेवास्मिन् वीर्यं दधाति। निःशेषे वक्तुं योग्यं निरुक्तं परिमितम्, तत्पूर्वमन्त्रेषु सवितासीत्यादिषु कृतम्। अत्रानिरुक्तप्रतिवचने यजमानेऽपरिमितमेव वीर्यं स्थापितवान् भवति। 'अथ सुमङ्गलनामानꣳ ह्वयति। बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेति य एवंनामा भवति कल्याणमेवैतन्मानुष्यै वाचो वदति' (५।४।४।१४)। 'बहुकारेति च ह्वयत्येवं नामानम्' (का० श्रौ० १५।७।१०)। यजमानो बहुकारेत्यादिनामानं पुरुषमाह्वयेत्। यद्वा सुमङ्गलनामानमाहूय बहुकारेति मन्त्रेण यजमानं कीर्तयेत्। पदत्रयं सम्बुद्ध्यन्तम्। बहु करोतीति बहुकारः, 'कर्मण्यण्' (पा० सू० ३।२।१) इत्यण्। श्रेयः करोतीति श्रेयस्करः, 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु (पा० सू० ३।२।२०) इति टच्। भूयो भूयो महत्तरं करोतीति भूयस्करः। य एव पुरुषः प्रियङ्करनामा भवति, स मानुष्या वाचः कल्याणं सर्वेषां प्रियमेव वदति।

'अथास्मै ब्राह्मणः स्फ्यं प्रयच्छति। अध्वर्युर्वा यो वास्य पुरोहितो भवतीन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्येति वज्रो वै स्फ्यः स एतेन वज्रेण ब्राह्मणो राजानमात्मनोऽबलीयाꣳसं कुरुते यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयानमित्रेभ्यो वै स बलीयान् भवति तदमित्रेभ्य एवैनमेतद्बलीयाꣳसं करोति' (श० ५।४।४।१५)। अत्र कात्यायन उत्तरं तन्त्रं संगृह्य दर्शितवान्—'स्फ्यमस्मै प्रयच्छति पुरोहितोऽध्वर्युर्वेन्द्रस्य वज्र इति, राजा राजभ्राता सूतस्थपत्योरन्यतरो ग्रामणीः सजातश्चैवं पूर्वः पूर्व उत्तरस्मै' (का० श्रौ० १५।७।११-१२)।

ब्रह्मा आदि का आह्वान और यजमान को 'स्फ्य' नामक यज्ञायुध प्रदान किया जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र

अस्मै यजमानाय पुरोहितोऽध्वर्युर्वा इन्द्रस्य वज्रोऽसीति मन्त्रेण स्फ्यं प्रयच्छति। राजादीनां पञ्चानां मध्ये प्रथमो राजादिरुत्तरस्मै राजा राजभ्रात्रे, स च सूतस्थपत्योरन्यतरस्मै। सूतोऽश्वपोषकः, स्थपतिर्ग्रामेश्वरः, ग्रामणीः ग्रामस्य नेतृत्वेन महत्तरः। अथास्मै सुन्वते स्फ्यं ब्राह्मणो दद्यात्।

मन्त्रार्थस्तु—हे स्फ्य! त्वमिन्द्रस्य वज्रोऽसि, 'स्फ्यस्तृतीयं रथस्तृतीयम्' (तै० सं० ५।२।६।२) इत्यादि श्रुतेः। तेन कारणेन मे मम रध्य द्यूतस्थानपरिलेखनरूपं कार्यं साधय। मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—वज्रो वै स्फ्य इति। अयमर्थः—ब्रह्मणो राज्ञे वज्ररूपस्फ्यप्रदानेन स्वस्मादबलीयांसमपि राजानं बलवत्तरं कृतवान् भवति। तदेवाह—यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयानमित्रेभ्यो वै स बलवान् भवति। तस्माद् ब्राह्मणः स्फ्यप्रदानेन शत्रुभ्योऽधिकबलं कृतवान् भवति। 'त७ँ राजा राजभ्रात्रे प्रयच्छति। इन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्येति तेन राजा राजभ्रातरमात्मनोऽबलीया७ँसं कुरुते' (श० ५।४।४।१६)। 'त७ँ राजभ्राता सूताय स्थपतये वा प्रयच्छति....' (श० ५।४।४।१७)। 'त७ँ सूतो वा स्थपतिर्वा ग्रामण्ये प्रयच्छति....' (श० ५।४।४।१८)। 'तं ग्रामणीः सजाताय प्रयच्छति...तद्यदेवं सम्प्रयच्छन्ते नेत्पापवस्यसमसद्यथापूर्वमसदिति तस्मादेव७ँ सम्प्रयच्छन्ते (श० ५।४।४।१९)। पूर्ववदुत्तरत्रापि योज्यम्। राजादिषु सजातान्तेषु स्फ्यदानं संभूय प्रशंसति—तद्यदेवमिति। पापवस्यसं पापिष्ठं कर्म नेदसन्न भवेत्, किन्तु यथापूर्वं भवेदिति बुद्ध्या प्रदानमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वमभिभूः सर्वस्याभिभविता, अभितो व्याप्तो वाऽसि। एताः सर्वाः पञ्च दिशः पूर्वादयश्चतस्र ऊर्ध्वा च ते, अत्रत्याश्चेतनाचेतनात्मकाः पदार्थाश्च ते तुभ्यं कल्पन्तां त्वदनुगुणास्त्वत्प्रयोजनाश्च भवन्तु। हे ब्रह्मन् निरतिशय बृहन्, त्वं ब्रह्मा चतुर्मुखोऽसि। त्वमेव सविता सर्वप्रेरकः सर्वोत्पादको वाऽसि। सत्यप्रसवो अमोघवीर्योऽसि। त्वं वरुणोऽसि सर्ववरणीयोऽसि। सत्यौजाः सत्यपराक्रमोऽसि। इन्द्रः परमैश्वर्यवानसि। विशौजा विक्षु सर्वासु प्रजास्वोजस्तेजो यस्य सोऽसि। रुद्रोऽसि सर्वेषां शत्रूणां रोगाणां च द्रावकोऽसि। सुशेवः शोभनसुखरूपोऽसि। हे बहुकार अनन्तब्रह्माण्डनिर्मातः, हे श्रेयस्कर भोगमोक्षसम्पादक, हे भूयस्कर बहुतराभीष्टसाधक, त्वमिन्द्रस्य देहादिप्रकाशकस्य जीवस्य वज्रोऽसि वज्रवदज्ञानादिविदारकोऽसि। तेन मे रध्य स्वात्मवशीकारं सम्पादय।

दयानन्दस्तु—'हे बहुकार! बहूनां सुखानां कर्तः, श्रेयस्कर कल्याणकर्तः, भूयस्कर पुनः पुनरनुष्ठातः, ब्रह्मन् प्राप्तब्रह्मविद्य, यथा यस्य ते तवैताः पञ्च दिशः पूर्वादयो दिशः कल्पेरन् सुखरूपा भवेयुः, तथा मम

(१५।७।५-१२) में यह याज्ञिक विनियोग उल्लिखित है। शतपथश्रुति तथा तैत्तिरीय संहिता में उपदिष्ट व्याख्यान याज्ञिक विनियोग के अनुकूल है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे परमेश्वर, आप सबका शासन करने वाले अथवा सर्वत्र व्यापक हैं। पूर्व आदि चार तथा ऊर्ध्व ये पाँचों दिशाएँ तथा उनमें विद्यमान जड़ और चेतन पदार्थ आपके अनुगुण तथा आपके लिये हों। हे निरतिशय महान्, आप ही चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, आप ही सबको प्रेरणा देने वाले अथवा सबके उत्पादनकर्ता हैं, अमोघ बलशाली हैं। आप ही सबके द्वारा अभिलषित हैं, सत्य पराक्रम वाले हैं, परम ऐश्वर्यशाली हैं। समस्त प्रजाओं में आपका तेज है। आप सम्पूर्ण शत्रुओं तथा रोगों को भगाने वाले हैं, सुन्दर सुखस्वरूप हैं। हे अनन्त ब्रह्माण्ड के निर्माता, हे भोग तथा मोक्ष के सम्पादक, अनेक अभीष्टों को सिद्ध करने वाले आप देहादिप्रकाशक जीव के अज्ञान आदि का वज्र की भाँति संहार करते हैं। अतः मेरा स्वात्मवशीकार सम्पादित करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्या में औचित्य नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र में लुप्तोपमा अलङ्कार होने में

भवत्पत्न्याः कल्पन्ताम्। यथा त्वं ब्रह्मा चतुर्वेदविदखिलराजप्रजासुखनिमित्तानां पदार्थानां निर्मातासि, अभिभूरसि दुष्टानां तिरस्कर्तासि, सविता ऐश्वर्योत्पादकोऽसि, सत्येन कर्मणा प्रसव ऐश्वर्यं यस्य सोऽसि, वरुणो वरस्वभावोऽसि, सत्यौजाः सत्यमोजो बलं यस्य स इन्द्रः सुखानां धाता विशौजा विशा प्रजया सहौजः पराक्रमो यस्य सः। रुद्रः शत्रूणां रोदयितासि। सुशेवः शोभनं शेवं सुखं यस्य सः। इन्द्रस्य ऐश्वर्यस्य वज्रः प्रापकोऽसि। तथाहमपि भवेयम्। यथा येन तुभ्यमृद्धिसिद्धी कुर्याम्, तथा त्वं तेन मे रध्य संराध्नुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृते लुप्तोपमालङ्कारसत्त्वे मानाभावात्। न च ब्रह्मसवितृत्वादिकं मनुष्ये सम्भवति। न च राजतत्पत्न्योः सम्बोधकत्वे किमपि मूलं दृश्यते, शतपथादावन्यथा व्याख्यातत्वात्॥ २८॥

अ॒ग्निः पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॑र्जुषा॒णो अ॒ग्निः पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॒राज्य॑स्य वे॒तु स्वाहा॑ स्वाहा॑कृताः सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॑र्यतध्वꣳ सजा॒ताना॑म्मध्य॒मेष्ठ्या॑य॥ २९॥

'द्यूतभूमौ हिरण्यं निधायाभिजुहोति चतुर्गृहीतेनाज्येनाग्निः पृथुरिति' (का० श्रौ० १५।७।१५)। एवंकृतायां द्यूतभूमौ हिरण्यं निधाय तदुपरि चतुर्गृहीतेनाज्येन जुहुयात्। अग्निदेवत्यम्। अग्निराज्यस्य वेतु आज्यं पिबतु, कर्मणि षष्ठी। स्वाहा सुहुतमस्तु। कीदृशोऽग्निः? पृथुर्विशालः, देवानां प्रथमत्वात्, 'अग्निर्वै देवानामवमः' ( ) इति श्रुतेः। यज्ञे देवानां प्रथनाद्वा पृथुः। धर्मणस्पतिः, जगतो धर्मणो धारकस्य धर्मस्य पतिः स्वामी। जुषाणो हूयमानं हविः सेवमानः। अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिरिति पुनर्वचनमादरातिशयार्थम्। 'अक्षान्निवपति स्वाहाकृता इति' (का० श्रौ० १५।७।१६)। द्यूतभूमौ राज्ञः पाणौ निहितान् पूर्वोक्तान् पञ्चाक्षान् निक्षिपेत् स्वाहेति मन्त्रेण। अक्षदेवत्यम्। हे अक्षाः, यूयं स्वाहाकृताः स्वाहापूर्विकयाऽऽहुत्या तर्पिताः सन्तः सूर्यस्य रश्मिभिः किरणैर्यतध्वं स्पर्धां कुरुत। सजातानां समानजन्मनां वा भ्रातॄणां क्षत्रियाणां मध्यमेष्ठ्याय मध्यमे प्रदेशे यजमानस्यावस्थानाय यतध्वम्, यजमानं सर्वक्षत्रियश्रेष्ठं कुरुतेत्यर्थः। मध्ये भवो मध्यमः, तत्र तिष्ठतीति मध्यमेष्ठः, तस्य भावो मध्यमेष्ठ्यम्, तस्मै सजातानां सजातीयानां मध्यमेष्ठ्याय मध्यमप्रदेशे यजमानावस्थानाय सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वम्, स्पर्धां कुरुतेत्यर्थः। सूर्यस्य रश्मिभिः सजाता वा भवतेत्यर्थः।

कोई प्रमाण नहीं है। मनुष्य में ब्रह्मा अथवा सविता आदि का भाव होना सम्भव नहीं है। राजा तथा राजपत्नी को सम्बोध्य एवं सम्बोधक के रूप में प्रतिपादित करने में कोई मूल प्रमाण नहीं दृष्टिगोचर होता, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में इसकी अन्य रीति से व्याख्या उपदिष्ट है॥ २८॥

मन्त्रार्थ—अग्नि देवता देवताओं में प्रथम होने से महान् हैं। ये जगत् को धारण करने वाले, धर्म के स्वामी और प्रसन्नतापूर्वक हवि को सेवन करने वाले हैं। ये देखते-देखते अतिप्रवृद्ध हो जाते हैं। गृहस्थों के गृह धर्म के प्रधान साक्षी हैं। धर्मस्वरूप ये अग्निदेवता हमारी दी गई घृत की आहुति को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करें। हे अक्षगण, आहुति ग्रहण करके तुम अतिप्रचण्ड सूर्य की किरणों से स्पर्धा करो। समानजन्मा क्षत्रियों के बीच सर्वश्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करो॥ २९॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।७।१६-२१) में प्रतिपादित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'अग्निः पृथुः'

सर्वमेतद् ब्राह्मणे स्पष्टीकृतम्—'अथ सजातश्च प्रतिप्रस्थाता च। एतेन स्फ्येन पूर्वाग्नौ शुक्रस्य पुरोरुचाऽधिदेवनं कुरुतोऽत्ता वै शुक्रोऽत्तारमेवैतत्कुरुतः' (श० ५।४।४।२०)। चतुर्थकाण्डे द्वितीयाध्याये शुक्रामन्थिग्रहयोरत्राद्यभावेन स्तुतयोः पुरोरुग्द्वयं विहितम्, शुक्रस्यात्तृत्वात्। तन्मन्त्रेण तं प्रत्नथेति मन्त्रेण द्यूतभूमिकरणाद् यजमानमत्तारमेव कृतवन्तौ भवतः। 'अथ मन्थिनः पुरोरुचा विमितं विमिनुतः। आद्यो वै मन्थी तदत्तारमेवैतत्कृत्वाऽथास्मा एतदाद्यं जनयतस्तस्माद् मन्थिनः पुरोरुचा विमितं विमिनुतः' (श० ५।४।४।२१)। मन्थिनः पुरोरुचा 'अयं वेनश्चोदयत्' इत्यनया विमितं विमिन्वन्त्यत्रेति विमितं चतुर्द्वारं चतुरस्रं मण्डपं तद् विमिनुतः कुरुतः। मन्थिन आद्यत्वात् तन्मन्त्रेण विमितकरणादत्तृभूताय यजमानाय आद्यं सम्पादितवन्तौ भवतः सजातप्रतिप्रस्थातारौ।

'अथाध्वर्युश्चतुर्गृहीताज्यं गृहीत्वाऽधिदेवने हिरण्यं निधाय जुहोत्यग्निः पृथुः····वेतु स्वाहेति' (श० ५।४।४।२२)। अथाधिदेवने हिरण्यनिधानपूर्वकं होमं समन्त्रकं विधत्ते—अथेति। 'अथाक्षान्निवपति। स्वाहाकृता····मध्यमेष्ठ्यायेत्येष वा अग्निः पृथुर्यदधिदेवनं तस्यैते अङ्गारा यदक्षास्तमेवैतेन प्रीणाति तस्य ह वा एषानुमता गृहेषु हन्यते यो वा राजसूयेन यजते यो वैतदेवं वेदैतेष्वक्षेष्वाह गां दीव्यध्वमिति पूर्वाग्निवाहौ दक्षिणा' (श० ५।४।४।२३)। तत्र विमिते चतुरस्रे चतुर्द्वारे मण्डपे अक्षान्निवपति। स्वाहाकृता इति स्वाहापूर्विकयाऽऽहुत्या तर्पिताः। हे अक्षाः, सजातानां सजन्मनां भ्रातॄणां मध्यमेष्ठ्याय मध्यमप्रदेशे यजमानावस्थानाय सूर्यस्य रश्मिभिः सङ्गता भवतेति मन्त्रार्थः पूर्वोक्त एव। मन्त्रवत्कर्मकरणं प्रायेण कस्यैचिद्देवतायै भवति, अतो द्यूतभूमावक्षनिवापस्य देवतासन्तर्पकत्वं दर्शयति—एष वा अग्निः पृथुर्यदधिदेवनम्। अधिदेवनं द्यूतस्थानम्। तस्याग्नेरङ्गारा एव देवनसाधनभूता अक्षाः। तस्मात्तेनाक्षनिधानेनाग्निमेव प्रीणितवान् भवतीत्यर्थः। यदुक्तं सूत्रे—'अक्षान्निवपति स्वाहाकृता इति, गां दीव्यध्वमित्याह, कृतादि वा विदध्याद्राजप्रभृतिभ्यः' (का० श्रौ० १५।७।१६-१८)। राजप्रभृतिभ्यः कृतादिद्यूतं रचयेत्। अथवा द्यूतानन्तरं रचयेत्। तेन राज्ञः कृतसंज्ञं राजभ्रातुस्त्रेताख्यं सूतस्थपत्योरन्यतरस्य द्वापरसंज्ञं ग्रामण्यः पञ्च कलिं गादिसंज्ञम्, 'सजाताय कलिं गाम्' (का० श्रौ० १५।७।१९)। कृतादिद्यूतपक्षे सजाताय क्रीडनार्थं कलिसंज्ञकं द्यूतं निदध्यात्। अस्य सजातस्य सम्बन्धिनीं गां तत्र द्यूतभूमावानीय घ्नन्ति दण्डवस्त्रादिना किञ्चित्ताडयन्ति। 'पूर्वाग्निवाहौ दक्षिणा' (का० श्रौ० १५।७।२०) राजा गां दीव्यध्वमिति राजभ्रात्रध्वर्य्वादीन् प्रति ब्रूयात्। गां पणं कृत्वा यूयं रमध्वमिति प्रैषार्थः। ततोऽस्य पणत्वेनाङ्गीकृतां गामानीय घ्नन्ति। हन्तिश्चात्र सामान्यहननार्थो न मारणार्थः। तदिदं विधत्ते—तस्य ह वा इति। यो राजसूयेन यजते, यो वा एतत्कर्म वेत्ति, तस्य गृहेष्वेषा गौरनुमता अङ्गीकृता हन्यते। अत्र गोप्रसक्तिं दर्शयति—एतेष्वक्षेष्विति। द्यूतकर्मणो दक्षिणां विधत्ते—पूर्वाग्नीति। पूर्वाग्निमाहवनीयं वहत इति पूर्वाग्निवाहौ अनड्वाहौ दक्षिणा। एतदापस्तम्बः स्पष्टयति—'पष्ठौहीं विदीव्यन्त ओदनमुद्ब्रुवते तदेतस्य कर्मणः पूर्वाग्निवाहौ दक्षिणा तौ ब्रह्मणे देयौ' (आ० श्रौ० १८।१८।२-३)। तदिदं देवनं सन्निधिबलाद् इष्टिपशुसोमयागात्मकराजसूयशेष इति गम्यते। प्रकरणेन सन्निधेर्बाधादिति (जै० सू० ३।३।१४)।

अध्यात्मपक्षे तु—अग्निः परमेश्वरः, पृथुः प्रथयति प्रपञ्चमिति पृथुः सर्वकारणभूतः, अन्तर्भावितणिजर्थः।

इस कण्डिका के मन्त्रों से घृताहुति तथा पासों का प्रक्षेप आदि कार्य अनुष्ठित किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे अग्नि परमेश्वर, जगत्प्रपञ्च का विस्तार करने वाले सर्वकारणभूत आप

भक्तैः समर्पितमभीष्टं प्रेमपरिप्लुतं पत्रपुष्पफलादिकमपि जुषाणः प्रीत्या सेवमानः, धर्मणो धर्मस्य पालकः, आदरातिशयार्थं पुनः पाठः। आज्यस्य घृतगन्धि प्रेमयुतं हविः, वेतु पिबतु, खादत्वित्यर्थः। तस्मै सुहुतमिदमस्तु। हे भक्ताः, यूयं स्वाहाकृताः स्वाहाकारेण भगवति स्वसर्वस्वार्पणेन कृतार्थाः सन्तः सजातानां समानजन्मनां वैष्णवानां भ्रातृणां मध्यमेष्ठ्याय मध्यमे प्रदेशेऽवस्थानाय सूर्यस्य परमेश्वरस्य रश्मिभी रश्मितुल्यैरंशैर्यतध्वं स्पर्धां कुरुत, 'बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्' इत्युक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन् राज्ञि वा, यथा पृथुर्विस्तीर्णपुरुषार्थः, धर्मणो धर्मस्य पतिः पालयिता, जुषाणः सेवमानोऽग्निर्विद्युदिव सजातानां जातैः सह वर्तमानानां मध्यमेष्ठ्याय मध्ये भवे पक्षपातरहिते न्याये तिष्ठति तस्य भावाय स्वाहा सत्यया क्रियया आज्यस्य घृतादेर्हविषो वेति व्याप्नोति सूर्यस्य रश्मिभिः सह हविः प्रसार्य सुखयति, तथा धर्मणस्पतिर्न्यायस्य पतिः पृथुर्जुषाणो भवान् राष्ट्रं वेतु व्याप्नोतु। तथा च हे स्वाहाकृताः सभासत्स्त्रियः, यूयमपि प्रयतध्वम्' इति, तदप्यस्पष्टमसङ्गतं च। तथाहि—कोऽयं धर्मस्य पतिर्यो विस्तीर्णपुरुषार्थः? यश्च सत्यक्रियया सूर्यस्य रश्मिभिर्हविः प्रसारयति? इत्यस्यास्पष्टत्वात्। कथं च पृथुशब्दस्य तथाभूतोऽर्थः? तस्य च किं मूलम्? 'वेति' इत्यस्य व्यापकार्थत्वेऽपि प्रथयितृत्वं कथमर्थः? मध्यमेष्ठ्यायेत्यस्य न्यायस्थत्वं कथमर्थः? उपमालङ्कारोऽपि निर्मूल एव। स्वाहाकृता इत्यस्य सभासत्स्त्रिय इत्यर्थस्तु सर्वथा प्रमाणविहीनः॥ २९॥

स॒वि॒त्रा प्र॑सवि॒त्रा सर॑स्वत्या वा॒चा त्वष्ट्रा॑ रू॒पैः पू॒ष्णा प॒शुभि॒रिन्द्रे॑णा॒स्मे बृह॒स्पति॑ना ब्रह्म॑णा वरु॑णे॒नौज॑सा॒ऽग्निना॒ तेज॑सा॒ सोमे॑न॒ राज्ञा॒ विष्णु॑ना दश॒म्या दे॒वत॑या॒ प्रसू॑तः॒ प्रस॑र्पामि॥ ३०॥

भक्तों के द्वारा समर्पित अभीष्ट प्रेम से परिपूर्ण पत्र, पुष्प, फल आदि का भी प्रेम से सेवन करते हुए धर्म के रक्षक, घृत से सुगन्धित प्रेमयुक्त हविर्द्रव्य को पीजिये, खाइये यह भाव है। अत्यन्त आदर सूचित करने के लिये शब्दों की पुनरावृत्ति मन्त्र में है। उस देव के लिये यह समर्पित हो। हे भक्तगण, आप लोग स्वाहाकार के द्वारा भगवान् में सर्वस्व अर्पण से कृतार्थ होते हुए समानजन्मा वैष्णव बन्धुओं के बीच में विद्यमान रहने के लिये परमेश्वर के किरणरूपी अंशों से प्रयत्न, स्पर्धा करें।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित व्याख्या अस्पष्ट तथा असंगत है। जैसे—यह धर्म का पति कौन है, जो विस्तीर्ण पुरुषार्थ वाला है और जो सत्यक्रिया के द्वारा सूर्य की रश्मियों से हवि का प्रसार करता है? यह अस्पष्ट है। पृथु शब्द का यह अर्थ कैसे है? उसका मूल क्या है? 'वेति' शब्द व्यापकार्थक होते हुए भी उसका अर्थ 'विस्तार करना' कैसे हो सकता है? मध्यमेष्ठ शब्द का अर्थ न्यायस्थ कैसे है? उपमा अलङ्कार भी निर्मूल ही है। 'स्वाहाकृताः' इसका अर्थ 'सभासद् स्त्रियाँ' करना तो सर्वथा अप्रामाणिक है॥ २९॥

मन्त्रार्थ—**समस्त जीवों को प्रेरित करने वाले सविता देवता, वाग्रूपा सरस्वती, रूप के अधिष्ठाता त्वष्टा देवता, पशुओं के स्वामी पूषा देवता, स्वयं इन्द्र, देवयाग में ब्रह्मत्व को प्राप्त हुए बृहस्पति, महान् तेजस्वी वरुण, तेजोमय अग्नि, औषधियों और ब्राह्मणों के स्वामी प्रकाशमान चन्द्रमा, दस संख्या को पूर्ण करने वाले यज्ञ के अधिष्ठाता परमात्मा और नारायण से अनुज्ञा लेकर हम सब अब प्रसर्पण करते हैं॥ ३०॥**

'पितामहदशगणꣳ सोमपानाꣳ संख्यासर्पणम्, सवित्रेति वानुवाकमुक्त्वा' (का० श्रौ० १५।८।१५-१६)। पित्रादयः पूर्वजाः पितामहशब्देनोच्यन्ते। सोमपानां पितामहादीनां सोमयाजिनां दशगणं समूहं संख्याय अमुकः प्रथमः सोमपः, अमुको द्वितीयः, अमुकस्तृतीय इत्येवं दशपर्यन्तं सोमयाजिनो गणयित्वा ऋत्विजोऽन्ये विप्राश्च मिलिताः सन्तो दशवाजपेये यागे सौत्येऽहनि विभूरसीति सर्पणं धिष्ण्योपस्थानं कुर्युः। अथवा सवित्रा प्रसवित्रा इत्यनुवाकमुक्त्वा शतं ब्राह्मणाः सर्पेयुः, न पितामहगणं संख्याय सर्पणम्, भक्षणकाले सदःप्रसर्पणकाले वा दशानां सोमयाजिनामसंभवादयमेव पक्षो युक्तः। सवित्रादिदेवत्यात्यष्टिः। एताभिर्दशभिर्देवताभिः प्रसूतोऽभ्यनुज्ञातोऽहं प्रसर्पामि अभिषिच्यमानाद्वरुणादपक्रान्तं यज्ञरूपं भर्गं पुनः प्राप्नोमीत्यर्थः। यद्यपि बहवः प्रसर्पन्ति, तथापि प्रत्येकं पाठात् प्रसर्पामीत्येकवचनम्। काभिर्दशभिः प्रसूतः? प्रसवित्रा अभ्यनुज्ञाकारिणा प्रसवकारिणा वा सवित्रा सूर्येण, वाचा वाग्रूपया सरस्वत्या, रूपै रूपोपलक्षितेन त्वष्ट्रा, 'त्वष्टा वै रूपाणामीष्टे' (५।४।५।८) इत्युक्तेः, पशुभिस्तदुपलक्षितेन पूष्णा देवेन, अस्मे अनेन इन्द्रेण, विभक्तेः शे आदेशः। यद्वा अस्मे अस्मै अपसृताय वीर्याय तदधीनकरणार्थमिन्द्रेण, ब्रह्मणा देवयागे ब्रह्मत्वकर्त्रा बृहस्पतिना, ब्राह्मणजात्यभिमानिना वा, ओजसा ओजस्विना वरुणेन, तेजसा तेजस्विना अग्निना, राज्ञा ओषधिविप्राधिपेन सह दीप्यमानेन वा सोमेन चन्द्रेण दशम्या दशसंख्यापूरिकया विष्णुना देवतया यज्ञाधिष्ठात्रा विष्णुरूपेण देवेन एतैराज्ञप्तः प्रसर्पामि अपसृतं मार्गं प्राप्नोमि, एताभिः पूर्वोक्ताभिर्देवताभिः सह विष्णुरूपं यज्ञं प्राप्नोमीति वा, 'विष्णुना देवतया दशम्येमं यज्ञं विष्णुमाप्नवानि' इति काण्वशाखीयमन्त्रवर्णात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानाद् भर्गो अपचक्राम। वीर्यं वै भर्ग एष विष्णुर्यज्ञः सोऽस्मादपचक्राम शश्वद्ध एषोऽपाꣳ रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति सोऽस्य भर्गं निर्जघान' (श० ५।४।५।१)। हवींषि विधातुं प्रस्तौति—वरुणाद्धेति। पूर्वमभिषिच्यमानाद्वरुणाद् भर्गो यज्ञरूपं वीर्यमपचक्राम अपसृतम्। तदेवोक्तम्—शश्वद्ध एषोऽपां रसः सम्भृतो भवति येनैनमेतदभिषिञ्चति सोऽस्याभिषिच्यमानस्य भर्गो यज्ञरूपं वीर्यं निर्जघानेति। 'तमेताभिर्देवताभिरनुसमसर्पत्। सवित्रा प्रसवित्रा''''दशम्या देवतयाऽन्वविन्दत्' (श० ५।४।५।२)। तमपसृतं भर्गं (अकारान्तोऽत्र भर्गशब्दो न सकारान्तः) यज्ञरूपं वीर्यमेताभिर्वक्ष्यमाणाभिः सवित्रादिभिर्देवताभिः, अनुसमसर्पद् वरुणः क्रमेण प्राप्तवान्। 'तद्यदेनमेताभिर्देवताभिरनुसमसर्पत्। तस्मात् सꣳसृपो नामाथ यद्दशमेऽहन् प्रसुतो भवति तस्माद्दशपेयोऽथो यद्दशदशैकैकं चमसमनुप्रसृप्ता भवन्ति तस्माद्वेव दशपेयः' (श० ५।४।५।३)। हविषां नाम निर्वक्ति—तद्यदेनमेताभिरिति। तत् तत्र यस्माद् एताभिर्देवताभिरनुसमसर्पद् अन्वविन्दत्, तस्मात् सम्यक् सृप्यते प्राप्यते वीर्यमाभिरग्न्यादिदेवताभिरिति संसृपो देवतास्तासां हवींषि च संसृप आख्यायन्ते। अथ दशपेयं विधातुं तच्छब्दं निर्वक्ति—यद्दशमेऽहन्निति। पूर्वमुक्तानि दशसंसृपां देवानां हवींषि प्रत्येकमेकैकस्मिन् दिने कर्तव्यानि, तस्माद्दशपेयो नामेति। तथा च कात्यायनसूत्रम्—'दशोत्तराणि सꣳसृपाꣳ हवीꣳषि निवपति, देवयजनानन्तरमेकैकेनोत्सर्पति, शालायामन्त्यम्' (का० श्रौ० १५।८।१-३)। संसृपा हवींषि, वक्ष्यमाणानां दशानां हविषां नाम। चैत्रशुक्लषष्ठ्यामेव दशानामनुष्ठानं यथा स्यादित्येवमर्थं दशग्रहणमिति सम्प्रदायः, काण्वशाखायां 'पृण्णां च श्वोभूते' (श० ७।४।१।६) इत्युक्तत्वात्। शुक्लषष्ठीमारभ्य षट्सु दिवसेष्वेकैकमनुष्ठाय सप्तमे दिने द्वादश्यामवशिष्टानि चत्वारि कुर्यादिति तद्रीतिः। 'प्रतिगृहमेकैकꣳ श्वः श्वः' (का० श्रौ० १५।३।२) इति रीत्या तु षष्ठीमारभ्य

भाष्यसार—'सवित्रा प्रसवित्रा' इस अनुवाक का पाठ करने के अनन्तर वाजपेय याग में प्रसर्पण कर्म अनुष्ठित

दशसु दिनेषु दशानां हविषामेकतन्त्रेणानुष्ठानम्। कर्काचार्यास्तु पक्षान्तराणामाचार्यानुक्तत्वाद् एकस्मिन्नेव दिने दशानामनुष्ठानम्, काण्वपाठात् सप्तदिनेषु वेत्यभिप्रयन्ति।

अभिषेचनीयशालात आरभ्य एकैकेन हविषा देवयजनानन्तरं दशपेययागं प्रति गच्छेत्। एवमुत्सर्पन्नुत्सर्पन् तथा कुर्याद्यथान्त्यं दशमं हविर्दशपेयशालामध्ये भवेत्। तैत्तिरीये तु स्पष्टमुक्तम्—'अग्निना देवेन प्रथमेऽहन्ननुप्रायुङ्क्त सरस्वत्या वाचा द्वितीये सवित्रा प्रसवेन तृतीये' (तै० ब्रा० १।८।१।१) इत्यादिना। संसृपशब्दवाच्याभ्यो दशभ्य इष्टिभ्य ऊर्ध्वं दशपेयार्थं सोमाभिषवप्रवृत्तेर्दशपेयत्वम्। अयमत्र क्रमः— दशानां संसृपां हविषां मध्ये सप्त हवींषि प्रतिदिनं क्रमेणैकैकं कृत्वा सप्तमे दिने सप्तम्यामिष्टावतीतायामष्टमं हविर्निर्वपेत्। अपराह्णे दशपेयस्य द्वादशपुण्डरीकस्रक्प्रतिमोकलक्षणां दीक्षां कृत्वा तदानीमेव प्रथमामुपसदं कृत्वा तदन्ते संसृपामष्टमं हविर्निर्वपेत्। अष्टमे दिने उपसदन्ते संसृपां नवमं हविर्निरुप्य नवमे दिवसे तृतीयोपसदन्ते संसृपां दशमं हविर्निरुप्य तस्मिन्नेवाहन्यग्नीषोमीयपशुप्रचारं कुर्यात्। ततो दशमेऽहनि सोमोऽभिषूयते हुतशेषश्च पीयत इति दशपेयत्वम्। निर्वचनान्तरं च दर्शयति— अथ यद् दश दशेति। एकैकस्मिन् पात्रे दशभिर्ब्राह्मणैः पातव्यः सोमरसो यस्मिन् स दशपेयो भक्षणकालः। 'दश दशैकैकं चमसमनु भक्षयन्ति' (का० श्रौ० १५।८।१७)। चमसानां भक्षणकाले एकैकं चमसं दश दश ब्राह्मणा अनुभक्षयेयुः। तत्र एकैक ऋत्विग् अन्ये नव अप्रकृताः। तत्र नेष्टृचमसे चत्वारोऽध्वर्युपुरुषाः षडन्ये, होतृचमसे ग्रावस्तुद् द्वितीयः षडन्ये, उद्गातृचमसे चत्वारः सामगाः षडन्ये, अन्येषु चमसेषु नव नवान्ये, यजमानचमसे यजमानव्यतिरिक्ता दश ब्राह्मणा एव, क्षत्रिययजमानस्य सोमपाननिषेधात्, 'ब्राह्मणा वा श्रुतेः' (का० श्रौ० १५।८।१९), 'शतं ब्राह्मणाः पिबन्तीति' (तै० सं० १।८।२) इति श्रुतेः। 'तदाहुः। दश पितामहान् सोमपान् संख्याय प्रसर्पेत्तथो हास्य सोमपीथमश्नुते दशपेयो हीति तद्वै ज्या द्वौ त्रीनित्येव पितामहान् सोमपान् विन्दन्ति तस्मादेता एव देवताः संख्याय प्रसर्पेत्' (श० ५।४।५।४)। भक्षणार्थं सदःप्रसर्पणकाले सौम्या शतसंख्याकब्राह्मणानां मध्ये एकैकस्य पात्रस्य भक्षयितारो दश दश पुरुषा यजमानस्य दश सोमपान् पितामहान् यजमानस्य पितामहस्तत्पितामह इत्येवं पितामहदशगणं संख्याय प्रसर्पयेयुः। यद्वा 'सवित्रा प्रसवित्रा' (वा० सं० १०।३०) इति मन्त्रेण प्रसर्पणं कुर्यात्। अत्र पितामहगणनेन प्रसर्पणं पूर्वपक्षयति—तदाहुरिति। तद् दूषयति—तद् वै ज्येति। ज्या ज्यानिः, निकृष्ट इत्यर्थः। तत्रोपपत्तिमाह— यदि पितामहान् जानीयुः, तर्हि त्रीनेव जानीयुर्न सर्वान्। तस्मात् सवित्रादिदशदेवताः संख्याय प्रसर्पणं कुर्यादित्यर्थः।

'एताभिर्वै देवताभिर्वरुण एतस्य सोमपीथमाश्नुत। तथो एवैष एताभिरेव··· तस्मादेता एव देवताः संख्याय प्रसर्पेदथ यदैवैषोदवसानीयेष्टिः सन्तिष्ठत एतस्याभिषेचनीयस्य' (श० ५।४।५।५)। वरुणवृत्तान्तेन प्रशंसति—एताभिर्वा इति। संसृपशब्दवाच्यहविर्निर्वापकालं दर्शयति—अथेति। अभिषेचनीयस्य एतदाख्यस्य सोमयागस्य उदवसानीयेष्टिर्यदा सन्तिष्ठते समाप्यते, तदा वक्ष्यमाणानि हवींषि निर्वपेदित्युत्तरेण सम्बन्धः। 'अथैतानि हवीꣳषि निर्वपति। सावित्रं द्वादशकपालं वाष्टाकपालं पुरोडाशꣳ सविता वै देवानां प्रसविता···तद्वरुणोऽनुसमसर्पत्तथो एवैष एतत्सवितृप्रसूत एवैष एवानुसꣳसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति' (श० ५।४।५।६)। अथैतानि हवींषि निर्वपेत्। तत्प्रकारः कात्यायनेन स्पष्टीकृतः—'सावित्र-सारस्वत-त्वाष्ट्र-पौष्णैन्द्रबार्हस्पत्य-वारुणाग्नेय-सौम्य-वैष्णवानि यथोक्तम्, प्रतीष्टिपुण्डरीकाणि प्रयच्छति, हिरण्मयानि वा, उत्तमासु तिसृषु पञ्च, तेषाꣳ स्रजं प्रतिमुञ्चते, तद्दीक्षो भवति' (का० श्रौ० १५।८।४-९)। आचार्येण यथा प्रदेशान्तरे

किया जाता है। याज्ञिक प्रक्रिया के अन्तर्गत यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।८।१५-१६, १८) में उल्लिखित

सवित्रादीनां पुरोडाशचर्वादिकमुक्तम्, तथात्रापि कार्यम्। 'जलजानि कमलानि सा दक्षिणा' (का० श० ७।४।१।५)। अथवा सौवर्णानि कमलानि दद्यात्। अष्टमीप्रभृतिषु तिसृषु इष्टिसु पञ्च पुण्डरीकाणि दद्यात्। अष्टम्यां नवम्यां च द्वे द्वे इष्टी। दशम्यामेकं पुण्डरीकं दद्यात्। तेषां दत्तव्यतिरिक्तानां द्वादशानां कमल-पुष्पाणां स्रजं यजमानः स्वकण्ठे बध्नीयात्। सैव दीक्षा यस्य तद्दीक्षो भवति, या स्रक् परिहिता सैव दीक्षास्थाने भवति, नात्र दीक्षासंस्कारः पृथक्कार्य इति भावः। संसृपां हविषां दशपेयाङ्गत्वमेव मन्तव्यं न स्वातन्त्र्यम्। 'सवित्रा प्रसवित्रा' इत्युपक्रम्य 'प्रसूतः प्रसर्पामि' इति प्रसर्पणार्थतादर्शनात्, प्रसर्पणशब्दस्य च दशपेये सत्त्वात्। तदेतत् सायणाचार्येणापि शतपथभाष्येऽत्रैवोक्तम्। सप्तम्यां ब्रह्मागारात् सोममाहृत्यासन्द्यभिमर्शनादि करोति। उपसद्देवता हवींषि निर्वपति····पुण्डरीकस्रक्प्रतिमोकरूपां दशपेयदीक्षां कृत्वा सप्तम्यां संसृब्याग-सम्बन्धिन्यां क्रियमाणायां वारुण्यामिष्टावतीतायां पूर्वमेवाभिषेचनीयदशपेययोरपि द्विधा सोमं कृत्वा दशपेयार्थं ब्रह्मागारे स्थापितं सोममाहृत्य आसन्द्यभिमर्शनाद्यातिथ्यान्तं कृत्वा संसृपां हविषां मध्येऽन्त्यानि आग्नेय-सौम्य-वैष्णवानि हवींषि उपसत्प्रतिनिधित्वेन कर्तव्यानि। उपसदामपि अग्नि-सोम-विष्णुदेवता अन्तिमत्वात्, तथाप्यग्नीषोमयोरेकस्याप्यभावे दशसंख्यापूरणाभावात् तयोरपि दशमत्वमुच्यते।

'अथ सारस्वतं चरुं निर्वपति ' (श० ५।४।५।७)। 'अथ त्वाष्ट्रं दशकपालं पुरोडाशं निर्वपति त्वष्टा वै रूपाणामीष्टे····' (श० ५।४।५।८)। 'अथ पौष्णं चरुं निर्वपति। पशवो वै पूषा पशुभिरेव वरुणोऽनु-समसर्पत्····' (श० ५।४।५।९)। 'अथैन्द्रमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति। इन्द्रियं वै वीर्यमिन्द्र इन्द्रियेणैव तद्वीर्येण वरुणोऽनुसमसर्पत्····' (श० ५।४।५।१०)।····'अथ वारुणं यवमयं चरुं निर्वपति। स येनैवोजसेमाः प्रजा वरुणोऽगृह्णात् तेनैव तदोजसा वरुणोऽनुसमसर्पत्····' (श० ५।४।५।१२)। 'उपसदो दशम्यो देवताः। तत्र पञ्च पुण्डरीकाण्युपप्रयच्छति तां द्वादशपुण्डरीकाᳪ स्रजं प्रतिमुञ्चते सा दीक्षा तया दीक्षया दीक्षते' (श० ५।४।५।१३)। ····'अथ राजानं क्रीत्वा। द्वेधोपनह्य परिवहन्ति ततोऽर्धमासन्धामासाद्य प्रचरत्यथ य एषोऽर्धो ब्रह्मणो गृहे निहितो भवति तमासन्यामासाद्यातिथ्येन प्रचरति यदातिथ्येन प्रचरत्यथोपसद्भिः प्रचरति····' (श० ५।४।५।१५) इत्येताभिः श्रुतिभिः सूत्रैश्च सिद्धान्तपक्षीयमन्त्रव्याख्यानमेव समर्थितं भवति।

अध्यात्मपक्षे—एताभिरेव देवताभिः प्रेरितस्तासामनुग्रहेणाहं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परमात्मानं स्वात्मत्वेन प्रसर्पामि, साक्षात्करोमीत्यर्थः। सवितुर्वेदात्मकत्वात् सरस्वत्या वाचो विद्यानियामकत्वात् त्वष्ट्रादीनां चाध्यात्माधिभूताधिदैवबलवीर्यादिसम्पादकत्वेन तत्रोपकारकत्वाच्च।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजनाः, यथाहं सवित्रा प्रेरकेण वायुना प्रसवित्रा सकलचेष्टोत्पादकेनेव शुभकर्मणा सरस्वत्या प्रशस्तविज्ञानक्रियायुक्तया वाचा देववाण्येव सत्यभाषणेन त्वष्ट्रा छेदकेन प्रतापिना सूर्येणेव न्यायेन रूपैः सुखस्वरूपैः पूष्णा पृथिव्या पशुभिर्गवादिभिरिव प्रजायाः पालनेन इन्द्रेण विद्युदिवैश्वर्येण अस्मे अस्माभि-

---

है। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय संहिता आदि में याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—इन देवताओं के द्वारा प्रेरित हुआ मैं इनके अनुग्रह से प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न परमात्मा का स्वात्मरूप से साक्षात्कार करता हूँ। सविता के वेदात्मा होने के कारण, सरस्वती वाणी के विद्या की नियामिका होने के कारण तथा त्वष्टा आदि के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक बल, वीर्य आदि के सम्पादक होने के कारण वे इसमें सहायक होते हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्यान श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोधी होने के कारण तथा मुख्य अर्थ को

बृहस्पतिना बृहतां पालकेन चतुर्वेदविदा विदुषेव विद्यासुशिक्षाप्रचारकेण ब्रह्मणा वेदार्थज्ञानेन ज्ञापनेनोपदेशेन वा वारुणेन वरेण जलसमूहेनेव शान्त्या ओजसा बलेन अग्निना पावकेन तेजसा तीक्ष्णेन ज्योतिषेव शत्रुदाहकत्वेन सोमेन चन्द्रेण प्रकाशमानेनाह्लादकत्वेन राज्ञा प्रकाशमानेन विष्णुना व्यापकेन परमेश्वरेणेव शुभगुणकर्मस्वभावेन दशम्या दशानां पूरिकया देवतया देदीप्यमानया सह प्रसूतः प्रेरितः सन् प्रसर्पामि प्रचलामि, तथा यूयमपि प्रसर्पध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वोक्तश्रुतिसूत्रविरोधात्, मुख्यार्थपरित्यागाध्याहारगौणार्थकल्पनाबाहुल्याच्च ॥ ३० ॥

अश्विभ्यां॑ पच्यस्व॒ सर॑स्वत्यै पच्य॒स्वेन्द्रा॑य सु॒त्राम्णे॑ पच्यस्व । वा॒युः पू॒तः प॒वित्रे॑ण प्र॒त्यङ्सोमो॒ अति॑स्रुतः । इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥ ३१ ॥

अथ राजसूयगतचरकसौत्रामणीमन्त्राः। राजसूयप्रान्ते विहिता सौत्रामणी चरकसौत्रामणीत्युच्यते। तन्मन्त्राणामश्विनौ ऋषी। 'पक्त्वौदनं विरूढांश्चूर्णीकृत्याश्विभ्यां पच्यस्वेति सꣳसृजति' (का० श्रौ० १५।९।२५)। अविरूढैरनङ्कुरितैर्व्रीहिभिश्चतुर्मुष्टिकग्रहणपूर्वकमोदनं पक्त्वा तत्र चूर्णीकृतानविरूढव्रीहीन् मिश्रयेत्। जाताङ्कुरा अजाताङ्कुराश्च व्रीहयः क्षौमे बद्धा भवन्ति। तन्मध्येऽजाताङ्कुराणां व्रीहीणामोदनं पक्त्वा जाताङ्कुरान् व्रीहींश्चूर्णीकृत्यौदनेन मिश्रयेत। हे परिस्रुतसुरे! त्वमश्विभ्यामश्विनोरर्थाय पच्यस्व पक्वा भव। पाकोऽत्र विपरिणामश्रैष्ठ्यमेव। तथा सरस्वत्यै देव्यै पच्यस्व। सुत्राम्णे सुष्ठु त्रायत इति सुत्रामा इन्द्रः, तस्मै देवराजायेन्द्राय पच्यस्व। शोभनत्राणकर्त्रे सुत्रातव्याय वा तस्मै, यतः सौत्रामण्यामिन्द्रस्य भैषज्यं कर्तव्यमस्ति। 'वपामार्जनान्ते कुशैः परिस्रुतं पुनाति वायुः पूत इति' (का० श्रौ० १५।१०।१०)। पशूनां वपामार्जनान्ते कर्मणि कृते दर्भैः सुरां कस्मिंश्चित्पात्रे पुनाति। सोमदेवत्या गायत्री। वायुः वायुवच्छीघ्रगामी वा भूत्वा प्रत्यङ्ङधोवर्तिपात्राभिमुखः सन् अतिस्रुतोऽतिक्रम्योद्गत इन्द्रस्य युज्यो योग्यः सखा समानख्यानः। यद्वा—वायुः, वायुना 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेः स्वादेशः। पूतः शोधितः पवित्रेण कुशमयेन पूतः सन् प्रत्यङ् नीचैरधोमुखः सन् अतिस्रुतोऽतिक्रम्य गतः। कथंभूतः? इन्द्रस्य युज्यो योगार्हः सखा सखिभूतः सोमः पूर्वं पूतिगन्धोऽभूत्, ततो देवैर्वायुरुक्तस्त्वं सोमं सुगन्धं कुरु इति। ततो वायुना सोमो दुर्गन्धमपहृत्य सुगन्धः कृतः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पूर्वेद्युः। परिस्रुतꣳ सन्दधात्यश्विभ्यां'" पच्यस्वेति सा यदा परिस्रुद् भवत्यथैनया प्रचरति' (श० ५।५।४।२०)। परिस्रुत्सन्धानं समन्त्रकं विधत्ते—अथ पूर्वेद्युरिति। 'तां दर्भैः पावयति। पूताऽसदिति वायुः पूतः पवित्रेण'''युज्यः सखेति तत्कुवलसक्तून् कर्कन्धुसक्तून् बदरसक्तूनित्यावपत्येतद्वै ततः

छोड़ कर अध्याहार तथा गौण अर्थ की कल्पना की अधिकता होने के कारण अनुचित है ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमार देवताओं की प्रीति के लिये रस के रूप में परिणत हुआ, सरस्वती देवी की प्रीति के लिये पच कर रूपान्तर को प्राप्त हुआ, भली प्रकार रक्षा करने वाले इन्द्र देवता की प्रीति के लिये पाक को प्राप्त हुआ इन्द्र का मित्र, पवित्र द्वारा शुद्ध हुआ तथा वायु द्वारा पवित्र हुआ यह सोम इस पवित्र द्वारा अधोमुख क्षरित होकर प्रसर्पण कर रहा है ॥ ३१ ॥

भाष्यसार—अब राजसूय यज्ञ के अन्तर्गत 'चरक सौत्रामणी' नामक याग के मन्त्र उपदिष्ट किये जाते हैं।

समभवद्यत्त्रिर्निरष्ठीवत्तेनैवैनमेतत्समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादेतानावपति' (श० ५।५।४।२२)। तां विधत्ते—तां दर्भैः पावयतीति। सा परिस्रुत् पूता असद् भवेत्। तां दर्भैः पावयेत्। तस्यां परिस्रुति कुवलकर्कन्धुवदरचूर्णान्यावपति। तेनैव तत्समर्धयति।

अध्यात्मपक्षे—अश्विभ्यामिव परमसुन्दराभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां बलकृष्णाभ्यां तत्प्राप्त्यर्थं पच्यस्व तत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानजपादिभिर्विशुद्धान्तःकरणो भव। सरस्वत्यै ज्ञानविज्ञानरूपिण्यै ब्रह्मविद्यात्मिकायै श्रीसीतायै श्रीराधायै वा पच्यस्व तत्कृपामृतपरिप्लुतो भव। सुत्राम्णे सुष्ठु रक्षकाय अन्तर्यामिणे पच्यस्व तदनुभवसामग्रीसम्पन्नो भव। पवित्रेण ज्ञानेन पूतोऽपहताज्ञानान्धकारः प्रत्यङ् परब्रह्माभिन्नप्रत्यक्चैतन्याभिमुखः सोमः सोम इव शीतलः शान्तो भूत्वा अतिस्रुतः संसारमतिक्रम्य ब्रह्मणि स्थितः, इन्द्रस्य परमेश्वरस्य युज्यस्तदभेदार्हः सखा समानख्यानोऽसि। पवित्रं ज्ञानम्, 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (भ० गी० ४।३८) इति भगवदुक्तेः। जीवपरमेश्वरयोः साजात्य-सख्य-सादेश्य-सायुज्यसम्बन्धवत्त्वेनाभेदार्हता श्रुतिसिद्धा, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति श्रुतेः।

स्वामी दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजन, त्वमश्विभ्यां सूर्यचन्द्रमोभ्याम् अध्यापकोपदेशकाभ्यां पच्यस्व पक्वो भव। सरस्वत्यै सुशिक्षितायै वाचे पच्यस्व। सुत्राम्णे सुष्ठु रक्षकाय इन्द्राय परमैश्वर्याय पवित्रेण शुद्धेन धर्माचरणेन वायुरिव पूतो निर्दोषः प्रत्यङ् पूजितः सोम ऐश्वर्यवान् सोमगुणसम्पन्नो वा अतिस्रुतोऽत्यन्तज्ञानवान् इन्द्रस्य परमेश्वरस्य युज्यो युक्तः सखा मित्रो भव' इति, तदपि न मनोरमम्, अभिप्रायस्य अनौचितीत्वाभावेऽपि व्याख्यानस्य मन्त्राक्षरानुगुण्याभावात्, पच्यस्वेत्यस्य नानार्थत्वाभ्युपगमात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वाच्च, सिद्धान्तार्थस्य श्रुत्यानुगुण्याच्च। तथैवाध्यापकोपदेशकौ त्वश्विशब्दस्य न वाच्यार्थौ सम्भवतः, निर्मूलत्वात्। पवित्रेणेति न शुद्धाचरणवाचकं पदम्, कुशादिपरत्वप्रसिद्धेः। एवमन्यदपि दूषणजालमूहम् ॥ ३१ ॥

कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।१०।१०) में उल्लिखित याज्ञिक विनियोग के अनुसार 'वायुः पूतः' इस मन्त्र से कुशाओं के द्वारा पवित्रीकरण किया जाता है। शतपथ श्रुति में याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल व्याख्यान उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है —अश्विनी देवों के समान अतिशय सुन्दर रामलक्ष्मण अथवा बलराम-श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये उनकी पुण्यप्रद कथाओं को सुनने, कहने, जप-मनन करने आदि के द्वारा विशुद्ध अन्तःकरण से युक्त बनो। ज्ञानविज्ञानस्वरूपा ब्रह्मविद्यात्मिका श्री सीता अथवा श्री राधा के लिये उनकी कृपा के अमृत से अभिषिक्त होओ। भली-भाँति रक्षा करने वाले अन्तर्यामी के लिये उसकी अनुभवसम्पत्ति से सम्पन्न बनो। पवित्र ज्ञान से अज्ञानान्धकार को नष्ट करके परब्रह्म से अभिन्न प्रत्यक् चैतन्य के प्रति अभिमुख होकर सोम की भाँति शीतल, शान्त होते हुए संसार का अतिक्रमण करके, ब्रह्म में स्थित रह कर परमेश्वर से अभेद-सम्पन्न तथा सखा रूप बनो। 'द्वा सुपर्णा' आदि वचनों से जीव एवं परमेश्वर की सजातीयता, सख्य, समान देश में स्थिति तथा सायुज्य सम्बन्ध रहने से अभेद की योग्यता श्रुति से प्रमाणित है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रणीत व्याख्या में यद्यपि अभिप्राय अनुचित नहीं है, तथापि व्याख्यान मन्त्रोक्त अक्षरों के अनुरूप नहीं है। 'पच्यस्व' पद के विभिन्न अर्थ माने गये हैं तथा सम्बोधन भी अप्रामाणिक है। इन कारणों से वहाँ अनौचित्य है। हमारे सिद्धान्त के अनुसार अर्थ श्रुतिवचनों के अनुरूप है। इसी प्रकार 'अश्विन्' शब्द का अध्यापक तथा उपदेशक अर्थ करना भी वाच्यार्थ के रूप में सम्भव नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। पवित्र शब्द कुशा का वाचक प्रसिद्ध होने के कारण शुद्धाचरण का वाचक नहीं है। इसी प्रकार अन्य भी दोष समझने चाहिये ॥ ३१ ॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय। इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति ॥ उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥ ३२ ॥

'ग्रहं गृह्णाति कुविदङ्गेति त्रीन् वा प्रतिदेवतमेतयैव' (का० श्रौ० १५।१०।१२)। कुविदङ्गेति मन्त्रेण पूतायां सुरायां बदरीफलचूर्णं प्रक्षिप्यैकं ग्रहं वैकङ्कतेन पात्रेण गृह्णाति प्रतिदेवतं कुविदङ्गेत्येतयैवर्चा। तद्यथा—कुविदङ्ग''''उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वेति प्रथमम्। कुविदङ्ग'''' उपयामगृहीतोऽसि सरस्वत्यै त्वेति द्वितीयम्। कुविदङ्ग''''उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा सुत्राम्णे इति तृतीयम्। त्र्यृचं काक्षीवतस्य सुकीर्तेरार्षम्। आद्या सोमदेवत्या अनिरुक्ता त्रिष्टुप्। अङ्गशब्दः सम्बोधनवाची। कुविच्छब्दो बह्वर्थवाची। चिच्छब्दः समुच्चये। हे सोम, यथा लोके केचिद् यवमन्तः, यवा विद्यन्ते येषां ते यवादिधान्योपेताः कृषीबलाः, यवादित्वात् 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (पा० सू० ८।२।९) इति मतोर्मकारस्य वकाराभावः, कुविद् यवबहुलं यवमन्यानि च गोधूमप्रियङ्ग्वादिधान्यानि, अनुपूर्वं तत्परिपाकानुक्रमेण इदं पक्वमिदमपक्वमिति वियूय विशेषेण पृथक्कृत्य क्षिप्रं दान्ति लुनन्ति, 'दाप् लवने'। तथा एषां यज्वनां भोजनान्यन्नानि वस्तूनि इह यजमाने कृणुहि कुरुत। एषां केषाम्? ये यजमाना बर्हिषि उपस्थिता नम उक्तिं यजन्ति। नम इत्यन्ननाम। उक्तिर्वचनम्। हविर्लक्षणमन्नमादाय उक्तिं याज्यामभिधाय यजन्ति यागं कुर्वन्ति। यद्वा अङ्गेति क्षिप्रनाम। हे सोम, यथा केचिद् जनपदा यवमन्तो बहुयवाः कुविद् बहुक्षेत्रं यवं चिद् वितर्क्य, चिच्छब्दो वितर्कार्थः, अनुपूर्वं आनुपूर्व्येण वियूय अमिश्रित्य (पृथक्कृत्य) अङ्ग क्षिप्रं दान्ति लुनन्ति, एवमिहैषां यज्वनां भोजनानि अन्नानि कृणुहि कुरुत। ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति, नमस्कारवचनं हविर्लक्षणमन्नं च यजन्ति कुर्वन्ति निवपन्ति वा। यद्वा ये यजमाना बर्हिष उपरि स्थिता नमउक्तिं यजन्ति हविर्लक्षणमन्नमादाय उक्तिं याज्यामभिधाय यजन्ति यागं कुर्वन्ति। हे सोम, त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि, अश्विभ्यां त्वा त्वां गृह्णामि, सरस्वत्यै त्वा गृह्णामि, सुत्राम्णे रक्षकायेन्द्राय त्वां गृह्णामि। अत्र काण्वास्तु 'न जग्मुः' इति पठन्ति। तेन ये यजमाना बर्हिषो यज्ञस्य नमउक्तिं नमस्कारवचनं हविर्लक्षणमन्नं च न जग्मुः, एषां सम्बन्धीनि भोजनानि धनानि इह एतस्मिन् यजमाने कृणुहि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ ग्रहान् गृह्णाति। एकं वा त्रीन् वैकस्त्वेव ग्रहीतव्य एका हि पुरोरुग् भवत्येकानुवाक्यैका याज्या तस्मादेक एव ग्रहीतव्यः' (श० ५।५।४।२३)। ग्रहग्रहणं विधत्ते—अथ ग्रहानिति। एको

मन्त्रार्थ—हे सोम, जिस प्रकार इस लोक में बहुत यव धान्य से सम्पन्न किसान बहुत से यव से पूर्ण शस्य को विचार करके क्रम से अलग करके शीघ्र काटता है, उसी तरह से अल्प मात्रा में रहने पर भी तुम देवगणों के प्रिय हो, इस यजमान के लिये तुम नाना प्रकार की भोजन सामग्री इकट्ठी कर दो, कुशा के आसन पर बैठे ऋत्विग्गण हवि लक्षण वाले अन्न से याज्या का नाम लेकर याग करते हैं। हे सोम, तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो। अश्विनीकुमार की प्रीति के निमित्त, सरस्वती देवता की प्रीति के निमित्त और सबके पालक इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुमको ग्रहण करता हूँ ॥ ३२ ॥

भाष्यसार—कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।१०।११-१२) में अभिहित याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार 'कुविदङ्ग'

वा ग्रहो ग्रहीतव्यस्त्रयो वा ग्रहीतव्या इति विकल्प्य एकं सिद्धान्तयति—एकस्त्वेवेति। पुरोरुक् पुरोऽनुवाक्या-याज्यानामेकत्वादेक एव ग्रहीतव्यः। 'स गृह्णाति। कुविदङ्ग····यजन्ति····सुत्राम्णे' (श० ५।५।४।२४) इति।

अध्यात्मपक्षे हे परमेश्वर, यथा लोके यवमन्तो यवान्नादिमन्तः कृषीबलाः कुविद् बहुयवं सर्वं यवमयं सख्यं चिद् विचार्य अनुपूर्वम् आनुपूर्व्येण वियूय पृथक्कृत्य अङ्ग क्षिप्रं दान्ति लुनन्ति, तथा एषां यज्वनां सम्बन्धीनि भोजनानि भोज्यानि वस्तूनि, इह अस्मिन् यजमाने कृणुहि कुरु। कीदृशास्ते ? ये बर्हिष उपरि स्थिता नमउक्तिं नमस्कारवचनमाश्रित्य यजन्ति, नमस्कारवचनैस्त्वां यजन्ति। हे सोम, निवेद्यं हविरुपयामेन श्रद्धया त्वं गृहीतोऽसि। अश्विभ्यां पूर्वोक्ताभ्यां त्वां गृह्णामि, पूर्वोक्तायै सरस्वत्यै, पूर्वोक्ताय सुत्राम्णे इन्द्राय त्वां गृह्णामि।

दयानन्दस्तु—'हे अङ्ग राजन्, यः कुविद् बह्वैश्वर्यस्त्वमश्विभ्यां व्याप्तविद्याभ्यां शिक्षकाभ्यामुपयाम-गृहीतोऽसि ब्रह्मचर्यादिनियमैः स्वीकृतोऽसि, तं सरस्वत्यै विद्यायुक्तवाचे त्वा इन्द्राय परमैश्वर्याय त्वा सुत्राम्णे सुष्ठु त्राणाय त्वा त्वां वयं स्वीकुर्मः। ये बर्हिषो वृद्धा नमउक्तिं नमसोऽन्नस्योक्तिं वचनं यजन्ति सङ्गच्छन्ते, तेभ्यः सत्कारेण भोजनानि देहि। यथा यवमन्तः कृषीबला इहेह अस्मिन्नस्मिन् व्यवहारे एषां कृषीबलानां यवं चिद् अपि, अनुपूर्वं क्रमशः दान्ति लुनन्ति वियूय बुसादिकं पृथक्कृत्य यवं रक्षन्ति, तथैषां सत्यासत्ये विविच्य रक्षणं कृणुहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोध्यादेरप्रामाणिकत्वात्, कुविदित्यस्य बह्वर्थत्वेऽपि बह्वैश्वर्यार्थत्वे मानाभावात्। बर्हिष्पदस्य वृद्धार्थत्वमपि चिन्त्यम्। 'ये वृद्धा अन्नस्य उक्तिं वचनं सङ्गच्छन्ते' इत्यनेन नान्नाभिलाषप्रकटनमर्थः स्फुरति, तेभ्यो भोजनानि देहीत्यध्याहारदोषोऽपि। उपमा-लङ्कारमाश्रित्य कृषीबलकर्तृकान्नपृथक्करणदृष्टान्तेन सत्यासत्यविश्लेषणपूर्वकरक्षणमित्यपि कल्पनाबहुलमेव व्याख्यानम्। श्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्फुट एव॥ ३२॥

इस कण्डिका से अश्विन्, सरस्वती तथा सुत्रामा इन्द्र नामक देवताओं के लिये प्रदेय हवि का ग्रहण ग्रहपात्रों में किया जाता है। इस याज्ञिक विनियोग के अनुकूल व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थ इस प्रकार है—हे परमेश्वर, जिस प्रकार जगत् में जौ आदि अन्न से युक्त किसान जौ आदि से परिपूर्ण समस्त फसल को समझ कर क्रमशः उन्हें अलग करके जल्दी ही काट लेते हैं, इसी प्रकार यज्ञों से सम्बद्ध भोग्य पदार्थों को इस यजमान में निहित कीजिये, जो कुशाओं के ऊपर बैठ कर नमस्कारात्मक वचनों, स्तुतियों से आपकी उपासना, यजन करता है। हे निवेदनीय हविर्द्रव्य, तुम श्रद्धा से ग्रहण किये गये हो। पूर्वोक्त अश्विनियों के लिये, सरस्वती के लिये तथा सुत्रामा इन्द्र के लिये तुम्हारा ग्रहण करता हूँ।

स्वामी दयानन्दोक्त व्याख्यान संबोधनीय आदि की अप्रामाणिकता के कारण अग्राह्य है। कुवित् शब्द का अर्थ 'बहुत' होते हुए भी 'बहुत ऐश्वर्य' यह अर्थ करना अप्रामाणिक है। बर्हिष् शब्द का 'वृद्ध' अर्थ भी विचारणीय है। उपमा अलंकार का आश्रय लेकर किसानों के द्वारा अन्न अलग करने के उदाहरण से 'सत्य तथा असत्य की विवेचन-पूर्वक रक्षा करना' इस प्रकार की व्याख्या में भी कल्पना की ही अधिकता है। श्रुति तथा सूत्र के वचनों का विरोध तो स्पष्ट है ही॥ ३२॥

यु॒वꣳ सु॒राम॑मश्विना॒ नमु॑चावासु॒रे सचा॑।
वि॒पि॒पा॒ना शु॑भस्पती॒ इन्द्रं॒ कर्म॑स्वावतम् ॥ ३३ ॥

'ग्रहाणां युवꣳ सुरामं पुत्रमिवेति' (का० श्रौ० १९।६।२०)। द्वे ऋचौ सुराग्रहाणां याज्यानुवाक्ये। प्रथमा अनुवाक्या, पुत्रमिवेति याज्या। अनुष्टुप्। अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्या। हे अश्विनौ, युवं युवां कर्मसु निमित्तेषु कर्मकरणार्थम्, इन्द्रमावतमपालयतम्, स्वकर्मक्षममकुरुतम्। अवतेर्लङि मध्यमद्विवचने रूपम्। कीदृशौ युवाम्? नमुचौ आसुरे असुर एवासुरस्तस्मिन्नवस्थितम्, सुरामं सुराभूयं सोमं सुष्ठु रमणीयं सचा सह भूत्वा एकीभूय विपिपाना विविधं पीतवन्तौ। पिबतेर्व्यत्ययेन ह्लादित्वे शानचि रूपम्। नमुचिर्नामासुर इन्द्रस्य सखासीत्। स विश्वस्तस्येन्द्रस्य वीर्यं सुरया सोमेन सह पपौ। तत इन्द्रोऽश्विनौ सरस्वतीं चोवाचाहं नमुचिना पीतवीर्योऽस्मि। ततोऽश्विनौ सरस्वती चापां फेनरूपं वज्रमिन्द्राय ददुः। तेनेन्द्रो नमुचेः शिरश्चिच्छेद ततो लोहितमिश्रः ससुरः सोमस्तदुदरादश्विभ्यां पीत्वा शुद्ध इन्द्रायार्पित इति तदर्पणेनेन्द्रमश्विनावरक्षता-मितीतिहासरूपाख्यायिका शतपथे (१२।३।४।१) दृश्यते। पुनः कीदृशौ? शुभस्पती, शोभनं शुप् तस्य शोभनस्य कर्मणः पती पालकौ। सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्। 'षष्ठ्याः पतिपुत्र''''' (पा० सू० ८।३।५३) इत्यादिना पतिपरे विसर्गस्य सकारः।

तत्र ब्राह्मणम्—'यद्यु त्रीन् गृह्णीयादेतयैव गृह्णीयादुपयामैस्तु तर्हि नाना गृह्णीयादथाहाश्विभ्याꣳ सरस्वत्या इन्द्राय सुत्राम्णेऽनुब्रूहीति' (श० ५।५।४२४)। 'सोऽन्वाह। युवꣳ''''कर्मस्वावतमित्याश्राव्याहाश्विनौ सरस्वतीमिन्द्रꣳ सुत्रामाणं यजेति' (श० ५।५।४।२५)। ग्रहत्रयग्रहणपक्षेऽपीममेव मन्त्रमुपयामेत्यत्र विशेषं च दर्शयति—यद्यु त्रीनिति। नाना पृथक् पृथग् उपयामेन तिसृभ्यो देवताभ्यो गृह्णीयात्। अनुवचनप्रैषे विशेषं दर्शयति—अथाहेति। होतारमनूच्याश्विसरस्वतीन्द्रप्रतिपादकं मन्त्रमाह—सोऽन्वाह युवमिति। मन्त्रार्थस्तूक्त एव। यज इति प्रैषे देवताशंसनं विधत्ते—आश्राव्याहेति। देवतात्रयप्रतिपादिकां याज्यां पठति—अश्विनाविति।

अध्यात्मपक्षे—हे रामलक्ष्मणौ, युवं युवाम् अश्विनौ अश्विनाविव सुन्दरौ विविधशक्तिसम्पन्नौ, नमुचौ हनुमदङ्गदाभ्यां प्रबोधनेऽपि सीतां न मुञ्चतीति नमुचिस्तस्मिन्, आसुरे असुर एवासुरस्तस्मिन्, सीतारक्षणार्थं सचा सहभूतौ प्रहारं कुरुतमिति शेषः। कीदृशौ युवाम्? विपिपानौ विविधमात्मनि पालयन्तौ। शुभः शोभनस्य कर्मणः पती पालकौ।

मन्त्रार्थ—हे सर्वजनहितकारी अश्विनीकुमार, नमुचि संज्ञक दैत्य के साथ इस रमणीय सोम का विविध प्रकार से पान करते हुए शुभ कर्म के पालक तुमने उन-उन कार्यों में इन्द्र की सहायता की है ॥ ३३ ॥

भाष्यसार—'युवं सुरामम्' यह ऋचा सुराग्रहहोम की अनुवाक्या है। कात्यायन श्रौतसूत्र (१९।६।२०) में यह याज्ञिक विनियोग प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण में इस ऋचा के प्रसंग में आख्यायिका तथा याज्ञिक प्रक्रियानुकूल व्याख्या उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में अर्थयोजना इस प्रकार है—हे श्रीराम तथा लक्ष्मण! आप दोनों अश्विनियों की भाँति सुन्दर तथा विविध शक्तियों से सम्पन्न हैं। हनुमान् तथा अंगद के द्वारा समझाये जाने पर भी सीताजी का मोचन न करने वाले असुर रावण के प्रति सीता की रक्षा के लिये संयुक्त होकर प्रहार करें। आप दोनों वैविध्य के धारक तथा अच्छे कर्मों के रक्षक हैं।

दयानन्दस्तु—'हे सचा सत्यसमवेतौ, विपिपाना विविधं राज्यं रक्षमाणौ, शुभस्पती शुभः कल्याणकरस्य व्यवहारस्य पती पालयितारौ, अश्विना अश्विनौ सूर्यचन्द्रमसाविव सभासेनेशौ, युवं युवां नमुचौ न मुञ्चति स्वकीयं कर्म यस्तस्मिन् आसुरे असुरस्य मेघस्यायं व्यवहारस्तस्मिन्, कर्मसु कृष्यादिषु वर्तमानं सुरामं सुष्ठु रमणं यस्मिन् तं इन्द्रम्, परमैश्वर्यवन्तं धनिकं सततमावतं रक्षतम्' इति, तदपि वेदस्य लोकायतीकरणमेव, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामज्ञातार्थस्यैव ज्ञापकत्वेन वेदत्वोपपत्तेः। न च सभेश-सेनेशौ सचौ समवेतौ सम्भवतः, भारतीयनीतिधर्मशास्त्रादिषु राज्ञः स्वामित्वेन सेनापतेस्तन्नियोज्यत्वाभ्युपगमात्। तत एव भूपतेरेव पालकत्वादुभयोः पालकत्वमप्यनुपपन्नमेव। नहि नृपद्वयमेकराज्ये सम्भवति, न वाश्वित्वमपि-तत्र सम्भवति। असुरशब्देन मेघव्यवहारोऽभिप्रेतश्चेत्, कथं तस्य नमुचिरिति पदं विशेषणं सम्भवति ?. व्यवहारस्य कर्मरूपत्वेन तत्र कर्मान्तरायोगात्। किञ्च, सत्यसमवेतौ पितरौ दम्पती रामलक्ष्मणौ भ्रातरावपि सम्भवत इति तादृशार्थग्रहणे विनिगमनाऽयोगाच्च। एवं कर्मपदेन वैदिकान्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुतो न गृह्येरन् ? कृष्यादिकर्माण्येव किमर्थं गृह्येरन् ? प्रवर्तमानमित्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव। इन्द्रपदेन धनिक एव कुतो गृह्येत ? नहि धनिक एव ताभ्यां रक्ष्यते ? तयोरविशेषेण सर्वपालकत्वोपपत्तेः ॥ ३३ ॥

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंꣳसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ३४ ॥

इति माध्यन्दिनसंहितायां दशमोऽध्यायः ॥

स्वामी दयानन्द का व्याख्यान वेद को चार्वाक दर्शन का अनुयायी बना देता है, क्योंकि प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणों से ज्ञात न होने वाले पदार्थों का ज्ञापन कराना ही वेदों का वेदत्व है। सभापति तथा सेनापति एक समान नहीं हो सकते, क्योंकि भारतीय नीति तथा धर्मशास्त्र आदि में राजा को ही स्वामी माना गया है तथा सेनापति उसके द्वारा नियुक्त किया जाता है। अत एव राज्याध्यक्ष के ही पालनकर्ता होने के कारण दोनों का पालक होना भी असिद्ध है। एक राज्य में दो राज्याध्यक्ष नहीं हो सकते। उनमें अश्विनीत्व भी संगत नहीं है। असुर शब्द से यदि 'मेघ का व्यवहार' अर्थ लिया गया है, तो उसमें नमुचि पद कैसे विशेषण के रूप में संगत होगा ? क्योंकि व्यवहार कर्मात्मक होता है तथा उसमें कोई अन्य कर्म संगत नहीं होता। सत्य से संयुक्त दो तो माता-पिता, दम्पती अथवा श्रीराम-लक्ष्मण दो भाई भी हो सकते हैं। अतः इसमें एक ही अर्थ के लिये कोई निश्चित युक्ति नहीं है। इसी प्रकार कर्म शब्द से वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मों का अर्थ क्यों न ग्रहण किया जाय ? केवल कृषिकर्म ही क्यों माना जाय ? धनिक अर्थ का ही बोधन इन्द्र शब्द से क्यों कराया जाता है ? इत्यादि विसंगतियाँ भी इसमें हैं ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र, असुर सहवास से, अशुद्ध सोमरस का पान कर जब तुम विपत्ति में पड़ गये थे, उस समय भी दोनों हितकारी अश्विनीकुमारों ने मन्त्रद्रष्टा महर्षियों के काव्य और कर्मों के प्रयोगों से तुम्हारी उसी तरह से रक्षा की थी, जैसे कि माता-पिता पुत्र की रक्षा करते हैं। हे इन्द्र, तुमने नमुचि का वध करके रमणीय सोम का विशेष रूप से पान किया था। सरस्वती वाणी तुम्हारी अनुगत है, तुम्हारी सेवा करती है ॥ ३४ ॥

त्रिष्टुप्, अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्या। हे इन्द्र, पितरौ पुत्रमिव यथा पालयतः, तथा उभा उभौ अश्विनौ त्वा त्वाम् आवथुः रक्षितवन्तौ, 'अव रक्षणे' इत्यस्य पुरुषव्यत्यये रूपम्। काव्यैः कविकर्मभिः स्तोत्रैः, कवयोऽत्र मन्त्रद्रष्टारस्तेषां कर्माणि मन्त्रदर्शनानि तान्येव दंशनाः कर्माणि ताभिः, 'दंश इति कर्मनाम' (निघ० २।१।३), इन्द्रं पालितवन्तौ। कुत एतदित्याह यद् यस्मात् सुरामं सुरमणीयं सोमं व्यपिबो विशेषेण पीतवानसि, शचीभिः कर्मभिः। नमुचिवधादीनि कर्माणि कृत्वा सुष्ठु रमणीयं सोमं विशेषेण पीतवानसि। हे मघवन्निन्द्र, त्वां सोमातिपूतं सरस्वती अभिष्णक् भेषजसन्धानं कृतवती, 'भिष्णज् उपसेवायाम्' इति कण्ड्वादिषु पठ्यते। अभिष्णग् उपसेवते त्वत्कृतसोमपानेन सरस्वती कृतचिकित्सादिसेवनेन च अश्विनौ त्वामावतुरिति।

तत्र ब्राह्मणम्—'स यजति। पुत्रमिव····मघवन्नभिष्णगिति द्विर्होता वषट्करोति द्विरध्वर्युर्जुहोत्याहरति भक्षं यद्यु त्रीन् गृह्णीयादेतस्यैवानुहोममितरौ हूयेते' (श० ५।५।४।२६)। विधत्ते—द्विर्होतेति। होत्रा द्विवारं वषट्कारः कर्तव्यः। अध्वर्युणापि हवनं द्विवारं कार्यम्। आहरति भक्षमिति हवनानन्तरं भक्षार्थमाहरेयुः। ग्रहत्रयपक्षे हवने विशेषमाह—यद्यु त्रीनिति। एतस्य होममनु इतरौ द्वौ परिस्रुद्धोमौ होतव्यौ। एष परिस्रुद्धोमो दक्षिणाग्नौ कार्यः, कात्यायनश्रौतसूत्रात् (का० श्रौ० १५।१०।१५)।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र! इन्द्रियैरिध्यमान, पितरौ मातापितरौ पुत्रमिव त्वामुभा उभौ अश्विना अश्विनाविव सुन्दरौ सुगुणौ रामलक्ष्मणौ त्वामावथुस्तव रक्षणं कृतवन्तौ। कैः साधनैः? काव्यैः कविकर्मभी रामायणादिलक्षणैः, काव्यैः दंशनाभिः सेतुबन्धरावणवधादिलक्षणैः कर्मभिः, तैरेव साधनैर्जीवस्याविद्याकामकर्मोत्सादनसम्भवात्। यद् यस्मात् शचीभिः कर्मभिः स्वधर्माचरणलक्षणैर्विशुद्धान्तःकरणः सन् सुरामं शोभनं रामं रमणीयं चरित्रं व्यपिबो विशेषेण कर्णपुटैः पीतवानसि। हे मघवन् भक्तिज्ञानलक्षणधनसम्पन्न, सरस्वती ब्रह्मविद्यालक्षणा त्वा त्वामभिष्णग् उपसेवते। भगवन्तौ रामलक्ष्मणौ हे इन्द्र! इन्द्रियैरिध्यमान त्वामावथुः। कथमवनमिति तत्र तयोः कर्माणि स्तोत्राणि च साधनम्। चरित्रामृतपानेन स्वान्तःशुद्धौ तयोरनुग्रहात् सरस्वती ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री तमुपसेवतेऽनुगृह्णाति। तस्माद् ब्रह्मविद्यालाभेन सर्वथैवाविद्यातत्कार्यलक्षणस्य संसारस्य बाधनेन तदवनं सम्पद्यते।

भाष्यसार—'पुत्रमिव' यह ऋचा सुराग्रहहोम की याज्या के रूप में कात्यायन श्रौतसूत्र (१५।६।८) में विनियुक्त की गई है। इस याज्ञिक प्रक्रिया के अनुकूल मन्त्रार्थ शतपथ ब्राह्मण में उपदिष्ट है।

अध्यात्मपक्ष में मन्त्रार्थ यह है—हे इन्द्रियों से परिवर्धित जीव! माता-पिता की भाँति, दोनों अश्विनियों की भाँति सुन्दर, सुगुण श्रीराम तथा लक्ष्मण ने तुम्हारा रक्षण किया है। किन साधनों से किया इसका वर्णन है कि रामायण आदि कविकृतियों के द्वारा, सेतुबन्धन तथा रावणवध आदि कार्यों के द्वारा किया है, क्योंकि उन्हीं साधनों से जीव के अविद्या, काम, कर्मों का निराकरण संभव है। जिन स्वधर्माचरणात्मक कर्मों से शुद्ध अन्तःकरण से युक्त होकर सुन्दर रमणीय चरित्र का तुमने अपने कर्णपुटों से विशेष रूप से पान किया है, हे भक्ति-ज्ञान आदि धन से सम्पन्नजीव! ब्रह्मविद्यात्मिका सरस्वती तुम्हारे समीप अवस्थित है। हे इन्द्रियों से वर्धित होने वाले, भगवान् श्रीराम तथा लक्ष्मण ने तुम्हारा रक्षण किया है। उनके कर्म तथा स्तोत्र ही इसमें साधन हैं। चरितामृत के पान से अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर उन दोनों की कृपा से ज्ञान-विज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती तुम पर अनुग्रह करती है। इसलिये ब्रह्मविद्या की प्राप्ति से अविद्या तथा उसके कार्यरूपी संसार का सर्वथा बाध हो जाने पर रक्षण सम्पादित होता है।

दयानन्दस्तु—'हे मघवन्निन्द्र राजन्, यत् त्वं शचीभिः प्रज्ञाभिः सुरामं शोभन आरामो येन रसेन, तं व्यपिबो विविधतयापिबः, तं त्वा सरस्वती विद्यासुशिक्षिता वागिव पत्नी अभिष्णग् उपसेवताम्। हे अश्विनौ सभासेनेशौ राज्ञा ज्ञापितौ सेनापतिन्यायाधीशावुभौ युवां काव्यैः कविभिः परमविद्वद्भिर्धार्मिकैर्निर्मितैर्दंशनाभिः कर्मभिः पितरौ जननीजनकौ पुत्रमिव सर्वं राज्यमावथू रक्षेथाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पूर्वापरविरोधात्। त्वद्रीत्या सभापतिरेव राजा भवति। पूर्वं त्वश्विपदेन सभासेनेशावुक्तौ, इह तु राज्ञाज्ञापितौ सेनापतिन्यायाधीशावुच्येते। किञ्च, धनवान् कश्चिद्धनिकोऽपि भवत्येवेति कथं मघवन्निति राजैव गृह्येत? सरस्वतीपदेन राज्ञः पत्नी गृह्यत इत्यपि निर्मूलम्, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात्। किञ्च, सर्वमेतद् लोकगम्यनीत्यादिशास्त्रवेद्यमिति तद्बोधनार्थं कथं वेदप्रवृत्तिः?

इति वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां दशमोऽध्यायः॥

स्वामी दयानन्द द्वारा निरूपित व्याख्यान पूर्वापर के विरोध के कारण असंगत है। उस मत में सभापति ही राजा होता है। पहले अश्वि शब्द से सभापति तथा सेनापति कहे गये हैं, यहाँ राजा से आज्ञप्त सेनापति तथा न्यायाधीश बताये गये हैं। धनवान् तो कोई भी धनिक हो ही सकता है, तो 'मघवन्' शब्द से राजा का ही बोधन कैसे किया गया है? सरस्वती शब्द से राजा की पत्नी का बोधन कराना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि मुख्य अर्थ को छोड़ने में कोई कारण नहीं है। ये सभी अर्थ लौकिक नीतिशास्त्र आदि के द्वारा जाने जाते हैं, अतः उन्हीं को बताने के लिये वेद की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है॥ ३४॥